'स.ध. आलोक' ग्रन्थमालाका तृतीय सुमन (३-२)

(सनातनधर्मका विश्वकोष एवं महाभारत)

'श्रीसनातनधर्मालोक' (३-२)

[स्त्री एवं शूद्रोंके वेदाधिकार वा अनधिकार पर विचार]

प्रणेता—
श्रीदीनानाथ शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्यानिधि, विद्यावाचस्पति
(अध्यक्ष स.ध. महाविद्यालय, लाजपतनगर, नई दिल्ली-२४)

प्रकाशक—
श्रीनारायण शर्मा 'राजीव' सारस्वत, शास्त्री, प्रभाकर, एम.ए., बी.एड्.
'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमाला कार्यालय
(फर्स्ट बी. १९, लाजपत नगर, नई दिल्ली-२४)

द्वितीयावृत्ति] सं० २०२९ [मू० १६) रु०, विदेशों में २०) रु०

ग्रन्थमाला मंगानेका स्थायी पता—
श्रीकिरणकान्ता शर्मा 'राजीव'
'आलोक' ग्रन्थमाला कार्यालय
फर्स्ट बी. १९, लाजपतनगर, नई दिल्ली-२४

द्वितीय संस्करण सन् १९७३ ई०
मूल्य सोलह रुपये, विदेशोंमें बीस रुपये

ग्रन्थकारके पूर्वापर पुरुष—
श्रीदयाराम शर्मा—श्रीदयादेवी
श्रीजेसाराम शर्मा—श्रीकालीबाई
श्रीशीतललाल शर्मा—श्रीगौरीदेवी
दीनानाथ शर्मा (१९६०) ज्ञानदेवी (१९६३)
नारायण शर्मा (१९९७) किरणकान्ता (२००१)
अनुपम शर्मा (२०२३)
ऋचा शर्मा (२०२५)

मुद्रक—
मनोज प्रिंटिंग एजेंसी द्वारा
बापू प्रिंटिंग प्रेस
बल्लीमारान, दिल्ली-६

'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमाला के पंचम संरक्षक—
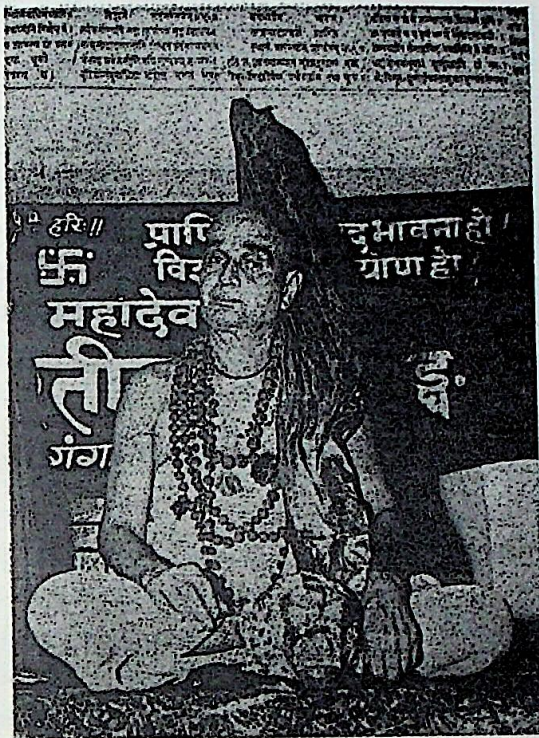
पुरीपीठाधीश्वर

श्री १०८ स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थ जी महाराज

दो शब्द

('आलोक' तृतीय-पुष्पके प्रथम-संस्करणसे)

धार्मिक-साहित्य ही सनातनधर्मका स्थायी 'यज्ञ' एवं स्थायी 'मन्दिर' होता है। अथवा यों कहना चाहिये कि—यही सनातनधर्मका 'प्राण' हुआ करता है। उसीसे सनातनधर्म चिर-स्थिर रहा करता है। सनातनधर्म आज जीवित भी उसी साहित्यसे है। उसी साहित्यके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें बिखरे हुए एक-एक विषयको एक ग्रन्थमें सरल तथा नवीन रूपमें रखना, यह आजके साहित्यकी प्रयोजनीयता है। यह विचार कर सनातनधर्मी-जनताके आश्रयको लक्ष्य करके हमने 'श्रीसनातनधर्मालोक'-ग्रन्थमालाका प्रकाशन प्रारम्भ किया है। इसका हिन्दुमात्रको उपयोग लेना चाहिये। विशेषतः विद्यालय-महाविद्यालयोंके आचार्यों, अध्यापकों एवं स्वतन्त्र संस्कृत-हिन्दीके पण्डितों तथा पुस्तकालयाध्यक्षोंको इस ग्रन्थमालाका प्रत्येक पुष्प अपने पास रखना चाहिये। उसकी सुगन्धको सर्वत्र फैलाकर इधर-उधरकी फैली दुर्गन्धको दूर करना चाहिए।

इस ग्रन्थमालाका तृतीय-सुमन पाठकोंके कर-कमलोंमें उपहृत है। इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकारानधिकार पर शास्त्रीय एवं लौकिक-दृष्टिकोणसे विचार किया गया है। यह एक शास्त्रार्थ है, जो 'सिद्धान्त'में हमारा एक दयानन्दीसे हुआ था। यह वाराणसीके 'सिद्धान्त' पत्रके चैत्रकृष्ण ८ सं० २००२ से सं० २००५ तक हुआ। श्रीमहिदास, ऐलूष-कवष, जाबाल, वसिष्ठ, व्यास, पराशर, कक्षीवान्, पौराणिक-सूत, शबरी, वाल्मीकि, जानश्रुति-आदिको जो कि आजकलके सुधारकों-द्वारा

शूद्र वा शूद्र-पुत्र बताया जाता है, उसपर भी प्रमाणोपपत्ति-सहित विचार करके उन्हें जन्मसे ब्राह्मण दरशाया गया है। विद्वान्-पाठकगण इस पुष्पके एक-एक अक्षरका ध्यानसे तथा क्रमसे अध्ययन करें, फिर इसके गुण-दोष हमें बतायें।

इस पुस्तकमें कठिनता कुछ भी नहीं, केवल इसमें एकाग्रता अपेक्षित है, क्रमसे अध्ययन भी। जिन महाशयोंके मतको इसमें हमने आलोचित-किया है, उनमें कई तो हमारे पूज्य हैं, और कई मित्र, और कई तटस्थ हैं। उनके मतपर लेखनी चलानेका कारण न तो ईर्ष्या-द्वेष है, न उनका अपमान करना लक्ष्य है। किन्तु वहाँ शास्त्रीय वास्तविक-अभिप्रायका प्रकाशन ही लक्ष्य है, जिससे साधारण-जनताका भ्रम दूर हो। इससे यदि किसी महाशयको क्षोभ हुआ हो; तो वे हमारे हृदयको जानते हुए हमें क्षमा करेंगे।

इस ग्रन्थमालाके प्रकाशनमें आर्थिक-सहायता देनेवाले बन्धुओंको धन्यवाद। अन्य भी धार्मिक बन्धु, सब सनातनधर्म-सभाएं, मन्दिर तथा मठ एवं आचार्यपीठोंके अध्यक्ष, पुस्तकालयाध्यक्ष, इस ग्रन्थमालाके प्रकाशनार्थ आर्थिक-सहायता देकर तथा इसका प्रचार कर सनातनधर्मकी सेवामें उद्यत होवें—यह हमारा उनसे सप्रेम निवेदन है।

वैशाख संक्रान्तिः
चन्द्रे
सं० २०१० वि०

निवेदक—
दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वत
विद्यावागीश
प्रिंसिपल रामदल संस्कृत महाविद्यालय
दरीबा कलाँ, दिल्ली-६

'आलोक'-तृतीय पुष्पके द्वितीय-संस्करणका

आमुख

'आलोक'-पाठकोंको मालूम हो कि—यह 'आलोक'-ग्रन्थमालाके तृतीय-पुष्पका द्वितीय-संस्करण है। प्रथम-संस्करणमें ३३७ पृष्ठ थे। कागज भी उसमें साधारण लगा था। मुझे प्रेसका अनुभव भी उस समय नहीं था, क्योंकि—ग्रन्थमालाका प्रायः यह आरम्भ था। मेरे लेख तो बहुतसे संस्कृत एवं हिन्दी-पत्रोंमें संवत् १९८० से शुरू करके बहुतसे नगरोंमें कई सहस्र पृष्ठोंमें भिन्न-भिन्न प्रेसोंमें छप चुके थे; जिनसे मैं भारतवर्ष-भरमें विद्वन्मण्डलमें सुप्रसिद्ध तथा सुसम्मानित हो चुका था; पर स्वयं प्रेसोंमें पुस्तकें छपवानेका यह प्रथम अवसर था; जब मैंने दिल्लीमें संवत् २०१० में ग्रन्थमालाका स्वयं प्रारम्भ किया था। परमेशानकी परम-कृपासे इस ग्रन्थमालाके अब तक दस पुष्प छपकर प्रकाशित हो चुके; जो प्रायः एक-एक सहस्र पृष्ठोंके हैं। ग्यारहवें पुष्पके ५२८ पृष्ठ छप चुके हैं। परन्तु अभी वह पूर्ण नहीं हुआ। बीचमें तृतीय-पुष्पका द्वितीय-संस्करण दानवीर-श्रीजयदयालजी डालमियाकी प्रेरणासे निकालना पड़ गया; क्योंकि—उसके प्रथम-संस्करणकी कोई भी सञ्चिका शेष नहीं बची थी।

तृतीय-पुष्पके इस द्वितीय-संस्करणमें पृष्ठ एक सहस्रके लगभग हैं। कागज भी प्रायः अच्छा लगाया गया है। उपयोगी सामग्री भी बढ़ाई गई है। प्रकाशनमें देरीका कारण एक कम्पोजीटर होनेका भी है। इसके अतिरिक्त इसके अन्तिम पृष्ठ जब छप रहे थे, मैं दिल्लीमें एक स्थानपर चक्कर आनेसे गिर पड़ा। सिरमें भारी चोट आई। एक स्कूटरवालेने अपनी रकमसे मेरी पट्टी कराई। उसीने मुझे घर पहुंचाया। उसने बहुत कहनेपर भी कुछ भी नहीं लिया।

तीसरे दिन फिर अपने एक वैद्य-शिष्यके पास अपने लड़केके साथ पट्टी

कराने गया। वहाँ भी मैं धड़ामसे गिर पड़ा; क्योंकि–सिरमें लहू जम गय था। पक्षाघात (लकवे) का भय भी उपस्थित हो गया। मैं वेहोश हो गया। आँखकी काली पुतली (कर्नीनिका) भी उस समय मेरे सम्बन्धियों-को नहीं दीख रही थी। मेरा लड़का तथा पत्नी आदि सम्बन्धी वहुत घबरा गये। उस समय 'यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव' (ऋ. १०।१६१।२, अथर्व. २०।९६।७) (यदि आयु क्षीण हो गई हो, अथवा यदि मर भी गया हो, अथवा मृत्युके देवता यमराजके पास भी पहुंचाया गया हो।) यह वेदोक्त मरणासन्न-अवस्था मेरी उपस्थित हो गई थी। मुझे बेहोशीमें सफदरजङ्ग-हस्पताल नई दिल्लीमें पहुंचाया गया।

हस्पताल वालोंने मेरे गलेमें छेद करके गैस मेरे सिरमें पहुंचाकर जमी हुई मेरे सिरकी लहूको पिघलाया। कई इन्जेक्शन भी लगाये। मैं होशमें आ गया। मेरी आँखकी काली पुतली भी अब ठीक स्थानपर आ गई। पूर्व-लिखे वेदमन्त्रके अवशिष्टभाग—'तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थाद् अस्पार्शमेनं शतशारदाय' (ऋ. १०।१६१।२) (मैं इन्द्र (परमेश्वर) उस आसन्नमृत्यु-पुरुषको यमराजसे खींच लाता हूं; और उसे शतायु-कर दिया करता हूं।) के अनुसार परमेशानके दयादानसे तथा 'आलोक'-के संरक्षकों, सहायकों एवं तपस्वी-पाठकोंके शुभाशीर्वादसे स्वस्थ होकर क्षुब्ध हुए-हुए घरवालोंको प्रसन्न करता हुआ चौथे दिन सकुशल घर आ गया।

पर इस अवसर पर किसी नसकी दुर्बलतावश मेरा पेशाब बन्द हो गया। इस कारण मुझे फिर उसी हस्पतालमें जाना पड़ा। मेरी मूत्रेन्द्रिय बान्ध दी गई। ट्यूब लगा दी गई। उसीसे पेशाव आने लगा। २० दिनके वाद मेरे मूत्राशयको सलाइयोंसे चौड़ा किया गया। ४-५ दिनोंके बाद मेरी मूत्रेन्द्रियको खोल दिया गया। पेशाब आने लगा। परन्तु अन्दर ज़ख्मोंके हो जानेसे पेशाब जलनके साथ आता रहा। हस्पतालवालोंकी बताई हुई गोलियोंके प्रयोगसे चार दिनोंमें जलन हट गई। मैं सकुशल करवा-चौथवाले दिन २५-१०-७२ को घर आ गया।

इसमें मेरे सुपुत्र श्रीनारायणशर्मा शास्त्री 'राजीव' एम.ए. बी.एड. एवं मेरी धर्मपत्नी, ज्ञानदेवी और मेरी पुत्रवधू, बहिन, लड़कियों, जामाताओं तथाशिष्य-मण्डल एवं मित्रों आदि सब सम्बन्धियोंका पूरा सहयोग उपलब्ध हुआ। परमात्माका वहुत धन्यवाद है कि–उसने मुझे पुनर्जन्म दिया। मुझे अनुभव हुआ कि–परमात्माने मेरी अपनी तथा अन्य महोदयोंकी पाठ-पूजा तथा शुभाशंसा एवं दानको स्वीकार किया; और मेरी यह ग्रन्थमाला चलती रहे–यह मुझे भगवान्‌का अभिप्राय विदित हुआ। क्योंकि–ग्रन्थमालामें मैंने विपक्षियोंकी भांति छल-कपटको थोड़ा भी स्थान नहीं दिया था। इसीसे मुझे भगवान्‌ने फिर संसारमें भेजा।

मैं भी आतुरालयसे आकर छप रहे हुए अपने ग्रन्थकी शेषपूर्तिमें लग गया, अभी भी मुझमें पर्याप्त दुर्बलता है।

अतः मेरा पहलेकी तरह दिल्लीमें आना-जाना रुका हुआ है। पर ग्रन्थमालाका कार्य यथाशक्ति कर रहा हूं। यह सब परमात्माकी अकम्प-अनुकम्पाके अतिरिक्त ग्रन्थमालाके संरक्षकों, सहायकों तथा पाठकोंके शुभाशंसनका फल था। मेरी अनुपस्थितिमें कई निबन्ध खोये गये। प्रूफ-संशोधन भी ठीक न हो सका। क्रममें भी कुछ त्रुटियां हो गईं। प्रकाशनमें विलम्ब भी बहुत हो गया।

परमेशानके अतिशयित-दयादानसे तथा सेठ श्रीजयदयालजी डालमियाकी सहानुभूति एवं सहयोगसे मुझे नवजीवन प्राप्त हुआ। आगे भी भगवान्‌की दया अपेक्षित है, कि–मैं 'आलोक'-ग्रन्थमालाको यथाशक्ति पूर्ण करता हुआ सनातनधर्मकी सेवा कर सकूं।

इस पुष्पके इस द्वितीय-सस्करणकी सरक्षकताकी जगद्गुरु-शङ्कराचार्य, पुरीपीठाधीश्वर अनन्त-श्री स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराजने—जो वस्तुतः सनातनधर्मके ही सरक्षक हैं, अपनी स्वीकृति दी है। श्रीचरणोंने

ही गोरक्षाकेलिए अपने प्राणोंकी भी बाज़ी लगा दी थी, यह विश्व-विश्रुत है। इस बातका हमें गौरव है। इस ग्रन्थमालाको उनकी छत्र-च्छाया प्राप्त होती रहे—यह हमारी हार्दिक-भावना है। श्रीलोकनाथजी शर्मा पारामारिबो (दक्षिण अमेरिका) तथा उन्हीं के अनुज श्रीरविन्द्र-नाथजी उपाध्याय एक-एक हज़ार रुपये देकर इस पुष्पके संरक्षक बने हैं। श्रीलोकनाथजी हमारी पुस्तकें भी बेचते हैं। श्रीउपाध्यायजीने तो इसके अतिरिक्त दक्षिणा भी हमें दी है। इन दोनों ही महोदयोंने इस बार अपना चित्र देना स्वीकृत नहीं किया है। इस पुष्पके प्रकाशनमें श्रीजयदयालजी डालमिया-महाभागके सुपुत्र दानवीर श्रीविष्णुहरि-डालमिया-महाभागने २०००) रु० की आर्थिक सहायता दी है। विद्यालयसे मेरे कार्यनिवृत्त हो जानेसे मेरे योगक्षेमके निर्वाहक भी आप ही हैं।

जिन महोदयोंके पास 'आलोक' के तृतीय-पुष्पका प्रथम-संस्करण हो; उनको भी यह द्वितीय-संस्करण अवश्य मंगाना चाहिये; क्योंकि इसमें बहुत-सी उपयोगी-सामग्री बढ़ाई गई है। एक दयानन्दी-सिद्धान्तालङ्कारने इस विषयकी २३६ पृष्ठकी एक पुस्तक छपवाई थी, उस सम्पूर्ण पुस्तककी भी इसमें समीक्षा कर दी गई है।

अन्तमें परमात्माको अतिशयित-धन्यवाद देकर-जिसने मुझे फिर श्रीसनातनधर्मकी सेवाका अवसर दिया है, यह पुस्तक पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करता हूं। आशा है—वे इसके प्रचारक तथा सहायक सिद्ध होंगे, जिससे यह ग्रन्थमाला भविष्यत्में भी जारी रहे।

सूचना—ग्रन्थमालाको अमूल्य कोई भी न ले; यह प्रत्येक पाठकको स्मरण रख लेना चाहिये। क्योंकि-हम कोई सेठ-साहूकार तो हैं नहीं। इस 'माला' का स्थायी-कोष भी नहीं है। कोई इस ग्रन्थमालाका सहायक यदि न हो सके; तो इसका मूल्य कमसे कम अवश्य दे। आजकल कितनी मंहगाई है—यह तो पाठक जानते ही होंगे। इस पुष्पका मूल्य

'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके छठे संरक्षक—

श्रीपं० लोकनाथजी शर्मा S/o श्रीपं० श्यामकिशोर जी शर्मा

पारामारिबो सूरिनाम (दक्षिण अमेरिका)

इस बार इन्होंने अपना चित्र देना
स्वीकृत नहीं किया।

भारतमें १६) रखा गया है, और विदेशोंमें २०)। इस ग्रन्थमालाको दस हज़ार रुपया देने वाले इसके 'सर्वस्व' माने जाते हैं। वे इस ग्रन्थमालाके आजीवन-सदस्य रहेंगे। संरक्षकसे न्यूनसे न्यून एक सहस्र रुपये लिये जाते है। संरक्षकका चित्र भी छापा जाता है। परम-मान्य सहायकसे ५००), और मान्य-सहायकसे २५०), तथा साधारण-सहायकसे १००) लिये जाते हैं। कोई अर्थदान जितना भी चाहे—दे सकता है, परन्तु २०) से कम न हो।

हमने इस ग्रन्थमालामें अपने आर्थिक-लाभका विचार सर्वथा नहीं रखा है। जो भी अर्थ-राशि हमें इन पुष्पोंके विक्रयसे प्राप्त होती है; तथा जो अतिरिक्त-सहायता प्राप्त होती है; वह सब अग्रिम-पुष्पोंके प्रकाशनमें लगाई जाती है। अतः कोई भी महोदय इन पुष्पोंको, बिना मूल्य न लें। जो मूल्यले अधिक भी दे सकें, वे दे सकते हैं। जिन्होंने इस 'माला' के लिए आर्थिक सहायता दी है, वा दे रहे हैं, वे अपने प्रिय सनातनधर्मकी अर्चना कर रहे हैं। अन्य महोदयोंको भी इस ज्ञानयज्ञमें आहुति देकर एतदर्थ स्वयं सहायता करके तथा अन्योंसे सहायता दिलाकर इस ग्रन्थमालाका संरक्षक एवं सहायक आदि बनना चाहिये, जिससे यह शीघ्र प्रकाशित हो सके।

यह ग्रन्थमाला सतत जारी रहे, स्थगित न हो, इसकेलिए सब सनातनधर्मी-बन्धुओंको प्रयत्न करना चाहिये। कमसे कम १००) रु० धार्मिक-साहित्यकेलिए देना कोई कठिन कार्य नहीं। अतः इस ग्रन्थको पा कर सभी धार्मिक-बन्धुओंको, हमारे मित्रों तथा शिष्योंको सहायता भेज देनी चाहिये। इसके मुद्रक श्रीरामेश्वरजीका कार्य सराहनीय है।

सदाकी भांति इस पुष्पमें भी ज.गु. शंकराचार्य स्वामी श्रीकृष्ण-बोधाश्रमजी महाराजने १००) की सहायता दी है। स्वा. गङ्गेश्वरा-नन्दजी महाराज महामण्डलेश्वरजीने भी १०१) की तथा स्वामी श्री-वासुदेवानन्दजी महाराज (हरिद्वार) ने भी १०१), 'अखण्ड-ज्योति'

गायत्री—परिवार शाखाके श्रीनर्मदेश्वर महाराज, ध्राँगध्राने १०१), शास्त्रार्थ-महारथीजीके सुपुत्र शास्त्रार्थ-पञ्चानन श्रीपं. प्रेमाचार्यजी शास्त्री दिल्लीने १००), श्रीप्रह्लाद संकीर्तन मण्डल C/o श्रीपं. यशोदानन्दजी जयतल गाजियाबादने १०१), श्रीपं. लालविहारीजी शास्त्री मिश्र वाराणसीने १११), श्रीपं. लोकनाथजी शर्मा पारासारिवो (दक्षिण अमेरिका) ने सरक्षकताकी सहायताके अतिरिक्त १००), सेठ श्रीविश्वनाथजी गनेडीवाला कलकत्ताने १००), श्रीशिवकुमारजी शर्मा मन्त्री श्रीयुवक समिति पुस्तकालय, सिरसाने १००), राजकवि श्रीपं. उदयभानुजी हंस शास्त्री M. A. महोदय हिसार एवं भिवानीने १०१) की सहायता दी है। इन सबको धन्यवाद है। इन सबकी सहायता ११वें पुष्पकेलिए थी; परन्तु हमने ३य पुष्पके द्वितीय संस्करणके लिए इसे लगाया है। आशा है—यह महोदय फिर ११वें पुष्पमें भी सम्भव होनेपर अपनी सहायता भेज देंगे।

निवेदक—
दीनानाथ शास्त्री सारस्वतः
('आलोक' ग्रन्थमाला-प्रणेता)
फर्स्ट बी. १६, लाजपतनगर,
(नई दिल्ली-२४)

माघ-पूर्णिमा
सं० २०२६
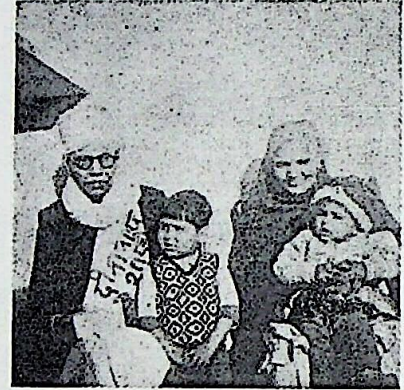
प्रणेताकी पत्नी श्रीज्ञानदेवी तथा पौत्र-पौत्री अनुपम शर्मा तथा ऋचा शर्मा।

'आलोक'-पाठकों के हार्दिक-भाव ।

(१) श्रीगुरुजीका इस ग्रन्थमालाकेलिए हार्दिक भाव और आशीर्वाद ।

'मैंने 'सनातनधर्मालोक' का आरम्भसे दशम पुष्प तक परम-सूक्ष्म दृष्टिसे स्वाध्याय किया है । मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि-श्रीपं०-अम्बिकादत्त व्यास, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र यजुर्वेद-भाष्यकर्ता मुरादाबाद, तथा श्रीव्रजरत्न भट्टाचार्य मुरादाबाद, व्याख्यानवाचस्पति श्रीदीनदयालु-शर्मा झज्जर, श्रीपं० भीमसेन शर्मा सम्पादक 'ब्राह्मण-सर्वस्व' इटावा, श्रीरामस्वरूप शर्मा सम्पादक 'स.ध. पताका' मुरादाबाद, श्रीनिगमागम-चन्द्रिका भारतधर्म-महामण्डल काशी, युक्तिविशारद पं० कालूराम शास्त्री 'धर्मप्रकाशादिके कर्ता, अमरौधा (कानपुर), स्वा० दयानन्द-सरस्वती धर्मकल्पद्रुम-धर्मविज्ञानादिके प्रणेता, काशी, श्रीश्यामलाल शर्मा अमृतसर, श्रीपं० रल्यारामशर्मा सम्पादक स.ध. प्रचारक अमृतसर, स्वा. प्रकाशानन्द-सरस्वती व्याख्यानमार्तण्ड, महोपदेशक सनातनधर्म प्रतिनिधि-सभा लाहौर, इन विद्वानोंने सनातनधर्मकी अथक सेवा की थी । पर उनसे पूर्वपक्षियों-की मनःशान्ति पूर्ण नहीं हुई ।

अब जितनी सेवा लेखबद्ध महाग्रन्थरूपमें 'सनातनधर्मालोक' द्वारा श्रीदीनानाथ-शास्त्री कर रहे हैं, इतनी सेवा अन्य किसी विद्वान्ने नहीं की । इनके लेखोंका बड़े-बड़े सनातनधर्मी नेताओं, महोपदेशकों, एवं शास्त्रार्थ-महारथियोंने अपने ग्रन्थोंमें बहुतसे विषयोंमें आश्रय लिया है ।

शास्त्रीजीका देह तो बहुत सूक्ष्म है, परन्तु उनके मनमें इस प्रकार लेखबद्ध-सेवाका विशेष-उत्साह प्रतीत होता है; क्योंकि स्वपक्ष और परपक्षके ग्रन्थोंका अवगाहन तथा समाचारपत्रों और विपक्षिलिखित-ट्रैक्टों और ईर्ष्यासे लिखित अशुद्ध विचारों-द्वारा वितण्डा-रूपसे किये हुए आक्षेपोंका सनातनधर्मशास्त्र तथा विपक्षिलिखित पुस्तकोंका यथावत्

अवगाहन करके स्वप्रमाण तथा परप्रमाण लिखकर विपक्षियोंके मुख पर ताला लगाना—यह कार्य इन्हीं सारस्वतजीका है।

मैंने यह भी अनुभव किया है कि—ईर्ष्यालु, पण्डितम्मन्य पूर्वपक्षियोंने सनातनधर्मियोंको अपने सिद्धान्तसे विमुख करनेकेलिए जो-जो प्रश्न किये हैं, उनके यथावत् उत्तर वेदादिशास्त्रोंके आधार पर 'आलोक' में दिये हैं। कुतार्किक-विपक्षी उनका कृत्रिम प्रत्युत्तर भी देनेमें असमर्थ देखे जाते हैं। अतः सारस्वतजीकी इस सनातनधर्मकी सेवाकेलिए प्रत्येक शास्त्रज्ञ-विद्वद्गण बहुत-बहुत ही प्रशंसा करते हैं, कर चुके हैं, और भविष्यत्में भी इसका मूल्य आंका जावेगा। इस परिश्रमकी जितनी प्रशंसा की जावे, यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी, किन्तु अत्यल्प है।

अन्तमें मैं परमात्माके आगे प्रतिदिन यही प्रार्थना करता हूं कि—श्रीदीनानाथजीकी आयु सौ वर्षसे भी अधिक होवे, ताकि वे स.ध.की सेवामें संलग्न रहें, और उनसे लिखित 'सनातनधर्मालोक' को पढ़कर और मनन करके दूसरे सम्प्रदायोंके मनुष्य भी लाभ उठावें। हमें दृढ़ आशा है कि—यदि वे पूर्वपक्षी आग्रहवाद छोड़ दें, तो इस 'आलोक'-ग्रन्थमालासे पूर्वपक्षियोंको भी अपना मत बदलनेको बाध्य होना पड़ेगा। एवमस्तु। (जगन्नाथ शास्त्री, 'वेदगीता' 'वेदभागवत' 'वैदिक-साहित्यालङ्कार-मञ्जूषा' आदिके लेखक (आयु ८३ वर्ष) झज्जर।)

(२) आपकी वज्रलेखनीसे लिखे 'सनातनधर्मालोक'-नामक ग्रन्थके १० पुष्प आर्यसमाजकेलिए 'ऐटम-बम' के समान हैं। उक्त ग्रन्थ वस्तुतः सनातनधर्मके विश्वकोषके समान है। ('लोकालोक' सम्पादक तथा सञ्चालक श्रीपं० माधवाचार्यजी शास्त्री, शास्त्रार्थ-महारथी, सनातनधर्म-विजयाङ्क, वसन्त-पञ्चमी २०२६)।

(३) आदरणीय श्रीसारस्वतजी, मैंने आपके महान् ग्रन्थ 'सनातनधर्मालोक' का एक खण्ड पढ़ा है, जिसमें आपकी विद्वत्ता, वैदुष्य तथा प्रतिभा देखकर चमत्कृत होना पड़ता है। इतना घोर परिश्रम कर

आपने जो विशाल धार्मिक-साहित्य रचा है, उसकेलिए सनातन-धर्मानुयायी-व्यक्ति सदा आपके ऋणी रहेंगे।...श्रीमान् पुराणविद्याके अधिकारी-विद्वान् ही ठहरे (बलदेव-उपाध्याय, प्राप्तावकाश सञ्चालक-अनुसन्धान संस्थान वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी)।

(४) आपकी ओरसे प्रकाशित किये गये 'सनातनधर्मालोक'-ग्रन्थमालाके सुमन पढ़े। बहुत आनन्द हुआ। साथ ही हमारे वैदिकधर्मके प्रति जो आस्था थी, उसको बहुत पुष्टि मिली। आजके कालमें ऐसा शास्त्रीय-अध्ययन ही पाश्चात्य रहन-सहनमें डूबे हुए वैदिक-धर्मविमुख नवयुवक-वर्गको मुंह-तोड़ प्रत्युत्तर देनेमें सहायक सिद्ध होगा। इसमें शङ्काको स्थान नहीं है।...(नि. शान्तिलाल शास्त्री, कडियादरा संस्कृत पाठशाला, कडियादरा जि० सांवरकाठा; गुजरात)।

(५) आपके लेख 'कल्याण' के परलोकाङ्क, पुनर्जन्माङ्क, तथा अन्यत्र भी पढ़े थे, सिद्धान्तकी पुष्टि आप लाजवाब करते हैं। शायद ही कोई विद्वान् ऐसा करता हो। मेरी बड़ी अभिलाषा थी कि आपकी 'श्रीसनातनधर्मालोक' की सम्पूर्ण ग्रन्थमाला पढ़ डालता, पर दुर्भाग्यवश मोतियाके आपरेशनके कारण आँखें काम नहीं देतीं।...(महावीर त्रिवेदी कमिश्नर एण्ड फेनेन्स सैक्रेटरी यू. पी. गवर्नमेण्ट, लखनऊ)।

(६) आपके 'आलोक' के पुष्पोंसे सनातनधर्मके सम्बन्धमें मैंने बहुत ज्ञान प्राप्त किया है। यह सब आपकी ही कृपा है। (नारायणसिंह मयाल, मालई पो. एकेश्वर (गढ़वाल)।

(७) श्रद्धेय-शास्त्रीजीके 'सनातनधर्मालोक' के सभी प्राप्य भाग प्राप्त हो गये। सनातनधर्मके ऊपर कीचड़ उछालनेवालोंकी अच्छी खबर ली गई है। जिस विषयको उठाया जाता है, उसे बिना समाप्त किये रहा नहीं जाता। सप्रमाण तर्कों-द्वारा विषयका स्पष्टीकरण सर्वथा श्लाघ्य तथा स्तुत्य है।...शेष पुष्प प्रकाशित होते ही सूचित करेंगे। (गोविन्द-पाण्डेय आचार्य सं.हि. विद्यापीठ, झारखण्डधाम पो.रा.ध.)।

(८) परमादरणीय विद्वत्प्रवर ! सादरं-सस्नेहं च अभिवादये। सम्पूर्णं आस्तिक-संसारो भवतां सेवाया ऋणी। कमलाकामुकः परमः पुमान् भवन्तमाकल्पान्तं जीवितं कुर्यात् इति कामये। (श्रीराजाराम-आचार्यः, प्रधानाचार्यः, श्रीराजकीय ग. सं. महाविद्यालयः, दे.न. (पन्ना)।

(९) माननीय शास्त्रीजी; शत-शत अभिवादन ! आप धर्मके रहस्यका जितनी सुगमता एवं गम्भीरतासे प्रकाशन कर रहे हैं, वह सैकड़ों यज्ञोंके समान है।...(लालबिहारी मिश्र, 'वैदिकी' के प्रणेता गो. सं. महाविद्यालयाध्यापक, वाराणसी)।

(१०) कई दिनोंसे आपकी कीर्ति सुनता आया था, परन्तु आज 'कल्याण' के 'रामाङ्क' में आपका 'भगवान् श्रीराम' लेख पढ़कर पत्र लिखनेकेलिए प्रेरित हुआ हूँ।...(श्रीविश्व-हितैषी महाराज अ.भा. कल्याण-प्रतिनिधि सभा, वि.सं. आश्रम जोगी, उज्जैन' (म.प्र.)।

(११)...आपका 'श्रीसनातनधर्मालोक' जिसके हाथोंमें जाता है, वही आपकी वहुत प्रशंसा करता है। यहां तक कि आर्यसमाजी कृष्णशर्मा (भारतसे आये हुए) आपका 'नमस्ते' १-२ पुष्प पढ़कर आपकी वहुत प्रशंसा करते थे। (लोकनाथ शर्मा, पारामारिवो, सूरिनाम (दक्षिण-अमेरिका)।

(१२) आपका 'धर्मालोक' धार्मिक जगत्केलिए अलभ्य, अनूठा, अमूल्य रत्न है। जितनी प्रशंसा की जाय, वह स्वल्प ही है। इतना बड़ा-भारी परिश्रम अन्य लोग कम कर पाये होंगे। अधिक क्या लिखा जाय, सूर्यके सामने दीपकके सदृश। (स्वामी नृसिंहदास विरक्त, श्रीसियाराम-भवन, नागौर)।

(१३) परमश्रद्धेय-शास्त्रीजी; नमस्कार ! आपके द्वारा रचित 'श्रीसनातनधर्मालोक' पुस्तक पढ़नेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपने इस

पुस्तककी रचना करके वास्तवमें समस्त हिन्दुजातिकी रक्षा, एवं स.ध.की सेवा की है। वह सेवा चिरस्मरणीय रहेगी। आपने अपनी ज्ञानशक्तिसे एवं गम्भीर-अध्ययनसे जो धर्मको समुन्नत करनेकी कृपा की है, वह प्रशंसनीय है। इससे मुझ-जैसे अल्पज्ञोंको सन्मार्ग मिलेगा। प्रभुसे यही निशि-दिन प्रार्थना है कि-वे आपको दीर्घायु एवं स्वास्थ्य प्रदान करें। वे आपका अपरिमित शक्ति दें, जिससे आप अपने ज्ञानसे जनताको प्रकाशित करें, एवं अपनी लेखन-शक्ति एवं तर्कशक्तिसे अनेकों प्रकारकी शङ्काओंका समाधान करें। यही परमपितासे प्रार्थना है। (आपका दास-अम्बिकाप्रसाद पाराशर, शकूर बस्ती, नई दिल्ली)।

(१४) श्रीमताम्, निगमागमपारदृश्वनाम्, सनातनधर्मसंरक्षण-बद्धकक्षाणाम्, 'आलोक'-मालया निरस्तदुस्तर्क-तिमिराडम्बराणाम्, गुरुवर्याणाम्, अवधीरितशोणसारसयोः चरणयोः विलसन्तुतरां नितरां वशंवद-प्रेमाचार्य'-प्रहिताः प्रणामाञ्जलयः।

मैं भगवान्की कृपा और आपके शुभाशीर्वादसे पुनः धर्मप्रचारार्थ दक्षिण-अमेरिकामें आगया हूं। आपके द्वारा विरचित 'सनातनधर्मालोक'-ग्रन्थ ज्योतिः-स्तम्भके समान है, और आस्तिकोंकेलिए परम-सम्बल है। आपकी विवेचना-शैली और विषयको प्रमाण एवं युक्ति-प्रत्युक्तियोंके आधारपर साङ्गोपाङ्गरूपसे प्रस्तुत करनेकी आपकी क्षमता विलक्षण है। यहां इस देश (पारामारीवो) में प्रचार करते समय प्रमाणवादकी दृष्टिसे 'आलोक' ग्रन्थमालाने मुझे सर्वदा मार्गदर्शन कराया है। मेरे जैसे सनातनधर्मके सैद्धान्तिक-पक्षके प्रचारककेलिए आपके ग्रन्थ एक सम्पूर्ण पुस्तकालयका काम करते हैं।...(भवदीय—प्रेमाचार्य शास्त्री पारामारीवो, सूरिनाम, दक्षिण अमेरिका)।

[श्रीप्रेमाचार्य शास्त्री, शास्त्रार्थमहारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्रीके सुपुत्र हैं। मैं प० माधवाचार्यजी शास्त्रीको कहा करता था कि-मनुष्य-शरीर क्षणभंगुर है; आप कोई अपने-जैसा सनातनधर्मका एक प्रचारक

तैयार करें, जो आपके नामको भी चार चांद लगानेवाला बने; तथा सनातनधर्मका प्रचारक भी बने। महारथीजीको मेरी बात समझमें आ-गई; उन्होंने अपने सुपुत्र श्रीप्रेमाचार्य-शास्त्रीको प्रचारार्थ अपने साथ रखा। उसका परिणाम यह निकला कि—वह उनका दूसरा रूप निकला—इससे हमें बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई। अब श्रीप्रेमाचार्यजीने दूसरी बार दक्षिण-अमेरिकामें स.ध.के प्रचारककी हैसियतसे सफल यात्रा की है'। यह ऊपरके शब्द उक्त शास्त्रीजीके हैं।]

(१५) पूज्यपाद श्रीशास्त्रीजी; सादर प्रणाम। मुझे अत्यन्त हर्ष है कि—ऐसे कलिकालमें जबकि सनातनधर्मकी नैया नास्तिक-रूप-महार्णवमें डूब रही है। आप-सदृश महाविभूतियाँ अवतीर्ण होकर दक्ष माझीके रूपमें उसे कूल तक ले जानेके हेतु कसर कसकर सन्नद्ध हो गई हैं। वैदिकधर्मका नारा लगानेवाले दयानन्दियों-द्वारा भी जिस प्रकार पुरातन-संस्कृतिको मिटानेका प्रयास किया गया; उसे देखकर एवं पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इधर हमारी कर्णधार-सर्वकार तथा उत्कोच-ग्रहण करनेवाले अधिकारी तथा शिक्षाधिकारी मनमानी करनेमें लगे हैं। ऐसे दुष्कालमें आपने 'सनातनधर्मालोक' की रचना करके आध्यात्मिक-जगत्का महान् उपकार किया है।...(आपका प्रार्थी—शिवकुमार पाण्डेय, इन्दौर)।

(१६) आदरणीय परम-श्रद्धेय पण्डितजी!···आपकी तथा आदरणीय श्रीमाधवाचार्यजी महाराजकी पुस्तकोंसे मुझे वड़ी सहायता मिली है। वस्तुतः आप-दोनों महानुभाव भारतकी महान् विभूति तथा स.ध.के महास्तम्भ हैं। आपकी तथा महारथीजीकी वनाई पुस्तकें वेमिसाल हैं। तथा विपक्षियोंकेलिए वज्रपात हैं, जिनका कोई जवाव ही नहीं। आपकी प्रश्नोंकी हल करनेकी विधि वड़ी अच्छी है। कोई पहलू आप नहीं छोड़ते। प्रश्नकी गहराई तक चले जाते हैं। पुस्तकें

'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके सप्तम संरक्षक—

श्रीपं० रविन्द्रनाथ जी शर्मा उपाध्याय
S/o पं० श्यामकिशोर जी शर्मा
पारामारिवो सूरिनाम (दक्षिण अमेरिका)

इन्होंने इस वार अपना चित्र देना स्वीकृत नहीं किया।

पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि–जैसे आप पास ही बैठे हों। आपकी पुस्तकों वा पं०जीकी पुस्तकोंकी सहायतासे वा अन्यान्य-लेखकोंकी सहायतासे ही स.ध.की जय हुई है। ईश्वर आपको चिरायु प्रदान करे।

(ख) आप भविष्यत् और वर्तमान दोनों समयकेलिए एक महान् कार्य पूर्ण कर रहे हैं, जो भविष्यकेलिए सनातनधर्म-जगत्केलिए 'महान्-निधि' होगा। आगामी-पीढ़ी उससे महान् लाभ प्राप्त करेगी। हर एक इतना लेखनकार्य नहीं कर सकता; क्योंकि—'कवि केवल मल मूल मलीना। पापपयोनिधि जनमन मीना'। आजकल संसारमें आप-जैसे महान् लेखक एक-दो ही हैं; अन्यथा अभाव ही है।...वस्तुत: आप प्रश्नके किसी पहलूको नहीं छोड़ते, इसी कारण विपक्षीको दुबारा प्रश्न करनेका मौका ही नहीं मिलता।...आपके तर्कों, प्रमाणों वा युक्तियोंका कोई जवाब नहीं आता। (कृपाभिलाषी–रविकान्त शर्मा, हापुड़, जि० मेरठ)।

(१७) श्रीशास्त्रीजी महाराज, 'आलोक' (१०) प्राप्त हुआ। पढ़नेमें बड़ा ही आनन्द आता है। वेद-सम्बन्धी कठिन-विषयोंको हृदयङ्गम करानेको आपकी लेखनशैली अनुपम है। 'सनातनधर्मालोक' शीघ्र पूर्ण हो—यह भगवान्से प्रार्थना है।...पुस्तकालयाध्यक्ष पो० सहसवान (बदायूं)।

(१८) निखिलकल्याणगुणगणमण्डितानां विद्यावागीशादिविरुदावली-वलयितानां तत्रभवतां पं० दीनानाथशास्त्रिमहोदयानां सन्निधौ मेदिनी-दोलायमानमौलि:, निजनिटिलतटचुम्बदञ्जलिपुटो विज्ञापयति—

श्रीमद्भि: वी. पी. द्वारा प्रेषितानि 'आलोक' ग्रन्थमाला-पुष्पाणि अष्टसंख्याकानि अष्टदिग्विभूषणानि मया अवतंसीकृतानि सन्ति। स्थालीपुलाक-न्यायेन तत्र-तत्र समाघ्रातानि। भवन्तो नूनं निखिल-शास्त्राटवीसञ्चरणपञ्चानना एव। लेखनी तावत् पूर्वाचार्योपदिष्ट-

वैदिकमार्गान्न कुत्रापि परिस्खलिता भासते। आर्यसमाजी भवद्भिराजौ (युद्धे) सुतरां शकलीकृतः, कुत्र वा स पलायित इति न ज्ञायते। अवश्य-श्लाघ्योऽयं श्रीमतां कृतिसमुदयो जगतः।

सति धनाऽभावे, जागरूके जन्मभूमिपरिहाणपराभवे, समुल्लसति-शरीरदार्ढ्यसङ्कोचे, उन्मिषति कार्यकलापकृतसमयाऽभावे, श्रीमन्तो वेद-मार्गप्रतिष्ठानकृते अकृतविलम्वा बद्धदीक्षा विराजन्ते। 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे'...कलिकल्मषविदूषितेषु एषु दिवसेषु धर्मप्रवाहः श्रुतिशिखराद् रभसाद् अधः प्रस्रवन् परिभासते, तथापि सर्वथा भगवान् करुणावरुणालयः श्रीजानकी-जानिर्भवद्-यत्नं सफलीकृत्य भवद्भ्यः सर्वविधशुभपरम्परां तनोतु-इति तत्सन्निधौ प्रार्थये।...तृतीयं पुष्पं समाप्तमिति कृत्वा श्रीमद्भिर्न प्रेषितमिति, परन्तु तदवेक्षणे नितरामुत्कण्ठा जागर्ति।

अन्ते निवेदयते—

'निखिलमनोज्वरनिकरप्रशमन - हेतुस्तथाविधप्रसरः।
श्रुतिशिखरिशिखरकोकिल-दीनानाथस्य जयतु यत्नोऽयम् ॥१॥
दीना श्रुतिरघुनेयं दीनानाथोसि रक्षणात् तस्याः।
अभिधानं ते सार्थकमित्येवं घुष्यते विधानज्ञैः ॥२॥
रत्नत्रयमिदमधुना कण्ठे भवतां समर्पितं जीयात्।
सम्पत्कुमारविदुषा प्रीतिजुषा चामराजपुरजनुषा ॥३॥

भवदीय—सम्पत्कुमाराचार्यः। मैसूर

[आचार्यवर्यने जो इसमें अपना संस्कृत-वैदुष्य सुप्रदर्शित किया है—हम चाहते थे कि इसकी हिन्दी कर दी जाती, परन्तु चाहते हुए भी समयाभाववश हम वैसा न कर सके।]

(१९) 'आलोक' (१०) देखकर बड़ी ही प्रसन्नता हुई। आप तो सनातनधर्मके सूर्य हैं। अतः अज्ञानरूप अन्धकार भी दूर भाग जाता

है। 'आलोक' के पठनसे कोई भी शङ्का रह ही नहीं सकती। आप जिस प्रकार मन्त्रोंकी व्याख्या करते हैं, नास्तिकोंके पास कोई उत्तर देनेका आधार रह ही नहीं सकता। प्रभु आपको दीर्घायु प्रदान करें। सनातनधर्मी आपके सदा ही ऋणी रहेंगे। (श्रीरामेश्वर शास्त्री प्रिंसिपल स. ध. महाविद्यालय, मारवाड़-मूंडवा)।

(२०) अयि विद्वत्तल्लजाः। अहं श्रीमल्लेखनी-प्रसूतविचारजातं, तर्कबलं, पाण्डित्यप्रकाण्डत्वं च वीक्ष्य नितान्तं प्रसीदामि। भवादृशा विद्वांसोऽद्यत्वे अत्यर्थमपेक्ष्यन्ते। (भवदीय—भगवतीप्रसाद देवशङ्कर-पण्ड्या, गोपालकुञ्ज सोसायटी, अहमदाबाद)।

(२१) 'आलोक' के दशम-पुष्पको प्रतिदिन समय पाकर देखा करते हैं। उसकी प्रशंसामें कुछ कहना सूर्यको दीपक दिखाना है। केवल आकांक्षा करते हैं कि—'आत्मस्वरूप प्रभु आपको समस्त विघ्न-दारणपूर्वक समस्त-सामग्री-व्यवस्थाकी सुविधा दें। (स्वामी ज्ञानानन्द-सरस्वती, संस्कृत कालेज, रायपुर)।

(२२) 'इदं 'आलोक'-दशमपुष्पमपि बहूपयोगित्वं दर्शयति। गीता-विषयकाणामनेकेषां प्रश्नानां समाधानं जातम्। बहुप्रशंसनीयो वर्तते भवदीय-प्रयासः।...(भ. श्यामलालमिश्रः अ, टेन्सा हाईस्कूल टेन्सा (सुन्दरगढ़) उड़ीसा।

(२३) श्रीमान् आदरणीय शास्त्री जी, 'आलोक' (१०) देखा। मैं आरम्भसे ही स्थायी-ग्राहक हूं। इसलिए सभी पुष्पोंके यथावत् अवलोकनका सौभाग्य प्राप्त है। परमात्मा आपको चिरायु करे, ताकि आप सनातनधर्मकी सेवा चिरकाल तक ऐसे पतनकालमें भी अधिक कर सकें। प्रश्नोंके सप्रमाण उत्तरोंको पढ़कर ऐसा विदित होता है कि—परमात्माने आपको कुतर्कियों वा नास्तिकोंके मानमर्दनकेलिए ही इस धराधामपर अपनी विभूतिरूपसे अवतीर्ण किया है। नहीं तो ऐसे

भोगलोलुप-समयमें श्रीसनातनधर्मोद्धारका महान् कार्यका अनवरत-परिश्रम आपके सिवाय कौन कर सकता था।

मैंने श्रीचैतन्यचरितावलीमें श्रीगौराङ्गमहाप्रभुका यह वाक्य पढ़ा है कि–श्रीमद्भागवत तो सम्पूर्ण ही वेदोंका भाष्य है। इस वाक्यको आपने दसवें पुष्पमें सिद्ध ही नहीं किया, वरन् सब पुराणोंको ही वेदवाक्य सिद्ध करके वैज्ञानिक-रूप दे दिया है। स.ध.की पर्दा-प्रथाको नष्ट करके स्त्री-स्वतन्त्रताको प्रोत्साहन देनेवाले सुधारकोंको तो आपने भारतमें पश्चिमीय-सभ्यता लानेवाला ही सिद्ध कर दिया है।...(भ. छोटेलाल-वैद्य, कचौरा घाट, आगरा)।

(२५) श्रीमान्यवर श्रद्धेय पं.जी, आपके लिखे 'सनातनधर्मालोक' ३य ४र्थ सुमन पढ़नेका सुअवसर मिला। हर पहलू और दृष्टिसे परमोत्तम है। आपने कुतर्कवादियोंकी हर प्रकारसे तसल्ली कर दी है। शास्त्रीय-प्रमाणोंके साथ-साथ दलीलें देकर और भी सोनेमें सुगन्धका काम किया। आपका उद्योग सराहनीय है। ईश्वर आपको दीर्घायु करते हुए श्रीसनातनधर्मकी रक्षा तथा पुराणादि-शास्त्रोंके पूर्ण समाधान-का अधिक-से-अधिक सुअवसर देकर सफलता प्रदान करें।...(भ. मुरारिलाल-शास्त्री कौशिकाचार्य महोपदेशक, डोभीरोड महाभारती मन्दिर, भिवानी (हिसार)।

(ख) 'आलोक' का ८म सुमन भी देखा। मेरे पास वे शब्द नहीं, जिनके द्वारा मैं आपकी बड़ाई कर सकूँ। किन्तु यह लिखे बिना नहीं रहा जाता कि–आपका प्रयास स्तुत्य है। आजकल जितने लेखक आर्य-समाजियोंके खण्डन पर लिख चुके हैं, उन सबसे अधिक खोजपूर्ण आपने

लिखा है। प्रमाणोंकी झड़ी लगा दी है। सम्भवतः अब आर्यसमाजियों-को भागनेको भी जगह नहीं रही। ईश्वर आपको दीर्घायु करें। (भ. मुरारिलाल महोपदेशक शास्त्री, भिवानी)।

(२६) विद्याचरणसम्पन्नाः श्रीशास्त्रि-महाभागाः, 'श्रीसनातनधर्मा-लोक' दशम-पुष्पं प्राप्तम्, अस्माभिराघ्रातं च। हृद्यतरोऽस्य सुगन्धः। (जगद्गुरु रामानुजाचार्यः श्रीअनिरुद्धाचार्यः, बम्बई।)

(२७) श्रीपं० दीनानाथजी स.ध.के प्रसिद्ध लेखकाग्रगण्य हैं। आपने 'स.ध. आलोक'-नामक बृहद् ग्रन्थ लिखकर धर्मकी अमूल्य सेवा की है। उक्त महाग्रन्थके १० पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं, जो पठनीय एवं संग्राह्य है। ('लोकालोक' सार्वभौम-हिन्दु विशेषांक सम्पादक श्रीपं० माधवाचार्य शास्त्री।)

[यह उक्त लेखकोंके 'आलोक' के सम्बन्धमें हार्दिक भाव उनके पत्रोंसे उद्धृत किये गये हैं]।

विनीत—
नारायण शर्मा 'राजीव' सारस्वत
शास्त्री, एम.ए., बी.एड्.,
(प्रकाशक)

'आलोक' ग्रन्थमाला (३-२) की

विषय-सूची तथा पृष्ठ-सूची

(परिवर्धन)

प्रथमाध्यायः (१—३३)

द्वितीयाध्याय (३४—५३)

तृतीयाध्याय (५४—६०)

चतुर्थाध्याय (६१—१५३)

पञ्चम अध्याय (१५४-२३६) (ऐतिहासिक दृष्टि)

द्वितीय परिशिष्ट

(इसे 'आलोक' पाठक अवश्य देखें)

[सूचना—इसमें जहाँ एक-जैसे विषय मालूम हों, वहाँ पूर्वकी अपेक्षा कुछ विशेषता की गई होगी, यह स्मरण रख लेना चाहिये।]

'श्रीसनातनधर्मालोक'-प्रणेता—

श्री दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वतः

श्रीसनातनधर्मालोकः (३)

(स्त्री-शूद्रादिके वेदाधिकारपर विचार)

१. मङ्गलम् ।

ॐ 'निषुसीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च' ।
(ऋ. १०।११२।९)

ॐ तत्कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि ।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात्' (कृष्ण यजुः मै.सं. २।९।१।६)

वामाङ्गीकृतवामाङ्गि कुण्डलीकृतकुण्डलि ।
आविरस्तु पुरो वस्तु भूतिभूत्यम्बराम्बरम् ।३।

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ।४।

श्रीसनातनधर्मार्कालोकोऽयं सम्प्रकाशने ।
तमांस्यनेन दूरे स्युर्धर्ममार्गः स्फुटो भवेत् ।५।

पूर्वं पञ्चाप (मुल्तान) वास्तव्य इदानीं देहलीं श्रितः ।
इमं ग्रन्थं विनिर्माति श्रीदीनानाथ-नामकः ।६।

सारस्वतस्य तस्याऽयं प्रयत्नः शास्त्रिणो महान् ।
साफल्यमेतु पूर्तिञ्च भगवत्कृपया ध्रुवम् ।७।

(२) "यथेमां वाचं कल्याणीम्"

आजकलके अर्वाचीन-विचार वाले व्यक्ति स्त्री एवं शूद्रादिको वेदाधिकारी सिद्ध करनेकेलिए "यथेमां वाचं कल्याणीम्" यह वेद-मन्त्र तथा अन्य वचन उपस्थापित किया करते हैं। हम उसपर विचार करते हैं। 'आलोक' पाठकगण उसे ध्यानसे देखें। वह सम्पूर्ण मन्त्र यह है—'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्। अयं मे काम: समृद्ध्यताम्, उप माऽदो नमतु' (यजुर्वेद माध्यं. २६।२) वादियोंका अभिप्राय यह है कि–हमें कोई ऐसा वेद मन्त्र वा शास्त्र-वचन नहीं मिलता, जो स्त्री एवं शूद्रादिके वेदाध्ययनका निषेध करता हो, पर ऐसा मन्त्र तो मिलता है, जो सबको वेदका अधिकार देता है। वह यही मन्त्र है। (श्रीरा.च. शर्मा, श्रीरवि. आदि)।

यह मन्त्र उन महाशयोंकी स्व-गवेषणासे प्रसूत नहीं। इसके उपस्थापित करने वाले व्यक्ति प्राय: स्वा०द०जीके अनुयायी होनेके नाते इसे मानते वा उद्धृत करते हैं। कई थोड़े ज्ञान वाले स्वतैन्त्र पुरुष भी इस मन्त्रसे प्रभावित होकर स्त्री-शूद्रादिको वेदाधिकार सिद्ध करनेको तैयार हो जाते हैं। तब यह आवश्यक है कि इस मन्त्र पर सम्यक् विचार किया जावे। सबके उपजीव्य स्वा०द०जीके अर्थ आलोचित कर देनेपर प्रधान-मल्लनिवर्हण न्यायसे सबकी आलोचना हो जायगी। यह विचार कर हम स्वा०द०जीका अर्थ उद्धृत करते हैं। यह मन्त्र स्वा०द०जीने स.प्र. तथा ऋभाभू., तथा अपने यजुर्वेदसं. भाष्यमें व्याख्यात किया है।

'स.प्र.में स्वामीजी उक्त मन्त्रका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'परमेश्वर कहता है कि–जैसे मैं सब मनुष्योंकेलिए इस कल्याण अर्थात् संसार और मुक्तिके सुख देनेहारी ऋग्वेदादि चारों वेदोंकी वाणीका आवदानि—उपदेश करता हूं, वैसे तुम भी किया करो। यहां कोई ऐसा प्रश्न करे कि–'जन' शब्दसे द्विजोंका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि **स्मृत्यादि-ग्रन्थोंमें**

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही के वेदोंके पढ़नेका अधिकार लिखा है, स्त्री और शूद्रादि वर्णोंका नहीं (उत्तर) 'ब्रह्म-राजन्याभ्याम्' इत्यादि। देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि–हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्वाय अपने भृत्य वा स्त्रियादि, अरणाय और अतिशूद्रादिके लिए भी वेदोंका प्रकाश किया है।...कहिये–अब तुम्हारी बात मानें या परमेश्वर की ?" (पृ. ४४)

अपने यजुर्वेद-भाष्यमें स्वामीजीने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'हे मनुष्यो ! मैं ईश्वर जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और स्वाय अपने स्त्री-सेवक आदि, और अरणाय उत्तम-लक्षणयुक्त प्राप्त हुए अन्त्यजके लिए भी, इन उक्त सब मनुष्योंकेलिए इस संसारमें इमां—इस प्रकट की हुई सुख देनेवाली वाचम्–चारों वेद रूपी वाणीका आवदानि-उपदेश करता हूं, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें। जैसे मैं दान देने वाले के संसर्गी ,देवानां-विद्वानोंकी दक्षिणाए अर्थात् दान आदिकेलिए मनोहर प्यारा हो जाऊं और मेरी यह कामना समृध्यताम्-उत्तमतासे बढ़े, तथा मुझे अद:–वह परोक्ष सुख प्राप्त हो, वैसे आप लोग भी होवें और वह कामना तथा सुख आपको भी प्राप्त होवे'।

(१) अब इस अर्थपर आलोचना दी जाती है। 'आलोक'-पाठकगण इसे सावधानता तथा निष्पक्ष भावसे देखें।—इस अर्थमें आपत्तियां यह हैं—१. 'हे मनुष्यो'! यह अर्थ मन्त्रके किस पदका है ? वे मनुष्य ब्राह्मणादिसे क्या भिन्न थे, और अपनेसे वेदमें उपदिश्यमान 'जनों' से भिन्न थे ? जिनको सम्बोधित किया जा रहा है, क्या परमात्माने उन्हें वेदोंका उपदेश नहीं किया था ? वा उनको उक्त कहनेसे पूर्व ही परमात्मा ब्राह्मणादिको उपदेश कर चुके थे ? उस समय यह मन्त्र तो वेदमें नहीं रहा होगा। २. यदि सम्मुखस्थ-मनुष्य ही परमात्माको मन्त्रोक्त ब्राह्मणादि इष्ट हैं, तो उन्हें 'व: जनेभ्य:' इस प्रकार 'युष्मद्' शब्दसे कहा जाता, और फिर 'तुम्हें उपदेश करता हूं' यह न कहा जाता,

किन्तु 'तुम्हें वेदवाणीका उपदेश जैसे कर चुका हूँ, वैसे तुम लोग भी करना' इस प्रकारसे कहा जाता, क्योंकि ऐसी बात उपदेशके अन्तमें कही जाती है। न आदिमें, और न मध्यमें, यह स्पष्ट है, तब यह मन्त्र चारों वेदों, बल्कि अन्तिम वेदके अन्तमें होना चाहिये था, अथवा आदिम-वेदकी आदिमें। पर मध्यमें अधिकारिचिन्ता-निरूपण अप्रासङ्गिक है, फिर तो वेदोपदेशमें व्यवधान डाल दिया गया। फलत: 'हे मनुष्यो ! ऐसा सम्बोधन चिन्त्य है, क्या इस मन्त्रका देवता 'मनुष्य' है, जो स्वामीजीने उन्हें परमात्माकी ओरसे सम्बोधित किया। यह याद रखना चाहिए कि-प्रतिपाद्य ही मन्त्रका देवता हुआ करता है, प्रतिपादक नहीं। ३. 'मैं ईश्वर' यह शब्द मन्त्रके किस पदका अर्थ है ? क्या इस मन्त्रका 'ईश्वर ऋषि' है ? याद रखिए प्रतिपादक ही मन्त्रका ऋषि हुआ करता है। ४. 'स्त्री-सेवकादि' किस पदका अर्थ तथा कैसे है ? क्या सेवक शूद्र आदिसे भिन्न हो जाता है ? 'स्त्री' पृथक् कहनेसे आगे कहे जानेवाले 'जातिपक्ष' का तो बाध हो गया। ५. 'उत्तमलक्षण-प्राप्त अन्त्यजादि' यह मन्त्रस्थ किस शब्दका अर्थ तथा कैसे है ? 'उत्तम लक्षणयुक्त अन्त्यजों' को देनेसे 'अधम-लक्षणयुक्त अन्त्यजको वेदवाणीका उपदेश न होनेसे वेदवाणी 'सर्वाधिकारा' न हुई, इससे स्वा०द०के पक्षका मूल ही कट गया। स्वामीजीके सम्प्रदायमें चार वर्णोंसे भिन्न अन्त्यज भी क्या पञ्चम, अवर्ण माना जाता है ? ६. 'चारों वेद रूप वाणी' यह किस शब्दका अर्थ है ? ७. 'वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें' यह किन पदोंका अर्थ है ?

(२) १. यदि 'यथेमां वाचं' यह मन्त्र स्त्री-शूद्रादिको वेदाधिकार देनेवाला होता, तो 'वेदान्त-दर्शन' के 'अपशूद्राधिकरण' (१।८) में वेदके पूर्ण विद्वान् श्रीवेदव्यास, 'यागे शूद्रस्यानधिकाराधिकरण' (६-७) में श्रीमान् वेदके अपश्चिम विद्वान् जैमिनि मुनि, संस्कार-प्रकरणमें वेदके प्रकाण्ड पण्डित सूत्रकार पारस्कर आदि, तथा वेद-विषयनिष्णात मन्वादि-स्मृतिकार एवं रामायण-महाभारतादि-प्रणेता श्रीवाल्मीकि-व्यास आदि, दर्शनोंके भाष्यकार श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि, तथा वेदोंके भाष्यकार श्रीवेङ्कटमाधव, श्रीसायणाचार्य आदि स्त्री-शूद्र आदिको वेदानधिकारी कैसे मानते ? यह तो असम्भव है कि-उनकी दृष्टिसे यह मन्त्र च्युत हो गया हो। तब स्पष्ट है कि-उक्त मन्त्रका यह अर्थ नहीं।

२. एक विद्यालंकारका 'सार्वदेशिक' (सितम्बर १९४६ के अङ्क) में 'शंकराचार्यजीके अतिरिक्त उक्त आचार्योंमें किसीने भी स्त्री-शूद्रादिको वेदका अनधिकारी नहीं माना' यह कहना प्रत्यक्षका अपलाप करना है। हम दिङ्मात्र उनके वचन उद्धृत करते हैं ! १ पहले स्वामीजीसे मान्य 'मनुस्मृति' देखें। चार वर्णोंके कर्म बताते हुए मनुजीने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका अध्ययन लिखा है, स्त्री-शूद्रका सर्वथा नहीं। उनका केवल सेवा करना ही कर्म लिखा है, सेवासे अतिरिक्त उन्होंने स्त्री-शूद्रका सब कर्म निष्फल बतलाया है। देखिये-'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया' (१।९१) 'यद् अतोऽन्यद्धि कुरुते तद् भवत्यस्य निष्फलम्' (१०।१२३) 'परिचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः' (५।१५१) 'नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्। पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते' (५।१५५) 'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः' (१०।९७)। स्त्रीकेलिए रोटी पकानेकी सेवा ही मनुने मानी है, वेदाध्ययन नहीं-'अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्। शौचे धर्मेऽन्न-पक्त्यां च' (९।११)।

३. जब यही स्वा०द०जीके स.प्र. ११ वें समुल्लासके आरम्भमें सृष्टिकी आदिमें बनी हुई मनुस्मृति स्त्री-शूद्रादिकेलिए उपनयन नहीं मानती, तब उनको वेदाधिकार ही कैसे देगी ? देखिये-'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः' (२।६६) 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पतिसेवा गुरौ वासो, गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया' (२।६७)। यज्ञोपवीत सर्वत्र तीन वर्णोंका आया है, स्त्री-शूद्रका नहीं। तब स्त्री शूद्रको

मनुके मतमें वेदका अधिकार सिद्ध न हुआ। यह 'मनुस्मृति' सृष्टिकी आदिमें बनी हुई मानी गई है। यह श्रीयास्क भी लिखते हैं—'विसर्गादौ [सृष्टयादौ] मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' (३।४।२)। इसपर वादियोंका विश्वास न हो, तो वे अपने 'ऋषि' की बात तो मानेंगे ही। वे लिखते हैं—'यह मनुस्मृति जो सृष्टिकी आदिमें बनी हुई है, उसका प्रमाण है, (सत्यार्थप्रकाश ११वें समु. का आरम्भ १७२ पृ.)। जब मनुके २।१६८ पद्यमें वेदका अध्ययन न करनेवाले द्विज को अर्थवादसे शूद्र कहा गया है, तब इससे भी शूद्रको वेदका अनधिकार सिद्ध हुआ।

४ इस प्रकार अन्य स्मृतियाँ भी निषेध करती हैं, जैसेकि–व्यास-स्मृति (१।६) 'वसिष्ठ-धर्मसूत्र' (४।३) 'गौतमधर्मसूत्र' (२।३।४) आदि। इसी प्रकार 'महाभारत' शान्तिपर्व (६०।३७), सभापर्व (४५।१६), उद्योगपर्व (२९।२६), सभापर्व (३६।८-९) में शूद्रको वेदका अधिकार निषिद्ध किया गया है। अनुशासनपर्व (४०।११) में स्त्रीको वेदशास्त्रका अधिकार नहीं दिया गया। वाल्मीकि-रामायण (१।६।१९) में शूद्रका स्वधर्म सेवा दिखाई गई है। तद्विरुद्ध वैदिक तपस्या करनेवाले शूद्र शम्बूकको श्रीरामने दण्ड दिया। तब शूद्र तद्विरुद्ध वेद पढ़नेके अधिकारी कैसे हो सकते हैं? रामायणमें किसी भी स्त्रीका उपनयन, वेदाध्ययन, गुरुकुल-निवास नहीं दिखलाया गया। रामायणकी नायिका श्रीसीताका छठे वर्षमें विवाह हो गया था, उसका कहीं भी उपनयन एवं वेदाध्ययन नहीं दिखलाया गया है। इससे रामायणके मतमें भी स्त्री-शूद्रोंका वेदाध्ययन निषिद्ध सिद्ध हुआ। वाल्मी. ३।५६।१८ में यज्ञवेदीमें द्विजाति का अधिकार, तथा चाण्डालका अनधिकार बताकर हमारा पक्ष सिद्ध कर दिया गया है।

(३) अब पारस्करादि-गृह्यसूत्रोंका मत भी देख लीजिये। उन्होंने तीन वर्णोंको ही यज्ञोपवीत दिया है; शूद्रको उपनयन एवं वेदाध्ययन नहीं दिया। देखिये 'पारस्कर गृ.' (२।१-२-३), 'द्राह्यायण गृ०' (३।४।१।३।५), जैमिनि-गृह्यसूत्र (१।१२), आपस्तम्बगृ० (४।१०।२-३), गोभिल गृ० (२।१०।१-२-३), 'आग्निवेश्य गृ०' (१।१।१), 'काठक गृ०' (४१।१-२-३), वैखानस गृ० (२।३) इत्यादि। हिरण्यकेशीय-सत्याषाढ-सूत्रके उपनयन (१९।१।१) सूत्रमें मातृदत्तने लिखा है—उपनयन त्रैवर्णिकानामेव स्यात्' न तु शूद्राणामुपनयनं वेदाध्ययनम्' इति शूद्रादीनां प्रतिषेधात्। 'तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यमित्यादिना तत्समीपेऽध्ययन-प्रतिषेधाच्च। पुंसामेव क्रियते, न स्त्रियाः। स्त्रिया नाध्येयं, न स्त्री-शूद्र-समीपे ब्रह्म श्रावयेदिति स्त्रीणामध्ययन-प्रतिषेधात्। पाणिग्रहो विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः परः, इत्युपनयनभक्तित्वाच्च विवाहस्य'। इसी प्रकार स्त्रीको भी अधिकार नहीं दिया गया, क्योंकि गृह्यसूत्रकारोंने पुंल्लिङ्ग शब्द (कुमार) लिया है, इधर उपनयनादिमें उनको जातिपक्ष इष्ट नहीं। जब ऐसा है तो सूत्रकारोंके मतमें भी स्त्री-शूद्रको वेदका अधिकार सिद्ध न हुआ; क्योंकि उपनयन-संस्कार होकर उसके बाद ही वेदारम्भ संस्कार होता है। 'लाट्यायन श्रौतसूत्र' (४।३।५) में शूद्रका यज्ञ-वेदीमें अधिकार नहीं माना गया। जब ऐसा है तो विद्यालङ्कारजी किस मुखसे कह सकते हैं कि 'शंकराचार्यजीके अतिरिक्त किसीने भी स्त्री-शूद्रको वेदका अनधिकार नहीं दिया।'

(४) अब जैमिनिजीका भी मत सुन लीजिये–'अपि वा वेदनिर्देशाद् अपशूद्राणां प्रतीयेत' (मीमांसा. ६।१।३३) यहांपर श्रीजैमिनिजीको वेदके निर्देशसे शूद्रका उपनयन इष्ट न होनेसे शूद्रका वेदाधिकार भी इष्ट नहीं। इधर जबकि जैमिनिजीने 'मीमांसादर्शन' के छठे अध्यायके प्रथम पादमें सप्तम अधिकरण ही। 'यागे शूद्रस्य अनधिकाराधिकरणम्' रखा हैं; तब उनके मतमें शूद्रका वेदानधिकार सिद्ध हो गया; क्योंकि यज्ञ वेदका विषय है। इसपर 'आलोक' (६) में 'ब्राह्मणभागकी वेदता' में देखो। इसलिए यज्ञ विषयवाले वेदकेलिए अधिकारपट्ट भी यज्ञोपवीत रखा गया है। तब शूद्रके सर्वथा तथा स्त्रीके स्वतन्त्र यज्ञ तथा यज्ञोपवीत

न होनेसे तथा दोनोंकी अविद्या स्वीकृत होनेसे श्रीजैमिनिजीके मतमें भी स्त्री-शूद्रका वेदमें अनधिकार सिद्ध हो गया। 'वेदान्तदर्शन'का अपशूद्राधिकरण (१।३।३४।३८।(६) तो बहुत ही प्रसिद्ध है। इसका सभी भाष्यकारोंने शूद्रका वेदानधिकारमें अपना ऐकमत्य ही प्रस्फुट किया है। इस विषयमें 'सन्मार्ग दैनिक' दिल्ली (६।५२४-५३३) में हमारी लेखमाला प्रकाशित हो चुकी है। जब वेदके मर्मज्ञ इन प्राचीन आचार्योंने ऐसा माना है; और 'यथेमां वाचं' मन्त्र इनकी दृष्टिसे दूर नहीं था; तब स्पष्ट है कि स्वा०द० प्रोक्त इसका अर्थ ठीक नहीं।

(५) इसके अतिरिक्त इस मन्त्रके तथाकथित अर्थवाला होनेपर वेदमें स्वयं व्याघात उपस्थित हो जायगा। 'वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्' (अथर्ववेद शौ.सं. १९।७१।१) यह मन्त्र वेदमें द्विजका अधिकार मानता है। तो यदि 'यथेमां' मन्त्र सभीको वेदाधिकार दे दे; तब आपस में व्याघात हो जानेसे 'तदऽप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तेभ्यः' (न्यायदर्शन २।१।५७) के अनुसार वेद अप्रमाण हो जाय। और फिर इस मन्त्रमें 'वेद' शब्द और 'द्विज' शब्द स्पष्ट हैं; 'यथेमां वाचं' मन्त्रमें 'वेदवाचं' शब्द नहीं है; 'वेद' शब्द वाले मन्त्रमें 'द्विज' शब्द है, केवल 'वाचं' वाले मन्त्रमें सभी वर्ण हैं; इससे स्पष्ट है कि वेदमें तो 'द्विज'का ही अधिकार हैं; और साधारण वाणीमें सबका अधिकार है। स्वा०द०जीके अनुसार स्मृत्यादि-ग्रन्थोंमें वेदका अधिकारी 'द्विज' कहा है; उक्त 'वेद' शब्दवाले मन्त्रमें भी उसका अधिकारी 'द्विज' कहा है—इनका 'श्रुतेरिवाऽर्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' इस प्रकार सामानाधिकरण्य सिद्ध हो जानेसे स्पष्ट है कि—'यथेमां वाचं' मन्त्रमें बलात् 'वेदवाणी' अर्थ करना स्वा०द०जीका ठीक नहीं। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जो स्वा०द०जीने स्मृत्यादिके वचनोंमें ही द्विजको वेदाधिकारी समझा है; वेदमें इन्हें वेदका अधिकारी 'द्विज' नहीं दीखा; इसका कारण 'वेदमाता...द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) 'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋ. १।१४९।५) इत्यादि मन्त्रोंका स्वाध्याय

न करना ही है।

(६) स्वा०द०जीको ही स्त्री-शूद्रादिके वेदाधिकारका इस मन्त्रमें भ्रम क्यों हुआ, इसपर भी विचार कर लेना चाहिये। उसमें कारण यह है कि उक्त मन्त्रमें उत्तम पुरुषकी क्रिया 'आवदानि' का प्रयोग है और इस मन्त्रका देवता 'ईश्वर' है। परन्तु ऐसा करनेपर उक्त मन्त्रका अपने अन्तिम अंशसे तथा अन्य मन्त्रोंसे विरोध पड़ता है, अतः स्वा०द० सम्मत अर्थ भी ठीक नहीं, यही इस निबन्धमें दिखलाया जायगा।

(७) स्वा०द०जीने यहांपर यह भी विचार नहीं किया कि जब हम अपनी 'संस्कारविधि' के उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कारमें ८-११-१२ वर्षकी अवस्थामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बालकका ही उपनयन एवं द्विजत्व तथा वेदारम्भ लिख रहे हैं, तब स्त्री-शूद्रका उपनयन तथा वेदारम्भ न होनेसे वे वेद पढ़ ही कैसे सकेंगे? केवल स्वा०द०जीने ही क्या, किसी भी स्मृतिकार वा गृह्यसूत्रकारने स्त्री तथा शूद्रादिको उपनयन वा वेदारम्भ नहीं माना, इसपर आर्यसमाजी विद्वान् श्री पं० नरदेवशास्त्रीजी की सम्मति आगे दी जावेगी, तब वे द्विज न होनेसे वेद पढ़ ही कैसे सकते हैं? उन्हें सेवासे अतिरिक्त वेदादिपठन किसी भी शास्त्रने नहीं दिया।

(८) इसके अतिरिक्त वेदमन्त्रमें उत्तमपुरुषकी क्रिया आ जानेसे क्या उसका वक्ता ईश्वर हो जायगा? यदि ऐसा है; तो क्या 'अग्निमीले पुरोहितम्' (ऋ.शा.सं. १।१।१) में यही अर्थ किया जायगा कि मैं परमात्मा अग्निकी पूजा करता हूं? अन्य मन्त्र भी ऐसे दिये जा सकते हैं। अग्निका अर्थ उसका अधिष्ठाता परमात्मा माना जाता है, अग्नि, देवता होनेसे यहां प्रतिपाद्य है। यदि 'अहं' से यहाँ परमात्मा लिया जाय; तो स्तोता तथा स्तूयमान दोनों परमात्मा होनेसे दो परमात्मा मानने पड़ेंगे। परन्तु वादी भी यहाँ जीवको प्रतिपादक तथा ईश्वरको प्रतिपाद्य मानते हैं; वैसे ही 'यथेमां वाचं' में भी समझ लेना चाहिये। इस मन्त्रके अर्थमें पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थकी सम्मति देखिये—

(९) 'इस बातके माननेमें हमको नितान्त संकोच है कि यह मन्त्र 'यथेमां वाचं' मनुष्यमात्रको वेदज्ञानाधिकार देनेका विधान करता है। वस्तुतः यह मन्त्र राजधर्म-प्रकरणका है। स.प्र.में उद्धृत भाग मन्त्रका केवल अर्द्धभाग है। मन्त्रका पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मिलाकर देखनेसे हमारे कथनकी उपयुक्तता सिद्ध होगी। इस मन्त्रका देवता 'ईश्वर' है, परन्तु 'ईश्वर' से यहाँ 'परमेश्वर' अभिप्रेत नहीं; किन्तु राजा अभिप्रेत है। प्रायः जहाँ देवता ईश्वर आया है; वहाँ 'राजा' ही लिया गया है। परमेश्वरकेलिए 'परमेश्वर' साक्षात् आया है, अर्थात् 'परमेश्वर' देवता लिखा गया है। यह राजधर्म-प्रकरणका क्यों है? इसलिए कि-१ प्राचीन मन्त्रद्रष्टाओंने इस मन्त्रका देवता 'राजा' माना है। २ राजाको देवता [वर्णनीय विषय] मान लेनेसे मन्त्रके पूर्वार्ध और उत्तरार्धके अर्थमें विरोध नहीं आता। ३ स्पष्ट रूपसे 'राजा' ही देवता है, ईश्वरसे वहाँ 'राजा' ही अभिप्रेत है। ४ परमेश्वरको देवता माननेमें उत्तरार्द्धके अर्थका स्वामीजी कृत अर्थसे मेल नहीं बैठता। यह बात स्वामीजीके किये हुए अपने ही भाष्यसे स्पष्ट हो जाती है। देखिये यजुर्वेद भाष्य, विसंगतता स्पष्ट प्रतीत होगी।" (आर्यसमाजका इतिहास प्रथमभाग १२२-१२३ पृष्ठ)।

(१०) अन्य विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यदि उक्त मन्त्र का वक्ता परमात्मा होता; तो अन्तिम अंशमें 'अहं देवानां प्रियो भूयासम्' 'दक्षिणायाः दातुः प्रियो भूयासम्, अयं मे कामः समृध्यताम्, अदो माम् उपनमतु' (यजुः २६।२) इस प्रार्थनाको अपनेलिए कभी न करता। ऐसी प्रार्थना तो कोई दक्षिणा वा धनका अभिलाषी पुरुष ही कर सकता है। देवाधिदेव कैसे कहे कि 'अहं देवानां प्रियो भूयासम्'? (मैं देवताओं का प्यारा बनूं) दूसरोंको धन-दक्षिणा देने-दिलानेवाला कैसे कहे— 'अहं दक्षिणायै (षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) दातुः प्रियो भूयासम्'? (मैं दक्षिणा देनेवालेका प्यारा बनूं) पूर्णकाम कैसे कहे कि-'अयं मे कामः समृध्यताम्'?

(यह मेरी कामना समृद्ध हो)"।

'ब्रह्मसूत्र' के २।१।३४ सूत्रके माध्वभाष्यमें कहा है-'मुक्ता अप्याप्त-कामाः स्युः किमु तस्याखिलात्मनः' (मुक्त भी प्राप्तकाम होते हैं, वह सर्वात्मा परमात्मा भला प्राप्त-काम क्यों न होगा? नित्यका सुखी कैसे कहे कि—'अदो मामुपनमतु'। उक्त मन्त्रसे पूर्व (२६।१) मन्त्रमें 'सकामान् अध्वनः कुरु, संज्ञानमस्तु मे अमुना' (२६।१) ऐसी प्रार्थना नित्यज्ञानी परमात्मा कैसे कर सकता है कि मेरे मार्ग सकाम हों; इससे मुझे ज्ञान प्राप्त हो।'

(११) वादियोंको याद रखना चाहिये कि यदि वे हठधर्मसे 'येन केन प्रकारेण' अपने पक्षको सिद्ध करनेकी चेष्टामें नहीं; तो उन्हें जानना चाहिये कि वेदके अधिकारी-वर्गकी सूचना तो वेदके आदि या अन्तमें ही घट सकती है; तभी 'इमां वाचं' में 'इदम्' शब्द उपपन्न हो सकता है। सारी ऋग्वेदसंहिता बन गयी; आधीसे अधिक यजुर्वेदसंहिता बन गई; उसके भी २६वें सूक्तके, उसके भी प्रथम मन्त्रमें नहीं, किन्तु दूसरे मन्त्रमें परमात्माको अप्रासगिक वेदके अधिकारिवर्गकी चिन्ता कैसे उपस्थित हो गई?

(१२) फलतः यहां पर 'ईश्वर' का परमात्मा अर्थ मानने पर और 'वाचम्' का 'वेदवाणी' अर्थ माननेपर बड़े-बड़े दोष प्राप्त हो जाते हैं; परन्तु पहले 'ईश्वर' शब्दके विषयमें आर्यसमाजी-विद्वान् डाक्टर मंगलदेव जी शास्त्री अध्यक्ष गवर्नमेंट कालेज बनारसका भी मत हम उपस्थित करते हैं। डाक्टर महाशयने 'संस्कृत-रत्नाकर' (जयपुर) पत्रके 'दर्शनांक' में 'ईश्वर' शब्दका इतिहास दिखलाते हुए लिखा है कि-'ऋग्वेद-संहिता' में तो 'ईश्वर' शब्द एक बार भी नहीं आया। शुक्ल-यजुर्वेद संहिता' में भी 'ईश्वर' शब्दका प्रयोग सर्वथा नहीं किया गया। 'सामवेद' में भी 'ईश्वर' शब्द एक बार भी नहीं आया। अथर्ववेद-संहिता' में 'ईश्वर' शब्द पाँच बार आया है, परन्तु वहाँ 'स्वामी' का अर्थ है, 'परमात्मा' अर्थ

नहीं। 'निघण्टु'में भी 'राष्ट्री, अर्यः' इत्यादि ईश्वरके नाम आये हैं—वे भी स्वामी वा राजाके अर्थमें प्रयुक्त हैं, परमात्मा अर्थमें नहीं। इसी प्रकार 'निरुक्त' में भी 'ईश्वर' स्वाम्यर्थक है, परमेश्वरार्थक नहीं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भी ईश्वर शब्द समर्थ-वाचक है, परमात्म-वाचक नहीं। श्रौतसूत्रोंमें प्राय: ईश्वर शब्द मिलता ही नहीं। जहाँ है भी, वहाँ परमात्मा अर्थ नहीं। इसी प्रकार धर्मसूत्रोंमें भी। 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' में भी राजार्थक ही ईश्वर शब्द देखा गया है, परमात्मा अर्थमें नहीं। इसी प्रकार अष्टाध्यायी-महाभाष्यमें भी 'ईश्वर' शब्द स्वामी वा राजा अर्थमें है, परमात्मा अर्थमें नहीं। यह 'ईश्वर' शब्दके इतिहासका पहला युग है। मध्ययुग 'मनुस्मृति' में ईश्वर शब्दका अधिकतर अर्थ राजा है, कहीं-कहीं परमात्मा भी। अन्तिम युगमें 'भगवद्गीता' आदि तथा दर्शनोंमें ईश्वर शब्द परमात्मार्थक ही है''।

यद्यपि इसमें हम पूर्णतया सहमत नहीं; तथापि इससे यह तो सिद्ध हुआ कि वेदकालमें ईश्वरका अर्थ 'परमात्मा' नहीं था, तब 'यथेमां वाचं' इस मन्त्रमें 'ईश्वर देवता' में परमात्माका अर्थ कैसे हो सकता है? जब परमात्माका अर्थ न हुआ; तब स्वा०द० प्रोक्त अर्थ भी सिद्ध न हुआ।

(१३) अब यह दिखलाया जाता है कि—उक्त मन्त्रमें 'परमात्मा' अर्थ करनेपर स्वा०द०जीके मतमें बड़े-बड़े दोष आते हैं। १ उक्त अर्थ कहनेवाले स्वामीजीके मतमें ईश्वर सर्वथा निराकार है; तब कण्ठ तालु आदि न होनेसे 'सृष्टिनियमसे विरुद्ध' उसने अक्षरात्मक वाणी ही कैसे उपदिष्ट की? क्या उपदेशक निराकार होते हैं? 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, के ११ पृष्ठके अनुसार उसका 'सर्वशक्तिमत्ताका ब्याज तो व्यर्थ है; नहीं तो वह सर्वशक्तिमत्तासे साकार ही क्यों नहीं हो जाता? स्वा०द०जीने स.प्र.में लिखा है—'जो-जो सृष्टिक्रमसे अनुकूल, वह-वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है, (३ समु. पृ. ३१) 'परन्तु क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है कि—जो असम्भव बातको भी कर सके?......जो स्वाभाविक नियम हैं......उनको विपरीत गुण वाले ईश्वर भी नहीं कर सकता (स.प्र. ८ पृ. १३३) 'ईश्वर भी पूर्वकृत नियमको उल्टा नहीं कर सकता' (स.प्र. पृ. ३१७) यदि परमात्मा सृष्टि-नियम-विरुद्ध कुछ कर नहीं सकता; तो विना शरीर तथा मुखादि अवयवके सृष्टिक्रम-विरुद्ध बोल भी नहीं सकता; (श्री बु०दे० विद्यालंकारने भी यही माना है, यह आगे दिखलाया जायगा।) फिर वेद भी उसकी वाणी नहीं बन सकते।

२ यह भी प्रष्टव्य है कि—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र, स्त्री आदि परमात्माके पास स्वामी दयानन्दके अनुसार वेद पढ़ने गये; वे निराकार थे या साकार? क्या ईश्वर उन व्यक्तिविशेषोंको किसी सीमित स्थानमें पढाता था; वा सर्वव्यापकतामें? यदि सीमित स्थानमें पढ़ाता था, तब परमात्मा भी एकदेशी सिद्ध होगया। यदि सर्वव्यापकतामें वेद पढ़ाता था; तो पढ़ने वाले ब्राह्मणादि भी क्या उसकी तरह अविच्छिन्न रूपसे सर्वव्यापक थे, जैसे कि—मूर्तिपूजा-खण्डनके समयमें स्वामीजी वा उनके अनुयायियोंका कथन होता है; नहीं तो उसी तरह मूर्तिपूजा भी मान लीजिये।

३ वह जगत्भरके सब ब्राह्मण, शूद्रादिको पढ़ाता है वा थोड़ेसे ब्राह्मण, शूद्रादिको? यदि थोड़ोंको, तो उनकी सूची उपस्थित कीजिये। यदि सबको वेद पढ़ाता था, तो बहुतसे वेद-पराङ्मुख कैसे हो गये?

४ उसने भूतकालके ब्राह्मणोंको पढ़ाया था, या वर्तमानकालके ब्राह्मणादिको भी? यदि वर्तमानकालके, तो यह प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। यदि उसने भूतकालीन-ब्राह्मणादिको पढ़ाया, वर्तमानकालके नहीं, जैसा कि—स्वामीजीने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाके १३ पृष्ठमें लिखा है कि—'न सृष्टेरारम्भसमये पठन-पाठन-क्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदपि आसीत्, तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव' तब वेदमें भूतकालका इतिहास भी सिद्ध हो गया। तब स्वामीजीके सिद्धान्तानुसार वेद अनित्य भी सिद्ध हो गये। क्योंकि—परमात्मा वर्तमानकालके ब्राह्मण-शूद्रादिको वेदका

उपदेश देना नहीं दीखता। उस समय वेद पढ़ानेके समय वेदमें **'यथेमां वाचम्' मन्त्र था, या नहीं** ? यदि था, तो 'इतिहास जिसका हो उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है, वह ग्रन्थ भी उसके जन्मके पश्चात् होता है. (स.प्र. ७ समु. १२७ पृष्ठ) स्वामीजीकी इस अपनी उक्तिसे विरोध पड़ता है। यदि वह मन्त्र उस समय वेदमें नहीं था, अब दिखाई पड रहा होनेसे वेदमें प्रक्षिप्तता भी सिद्ध हो गई। तब तो उनके अनुसार वेदके प्रामाण्यमें भी सन्देह उपस्थित हो गया।

५ यदि परमात्मा सदा ही ब्राह्मण-शूद्रादिको वेद पढ़ाता है, तो **करोड़ों पुरुष** वेदानभिज्ञ क्यों हैं ? अभिज्ञोंमें भी अर्थोंमें विवाद क्यों ? या फिर वेद पढ़ानेकेलिए गुरुकुलोंमें **करोड़ों रुपया व्यर्थ व्यय** क्यों किया जा रहा है ? क्या परमात्मा वेदकी पाठन-शैलीसे अनभिज्ञ है कि—उसका पढ़ाया तो लोग भूल जाते हैं, पर आर्यसमाजी विद्वानोंसे पढ़ाया उन्हें याद रह जाता है ? तब परमात्मा सर्वशक्तिमान् कैसा ?

६ परमात्मा वेद आर्योंको पढ़ाता है, अथवा ईसाई, मुसलमान आदियोंको भी ? यदि आर्योंको ही, तो वह संकुचिताशय हो गया, 'महाशय' क्यों नहीं हुआ ? ऐसा होनेपर यदि वह द्विजसे भिन्नोंको वेदका अधिकार नहीं देता, तो इसीसे वह संकुचिताशय क्यों माना जाता है ? यदि वह मुसलमान-ईसाई आदिका पढ़ाता है, तो उनका नाम मन्त्रमें क्यों नहीं ? 'आवदानि जनेभ्य:' कहकर भी पृथक् ब्राह्मणादि नाम कहने उससे भिन्न मुसलमान-ईसाई आदि यहाँसे हटा दिये गए, नहीं तो 'जनेभ्य:' कहनेसे ही **सब पुरुषोंका** ग्रहण सम्भव होनेसे फिर ब्राह्मण आदिका नाम-ग्रहण व्यर्थ एवं असाभिप्राय हो जाता है। तब इस मन्त्रमें ईसाई-मुसलमानादि न आनेसे इस मन्त्रसे 'सबको' अर्थात् **मनुष्यमात्रको** वेदका वादिसम्मत अधिकार सिद्ध न हुआ। तब इससे वेदका अधिकार **सीमितोंका** सिद्ध होनेसे यदि वह परमात्मा सनातनधर्मियोंके अभिमत-अनुसार द्विजोंके अतिरिक्त अन्योंको वेदका अधिकार नहीं देता, तब वह उपालम्भयोग्य

सिद्ध न हुआ।

७ अथवा यदि परमात्मा सभीको वेद पढ़ाता है, अथवा यदि पहले केवल आर्य ही थे, तब मुसलमान आदि **वेदको न माननेवाले** कहाँसे निकल पड़े ? क्या परमात्मामें अपने शिष्योंके अनुकूल करनेकी शक्ति भी नहीं ? यदि नहीं, तो जैसे स्वामीजीने ईश्वर-मूर्तिसे मूषक-द्वारा नैवेद्य उठा लेनेपर उसकी साकारता खण्डित कर दी, वैसे अब उसके अशक्तिमान् सिद्ध होनेपर उसकी निराकारता हटाकर नास्तिकता स्वामीजीने क्यों नहीं अपनाई ? क्या उनकी सब जगह **अपनी इच्छा** ही प्रमाण है ? यदि ऐसा है तो उन्हें स्वेच्छाधर्मी ही माना जावेगा, वैदिकधर्मी नहीं।

८ इस मन्त्रमें स्वामीजी 'स्त्री और सेवक' का नाम भी कहते हैं, पर इस मन्त्रमें उनका नाम दिखाई नहीं पड़ता। तब इस मन्त्रके अर्थमें उनका **प्रक्षेप** कैसे ? स्वामीजीने 'स्वाय' इस पदका 'स्त्री, सेवक' अर्थ किया है, परन्तु वह अर्थ 'स्वाय' का कैसे हो सकता है ? क्या वादी लोग निराकारकी स्त्री तथा नौकर भी मानते हैं ? 'अरण' का अतिशूद्र अर्थ कैसे ? वस्तुत: 'स्वाय' का अर्थ है 'अपने कुलमें उत्पन्न हुएके लिए' 'अरणाय' का अर्थ है 'अन्य कुलजात' जैसे कि—'निरुक्त' में 'परिषद्य' ह्यरणस्य रेक्णो' (ऋ. ७।४।७) इस तथा 'नहि ग्रभाय अरण:' (ऋ. ७।४।८) इस मन्त्रमें।

(१४) इसके अतिरिक्त उक्त मन्त्रका यदि स्वामी दयानन्द-प्रोक्त अर्थ माना जावे, तो इससे स्वामी दयानन्दजीसे अभिमत गुणकर्म कृत वर्णव्यवस्था भी खण्डित हो जाती है। देखिये—१ यहाँपर प्रष्टव्य है कि—ब्राह्मणादि वर्ण इस मन्त्रमें परमात्माको जन्मसे अभिमत हैं, वा गुणकर्मसे ? यदि जन्मसे, तब तो वर्ण-व्यवस्था परमात्माको जन्मसे अभिमत हो गई। यदि गुणकर्मसे यहाँ ब्राह्मणादि इष्ट हैं, तो **वेदाध्ययन रूप गुण कर्मसे पहिले** ही उनकी ब्राह्मणादि संज्ञा कैसे हो गई ? और फिर वेदाध्ययनसे क्षत्रिय, वैश्यकी संज्ञाका क्या सम्बन्ध ? यदि यह संज्ञा

उनकी जन्मसे नहीं थी, तब परमात्माने 'ब्राह्मण शूद्रादिको मैं वेद पढ़ाता हूँ' यह कैसे बताया, अथवा 'परमात्माने ब्राह्मणादिको वेद पढ़ाया' यह कैसे जाना गया ?

३ परमात्मा ब्राह्मण तथा शूद्र-अतिशूद्रादिको वेद बराबर पढ़ाता है या न्यूनाधिक अर्थात् विषमतासे ? यदि विषमतासे, तो पक्षपाती सिद्ध हो गया। ४ वह पक्षपात उन वर्णोंके जन्मसे है या गुणकर्मसे ? यदि जन्मसे, तो परमात्माको जन्मसे वर्ण-व्यवस्था इष्ट हुई। यदि गुण-कर्मसे यह पक्षपात है, तो चारोंका वेद पढ़ाना तो अभीसे प्रारम्भ हुआ है, तब पढ़ने वालोंमें कर्म-तारतम्य कैसे हुआ ? ५ यदि इसमें पूर्व-जन्मका कर्म-वैषम्य कारण है, तब ब्राह्मण-शूद्र आदि भी पूर्व-जन्मके कर्मसे सिद्ध हुए, इस जन्मके गुणकर्मसे नहीं, यह सनातनधर्मका सिद्धान्त ही विजयी हुआ। जैसे कि-न्यायदर्शनके ३।२।६९ सूत्रके वात्स्यायनभाष्यमें उच्चाभिजन और निकृष्टाभिजनादिरूप शरीरोत्पत्तिका कारण पूर्व-जन्मका कर्म माना है। ६ यदि परमात्मा सबको साम्यसे पढ़ाता है, तब क्या उसमें इतनी भी शक्ति नहीं कि-वह सब अपने शिष्योंको पूर्ण विद्वान् वा एक वर्णका बना दे। ७ स्वामीजीके इस अर्थको माननेवाले शिष्य महाभारतानुसार तो मानते हैं कि-आदिमें केवल ब्राह्मण ही थे, अन्य वर्ण बादमें बने। इसमें वे कौनसी बात ठीक मानते हैं ? ८ यदि परमात्मामें सबको एक वर्ण बनानेकी शक्ति नहीं, तब वह सर्वशक्तिमान् कैसे ? यदि शक्ति है तब उनमें चार संज्ञाएं कैसे हुईं ? अथवा क्या यह व्यवस्था बनी हुई है कि-एक वेद पढ़ें तो शूद्र, दो वेद पढ़े तो वैश्य, तीन वेद पढ़े तो क्षत्रिय, चार पढ़े तो ब्राह्मण ? यदि यह व्यवस्था बनी हुई है, तो मैं 'चार वर्णों तथा अवर्णों को चारों वेदोंकी वाणीका उपदेश करता हूँ' यह स्वामीजीका अर्थ खण्डित होता है। इससे स्पष्ट है कि-परमात्मा जन्मसे इन चारों वर्णोंको मानकर उनके पढ़ानेमें उनके अधिकारके अनुसार वैषम्य करता है, सबको नहीं पढ़ाता।

९ अन्य यह भी प्रष्टव्य है कि-वे ब्राह्मणादि पहले वेदसे भिन्न अन्य शास्त्र भी पढ़े हुए थे, या नहीं ? यदि पढ़े हुए थे, तो वेद उन शास्त्रोंसे पीछेकी रचना हुई। यदि नहीं पढ़े हुए थे, तो उनको वेदोंकी आरम्भमें ही समझ कैसे आ गई ? १० परमात्माने उन्हें वेदवाणी ही पढ़ाई, वा अर्थ भी समझाए ? यदि अर्थ ही समझाए, तो वेदवाणीका उपदेश उन्हें पहलेसे ही सिद्ध हो गया, फिर 'परमात्माने चारों वर्णोंको वेद पढ़ाये' यह स्वामीजीका अर्थ खण्डित हो गया, फिर अर्थात्मक ब्राह्मण-भाग भी परमात्म-प्रणीत होनेसे वेद सिद्ध हो गया ! यदि परमात्माने उन्हें वेद-वाणीका ही उपदेश किया; अर्थका नहीं तब उन्हें अर्थ-ज्ञान कैसे हो गया ? ११ उस समय अग्नि, वायु, रवि, अङ्गिरा—ये चार स्वामीजी से अभिमत ऋषि भी वेद पढ़नेमें शामिल थे या नहीं ? यदि थे, तो उनका नाम यहाँ क्यों नहीं आया ? यदि नहीं थे, तो उन्होंने फिर स्वामीजीके मतानुसार संसारको एक-एक वेदका सृष्टिकी आदिमें उपदेश कैसे दिया ? क्या उस समय जगत्भरके ब्राह्मण-शूद्रादि परमात्मासे पढ़ाये गये वेदको भूल गए ? क्या यहां भी वेदमें कोई क्रमिक इतिहास है, क्योंकि स्वामीजीने 'अग्ने ! देवेषु प्रवोचः' (ऋ. १।२७।४) यहाँ 'जगदीश्वर ! त्वं सृष्ट्यादौ जातेषु पुण्यात्मसु अग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु प्रोक्तवान्'। यह भी कहा है। क्या यह वेदमें भिन्न-भिन्न कालका वर्णन भी आप मानते हैं ? १२ यह चारों स्वाम्यनुसार ब्राह्मण थे—इनमें परमात्माने किसी स्त्री तथा शूद्रको क्यों रखवाना आदिष्ट नहीं किया ? क्या उस ऋग्वेदके समयमें परमात्मा सनातनधर्मी थे, और यजुर्वेदमें 'यथेमां वाचं' मन्त्र आते-आते आर्यसमाजी हो गए, और अथर्ववेदमें फिर द्विजोंकेलिए' वेद रखकर अन्तमें सनातनधर्मी हो गए !

१३ स्वामीजी पूर्ण-विद्वत्तासे ब्राह्मण तथा पूर्ण-मूर्खतासे शूद्र बनना मानते हैं। यदि परमात्मा उनके किए अर्थके अनुसार पूर्ण-विद्वान्को फिर

वेद पढ़ाता है; तो परमात्मा भ्रान्तिमान् सिद्ध होता है, क्योंकि १६ पूर्ण-विद्वान्को फिर वेद क्यों पढ़ाए? यदि फिर भी पढ़ाता है और भ्रांतिमान् भी नहीं है, तो इससे स्पष्ट है कि–वे ब्राह्मण पूर्ण-विद्वान् नहीं थे, किन्तु अपूर्ण विद्वान् थे। तभी तो परमात्माने उन्हें वेद पढ़ाया। यदि ब्राह्मणगण अपूर्ण विद्वान् थे, तो वे ब्राह्मण ही कैसे रहे? यदि वे ब्राह्मण ही न रहे, तो परमात्माने ब्राह्मणोंको वेद पढ़ाया—यह स्वामीजी-का कहना गलत सिद्ध हो गया। अथवा जन्मसे उनकी ब्राह्मणता मानने पर परमात्माके मतमें वर्णव्यवस्था जन्मसे सिद्ध हुई।

१४ स्वामीजीके मतके अनुसार अत्यन्त-मूर्ख ही शूद्र-पदको प्राप्त करता है, तो क्या परमात्मा नहीं जानता था कि–यह अत्यन्त मूर्ख है, इसका पढ़ाना व्यर्थ है, मैं इसे क्यों पढ़ाता हूं? यदि वह यह नहीं जानता, तो वह अल्पज्ञ सिद्ध होता है। यदि वह पढ़ाये जा सकने योग्य शूद्रको पढ़ाता है, न पढ़ाये जा सकने योग्य शूद्र वा अतिशूद्रको वेद नहीं पढ़ाता, तो फिर वेद स्वामीजीके अनुसार **मनुष्यमात्रकेलिए नहीं रहते, जैसेकि—** स्वामीजीके यह शब्द हैं कि—'मनुष्यमात्रको वेद पढ़नेका अधिकार है' (स.प्र. ३ पृ. ४४)। और फिर परमात्मा अपनी उक्तिसे विरुद्ध भी सिद्ध होता है, क्योंकि–वह 'अरण' को भी वेद पढ़ाता है, जिसका अर्थ स्वामी-जीने 'अतिशूद्रादि' किया है।

१५ यदि परमात्मा, जान-बूझकर ही शूद्र-अतिशूद्रादिको वेद पढ़ाता है, तब वह पढ़ाए जा सकने योग्यको शूद्र कैसे कहता है? वेद पढ़े हुए शूद्रको फिर वह ब्राह्मणादि क्यों नहीं मानता? इस प्रकार अपूर्ण-विद्वान्को भी वह ब्राह्मण क्यों कहता है? इससे स्पष्ट है कि–स्वामीजीके किये हुए अर्थके अधीन भी परमात्मा वर्णव्यवस्था जन्मसे ही मानता है, क्योंकि वह वेद-पढ़े भी शूद्रको शूद्र कहता है; ब्राह्मण नहीं। अब स्वा.द. जीकी इच्छा है कि–अपने अनभीष्ट सिद्धान्तके प्रचारक ईश्वरको अपने सम्प्रदायसे बाहर कर दें, अथवा फिर 'अहम्' पदसे 'परमेश्वर' अर्थ और

'वाचं' का 'वेदवाणी' अर्थ न मानें; जिसमें शतश: दोष उपस्थित होते हैं। क्योंकि–तब 'वेदमाता...द्विजानाम्' (अथर्वसं. १९।७१।१) इस मन्त्रसे भी उक्त मन्त्रका विरोध पड़ता है–'वेदमाता द्विजानां पावमानी' यह शब्द स्पष्ट हैं। शूद्रको एकज माना गया है, 'द्विज' कहीं नहीं माना गया; और उसे द्विजत्वका अधिकार भी कहीं नहीं दिया गया। उसे तो कृच्छ्रकर्म सेवारूप तपकी ही आज्ञा है, जैसा कि–वेदमें ही कहा है—'तपसे शूद्रम्' (यजु: ३०।५) इसका आर्यसमाजी भी यही अर्थ मानते हैं। (देखो ६म पुष्प) स्मृतिमें भी कहा है—'तप: शूद्रस्य सेवनम्' (मनु. ११।२३५)। आजकलके विद्वान् भी इसका यही अर्थ करते हैं। इसके अतिरिक्त 'यथेमां-वाच' मन्त्रमें 'वेदवाच' पाठ भी नहीं, फिर इससे सबको वेदाधिकार कैसे सिद्ध हो सकता है? नहीं तो विविध-वेदमन्त्रोंमें परस्पर-विरोध होनेसे वेद अप्रमाणित हो जाए।

(१५) अन्य प्रश्न यह है कि–ब्रह्म-राजन्य आदि शब्द उस-उस वर्ण वा जातिमें रूढ इष्ट हैं, या यौगिक? यदि रूढ, तो वेदमें रूढ शब्द भी सिद्ध हो गये, तो वादियोंका वेदमें केवल यौगिक-शब्द मानना खण्डित हो गया। यदि यह शब्द यहाँ यौगिक हैं, तो यह बात यहाँ कैसे घट सकती है, क्योंकि–वेद-पठन कर्म तो पांचोंका एक ही कहा है, तो तदनुसार या तो सभी ब्राह्मण हो जाते, या सभी शूद्र, अन्त्यज नामधारी हो जाते। इससे स्पष्ट है कि–इनकी यह संज्ञा वेद-पठनादि कर्म-मूलक नहीं, किन्तु जन्मसे रूढ है, जिससे वर्णव्यवस्था जन्मसे सिद्ध होती है। नहीं तो सृष्टिकी आदिमें युद्धोंके न होनेसे कइयोंकी संज्ञा क्षत्रिय कैसे हुई? वाणिज्य न होनेसे वैश्य-संज्ञा कैसे हुई?

(१६) अन्य यह भी प्रष्टव्य है कि–परमात्माने जिन ब्राह्मणादिको पढ़ाया; उनकी कितनी आयु थी? सबकी समान आयु थी, वा भिन्न-भिन्न? उनके माता-पिता थे वा नहीं, उनके गुरुकुलका क्या नाम था? वहाँ आचार्य-उपाचार्य आदि कौन थे? यदि परमात्मा ही आचार्य थे, तो

पढ़ानेवालोंका उपनयन किया गया वा नहीं ? वे सभी द्विज किये गये, वा कई एकज भी रहे–यह बात इस मन्त्रसे कैसे जानी जाय ?

(१७) वास्तवमें ऐसा अर्थ करनेपर स्वा.द.जी परस्पर-विरुद्ध वक्ता सिद्ध होते हैं, क्योंकि उन्होंने सृष्टिकी आदिमें अग्नि, वायु, सूर्य, अङ्गिरा नामक चार ऋषियों (?) को ही परमात्मा द्वारा वेदका ज्ञान देना बतलाया है (देखिये ऋ. १।२७।४ का स्वा.द.का भाष्य।) 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' में भी स्वामीजीने लिखा है—'(प्र०) ईश्वरो न्यायकारी अस्ति, वा पक्षपाती (उ०) न्यायकारी' (प्र०) तर्हि चतुर्णामेव [ऋषीणां] हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः, कुतो न सर्वेषाम् (उ०)...तेषामेव [चतुर्ऋषीणां] पूर्वपुण्यमासीत्; अतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्तुं योग्योऽस्ति' (वेदोत्पत्ति-विषय १६ पृष्ठ)। तो पहले केवल चार पुण्यात्मा ऋषियोंको परमात्मा द्वारा वेद-ज्ञानका प्रदान दिखलाकर-जिनमें कोई स्त्री-शूद्र नहीं था, फिर सभी पुण्यात्मा-अपुण्यात्मा ब्राह्मण-शूद्रादिको परमात्मा-द्वारा वेद-ज्ञान-प्रदान कैसे बतलाया ? यह परस्पर विरोध हुआ, वा पहले चार ऋषियों (?) का पढ़ाना और उनका पुण्यात्मत्व सिद्ध करना व्यर्थ हुआ। इससे तो यह सिद्ध हो रहा है कि–परमात्माने आरम्भमें केवल चार पुण्यात्मा ब्राह्मणोंको ही वेदोपदेश दिया, उनमें कोई क्षत्रिय, वैश्य भी नहीं था; पापयोनि स्त्री, शूद्र तथा अतिशूद्रादिका तो क्या कहना ? इसलिए 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (यजुः ३०।५) इस मन्त्रमें भी वेदाधिकारी ब्राह्मणको ही रखा। इसलिए 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम' इस मन्त्रमें भी विप्र, ब्राह्मण यही शब्द आये हैं। यदि कहा जाय कि–पहला सृष्टिका आदिकालीन वर्णन है, दूसरा 'यथेमां' वाला मध्यकालिक, तो वेदमें स्वा.द.के विरुद्ध भिन्न-भिन्न कालका इतिहास सिद्ध हो जानेसे वेदकी अनित्यता प्रसक्त होगी। फिर 'वेदमाता...द्विजानाम्' (अथर्व. १९।७१।१) यह द्विजोंको वेदाधिकार अन्तिम वेदमें कहनेसे यह परमात्मा का अन्तिमपक्ष, सिद्धान्तपक्ष, एवम् उत्तरपक्ष हो जायगा; और यही मान्य

सिद्धान्त हो जायगा।

(१८) अन्य विरोध स्वामीजीका यह है कि—स्वामीजीने संस्कार-विधिमें उपनयन एवं वेदारम्भ शूद्र-अतिशूद्रोंका नहीं माना, सुश्रुतके वचनानुसार उन्होंने अशुभ-लक्षणयुक्त और अकुलीन शूद्रको मन्त्र-संहिता तो दूर, अन्य शास्त्रोंके पढ़ानेका अधिकारी भी स.प्र. के २५ पृष्ठमें नहीं माना, फिर ४४ पृष्ठमें मनुष्यमात्रको वेदाध्ययनाधिकार देते हुए वे परस्पर-विरुद्ध वक्ता भी सिद्ध हो गए। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीनरदेव-शास्त्रीजीके 'आर्यसमाजका इतिहास (प्रथम भाग) के १२० पृष्ठमें लिखा है–'विधिपूर्वक उपनयन कराकर शूद्रोंको गुरुकुलोंमें भेजनेका विधान कहीं भी नहीं है'। यदि शूद्रकेलिए पूर्वसे ही उपनयन-संस्कार होता, तो जैसे ब्राह्मणादि तीन वर्णोंके उपनयनकाल वसन्तादिक दिये हैं, उनके लिए पृथक् दण्डादिका विधान किया है, भैक्षचर्यामें 'भवति !' इस सम्बोधनको अपने-अपने वर्णोंके ज्ञापनार्थ आगे, पीछे, मध्यमें लगानेका विधान बताया है, ऐसे ही और इसी प्रकारके अन्य विधान शूद्र-बालककेलिए भी देखे जाते, यदि इनको पूर्वसे ही उपनयनका अधिकार होता। स्वामीजीकी 'संस्कार-विधि' देखनेसे ये बातें स्पष्ट ज्ञात हो सकती हैं। जिन संस्कार-सम्बन्धी प्राचीन पद्धतियोंके आधार पर यह 'संस्कारविधि' रची गई है, उनमें भी शूद्रकेलिए कहीं भी यज्ञोपवीत-संस्कारका विधान नहीं है।' जब ऐसा है तो शूद्रोंका उपनयन न होनेसे वेदमें भी अधिकार नहीं हो सकता।

(१९) अन्य विरोध यह है कि–स्वामीजीने आर्यसमाजके तृतीय नियममें वेदका पढ़ना-पढ़ाना आर्योंका परम धर्म माना है। स.प्र. के ८वें समुल्लासके अनुसार शूद्र अनार्य [अनाड़ी] माना गया है, पर यहाँ उसी अनार्यको वेदाधिकार दे दिया गया है–यह परस्पर-विरोध है।

(२०) स्वा. दयानन्दजीका अन्य विरोध यह है कि–उन्होंने अपने यजुर्वेद-भाष्यमें 'अरणाय' का अर्थ 'उत्तम लक्षणवाले अन्त्यजकेलिए' यह किया है। तब अधम-लक्षणवाले अन्त्यजकेलिए वेदोपदेश न होनसे वेदका

मनुष्यमात्रको अधिकार निरस्त हो गया। 'स्वाय' का अर्थ स्वा.द.जीने 'अपने स्त्री-सेवक' किया है। तब दूसरोंके स्त्री-सेवकोंको वेद न पढ़ानेसे मनुष्यमात्र तथा स्त्रीमात्रको वेदाधिकार निरस्त हो गया। तब परमात्मा से भिन्न भी क्या कोई अन्य परमात्मा है, जिसके स्त्री-सेवक आदिको वह वेद नहीं पढ़ाता। स्वामीजीने जब अपनी 'संस्कार-विधि' में शूद्रादिको उपनयन तथा वेदारम्भका अधिकार नहीं दिया, तब वह वेद पढ़ेगा ही कब ?

वस्तुतः 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' का जो पण्डित 'मैं परमात्मा ब्राह्मण-शूद्रादिको वेदवाणी पढ़ाता हूं' यह अर्थ करते हैं, वे सभी भारी भूलमें हैं—यह बात अब दिखलाई जाती है।

(२१) यह हम मान लेते हैं कि इस मन्त्रका देवता 'ईश्वर' है, हम यह भी मान लेते हैं कि यहाँ 'ईश्वर' का अर्थ 'राजा' नहीं, किन्तु 'परमात्मा' है। तथापि न इससे हमारे पक्षकी हानि है, न स्वा.द.जी वा उनके पिछलगुओंके पक्षकी सिद्धि ही है। इसमें स्वामीजी तथा उनके अनुयायी भारी भ्रममें पड़ गये, इसको पाठक अवधानसे देखें।

(२२) इस मन्त्रका देवता 'ईश्वर' अर्थात् 'परमात्मा' है। वादितोष-न्यायसे हम इसमें नकार नहीं करते, परन्तु इसमें यह विचारणीय है कि विनियोगान्तर्गत 'देवता' शब्दका क्या अर्थ है ? इसका उत्तर यह है कि—'या तेन उच्यते, सा देवता' (सर्वानुक्रमणी २।५) यहाँपर षड्गुरुशिष्यने भी कहा है—'तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु, सा देवता' अर्थात् मन्त्र में जिसके प्रति प्रार्थना की जा रही हो; वही 'देवता' होता है। यही निरुक्तकार-श्रीयास्कने भी कहा है—'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थ-पत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्देवतः स मन्त्रो भवति' (७।१।४) अर्थात् ऋषि जिस अर्थवस्तुकी कामना करता हुआ जिस देवताकी स्तुति करनेपर अपनेको उस अर्थका पति चाहता हुआ कि मैं उस देवताकी कृपासे अमुक अर्थका स्वामी बन जाऊंगा, यह बुद्धि रखकर स्तुति करता है; अथवा

जिस मन्त्रसे उसे प्रार्थना करता है; उस मन्त्रमें वही देवता होता है—इस दुर्गाचार्यप्रोक्त प्रकारसे स्पष्ट है कि वेदमन्त्रमें प्रतिपाद्य विषय तथा स्तोतव्य एवं सम्बोध्यमान देवका नाम ही 'देवता' होता है। जो प्रति-पादक अथवा स्तोता, अथवा सम्बोधयिता, प्रार्थक होता है, वह ऋषि होता है, देवता नहीं। जैसे कि—बृहद्देवता' में भी कहा है—

(२३) 'संवादे (सूक्ते) ब्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन् भवेद् ऋषिः। यस्तेनोच्येत वाक्येन देवता तत्र सा भवेत्' (२।९०) यह बहुत स्पष्ट है। इस कारण 'सर्वानुक्रमणी' में भी कहा है—'यस्य वाक्यं स ऋषिः' (२।४)१।१ यजुर्वेद संहिताके भाष्यमें उवटने कहा है—'मन्त्रस्य वाच्यं देवता' इति श्रुतिर्दर्शयति।' 'वेदार्थ-दीपिका' में षड्गुरुशिष्यने भी कहा है—'संवादेषु च सर्वेषु स ऋषिर्यस्य वाक्यं तत्। आत्मस्तवेषु य ऋषि-र्देवना स एवोच्यते। तेन वाक्येन यः प्रतिपाद्यते, स स्याद् देवता' (१। १६५।११)। 'वेदसम्मेलन' लाहौरके भाषणमें आर्यसमाजी विद्वान् श्री-ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने भी १४ पृष्ठमें कहा था—'देवता मन्त्रके प्रतिपाद्य' 'या तेनोच्यते सा देवता' (subject matter of mantra) विषयको कहते हैं। 'साऽस्य देवता' (४।२।२४) पाणिनि-सूत्रपर 'सिद्धान्तकौमुदी' में भी कहा है—'त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता, मन्त्रस्तुत्या च।'

इस सिद्धान्तके कुछ उदाहरण भी देख लेने चाहियें। ऋग्वेद शा.सं. में 'यमयमी-सूक्त' प्रसिद्ध है। वहाँ जिस मन्त्रका यम प्रतिपादक है, वहां यम 'ऋषि' है, देखिये—१०।१०।२,४,८-१०,१२,१४। इनमें यम 'प्रतिपादक' होनेसे 'ऋषि' है; और ऋ. १०।१०।१, ३, ५-७, ११, १३ मन्त्रोंमें 'प्रतिपाद्य' होनेसे 'वैवस्वत यम' 'देवता' है।

और १०।१०।१, ३, ५-७, ११, १३ में प्रतिपादक होनेसे 'वैवस्वती यमी' ऋषि है, तथा १०।१०।२, ४, ८-१०, १२, १४ में प्रतिपाद्य होनेसे वैवस्वती यमी 'देवता' है। इसपर देखिये अजमेर वैदिक-यन्त्रालयकी

'ऋग्वेदसंहिता' (प्राचीन सं.) (पृ. ५४५-५४६)।

इसी प्रकार ऋ. १०।९५ सूक्तमें १, ३, ६, ८-१०, १२,१४, १७ मन्त्रोंका प्रतिपादक होनेसे पुरूरवा ऐल 'ऋषि' है, और १, ३, ६, ८, १०, १२, १४, १७, इन्हीं मन्त्रोंमें उवशी प्रतिपाद्य है; अत: वह मन्त्रोंकी 'देवता' है। २, ४, ५, ७, ११, १३, १५, १६, १८ प्रतिपादक होनेसे उर्वशी 'ऋषि' है; और इन्हीं मन्त्रोंके प्रतिपाद्य होनेसे पुरूरवा ऐल देवता है। इस पर देखिये अजमेरी वैदिक-यन्त्रालयकी ऋस. (प्राचीन सं.) (पृ. ६१२)।

(२४) पाठकगण इस कसौटीको अपने पास रखें, इससे उन्हें मन्त्र में ऋषि एवं देवताका ज्ञान होगा। अब इस कसौटीसे 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' इस मन्त्रके 'ईश्वर देवता' की परीक्षा कीजिये। जबकि— 'यथेमां वाचं' मन्त्रका देवता 'ईश्वर' है; तब वह इस मन्त्रमें प्रतिपाद्य होगा, प्रतिपादक नहीं। ऋषिसे स्तोतव्य, सम्बोध्यमान अथवा प्रार्थनीय होगा, स्वयं स्तोता, सम्बोधयिता अथवा प्रार्थक न होगा। पर यदि इस मन्त्रमें 'ईश्वर' देवता न होकर 'ऋषि' होता, तब वह 'प्रतिपादक' होता 'प्रतिपाद्य' नहीं, सम्बोधक होता, 'सम्बोध्य' नहीं। पर अब वह ईश्वर इस मन्त्रमें देवता होनेसे अन्यसे प्रतिपाद्य है, प्रार्थ्यमान है, अन्यके प्रति प्रार्थयिता वा प्रतिपादक नहीं। यह बात अवश्य याद रखनेकी है। इसलिए 'यथेमां' से पूर्वके मन्त्रके भाष्यमें उवटने कहा है—'परमात्मा उच्यते' (२६।१) श्रीमहीधरने भी कहा है—'परमात्मानं प्रति उच्यते' परमात्मानं प्रति उच्यते।'

अब इससे स्पष्ट हुआ कि—इमां कल्याणी वाचं जनेभ्य: आवदानि' इस क्रियाका कर्ता, अथवा प्रार्थनाका प्रतिपादक 'ऋषि' है, ईश्वर नहीं, क्योंकि ईश्वर तो उक्त मन्त्रमें 'देवता' होनेसे 'प्रतिपाद्य' है। भला वह प्रतिपादक कैसे हो सकता है? तब 'इमां कल्याणीं वाचं' का 'उवट-महीधर'के भाष्यमें 'अनुद्वेजिनीं 'दीयतां भुज्यताम्' इत्येवमादिकां वाचं ब्रवीमीत्यर्थ:' यह जो अर्थ किया है; सो इसका प्रतिपादक 'लौगाक्षि' ऋषि

ही है, ईश्वर नहीं, क्योंकि ईश्वर तो इस मन्त्रका देवता अर्थात् प्रतिपाद्य है, ऋषि अर्थात् प्रतिपादक नहीं।

(२५) प्रथम-मन्त्रमें 'अष्टमी भूतमाधनी' (२६।१) कही गई है। उसका व्याख्यान उवटने 'अष्टमी च वाक् भूतसाधनी' भूत-प्रज्ञप्तिकरी' महीधरने 'भूतानि साधयति, वशीकरोति भूतसाधनी वाक्' प्राणियोंको वश करने वाली वाणी' यही किया है, प्रकरण भी उसीका है। 'यथेमां' मन्त्रमें 'इमां' इस सर्वनाम पदसे उसी सन्निकृष्ट (सनिहित) वाणीका ग्रहण होता है वेदवाणीका नहीं। क्योंकि वह सारीकी सारी वेदवाणी इस समय निकट नहीं कि 'इदम्' से उसका बोध हो जाय। 'इदम्' शब्द सन्निकृष्ट (निकट) का ही बोध कराता है। जैसा कि यह अभियुक्तोक्ति प्रसिद्ध है—

"इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्।"

यह उक्ति निर्मूल भी नहीं है। इसलिए 'निरुक्त' में भी कहा है— 'अयमेततरो (आगततर:, आसन्नतरो) ऽमुष्मात् (दूरस्थात्)। असौ अस्ततर: (दूरतर:) अस्माद् (निकटस्थात्, विप्रकृष्टत्वात्)' (३।१६।६)। 'इमां' से 'वेदवाणी' तब गृहीत होती जब यह मन्त्र आदिम-वेदका आरम्भिक मन्त्र होता। उस समय वेदवाणी बुद्धिस्थित होनेसे 'इमां' से गृहीत हो जाती। 'अथवा उक्त मन्त्र अन्तिम वेदका अन्तिम मन्त्र होता। उस समय वेदवाणी समक्ष उपस्थित होती। पर अब ऐसा नहीं है। अत: 'इमां' से उसका ग्रहण भी नहीं होता। अब तो 'यथेमां' मन्त्रके 'इमां' से पूर्व मन्त्रके अन्तमें कही हुई 'अनुद्वेजिनी वाक्' ही ली जावेगी। क्योंकि वही इस मन्त्रके निकट है, उससे पूर्वकी वा इस मन्त्रके वादकी वाणी नहीं। सो वह परमात्मासे आदिष्ट 'भूतसाधनी वाक्' 'दीयताम् भुज्यताम्' इस प्रकारकी यज्ञमें कही जाती हुई वाणी—जिसकी स्पष्टता आगे की जाने वाली है—ऋषिकी है, ईश्वरकी नहीं; क्योंकि—'आवदानि' का

प्रयोक्ता यहाँपर ईश्वर नहीं है। वह ईश्वर उस मन्त्रका ऋषि (प्रतिपादक) नहीं; वह तो उस मन्त्रका देवता-प्रतिपाद्य है। तब उस (प्रतिपाद्य) परमात्माकी वाणी यहाँ इष्ट नहीं हो सकती।

तब इस मन्त्रसे ईश्वरके प्रति ऋषि द्वारा यह प्रार्थना की जा रही है कि-'कि हे ऋतप्रजात ! (यज्ञार्थं प्रजात इति वेङ्कटमाधव:) यज्ञकी पूर्ति के लिए प्रकट हुए बृहस्पति ! बृहती भूतसाधनी वाक् 'दीयतां भुज्यताम्' वाणीके स्वामी उसका प्रयोग करने वाले ईश्वर ! (वाग् वै बृहती) जिस प्रकार मैं यजमान-ऋषि यज्ञमें 'दीयतां भुज्यताम्' इस मनुष्योंको सुखी करनेवाली वाणीको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अपने पराये सभीके प्रति कह सकूं ..इस प्रकारका चित्र धन मुझे दीजिये (तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्) यह बात अग्रिम मन्त्रमें कही है—क्योंकि इन दोनों ही मन्त्रोंका देवता ईश्वर है।

(२६) यहाँ 'दीयतां, भुज्यताम्' इसी यज्ञमें कही जाने वाली वाणी-का बोध होता है, इसमें लिङ्ग है 'इहे यज्ञे दक्षिणायै-दक्षिणाया दातु:' (षष्ठ्यर्थे चतुर्थी)। भाव यह है कि ऋषि लोग बड़े-बड़े यज्ञ किया करते थे, उनमें सबको खूब दिल खोलकर भोजन कराया जाता था; चाहे वे ब्राह्मण हों, वा शूद्रादि। उन सबको इष्ट वस्तुएं भी दी जाती थीं। जैसे कि-'जाम्बूनदं कोटिसंख्यं ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा। दरिद्राय द्विजायाऽथ हस्ताभरणमुत्तमम्। कस्मैचिद् याचमानाय ददौ राघवनन्दन:' (वाल्मीकि-रामायण १।१४।५४-५५) 'दीयतां-दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च' (१।१४।१४)। उन यज्ञोंकेलिए बहुत धन-दक्षिणा की आवश्यकता पड़ती थी, जिससे सब अन्न-वस्त्रादि खुले तौरसे दिया जा सके, इसलिए ऋषि लोग ईश्वरसे वा कभी राजासे प्रार्थना करते थे। जैसे कि-इस विषयमें एक मन्त्र देख लीजिये-'नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयदिन्द्र ! दक्षिणा मघोनी। शिक्षा स्तोतृभ्यो माऽतिधग्, भगो नो, बृहद् वदेम विदथे सुवीरा:' (ऋसं. २।११।२१) इसमें ऋषि-द्वारा धनकेलिए प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र ! हमें इतना धन दो कि हम विदथ-यज्ञ (निघण्टु ।१७) में 'बृहद् वदेम' बड़ा बोल बोल सकें अर्थात्-'दीयतां, भुज्यताम्' यह बड़ी वाणी (बृहती) बोल सकें। श्री दुर्गाचार्यने भी निरुक्तमें इस मन्त्रका यही भाष्य किया है—'सा दक्षिणा यजमानाय प्रतिदुग्धाम्, धनं नोऽस्तु, येन किं कुर्याम ? बृहद् वदेम-महद् ऊर्जितं वदेम—दीयतां, भुज्यतामिति, क्व ? विदथे-यज्ञे' (निरु. १।७।१) यह मन्त्र संहितामें बहुत बार आया है। इसी प्रकार 'अस्मभ्यं तद् वसो ! दानाय राध: (धन) समर्थयस्व बहु वसव्यम्। इन्द्र ! यच्चित्रं श्रवसा अनुद्यून् (प्रतिदिनं) बृहद् वदेम विदथे सुवीरा: (ऋसं. २।१३।१३) इसका भी वही पूर्व जैसा अर्थ है।

(२७) इस मन्त्रका चौथा पाद 'बृहद् वदेम विदथे सुवीरा:' बहुत स्थानोंमें आया है। श्री सायणाचार्यसे प्राचीन भाष्यकार श्रीवेंकटमाधवने भी २।१।१६ मन्त्रमें इसका यही अर्थ किया है-'राति-दानम् उदारा: प्रयच्छन्ति...'यज्ञे दीयतां भुज्यताम्' इति बृहद् वचनं वदेम सुपुत्रा:।' इस प्रकारके सभी मन्त्रोंमें धनकी प्रार्थना की गई है; उसका कारण पूर्व बताया जा चुका है। धन होनेसे ही बड़ा बोल बोला जाता है। इस कारण इस मन्त्रसे अग्रिम मन्त्र 'बृहस्पते अति' में द्रविण (धन) माँगते हुए उसे 'ऋतुमत्' कहा है-'ऋतव:-यज्ञा विद्यन्ते येन तत्, येन यज्ञा: क्रियन्ते, तादृशं धनं देहि' अर्थात् ऐसा चित्र, द्युमत्'-चमकदार धन दो जिससे यज्ञ सम्पादित किये जाते हैं। इसी प्रकार 'यथेमां वाचं कल्याणीं' मन्त्रमें भी यह बात है। यजमान ऋषि 'प्रियो दक्षिणाया दातुरिह भूयासम्' इसीलिए कहता है कि मैं इह-इस यज्ञमें दक्षिणादाताका ऐसा प्रिय बन जाऊं, मेरी यह धनादि-प्राप्तिकी कामना पूर्ण हो जाय, और वह धन मेरे पास उपस्थित हो जाय, जिससे मैं यज्ञमें 'दीयतां, भुज्यताम्' यह कल्याणी वाणी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अपने एवं परायेकेलिए कह सकूं।

(२८) यज्ञकी विशेषता यह होती है कि उसकी समाप्तिमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपना, पराया आदि जो भी आवे; उसे यज्ञशेष (भोजन) खिलाया

जावे। जो-जो भी मांगे, उसे वही दिया जाय। इस वाणी 'दीयतां-भुज्यताम्' को भूतसाधनी-भूतवशीकरणी इसलिए कहा है कि इससे अपने तथा पराये सभी वश हो जाते हैं। यज्ञ ही उनके वश करनेका समय होता है, 'यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति (नारायणोपनि. ७९) इसलिए महाराज-दशरथके किये यज्ञकेलिए कहा गया है-'ब्राह्मणा [त्रैवर्णिकोपलक्षणम्, द्विजत्वात् इति रामाभिरामः] भुञ्जते नित्यं, नाथवन्त (शूद्रा इति रामाभिरामः) श्च भुञ्जते। तापसा भुञ्जते चापि श्रमणा (संन्यासिन) श्चापि भुञ्जते' (वाल्मी. १।१४।१२) वृद्धाश्च व्याधिताश्चैव स्त्री-बालाश्च तथैव च'। (१३) दीयतां दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च (१४)। महाभारत सभापर्वमें भी यज्ञके समय यही कहा है---'आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ। विशश्च मान्यान्, शूद्रांश्च, सर्वानानयतेति च' (२।३३।४१) यहाँ शूद्रोंको भी खाने आदिकेलिए बुलाना कहा है। फिर 'भुञ्जतां चैव विप्राणां वदनां च महास्वनः। अनिशं श्रूयते तत्र मुदितानां महात्मनाम्। दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति। एवं-प्रकाराः संजल्पाः (वाचः) श्रूयन्ते स्मात्र नित्यशः' (३३।५०-५१)। इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण उत्तरकाण्डमें अश्वमेधयज्ञमें भी कहा गया है—'दीयतां भुज्यतां चेष्टं दिवारात्रमवारितम्' (९२।८५,८८)।

इस प्रकार महाभारत आश्वमेधिक-पर्वमें भी ऋषि अगस्त्यका द्वादश वार्षिकी दीक्षामें भी कहा है-'अगस्त्यो यजमानोऽसौ ददात्यन्नं विमत्सरः' (१४।९२।१३) 'विमत्सरः' का भाव यह है कि-अन्न देनेमें ब्राह्मण और शूद्रादिकमें भी पक्षपात नहीं करता था। इसलिए उन लोगोंको बुलाया जाता था कि-'पञ्चजना! मम होत्रं जुषध्वम्' (ऋ. १०।५३।४) इसे आगे स्पष्ट किया जावेगा।

फलतः 'इमां कल्याणीं वाणीं जनेभ्य आवदानि, ब्रह्मराजन्याभ्यां, शूद्राय च, अर्याय, स्वाय च, अरणाय च' मन्त्रकी 'वाचं' से वही 'दीयतां भुज्यताम्' आदि यज्ञमें कही जाती हुई भूतसाधनी वाणी ही ब्राह्मणादि-

शूद्रान्तोंको कहना इष्ट है; वेदवाणीका उनको अधिकार देना इष्ट नहीं। यजुर्वेदका यह २६वां अध्याय यज्ञ-प्रतिपादक है। जैसे कि उवटने भी कहा है—'अग्निष्टोमाग्नि सौत्रामण्यश्वमेध-सर्वमेध-पितृमेध प्रवर्ग्योपनिषत्सम्बद्धा मन्त्रा व्याख्येयाः; ते इह उच्यन्ते'। २६वां अध्याय अश्वमेध तथा अग्निष्टोमका शेष-परिशेष है; इसलिए इसे 'खिल' कहा जाता है। तो अन्तिमकर्ममें दूसरोंको अन्नदान दक्षिणादानादि दिया जाता है। फलतः 'यथेमां वाचं' में वही 'दीयतां भुज्यतां' वाली याज्ञिक वाक् ही इष्ट है; वेदवाक् नहीं।

इस मन्त्रमें 'इमां कल्याणीं वाचमावदानि' 'आवदानि' में लोट्कार है; जो 'लोट् च' (पा. ३।३।१६२) 'आशिषि लिङ्लोटौ' (३।३।१७३) इन सूत्रोंसे प्रार्थना वा आशीः अर्थमें है। उसका अर्थ है—'मैं कहूं'। 'मैं कहता हूं' यह अर्थ 'आवदानि' का नहीं हो सकता, क्योंकि-'आवदामि' इस प्रकार लट्लकार यहांपर नहीं कहा गया। अर्थ भा यहाँ लट्लकारका विवक्षित नहीं; किन्तु लोट्लकारका ही है। इसीके प्रमाणस्वरूप यहाँ देखिये कि उसके साथ वाली सभी क्रियाएं भी वैसी हैं—'आवदानि, भूयासम्, समृध्यताम्, उपनमतु'। यह सभी लोट् वा लिङ् की समानार्थक क्रियाएं हैं। अब इन क्रियाओंके कर्म देखिये —'इमां वाणीमावदानि' मैं इस वाणीको कहूं, 'इह प्रियो देवानां भूयासम्' इस यज्ञमें मैं देवताओं का प्यारा बनूं, 'दक्षिणायै दातुः प्रियो भूयासम्' यज्ञमें दक्षिणा देनेवालेका मैं प्यारा बनूं। 'अयं मे कामः समृध्यताम्' यह मेरी कामना पूरी होवे। 'माम् अदः उपनमतु' यह फल वा धन मेरे पास प्राप्त हो'।

(२९) 'आलोक' पाठकोंने यह अनुभव किया होगा कि—पूर्व-उत्तर सभी क्रियाएं समान अर्थ वाली हैं। अब यह प्रार्थनाएं किसके प्रति की जा रही हैं-यह विचार उपस्थित है। उसका उत्तर 'देवता' देता है। देवता है इस मन्त्रका 'ईश्वर'। तो यहां सभी प्रार्थनाएं वा आशीष परमात्मासे वा राजासे मांगी जा रही हैं, क्योंकि प्रतिपाद्य वही ईश्वर है।

अब शेष रह गया इन प्रार्थना-क्रियाओंका कर्त्ता, तो कर्ता अथवा इनका प्रतिपादक हुआ ऋषि 'लौगाक्षि'। सो वह लौगाक्षि ऋषि ही परमात्मासे प्रार्थना कर रहा है कि—'हे ईश्वर ! मैं यज्ञमें 'दीयतां भुज्यताम्' इस प्रकारकी वाणीको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अपने वा परायोंको कहनेवाला बनूं, मैं यज्ञके स्वामी देवताओंका तथा यज्ञमें सहायक दक्षिणा देनेवालेका प्यारा बनूं, मेरी यह कामनाएं पूरी हों, मेरे आगे धन आकर उपस्थित हों।

अब पाठकोंने यह भली भान्ति समझ लिया होगा कि—इस मन्त्रका **वक्ता ईश्वर नहीं,** तथा हो सकता भी नहीं। तब 'वाच'से **'ईश्वरकी वाणी'** भी विवक्षित नहीं; क्योंकि वह प्रकृत नहीं, किन्तु याज्ञिकी 'दीयतां, भुज्यताम्' रूप यजमानकी प्रकृत वाणी ही विवक्षित है। यह बात सोलहों आने वा सौ पैसे ठीक है। जब ईश्वर इस मन्त्रमें 'देवता' अथवा प्रतिपाद्य हैं, क्योंकि—'देवता' शब्द मन्त्र-प्रतिपाद्यमें रूढ होता है, तो वह **प्रतिपादक** कैसे हो सकता है ? यह बहुत मोटी बात है, आश्चर्य है कि—वादियोंकी बुद्धिमें क्यों न समा सकी ! इसमें पहले यम-यमी वा पुरूरवा-उर्वशीके सूक्तसे यह बात उदाहृत की जा चुकी है। इसी कारण 'सर्वानुक्रमणी' की वेदार्थ-दीपिकामें षड्गुरुशिष्यने कहा है—'इति ऐलस्य पुरूरवसो वाक्यम्, शिष्टा नव उर्वश्या वाक्यम्। यस्य वाक्यं स ऋषि:; या तेन उच्यते सा देवता'। इस प्रकार प्रकृत-मन्त्रमें भी जब ईश्वर देवता है, तो वह प्रतिपाद्य ही होगा—प्रतिपादक कैसे हो ? क्या वादी नहीं सोच सकते कि—'मैं यह वाणी लोगोंको कहूं, मैं देवताओंका प्यारा बनूं, दक्षिणादाताका प्यारा बनूं, यह मेरी मन:कामना पूर्ण हो, वह धनादि मुझे मिले' इस प्रकारकी प्रार्थनाको आप्तकाम वा समर्थ ईश्वर दूसरेके प्रति कैसे कर सकता है ?

(३०) अब हम इस विषयमें ऐसा प्रबल प्रमाण उपस्थित करते हैं—जिसे सभी वादी स्वीकार करेंगे, और फिर 'यथेमां वाच' के अर्थको कभी बदलनेमें सक्षम न हो सकेंगे—'आलोक' पाठक यह बात सावधानतासे

देखें—

'यथेमां वाचं कल्याणीम्' यह शुक्ल यजुर्वेद माध्यं० संहिताके २६वें अध्यायका द्वितीय मन्त्र है। आर्यसमाजके मूलभूत 'वैदिक यन्त्रालय अजमेर' में प्रकाशित मूल यजुर्वेद-संहितामें इसका **'ईश्वर' देवता** लिखा है। उससे अग्रिम मन्त्र वहां है—'बृहस्पते ! अति यदर्यो...तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्' (२६।३) इस मन्त्रका देवता भी आर्यसमाजसे छपाई हुई उसी मूल यजुर्वेद संहितामें 'ईश्वर' माना गया है। तब यदि २६।३ मन्त्रमें ईश्वर, देवता होनेसे प्रतिपाद्य है, तो उससे पूर्वके २६।२ मन्त्रमे भी ईश्वर 'देवता' होनेसे प्रतिपाद्य ही होगा। यदि 'बृहस्पते...तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्' (२६।३) मन्त्रमें ईश्वर प्रतिपादक है, तो 'यथेमां वाचं' (२६।२) में भी देवता 'ईश्वर' होनेसे ईश्वर प्रतिपादक होगा।

स्वा.द.जीने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अधिकारानधिकार-विषय ३३१ पृष्ठमें संस्कृत तथा हिन्दी भाषामें यह लिखा है—'अस्य [यथेमा-मिति मन्त्रस्य] **अयमेव** [ईश्वर-सम्बन्धी] अर्थोऽस्ति, कुत: ? 'बृहस्पते ! अति यदर्य:' 'इत्युत्तरस्मिन् मन्त्रे हि ईश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात्'—'यही इस [यथेमां] मन्त्रका अर्थ ठीक है, क्योंकि—इससे अगले मन्त्र 'बृहस्पते अति' में भी परमेश्वर ही का ग्रहण किया है (पृ. ३३२)। यदि स्वामी जी ऐसा स्वीकार करते हैं, तो वे 'बृहस्पते अति' मन्त्रमें भी ईश्वरको प्रतिपादक क्यों नहीं मानते ? यदि स्वामीजी 'बृहस्पते ! अति' इस मन्त्रके अनुरोधसे 'यथेमां वाचं' मन्त्रको भी ईश्वरविषयक ही मानते हैं, तो जिस प्रकार वे अपने भाष्यमें 'बृहस्पते !' इस मन्त्रम ईश्वरको प्रतिपाद्य मानते हैं—जैसे कि उनका भाष्य आगे उद्धृत किया जावेगा, वैसे ही उसके अनुरोधसे 'यथेमां वाचं' में भी स्वामीजीको ईश्वर प्रतिपाद्य ही मानना होगा, प्रतिपादक नहीं। इसमें भी उन्हें 'बृहस्पते' को अनुपक्त करना पड़ेगा।

(३१) अब विज्ञ पाठक देखें कि—'बृहस्पते...तदस्मासु द्रविणं धेहि

चित्रम्' (२६।ः) यहाँ ऋषि ईश्वरसे प्रार्थना कर रहा है कि-'मुझमें 'अस्मदो द्वयोश्च' (पा. १।२।५९) सूत्रसे यहाँ एकमें बहुवचन है, अथवा पुत्रादि सहित हममें तू धनका आधान कर। क्या कोई वादी साहस कर सकता है कि-इस मन्त्रका अर्थ यह करे कि ईश्वर कहता है-हे बृहस्पति! मुझे धन दें'। जब कोई ऐसा अर्थ नहीं कर सकता, क्योंकि इस मन्त्रमें देवता 'प्रतिपाद्य' ईश्वर है (कारण कि-देवता शब्द मन्त्रोंकी देवतादि-सूचीमें प्रतिपाद्य अर्थमें ही रूढ़ होता है) और न ईश्वर कभी दूसरेसे 'अस्मासु द्रविणं धेहि' लोट्लकार द्वारा ऐसी प्रार्थना कर सकता है, किन्तु यज्ञ-प्रेमी ऋषि ही 'दीयतां भुज्यताम्' इस भूतप्रज्ञप्तिकरी वाणीको अपनानेकेलिए तदर्थ अवश्य-अपेक्षित धनकी प्रार्थना कर सकता है, तब इस मन्त्रसे पूर्वके 'यथेमां वाचं' (२६।२) मन्त्रमें भी 'जिसका देवता-प्रतिपाद्य ईश्वर है' कोई भी विद्वान् ईश्वरको प्रतिपादक सिद्ध नहीं कर सकता, न ही ईश्वर 'अहम् इमां वाचं जनेभ्य आवदानि, अहं प्रियो देवानां, दक्षिणादातुश्च प्रियो भूयासम्, अयं ये कामः समृध्यताम्' इत्यादि प्रार्थना कर सकता है। वह ईश्वर ही कैसा, जो अन्यसे लोट् लिङ् आदि लकारों द्वारा ऐसी प्रार्थनाएं करे।

(३२) हम पहले कह चुके हैं कि—यथेमां वाचं (यजुः २६।२) इस मन्त्रका देवता ईश्वर है, उसके आगेके 'बृहस्पते! अति यदर्यो...तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्, उपयामगृहीतोसि' यजुः (२६।३) इस मन्त्रका भी देवता ईश्वर है। यह वैदिक यन्त्रालय अजमेर-मुद्रित मूल-यजुर्वेद-संहितामें भी देखा जा सकता है, स्वा.द.के यजुर्वेदसंहिता-भाष्यमें भी। वहाँ लिखा है—'यथेमां इत्यस्य लौगाक्षिर्ऋषिः, ईश्वरो देवता' (२६।२) 'बृहस्पते! इत्यस्य गृत्समद ऋषिः ईश्वरो देवता' (२६।३)। इस प्रकार जब दोनों ही एक-दूसरेके साथके मन्त्रोंका देवता 'ईश्वर' है, तो दोनों ही मन्त्रोंका अर्थ भी समान ही शैलीसे होगा। मन्त्रोंके विनियोगमें 'देवता' मन्त्र-प्रतिपाद्य ही होता है, मन्त्र-प्रतिपादक ऋषि ही होता है—यह पहले कहा जा चुका है। जब इस प्रकार दोनों मन्त्रोंका देवता ईश्वर ही है, दोनों ही मन्त्रोंमें प्रार्थनाभिधायक लोट्-लिङ् लकार हैं, तो दोनों ही मन्त्रोंमें ईश्वर प्रतिपाद्य ही होगा; प्रतिपादक [वक्ता] नहीं। अत्र 'बृहस्पते! अति यदर्यो... तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् उपयामगृहीतोसि' (यजुः २६।३) इस मन्त्र को ही लीजिये। इसका देवता ईश्वर है—यह कहा ही जा चुका है। यहाँ यह देखना चाहिये कि यहाँ ईश्वर प्रतिपाद्य है, ईश्वरसे प्रार्थना की जा रही है-'हे बृहस्पते! तत् चित्रं धनमस्मभ्यं मह्यं वा देहि'। इस प्रकार इससे पूर्वके 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' (२६।२) मन्त्रका भी देवता 'ईश्वर' है। यहाँ भी ईश्वर 'देवता' होनेसे प्रतिपाद्य है, प्रतिपादक नहीं। उत्तर मन्त्रसे यहां भी 'बृहस्पते!' का समान-देवतावश अध्याहार करना पड़ता है।

(३३) तो जब यहाँ ईश्वर प्रतिपादक नहीं, तब 'जैसे मैं ईश्वर चार वेदरूप वाणीका उपदेश करता हूं' यह स्वा.द.का अभिप्रेत अर्थ भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि-'अहम्' यह प्रतिपादकका शब्द है, प्रतिपाद्यका नहीं। जबकि-ईश्वर यहाँ प्रतिपाद्य है, प्रतिपादक नहीं, तो वह यहाँ 'मैं ईश्वर' यह कैसे कह सकता है? यदि स्वा.द.के अनुयायी यहाँ (२६।२) ईश्वरको देवता होनेपर भी जबर्दस्ती 'प्रतिपादक' मानें; तो उसके अग्रिम 'बृहस्पते! अति यदर्यो...तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् उपयाम-गृहीतोसि' (यजुः २६।३) मन्त्रमें भी उन्हें ईश्वरको प्रतिपादक मानना पड़ेगा। तो क्या ईश्वर ऐसी प्रार्थना कर सकता है?

(३४) स्वा.द.जीके अनुयायी यदि हमारी बात न मानें, तो हम 'बृहस्पते! अति यदर्यो (२६।३) मन्त्रका स्वा.द.का भाष्य उद्धृत करते हैं—'हे (बृहस्पते) बड़े-बड़े प्रकृति आदि पदार्थों और जीवोंके पालने हारे ईश्वर! जो आप (उपयामगृहीत) प्राप्त हुए यमनियमादि योग-साधनोंसे जाने गये (असि) हैं, उन आपको (बृहस्पतये) बड़ी वेदवाणीको पालनेके

लिए तथा जिन (ते) आपका (एषः) यह (योनिः) प्रमाण है, उन (वृहस्पतये) बड़े-बड़े आप्त विद्वानोंकी पालना करनेकेलिए (त्वा) आपको हम स्वीकार करते हैं...(तत्) उस (चित्रम्) आश्चर्य रूप ज्ञान (द्रविणम्) धन और यशको (अस्मासु) हम लोगोंमें (धेहि) धारण स्थापना कीजिये'।

इस स्वा.द.के भाष्यसे स्पष्ट है कि ईश्वर यहाँ प्रतिपाद्य है; क्योंकि वह इस मन्त्र (२६।३) का देवता है। ऋभाभू. (शता. पृ. ६४२) में भी स्वा.द.जीने 'वृहस्पते ! अति' के लिए लिखा है—'तदस्मदधीनं द्रविणं-धनं कृपया धेहि' इत्यनेन मन्त्रेण ईश्वरः प्रार्थ्यते'। इस प्रकार इस मन्त्रसे पूर्वके 'यथेमां वाचं' का भी ईश्वर देवता है। तव वह ईश्वर वहाँ भी 'हे वृहस्पते !' इस प्रकार प्रार्थ्य होगा, प्रार्थक नहीं। जैसे कि—'वेदवाणी'के वेदांक (५।१-२) के १२१ पृष्ठमें श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने भी लिखा है—(७) मन्त्रके प्रतिपाद्य विषयको देवता माना है (शत. २ पं० २३) 'यस्य-यस्य मन्त्रस्य यो-योऽर्थोस्ति, स-सोऽर्थस्तस्य देवता-शब्देन अभिप्रायार्थ-विज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं 'देवता' शब्दलेखनं कृतम्' (पृ. ६६० ऋभाभू. शतासं.)

एक दयानन्दीके 'दयानन्द-वेदभाष्यानुशीलन' में भी लिखा है--'सर्वानुक्रमणी' '(२।५) में लिखा है—'या तेनोच्यते सा देवता' इसीपर षड्गुरुशिष्य कहता है—'तेन वाक्येन प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता' अर्थात् मन्त्रके प्रतिपाद्य विषयका नाम ही देवता है (पृ. २०)।

जब यह वादी मानता है—तब जो उसने नीक्षीवि. में आक्षेप किया है कि—'मैं भी आपसे पूछता हूँ कि—आपके पौराणिक पण्डित [महीधराचार्य] ने किस प्रकार 'हे परमात्मन् !' अर्थ किया है।

यह उसकी बात स्वयं खण्डित हो गई। क्योंकि—जब, वादीने 'देवता' का अर्थ स्वयं 'प्रतिपाद्य' माना है; तब 'परमात्मानं प्रत्युच्यते' तथा 'हे परमात्मन्' यह प्रतिपाद्य परमात्माको कहा जा सकता है। परमात्मा

यहाँ 'ऋषि' न होनेसे 'मैं ईश्वर' यह स्वा.द. कृत अर्थ वादीके अनुसार भी गलत सिद्ध हुआ, और श्रीमहीधराचार्यका अर्थ ठीक सिद्ध हुआ।

जब ऐसा है; तो २६।३ मन्त्रमें जैसे 'अस्मासु' का 'हम जीवों वा मुझ ऋषिमें' यह अर्थ है; वैसे ही २६।२ मन्त्रमें भी 'अहं आवदानि' का 'मैं ईश्वर' अर्थ नहीं; किन्तु 'मैं जीव यजमान-ऋषि' यही अर्थ होगा। यदि वादी लोग 'अस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्' (२६।३) इस मन्त्रमें ईश्वरकी ओरसे ऐसी प्रार्थनाके असम्भव होनेसे उसे इसमें प्रतिपादक न मानकर प्रतिपाद्य मानें; तो वैसे २६।२ मन्त्रमें भी 'प्रियो देवानां, दक्षिणायाश्च दातुः प्रियो भूयासम्, अयं मे कामः समृध्यताम्, माम् अद उपनमतु' इस अन्तिम अंशमें (जिसे वादी छिपा दिया करते हैं) कही प्रार्थनाको भी पूर्णकाम ईश्वर नहीं कर सकता। अतः २६।२ मन्त्रमें भी ईश्वर प्रतिपाद्य ही होगा, प्रतिपादक नहीं। तब 'हे बृहस्पते ! अहं कल्याणीं वाणीमावदानि' इसका कर्ता भी जीव ही हुआ, ईश्वर नहीं। तब उसमें वाणी भी जीवकी होगी, ईश्वरकी चतुर्वेदरूप वाणी नहीं।

(३५) फलतः यहाँ ऋषिकी 'दीयताम्, भुज्यताम्' यह वाणी ही इष्ट है, उसका पूर्ण करना ईश्वरके ही अधीन है; अतः उस वाणीका पति भी ईश्वर है। इसीसे 'यथेमां' के अग्रिम मन्त्रमें ईश्वरको 'बृहस्पति' शब्दसे सम्बोधित किया गया है। 'वाग् हि बृहती, तस्या एष पतिः' यह अर्थ 'छान्दोग्योपनिषत्' [१।२।११] में किया गया है—'कुक्कुटयादीनामण्डादिषु' (वार्तिक ६।३।३५) इससे पुंवद्भाव हो गया है। प्रकरणानुसार 'बृहती वाक्' यहाँपर 'दीयताम्, भुज्यताम्' इत्यादि पूर्ववर्णित याज्ञिक वाणी (बड़ा बाल) ही हैं। अथवा 'बृहद् वदेम विदथे' इस मन्त्रके 'बृहत्' की तरह यह 'बृहद्' नपुंसकलिंग है, 'बृहतो वचनस्य पतिः-बृहस्पतिः।' तब यहां वही 'दीयतां भुज्यताम्' यह ऋषि-प्रोक्त वचन वा वाणी ही विवक्षित है। यज्ञमें देववाक् देवताओंको ही सुनाई जाती है; क्योंकि उसके वही उपास्य है, मनुष्य नहीं। तब वेदवाणी यहाँ प्रकृत नहीं।

'आवदानि' का अर्थ 'कहता हूं' नहीं है; किन्तु 'कहूँ' यह है, क्योंकि—'आवदानि' यह प्रार्थना-अर्थमें लोट् है, वर्तमानार्थक लट् नहीं। परमात्मा प्रार्थना नहीं कर सकता। इस प्रकार वादियोंके अर्थके अशुद्ध सिद्ध होनेसे तदाश्रित उनका पक्ष गिर गया।

इससे स्पष्ट हुआ कि दोनों ही मन्त्रोंमें ईश्वर 'देवता' होनेसे वाच्य (प्रार्थ्य) है, वाचक (प्रार्थक) नहीं, प्रतिपाद्य वा सम्बोध्यमान है, प्रतिपादक वा सम्बोधक नहीं, तब जो स्वा.द.जीने स.प्र.में 'यथेमां' इस मन्त्रका 'परमेश्वर कहता है कि जैसे मैं सब मनुष्योंकेलिए...ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणीका उपदेश करता हूं' यह अर्थ किया हैं, वह देवतावादसे विरुद्ध है, तथा प्रकरणसे भी विरुद्ध है; क्योंकि इस मन्त्रके सामने चारों वेद नहीं रखे हुए हैं। वेदोंके अन्तमें होनेपर तब वहाँ वह अर्थ घटता, पर अब वैसा न होनेसे वह अर्थ सम्भव भी नहीं हो सकता। खेद तो यह है कि गतानुगतिक, उनके पीछे बिना स्वयं कुछ भी विचार किये भागते हुए लोग गड्डलिका-प्रवाहमें बहकर थोड़ा-सा भी विवेचनका कष्ट नहीं उठाना चाहते। ऐसी उनकी परप्रत्ययनेयता देखकर हमें अत्यन्त खेदमिश्रित आश्चर्य होता है।

(३६) 'देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अतिशूद्रादि, अपने भृत्य वा स्त्रियोंकेलिए भी ऋग्वेदादि चारों वेदोंका प्रकाश किया है' यह अर्थ स्वामीजीका स्वयं कल्पित है, क्योंकि—'परमेश्वर कहता है' यह शब्द मन्त्रस्थित किसी भी पदका अर्थ नहीं। 'ऋग्वेदादि चारों वेदोंकी' यह शब्द भी मन्त्रान्तर्गत नहीं हैं। 'अतिशूद्रादिके लिए भी' यहाँ के 'भी' शब्दका वाचक पद 'अपि' भी मन्त्रमें नहीं है। 'भृत्य वा स्त्रियादिकेलिए भी वेदोंका प्रकाश किया है' यह शब्द भी मन्त्रस्थ किसी भी पदका अर्थ नहीं। 'स्वाय' का अर्थ 'अपने' और 'अरणाय' का अर्थ 'अपगतोदकसम्बन्ध' अर्थात् 'पराया' है, 'अतिशूद्र' का यहाँ कोई सम्बन्ध ही नहीं। देखिये निरुक्त—'परिपद्य हि अरणस्य' 'अरणोऽपार्णो भवति' (३।२।१)। अथवा इसका अर्थ 'अन्त्यज' माना जावे, तो उसे 'पराया' बतानेसे तथा अपगतोदक सम्बन्ध होनेसे उनकी अस्पृश्यता वेदसम्मत सिद्ध होगी, क्या आर्यसमाजी लोग अवर्णकी अस्पृश्यता वैदिक मानते हैं ?

इससे स्पष्ट है कि इस प्रकारके अशुद्ध अर्थ करने तथा प्रचलित करने का उत्तरदायित्व स्वा.द.जीपर ही है, किसी भी प्राचीन ऋषि-मुनिने ऐसा अर्थ नहीं किया, वा नहीं माना। इस कारण हमने विचार भी स्वामीजी के दृष्टिकोणसे किया है। 'स्त्री' शब्दका तो इस मन्त्रमें गन्ध ही नहीं है। जबकि—'जनेभ्यः' से 'मनुष्यमात्र' का ग्रहण प्राप्त था, तो 'ब्राह्मण-राजन्य' आदि पृथक् क्यों कहे गये ? इससे ब्राह्मणी, शूद्रा आदि स्त्रियोंके बाधित हो जानेसे उक्त मन्त्रमें स्त्रियाँ इष्ट नही हैं। तभी तो स्त्री-वेदाध्ययन-पक्षपाती स्वा.द.जीने जब देखा कि यहाँ 'स्त्री' का वर्णन किसी पदसे नहीं निकलता, अपितु 'जनेभ्यः' से पृथक् ब्राह्मणादिके कहनेसे स्त्रीका ग्रहण बाधित होता है, यह सोचकर स्वामीजीने विवश होकर 'स्वाय' इस पदका 'अपने भृत्य वा स्त्रियादि' यह अर्थ बलात् कर दिया। कदाचित् निराकारकी पत्नियाँ वा नौकर भी होते हों ! वस्तुतः ऐसा अर्थ करना जनताकी आँखोंमें धूल झोंकना है; तब स्त्री-शूद्रके वेद-अध्ययनके अधिकारमें इस मन्त्रको उपस्थापित करना व्यर्थ ही है।

फलतः उक्त मन्त्रमें जब परमात्मा 'प्रोच्यमान' (प्रतिपाद्य) है, प्रवक्ता नहीं, तब यह मन्त्र ईश्वरप्रवक्तृक सिद्ध न हुआ, किन्तु जीवप्रवक्तृक ही सिद्ध हुआ। तब 'यथेमां वाचमावदानि' इससे ईश्वरकी वाणी वेदवाणीका ग्रहण न हुआ। तब जो लोग वैसा मानते हैं, उनका पक्ष देवतावाद-द्वारा निराकृत हो गया। उक्त मन्त्रसे पूर्वके मन्त्रमें 'सकामात् अध्वनः कुरु' 'संज्ञानमस्तु मेऽमुना' (२६।१) इन पदोंसे तथा उत्तरमन्त्रमें 'तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्' (२६।३) इत्यादि मन्त्रों द्वारा प्रार्थना करनेसे और 'यथेमां वाचं' (२६।१) इस प्रकृत मन्त्रमें 'हे बृहस्पते ! इमां वाचम्

ग्रावदानि' प्रियो दक्षिणाया दातुरिह भूयासम् 'दक्षिणायै' यहाँ षष्ठ्यर्थमें चतुर्थी है (वार्तिक २।३।६२), ग्रयं मे कामः समृध्यताम्' इत्यादि प्रार्थनाग्रोंसे सिद्ध होता है कि पूर्णकाम परमात्मा इस मन्त्रके ग्रर्थका वक्ता नहीं, क्योंकि सर्वशक्तिमान् ईश्वर ऐसी प्रार्थना ग्रन्यको नहीं कर सकता। हाँ, ईश्वरको जीव ऐसी प्रार्थना कर सकता है।

स्वा.द.जीने स.प्र.में लिखा हैं कि–'न उस (ईश्वर) को कोई ग्रप्राप्त पदार्थ, न कोई उससे उत्तम ग्रौर पूर्ण सुख-युक्त होनेसे सुखकी ग्रभिलाषा भी नहीं है; इसलिए ईश्वरनें इच्छाका तो सम्भव नहीं' (७ समु. ईश्वर सगुण-निर्गुण पृ. १२४) तब यहाँ कामना होनेसे यह ईश्वरका वाक्य सिद्ध न हुग्रा। माण्डूक्योपनिषद् (गौ.का. १।९) में भी लिखा है—'ग्राप्त-कामस्य का स्पृहा' (जिसको सभी कामनाएं प्राप्त हैं; उनको भला कामना कैसे ? तब देवतावादके कारण इस मन्त्रका 'वक्ता' जीव ग्रौर 'वाच्य' ईश्वर सिद्ध हुग्रा। तब फिर 'वाचम्' से ईश्वरकी वाणी वेद-वाणीका ग्रहण भी सिद्ध न हुग्रा। किन्तु जीवकी वाणी—यज्ञमें कही जाती हुई 'दीयतां भुज्यताम्' इस पूर्व-प्रोक्त ऋषिकी वाणीका ही यहाँ ग्रहण सिद्ध हुग्रा; ग्रौर वादिगणसम्मत ग्रर्थ न रहा। वेदमें ग्रधिकार 'वेदमाता...द्विजानाम्' (ग्रथर्ववेदसं. १९।७१।१) केवल द्विजोंका हुग्रा।

(३७) द्विज, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य यह तीन ही होते हैं। शूद्र एकज ही होता है। 'गौतमधर्मसूत्र' में कहा है–'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (२।१।५१) यहांपर श्रीहरदत्ताचार्यने व्याख्या की है–'वर्णसामान्यत्वे सत्यपि चतुर्थग्रहणं पूर्वेषां त्रयाणां ब्राह्मणादिवर्णानां पृथग्वर्णत्वोपपादनार्थम्। त्रैवर्णिका इति सिद्धत्वात् एकजातिः। उपनयनं पूर्वेषां द्वितीय-जन्म। तद् (द्वितीयजन्म) ग्रस्य (शूद्रस्य) नास्ति–इति उपनयनप्रतिषेधात् तत्पूर्वक-मध्ययनमपि न भवति।' 'स्मृतिचन्द्रिका'के संस्कारकाण्डमें उपनयनप्रकरण-में भी कहा है–'ब्राह्मणादीनां त्रयाणामेव द्विजत्वं; न तु शूद्रस्य, तस्य द्वितीय-जन्मनोऽभावात्। तथा च याज्ञवल्क्यः–'मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं

मौञ्जिबन्धनात्। ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः।' ब्रह्मसूत्र ३।४।१२ सूत्रके माध्वभाष्यमें भी कहा है–'ग्रवैर्णत्रस्य वेदेऽपि ह्यधिकारो न विद्यते।...न च वर्णावरस्यापि (शूद्रादेः)।' तो यदि 'यथेमां वाचं' मन्त्र, द्विजेतरोंको भी वेदका ग्रधिकार दे दे; तब उक्त दोनों मन्त्रोंमें परस्पर-व्याघात हो जावे; ग्रौर फिर 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तेभ्यः' (न्याय. २।१।५७) वेद ग्रप्रमाण हो जावें, पर ऐसा नहीं। 'वेदमाता... द्विजानाम्' (ग्र. १९।७१।१) यहाँ 'वेद' शब्द तथा 'द्विज' शब्द स्पष्ट है; पर 'यथेमां वाचं...शूद्राय चार्याय च' (यजु: २६।२) में केवल 'वाचं' है, 'वेदवाचम्' नहीं। साथ 'द्विज' शब्द भी नहीं। ग्रतः उक्त मन्त्रसे शूद्रादिको वेदका ग्रधिकार देना भी ग्रसिद्ध है। उक्त पक्ष देवतावाद-द्वारा निराकृत हो गया।

(३८) सनातनधर्मने स्त्री-शूद्रादिको वेदमें साक्षात् ग्रधिकार न देकर उन्हें वेदके ज्ञानसे वंचित भी नहीं किया, किन्तु वेदके शब्दमें ग्रधिकार न देकर पुराणेतिहास-श्रवणद्वारा उस वेदके ग्रर्थमें ग्रधिकार देकर उनपर बड़ा ग्रनुग्रह किया है। 'तपसे शूद्रम्' (यजु.माध्यं.सं. ३०।५) वेदने शूद्रोंके लिए कड़े कर्म बताये हैं, 'ब्रह्मणे शूद्रम्' नहीं कहा। तब सेवाधर्म–जैसे कठिन-काममें लगे हुए स्त्री-शूद्रादिको वेदके वैध ग्रध्ययनका ग्रवकाश ही नहीं रहता। तब उनपर ग्रनुग्रह करके पुराणादि-द्वारा उन्हें वेदका निचोड़ ही सुना दिया जाता है। यह उन सेवाकार्यमें लगे हुग्रोंका समय बचाकर उनपर बड़ा ग्रनुग्रह किया गया है।

इसका एक उदाहरण देख लीजिये—मुझे दिनरात लेख-लिखनेके कार्योंमें व्यस्त रहनेसे सामयिक-समाचारपत्र पढ़ने का ग्रवकाश ही नहीं मिलता। यदि मैं उधर लगूं; तो मेरा समय नष्ट होता है, ग्रथवा उसमें मैं रसिक हो गया, तो मेरा लेखकार्य छूटता है। यदि उस समाचारपत्रका वृत्त मुझे पता न लगे, तो मुझे देशकी दशाका परिचय नहीं मिल सकता। पर मेरा कोई हितैषी मित्र मेरी स्थितिपर विचार करके यदि मुझे उस

वृत्तपत्रका निचोड़ सुना देता है, तो मैं समझता हूं कि उसने मेरा समय बचाकर मुझे अपने कर्तव्यके पालनमें सहायता देकर मुझपर अतिशयित अनुग्रह किया है—मुझे उसका अत्यन्त कृतज्ञ होना चाहिये। यही स्थिति सनातनधर्मकी शूद्रादिकी वेदादिके सम्बन्धमें है। सनातनधर्मने वेदका संकेत देखकर ही उन्हें वेदका अधिकारी नहीं बनाया। क्योंकि—वह इधर प्रवृत्त हो जाय, तो उससे अपना कठिन कर्तव्य छूटता है। हवाई जहाज आदि देश-रक्षाका कार्य है। यदि वह उसका छूट जावे; तो देशकी कितनी बड़ी हानि हो। शत्रु प्रसन्न हो जावें। यदि वह अपनी बुद्धिका उपयोग सेवा-शिल्प आदिमें करता, तो देशका अधिक उपकार करता, जो अब उसने एक ब्राह्मणकी वृत्ति छीनकर किया। इसी एक-दूसरेके कर्म तथा वृत्तिकी छीना-झपटीसे आज देसमें अव्यवस्था मची हुई हैं, और कभी इधर कभी उधर ऐसी बातोंमें लगा हुआ समाज अव्यवस्थित-चित्त होकर 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' का उदाहरण बनकर संस्कार-हीन हो सकता है। सनातनधर्म सबका मित्र है, तथा देशभक्त हो सकता है; अतः सबको अपने अधिकारमें रखनेको प्रेरित करता है।

आक्षेपोंका परिहार

(स्वा०द०जीका आक्षेप)

(३६) अब एतद्विषयक कई आक्षेपोंका परिहार किया जाता है—

(१) (क) इसी मन्त्रके अर्थमें स्वा.द.जीने लिखा है—'जैसे परमात्माने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये हैं (स.प्र. ३ पृ. ४४)।

इस पर यह जानना चाहिए कि—सूर्यादिके प्रकाशको कालकोठरीमें पड़ा एक अपराधी कैदी भी प्राप्त नहीं कर सकता, उल्लू भी प्राप्त नहीं कर सकता, निशाचर भी प्राप्त नहीं कर सकते, इस प्रकार पूर्व जन्मके

जघन्य कर्मोंसे अपराधी, जन्मभरका बन्दी, शूद्र जन्म-प्राप्त व्यक्ति भी साक्षात् वेदके प्रकाशको प्राप्त नहीं कर सकता। वस्तुतः यहाँ सूर्य-चन्द्रादिका दृष्टान्त ही विषम है। सूर्य पृथिवी जलादिकी प्राप्तिकेलिए यज्ञोपवीतका परिधान अनिवार्य नहीं रहता, अध्ययन तथा आचार्यकरणकी भी अन्नादिकेलिए अनिवार्य आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु वेदकी प्राप्त्यर्थ आचार्यकरण, यज्ञोपवीत तथा उसका अध्ययन अनिवार्य ही होता है; शूद्रको तो सेवातिरिक्त अध्ययनकी आज्ञा नहीं; वेदका अधिकार-पट्ट, आचार्यकुलमें प्रवेशका प्रमाणपत्र-स्वरूप उपनयन-सूत्र उसका नहीं होता; तब उसे वेदका अधिकार कैसे हो? अतः सूर्य-चन्द्रादिका दृष्टान्त इस विषयमें विषम है। आश्चर्य तो यह है कि—वादी लोग वेदको ईश्वरका ज्ञान मानते हैं; वह ईश्वरका ज्ञान वेद अपने आपम 'वेदमाता... द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं...तपसे (सेवादि कृच्छ्र-कर्मणे) शूद्रम् (यजु.माध्यं. ३०।५) द्विजोंका वेदमें अधिकार बताता है, एकज शूद्रादिका नहीं; पर वादी वेदकी यह बात नहीं मानते। इसका तात्पर्य यह हुआ कि—वेद ईश्वरीय ज्ञान नहीं; उनका वैयक्तिक ज्ञान ही ईश्वरीय ज्ञान है!

(ख) यदि प्रिन्सिपल उत्तम तीन श्रेणियोंको ही स्वयं पढ़ाता है; निचली आरम्भिक पहली श्रेणीको स्वयं न पढ़ाकर उन तीन श्रेणीवालोंमें ही किसीको आज्ञा दे देता है कि—इन पहली श्रेणीवालोंको मेरा तुम्हें दिया हुआ ज्ञान अपने सुगम और सरस शब्दोंमें समझा दो, तो यह न पक्षपात हो जाता है; न अनुपपन्न ही। फलतः इस विषयमें सूर्य-चन्द्रादि का दृष्टान्त विषम होनेसे ग्राह्य नहीं। (ग) "जो परमेश्वरका अभिप्राय शूद्रादिके पढ़ाने-सुनानेका न होता, तो इनके शरीरमें वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता" यह स्वा.द.जीका आक्षेप भी निस्सार है। यदि यह दोनों इन्द्रियाँ केवल वेदकेलिए ही होतीं, तो यह उनका कथन ठीक था, पर इनका उपयोग अपने कार्योंकेलिए है, दूसरेके कार्यकेलिए नहीं। वाक्

और श्रोत्र तोते आदि पक्षियोंके भी होते हैं, इसी कारण मनु (७।१५०) ने मन्त्रकालमें उनका हटा देना कहा है—पर इससे उनका वेदमें अधिकार सिद्ध नहीं हो जाता। फलत: इन तर्काभासोंका कुछ भी मूल्य नहीं।

(एक सिद्धान्तालङ्कारका आक्षेप)

(२) हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं कि—'यथेमां वाचं' मन्त्रका ईश्वर देवता है. देवता-प्रतिपाद्यको कहते हैं, तब यहाँ ईश्वर प्रतिपादक नहीं, प्रतिपाद्य है, प्रतिपादक जीव है, तो यहाँ वाणी भी जीवकी है, इस पर 'उदारतम आचार्य म. दयानन्द' निबन्धमें एक सिद्धान्तालङ्कार लिखते हैं कि—"यह बात उपहासजनक है, 'देवता' का अर्थ म. दयानन्द तथा निरुक्तादिके अनुसार केवल 'प्रतिपाद्य विषय' ही नहीं है, 'देवो दानाद् वा, द्योतनाद् वा, दीपनाद् वा' आदि निरुक्त-वचनके अनुसार देनेवाला, प्रकाशित करनेवाला इत्यादि भी है। ईश्वरने उपदेश दिया है; तथा वह सत्य-ज्ञानको प्रकाशित करता है, अत: उसे देव वा देवता कहना सर्वथा उचित ही है।"

आक्षेपक इस अपने कथनमें सफल नहीं हो सका, यह विद्वानोंसे तिरोहित नहीं। तव 'यथेमां वाचं' के अग्रिम मन्त्र 'बृहस्पते' को भी वह 'ईश्वर देवता' होनेसे क्या परमात्माकी उक्ति मान लेगा कि—ऐ मनुष्य मुझे चित्र धन दे। 'अग्निमीले पुरोहितम्' का अग्नि देवता होनेसे वह यह अर्थ करेगा कि—परमात्मा उपदेश देता है कि—मैं परमात्मा अग्नि—परमात्माकी स्तुति करता हूं? अब वह दो परमात्मा मान लेगा? जब ईश्वर सारे मन्त्रोंका उपदेष्टा है, तो फिर केवल 'यथेमां वाचं' और 'बृहस्पते! अति' इन दो मन्त्रोंका ही 'ईश्वर देवता' लिखनेका क्या अर्थ रहता है? फिर अन्य मन्त्र ईश्वरके नहीं रहेंगे, यह दोष उपस्थित हो जाता है। तव यहाँ 'चौबेजी गये थे छब्बे बनने, दुबे बनकर आये' यह लोकोक्ति चरितार्थ हो जायगी। गये थे शूद्रोंको परमात्माकी वाणी वेद पढ़ाने, पर इन दो मन्त्रोंसे शेष वेद को जीवकी वाणी सिद्ध करवा बैठे।

वस्तुत: अनुक्रमणीकारोंका कहा 'देवता' शब्द सिद्धान्तालंकारसे उद्धृत निरुक्त वाले अर्थको नहीं रखता। आप सांख्यके 'गुण' का अर्थ क्या व्याकरणके 'अदेङ्गुण:' सूत्रसे करेंगे? अनुक्रमणीकारोंका 'ऋषि' वा 'देवता' शब्द परिभाषिक होता है, वह परिभाषा है—'यस्य वाक्यं स ऋषि:, या तेन उच्यते, सा देवता'। इसकी स्पष्टता पूर्व की जा चुकी है। यही बात निरुक्तकारने भी मानी है—'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवताया-मार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्-देवत: स मन्त्रो भवति' (७।१।३) इसकी स्पष्टता पूर्व की जा चुकी है।

इससे स्पष्ट है कि—तत्तद्मन्त्रमें प्रतिपाद्य ही अनुक्रमणीकारोंका 'देवता' होता है, प्रतिपादक नहीं। इसके उदाहरण भी पूर्व वेदसे दिये जा चुके हैं; वादी उनका खण्डन नहीं कर सका; और न कर सकता है। अत: 'देवता' इस अनुक्रमणिकाके 'पारिभाषिक' शब्दका उससे किया हुआ निरुक्तानुसारी अर्थ ठीक नहीं. उसका इस 'देवता' शब्दसे कोई सम्बन्ध भी नहीं। वह तो केवल मन्त्रस्थ 'देवता' शब्दका निर्वचन है, विनियोगा-नुक्रमणिकाके 'देवता' शब्दकी वह परिभाषा नहीं। अनुक्रमणिका वाले 'देवता' शब्दका अर्थ निरुक्तकारको भी प्रतिपाद्य ही इष्ट है, यह दैवत-काण्डका 'यत्काम ऋषिर्यस्यां...तद्देवत: स मन्त्रो भवति' (७।१।३) श्रीयास्कका वचन देकर हम उसे स्पष्ट कर चुके हैं। यदि यहाँ 'ईश्वरो देवता' का ईश्वर इस मन्त्रको प्रकाशित करनेवाला है—यह अर्थ किया किया जावेगा, ता शेष वेदमन्त्र अनीश्वर जीवकी वाणी बन जायेंगे। क्योंकि—इन दो के अतिरिक्त शेष वेदमन्त्रोंका 'ईश्वरो देवता' नहीं लिखा गया है, यह निस्सार बात लिखकर वादीने स्वामीजीके पक्षको और भी निर्मूल सिद्ध कर दिया है; और हमारे पक्षको ही पुष्ट कर दिया। क्योंकि—वह 'देवता' का अर्थ 'प्रतिपाद्य' भी मानता ही है। यहाँ वह अर्थ है भी सही। अत: हम वादीकी ही बात मान लेते हैं कि—'देव' शब्द द्योतन-वाचक भी है, सो दीव्यति-प्रकाश्यते, स्तूयते वा' (क्योंकि—यह

दोनों ही अर्थ दिव् धातुके आये हैं–द्युति-स्तुति। यह धातु अकर्मक है, अतः उसका अर्थ यहाँ 'प्रकाशक' वास्तविक न होकर (क्योंकि तब सकर्मकता प्रसक्त हो जाती है) प्रकाश्यमान वा स्तूयमान ही अर्थ है। जैसाकि 'अग्निमीले' मन्त्रपर सायणने भी लिखा है—'द्योतनार्थ-दीव्यति धातु-निमित्तो 'देव' शब्दः, अतो दीव्यतीति देवः, मन्त्रेण द्योतते-इत्यर्थः। अस्मिन् सूक्ते स्तूयमानत्वाद् अग्निर्देवः' सो उक्त मन्त्रमें भी ईश्वर द्योतमान स्तूयमान होनेसे 'देवता' है. द्योतक वा स्तावकका नाम 'देव' कहीं नहीं माना गया, तब वह वाच्य ही सिद्ध हुआ, वाचक नहीं।

(तर्करत्नजीके आक्षेप)

(३) 'अछूतोद्धार-निर्णय' (३०-३१-३३-३४ पृष्ठ) में श्री 'तर्करत्न' जीने भी सनातनधर्मियोंसे किये जाते हुए 'यथेमां वाच' के अर्थमें कई आक्षेप किये हैं, उनपर भी विचार कर लेना चाहिए। आप लिखते हैं कि–(क) 'वेदमें कल्याणकारी-वाणीसे सर्वत्र भाष्यकारोंने 'वेदवाणी' का ग्रहण किया है, पर यह बात उनकी प्रमाण-रहित होनेसे सिद्ध नहीं। उन्हें चाहिये था कि–'कल्याणी वाक्' शब्दधारी कुछ मन्त्र देते–जहाँ भाष्यकारोंने ऐसा अर्थ किया हो, पर उन्होंने एक भी 'कल्याणीं वाचं' का उदाहरण नहीं दिया। उवट-महीधरने यहाँ स्पष्ट वेदका सकेत वेखकर 'दीयतां भुज्यताम्' यह कल्याणकारिणी याज्ञिक-वाणीका ही ग्रहण किया है, हम इसे पूर्व स्पष्ट कर भी चुके हैं, उसमें वेद एवं शास्त्रोंके प्रमाण भी दिये जा चुके हैं, अतः सर्वत्र 'वाक्' शब्दसे वेदवाणी गृहीत नहीं हो जाती।

(ख) यदि श्रीमहीधर २२।६१-६२ मन्त्रमें 'वाचः' का 'त्रयी-लक्षणायाः' अर्थ लिखनेसे मान्य हैं, तो 'यथेमां' मन्त्रमें वेदवाणीका प्रकरण न होनेसे, प्राकरणिक 'दीयतां भुज्यताम्' आदि वाणीका अर्थ करते हुए भी वे मान्य हैं। यात्राके समय 'सैन्धव' का 'लवण' अर्थ कोई भी मान्य नहीं करता। और फिर 'पृच्छामि वाचः' मन्त्रमें 'कल्याणी वाक्' शब्द भी नहीं है, तब तर्करत्नजीकी 'वेदमें कल्याणकारी वाणीसे वेदवाणीका ग्रहण है' यह बात कैसे घट सकी?

(ग) "अजीर्णके रोगीको तो 'भुज्यताम्' यह वाणी कल्याणकारिणी नहीं, प्रत्युत अकल्याणकारिणी है" यह आक्षेप भी व्यर्थ है। अजीर्णका रोगी उस याज्ञिक 'भोजन' में आने ही क्यों लगा, और भोजन भी कई प्रकारके होते हैं, उसे दधिका भोजन भी कल्याणकारी रह सकता है, उसे यज्ञमें वही दिया जा सकता है, इसमें आक्षेप क्या? यज्ञमें खाद्य, पेय, लेह्य, चूष्य सब प्रकारके भोजन होते हैं। (घ) 'इससे ब्राह्मण एवं शूद्रका सह-भोज सिद्ध हो गया' यह भी आक्षेप ठीक नहीं। साहचर्यनियम सर्वत्र माना गया है, ब्राह्मण ब्राह्मणोंकी पंक्तिमें होंगे, शूद्र शूद्रोंकी पंक्तिमें। यज्ञमें सबके अधिकारानुसार पृथक्-पृथक् स्थान बनाने पड़ते हैं, पृथक्-पृथक् प्रबन्ध करने पड़ते हैं। इस मन्त्रमें एक पंक्तिमें सबको जिमाना तो कहीं लिखा नहीं। तब यह आक्षेप भी निस्सार है। (ङ) "क्या यज्ञ-परक अर्थ हो जानेके बाद अन्य अर्थ जो वेदके निकलते हैं, वे मान्य ही नहीं हैं? किन्तु ऐसा नहीं। यजुर्वेदके 'चत्वारि शृङ्गा' इस यज्ञ-प्रतिपादक मन्त्रका महाभाष्यकारने 'शब्द' अर्थ भी किया है। यह अशुद्ध होना चाहिए' यह आक्षेप भी ठीक नहीं। मन्त्रका अर्थ देवतावादके अनुसार होता है। 'चत्वारि शृङ्गा' का देवता 'गावः' भी है, उसका 'बैल-गाय' अर्थ तो यहाँ सम्भव नहीं, 'गो' का अर्थ 'वाणी' भी होता है, सो शब्दात्मक वाणीका अर्थ करते हुए श्रीपतञ्जलिने कोई अपराध नहीं किया। पर यहाँ जब ईश्वर देवता है—प्रतिपाद्य है, तो उसकी वाणी यहाँ इष्ट नहीं, किन्तु यज्ञके प्रकरण होनेसे उसमें प्रयुक्त की जाती हुई यजमान-ऋषिकी 'दीयताम् भुज्यताम्' यही वाणी इष्ट है।

(च) (प्र०) 'जिससे वाणीका सम्बन्ध न हो वह 'अरण' है, फिर जिससे बात ही नहीं, उससे 'दो और खाओ' यह वाणी कैसे कही जा सकती है? (उत्तर) जब ऐसा व्यक्ति भी यज्ञमें आ जाता है, तो उसे

भी 'भुज्यताम, दीयताम्' कहा जाता है, क्योंकि याज्ञिक-भोजनमें शत्रु-मित्र वा तटस्थकी दृष्टि नहीं रखनी पड़ती। इसी कारण अगस्त्य ऋषि की यज्ञकी दीक्षामें 'अगस्त्यो यजमानोमौ ददात्यन्नं विमत्सर:' (महाभारत १४।९२।१३) विना मत्सर [भेदभाव] के अन्नदान कहा है। ऐसा व्यक्ति भी उस समय अपने वश हो जाता है। 'नारायणोपनिषद्'में भी कहा है-'यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति' (७९) इसलिए तो इस वाणीको इससे पूर्व मन्त्रमें स्मरण करते हुए उसे भूतसाधनी-भूतवशीकारिणी' कहा है। इन्हीं यज्ञोंमें शत्रुताएं मिटती हैं, अपने परायेका भेद हटता है।

(छ) (प्र०) 'यजमान स्वयं यज्ञकर्ता और दक्षिणाका देनेवाला है, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि-मैं दक्षिणा देनेवालेका प्रिय होऊं। (उत्तर) हम पूर्व कह चुके हैं कि-यह यजमान [यज्ञकर्ता] ऋषि-लौगाक्षिकी उक्ति है। इसलिए उसे यज्ञार्थ धनकेलिए ईश्वर-परमात्मा वा राजाको प्रार्थना करनी पड़ती है, क्योंकि ऋषियोंके पास धन कहां? अत: याज्ञिक-दक्षिणा राजाको देनी पड़ती है, सो यहां यजमान [याज्ञिक] ऋषिका अभिप्राय यह है कि-मैं दक्षिणा-दाता राजा वा परमात्माका प्यारा बनूं, जिससे मुझे इतना ऋतुमत्-यज्ञोपकारक (२६।३) धन प्राप्त हो कि-मैं उसे यज्ञके होत्रकर्म तथा अन्न-दान, दक्षिणादानादि कर्ममें विनियुक्त कर सकूं। वादीके आक्षेप समाप्त हो गये।

(ज) आगे तर्करत्नजीने 'यथेमां' मन्त्रके स्वा.द.जीके किये अर्थकी आलोचना ३१-३२ पृष्ठमें की है वह वस्तुत: बहुत युक्तियुक्त है। आगे आप अपना अर्थ रखते हैं कि-आचार्य अपने शिष्यको वेदाध्ययन कराता हुआ कहता हूं कि-'हे शिष्यो! `जिस प्रकार मैं इस वेदवाणीको सबके लिए कहता हैं' इत्यादि, इसका खण्डन एक सिद्धान्तालङ्कारजीने अपने पूर्वोक्त पुस्तकमें किया है कि-'म० दयानन्दजीने इसे ईश्वरकी उक्ति माना है, उसके लिए उन्होंने 'बृहस्पते अति' इस अगले मन्त्रका प्रमाण दिया है जहां परमात्माको बृहस्पति नामसे स्मरण किया है' इससे वादीने

तर्करत्नजीका तथा अपना भी खण्डन किया है। इससे सिद्ध हो गया कि-'यथेमां वाचं' में आचार्य-शिष्यका संवाद भी नहीं, और परमात्मा दोनों ही मन्त्रोंमें प्रतिपाद्य है, अथवा दोनोंका प्रतिपादक ही है। पर 'प्रतिपादक' अर्थ दोनों ही मन्त्रोंमें न घटनेसे और 'प्रतिपाद्य' अर्थ दोनों ही में समन्वित हो जानेसे यही अर्थ ठीक बैठता है।

वेदमन्त्रोंका अर्थ ऋषिवाद एवं देवतावादके अधीन होनेसे तथा उक्त मन्त्रका गुरु-शिष्य ऋषि-देवता न होनेसे यह तर्करत्नजीसे प्रोक्त संवाद ठीक नहीं। गुरु-शिष्य संवाद वेदकी शैली भी नहीं। यदि ऐसा होता, तो यह बात वेदके अन्तमें कही जाती। 'आवदानि' का अर्थ 'कहता हूँ' करना भी ठीक नहीं, 'कहूं' यह करना चाहिये। 'वैसा तुम भी करो' कहना प्रक्षिप्त है।

(झ) पूर्वपक्ष-यहो उपदेश चारों वर्णोंको वेद पढ़ाना महाभारत शान्तिपर्व ३२७ अध्यायमें व्यासजीने वैशम्पायन आदि शिष्योंको दिया है, (पृ. ३२) 'कुछ विद्वानोंने भ्रमवश 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मण-मग्रत:' (३२७।४९) इसी वचनके प्रमाण पर यह मत प्रकट किया है कि, स्त्री-शूद्रोंको न केवल वेद सुनानेका अधिकार नहीं, किन्तु यह भी कि-विना ब्राह्मणको आगे बैठाये स्त्री-शूद्रोंको इतिहास-पुराण भी नहीं सुनाना चाहिये। यह सर्वथा भूल है। वेदव्यासजीने तो यह उपदेश दिया था कि-वेदोंको चारों वर्णोंके प्राणियोंको सुनाओ ब्राह्मणको आगे बिठाकर; यह वचन वेदके विषयमें कहा गया है, ऐसा 'भवन्तो बहुला: सन्तु वेदो विस्तार्यतामयम्'। वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत् स्मृतम्' इस प्रकरणसे स्पष्ट है। (पृ. १०८-१०९-११२)

(उत्तर) किसी ग्रन्थस्थ वचनका अर्थ उस ग्रन्थकारके हृदयके अनुसार ही लगा हुआ ठीक माना जाता है, अन्यथा किया हुआ ठीक नहीं माना जा सकता। 'मन्त्र: शूद्रे न विद्यते (महाभा. शान्तिपर्व ६०।३७) 'नच तां प्राप्तवान् मूढ: (शिशुपाल:) शूद्रो वेदश्रुतीमिव (सभापर्व ४५।

१६) 'नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञ...एव स्मृत. शूद्रधर्मः पुराणः' (उद्योगपर्व २६।१६) इत्यादि महाभारतके बहुतसे प्रमाण हैं, जिनसे शूद्रको वेदाधिकार निषिद्ध सिद्ध होता है। तब यहाँ श्रीव्यासजी शूद्रको साक्षात् वेदका अधिकार कैसे दे सकते हैं? इसी 'श्रावयेच्चतरो वर्णान्' की स्वामी शंकराचार्यने यह व्यवस्था पुराणेतिहासपरक लगाई है। १।३।३८ ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें उन्होंने लिखा है- 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति च इतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणाम्' इसका भाव यह है कि-शूद्र वेदको सीधा नहीं सुन सकता, किन्तु पुराणेतिहासके द्वारा वेदको सुन सकता है। इसलिए पुराणेतिहासको भी पञ्चम वेद ही कहा जाता है, जैसेकि छान्दोग्योपनिषद् में 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (७।१।२) न्यायदर्शन ४।१।६२ सूत्रके वात्स्यायनभाष्यमें भी यही कहा गया है—'ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरसः एतद् इतिहास-पुराणमभ्यवदन्-इतिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्'। इसलिए शतपथमें भी 'पुराणवेद, इतिहासवेद' आया हैं। प्रकृत-पद्यमें भी इसीलिए 'अयं' आया है।

महाभारतमें भी 'महाभारत' को 'कार्ष्णं वेदमिमं सर्वं शृणुयाद् यः समाहितः' (१५।५।४१) कार्ष्ण वेद कृष्ण-द्वैपायन 'वेदव्यास' का वेद' कहा गया है। 'इतिहासमिमं पुण्यं महार्थं वेद-संमितम्'। व्यासोक्तं श्रूयते येन कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः (५।५७) 'य इमां संहितां पुण्यां पुत्रमध्यापयत् शुकम् (५।५६) यहाँपर उसे वेदसम्मत एवं संहिता कहा गया है। शतपथ-ब्राह्मणमें भी 'तान् (मत्स्यघ्नः) उपदिशति इतिहासो वेदः' (१३। ४।३।१२) 'तानुपदिशति पुराणं वेदः' (१३) यहाँपर पुराण-इतिहासको भी वेद कहा गया है, सो यहाँ शूद्रोंकेलिए वही पुराणेतिहासात्मक वेद, कार्ष्ण वेद—कृष्ण द्वैपायन-व्यासका इतिहास-वेद महाभारत सुनाना ही इष्ट है। वह भी ब्राह्मणको आगे करके। कौटलीय-अर्थशास्त्रमें भी 'अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः' (१।३।२) तथा 'इतिहासवेदधनुर्वेदौ' (राजशेखरकी काव्यमीमांसा २ अध्याय) यहाँ इतिहासको भी वेद कहा है। सो ऐसा वेद, पुराण-महाभारतादि ही इष्ट है। स्वा. शंकराचार्यकी साक्षी इसपर दी जा चुकी ही है। 'इतिहास' से पुराणका भी ग्रहण हो जाता है, जैसेकि कौटल्यने लिखा है—'पुराणेतिवृत्तम्...धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं च इति इतिहासः' (१।५।१४) श्रीतर्करत्नजी 'कौटल्य-अर्थशास्त्र' पर इस विषयमें अपनी टीका भी देख सकते हैं। वास्तविक वेद तो उसी प्रकरणमें 'ब्राह्मणाय सदा देयं ब्रह्म शुश्रूषवे तथा' (शान्ति. ३२७।४२) ब्राह्मणको देना कहा है। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः। वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत् स्मृतम्' (३२७।४६) यहाँ भी ब्राह्मणको ही साक्षात् सभी वेदोंका देना कहा है, फिर ब्राह्मण शेष-वर्णोंको सुनावे—सो वह वेदका शब्द वहाँ इष्ट नहीं, किन्तु अर्थ ही इष्ट है। वह भी वेद होता है, ऐसा वेद, पुराण-इतिहास ही है। तब 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' श्लोक भी पुराणेतिहासात्मक-वेदकेलिए प्रतिफलित हुआ, तभी तो सभी निबन्धकारोंने उसे वैसा ही व्यवस्थापित किया है। वेदका भी इसी पक्षपर अनुग्रह है, यह पूर्व सिद्ध किया जा चुका है। तर्करत्नजीकी 'वैश्य' से शूद्रका ग्रहण हो जाना, और शूद्रका पतित-पर्यायवाची सिद्ध करना—यह कल्पना आपात-मनोहर तो है, पर शास्त्रानुगृहीत नहीं, शास्त्रका वैसा अभिप्राय नहीं, जैसा कि-उन्होंने वैसा सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। इसपर हमने 'आलोक' (६) पृ. ३६४-३६५ में संक्षेपसे लिखा है।

(श्री शाण्डिल्य जी)

(४) 'भारतीय-धर्मशास्त्र' के ८३ पृष्ठमें श्रीशाण्डिल्यजीने 'यथेमां वाचं' का अर्थ करते हुए लिखा है--वेदमें लिखा है—'जैसे मैं इस कल्याणी वाणीको सभी मनुष्योंकेलिए कहता हूँ' यह मन्त्रद्रष्टा ऋषिकी उक्ति है जो भगवान्की वाणीका प्रचारक है। इस मन्त्रकी आज्ञासे मनुष्यमात्र वेदका अधिकारी है।'

जब श्रीशाण्डिल्यजी इस वाक्य (यथेमां) को **ऋषिकी उक्ति** कहते हैं, तो यह परमात्माकी आज्ञा कहां रही ? यह तो एक जीवका–लौगाक्षि-ऋषिका वैयक्तिक कथन सिद्ध हुआ। वाणी भी उसी जीवकी हो गई, परमात्माकी वाणी न रही। यदि 'इमां वाचं' से परमात्माकी 'वेदवाणी' इष्ट होती, तो यह मन्त्र **वेदके अन्त वा आदिमें** होता, तभी वेद उसके सामने रहनेसे 'इदं' शब्दका प्रयोग सार्थक होता। अब तो 'इमां वाचं' से यही मन्त्र गृहीत होगा, सम्पूर्ण वेद नहीं, **'इदम्' सन्निकृष्टका** बोध कराता है—इस विषयमें पहले बहुत स्पष्टता की जा चुकी है। 'आवदानि' इस लोट्का 'कहता हूँ' यह **लट्लकारका अर्थ भी ठीक नहीं।** 'आवदानि, भूयासम्, समृध्यताम्, उपनमतु' यह मन्त्रस्थ सभी क्रियाएं समानार्थक हैं। उस लौगाक्षि-ऋषिने सभीको कब वेदोपदेश किया—इसमें **इतिहासकी साक्षी** बतानी पड़ेगी, क्योंकि–ऐसा अर्थ ऐतिहासिक हो जायगा, तब फ़िर वेद अनित्य हो जायगा। लौगाक्षि-ऋषिका तो केवल एक यही मन्त्र है, **सारा वेद तो उसका दृष्ट है नहीं,** नहीं तो **सब वेदोंका द्रष्टा** उसे कहा जाता, पर ऐसा नहीं है। तब वह ऋषि सारे वेदोंको कैसे विवक्षित कर सकता है ? अत: श्रीशाण्डिल्यजीका पक्ष ही असिद्ध हो गया। 'वैसे तुम भी सबको कहो' यह वाक्यार्थ शाण्डिल्यजीने वेदार्थमें **स्वयं प्रक्षिप्त** किया है, वह मन्त्रमें नहीं। अस्तु; शाण्डिल्यजीने इसे **ऋषिकी उक्ति** बताकर जहाँ 'ईश्वर कहता है' इस अपनी भावनाके नायक स्वामीजीकी उक्तिको खण्डित कर दिया, वहाँ शूद्रादिका जीवकी वाणीमें अधिकार बताकर **अपना पक्ष भी खण्डित** कर दिया; क्योंकि यह ऋषिकी वाणा रही—**परमात्माकी** नहीं। वेदप्रचारक ऋषिकी वाणी पृथक् हो सकती है, वह उसे वेदमें नहीं घुसेड़ सकता। वस्तुत: यहाँ भूतवशकारिणी 'दीयताम्, भुज्यताम्' यही **याज्ञिक-वाणी** ही यजमान-ऋषिको इष्ट है, वेदवाणी नहीं।

(एक विद्यालङ्कार)

(५) (क) हमारे 'यथेमां वाचं' के अर्थपर एक विद्यालङ्कार जी 'सार्वदेशिक' (सितम्बर १९४६ के अङ्क) में लिखते हैं—'यथेमां वाचं' का ईश्वरपरक अर्थ माननेसे स्वामीजीके मतानुसार अनेक दोष आते हैं—ऐसा शास्त्रीजीने बड़े **गर्जन-तर्जन पूर्वक** फ़र्माया है, किन्तु उनके सम्पूर्ण दोषोंका इतनेसे ही समाधान हो जाता है कि परमात्मा भक्तोंसे कहता है–मैं तुम्हारे द्वारा अपनी वेदवाणीको सब तक पहुंचाऊं—यही मेरी कामना है'।

यहाँ विद्यालङ्कारजी वेदमें प्रक्षेप कर रहे है। 'यथेमां वाचं' में कहीं 'भक्त' का नाम है ही नहीं। उक्त अङ्कके २९३ पृष्ठमें आपने लिखा है—'परमात्मा निराकार होनेके कारण **स्वयं बोल नहीं सकता,** इसलिए भक्तों-द्वारा बुलवाता है।' केवल दो-तीन पत्रोंमें ही वादीने परमात्मामें स्मृति-विकार सिद्ध कर दिया। जब परमात्मा **स्वयं बोल नहीं सकता;** तब फिर **भक्तोंसे कैसे कहता** है ? जब वह **बोल नहीं सकता,** तब उसकी **वाणी क्या** ? जब **उसकी वाणी नहीं,** तब 'यथेमां वाचं' का अर्थ **'परमात्माकी वाणी या 'वेदवाणी'** न हुआ। वादीने यहाँ जहाँ 'देखो **परमेश्वर स्वयं** कहता है' इस अपने आचार्य **स्वा.द.के वाक्यका खण्डन कर दिया,** वहां 'यावज्जीवमहं मौनी' की तरह **अपना भी खण्डन** साथ ही कर दिया। इससे आप दोनों **गुरु-चेलोंका ही पक्ष** परस्पर-विरुद्ध होनेसे खण्डित हो गया। स्वामीजी परमात्माका **'स्वयं कहना'** मानते हैं, 'स्वयं' शब्द मैंने नहीं डाला, स्वामीजीका है। पर वादी लिखता है—'परमात्मा निराकार होनेके कारण **स्वयं बोल नहीं** सकता। यह परस्पर-विरोध है। आप दोनों ही ने 'स्वयं' शब्द **परस्पर-विरुद्ध** डाला है।

जब ऐसा है; और 'यथेमां वाचं' मन्त्रका 'ईश्वर देवता' है, और देवता **प्रतिपाद्यको** कहते है–यह पहले सिद्ध किया जा चुका है, तब यहाँ ईश्वर प्रतिपाद्य है—यह हमारा ही पक्ष वादीने सिद्ध कर दिया। निराकार होनेसे बोल न सकनेके कारण वह वादीके मतमें भी **'प्रतिपादक' नहीं** हो सकता। तब यहाँ वाणी यज्ञ करनेवाले भक्तकी **'दीयतां भुज्यताम्'** आदि

ही सिद्ध हुई, 'वेदवाणी' नहीं। क्योंकि वैसा होता, तो यह बात वेदके आदि वा अन्तमें कही जाती। तब इस मन्त्रसे स्त्री-शूद्रादिको वेदाधिकार सिद्ध न हुआ। 'प्रियो देवानां भूयासम्, दक्षिणाया दातुश्च प्रियो भूयासम्' का 'हे भक्त! ऐसा उद्योग कर जिससे देवोंमें मेरा प्रेम बढ़े, यज्ञ करने वालों तथा दक्षिणा देनेवालोंमें मेरा प्रेम बढ़े, 'अयं मे कामः समृध्यताम्' का हे भक्त! तेरे उद्योगसे मेरी यह कामना पूर्ण हो' यह अर्थ करके वादीने परमात्माको जहाँ अशक्त सिद्ध कर दिया, वहाँ 'अपूर्ण कहनेवाला' भी सिद्ध कर दिया, इसलिए वादी बीच-बीचमें उसकी न्यूनताको पूर्ण करनेकेलिए 'ऐसा उद्योग कर' 'तेरे उद्योग' आदि शब्द उसके वाक्यमें प्रक्षिप्त भी करता गया है। साथ ही साथ परमात्माको वादीने 'यावज्जावमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मे पिता। माता तु मम वन्ध्यामीद् अपुत्रश्च पितामहः' का उदाहरण भी बना दिया। इधर वह अपने आपको निराकार कहकर अपनेको बोलनेमें असमर्थ बताता है, इधर भक्तसे बोलता भी जाता है। इस प्रकार वादीके पक्षका तो समूलोन्मूलन ही हो गया। वेद उसके मतमें 'भक्तकी वाणी' सिद्ध हो गये, परमात्माकी नहीं, क्योंकि वादीके मतमें निराकारकी वाणी नहीं होती।

(ख) हमने लिखा था कि—'वेदके विद्वान् श्रीशंकराचार्य आदि क्या वेद नहीं जानते थे, या उन्होंने 'यथेमां वाचं' मन्त्रको नहीं देखा; और वेदान्तसूत्रोंमें शूद्रको वेदानधिकार लिख गये, इसपर विद्यालङ्कारजीका स्वा. शङ्कराचार्यकेलिए 'सार्वदेशिक' (२२।७ पृष्ठ २९५) में यह कहना कि—"शंकराचार्यजीने वेदान्तसूत्र (श्रवणाध्ययन-प्रतिषेधात्) का अर्थ ही नहीं समझा। दूसरे वे सदा उपनिषत् पढ़नेमें लगे रहे, वेदका उन्होंने स्वाध्याय ही नहीं किया, तो 'यथेमां वाचं [मन्त्र] उनकी दृष्टिमें कहाँसे आता?"

ऐसा धृष्ट लिखते हुए वादीको लज्जा आनी चाहिए। समय होता है—आप लोग 'भारती' को वेदज्ञ सिद्ध करनेकेलिए यही उक्ति दिया करते हैं कि—'भला श्रीशङ्कराचार्य-जैसेके साथ बिना वेद पढ़े शास्त्रार्थ कैसे हो सकता था?' तब फिर आचार्य-शंकरको वादी वेदका स्वाध्याय न करने वाला कैसे कहता है? वादीके बाबा स्वा.द.जी स्वा. श्रीशङ्कराचार्यकेलिए कहते हैं कि—'शंकराचार्यजी उज्जैनमें आकर वेदका उपदेश करने लगे, उनमें शंकराचार्यका वेदमत था, अर्थात् उनका पक्ष वेदमतका स्थापन था' (स.प्र. ११ समु. १८१ पृष्ठ) तो क्या स्वा.द.जी उपनिषदोंको वेद मानते थे, जो उन्होंने स्वा. शंकराचार्यकेलिए ऐसा लिख दिया? क्या बिना वेदका स्वाध्याय किये वेदका उपदेश हो सकता है? आपके आर्यसमाजी विद्वान् श्रीनरदेवजी शास्त्री 'आर्यसमाजका इतिहास' प्रथम भागमें लिखते हैं—'शंकर भगवान् चारों वेद पढ़े थे, सब शास्त्र देख चुके थे, वर्णाश्रमधर्म-मर्यादाके पक्षपाती थे, संन्यासी थे, तत्त्ववेत्ता थे, वैदिकधर्मके प्रबल रक्षक थे' (पृष्ठ १४४)। अन्य आर्यसमाजी विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं, तब क्या वादी अन्य सभी विद्वानोंको झूठा मानेगा?

स्वामी शंकराचार्यने १।१।२२-२३-२४, २६, १।३।२६, १।४।२७ आदि वेदान्तसूत्रोंमें तथा अन्यत्र भी ऋग्वेदसंहिताके बहुत प्रमाण दिये हैं। अन्यत्र यजुर्वेदसंहिता (माध्यं.) तथा वाजसनेयक (शतपथ) का प्रमाण आदि भी दिया करते है, 'वाजसनेयिनश्च एनमधीयते' (१।२।२६)। तैत्तिरीयारण्यक, ऐतरेयारण्यक, षड्विंशब्रा. ऐतरेयब्रा. तैत्तिरीयब्रा. ताण्ड्य-ब्राह्मण आदिको उदाहृत करते है। ईशोपनिषत्को उन्होंने बहुत उदाहृत किया है, वह यजुर्वेद ही तो है। १।३।३४ में 'तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (७।१।१।६) यह कृष्णयजुर्वेद (तै. संहिता) का प्रमाण दिया है। 'न तस्य प्रतिमा अस्ति, वेदाहमेतं पुरुषम्, ३।३,५६ में 'छागस्य वपाया मेदसोनुब्रूहि' इत्यादि याजुष मन्त्रोंको वे उदाहृत करते हैं। ३।३।१ के भाष्यमें 'तैत्तिरीयकम्, वाजसनेयकम्, कौथुमकम्, शाट्यायनकम्—इन संहिताओंको उनने स्मरण किया है। ३।३।५५ में वेदोंके शाखाभेदोंको स्मरण किया है, तब 'वे वेद नहीं जानते थे' यह विद्यालङ्कारका कहना केवल 'यथेमां' के स्वामी

दयानन्दजीके किये अर्थकी रक्षार्थ ही है। उक्त आरोप उनका सर्वथा असत्य ही है।

वेदान्त-सूत्रका आशय भी आचार्य शङ्करका लिखा ठीक ही है। स्वा. रामानुजाचार्य, स्वामी मध्वाचार्य, गोस्वामी वल्लभाचार्य, यतिपण्डित भगवदाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, वैयासिक न्यायमालाकार आदि सभीने उस सूत्रका वही अर्थ लिखा है जो स्वा. शंकराचार्यने। हमारा इस विषयमें 'ब्रह्मसूत्रका अपशूद्राधिकरण' निबन्ध 'दैनिक-सन्मार्ग' देहली (६।५२४-५३३) में प्रकाशित हो चुका है। इस प्रकार विद्यालङ्कारजीके आक्षेप भी परिहृत हो गए। हम उनके प्रत्युत्तरमें विस्तीर्ण निबन्ध 'सिद्धान्त, काशी (८-४७।४८।४९) में प्रकाशित कर चुके हैं।

इस प्रकार वादियोंके पक्षके निराकृत होनेसे हमारा पक्ष पुष्ट हो गया कि—'यथेमां वाचं कल्याणीं' मन्त्र **शूद्रादिको वेदाधिकार नहीं देता,** किन्तु यज्ञमें ब्राह्मण-शूद्रादि सभीको **'दीयताम्, भुज्यताम्'** वाली कल्याणी वाणी कहलवा रहा है। इसमें अन्य मन्त्रकी साक्षी भी है—'ऊर्जादः उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' (ऋ. १०।५३।४) यहाँ पर ब्राह्मणादि-निषादान्त पञ्चजनोंको यज्ञातका अन्न खाकर यज्ञको सफल बनानेवाला कहकर उनका आह्वान किया गया है कि—'हे अन्नादः अतएव यज्ञ, सम्पन्नता (पूर्ति) कर्तारः पञ्चजनाः! मम होत्रं-हवम् 'दीयतां भुज्यताम्' इत्यादिकमाह्वानं शृणुत। इसकी स्पष्टता आगे की जावेगी। इस मन्त्रसे भी यही सिद्ध हो रहा है कि—'दीयतां, भुज्यताम्' आदि वाणी के विषय चार वर्ण और पञ्चम निषाद हैं, वेदवाणीके नहीं। अपना पक्ष सिद्ध हो जानेसे यह निबन्ध उपसंहृत किया जाता है। तभी 'मीमांसा-न्यायप्रकाश' पूर्वार्धमें 'न स्त्री-शूद्रौ वेदमधीयाताम्' यह प्राचीन वचन उद्धृत किया गया है, जिससे स्त्री एवं शूद्रोंके वेदाध्ययनका निषेध आया है।

अब 'ब्रह्मचर्येण कन्या, प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम्' आदिसे स्त्री-शूद्रोंका जो उपनयन वा वेदाधिकार सिद्ध किया जाता है, उनपर विचार प्रदर्शित किया जाता है। विद्वान् पाठक आदिसे अन्त तक इन निबन्धोंको देखते चलें, और मनन करते चलें। इनके अशुद्ध अर्थ करके वादी आज जनता को शास्त्रविरुद्ध-मार्ग प्रदर्शित किया करते हैं, यह इस निबन्धसे जनताको मालूम हो जायगा।

'वेदका अधिकार स्त्री-शूद्रादि सभीको है' इस विषयमें 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' यह जो वादियोंकी ओरसे **मुख्य वेदमन्त्र** दिया जाता है; इसका तो हम समाधान कर ही चुके हैं। इसी विषयमें 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' (अथर्ववेदसं.) वेदकी ऋषिकाएं, हारीतः-द्विविधा हि स्त्रियः, ब्रह्मवादिन्यः, सद्योवध्वश्च' (हारीत ध.) 'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम्' (गोभिलगृ.) 'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता' (ऋग्वेद सं.) स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च, 'यज्ञोपवीतमार्गेण छिन्ना तेन तपस्विनी' (वाल्मी.) 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत' (शत.) म.म. पं. शिवदत्तजीके एतद्विषयक विचार, रामायणके प्रमाण, तथा पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् (ऋ.)। जानिपक्ष, अमन्त्रिका तु कार्येयं, वैवाहिको विधिः स्त्रीणां' (२।६६-६७) इन मनु-वचनोंकी प्रक्षिप्तता; 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम' (निरु.) पतिकी अन्त्येष्टि आदि विषयके कई प्रश्न, 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत् (आश्व. श्रौ.) यवनोंका वेद पढ़ना (भविष्य-पुराण) इत्यादि प्रमाण वादियोंकी ओरसे दिए जाते हैं, इस विषयका यही बल उनके पास है। इन प्रमाणोंका समाधान करनेसे उनका पक्ष स्वय निर्बल होकर विच्छिन्न हो जायगा—एतदर्थ यह प्रयत्न है। 'श्रीसनातनधर्मालोक' के पाठकगण इधर अवहित हों।

---

(२) 'ब्रह्मचर्येण कन्या'

पूर्वपक्ष—'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' (अथर्व. ११।५।१८) में स्पष्ट विधान है कि—कन्या वेदाध्ययनादि रूप ब्रह्मचर्यका पालन करके

युवक पतिका वरण करती है। 'ब्रह्मचर्य' शब्दका मुख्य अर्थ वेदका अध्ययन और तदर्थ व्रत धारण करना है। (ख) श्रीसायणाचार्यने इस सूक्तमें आये 'ब्रह्मचर्य' और 'ब्रह्मचारी' पदोंकी ऐसी ही व्याख्या की है। जैसेकि—'ब्रह्मचारीष्णंश्चरति' ब्रह्मणि-वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी' १७ मन्त्रकी व्याख्यामें 'ब्रह्म-वेदः, तदध्ययनार्थमाचर्यं कर्म ब्रह्मचर्यम्'। कोई कारण नहीं कि-'ब्रह्मचर्य' के इस अर्थको कन्याके ब्रह्मचर्य-प्रतिपादक उक्त मन्त्रमें न माना जाए। (ग) 'मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये कार्य-सम्प्रत्ययः' यह सर्वशास्त्रसम्मत-सिद्धान्त है। (घ) 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाऽश्वो घासं-जिगीर्षति' का अर्थ अनेक विद्वानोंने वात्स्यायन-कामशास्त्र आदिके अनुसार वृषभ और अश्वसंज्ञक पुरुष किया है, जो ब्रह्मचर्यके बलसे ही भोज्य-पदार्थोका भोग कर सकते हैं' (एक सिद्धान्तालङ्कार, 'सार्वदेशिक' जून १९४६)।

उत्तरपक्ष—'ब्रह्मचर्येण कन्या' इस मन्त्रसे वादी लोग कन्याका वेदाध्ययन सिद्ध करना चाहते हैं, पर उन्हें इसमें सफलता नहीं मिल सकती। कारण यह है कि-इस मन्त्रमें उपस्थसंयमार्थक ब्रह्मचर्यका ही निरूपण है, वेदाध्ययनका नहीं। 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' यह उक्त मन्त्र का पूर्वार्ध है, उसका उत्तरार्ध है—'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण अश्वो घासं जिगीर्षति'। दोनों स्थानोंमें 'ब्रह्मचर्य' शब्द भी समान हैं, विभक्ति भी दोनोंमें समान है, हेत्वर्थमें तृतीया भी दोनों स्थानोंमें समान है, दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकता भी समान है, अतः पूर्वार्ध-उत्तरार्ध दोनों स्थानोंमें अर्थ भी समान होगा, क्योंकि-एक ही मन्त्र वा पद्यके उपक्रम तथा उपसंहारमें, निपुण-ग्रन्थकारको समान ही अर्थ इष्ट होता है।

जब उद्दिष्ट-शब्दका प्रतिनिर्देश विवक्षित हो, तो कवि भग्नप्रक्रम-दोषकी उपस्थितिकी आशङ्कासे उसका पर्यायवाचक भी नहीं दे सकता, भिन्नार्थक-शब्दका रखना तो दूरकी बात रही। 'उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये भवेत्' में 'उदये सविता रक्तस्ताम्रश्चास्तमये भवेत्' इस प्रकार

'रक्त' का पर्यायवाचक 'ताम्र' शब्द भी जब नहीं रखा जा सकता, क्योंकि-वैसा करने पर भग्नप्रक्रम दोष उपस्थित हो जाता है, तब उससे भिन्नार्थक 'उदये सविता रक्तः पीतश्चास्तमये भवेत्' इस प्रकार भिन्नार्थक 'पीत' शब्द कैसे रखा जा सकता है, क्योंकि-'सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता' इस उत्तरार्धके कारण उसकी उदयास्त समयमें समानता ही विवक्षित होनी है। इससे सिद्ध हुआ कि-उद्दिष्ट और फिर प्रतिनिर्दिष्ट शब्दका अर्थ समान ही हुआ करता है, तभी दोनों स्थान वही शब्द रखा जाता है।

इसी प्रकार उक्त मन्त्रके पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें भी जान लेना चाहिए। पूर्वार्धमें ही उद्दिष्ट 'ब्रह्मचर्य' शब्दको उत्तरार्धमें प्रतिनिर्दिष्ट (पुनर्निर्दिष्ट) किया जाता है, तब उद्देश-प्रतिनिर्देशवश दोनों शब्दोंका अर्थ भी समान ही हुआ करता है। यह न्याय भी प्रसिद्ध है—'येनोपक्रम्यते येन चोपसंह्रियते, स एव वाक्यार्थः'। यदि पूर्वार्धमें उद्दिष्ट 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ 'वेदाध्ययन' किया जाय, और उत्तरार्धमें भी प्रतिनिर्दिष्ट 'ब्रह्मचर्य' शब्दका 'उपस्थसंयम' अर्थ किया जाए, तो दोनों स्थलोंमें संगति नहीं पड़ती, क्योंकि-उत्तरार्धका अर्थ है कि-बैल तथा घोड़ा भी ब्रह्मचर्यके बलसे ही घासको पचा सकते हैं, तब क्या यहाँ वादी 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ 'वेदाध्ययन' कर सकता है? क्या कभी घास पचानेमें कारण वेदाध्ययन हो सकता है? क्या बैल तथा घोड़ा कभी वेद पढ़ सकते हैं? 'आलोक'-पाठक देख रहे हैं कि-यह लोग जनताको किस प्रकार ठगा करते हैं। 'कन्या' 'वेदाध्ययन' से युवक पतिको लेती है, और घोड़ा-बैल 'उपस्थसंयम' से घासको पचाता है, क्या इस अर्थमें पूर्वार्ध-उत्तरार्धका अर्थसामञ्जस्य है? मानना पड़ेगा कि-नहीं।

जैसे उत्तरार्धमें घास पचानेमें कारण ब्रह्मचर्य-उपस्थसंयम ही है, वेदाध्ययन नहीं, वैसे ही पूर्वार्धमें भी पतिवेदनमें कारण ब्रह्मचर्य-उपस्थसंयम ही हो सकता है; वेदाध्ययन नहीं। इसी एक अर्थमें ही पूर्वार्ध

एवं उत्तरार्धका सामञ्जस्य हो जाता है; और भग्नप्रक्रमदोष नहीं रहता। जो स्त्रियाँ वेदाध्ययन नहीं करतीं, क्या उनको युवक पति नहीं मिला करते? फिर तो मुसलमानिन तथा ईसाइन स्त्रियाँ तो गईं, उनको युवक पति ही न मिलेगा। सनातनधर्मी स्त्रियोंको भी युवक-पति नहीं मिलेगा। आर्यसमाजमें भी वेदाध्ययन करने वाली हजारमें एक-आध मिलेगी, शेष को युवक-पति न मिलेगा, प्रत्युत वादिसम्मत हारीत-वचनके अनुसार सद्योवधुएं ब्रह्मवादिनी न होनेसे वेदाध्ययन नहीं करतीं, तब उनको हारीतका विना वेदाध्ययनके पतिप्रदान वादीके अनुसार भी वेद-विरुद्ध सिद्ध होगा; तब वादी हारीत-वचन देनेका अधिकारी कैसे है—यह आगे सूचित होगा। इस प्रकार वादीके अर्थमें स्पष्ट असामञ्जस्य एवं अयुक्तता है।

वास्तवमें पूर्वार्धमें कही हुई बात की कि—कन्या उपस्थसंयमसे ही युवा पतिको वेदन करनेमें समर्थ हो सकती है—इस बातकी सिद्धिकेलिए ही उत्तरार्धमें दृष्टान्त दिया गया है। दृष्टान्तसे बैल तथा घोड़ेकी घास-परिपाक क्रियामें वेदाध्ययनसे कोई प्रयोजन नहीं, किन्तु वहाँ उपस्थसंयम प्रयोजनीय हुआ करता है, क्योंकि उसी उपस्थसंयमसे आभ्यन्तरिक शक्तिकी स्थिरताके कारण घास ठीक-ठीक पच जाता है, नहीं तो बैल आदि पशुओंको दस्त लग जाया करते हैं, इसी प्रकार 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं' इस पूर्वार्धमें भी पतिवेदनकी शक्यतामें वेदाध्ययनसे कोई सम्बन्ध नहीं, विना भी वेदाध्ययन किये हिन्दु लड़कियाँ पतिको ले सका ही तो करती हैं, परन्तु यदि वे गुप्तेन्द्रियका संयम न करेंगी, कच्ची आयुमें उससे छेड़-छाड़ करेंगी, तो वे युवा-पतिके वेदनमें समर्थ न हो सकेंगी। 'योगदर्शन' व्यासभाष्यमें कहा है—'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियोपस्थस्य संयमः' (२।३०)।

तब इसका आशय यह हुआ कि—यदि लड़की अपनी इन्द्रियका संयम नहीं करेगी, कई वस्तुओंसे उसे छेड़ेगी, जैसे कि—आजकलके गुरुकुल वा स्कूलोंके छात्रावासकी लड़कियोंमें यह अपवाद सुना जाता है, तब प्रदर आदि प्रारम्भ होनेसे अशक्ति हो जानेके कारण वह युवा पतिके समागम को न सह सकेगी। तब पीड़ावश पतिके साथ सदा उसका कलह होता रहेगा। इस प्रकारकी कन्या युवा-पतिवेदनके अयोग्य होती है—यही लक्ष्य करके वेदादि-शास्त्रोंने कन्याकेलिए उपस्थसंयमरूप ब्रह्मचर्य निर्दिष्ट किया। इसलिए दृष्टान्त भी घोड़े आदिके घास-परिपाकादिका दिया गया कि—घोड़ा-बैल घासके पचानेमें जैसे उपस्थसंयमका उपयोग पा सकते हैं, वैसे ही कन्या भी युवा-पतिको उपस्थसंयमके उपयोगसे ही प्राप्त कर सकेगी, अन्यथा नहीं। पहले तो कन्याके असंयमका अपवाद अथवा व्यभिचारादिकी प्रकृति सुनकर पति ही उसको न लेना चाहेगा, तथा वह भी पतिको लेने वा उसके उपयोगमें सक्षम न होगी—यह आशय है। यह ग्रामीण बालिकाएं भी जानती हैं। माता-पिता भी अपनी सन्तानको इस विषयमें संकेतसे शिक्षा दे ही देते हैं। इस प्रकार उक्त मन्त्रके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध तथा उपक्रम एवं उपसंहारके सामञ्जस्य हो जानेसे वेदको इस मन्त्रमें 'ब्रह्मचर्य' का 'उपस्थसंयम' ही अर्थ इष्ट है, वेदाध्ययन नहीं। ११।५।२०-२१ मन्त्रमें ओषधियों, पशु, पक्षियों तथा वनस्पतियोंका भी 'ब्रह्मचारी' होना बताया है। प्रथम 'संस्कारविधि' में स्वा.द.जीने भी ऐसा ही अर्थ माना है, तब इस सूक्तमें 'ब्रह्मचारी' तथा 'ब्रह्मचर्य' का 'उपस्थसंयम' ही अर्थ इष्ट हुआ, क्योंकि—पशु-पक्षियोंका 'वेदाध्ययन' अर्थ कभी घट ही नहीं सकता।

वेदाध्ययनात्मक-ब्रह्मचर्यका तो उक्त सूक्तके आदिम एक-आध मन्त्रमें वर्णन है, वहां 'ब्रह्मचारी दीर्घश्मश्रुः' (अथर्व. ११।५।६-३) इत्यादि-लिङ्गसे पुरुषका ही ग्रहण इष्ट है, कन्याका नहीं, क्योंकि 'दीर्घश्मश्रु' (बड़ी दाढ़ी मूछोंवाला) पुरुष ही होगा; स्त्री नहीं। इस विषयमें स्पष्टता आगे होगी। ब्रह्मचारी—रेतोनिरोधक भी पुरुष ही होगा; स्त्री नहीं। क्योंकि स्त्रीमें वीर्य-नामक धातु होती ही नहीं। यदि रजको ही उसका वीर्य माना जाए, तो रजका निग्रह भी वह कर नहीं सकती। प्रतिमास उसका स्राव हुआ ही करता है, जिसके कारण पराशरस्मृतिके (७।२०)

अनुसार वह चाण्डाली, ब्रह्मघातिनी, रजकी आदिम तीन दिनोंकेलिए मानी जाती है। तब क्या चाण्डाल आदिका उपनयन वा वेदारम्भ शास्त्र-के मतमें होता है? रजोनिग्रहमें तो कन्याको सिरदर्द आदि कष्ट होंगे। शरीरमें दुर्बलता होगी। पुरुष यदि शुक्रनिरोध करेगा; तो उसकी पुष्टि होगी। यदि रज शुक्र होता, तो शुक्र वाले पुरुषके समान रजवाली स्त्रीके भी दाढ़ी-मूछें होतीं।

इसके अतिरिक्त उपनयन-व्रतमें स्वा.द.जीने भी 'क्षुरकृत्यं वर्जय' (१४) स्वयमिन्द्रिय-स्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय, वीर्यं शरीरे संरक्ष्य ऊर्ध्वरेताः सततं भव (१५) (सं.वि.पृ. ९३) इत्यादि जो नियम लिखे हैं, यह बालकोंमें ही समन्वित होते हैं—बालिकाओंमें नहीं। तब स्त्रीका उसनयनमें अधिकार न होनेसे उसे क्रमिक वेदाध्ययनमें भी अधिकार नहीं। वैवाहिक क्वाचित्क मन्त्रोंको 'तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' (याज्ञ. १।२।१३) 'नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः। विवाहो मन्त्रतस्तस्याः' (व्यासस्मृति १।१५-१६) 'स्त्रीणाम-मन्त्रतस्तानि विवाहस्तु समन्त्रकः' (अग्निपुराण १५३।११) 'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।' (मनु. २।६६) 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' (२।६७) 'एताः क्रियाः स्त्रीणाममन्त्रकाः, तासां समन्त्रको विवाह' (वृहद्-विष्णुस्मृति २६।१३-१४) इत्यादि अपवाद-वचनोंसे वह ऋत्विग् आदिके आश्रयसे भले ही बोल ले, परन्तु उसका क्रमिक एवं वैध वेदाध्ययनमें कोई अधिकार नहीं। तब वादीका पक्ष निरस्त हो गया।

(ख) ब्रह्मचर्य शब्दको जो श्रीसायणका 'वेदाध्ययन' अर्थ दिया जाता है, इसपर यह जानना चाहिए कि—श्रीसायणको भी 'ब्रह्मचर्येण कन्या' में कन्याका 'उपस्थसंयम' अर्थ ही इष्ट है। उक्त मन्त्रके उत्तरार्धमें उसने लिखा है—'किं बहुना, पशुजातिरपि ब्रह्मचर्येण स्वाभिलषितं फलं लभते इत्याह—अनड्वानिति। अनो वहन् पुङ्गवः ब्रह्मचर्येण—ऊर्ध्वरेतस्क-

त्वादिना धर्मेण अनोवहनादिकं स्वकार्यं निर्वर्तयन् उत्कृष्टं पतिं लभते। तथा अश्वो ब्रह्मचर्येण घासं-भक्षणीयं तृणादिकं जिगीर्षति-भक्षितुमिच्छति'। इस प्रकार १७ मन्त्रमें भी श्रीसायणको ब्रह्मचर्य-'ऊर्ध्वरेतस्कत्वादिकम्' इष्ट है। यदि श्रीसायण कन्याओंका इस मन्त्रसे वेदाध्ययन मानते, तो सर्ववेद-भाष्यकार होते हुए वे अपने वेदभाष्यकी भूमिकाओंमें स्त्री-शूद्रोंको वेदाधिकारका निषेध सिद्धान्तित न करते, देखिये ऋग्वेदभाष्योपोद्घातमें श्रीसायणके शब्द 'तदुभय (धर्म-ब्रह्म) ज्ञानार्थी वेदेधिकारी, स च त्रैवर्णिकः पुरुषः। स्त्री-शूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायाम् उपनयनाभावेन अध्ययन-राहित्याद् वेदेधिकारः प्रतिबद्धः (अवरुद्धः)। [यहाँ पाठान्तर 'प्रतिषिद्धः' भी है।] धर्म-ब्रह्मज्ञानं तु पुराणादिमुखेन उत्पद्यते। तस्मात् त्रैवर्णिक-पुरुषाणां वेदमुखेन अर्थज्ञानाधिकारः'।

इसी प्रकार श्रीसायणने तैत्तिरीयसंहिता तथा ऐतरेयब्राह्मणकी भाष्य-भूमिकामें भी लिखा है—'ननु एवं सति स्त्री-शूद्र-संहिताः सर्वेपि वेदा-धिकारिणः स्युः, इष्टं मे स्याद् अनिष्टं मा भूदिति आशिषः सार्वजनीन-त्वात्? मैवम्—स्त्री-शूद्रयोः सत्यपि उपायबोधार्थित्वे हेत्वन्तरेण वेदाधि-कारस्य प्रतिब [धि] द्धत्वाद् उपनीतस्यैव अध्ययनाधिकारं ब्रुवत् शास्त्रम् अनुपनीतयोः स्त्री-शूद्रयोर्वेदाध्ययनमनिष्टप्राप्तिरिति बोधयति। कथं तर्हि तयोः [स्त्री।शूद्रयोः] तदुपायावगमः? पुराणादिभिरिति ब्रूमः। अत एवोक्तम्—'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। इति भारतमा ख्यानं कृपया मुनिना कृतम्' इति। तस्माद् उपनीतैरेव त्रैवर्णिकैः [त्रैवर्णिक-पुरुषैः] वेदस्य सम्बन्ध इति'। इससे स्पष्ट है कि—'ब्रह्मचर्येण कन्या' मन्त्रमें श्रीसायणको कन्याओंका ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन इष्ट नहीं, किन्तु उपस्थसंयम ही इष्ट है।

(ग) यहाँपर 'मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये कार्य-सम्प्रत्ययः' यह व्याकरणकी परिभाषा भी नहीं घटती। स्वा.द.जीने पारिभाषिकके १० पृष्ठमें इसका अर्थ यह किया है—गौण और मुख्य दोनोंमें एक कालमें एक कार्य प्राप्त

हो; तो मुख्यमें कार्य होवे, और गौणमें नहीं' इस अर्थका समन्वय ही नहीं। नहीं तो फिर कन्याके ब्रह्मचर्यमे 'उपस्थसंयम' अर्थ कभी हो भी नहीं, असम्भव हो जाय, पर ऐसा नहीं। बल्कि कन्याओंकेलिए 'उपस्थसंयम' अर्थ ही मुख्य है। वेदाध्ययनकी कोई बात भी नहीं।

अन्य यह बात है कि—वेदाध्ययनकेलिए शुक्र-निग्रह करना मुख्य ब्रह्मचर्य होता है, पर स्त्रीमें तो शुक्र ही नहीं होता। इसका ज्ञापक है कि–वह 'दीर्घश्मश्रु' नहीं। श्मश्रुहीनतासे स्पष्ट है कि–वह शुक्र-हीन है। शुक्रहीनतामें शुक्रनिग्रह कैसे? जब शुक्रनिग्रह नहीं, तब उसका ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन कैसा? तब स्त्रीका 'ब्रह्मचर्य' उपस्थनिग्रहमें पर्यवसित हो जानेसे वही मुख्य रहता है, वेदाध्ययन मुख्य नहीं। तब उपस्थापित परिभाषा भी हमारे ही पक्षकी अनुग्राहक है। वेदको भी यही इष्ट है। इसलिए वेदको ब्रह्मचारी भी 'दीर्घश्मश्रु:' (अ. ११।५।६) ही इष्ट है। वह स्त्रीमें नहीं घट सकता, पुरुषमें ही घटता है, इसीलिए 'ब्रह्मचारिणम्' (अ. ११।५।३) 'ब्रह्मचारी' (अ. ११।५।६) यह पुंल्लिङ्ग शब्द आया है, स्त्रीलिङ्गान्त नहीं। यदि यहांपर जातिपक्षसे कन्याका ग्रहण वेदको इष्ट होता, तो 'ब्रह्मचर्येण कन्या' (११।५।१८) में उसका पुनर्ग्रहण वा पृथक ग्रहण न होता। पृथक्-ग्रहणसे उक्त सूक्तमें जातिपक्ष बाधित है, और यहाँ कन्याका पशुपक्षियों आदिकी तरह पृथक्-प्रोक्त 'ब्रह्मचर्य' शब्द उपस्थसंयम-अर्थ वाला ही है, वेदाध्ययन अर्थ वाला नहीं–वह स्पष्ट है।

तब 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण' इस उत्तरार्धके अनुरोधसे 'ब्रह्मचर्येण कन्या' इस पूर्वार्धमें भी कन्याके ब्रह्मचर्यका अर्थ 'उपस्थसंयम' ही है। तभी दृष्टान्तसे साम्य हो सकता है। 'वेदाध्ययन' अर्थ करनेपर तो 'विषम-उपन्यास' हो जायगा। कन्याके वेदाध्ययन अर्थमें यहाँ कोई उपपत्ति भी तो नहीं, क्योंकि–बिना वेद पढ़े भी कन्या उपस्थसंयममात्रसे युवा पतिको प्राप्त कर ही सकती है। उपस्थसंयम-अर्थमें सोपपत्तिकता तो प्रत्यक्ष है ही; क्योंकि–उपस्थनिग्रहके बिना वह युवकपतिवेदनके योग्य हो न सकेगी। जो लड़कियाँ कच्ची आयुमें कृत्रिम-साधनोंसे उपस्थको छेड़ती है,

पीछे उनकी दुर्दशा होती है, वे युवा पतिके योग्य नहीं रहतीं, यही यहाँ निष्कर्ष है। वेद पढ़नेकी यहाँ कोई बात ही नहीं।

जब यहाँ वादीका अर्थ 'सिद्ध' ही नहीं, तब इस प्रकारके स्त्रीवेदान-धिकारसम्बन्धी, स्मृतिवचन वेदविरुद्ध भी नहीं कहे जा सकते। हमने वेदका हृदय खोलकर रख दिया है। जैसे 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति' (अ. ११।५।१७) इस मन्त्रका अनुवाद 'मनुस्मृति' में 'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः' (७।४४) इस रूपमें आया है, वैसे ही 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' (अ. ११।५।१८) का भी अनुवाद शास्त्रोंमें 'सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मण्यमैथुनी' (मनु. ३।५) 'कन्याम-स्पृष्टमैथुनामुपयच्छेत' (मानवगृ. १।७।८) 'अस्पृष्टमैथुनां भार्यां विन्देत' (वसिष्ठ ८।१) 'नग्निकां ब्रह्मचारिणीम् (अकृतमैथनाम्–इति मातृदत्तः) भार्यामुपयच्छेत' (हिरण्यकेशीगृ. १९।१।१) 'अक्षतयोनिः' इत्यादिरूपमें मिलता है। तब इस मन्त्रका लक्ष्य उपस्थसंयमवाली कन्याका विवाह है। इसलिए श्रीपाददामोदर-सातवलेकरजीने अपने अथर्ववेदभाष्यके इस सूक्त में कहा है—'ब्रह्मचर्यका तात्पर्य यहाँ संयमसे है' (पृ. १५१) 'इस मन्त्रमें स्त्री-जातिके ब्रह्मचर्यकी भी सूचना हो गई है' (पृ. १५२)।

(घ) जो कि—वादीने 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण' इस उत्तरार्धमें काम-शास्त्रके अनुसार अश्व-वृषभ संज्ञक मनुष्य यह अर्थ करनेकी चेष्टा की है; यह क्यों? क्या पाठकोंने इसका रहस्य समझा! वह रहस्य यह है कि–'ब्रह्मचर्येण' कन्या' का उत्तरार्ध 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण' है। यह उत्तरार्ध ऐसा प्रबल प्रमाण है, जिससे कोई पूर्वार्धके 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ 'वेदाध्ययन' कर ही नहीं सकता, क्योंकि बैल वा घोड़े को वेद पढ़ाना अनुपपन्न है, अतः यहाँ उपस्थसंयम ही अर्थ है; इसी दृष्टान्तके अनुरोधसे पूर्वार्धमें भी कन्याका ब्रह्मचर्य वादियोंको भी वैवश्यसे 'उपस्थसंयम' ही मानना पड़ता है। तभी स्वा.द.जीने भी जहाँ-जहाँ यह मन्त्र दिया, वहाँ-वहाँ इस मन्त्रका उत्तरार्ध लोकदृष्टिसे छिपा दिया। तब 'उपस्थसंयम' अर्थ हो जानेसे यह

प्रमाण वादियोंके कामका नहीं रहता, अन्य भी कोई प्रमाण इस विषयका मिलता नहीं, अतः वादीने सोचा कि–अनड्वान् तथा अश्वका 'पुरुष' अर्थ कर दिया जाय, पशु अर्थ ही न रहे; न वेदाध्ययनकी असम्भवताकी झंझट आये, तब पुरुष अर्थ करनेपर तो 'ब्रह्मचर्य' का 'वेदाध्ययन' यह अर्थ कोई भी निषिद्ध वा असम्भव सिद्ध न कर सकेगा। इसलिए वे कामशास्त्रकी ओर दौड़े, और वेदमें यौगिकताके अपने सिद्धान्तसे गिर कर यहां इनको पारिभाषिक वा संज्ञारूप वा रूढि-शब्द माना। अनेक विद्वान् तो क्या, एक भी प्राचीन विद्वान्ने उक्त 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण' मन्त्रमें ऐसा अर्थ नहीं माना, पर 'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' यह न्याय यहां सार्थक हुआ; हमारा इष्ट अर्थ स्वयं वादीके मुखसे निकल पड़ा।

अब वादीसे प्रष्टव्य है कि–'वृषभ तथा अश्वसंज्ञक पुरुष ब्रह्मचर्यके बलसे भोग्यको पचा सकते हैं, इस वादीके अर्थमें 'ब्रह्मचर्य' शब्दका अर्थ 'उपस्थसंयम है, या वेदाध्ययन ?' बस इसीसे शास्त्रार्थका निर्णय हो जायगा। यदि यहाँ 'ब्रह्मचर्यके बलसे' का अर्थ 'वेदाध्ययन' है, तब भोज्य पदार्थको पचानेमें वेदाध्ययनको हेतु रखना हेत्वाभास है, क्योंकि–वहाँ निरुपपत्तिकता है। हाँ, उपस्थसंयम अर्थ करनेसे सोपपत्तिकता है, क्योंकि–अश्व तथा वृषभ-संज्ञक पुरुष भी यदि उपस्थसंयम न करेंगे, तो भोज्य-पदार्थ न पचा सकेंगे। कामशास्त्रमें उपस्थसंयमका सम्बन्ध तो हो सकता है, वेदाध्ययनका नहीं। इस प्रकारके अर्थानुसार भी जब उक्त मन्त्रके उत्तरार्धमें उपस्थसंयम अर्थ है, तो इस दृष्टान्तके अनुरोधसे पूर्वार्धमें भी कन्याके 'ब्रह्मचर्य' का 'उपस्थसंयम' अर्थ होगा। भोज्यपदार्थकी पाक-क्रियामें भी हेतु ब्रह्मचर्य उपस्थसंयमका बल होता है, न कि वेदाध्ययन का बल। कन्याके युवकपति-वेदनकी क्रियामें भी हेतु ब्रह्मचर्य-उपस्थसंयम का ही बल होता है, न कि वेदाध्ययनका बल—इस प्रकार वादियोंकी वालुकाभित्ति सर्वथा गिर गई—जिसे वे कभी खड़ा कर ही नहीं सकते। यह 'आलोक' पाठकोंने देख लिया।

द्विज-पुरुषोंका ब्रह्मचर्य यदि वेदाध्ययन अर्थ रखता हो, तो स्त्रीके ब्रह्मचर्यका भी वही अर्थ हो–यह आवश्यक नहीं है। क्या रजस्वलः पुरुषः, रजस्वला स्त्रीका अर्थ बराबर हो जाता है ? प्रथम संस्कार-विधिमें स्वा. दयानन्दजीने 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण' का अर्थ करते हुए लिखा है–'बैल और घोड़ा पशु हैं, तथापि ब्रह्मचर्याश्रम करके युवावस्थामें मैथुनासक्त होते हैं, पूर्व नहीं ! जब पशु भी ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं, सूर्य, ओषधि, रात्रि, दिवस, वनस्पति, संवत्सर और ऋतु आदि भी ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं, तो मनुष्योंको क्यों न करना' (७०-७१ पृष्ठ) यहाँ ब्रह्मचर्याश्रमका अर्थ स्पष्टतया उपस्थसंयम ही है, वेदाध्ययन नहीं, नहीं तो पशु, वनस्पति आदिमें वह कैसे घट सके ? इस सूक्तमें आये हुए 'दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः' (११।५।६-३) इस 'दीर्घश्मश्रुः' लिङ्गसे 'स्त्रीका वेदाध्ययन' इष्ट नहीं। इससे स्पष्ट है कि–'ब्रह्मचर्येण कन्या' मन्त्रसे स्त्रियोंका वेदाध्ययनाधिकार किसी भी रूपसे सिद्ध नहीं हो सकता 'कौमार, कुमारी, ब्रह्मचारिणी' (शल्यपर्व. ५४।६, ४८।२) आदिमें भी कुमारावस्थासे ही उपस्थसंयमवती अर्थ है, जैसे कि-कहते हैं कि 'वे बाल-ब्रह्मचारी थे' तब इससे वादीकी कोई इष्टसिद्धि नहीं।

(ख) 'दीर्घश्मश्रु' की स्पष्टता।

कई व्यक्ति कहा करते हैं कि–'मन्त्रभागका ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं; जहाँ स्त्री एवं शूद्रोंके उपनयन एवं वेदाधिकारका स्पष्ट निषेध हो'; इसपर उत्तर यह है कि–'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं' (११।५।३) यह अथर्ववेदका मन्त्र स्त्रियोंके उपनयन एवं वेदाधिकारका स्पष्ट निषेधक है।

इस सूक्तमें ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन तथा उपस्थसंयमरूपसे दो प्रकारका बताया गया है। इस मन्त्रमें तो वेदाध्ययन जिसका मूल उपनयन है–

रूप ब्रह्मचर्यका निरूपण है, तथा एक-आध अन्य मन्त्रमें भी। शेष सभी मन्त्रोंमें 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ 'उपस्थसंयम' ही है।

उक्त-मन्त्रमें 'ब्रह्मचारिणं' यह पुंलिङ्गान्त है, स्त्रीलिङ्गान्त नहीं; तब इससे स्त्रियोंका उपनयन नहीं हो सकता है। जब उपनयन ही नहीं; तब स्त्रीका वेदाधिकार कैसा ?

यहाँ जातिपक्षसे 'ब्रह्मचारिणम्' से 'ब्रह्मचारिणी' लड़कीका ग्रहण वेदको इष्ट होता, तब 'ब्रह्मचर्येण कन्या' (अ. ११।५।१८) में 'कन्या' के पृथक् ग्रहणकी आवश्यकता नहीं थी। यदि पृथक् ग्रहण किया गया है; तो स्पष्ट है कि–'ब्रह्मचारिणं' से यहाँ 'ब्रह्मचारिणी' इष्ट नहीं। उक्त मन्त्रमें 'ब्रह्मचारिणं' में पुंलिङ्ग विवक्षित है, अविवक्षित नहीं।

कन्या वाले मन्त्रमें 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ भी पृथक् ग्रहणवश पूर्ववाले मन्त्रसे भिन्न है; नहीं तो अलग मन्त्रकी आवश्यकता नहीं थी। सो यहाँ 'कन्याके ब्रह्मचर्य' से उसका 'उपस्थनिग्रह' अर्थ इष्ट है, वेदाध्ययन वा उपनयन अर्थ नहीं। तभी तो 'ब्रह्मचर्येण कन्या' इस मन्त्रके उत्तरार्धमें घोड़े-बैलके ब्रह्मचर्यसे उपमित किया गया है। घोड़े-बैलके 'ब्रह्मचर्य'में 'वेदाध्ययन' अर्थका संघटन नहीं हो सकता है, किन्तु 'उपस्थसंयम' का ही। इस अर्थमें भी मुख्य अर्थ 'शुक्रनिग्रह' का ही होता है। स्त्रीमें तो शुक्र होता ही नहीं; तब उसका निग्रह कैसा ? अत: उसमें 'ब्रह्मचर्य' का 'वेदाध्ययन' अर्थ भी नहीं। इसपर गत निबन्धमें स्पष्टता हो चुकी है।

तब मन्त्रभागको पुरुषोंका ही ब्रह्मचर्य उपनयनपूर्वक-वेदाध्ययन तथा शुक्रनिग्रह इष्ट है। स्त्रियोंका वेदाध्ययन नहीं। तभी वेदने 'ब्रह्मचारी एति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः' (अथर्व. ११।५।६) यह शब्द कहकर वेदाध्ययन-रूप ब्रह्मचर्य पुरुषकेलिए बताया है, स्त्रीकेलिए नहीं।

उक्त मन्त्रमें 'दीर्घश्मश्रुः' तथा 'ब्रह्मचारी' यह दो पद स्त्रियोंके

वेदाधिकारको खण्डित करते हैं। वह ऐसे कि–स्त्रीमें पुरुषत्व न होनेके कारण शुक्र न होनेसे स्त्री 'ब्रह्मचारी' भी नहीं; और 'दीर्घश्मश्रु' भी नहीं।

'श्मश्रु' (दाढी-मूछें) शुक्र वालों की होती हैं, शुक्रहीनोंकी नहीं। तब स्त्री तथा नपुंसकोंके शुक्रहीन एवं दाढ़ी-मूंछहीन होनेसे वास्तविक ब्रह्मचर्य न होनेसे उनकी आन्तरिक अपूर्णताके कारण वेदके आभ्यन्तरिक स्वर आदिके उच्चारणकी अविकल शक्ति न होनेसे 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा' के अनुसार वह मन्त्रोच्चारण हानिप्रद सिद्ध हो जाता है। अत: स्त्रीको मन्त्रभागका औत्सर्गिक अधिकार इष्ट नहीं।

यद्यपि पुरुष होनेसे शुक्रकी सत्तावश फिर शूद्रको वेदाधिकार प्रसक्त होता है; तथापि 'वेद-माता'...द्विजानाम्' (अथर्व. १९।७१।१) में 'द्विज' पद आनेसे 'अद्विज' शूद्रादिका निषेध हो जाता है।

(ख) प्रश्न—कोई पुरुष वा स्त्री पूर्ण आयु प्राप्त होकर शुक्रहीन नहीं होते। पुरुषमें जो 'शुक्र' होता है, वही स्त्रीमें 'रज' होता है। अथवा स्त्रीको शुक्रहीन माना भी जावे; तब ५-८ वर्षके द्विज-बालकको जब वेदका उपदेश होता है, उस समय उस बच्चेमें १४ वर्षसे पूर्व शुक्रोदय नहीं होता; तब ५-८ वर्षके द्विज-बालकको वेदोपदेश कैसा ?

वेदमन्त्रोंका शुद्ध उच्चारण तो द्विज वा अद्विज सभी स्त्री-पुरुषोंके लिए है। केवल स्त्री-शूद्रोंकेलिए नहीं। इस प्रकारके कर्मकाण्डी पण्डित भी दीखते हैं, जिनका उच्चारण भ्रष्ट होता है, उन्हें वेदमन्त्र देनेका कोई विरोध नहीं करता; तब स्त्री-शूद्रोंके वेदके अपूर्णोच्चारणमें उन्हें वेदका निरोध क्यों ?

(उत्तर) स्त्री तो युवति होकर भी शुक्रहीन ही रहती है। उसमें शुक्र नामक वस्तु होती ही नहीं। तभी तो दो स्त्रिके संयोगमें भी हड्डी-आदिसे रहित की उत्पत्ति आयुर्वेदके ग्रन्थ,सुश्रुत आदिमें लिखी है। दो शुक्रोंसे कभी उत्पत्ति होती भी नहीं, किन्तु शुक्र-शोणितके योगसे

ही उत्पत्ति होती है। जब पुरुषमें भी शुक्र है; और स्त्रीमें भी यदि शुक्र है; तब दोनोंके संयोगमें उत्पत्ति ही कैसे हो सकती है; अत: स्पष्ट है कि–स्त्रीमें शुक्र होता ही नहीं।

तभी कृष्णयजुर्वेदमें स्त्रियोंको 'निरिन्द्रिय' (निर्वीर्य) कहा गया है–'तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया:' (तै.सं. ६।५।८।२)। मनुस्मृतिमें भी कहा है—'निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रिय:' (९।१८)। इसी प्रकार महाभारत में भी है। 'इन्द्रिय' का अर्थ यहाँ 'शुक्र' है। उसमें 'पुनर्मा एतु 'इन्द्रियम्' (अथर्व. ७।६७।१) यह मन्त्र ज्ञापक है। देखो मनुस्मृति (२।१८१)।

स्त्रीमें शुक्र न होनेसे ही उसके मुखपर दाढ़ी-मूछें नहीं आतीं। तब वादीका यह कथन कि–'जो पुरुषमें शुक्र है; वही स्त्रीमें रज है' यह बात कट गई। शुक्र 'सोम्य' होता है, और रज 'आग्नेय'। तब इनके धर्मभेदसे भी इनकी एकता कट गई। 'अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा, यद् विरुद्धधर्माध्यास: कारणभेदश्च'।

यदि शुक्र-शोणित दोनों ही शुक्र धातु हैं; तब स्त्रीके **दाढ़ी-मूंछ भी क्यों नहीं होते?** जबकि–अथर्व. में ब्रह्मचारीकेलिए 'ब्रह्मचारी एति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रु:' (११।५।६) आया है।

इस मन्त्रमें स्थित 'ब्रह्मचारी' का आशय 'शुक्रनिरोधक' है। स्त्रीका रज यदि 'शुक्र' है; तब क्या वह उसका निरोध कर सकती है? बल्कि १२ वर्षोंके बाद उसका रज प्रतिमास स्रुत होता रहता है। तब वह 'ब्रह्मचारी' नहीं। शुक्र होनेसे पुरुषमें पूर्णता होती है, वह वेदके सभी स्वरोंका उच्चारण कर सकता है। स्त्रीमें शुक्र न होनेसे उसमें अपूर्णता होती है। तब वह वेदके सभी स्वरोंका ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर पाती। अत: उसे वेदका औत्सर्गिक-अधिकार भी नहीं दिया गया। तब ब्रह्मचर्याश्रममूलक उपनयन-वेदादिमें स्त्रीका औत्सर्गिक अधिकार नहीं होता।

स्त्रीके 'रज' को 'पुष्प' कहा जाता है; वह प्रकट होकर प्रकृतिका

इङ्गित प्रकट करता है कि–अब इस पुष्पमें 'फल' लगना चाहिये। सो यह प्रकृतिका इङ्गित है कि–रजके प्राकट्यसे पूर्व उसका विवाह करो। फिर फल-सन्ततिमें बाधा न डालो। तब यह प्रकृतिका इङ्गित इसमें उसका उपस्थसंयममें न होकर उस संयमको पतिद्वारा समाप्त करनेमें है। विद्यामें स्त्रीकी बहुत प्रवृत्तिसे स्त्रीकी हानि ही सम्भावित है, यह हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं।

निष्कर्ष यह है कि–पिताके थोड़े शुक्रसे, माताके अधिक रजसे कन्या का शरीर बनता है। शुक्र सप्तम धातु हैं, और रज तृतीय। इस कारण रज शुक्रकी अपेक्षा निर्बल होता है। शुक्रसे हड्डी आदि कठोर तथा शरीरकी सबलता करनेवाले अवयव बनते हैं।

कन्याके शरीरमें अस्थि आदि शरीरको दृढ करनेवाले अवयवोंकी गौणता होती है, रजोमूलक कोमल पदार्थोंकी प्रधानता होती है। इसलिए कन्या पुरुषकी अपेक्षा निर्बल स्वभाव-सिद्ध होती है। इसलिए वेदमें भी स्त्रियोंको अबला कहा गया है (ऋ. ५।३०।१९)। तब उसका प्रबल-परिश्रमसे साध्य वेदवेदाङ्गादिमें जिसमें भरद्वाज आदि ऋषियोंको भी अन्य कई शतकोंकी आयु मांगनी पड़ी थी, उसमें प्रवृत्त कराना लौकिक-दृष्टिसे भी ठीक नहीं है।

इसलिए ही 'स्त्रिया अशास्यं मन:, उतो अह क्रतुं रघुम्' (ऋ. ८।३३।१७) इस मन्त्रका अर्थ करते हुए सुधारक श्रीपाददामोदर सातवलेकर ने अपने 'ऋग्वेदके सुबोधभाष्य' में 'मेधातिथि ऋषिके दर्शन' (पृ. ७२) में अर्थ करते हुए कहा है—'स्त्रियोंके मनको संयममें रखना कठिन है। स्त्रियोंके मनपर काबू करना अशक्य है। स्त्रियोंके कर्म छोटे होते हैं। उन [स्त्रियों]का सामर्थ्य कम होता है। उनकी बुद्धि छोटी होती है'।

जिस बेचारीने गर्भ धारण करना है, प्रसवके कष्टोंको उठाना है, घरके सब काम-धन्धोंको करना है; उसीको फिर असिधारा-व्रतके समान वेदवेदाङ्गादिमें नियुक्त करना—यह उसपर अत्याचार करना है। उनके

स्वास्थ्यपर आघात करना है। उनके मस्तिष्कको हानि पहुंचाना है। इस विषयमें स्पष्टता अन्यत्र की गई है।

(ग) पूर्वपक्ष—'ब्रह्मचारी एति...दीर्घश्मश्रुः' (अ. ११।५।६) इस मन्त्रमें आपने 'दीर्घश्मश्रुः' का अर्थ 'दाढ़ी-मूंछवाला' अर्थ करके इस लिङ्गसे पुरुषका ही ब्रह्मचर्य (वेदाधिकार) सिद्ध किया है। स्त्रियोंके दाढ़ी-मूंछें न होनेसे उक्त लिङ्गसे उन्हें वेदाध्ययन निषिद्ध किया है। पर यह ठीक नहीं। वेदमें रूढि शब्द नहीं होते, इसलिए 'श्मश्रु' शब्दका 'लोम' अर्थ है, 'दाढ़ी-मूंछ' अर्थ नहीं। इस कारण निरुक्तमें भी कहा गया है—'श्म-शरीरम्। श्मश्रु लोम, श्मनि (शरीरे) श्रितं भवति' (३।५।२) तव स्त्रीमें भी लोमोंकी सत्ता होनेसे वह भी 'दीर्घश्मश्रु' सिद्ध हो गई; और उसका उपनयन एवं वेदाधिकार सिद्ध हो गया।

उत्तरपक्ष—यह वेदमें केवल यौगिकतावादी एक दयानन्दीकी सम्भावित शङ्का है। इसपर यह जानना चाहिये कि—यद्यपि निरुक्तमें 'श्मश्रु' शब्दका लोम अर्थ किया गया है; तथापि 'श्मश्रु' शब्द वेदादि-सभी शास्त्रोंमें 'पुरुषके मुख वा चिवुकके लोमों' केलिए प्रयुक्त होता है। स्त्रीके लोमोंकेलिए 'श्मश्रु' शब्दका प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ करता। तव 'श्मश्रु' शब्द व्युत्पत्तिमान् होता हुआ भी योगरूढ है—'श्मनि-मुख-शरीरे श्रितम्' यह उसका विग्रह है। जाँघ वा शिरमें स्थित लोमोंका कहीं भी 'श्मश्रु' शब्दसे ग्रहण नहीं देखा गया है। इसलिए विधवाके शिरोमुण्डनपर वेदमें 'विकेशी' (अथर्व. ११।९।७) शब्द तो आया है—'विश्मश्रुः' शब्द कहीं नहीं आया। जब तक पूर्वपक्षी जांघ वा सिरके वालोंका नाम वेदोंमें 'श्मश्रु' शब्दसे न दिखला दे; तब तक उसका पक्ष असिद्ध ही रहेगा।

इसलिए पूर्वपक्षीके स्वामी दयानन्दजीने संस्कारविधिमें 'दीर्घश्मश्रुः' उक्त मन्त्रके अर्थ करनेके अवसरपर (९८ पृष्ठमें) 'दीर्घश्मश्रुः' का 'चालीस वर्षतक दाढ़ी-मूछ आदि पञ्च-केशोंका धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है' यह लिखा है। वहाँ स्त्रीका ग्रहण असम्भव ही है। ४० वर्ष तक स्त्री केश रखे, और फिर उन्हें मुण्डवा दे—यह सम्भव नहीं। फिर उसके दस वर्ष रजोधर्मके वचेंगे, उस समय उसके विवाहका कुछ लाभ भी नहीं। स्वामी भी उसकेलिए २४ वर्ष रख गये हैं। सो ४० वर्षतक स्वा.द.के अनुसार स्त्री 'दीर्घश्मश्रु' न होनेसे उसका वेदाध्ययना-धिकार सिद्ध न हुआ। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि—वेदोंमें शब्द केवल यौगिक नहीं, योगरूढ भी होते हैं।

इसलिए अथर्ववेद गोपथब्राह्मणमें भी लिखा है—'पुमांसः श्मश्रुवन्तः, अश्मश्रुवः स्त्रियः' (१।३।७)। (पुरुष श्मश्रुवाले होते हैं; स्त्रियां श्मश्रु वाली नहीं होतीं।) इसलिए आर्यसमाजके सञ्चालक स्वा.द.जीने भी अपने 'उणादिकोश' में 'श्मश्रु' के लिए लिखा है—'श्मनि-मुखे श्रयतीति, श्मश्रु-पुरुषमुखरोमाणि' (५।२८) श्मश्रुका मुखमें होना वताकर वादीके पक्षको काट दिया है।

वादितोषन्यायसे 'श्मश्रु' शब्दका 'शरीराश्रितलोम' अर्थ भी माना जावे; फिर भी उससे वेदको स्त्रीका ग्रहण इष्ट नहीं, किन्तु पुरुष का ही ग्रहण इष्ट है, क्योंकि वेदमें 'दीर्घश्मश्रु' शब्द आया है; सो 'दीर्घलोमा' पुरुष ही होता है, स्त्री नहीं। उसके तो सारे शरीरमें पुरुषकी भांति लोम नहीं होते। उसके मुख, चिवुक भागमें केश होते ही नहीं। छाती पर भी उसके केश नहीं होते, कान आदि पर भी नहीं होते। जहाँ होते हैं, वहाँ तनु लोम ही होते हैं, दीर्घ केश नहीं होते। इस कारण वादीकी इष्ट-सिद्धि नहीं; तव उक्त-स्थलमें पुरुषका ग्रहण इष्ट होनेसे वादीका स्त्री-वेदाधिकार तथा उपनयनपक्ष निराकृत हो गया।

वास्तवमें वेदको भी 'श्मश्रु' से 'मुखलोम' ही इष्ट है। इसलिए यजुर्वेद-माध्यंसं.में एक मन्त्र आया है—'आत्मनुपस्थे न वृकस्य लोम, मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम। केशा न शीर्षन् यशसे श्रियै शिखा, सिं॑हस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि' (यजुः १९।९२) इस मन्त्रमें मुख-

लोमोंको वेदमें स्पष्ट ही 'श्मश्रु' कहा है। इसलिए यजुः-महीधरभाष्यमें भी लिखा है—'श्मश्रूणि-मुखलोमानि'।

आर्यसमाजी श्रीआर्यमुनिजीने भी अपने 'मीमांसार्यभाष्य' (३।८।४) में 'मृता वा त्वक् अमेध्या यत्-केशश्मश्रु'। इस श्रुतिको उद्धृत करके 'केश' और 'श्मश्रु' को पृथक्-पृथक् बताया है। तब 'श्मश्रु' का 'केश-सामान्य' अर्थ निरस्त हो गया। इसलिए 'लाट्यायन श्रौतसूत्र' में 'श्मश्रूणि वापयेत्, न केशान्' (९।२।२१) यहाँपर 'श्मश्रु' का 'केश' से पृथक् ग्रहण किया है।

इस प्रकार 'श्मश्रु प्रवपति शुन्धि मुखम्' (१।२१०।१४) 'मानवगृह्य-सूत्र' के इस सूत्रमें भी 'श्मश्रु' की सत्ता मुखमें ही बताई हैं। इसी तरह 'श्मश्रूणि अग्रे वापयते, अथ केशान्, अथ लोमानि' (हिरण्यकेशिगृ. ३।९) में भी 'श्मश्रु' केश वा लोमोंसे पृथक् कहे गये हैं। इसी भाँति 'वपसि केश-श्मश्रु' (अथर्व. ८।२।१९) में भी 'श्मश्रु' का केशोंसे पार्थक्य बताया है।

'केश-श्मश्रु-लोमनखानि-इत्युक्तं पुरस्तात्' (४।११।६) इस आश्व-लायनगृ. में जिसे स्वा.द.ने भी 'अन्त्येष्टि' (पृ. २८९) में उद्धृत किया है। केश-श्मश्रु आदिको पृथक्-पृथक् कहा गया है। इसलिए अथर्ववेद-गोपथब्रा. में भी 'श्मश्रुका सम्बन्ध पुरुषोंसे कहा गया है, स्त्रियोंसे नहीं—'पुमांसः-श्मश्रुवन्तः अश्मश्रुवः स्त्रियः' (१।३।७) तब 'दीर्घश्मश्रुः' (अथर्व. ११।५।६) इस वेदके लिङ्गसे स्त्रीका उपनयन तथा वेदका अधिकार कट गया।

---

(३) वेदकी ऋषिकाएं।

पूर्वपक्ष—'बृहद्देवता' (२।८४-८६) के अनुसार गोधा, विश्ववारा घोषा, अपाला, उपनिषद्, निपद्, रोमशा, सूर्या, ब्रह्मजाया, जुहू, अदिति, इन्द्राणी, सरमा, उर्वशी, लोपामुद्रा, यमी, रात्रि, इत्यादि शतशः ऋषि-काएं वैदिककालमें हुई, जो ऋ. १०।१३४, ५।२८, १०।३९, ४०; ८।९१, १०,८५, १०।४०, १०।१५१, १०।८६, १०।९५, १०।१०७, ५।२८, १०।१०९, ३।१७९, १०।१५४, १०।१५९, १०।१८९ सूक्तोंकी ऋषिका हैं, जो ब्रह्मवादिनी नामसे कही जाती हैं। इनकी उपस्थितिमें किसी भी विद्वान्‌को यह साहस नहीं हो सकता कि—स्त्रियोंको वेदाध्ययन वा अध्यापन का अधिकार नहीं, यह कह सके? (सार्वदेशिक जून १९४६)।

उत्तरपक्ष—यह प्रश्न बड़े-बड़े विद्वानोंको भी मोहमें डाले हुए है। इस पर यह जानना चाहिए कि ऋषि मनुष्यसे भिन्न एक योनिविशेष है। जैसे कि—'मनुष्य-देव-ऋषि-पितृगणाः प्रजापतेर्मानसा आख्याताः' (प्रशस्त-पादभाष्य सृष्टिसंहार-विधिनिरूपण) 'देवा मनुष्या, असुराः, पितरः, ऋषयः' (अथर्वसं. १०।१०।२६) 'अथ अतर्पयत् चतुरः चतुर्धा देवान्, मनुष्यान्, असुरान् उत ऋषीन्' (अ. ८।९।२४) '[मनुष्य-जातिः] पशूनुद्दिश्य श्रेयसी, देवान्, ऋषींश्च अधिकृत्य न' (योगदर्शन व्यासभाष्य ४।३३) शाङ्खायनगृ. (६।६।१२४४), मनुस्मृति (१।३६) ऐतरेय-ब्राह्मण (६।१,७।३) शतपथ (१४।४।२।२१) 'मनुष्या वा ऋषिषु उत्क्रामत्सु' (निरु. १३।१२) 'ऋषीणां, देवतानां च मानुषाणां च सर्वशः। पृथिव्यां सहवासोभूद् रामे राज्ञि प्रशासति' [महा. द्रोणपर्व ५९।१२] इत्यादि बहुतसे प्रमाणोंमें ऋषि मनुष्य-भिन्न योनि सिद्ध होते हैं। आर्य-समाजी श्रीभगवद्दत्तजीने 'भारतवर्षका बृहद् इतिहास' प्रथम भाग [१४० पृष्ठकी टिप्पणीमें] लिखा है—'देव, ऋषि और मनुष्यका भेद न समझ कर पं० शिवशंकर काव्यतीर्थने अपने उपनिषद्-भाष्यके उपोद्घातमें 'सहस्रसंवत्सर' (मी. ६।७।१३) इस सूत्रका अधूरा अर्थ किया है; और ऋषियोंकी आयु भी मनुष्यवत् सीमित करनेकी भूल की है"।

इससे ऋषियोंकी मनुष्योंसे भिन्नता सिद्ध होती है। ऋषि वा ऋषिका भिन्न योनि होनेसे अयोनिज होते हैं। वैशेषिक-दर्शनके प्रशस्तपादभाष्यमें

कहा गया है—'तत्र अयोनिजम् अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देव-ऋषीणां शरीरं धर्म-सहितेभ्योऽणुभ्यो जायते' (द्रव्यग्रन्थ, पृथिवी-निरूपण) यहाँ देवता एवं ऋषियोंके शरीरकी मनुष्योंके शरीरसे विलक्षणता तथा अयोनिजता दिखलाकर ऋषियोंकी मनुष्योंसे भिन्नता बताई गई है।

इससे ऋषि एक प्रकारके अवतार सिद्ध होते हैं। जैसेकि—श्रीकृष्णावतार आदि अभौतिक दिव्य शरीर वाले थे, और वे मनुष्योंके घर भी हुए। 'ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञे च मानुषाणाम्' (१।८४।२) यहाँ भी ऋषियों और मनुष्योंका पृथक्-पृथक् ग्रहण होनेसे दोनोंका परस्पर भेद स्पष्ट है।

ऋषियोंका अयोनिजत्व देखिये—विश्वामित्र ऋषिकी उत्पत्ति चरुसे हुई थी। वसिष्ठ ब्रह्माके मानसपुत्र थे। अगस्त्यने लोपामुद्रा ऋषिकाको अपनी तपस्याद्वारा अयोनिज ही उत्पन्न किया था—यह महाभारतके वन-पर्व ९६ अध्यायमें स्पष्ट है। अगस्त्य तथा वसिष्ठ भी विना स्त्रीके शोणितके योगसे उर्वशीसे मानसिक उत्पन्न हुए। सूर्या-यमी आदि ऋषिकाएं देवता हैं, सो वह भी अयोनिज सिद्ध हैं। यह मानुषी नहीं हैं। तब अयोनिज ऋषिकाओंके दृष्टान्तसे मानुषियोंको वेदाधिकार सिद्ध नहीं हो सकता। वादी भी वेद-मन्त्रोंको नियत मानते हैं, इस प्रकार उनके ऋषि-ऋषिका भी नियत हैं, उनसे भिन्न अन्य नहीं हो सकते। कहीं उनका नाम-भेद लेखकोंके भ्रमसे, भिन्न निर्माताके मतभेदसे, अथवा कल्पभेदवश वा नामान्तर होनेके कारणसे हुआ है। उत्सर्गके अपवाद भी हुआ करते हैं। उनमें ऋषिकाएं तो अत्यन्त न्यून हैं, अंगुलि-गणनीय हैं। इन ऋषिकाओंने वेद पढ़े नहीं, किन्तु विना ही अध्ययनके, उनको कई मन्त्र [न कि सारा वेद] अतर्कित ही स्वयं प्रतिभात हो गए, जैसे कि—निरुक्त (२।११।१) के भाष्यमें श्रीदुर्गाचार्यने लिखा है—'अनधीतमेव तत्त्वतो ददृशुः'। इससे सर्वसाधारण-स्त्रियोंका सम्पूर्ण-वेदाध्ययनमें अधिकार कैसे सिद्ध हो सकता है?

संक्षिप्त निष्कर्ष यह है कि—ऋषिकाएं विशेष मन्त्रोंकी द्रष्ट्री हुआ करती हैं। न तो उन्होंने उन मन्त्रोंका गुरुमुखसे क्रमिक विधिपूर्वक अध्ययन ही किया है, न उन्होंने उन मन्त्रोंकी रचना ही की। उनको तो एक-आध मन्त्र अतर्कित ही प्रतिभातमात्र हो जाते हैं, उन्हें इसके लिए पढ़ने-लिखनेका परिश्रम विना किये ही वे मन्त्र स्फुरितमात्र हो जाते हैं। जैसे कि—श्रीवाल्मीकिको निषाद-द्वारा क्रौञ्च मारनेके समय 'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः' यह कविता स्वयं ही स्फुरित हो गई थी। अथवा जैसे कि—कइयोंको सुश्रुत-चरकानुसार भूतोन्माद हो जाया करता है, वे अश्रुत-पूर्व कई संस्कृत-श्लोकोंको बोलने लग जाया करते हैं। जैसेकि—'चरक-संहिता' के चिकित्सित-स्थानमें इसका लक्षण कहा है—'अमर्त्यवाग्-विक्रमवीर्य-चेष्टा-ज्ञानादि विज्ञानबलादिभिर्यः। उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत् तम्' (९।१५) 'बद्धावद्धप्रभाषिण... पिशाचोन्मत्तं विद्यात्' (९।-५) 'वेदमन्त्रशास्त्रोदाहरणैः...ब्रह्मराक्षसोन्मत्तं विद्यात्' (९।२५) यहाँ पर भूतावेशमें पुरुषको अमर्त्यवाणी तथा वेदमन्त्र बोलनेवाला कहा है।

हमारे लाजपतनगरमें ३-४-६२ को सिर हिला-हिला कर वेदमन्त्र बोलनेवाला एक पुरुष आया था। उसका मन्त्रोंका उच्चारण कुछ अस्पष्ट था; और वे मन्त्र प्रायः वर्तमान-वेदोंमें भी नहीं मिलते थे। उसे आर्यसमाजके श्रीसुरेन्द्रशर्मा गौर, शृङ्गी ऋषिकी आत्मा वा अवतार मानते हैं। यह उन्होंने 'वैदिकधर्म' पत्रमें लिखा था। हम यह नहीं कहते कि—वह सचमुच ऋषि था। हाँ, ऋषियोंका भी यही तरीका था कि—उनके मुखसे अनायास वेदमन्त्र जो पहले लुप्त थे—निकल पड़ते थे। चाहे वे मनुष्ययोनिमें आविर्भूत थे; अथवा पशु-पक्षियोनिमें थे।

इसी प्रकार 'सुश्रुत-संहिता' के उत्तरतन्त्रमें भी कहा है—'गुह्यानागत-विज्ञानम् अनवस्थाऽसहिष्णुता। क्रिया वाऽमानुषी यस्मिन् स-ग्रहः परिकीर्त्यते' (६।४) यहाँ पर गुह्य और अनागत पदार्थोंका ज्ञान हो जाना

और अमानुषिककर्मता, विशेष-ग्रहगृहीततामें बताई गई है। इसमें कोई पढ़ने-लिखनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे कि वह सिर हिला-हिलाकर मन्त्र बोलने वाला आर्यसमाजी पुरुष पढ़ा-लिखा हुआ नहीं है। इसी भूतविद्याके बलसे कई मीडियम बनने वाली स्त्रियोंके मुखसे परोक्ष-बहुत दूर ठहरे हुए लोगोंकी वातचीत निकल रही होती है, और दूरके दृश्यका वर्णन किया जा रहा होता है। वहाँ चित्र भी आ जाता है।

[ख] अथवा-जैसे सन्त ज्ञानेश्वर-द्वारा सिर पर हाथ रखे जानेसे एक भैंसा 'सहस्रीशीर्षा पुरुषः' आदि मन्त्र बोल उठा, यह उसके जीवन-चरित्र में प्रसिद्ध है, और टाकी सिनेमाओंमें दिखाया भी जाता है [ग] अथवा जैसे हिपनोटिज्म आदि विद्याओंमें किसी पुरुष वा स्त्रीको बेहोश करके काले कपड़ेसे ढककर सुला दिया जाता है। उस तमाशेको दिखलाने वाला द्रष्टाओंको कहता है कि-जो प्रश्न पूछना है, मेरे कानमें कह दो, तो यह बेहोश उस प्रश्नको भी सुना देगा, और उसका उत्तर भी दे देगा, वैसा ही यह आजकल प्रत्यक्ष भी है। वहाँ यह बेहोश उस प्रश्नको सुन नहीं रहा होता, पर उसका नायक उस प्रश्नको सुनता है, वह उस सोए हुए में स्वय संक्रांत हो जाता है, सोये हुएको सुननेके परिश्रमकी आवश्यकता नहीं रहती। वही सोया हुआ-जिसका मुख काले कपड़ेसे ढका हुआ होता है; वह वहाँसे जा रहे हुए मोटरका नम्बर भी बता देता है। वहांसे गुज़र रहे हुए टांगेकी सवारियोंकी संख्या भी बता रहा होता है।

(घ) अथवा कई लड़कियाँ ऐसी देखी-सुनी जाती हैं, जो पिछले जन्मका अपना वृत्त बताती हैं, गत जन्ममें उन्होंने कहीं धन गाड़ा हो, उसको इस जन्ममें बता देती हैं, गत जन्मके अब तक विद्यमान संबंधियोंको पहचान भी लेती हैं, वही लड़कियां गत जन्ममें यदि वेद-पाठी ब्राह्मण रही हों, तो विलक्षण-कर्मवश गत-जन्मके स्मृत वेदमन्त्रोंको बिना वेद पढ़े भी बोल सकती हैं। इस विषयमें रामायण-महाभारतादिमें वेदवतीका इतिहास देखा जा सकता है, हम इस पर आगे लिखेंगे। [ङ] अथवा गर्भावस्थामें अर्जुनके बताये हुए चक्रव्यूहके प्रवेशको जिस प्रकार अभिमन्युने सीख लिया, बड़े होनेपर बिना सीखे भी उसे वह ज्ञान रह गया था। उस चक्रव्यूहसे निर्गमनके प्रकारको वह सुभद्राको नींद आ जानेके कारण गर्भावस्थामें न सुन सका था—इसलिए बड़ी आयुमें युद्धावसरमें वह उसमें फेल हो जानेसे मारा गया। यदि इसी प्रकार गर्भमें कोई विलक्षण संस्कारोपेत लड़की हो, पुनः-पुनः अपने पिताके बोले हुए वेदमन्त्रोंको गर्भावस्थामें सुननेसे उसके संस्कार उसमें प्ररूढ हो जावें, और उत्पन्न होकर फिर ज्ञानावस्थामें उन मन्त्रोंको अपने संस्कारवश विना पढ़े-लिखे ही स्वयं बोल उठे। [च] अथवा—जिस प्रकार जादूगर अपने जादूसे ही कोई बात किसी जड़ वस्तुसे भी कहला दे, वैसे ही ऋषिकाओंको वा ब्रह्मवादिनियोंको वेदमन्त्र अतर्कित प्रतिभात हो जानेकी बात भी याद रख लेनी चाहिये।

इन बातोंसे न तो यह सिद्ध होता है कि सन्त ज्ञानेश्वरका भैंसा वेद पढ़ा-लिखा था, न उस अपवादसे अन्य भैंसोंका भी वेदमें अधिकार हो जाता है। ऋग्वेद (८।६७।५) का सूक्त जालमें बन्धे मत्स्योंके मुखसे निकल पड़ा था, अतएव उसके वही ऋषि माने गये। जैसेकि निरुक्तकार-ने लिखा है—'जीवान्नो अभिचेतन-मत्स्यानां जालमापन्नानामेतद् आर्ष वेदयन्ते' (नि. ६।२७।१) यही बात 'आर्षानुक्रमणी' में 'जालेन नद्धा वहवो हि मत्स्याः' (८।२६) तथा 'बृहद् देवता' (६।८६-९०) में कही गई है। आर्यसमाजके वैदिक-यन्त्रालय अजमेरकी छपी मूल 'ऋग्वेद-संहिता' के ४५४ पृष्ठमें भी 'वहवो वा मत्स्या जाल-वद्धा ऋषयः' लिखी गई हैं। इससे न उन मछलियोंका वेद पढ़ना सिद्ध हो जाता है, न इससे अन्य मत्स्योंका वेदमें अधिकार होता है। इसी प्रकार 'सरमा' नामकी शुनी भी ऋ. १०।१०८।२-४ आदि मन्त्रोंकी द्रष्टी मानी गई है, निरुक्त [११।२५।१] में श्रीयास्क तथा 'ऐतरेयालोचन' 'सरमा दिव्यगुणोपेता, अतस्तन्नामिका सुशिक्षिता कुक्कुरी' [पृ. ३१] श्रीसामश्रमी भी यह मान

गये हैं, तो क्या उस कुतियाका वेद पढ़ना माना जायगा ? कभी नहीं।

आजकल कई बैल, कहे हुए पुरुषके पास पहुंच जाते हैं। किसीके जेबमें इत्रकी शीशी हो, उसके पास जाकर ठहर जाते हैं; केवल उन ऋषियोंकी भान्ति बोल नहीं सकते। पर ऋषियोंमें अलौकिक शक्तिवश वे बोल भी सकते थे। जैसे कि-शृङ्गी पक्षिणीके चार ऋषि लड़के जरितर आदि बोल सकते थे-यह हम आगे बतावेंगे।

केवल यहाँ यह जाना जाता है कि-किसी देवताकी प्रेरणाविशेषसे, **बिना भी वेद पढ़े** किसी विशिष्ट दिव्य, आरूढपतित वा संस्कारी पशु-पक्षी वा मनुष्यके **मुखसे अनायास मन्त्र** निकल पड़ा करते हैं। इसी दिव्यतावश उसे 'ऋषि' कहा जाता है। वे ऋषि साधारण मनुष्य वा लौकिक पशु-पक्षियोंसे विलक्षण माने जाया करते हैं, उनके दृष्टान्तसे सर्वसाधारणका वेदमें अधिकार सिद्ध नहीं हो जाता।

'ताण्ड्य-महाब्राह्मण' (१३।३।२४।१-३) तथा 'मनुस्मृति' (२।१५१-१५२) में आङ्गिरस लघुवयस्क शिशुकी मन्त्रदर्शनकी कथा आती है। उसने उन मन्त्रोंको देखा, जिन्हें उनके पिता-पितृव्य आदि भी नहीं जानते थे, और वे उन्हें पढ़नेकेलिए शिशुके पास गये। वह उन वृद्धोंको भी 'पुत्रो!' ऐसा पढ़ानेके समय कहता था, पर इस उदाहरणसे लघु-शिशुओं का वेदमन्त्रमें अधिकार नहीं हो जाता।

इस प्रकार **वैदिक-ऋषिकाओंके** मुखसे भी स्वयं **विना ही** उनकी इच्छा या **अध्ययनके कई मन्त्र** प्रकट हो गये। इससे अन्य (अनृषि) स्त्रियोंका वेदमन्त्रोंमें अधिकार थोड़े ही हो जायगा। आर्यसमाजके मान्य श्रीप्रियरत्न-आर्षजी तो 'वेदमें इतिहास नहीं' इस अपनी पुस्तकके ४२, ४३, ४५, ४६, ४८, ६१ आदि पृष्ठोंमें भी वैदिक-ऋषिकाओंको मनुष्य-व्यक्ति-विशेष न मानकर आकाशीय पदार्थ मानते हैं। उनमें प्राय: देवता होनेसे यह बात सम्भव भी है। उनके एक-दो उद्धरण वादियोंके दर्शनार्थ उद्धृत किये जाते हैं—

'मन्त्रोंके ऋषि क्वचित् नदी (ऋ. ३।३३।४) पर्वत (८।१२।३), सूर्यकी चक्षु (१०।१५८।४), कूर्म (यजु: ३३।५१) मत्स्य (ऋ. ८।६७।६) शंख (१०।१५।७) कपोत १०।१६५।८), श्येन १०।१८८।६), ऋषभ (३।१३।४) हैं, क्या ये पदार्थ भी कभी मन्त्रोंके कर्ता हो सकते हैं? (पृ. ९) उपर्युक्त हेतुओंसे यह समझमें आ सकता है कि-सम्बन्धोंके कारण **वैदिक-ऋषिकाओंको मनुष्योंका वाचक** बताना सर्वथा अनुचित है' (पृ. २६) 'मन्त्रोंमें छन्द देवता, ऋषि भी नित्य [पदार्थ] हैं' (पृ. ४२) इत्यादि। आशा है आर्यसमाजी लोग अपने मान्य-महोदयका अपमान न करेंगे। फलत: इन **ऋषिकाओंके दृष्टान्तसे मानुषी स्त्रियोंका वेदाधिकार सिद्ध न हो सका** क्योंकि-ऋषिकाएं तो बहुत थोडी सी हैं, अत: अपवाद हैं। विशेष बात यह है कि इन ऋषिकाओंको सम्पूर्ण वेद प्रतिभात न होकर एक-दो मन्त्र ही अतर्कित स्फुरित हुए, तभी इन ऋषिकाओंके दृष्टान्तका बड़े संरम्भसे देते हुए आर्यसमाजियोंके नेता स्वा.द.जीने चार **ऋषि-पुरुषोंमें** ही एक-एक वेदका अवतरण माना है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि इन चारोंमें उनके अनुसार परमात्माने **न तो एक भी शूद्र रखा, न ही एक भी स्त्री रखी**। इसीलिए स्वा.द. द्वारा कोई नवीन-विनष्ट मन्त्र समाधिद्वारा न देखे जानेसे हम उन्हें ऋषि नहीं मानते। केवल ये ही क्या, पाणिनि, पतञ्जलि, यास्क आदिको भी हम इसी कारण 'ऋषि' नहीं कहते। तब परमात्माकी दृष्टिमें भी स्त्री-शूद्रको वेदाधिकार देना-यह वादियोंका पक्ष अयुक्त सिद्ध हुआ। तब एक-दो मन्त्रोंकी दर्शिका अंगुलिगणनीय ऋषिकाओंके दृष्टान्तसे सर्वसाधारण-स्त्रियोंका सम्पूर्ण वेदमें क्रमिक एवं वैध अधिकार जैसे कि मनुजीने कहा है-'क्रमेण विधिपूर्वकम्' (२।१७३) सिद्ध न हो सका, यह विज्ञ पाठकोंने सम्यक्तया समझ लिया होगा। और इससे भ्रान्त पूर्वपक्षियोंका भ्रम हट गया होगा।

---

(४) हारीतवचन, यमवचन, गोभिल-वचनपर विचार ।

(क) पूर्वपक्ष–इन्हीं ब्रह्मवादिनियोंके विषयमें हारीत-स्मृतिमें लिखा है–'तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम् अग्नीन्धनं. वेदाध्ययनं. स्वगृहे भिक्षा-चर्येति । इस प्रकार 'यमस्मृति' में भी प्राचीनकालकी आर्यमर्यादाके उल्लेखके अवसरमें कहा है–'पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते । अध्यापन च वेदानां सावित्री-वाचनं तथा' । अर्थात् प्राचीन शास्त्र-विधिके अनुसार कुमारियोंका उपनयन तथा वेदाध्ययन था । यह वचन आजकलके पंडितोंने हारीतस्मृति तथा यमस्मृतिसे उड़ा दिये हैं, तथापि 'पराशर-माधवीय' (आचारकाण्ड १, अ. २ पृ. ८२) में उद्धृत किये गये हैं । इसलिए वेदमें भी 'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता' (ऋ. १०।१३९।४) केवल ब्रह्म-ब्रह्मज्ञान-सम्पन्न विदुषीका 'उपनीता' यह विशेषण आया है । केवल ब्रह्म-वादिनियोंका ही उपनयन नहीं, अपितु 'सद्योवधू' नामकी साधारण स्त्री-का उपनयन भी हारीतने माना है–'सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहकाले कथञ्चिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः' । इससे सिद्ध होता है कि–सभी स्त्रियोंका उपनयन संस्कार होता था ।

(ख) हारीत-संहितामें यह भी कहा है–'नहि शूद्रसमाः स्त्रियः, नहि शूद्रयोनौ ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्या जायन्ते । तस्मात् छन्दसा स्त्रियः संस्कार्याः' (२१।२३) अर्थात् स्त्रियाँ शूद्रोंके समान नहीं, शूद्रोंके गर्भसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य उत्पन्न नहीं होते । इसलिए स्त्रियोंके सब संस्कार वेदमन्त्र सहित होने चाहियें (सार्वदेशिक जुलाई १९४६) । इसलिए गोभिल-गृह्यसूत्रमें वधूकेलिए 'यज्ञोपवीतिनीम्' (२।१।१९) यह विशेषण दिया है । उसका धुरन्धर विद्वान् श्रीसत्यव्रतसामश्रमीने 'यज्ञोपवीतयुताम्' यज्ञोपवीत-वाली यह अर्थ किया है । यह अर्थ बिल्कुल सरल है । म.म. पं. शिवदत्तजीने भी सिद्धान्तकौमुदीकी तथा जैमिनि-न्यायमालाकी टिप्पणीमें इस सूत्रका यही अर्थ माना है । उसका 'यज्ञोपवीतवत् कृतोत्तरीयाम्' यह कइयोंसे किया जाता हुआ अर्थ खींचातानीका है । 'पारस्करगृह्यसूत्र' के समय

वैदिक-मर्यादाका कुछ लोप हो गया था, इसलिए उसमें 'स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च' यह लेख सन् १९३६ के 'सिद्धविनायक काशी' के छपे संस्करण पृ. ८४ में मिलता है, इससे स्पष्ट है कि–उस समय आर्य-स्त्रियोंका उपनयन होता था, (एक सिद्धान्तालंकार) (सार्वदेशिक जून १९४६) ।

उत्तरपक्ष—हम इस पूर्वपक्षका भिन्न-भिन्न शीर्षकोंसे उत्तर देंगे । वादीके दिये हुए ब्रह्मवादिनीके हारीतप्रोक्त वचनसे सर्वसाधारण-स्त्रियोंकी वेदादि-पठनकी सिद्धि कभी हो नहीं सकती । ब्रह्मवादिनी वे ऋषिकाएं, नियत थोड़ी-सी स्त्रियाँ होती हैं, जो वैदिक-कालकी हैं, जिन्हें कल्पारम्भमें थोड़े-से मन्त्र स्फुरित हुए थे–यह हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं । यह हारीत-वचन उन्हींसे सम्बन्ध रखता है, सर्वसाधारण स्त्रियोंसे नहीं । वादी सिद्धान्तालंकारके ('सार्वदेशिक' जून १९४६ पृष्ठ १६२ स्तम्भ १ पं. १०-११) में यही शब्द हैं—'इन्हीं ब्रह्मवादिनी (घोषा आदि वैदिककालोत्पन्न ऋषिकाओं) स्त्रियोंके विषयमें हारीत-स्मृतिमें लिखा है ।'

यह वचन 'हारीतस्मृति' में तो है नहीं; क्योंकि–उसमें गद्यकी शैली ही नहीं, न उसमें ऐसा प्रकरण है, तब 'पण्डितों-द्वारा उसमेंसे यह वचन उड़ा लेना' ऐसा वादीका आक्षेप अन्याय्य है । हाँ, कोई 'हारीत-धर्मसूत्र' पृथक् रहा हो, यह अन्य बात है । वादीको उक्त वचन 'पराशरमाधवीय'-में मिला है, वादीने देखा होगा कि–वहाँ पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष किये गये हैं । [पू.] 'ननु' असंस्कृतायाः कन्यायाः कुतो लोकास्तवानघे' (महा. शल्यपर्व ५१।१२) इति वचने विवाहरहिताया उत्तमलोकाभाव उक्तः, सोऽनुपपन्नः, विवाहरहितानामपि ब्रह्मवादिनीनाम् उपनयनाध्यापनादिभिरुत्तमलोक-सम्भवात् । अतएव हारीतेनोक्तम् 'द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च' इत्यादि, [उत्तरपक्षः] मैवम्–तस्य (हारीत-वचनस्य) कल्पान्तरविषयत्वात् । तथाच यमः–'पुरा कल्पे [कल्पारम्भे] कुमारीणाम् इत्यादि' ।

इस पूर्व और उत्तरपक्षसे सिद्ध होता है कि–हारीतको 'ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ सारी आयु अविवाहित होकर रहें' यह इष्ट है। इससे विरुद्ध चलने वाली कई अपवाद-स्त्रियाँ भी हो सकती हैं, जिनका 'पति' कहा गया हो, अथवा वह उनका विवाहित-पति न हो, किन्तु 'रक्षक' हो, जैसे कि–म.म. पं० शिवदत्तजीने ब्रह्मवादिनियोंके विषयमें 'आर्यविद्यासुधाकर' के ८४ पृष्ठकी टिप्पणीमें कहा है—'पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्' इत्यत्रोपात्तः पतिः-शब्दो रक्षक-पर एव, न पाणिग्राहपरः, ब्रह्मवादिनीनां पाणिग्राहस्य असम्भवात् ।...ब्रह्मवादिनीनां पितृगोत्रप्रवर-वेद-शाखानामेव यावज्जीवं सत्त्वात् (यतः सा यावज्जीवं विवाहं न करोति)'। सर्वायु कुमारी ब्रह्म-वादिनियोंकी ही प्रतिद्वन्द्वितामें हारीतने दूसरा भेद 'सद्योवधू' रखा है। सद्योवधूका अर्थ है 'जिनका विवाह होना हो'। तब जब हारीतके मतमें ब्रह्मवादिनियोंका सारी आयु विवाह ही नहीं होता, अन्यथा उस [पराशर-माधवीय] का 'ननु असंस्कृतायाः' इत्यादि प्रश्न ही व्यर्थ है। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीनरदेव-शास्त्रीजीने भी हारीतके मतका अनुवाद करते हुए लिखा है—'स्मृति-ग्रन्थोंको देखनेसे दो प्रकारकी स्त्रियोंके विधान हैं—सद्योवधू वह जिनका उपनयन-संस्कार विवाह-संस्कारके साथ ही हो। ब्रह्मवादिनी वह जिनका बाल्यावस्थामें ही यज्ञोपवीत हो, और जो आमरण ब्रह्मचर्य-व्रतमें स्थित (अविवाहित ही) रहें'। (आर्यसमाजका इतिहास प्रथम भाग ११८ पृष्ठ)। 'पुरा कल्पे कुमारीणाम्' इस यम-वचनका 'कुमारी' शब्द भी ब्रह्मवादिनियोंका कौमार्य ही बताता है। वादीने भी अपनी 'भारतीय समाज शास्त्र' (प्र.सं.) पुस्तकके १८५ पृष्ठमें लिखा है—'ब्रह्मवादिनियोंको नैष्ठिक-ब्रह्मचारिणी और कौमार-ब्रह्म-चारिणीके नामसे भी पुकारा गया है; जिससे मालूम होता है कि–वे जीवन-भर ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहती हुईं आध्यात्मिक विद्याओंके पढ़ने-पढ़ाने और प्रचार करनेमें अपना समय लगाती थीं'। म.म. शिवदत्तजीकी सम्मति पहले लिखी ही जा चुकी है। इनके सदाके ब्रह्मचर्यका रहस्य आगे देखिये।

जब ऐसा है, तो 'ब्रह्मवादिनी' बनना सर्वसाधारण स्त्रियोंका विषय न रहा, यह एक विरल-अपवाद ही बना; क्योंकि करोड़ोंमें भी कोई एक ही स्त्री कदाचित् निकले, जो विवाह न करे। वादीके स्वामी दयानन्दजी भी लिखते हैं—"यह बड़ा कठिन काम है कि–जो कामके वेगको थामके (मरण-पर्यन्त) इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना" (स.प्र. ३ समु. पृ. २६)। श्रीनगरकी 'श्री' पत्रिका (६११ अङ्क, ५ पृ., १९-२०) में उक्त वादीने भी लिखा है—"सर्वाभिर्महिलाभिरामरणं ब्रह्मचर्य-व्रतं धारयितुं न शक्यते"।

तब वह विरली स्त्री विवाह न करती हुई ब्रह्मवादिनी हो–यह भी सम्भव नहीं; क्योंकि–ब्रह्मवादिनी-ऋषिकाओंकी संख्या वादीके मतमें भी नियत है; और वादीने उनको वैदिककालमें ही माना है। जैसे कि–आर्यसमाजी श्रीराजाराम शास्त्रीजीने भी 'निरुक्त' की टीकामें लिखा है–'जिन्होंने धर्मका साक्षात्कार किया था, ऐसे ऋषि मन्त्रकालमें हुए हैं (१।२० पृ. ७७) अब वेद-(मन्त्र-)काल नहीं है; वेद अन्तर्हित भी नहीं हैं, किन्तु कल्पकी आदिमें प्रकट हो चुके हैं। यह भी हम पूर्व कह चुके हैं कि–ब्रह्मवादिनियोंको बिना ही अध्ययनके स्वयं ही वेदके कई मन्त्र प्रतिभात हो जाते हैं, और वे आरूढ-पतिता होती हैं। आरूढपतिताका यह भाव है कि–जैसे महातपस्वी भरत मुनि मृगके प्रेममें आकर अपनी तपस्यामें विघ्न कर बैठे, और मर कर मृग जा बने, फिर भी वे पूर्व-जन्म-को जानते और उस योनिमें भी ज्ञानी थे। तब वे जड़-भरत बने, इस प्रकार कोई पुण्यात्मा ऋषि कारणवश योगभ्रष्ट होकर स्त्री जा बने, पूर्वजातिस्मर होनेसे 'ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत्, तद् ऋषीणामृषित्वम्' (निरु. २।११।११) उसे पूर्व-जन्मका ब्रह्मवाद स्मृत हो जाता है। तब इस प्रकारकी घटना कादाचित्क एवं क्वाचित्क होनेसे उत्सर्ग (सामान्य-शास्त्र) नहीं हो सकती, किन्तु 'अपवाद' ही रहेगी। तब इससे अन्य स्त्रियोंकी वेदाधिकार वा वेदाध्ययनकी सिद्धि नहीं हो सकती।

तभी तो इन्हीं ब्रह्मवादिनियोंके विषयमें सायण-माधवने कहा है—'मैवम्, तस्य कल्पान्तरविषयत्वात्' अर्थात् यह बात आजकलकी नहीं है, किन्तु किसी कल्पके आरम्भकी बात है। यह ठीक भी है। जब वेदमन्त्र नियत हैं, उनकी ऋषिकाएं (ब्रह्मवादिनियाँ) भी नियत हैं, तब आजकल अन्य ब्रह्मवादिनियां कहाँसे आ जाएंगी? क्या वादी वेदोंको अपूर्ण मानता है? यदि नहीं; तब पूर्व-कल्पके अन्तमें नवीन-कल्पके आरम्भमें उन-उन ब्रह्मवादिनी-ऋषिकाओंसे नियत-मन्त्र प्रकट हो ही चुके। उन मन्त्रोंमें उनके नाम भी आ ही चुके। अब अन्य ब्रह्मवादिनियाँ कहाँसे आ जाएंगी और उनकी आवश्यकता भी क्या है? क्या वादीके मतमें कई वेदमन्त्र अभी तक भी अवशिष्ट हैं, जिन्हें नूतन ब्रह्मवादिनियाँ ढूंढेंगी?

वादीने 'सार्वदेशिक' के उसी अङ्क (१६२ पृ. १ स्तं. ६ पं.) में उन-ऋषिकाओंको 'वैदिक-काल' में हुआ बताया है; तो क्या वह वेदाविर्भाव-काल वादीके मतमें आजकल है? यदि नहीं, वादी भी उन ऋषिकाओंको किसी कल्पकी आदिमें ही हुआ मानता है, तब उसने भी 'कल्पान्तर-विषयत्वात्' वाली हमारी बातको स्वयं सिद्ध कर दिया; क्योंकि वह पाश्चात्यों की तरह 'वैदिक-काल' को आजसे कई शतक पूर्व तो मानता नहीं होगा, किन्तु कमसे कम १, ९७, २९, ४९, ०७१ वर्ष पूर्व ही मानता होगा। वह काल सृष्टिका आदि आविर्भाव-काल ही है। इसीलिए आर्यसमाजी-विद्वान् श्रीप्रियरत्न आर्षने 'वेदमें इतिहास नहीं' इस पुस्तकमें ऋषि-ऋषिकाओंके विषयमें लिखा है—'ऋषियोंका आदि-सृष्टिमें निर्धारित होना ठीक है' (पृ. ४३)। और फिर वेद इस कल्पसे प्रारम्भ हुए हों, गत कल्पमें न हों, यह तो वादी भी नहीं मानता होगा। तब वह जब वेदोंका आरम्भ मानेगा, ब्रह्मवादिनी ऋषिकाओंको भी उसे उसी वैदिक-कालमें मानना पड़ेगा। वैदिककाल सब समयोंका नाम नहीं होता; क्योंकि उन ऋषिकाओंका नाम प्रायः अपने-अपने मन्त्रोंमें भी आता है। तब पराशर-माधवीयकी वह बात तो ठीक हो गई कि—पता नहीं, यह किस

कल्पकी बात है? इसके अतिरिक्त उन ऋषिकाओंका अध्ययन भी स्वप्रतिभात उन विशेष-मन्त्रोंका स्मरणमात्र ही है—'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' (महाभाष्य ५।१।११५) इस कथनसे वेदावयव-मन्त्र भी वेद होते हैं।

उपनिषत्कालमें भी वादी ब्रह्मवादिनियोंको मानता है, तो क्या वह उपनिषदोंको वेद मानता है? यदि नहीं, तो वह उनको ब्रह्मवादिनी कैसे मानता है? यदि वह उपनिषद्की × गार्गी आदि तथा मन्त्रभागकी घोषा आदि स्त्रियोंको वैदिककालकी ब्रह्मवादिनी मानता है, तब उसने मन्त्र एवं ब्राह्मणको वेद स्वयं सिद्ध कर दिया, और वेदमें इतिहास भी मान लिया। यदि वह अपने मान्य श्रीप्रियरत्न आर्षकी तरह इन ऋषिकाओंको नित्य-पदार्थ मानता है, तो उस उदाहरणसे लौकिक-स्त्रियोंके वेदाध्यनाधिकारकी सिद्धि न हुई।

जब उक्त वचन 'हारीतस्मृति' में नहीं; और जहाँ-जहाँ मिला है; वहाँ कल्पान्तर, पुरा-कल्प अर्थात् कल्पारम्भका माना गया है, तो इससे स्पष्ट है कि—उद्धरण देनेवालोंने हारीतके वचनका पूर्वापर देख लिया था। हम भी कल्पारम्भिक उक्त वचनकी वैदिककाल-विषयतामें उपपत्ति दे ही चुके हैं। तब इस वचनकी सार्वकालिकता न हुई। पराशरमाधवीय-आदिके अतिरिक्त तो वादीके पास उक्त वचनकी सत्ताका कुछ भी प्रमाण नहीं, इस लिए इस समय 'कल्पके मध्यमें' इसकी उपयोगिता भी नहीं हो सकती।

× (गार्गीने याज्ञवल्क्यसे कई प्रश्न ही पूछे, शास्त्रार्थ नहीं किया, जैसा कि वादी कहा करते हैं। मातृभाषा संस्कृत होनेसे प्रत्येक समझदार प्रश्न कर ही सकता था, इसमें आश्चर्य कुछ नहीं। तभी तो याज्ञवल्क्यने उसे कहा था, अधिक न पूछ, 'मूर्धा ते विपतिष्यति' (तेरा माथा गिर जायगा)।

यमस्मृतिके 'पुरा-कल्प' शब्दका भी 'कल्पारम्भ' अर्थ ही उन सबको विवक्षित है, 'प्राचीन शास्त्रविधि' अर्थ नहीं। स्वा.द.के भी अनुसार सृष्ट्यादि प्रणीत 'मनुस्मृति' से भिन्न और कौन प्राचीन-शास्त्र होगा, जिसका अर्थ यमस्मृतिको इष्ट हो। 'क्षात्रेण कल्पेन' इस उत्तररामचरितके वाक्यमें 'क्षात्रेण' पदके सान्निध्यमें 'अनुष्ठानप्रकाशक ग्रन्थ' अर्थ 'कल्प' शब्दका भले ही हो, क्योंकि–वहाँ वैसा प्रकरण है, पर सब जगह 'कल्प' का वह अर्थ कैसे हो? क्या सैन्धवका यात्राके समयमें भी 'नमक' ही अर्थ होगा? 'पुरा-कल्पे' में 'क्षात्र' आदि विशेषण न होनेसे वह अर्थ नहीं होता। वहाँ 'पुरा' शब्दके सान्निध्यसे 'कल्प' शब्दका अर्थ प्रलयकालके बादका 'समय-विशेष' ही है, यह स्पष्ट है। जबकि लुप्त मन्त्र ऋषि-ऋषिकाओंको समाधिमें प्रतिभात हुए थे। जैसे कि–सायणने ऋभाभू.में लिखा है—'युगान्तेऽन्तर्हितान् मन्त्रान्' (इसे आगे देखिये) 'पुरा कल्पे...इष्यते' में लिट्के स्थानमें लट्का प्रयोग आर्ष है, अथवा 'पुरि लुङ् चास्मे' (पा. ३।२।१२२) इस सूत्रसे अनद्यतन-भूतकालमें 'वसन्तीह पुरा छात्रा:' की तरह यहाँ भी 'पुरा' के योगमें लट् है, अत: हमारे पक्षमें महाराणीशङ्कर (एक आर्यसमाजी)-प्रोक्त दोष नहीं आता।

जिन पराशरमाधवीय, निर्णयसिन्धु, संस्कार-रत्नमाला, स्मृतिचन्द्रिका (संस्कार काण्ड), श्री चन्द्रकान्ततर्कालंकार, चतुर्विशति-मतसंग्रह आदिसे वादीको उक्त वचन मिला है, उनका अनिष्ट अर्थ करके उसे उनको तथा उनके पीछेकी आजकलकी जनताको ठगना ठीक नहीं। स्वयं वादी अपने 'भारतीय-समाज-शास्त्र' (प्र. सं.) के १८५ पृष्ठमें 'पुरा-कल्पे' इस यम-वचनका 'प्राचीनकालमें' यह अर्थ कर चुका है। वहीं उसने गोधा, घोषा, अपाला आदि ऋषिकाओंको ब्रह्मवादिनी माना है, तब हमारा पक्ष सिद्ध हो ही गया कि–यह कल्पारम्भका ही वर्णन है। इस अपने पूर्व-पक्षमें भी वादीने यमके इस वचनको 'प्राचीनकालकी आर्यमर्यादाका उल्लेखक' (सार्व. १६२ पृ. १ स्तं. १७-१८ पृ.) बताया है; सो वह 'प्राचीनकाल'

वैदिक-काल ही है, यहाँ भी वही कल्पारम्भकी बात प्रतिफलित हुई।

स्मृति-चन्द्रिकाकारने भी 'पुराकल्प' का 'अर्थवाद-विशेष' अर्थ खण्डित करते हुए 'तत्र आर्थवादिकविधे: सार्वकालिकत्वे शिष्टस्मृतिविरोधदर्शनात् 'कल्पान्तरे' इत्यर्थ:' (वीरमित्रोदय संस्का. प्रका. उपनयन प्र. ४०३ पृ.) कल्पान्तर ही अर्थ माना है। निर्णय-सिन्धुमें हारीतके वचनकेलिए दिया हुआ 'युगान्तर' शब्द भी कल्पार्थक है, इसलिए सिद्धा. कौ. की बाल-मनोरमा-टीकामें 'उपाध्याया' पर 'युगान्तरे ब्रह्मवादिन्य: स्त्रिय: सन्ति' यहाँ भी कल्पके अर्थमें 'युगान्तरे' शब्दका प्रयोग किया गया है, उसके कर्ताको 'पुरा युगेषु नारीणां मौञ्जी'-यह स्मृतिवचन जो मिला है, वह 'यमस्मृति' का ही है, 'पुराकल्पे' के स्थान 'पुरा-युगे' यह पाठ उसकी पर्यायतावश ही है, वादीने अपने 'स्त्रीका वेदाध्ययन' के १४२ पृष्ठमें इसका जो विरोध किया है, इसका कारण यह है कि–फिर वे इसीके पर्यायवाचक 'पुरा-कल्पे' का स्वकल्पित अर्थ नहीं निकाल सकते। यहाँ 'युग' शब्द कल्प-वाचक है–यह पाठान्तर होनेसे तो स्पष्ट ही है, इसमें एक अन्य भी प्रमाण है—

'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय:। लेभिरे तपसा पूर्वं' यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है, श्रीसायणने भी इसे अपने ऋग्वेद-भाष्यके आरम्भमें 'ऋषि' शब्द के निरूपण पर उद्धृत किया है, यहांपर 'युगान्ते' का अर्थ 'कल्पारम्भे' के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। इसी प्रकारका अन्य स्मृतिवचन भी मिलता है–'सर्गादिसमये वेदान् सेतिहासान् महर्षय:। लेभिरे तपसा पूर्वम्' यहाँ 'सर्गादिसमये' शब्दसे ही अस्मदिष्ट 'कल्पारम्भ' अर्थ प्रत्यक्ष सिद्ध हो रहा है। अत: स्पष्ट है कि–निर्णयसिन्धु तथा यम-स्मृतिके उक्त पाठमें भी 'युग' का अर्थ 'कल्पारम्भ' ही है, तभी तो निर्णय-सिन्धुके ३य परिच्छेद पूर्वभागमें 'यत्तु हारीत:...तद् युगान्तरविषयम्; 'पुराकल्पे' इति यमोक्ते:' यह लिखा है, तो स्पष्ट है कि–निर्णयसिन्धुका भी अपना 'युगान्तर' शब्द 'पुरा-कल्पे' का वाचक है; सो यह काल-विशेष-

वाचक शब्द है—जबकि वेदोंका ऋषि-ऋषिकाओं द्वारा प्राकट्य होता है। यह स्पष्ट हो गया कि—कल्पान्तरमें वैसा होता है। और 'पुरा-कल्पे' का तो स्पष्टतया वह अर्थ है ही। तब वादियोंका इसका अर्थ बदलना अपने पक्षकी दुर्बलता प्रकट करना है। यमको हमारा ही अर्थ विवक्षित है, उनका नहीं। सो जो कल्पारम्भमें हो, वह अब भी हो, यह ठीक नहीं; प्राचीनकालमें स्त्रियोंका विवाह नहीं होता था, देखिये महाभारत (१।१२२।४); तो फिर अब भी विवाहसंस्कारविधि हटाइये, यदि यह नहीं, तो वह भी नहीं।

वादीने 'ब्रह्मचर्येण कन्या' इस मन्त्रमें 'ब्रह्मचर्य' शब्दके 'वेदाध्ययन' अर्थकी सिद्धिकेलिए उसीके प्रमाण-स्वरूप ब्रह्मवादिनियोंका उदाहरण दिया है। इस उदाहरणसे भी उक्त मन्त्रमें 'ब्रह्मचर्य' का 'वेदाध्ययन' अर्थ कट गया, क्योंकि-वे ब्रह्मवादिनियाँ तो हारीत आदिके अनुसार सारी आयु अविवाहित ही रहती है, पर 'ब्रह्मचर्येण कन्या' मन्त्रमें तो पतिवेदन (विवाह) की बात है। सद्योवधुओं (विवाहित हो रही स्त्रियों) का वेदाध्ययन तो हारीतने कहा ही नहीं, यह वादीने भी अपने लेखमें माना है, तभी उसने अपने पूर्वपक्षमें उन्हें 'साधारण स्त्री' माना है, तब हारीतको उसका 'उपनयन' पतिके समीप यथाविधि नयन करके उससे उसे 'उपवस्त्र-प्राप्ति' ही इष्ट है—यह हम आगे कहेंगे। इससे 'उपनयन' का 'यज्ञोपवीत' अर्थ यहाँ न हुआ। क्योंकि—जब उन साधारण-स्त्रियोंको वेदका अधिकार ही नहीं, तब उनका यज्ञोपवीत ही क्यों और कैसे होगा? तब वादीका सद्योवधुओंके विवाह-प्रतिपादक 'ब्रह्मचर्येण कन्या' मन्त्रमें 'ब्रह्मचर्य' का वेदाध्ययन अर्थ वादीके दिये हुए प्रमाण और उदाहरणसे ही कट गया—यह विद्वान् पाठकोंने अनुभव कर ही लिया होगा। यमस्मृतिको भी 'पुरा-कल्प' वाली वह स्त्रियाँ 'सर्वायु-अविवाहित' ही इष्ट हैं—इसलिए 'पुरा-कल्पे कुमारीणाम्' में उसने 'कुमारी' शब्द रखा है। कहीं 'नारी' पाठ हो; तो वह भी जातिवाचक (जातिमें नरको ङीन् होता है) होनेसे

'कुमारी' अर्थमें पर्यवसित होता है। तब उन वैदिककालकी परिमित सारी आयु अविवाहित ब्रह्मवादिनियों (ऋषिकाओं) के यज्ञोपवीतादिसे सर्वसाधारण स्त्रियोंका वह अधिकार सिद्ध न हो सका। इनके कुमारीत्वका रहस्य आगे प्रकट होगा।

---

(५) हारीतका सद्योवधुओंका उपनयन-विचार।

सद्योवधुओंको हारीतने वेदाध्ययन, अग्निहोत्र, भिक्षाचर्या आदिका अधिकार तो नहीं दिया, यह पहले कहा जा चुका ही है। तब उनके 'उपनयन' कहनेका क्या रहस्य है; क्योंकि—उपनयन इन्हीं ब्रह्मचर्यकी बातोंकेलिए तो दिया जाता है, इसीसे स्पष्ट हो रहा है कि—सद्योवधुओंका यहां उपनयन-संस्कार इष्ट नहीं। उपनयन-संस्कार सदा ब्रह्मचर्याश्रमके आरम्भमें ही 'अष्टैक-द्वादशाब्दानि सगर्भाणि द्विजन्मनाम्। मुख्य: कालो व्रतस्यैव ह्यन्य उक्तो विपर्यये' (४।१६२) इस 'श्री' पत्रिकामें वादि-प्रमाणित मूल-स्मृति 'बृहत्पराशरस्मृति' के प्रमाणसे होता है। विवाह-कालका आरम्भ किसी भी शास्त्रमें ब्रह्मचर्याश्रमके आरम्भका काल नहीं माना गया। कन्या-विवाह वादीके मतमें उत्तमरूपमें २४ वर्षमें होता है, तो क्या वह उनका यज्ञोपवीत भी 'सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहकाले उपनयनमात्रं कृत्वा विवाह: कार्य:' २४ वर्षमें करेंगे; और गुरुकुलमें भी उसे तभी भेजेंगे। तब वह विवाही जा रही हुई पतिकुलमें न जाकर गुरुकुलमें कैसे जावेगी? पतिके गृहकार्यको छोड़कर वह वेद कैसे पढ़ेगी? दूसरोंके घर भिक्षा कैसे माँगेगी? इसके अतिरिक्त वह उपनयन ही कैसा, जो वेदाध्ययन, अग्नीन्धन, गुरुकुलवासादिका अधिकार ही न देता हो? इसी कारण मीमांसा. (६।१।३५) के शाबरभाष्यमें कहा है—'विद्या-(वेदा-)ऽर्थमुपाध्यायस्य समीपमानीयते, नाऽदृष्टार्थं कुड्यं वा कर्तुम्, सैषा विद्यायां पुरुष-श्रुति:'। तब यहाँ केवल उपनयन-सूत्रके भारसे ही क्या लाभ? इससे उपनयनका यहाँ 'यज्ञोपवीत' अर्थ नहीं—यह स्पष्ट है,

किन्तु अन्य तात्पर्य है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि–सद्योवधूके विवाहकाल उपस्थित होनेपर उसका पतिके उप-समीप नयन (वैध ले जाना) करो। स्वा.द.जीने सं.वि.के पृ. ७८ में 'उपनयन' का अर्थ 'उप-नाम समीप, नयन अर्थात् प्राप्त करना वा होना' यह किया है। वहाँ तो ब्रह्मचर्याश्रमके आरम्भ होनेमे माणवकको आचार्यके पास ले जाया जाता है, पर यहाँ तो ब्रह्मचर्याश्रमके आरम्भ न होनेसे उसे साक्षात् आचार्यके पास न ले जाकर, गृहस्थाश्रमारम्भवश 'पतिसेवा गुरौ वासः' (मनु. २।६७) 'यो मे भर्ता स मे गुरुः' (वाल्मी. ५।२४।९) 'गुरुविप्रेष्टदेवेषु सर्वेभ्यश्च पतिर्गुरुः। विद्यादाता यथा पुंसां कुलजानां तथा प्रियः (पतिः)' (ब्रह्मवैवर्तपु. प्रकृति-खण्ड ४२।३१) 'पतिर्बन्धुर्गतिर्भर्ता दैवतं गुरुरेव च। सर्वस्माच्च परः स्वामी, न गुरुः स्वामिनः परः' (ब्रह्मवै. श्रीकृष्ण ज.खं. ५७।१०) उसे गुरुसदृश पतिके समीप ले जाना पड़ता है। यही उसका उपनयन हो जाता है।

उपनयन-संस्कारमें आचार्य उपनीत (अपने समीप लाये गए) शिष्य को वेदाधिकार-सूत्र वाएं कन्धेमें रखनेकेलिए देता है, परन्तु इस विवाह-संस्कारमें उपनीता (विवाहार्थ अपने पास लाई गई) शिष्या-सदृश स्त्रीको पति वाएं कन्धेमें रखनेकेलिए उपवस्त्र (विवाहाधिकार-वस्त्र) देता है। तव यहाँ 'उपनयन' का 'विवाहार्थ विधिपूर्वक पतिके समीप नयन' यही हमारा कहा हुआ अर्थ प्रतिफलित हुआ। तभी 'वसिष्ठस्मृति' में 'अद्भि-र्वाचा च दत्तायां...न च मन्त्रोपनीता स्यात्' (१७।६४) यहाँपर 'मन्त्र पढ़कर पतिके पास लाई गई' यह अर्थ सर्वसम्मत है। इसीका पर्याय इसके साथके 'मन्त्रैर्यदि न संस्कृता' (१७।६५) इस पद्यमें है। 'स्मृतितत्त्व' के 'उद्वाहतत्त्व' के १२९ पृष्ठमें भी लिखा है—'मन्त्रोपनीता-पाणिग्रहणमन्त्र-जन्यसंस्कारवती कुमारी'।

हारीतको भी यही अर्थ विवक्षित है, नहीं तो वह सद्योवधूको ब्रह्म-

वादिनीकी प्रतिद्वन्द्विताम न रखता। यदि हारीत उसे यज्ञोपवीतका अधिकार देता, तो उसे वेदका अधिकार भी देता, ब्रह्मचर्याश्रम-मूलक उपनयनको वह ब्रह्मचर्यके समाप्त करनेवाले विवाहमें न कहता। इस कारण आर्यसमाजी विद्वान् श्रीनरदेव शास्त्री 'आर्यसमाजका इतिहास प्रथमभाग ११८ पृष्ठमें 'जो कुछ हो–हम तो इस मतके हैं कि कन्याओंका यज्ञोपवीत अवश्य होना चाहिए। किस समय हो? गुरुकुल या पाठशाला के भेजनेके पूर्व, या विवाहके समय? इसका निर्णय करना कठिन है", इस प्रकार निर्णय न कर सके, क्योंकि–विवाहमें उसका उपनयन हो, तो उसका गुरुकुलवास तथा वेदाध्ययन नहीं हो सकता। यदि गुरुकुलसे पूर्व हो तो उसका विवाह नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि–यहाँ पर वह उपनयन नहीं, जो वादियोंको इष्ट है, नहीं तो उन्हें सन्देहके झूलेमें लटकना न पड़ता।

लड़केके उपनयनमें गुरु शिष्यको पुत्र मानता है, उसका ब्रह्मचर्य प्रारम्भ कराता है, फिर उसका वेद समाप्त करवाकर उसे घरको लौटाता है; तब उसे व्रत-समाप्त्यर्थ आज्ञा देकर उसको किसी कुमारीसे विवाह करनेका आदेश देता है, परन्तु स्त्रीके उपनयनमें पति उसे 'पुत्री' न समझकर 'पत्नी' समझता है, उसका व्रत समाप्त कराता है, पितृगृहसे उसका सम्बन्ध छुड़वाता है, फिर उसे किसीके पास भी विवाहार्थ नहीं भेजता, उसका पतिव्रत प्रारम्भ कराता है। तो अब वादीको सोचना चाहिये कि–इतने भेद होने पर भी क्या दोनों उपनयन एक हो सकते हैं? 'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद् विरुद्धधर्माध्यासः कारण-भेदश्च'। (भेद या भेदका हेतु यही होता है कि–दोनोंमें परस्पर-विरुद्ध धर्म होते हैं, और कारण भिन्न-भिन्न होते हैं।) यदि नहीं, तब हारीतोक्त उपनयन यहाँ यज्ञोपवीत-वाचक सिद्ध न हुआ। यह 'उपनयन' गौण शब्द प्रतिफलित हुआ, वास्तविक नहीं।

यज्ञोपवीत-संस्कारमें उपनयनके बाद वेदारम्भविधि होती है, पर सद्योवधूके ब्रह्मवादिनी न होनेसे वेदारम्भ न होनेसे पति-समीप-नयन करके

उसे उपवस्त्र देकर विवाहारम्भकी विधि होती है। वहाँ विद्यार्थीको आचार्यके कुल (गृह) में अस्थायी (ब्रह्मचर्यकी अवधि तक) निवास करना पड़ता है, भिक्षार्थ इधर उधर जाना पड़ता है, पर यहाँ ब्रह्मवादिनीत्वका अधिकार न होनेसे वेदाधिकार न हो सकनेके कारण 'ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्' (मं. ब्रा. १।६।६, गोभि. २।३।११, स्वा.द. संस्कारवि. पृ. १६५) सद्योवधूको पतिके कुल (गृह) में स्थायी निवास करना पड़ता है, इधर-उधर भिक्षाकेलिए नहीं जाना पड़ता। ब्रह्मचर्याश्रमके आरम्भमें माणवकको गुरुके अग्निहोत्रमें समिदाधान करना पड़ता है; परन्तु यहाँ ब्रह्मवादिनीत्व न होनेसे अनधिकारवश सद्योवधूको गृहकर्म तथा पाकक्रियाकेलिए अग्निसमिन्धन करना पड़ता है, तथा पतियज्ञमें संयोग–सहावस्थितिमात्र करना पड़ता है।

यही 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्नि-परिक्रिया' (२।६७) इस मनु-पद्यमें भी स्पष्ट है। इसकी व्याख्या कुल्लूक, मेधातिथि, गोविन्दराज, नारायण, राघवानन्द, नन्दन आदियों ने ऐसी ही की है। यह हम आगे दिखलावेंगे। श्रीभट्टोजिदीक्षितने भी 'चतुर्विंशतिमतसंग्रह' के ११२-११३ पृष्ठ में कहा है—'स्त्रीणां च विवाह उपनयनस्थानापन्नः, तदाह मनु—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिको मतः'। इसी अर्थमें मनु, गोभिल, हारीत, कौशिक आदियों के वचनों में सामञ्जस्य होता है। यही वास्तविकता है। 'सद्योवधू' शब्द विवाहारम्भको ही बताता है। पतिके पास वेध-नयन विवाहारम्भ ही है, जिस से पति सद्योवधूको उपवस्त्र देता है, तब स्त्रियोंका उपनयन-संस्कारका अर्थ वेदाध्ययनाधिकार खण्डित ही हो गया, क्योंकि आजकी सभी स्त्रियाँ विवाह-रहित नहीं। सृष्टिका आरम्भ न होनेसे यह वैदिककाल भी नहीं, अतः वे स्त्रियां ब्रह्मवादिनी भी नहीं, किन्तु हारीतानुसार सद्योवधू हैं। उन्होंने सद्यः (शीघ्र ही) वधू बनना है, तब उनका वेदाध्ययन हारीतके कथनसे ही खण्डित हो गया। इस प्रकार वादिमान्य हारीतने स्वयं

वादीका पक्ष काट दिया।

(ख) क्या वादी हारीतके 'नहि शूद्रसमाः स्त्रियः, छन्दसा स्त्रियः संस्कार्याः' इस वचनको मानता है? यदि हाँ, और इस वचनको उपनयन-वेदारम्भादि संस्कार-विषयक मानता है, तो इससे शूद्रका वेदमन्त्रोंमें अधिकार कट जाता है, तभी तो 'नहि शूद्रसमाः स्त्रियः' हेतुको देकर वादीके मतानुसार स्त्रीके संस्कारमें मन्त्रोंका अधिकार दिया गया है–क्या वे ऐसा मानते हैं? यदि ऐसा है, तो उनके स्वामीका 'यथेमां वाचं' का अर्थ खण्डित हो गया, जिसमें वे शूद्र तथा अन्त्यजोंको वेदमन्त्राधिकार देते हैं। क्या वादीको यह स्वीकार है? अथवा यदि हारीतका यही वचन स्वामीके किये अर्थसे विरुद्ध होनेसे वेदविरुद्ध है, तब वादी इसे कैसे प्रमाणित करता है?

'नहि शूद्रासु ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्या जायन्ते' यह हारीतका वाक्य वादीसे सम्मत वर्णव्यवस्थाको काटता है। यह जन्मसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य मान रहा है। वादी तो वसिष्ठ, सत्यकाम आदिको गणिका-शूद्रा आदिका पुत्र बताकर उन्हें ब्राह्मण सिद्ध करते हैं, यहाँ तो उसके विरुद्ध कहा है। यदि साक्षात् शूद्राके गर्भसे ब्राह्मणादि-पिताके वीर्यसे ब्राह्मणादि उत्पन्न हो सकते हैं, तो स्त्री–जो साक्षात् शूद्र वर्णकी नहीं, केवल वेदादिके अनधिकार रूप कुछ विवक्षितांशकेलिए ही शूद्रसदृश कही गई है (क्योंकि–सदृशतामें साक्षात् वही नहीं हो जाता) तो उसके गर्भसे ब्राह्मणादि पिताके वीर्यसे सन्तान ब्राह्मणादि क्यों न होगी? यदि वह ब्राह्मणादि होगी; तो वादीके स्वामीकी मानी गुण-कर्मसे वर्णव्यवस्था कट गई, अथवा स्वा.द.से विरुद्ध होनेसे वेदविरुद्ध हो जानेके कारण वादीसे यह वचन स्वपक्ष-पोषकत्वमें कैसे उद्धृत किया जा सकता है?

'तस्मात् स्त्रियः छन्दसा संस्कार्याः' यहाँ 'संस्कार्याः' पद 'नहि शूद्र-योनौ ब्राह्मणादयो जायन्ते' इस हारीतके 'योनौ जायन्ते' लिङ्गसे विवाह-संस्कार विषयक है, शेष संस्कारोंमें 'योनौ जायन्ते' का कोई सम्बन्ध नहीं

रहता। तब यह **उपनयन-वेदारम्भ विषयक नहीं**। क्योंकि-सभी गृह्यसूत्र स्त्रीके विवाहसे अतिरिक्त संस्कारोंमें मन्त्रोंका निषेध करते हैं। 'विवाहो मन्त्रतस्तस्याः शूद्रस्याऽमन्त्रत:' (व्यासस्मृति १।१६) 'तूष्णीमेता: क्रिया: स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रक:' (याज्ञ. १।२।१३) इन प्रमाणोंसे स्त्रीका **केवल विवाह-संस्कार ही** अपवादरूपसे समन्त्रक इष्ट है, क्योंकि-विवाह-ही स्त्रीका द्विजसदृशतापादक है। **पुरुषके** लिए जहां **'संस्कार'** शब्द आ जाए, वहाँ उसका सदा **'उपनयन'** इष्ट होता है. जैसाकि-'नाऽसंस्कृतस्तथा (मनु. ११।३६) संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते' (महा. पस्पशाह्निक)। **स्त्रियोंके** लिए जहाँ **'संस्कृता'** वा **'संस्कार'** शब्द आ जावे, वहाँ सदा उनका **विवाह** इष्ट होता है। जैसे-'रज: पश्यत्यसंस्कृता' (वृहद्यम ३।१८) 'मन्त्रैर्यदि न संस्कृता' (वसिष्ठ १७।६५) इसीलिए मनुने कहा है—'वैवाहिको विधि: स्त्रीणां संस्कारो' (२।६७) जहाँ उक्त हारीतवचन उद्धृत किया गया है, वहाँ **स्त्री-विवाह-विषयक ही** रखा गया है, उपनयनादि अन्य संस्कार-विषयक नहीं। यह हम बता चुके हैं कि—सर्वसाधारण स्त्रियों (सद्योवधुओं) को ब्रह्मवादिनी न होनेसे हारीत वेदाधिकार नहीं देता। तब वादीका इस हारीत-वचनसे सब तरहकी स्त्रियोंका वेदाधिकार खण्डित हो गया; नहीं तो वादीके अनुसार हारीतके दोनों वचनोंमें विरोध उपस्थित हो जायगा, पर यह अनिष्ट है।

एक विशेष बात यह भी विचारणीय है कि-हारीत ब्रह्मवादिनियोंका विवाह क्यों नहीं कराता; क्यों उन्हें **यावज्जीवन ब्रह्मचारिणी** रखता है, वेदाधिकारी पुरुषकेलिए भी यावज्जीवन ब्रह्मचर्य आदिष्ट क्यों नहीं करता? ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंकेलिए ही **ऐसी कठोरता** क्यों करता है? क्या इसमें भी कोई **रहस्य** है? हाँ, इसमें भी एक **रहस्य** है जिसकी ओर विद्वानोंका ध्यान नहीं गया। यह यह है—हम अन्यत्र बता चुके हैं कि-साधारण-स्त्रियोंमें अपूर्णता होनेसे उन्हें वेदका अधिकार नहीं दिया गया, पर ब्रह्मवादिनी-नामक विशिष्ट स्त्रियों-ऋषिकाओं पर जो वेदमन्त्र

उतरे, उसका कारण उनमें साधारण स्त्रियोंकी अपेक्षा **विलक्षणता है**, अर्थात् अन्य स्त्रियोंकी अपेक्षा उनमें कुछ **अधिक पूर्णता** होती है। इसलिए उन्हें वेदाधिकार भी होता है। **वे रजस्वला नहीं होती थीं**। रजस्वलात्वका प्रारम्भ **कल्पारम्भके कुछ समय बाद** विश्वरूप-वधकाण्डमें इन्द्र-द्वारा ब्रह्महत्याका भाग स्त्रियोंको रजस्वलात्वरूपमें देनेके समय हुआ-यह कृष्ण-यजुर्वेद (तै.सं. २।५।१।५) तथा पुराण (श्रीमद्भा. ६।९।१-१९) में स्पष्ट है। रजस्वला स्त्रियों की भीतरी कुछ अपूर्णताका और तै.सं.के अनुसार **ब्रह्महत्याका चिह्न** है-इसलिए साधारण-स्त्रियोंका पूर्ण-प्रकृतिवाले पुरुषसे विवाह होता है। पर ब्रह्मवादिनी-स्त्रियोंमें **ब्रह्महत्याका अंश रज एवं अपूर्णता** न होनेसे हारीतानुसार उनका यावज्जीवन **विवाह भी नहीं** होता, क्योंकि पुरुषकल्प और रजोहीन कल्पादिम स्त्रियोंका भला पुरुषसे **विवाह कैसे हो**? इसलिए वैसी **अमैथुनयोनि** वाली ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ भी प्राय: **कल्पारम्भमें** होती हैं, अपवादवश मध्यमें भी। इसलिए उन्हें **मनुष्ययोनि न मानकर** उन्हें **भिन्न-योनि** (ऋषिका) माना जाता है। ऋषि मनुष्यसे भिन्न योनिविशेष होता है, यह हम पहले सप्रमाण बता आये हैं। इसलिए 'रुचं नो धेहि' (यजु: १८।४८) मन्त्रमें **ऋषिने 'मयि'** अपना नाम ब्राह्मणादि मनुष्योंसे भिन्न बताया है। उन ब्रह्मवादिनियोंके लिए कहीं प्रयुक्त 'पति' शब्द 'अधिपति'-वाचक समझना चाहिए, 'विवाहित स्वामी'-वाचक नहीं, यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं अत: ब्रह्म (वेद) वादका अधिकार भी उन्हीं ब्रह्महत्याके अंशसे रहित, यावज्जीवन कुमारी ब्रह्मचारिणी ब्रह्मवादिनियोंको ही होना है, दूसरी ब्रह्महत्याके अंश वाली; थोड़ा समय कुमारी रहकर फिर सद्य:-वधू बनने वालियोंका वह ब्रह्म (वेद)-वादका अधिकार अपूर्णतावश हारीत-द्वारा नहीं दिया गया। फलत: उन ब्रह्मवादिनियोंके दृष्टान्तसे साधारण स्त्रियों का वेदाधिकार नहीं हो जाता, इसलिए उन साधारण-स्त्रियोंका नाम हारीतने 'ब्रह्मवादिनी' न रखकर 'सद्योवधू' रखा है, उन्हें वेदकी आज्ञा नहीं दी, उन्हें विवाहकी आज्ञा दी है। हारीतका यह वचन उन्हीं अपूर्ण-

सद्योवधुग्रोंके विवाह-संस्कारमें लागू होता है, उपनयन एवं वेदारम्भमें नहीं। आशा है-अभिज्ञ पाठकोंने यह रहस्य समझ लिया होगा। और साधारण-स्त्रियोंको वेदाधिकार न देनेकी तथा ब्रह्मवादिनियोंको वह अधिकार देनेकी बात भी समझ ली होगी। वादी कौमार-ब्रह्मचारिणी, कुमारी-ब्रह्मचारिणी ब्रह्मवादिनियोंका महाभारत आदिसे जो उद्धरण दिया करते हैं, वे यही ब्रह्मवादिनियां हैं। उनके दृष्टान्तसे जोकि-वादी अपना पक्ष सिद्ध करनेकी चेष्टा किया करते हैं अब उन्होंने उसकी व्यर्थता समझ ली होगी। वादी इसपर तथा गत विषयपर कुछ भी नहीं बोल सकते; क्योंकि-उनका पक्ष निराधार है।

——

(६) 'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम्' (गोभिलवचन) पर विचार।

यही बात 'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम्' (२।१।१९) इस गोभिल-सूत्रमें भी है, क्योंकि इस सूत्रसे पहलेके 'अहतेन पतिः परिदध्यात् 'या अकृन्तन्' इत्येतया ऋचा' (२।१।१८) सूत्रसे वर, वधूको 'या अकृन्तन् अवयन्' मंत्र बोलकर अहत वस्त्र (उपवस्त्र) देता है; वह वधू उसी उपवस्त्रको 'दक्षिण बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्ये (वामे) अंसे (स्कन्धे) प्रतिष्ठापयति, दक्षिणकक्षमन्वलम्बं भवति. एवं यज्ञोपवीती भवति' (१।२।२) इस गोभिलकी परिभाषासे बाएं कन्धेमें उत्तरीयकी भान्ति, वा यज्ञोपवीत-की भांति लपेट लेती हैं। यही उसका यहाँ 'यज्ञोपवीतिनीत्व' होता है।

(क) केवल यज्ञ-सूत्रकी ही बाएं कन्धेपर रखनेसे यज्ञोपवीतिता नहीं होती, किन्तु वस्त्रको भी दाहिनी बाहुको उठाकर बाएं कन्धे पर लटकानेसे भी व्यक्ति 'यज्ञोपवीती' कहा जाता है। जैसेकि-गोभिलने ही स्वयं कहा है-'यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं, वस्त्रं वापि, कुशरज्जुमेव' (१।२।१) यहाँ पर सामश्रमी श्रीसत्यव्रतने लिखा है... 'दक्षिणं बाहुमुत्क्षिप्य, शिरो वेष्टयित्वा वामस्कन्धोपरि प्रतिष्ठापयति, तत्र दक्षिणकक्षान्तलम्बमानं भवेत्, एवं

प्रकारेण सूत्र-वस्त्र-कुशरज्जूनामन्यतमधारणेन यज्ञोपवीती भवति'। तब स्त्रीलिङ्गमें वस्त्रयुक्त स्त्रीका भी 'यज्ञोपवीतिनी' यह नाम होता है। (ख) 'वाचस्पत्य' कोषमें उपवीत-उपवीती शब्दके अर्थावसर पर कहा है-- 'उपवीतं बहिर्भूत-दक्षिणहस्ततया वामांसस्थापिते वस्त्रे च। न केवलं यज्ञसूत्रस्यैव तथात्वम्, तथाभिनिवेशितस्य वस्त्रस्यापि तथात्वम्, 'दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य' इत्यादिना गोभिलेन सामान्यतोऽभिधानात्, मनुना 'उद्धृते दक्षिणे पाणौ उपवीतीत्युच्यते द्विजः' इति सामान्यतोऽभिधानाच्च। उपवीती-तथासन्निवेशित-सूत्र-वस्त्रधारिणि उपवीतस्य वस्त्रादिसंनिवेश-विशेषरूपस्य प्राकरणिकाङ्गता मीमांसायां २ अध्याये १ पादे निर्णीता"।

(ग) इसी प्रकार वैजयन्तीकोषम 'यज्ञोपवीतोपवीते ब्रह्मसूत्रोत्तरी-ययोः' (शेषकाण्ड नपुंसकलिङ्गाध्याय) 'उपवीतं तु प्रोद्धृते दक्षिणे करे' (वैजय. भूमिकाण्ड ब्राह्मणाध्याय २०) यहाँपर भी बाएं कन्धेपर रखे उत्तरीय (दुपट्टे) का नाम भी उपवीत माना गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि-गोभिलके 'यज्ञोपवीतिनी' का 'यज्ञोपवीत-वाली' अर्थ नहीं; किन्तु 'बाएं कन्धे पर वरसे दिये हुए उपवस्त्रको पहिरे हुई स्त्री' यही अर्थ है। (घ) वादीके स्वामी दयानन्दजीको भी उक्त गोभिलसूत्रका यही अर्थ उस प्रकरणमें इष्ट है। यह गोभिलगृह्यमें वरके द्वारा वधूको उपवस्त्र-प्रदानका ही प्रकरण है-यह हम लिख चुके हैं। अब स्वामीजीकी 'संस्कारविधि' का विवाह-प्रकरण १४१ पृष्ठ देख लीजिये। उसमें लिखा है—'ओं 'या अकृन्तन्नवयन्' इस मन्त्रको बोलके वधूको वर उपवस्त्र देवे, और वह (वधू) उपवस्त्रको यज्ञोपवीतवत् धारण करे' कितने स्पष्ट शब्द हैं? स्वा.द.जीने यह बात उक्त गोभिलसूत्रको ही अनूदित करके कही है, क्योंकि-अपनी सं.वि.में स्वामीजी गोभिलकी बातें, बिना भी उसका वचन उद्धृत किये अपनी भाषामें अनूदित कर उद्धृत कर देते हैं। यदि वादी यह न माने, तो बतावे कि-'यज्ञोपवीतवत् उपवस्त्र

को धारण करे' इस स्वामीजीके वाक्यका कौनसा गृह्यसूत्रका वचन मूल है ? स्वा.द.जी कन्याओंका यज्ञोपवीत मानते हों, वा न मानते हों, हमें उससे कोई प्रयोजन नहीं, पर हमारा यह कहना है कि-इस 'या अकृन्तन्' के अवसर पर उन्होंने वैसा अर्थ नहीं किया, वा नहीं माना।

वर्तमानमें मिलनेवाले किसी भी गृह्यसूत्रमें इस वैवाहिक-वस्त्रप्रदानके अवसरपर स्त्रीका यज्ञोपवीत नहीं कहा गया। तब स्पष्ट है कि-गोभिलमें भी उससे स्त्रीका यज्ञोपवीत-संस्कार इष्ट नहीं, किन्तु उक्त प्रकारसे पहिरे हुए वस्त्रवाली वधू ही 'यज्ञोपवीतिनी' संज्ञक होती है। (ङ) इसलिए 'वैखानस-गृह्यसूत्र' में भी उपनयन-संस्कारमें 'या अकृन्तन्' इति वस्त्रम्' (२।५) इस मन्त्रसे वस्त्रपरिधान ही कहा है, यज्ञोपवीतका परिधान नहीं। गोभिलगृह्यके स्पष्ट करनेवाली पुस्तकोंका भी हम इस विषयमें प्रमाण देते हैं, जिससे गोभिलके 'यज्ञोपवीतिनी' शब्दके अर्थके विषयमें थोड़ा सा भी सन्देह पाठकोंके चित्तमें न रह जाए।

(च) 'गोभिल-गृह्यकारिकामें उसपर लिखा है-'पतिः कन्यां परिदध्याद् अधौत-नव्यवाससा। 'या अकृन्तन्' पठन् मन्त्रं द्वितीयेनापि वाससा। प्रावारयेत् परिधत्त मन्त्रेणैवोपवीतवत्। सोमो ददत् पठेन्मन्त्रं, गृहाच्च वेदिसम्मुखीम्' (२।१।३५-३६) (छ) यहाँ पर गृह्यकारिकाकार श्रीशिवराम स्वकृत-'सुबोधिनी पद्धति' के इस विवाह-प्रकरणमें कहते हैं—'ततोऽपरेण अहतेन वाससा दक्षिणं बाहुं वहिः कृत्वा उपवीतवद् उपरि प्रावृणुयात्'। (ज) अब 'कृत्यचिन्तामणि' के भी शब्द इस पर देखें—'प्रावृतां-कृतोत्तरीयाम्, यज्ञोपवीतिनीम्—'यज्ञोपवीतवत् कृतोत्तरीयाम् अभ्युदानयन् कन्याप्रतिग्रहदेशाद् विवाह-वेद्यभिमुखमानयन् 'सोमो ददद्' इति मन्त्रं जपेत्'।

(झ) 'गोभिल-गृह्यकर्म-प्रकाशिका' (१८८६ संस्क.)के ४९ पृष्ठमें भी लिखा है—'पुनरन्येन अहतवस्त्रेण यज्ञोपवीतवत् 'परिधत्त इति वधूं परिधापयेत्'। (ञ) म. म. श्री रघुनन्दन-भट्टाचार्यने भी इस विषयमें

'स्मृतितत्त्व'में कहा है—'वासोविन्यासविशेषस्तु तत्तद्देशाचाराद् अवगन्तव्यः। 'गोभिलः परिधत्त धत्त वाससा-इति प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम्...प्रावृतां यज्ञोपवीतवत् कृतोत्तरीयपरिधानाम्' यथा स्मृतिः—'यथा यज्ञोपवीतं च धार्यते च द्विजोत्तमैः। तथा सन्धार्यते यत्नाद् उत्तराच्छादनं शुभम्'। न तु 'यज्ञोपवीतिनी'-इत्यनेन स्त्रीणामपि कर्माङ्गत्वेन यज्ञोपवीतधारणमिति' हरिशर्मोक्तं युक्तम्, स्त्रीणां यज्ञोपवीतधारणानुपपत्तेः। सरलाभट्टभाष्ययोरप्येवम् (प्रथम भाग ८९६ पृष्ठ)।

अत्र इस अर्थमें अन्य विद्वानोंकी सम्मति भी लिखी जाती है। (ट) 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' (१।१५।१) के भाष्यमें श्रीहरदत्तने लिखा है-'वासोविन्यासविशेषो यज्ञोपवीतम्।' वहाँपर उसने 'दक्षिणं बाहुमुद्धरते, अवधत्ते सव्यम् इति यज्ञोपवीतम् (२।१) यह 'तै.आ.का प्रमाण भी दिया है। उस वचनमें सायणका भाष्य इस प्रकार है-'दक्षिणं बाहुमूर्ध्वं कृत्वा सव्ये बाहौ लम्बमाने सति यद् वेष्टनं तद् यज्ञोपवीतम्' (२।१।१) यहाँपर यज्ञोपवीतकी शर्त नहीं लगाई गई है; अतः इस प्रकारके वस्त्रके विन्यासविशेषवाली स्त्री 'यज्ञोपवीतिनी' कही जायगी। (ठ) 'मीमांसादर्शन' (३।१।२१) सूत्रके शाबरभाष्यमें भी कहा है—'कर्तुश्च वासोविन्यासमात्रं गुणो भवति उपवीतं नाम' (ड) आर्यसमाजके महामहोपाध्याय श्रीआर्यमुनिजीने भी 'मीमांसार्यभाष्य' (३।१।२१) में कहा है—'यागमें सूत्रके स्थानमें प्रायः बिना सीया वस्त्र ही उक्त प्रकारसे (बाएं कन्धेमें) डाला हुआ उपवीत कहा जाता है, वही उपवीत इस अधिकरणका विषय है।

(ढ) इस प्रकार 'जैमिनि-गृह्यसूत्र' के व्याख्याता श्रीनिवासाध्वरीने भी (१।१ खण्डकी व्याख्यामें) कहा है—'स्त्रिया अपि यज्ञोपवीताकारेण उत्तरीयं कर्माङ्गं भवति' (ण) 'उद्धृते दक्षिणे पाणौ उपवीती' (मनु. २।६३) इसपर श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है-'वामस्कन्धस्थिते...यज्ञसूत्रे, वस्त्रे वा उपवीती'। इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि-स्त्रियोंके, यज्ञोपवीतकी भांति लपेटे वस्त्रको भी यज्ञोपवीत कहते हैं, वह वास्तविक यज्ञोपवीत-

विवक्षित नहीं। इस प्रकार 'गोभिल-सूत्र' (२।१।१९) में विवाह्यमान वधूका ब्रह्मचर्याश्रममूलभूत यज्ञोपवीत-सूत्र अभिप्रेत नहीं, किन्तु गोभिल-(२।१।१८) सूत्रमें वरदत्त उपवस्त्रका हारीत-वचनानुसार यज्ञोपवीतवत् विवाहयज्ञके आरम्भमें स्थापन करना ही यज्ञोपवीतिनीत्व है।

(त) यही बात गोभिलगृह्यसूत्रके भाष्यकार श्रीचन्द्रकान्ततर्कालंकारने भी लिखी है—'प्रावृतां-कृतोत्तरीयाम्। कथं प्रावृताम्? यज्ञोपवीतिनीम्—यज्ञोपवीतिनीमिव, यज्ञोपवीतवत् कृतोत्तरीयामित्यर्थः।...यज्ञोपवीतं—**यज्ञोपवीतवत् विन्यासविशिष्टमुत्तरीयम्**, तद् यस्या अस्ति, सेयं यज्ञोपवीतिनी ताम्, **यज्ञोपवीतवत् परिहितोत्तरीयवसनामित्यर्थः**। तद् आभ्यां पदाभ्यां पूर्वत्र (२।१।१८ सूत्र) सूत्रितयोर्वाससोर्विन्यासविशेषमिह दर्शयति। यज्ञोपवीतपदं च **उत्तरीयेपि** प्रयुज्यते विन्यास-विशेषलाभार्थम्—इति पुरस्ताद् अभिहितमस्माभिः।...सिद्धं खलु आसां [वधूनां] यज्ञोपवीतशब्दमुत्तरीयं; न यज्ञोपवीतम्, तस्माद् असिद्धिर्योषितां यज्ञोपवीतस्य। तामिमां प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम् [यज्ञोपवीतवत् परिहितोत्तरीयवसनां] वधूमभ्युदानयन् जपेत् पतिः (सोमो ददद् 'इत्येतं मन्त्रम्' २६५ पृष्ठ)। इसमें कैंसी स्पष्टता है?

(थ) म.म. पं० मुकुन्दमिश्रने भी इसकी यही व्याख्या लिखी है—'प्रावृतां-कृतोत्तरीयाम्, कथं प्रावृताम्? यज्ञोपवीतिनीम्, तामिव, **यज्ञोपवीतवत् कृतोत्तरीयाम्** इत्यर्थः, स्त्रीणामुपवीतस्याऽभावात्' (२।१।१९)। पूर्वसूत्र (१८) में वर द्वारा दिये वस्त्रका इस [१९ सूत्र]में विन्यास-विशेष अनूदित किया है, यह दोनों सूत्र इकट्ठे ही हैं, दूरके नहीं; तब एक वादीका 'सार्व. फरवरी १९४८ के अङ्कमें यह लिखना कि—'यदि वस्त्रको यज्ञोपवीतवत् धारण करना अभिप्रेत होता, तो वहाँ ही यज्ञोपवीतवत् धारण करना कह देते, अतः यहाँ यज्ञोपवीतका धारण करना ही अभिप्रेत है' यह कथन निस्सार तथा निरुपपत्तिक है, ये १८-१९ सूत्र कोई आपसमें व्यवहित नहीं, जिससे यह कल्पना पनप सके। १।२।१

गोभिल-गृह्यसूत्रके भाष्यमें भी पं० मुकुन्दमिश्रने लिखा है—'अत्र वाससा यज्ञोपवीतार्थः स्त्री-शूद्राणां कृते देवपितृकर्मणोरुपपद्यते' इति द्रष्टव्यम्। यहाँपर भी उन्होंने स्त्री तथा शूद्रकेलिए 'विन्यासविशेषसे वस्त्र पहनने' का नाम 'यज्ञोपवीत' होता है' यह माना है, उपनयन-संस्कार नहीं माना।

(द) यह स्मर्तव्य है कि—'या अकृन्तन्' मन्त्र बोलकर वर-द्वारा वस्त्र देनेके इस प्रकरणमें **किसी भी सूत्रकारने वधूका यज्ञोपवीत नहीं माना**, न उस समय यज्ञोपवीतके होनेमें किंवा उस विशेषणमें कोई **उपपत्ति** ही है। 'खादिर-गृह्यसूत्र' प्रायः 'गोभिल-गृह्यसूत्र' से मेल खाता है, पर वहाँ भी 'स्नातामहतेन आच्छाद्य' 'या अकृन्तन्निति' इत्यानीयमानायां पाणिग्राहो जपेत् 'सोमो ददद् इति' (१।३।६) यहाँ पर पति-द्वारा स्त्रीका 'या अकृन्तन्' मन्त्रसे उपवस्त्र-द्वारा आच्छादन ही है; यज्ञोपवीतका इस अवसर पर कोई गन्ध ही नहीं बतलाया गया। क्योंकि—यज्ञोपवीत शास्त्रानुसार **ब्रह्मचर्याश्रमके आरम्भमें** ही होता है, **गृहस्थाश्रमके आरम्भमें** कभी इष्ट नहीं; यह अत्यन्त स्पष्ट है; इसपर वादी प्रत्युत्तर कभी नहीं दे सकते। तब गोभिलमें इस अवसरपर यज्ञोपवीत अर्थ निराधार सिद्ध हुआ। केवल वधूका वस्त्र पहनना ही इष्ट हुआ।

(ध) यही बात सायणभाष्य वाले अथर्ववेदके १४ वें काण्डके आरम्भमें भी 'कौशिक सूत्र' के आधारसे लिखी है—'अहतेन वाससा तामाच्छादयति [वधूं वरः]' (१।४५,५३) **यज्ञोपवीतवद्** वाधूयं वस्त्रं बध्नाति' (२।६८)। देखिये यह गोभिल-सूत्रसे कितना मेल रखता है? कैसा शब्द-सादृश्य है? जैसे—'अहतेन वसनेन परिदध्याद् 'या अकृन्तन्' इत्येतया ऋचा' (२।१।१८) यह गोभिलसूत्र है, वैसे ही अथर्ववेद १४ वें काण्डकी कौशिकसूत्रानुसारी विधिमें भी लिखा है—'अहतेन वाससा तामाच्छादयति' यह शब्द कौशिक तथा गोभिलके शब्दतः तथा अर्थतः मिलते हैं। गोभिलने यहाँ 'या अकृन्तन्' ऋचा कही है, कौशिकसूत्रीय विधिमें भी १४ वें काण्डकी अथर्ववेदीय ऋचा 'या अकृन्तन्' ही है। पूर्व

सूत्रके आगे गोभिलमें 'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम्' सूत्र है, कौशिकमें भी पूर्व सूत्रसे आगे इसी गोभिलसूत्रका अनुवाद है-'यज्ञोपवीतवद् वाधूयं वस्त्रं बध्नाति'। कितना समान अर्थका मेल है? वही वाधूय वस्त्र विवाहकी समाप्तिमें ब्राह्मणको दे देना पड़ता है। इसमें अथर्ववेदकी भी साक्षी है-'सूर्यां [सूर्या-सूक्तं] यो ब्रह्मा [ब्राह्मण:] वेद, स इद् [स ब्राह्मण एव] वाधूयमर्हति' [वधूवस्त्रग्रहणयोग्य:] (१४।१।२९) यही बात अथर्ववेदसं. के १४।२।४१-४२ मन्त्रमें स्पष्ट है। यही बात 'वाधूयं वस्त्रं ददतं वरम् अनुमन्त्रयते' (१।२५-३०) 'आचार्यस्तत् परिगृह्णाति' (२।४१-४२) कौशिकसूत्रकी विधिमें यह स्पष्ट है (कौ.गृ. ७६।२७)।

(न) अब यही बात साक्षात् 'कौशिक-गृह्यसूत्र' में भी वादी श्रीध.दे. जी देखें। वहां दशमाध्यायमें 'या अकृन्तन्' इति अहतेन आच्छादयति' (७६।८) इस सूत्रकी वादीके परममान्य ठाकुर उदयनारायणसिंहने इस प्रकार व्याख्या की है-'या अकृन्तन्' मन्त्रसे अन्य नये अखण्ड वस्त्र (दुपट्टे) को अभिमन्त्रित कर यज्ञोपवीतकी भाँति बाँहमें बाँध लेवे'। अब इससे बढ़कर अन्य क्या स्पष्टता हो?

(प) श्रीबाणभट्ट जब राजा हर्षसे मिलने गये, तबका हाल लिखते हुए उन्होंने 'हर्षचरित' में लिखा है—'यज्ञोपवीती स्वस्ति-शब्दमकरोद्' (द्वितीय उच्छ्वास) तब क्या वादी इसका यह अर्थ करेगा कि-यज्ञोपवीत-पहने बाणभट्टने राजाको स्वस्ति कहा, क्योंकि यह सरल है? सरलताका विचार तो किया जाता है, पर यह नहीं सोचा जाता कि-ऐसा विशेषण असाभिप्राय हो जायगा। कवि लोग असाभिप्राय विशेषण नहीं दिया करते। क्या किसीको शंका पड़ गई थी कि-ब्राह्मण बाणभट्ट, बिना यज्ञोपवीत पहने वहाँ गया हो, जिसे दूर करनेकेलिए 'यज्ञोपवीती' विशेषण कहना पड़ा? वस्तुत: ऐसा नहीं। यहां भी यही अर्थ है कि-यज्ञोपवीतकी तरह दुपट्टा पहने हुए (यह उसके उस समयके वेषका वर्णन है, जो उस समय वासोविन्यासविशेष उसने किया) वा दाहिना हाथ

ऊपर करके (मनु. २।६३) बाणभट्टने 'स्वस्ति' शब्द कहा। इसी प्रकार उक्त गोभिलसूत्रकेलिए भी समझना चाहिए। उसमें उपपत्ति यह है कि-उक्त सूत्रसे पूर्वके सूत्रमें स्त्रीको वर द्वारा उपवस्त्र-प्रदान किया गया है। उस वस्त्रको वधू कहाँ पहिरे, कैसे पहिरे-यह प्रश्न रह जाता है, उसे ही स्पष्ट करनेकेलिए 'यज्ञोपवीतिनीम्' शब्द आया है कि—उसे यज्ञोपवीतकी तरह बाएं कन्धेपर दाहिनी बगल ऊपर करके पहरे, जिससे कर्ममें सुविधा हो। इस प्रकार यह अर्थ सोपपत्तिक हुआ, पर वादीके किये अर्थमें कोई उपपत्ति नहीं। स्त्रीका यदि वादीसे अभीष्ट अर्थवाला 'यज्ञोपवीतिनी' विशेषण आया है, तो 'सोमो ददद्' मन्त्र पढ़नेवाले वरका 'यज्ञोपवीती' विशेषण क्यों नहीं आया—वादी इसका उत्तर त्रिकालमें भी नहीं दे सकता। यह लोग इसी प्रकारका गलत व्यवहार करके अपना 'अन्धोंमें काना राजा' होकर व्यवहार कर रहे हैं।

(फ) वादीके पक्षमें सामश्रमीके अतिरिक्त किसी प्राचीनकी सम्मति नहीं, कोई इसमें उपपत्ति नहीं, बल्कि इस अवसर पर वादीके स्वामीकी भी सम्मति नहीं। 'सामश्रमीका अर्थ सरल है, आपका अर्थ खींचातानी है' (सार्व. मई १९४७) यह उपालम्भ भी वादी हमें नहीं दे सकता। कई ऐसे पारिभाषिक शब्द होते हैं, जिनका तदनुसार ही अर्थ करना पड़ता है। वहाँ सीधा प्रतीत हो रहा हुआ अर्थ अयुक्त होता है।

एक छात्र 'मरुस्थली' की सम्बुद्धिमें 'मरुस्थली' लिख आया था, उसे लिखना चाहिए था 'मरुस्थलि! वह 'हे गङ्ग!' लिख आया था, उसे लिखना चाहिये था—'हे गङ्गे! मैं उसे समझा रहा था-देखो वत्स! मरुस्थली 'नदी' है, अत: उसे 'अम्बार्थ-नद्योर्ह्रस्व:' करो। गङ्गा 'नदी' नहीं है, अत: उसे ह्रस्व न करो। वहाँ कोई वादी-जैसा 'तर्कमनीषी' आ गया। कहने लगा—पण्डितजी! मरुस्थली भला कभी 'नदी' हो सकती है? 'गङ्गा' भी कभी नदी-भिन्न हो सकती है? आप सरल बात छोड़कर खींचातानी क्यों करते हैं? इस प्रकार क्या वादी भी यहाँ ऐसी विद्वत्ता

नहीं दिखा रहा ?

(ब) यदि वादी इसमें सरलता देखता है, प्रकरण वा उपपत्ति नहीं देखता; तो 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ. ६।५५।५) में 'मांके हरामी पतिको तथा बहिनके उपपतिको अपनी सुनाना' ही सरल अर्थ मानेगा ? सूर्य, उषाका अर्थ खींचातानी समझेगा ? 'यज्ञोपवीतिनीम्' का यदि 'यज्ञोपवीतिनीमिव' यह अर्थ खींचातानी माना जायगा, तो फिर उसके स्वामीका वेदभाष्य भी उसे खींचातानीका मानना पड़ेगा, जहां स्वामीने बहुत स्थलोंमें वाचक-लुप्तोपमा दिखलाकर 'इव' रख दिया है। श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने 'वेदवाणी'के वेदांक (५।१-२)के १२१ पृष्ठमें यह स्वामीजीकी बात बड़े गौरवसे लिखी है—(४) 'आचार्य दयानन्दने वाचक-लुप्तोपमालंकारसे अनेक मन्त्रोंका भावार्थ खोला है, अर्थात् उषाके समान स्त्री, मित्रके समान अध्यापक, वरुणके समान उपदेशक आदि (स्तं. २ पं. १४)। हमारे पक्षमें तो गोभिल-प्रोक्त परिभाषाका अनुग्रह है—हम दिखला चुके हैं, क्योंकि यह पारिभाषिक शब्द है।

(भ) यदि वादी विवाहमें इस अवसरपर गोभिलके 'यज्ञोपवीतिनी' का अर्थ उस लड़कीका 'यज्ञोपवीत करना' मानता है, जैसेकि—विवाह-संस्कारमें वह 'या अकृन्तन्' मन्त्रके अवसरपर लड़कोके गलेमें यज्ञोपवीत डाला करता है; तो वह अपनी उक्तिसे विरुद्ध करता है। वह 'पितुर्गेहे तु या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता। भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली मता' इस वचनमें—'असंस्कृता' का अर्थ 'अनुपनीता' करता है, देखिये उसका 'स्त्रियोंको वेदाध्ययन' (पृ. १४५-१४६) इस पद्यसे वह बिना यज्ञोपवीत हुए लड़कीका पिताके घरमें रजोदर्शन हो जानेपर उसे वृषली (धर्मपतिता-शूद्रा) मानता है। कन्याके विवाहकी आयु वह १७ से २४ वर्षके भीतर मानता है, और लड़कीके इस विवाहके १७-२४ वर्षके अवसर पर वह उसका गोभिलानुसार यज्ञोपवीत करता है; तब वह पिताके घरमें उपनयनसे पूर्व ही १३-१४ वर्षकी अवस्थामें दृष्टरजस्का हो

जानेसे शूद्रा हो गई, तब विवाहमें वृपली (शूद्रा) हो जानेसे ही यज्ञोपवीत की अनधिकारिणी हो गई; क्योंकि—गोभिल शूद्रको यज्ञोपवीत नहीं देते। तब उसका उस अवस्थामें गोभिलके अनुसार 'यज्ञोपवीतिनीत्व' नहीं हो सकता।

यदि इस डरसे वादी उक्त पद्यमें 'असंस्कृता' का अर्थ 'अविवाहिता' करे; तो विवाहसे पूर्व पितृगृहमें दृष्टरजस्का कन्याको उसे वृषली (शूद्रा) मानना पड़ेगा। तब फिर उसके १७-२४ वर्षमें विवाह होनेपर वृपली होनेसे वह यज्ञोपवीतवती नहीं हो सकेगी। तब गोभिलोक्त 'यज्ञोपवीतिनी' शब्द निर्विषय हो जायगा। तब उसे भी 'यज्ञोपवीतिनी' शब्दका भिन्न अर्थ करना पड़ेगा। इससे भी उसका ही पक्ष कटा। यदि वह उस लड़कीका यज्ञोपवीत ८-१२ वर्षमें ही कर देगा; तो फिर विवाहके अवसर पर उसका 'यज्ञोपवीतिनी' विशेषण अप्रासङ्गिक हो जायगा; जबकि पूर्वके यज्ञोपवीती वरका इस अवसर पर 'यज्ञोपवीती' विशेषण नहीं आया। तब वादीकी इस 'यज्ञोपवीतिनी' का 'यज्ञोपवीतयुता' अर्थ करना सभी दृष्टियोंसे अशुद्ध सिद्ध हुआ। वादी त्रिकालमें भी इसका प्रत्युत्तर नहीं दे सकता—यह 'आलोक' पाठक नोट कर लें।

(म) म.म. मुकुन्दशर्माने 'यज्ञोपवीतिनी' का 'तदेव [कङ्कण] सूत्रं ब्राह्मणोपनीतमिह यज्ञोपवीतपदार्थः, 'उपवीतं ब्रह्मसूत्रम्' इत्याग्नेयकोशेन स्मृत्या च ब्रह्मसूत्रमुपवीतम्, तद् यज्ञोपयिकमिति यज्ञोपवीत-समाख्या अस्य। तेन अतः पूर्वं तद् विद्यते यस्यास्तद्वतीम्। तद्बन्धनमपि आचार-परम्परागतममुमर्थं प्रमाणयति' यह वैयक्तिक अर्थ भी अपनी गोभिलकी टीकामें किया है; इससे भी वादीके इष्ट अर्थ यज्ञोपवीतकी सिद्धि नहीं, जसे कि—उसने 'सार्वदेशिक' (मई १९४७ पृ. १६०) में उनका पूर्वोत्तर पाठ छिपाकर दिखानेकी चेष्टा की है। क्योंकि—उक्त म.म. महोदय गोभिल-व्याख्याकी भूमिकामें स्त्री एवं शूद्रका उपनयनाधिकार नहीं मानते।

यह उन्होंने श्रीचन्द्रकान्तका खण्डन नहीं किया, क्योंकि उन्होंने उक्त गोभिलसूत्रकी वैसी ही तो व्याख्या की है, उसमें 'स्त्रीणामुपवीतस्याभावात्' यह उपपत्ति भी दी है। शेष अर्थ उन्होंने स्वतन्त्र दिया है। उसका उनका तात्पर्य यह है कि आग्नेय (अमर) कोषमें उपवीत ब्रह्मसूत्र अर्थात् ब्राह्मणसे [ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति' (ऋ.भा.भू.पृ. ८७) 'समानार्थौ एतौ ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च' (महाभाष्य ५।१।७) ब्राह्मण भोजन 'ब्रह्मभोज' नामसे प्रसिद्ध है] लाये गये सूत्र (कङ्कण) को कहते हैं। वही विवाहरूप यज्ञका उपयोगी ब्राह्मणसे लाया हुआ कङ्कणसूत्र बांधे हुई कन्या यहां 'यज्ञोपवीतिनी' शब्दसे इष्ट है—यह श्रीमुकुन्दझाजीका आशय है। उसी कङ्कणको बांधना उन्होंने आजकलके आचारानुकूल भी माना है। जैसेकि—'उत्तररामचरित' में श्रीराम, सीताको विवाहमें बान्धे हुए उसी कङ्कणको याद दिलाते हैं, वह ब्राह्मण शतानन्द-द्वारा लाया गया था...'अयमागृहीत-कमनीय-कङ्कण: (विवाह-सूत्रधारी), तव मूर्तिमानिव महोत्सव: कर:' (१।१८) तब इससे वादीके पक्षकी सिद्धि नहीं।

(य) वादी जो कि—म.म. पं० शिवदत्तजीका उक्त गोभिलसूत्रके अनुसार वधूका यज्ञोपवीत मानना दिखलाता है; उससे उसकी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। पं. शिवदत्तजी 'सिद्धान्तकौमुदी तत्त्वबोधिनी' के १५२ पृष्ठमें टिप्पणी कर गये हैं—'विवाहमुहूर्ते एव उपनयनं कार्यम्, स्त्रीणां पतिव्यतिरिक्तगुरोरभावाद् उपनयनत: परं गुरूपासनस्य आवश्यकत्वादेव 'पतिसेवा गुरौ वास:' इत्युक्तम्। अतएव कन्यादानत: पश्चात् 'सोमो ददद्' इति पाठत: प्रागेव उपनयनेन यज्ञोपवीतादिधारणम्' इससे उन आर्य-समाजियोंको—जो यदि उनका पक्ष मानते हैं, तो विवाहमें 'सोमो ददद्' मन्त्रके पाठसे पूर्व अपनी कन्याओंका यज्ञोपवीत-संस्कार कराना पड़ेगा। उस समय विवाह्यमान लड़कीका शिरोमुण्डन भी करायें; क्योंकि—उपनयनकी आदिमें उपनेयका शिरोमुण्डन सर्वसम्मत है (स्वा.द.सं.वि. पृ. ८०)। जातिपक्ष माननेवाले वादी लड़कीका मुण्डन मानेंगे भी।

कन्याविवाहका सिद्धान्त वादीके मतमें २४ वाँ वर्ष है, तब इससे पूर्व कन्याका यज्ञोपवीत न हो सकेगा, न वह वेद पढ़ सकेगी। तब पं० शिवदत्तजीका 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत' में जातिपक्षसे कन्याका ग्रहण वादीके द्वारा भी खण्डित हो जायगा, क्योंकि—वादी कन्याका विवाह उत्तमतासे मानेगा—२४ वर्षमें, यज्ञोपवीत भी उसका पं० शिवदत्तजीके अनुसार विवाहमें होगा, तब आठवें वर्षमें कन्याका यज्ञोपवीत न हो सकनेसे [क्योंकि पं० शिवदत्तजी विवाहमें कन्योपनयन मानते हैं] 'अष्ट-वर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' में पं० शिवदत्तजीका जातिपक्षसे कन्याका ग्रहण व्यर्थ सिद्ध हो जायगा। यह जातिपक्षमें दोष पड़ा। अथवा यदि वादी, पं० शिवदत्तजीकी बात मानकर ८ वर्षकी कन्याका यज्ञोपवीत मानेंगे, क्योंकि—मुख्यकाल उसका यही होगा; तब वादीको कन्याका विवाह भी ८ वर्षमें करना पड़ेगा, क्योंकि—पं० शिवदत्तजी, गोभिल तथा हारीत आदि, विवाहमें ही कन्याका तथाकथित 'यज्ञोपवीत' कहते हैं, यद्यपि वहां उपवस्त्रका बाएं कन्धेपर रखना ही इष्ट है, तब वादी कन्या-विवाहा-वस्थामें अनायास ही पराजित हो जावेगा। यदि वादी अपनी इच्छा ही करेगा, तो उसने म.म.जीका प्रामाण्य ही क्या किया ?

इसके अतिरिक्त म.म.जी कन्याका गुरु पतिके अतिरिक्त अन्य नहीं मानते, तब उसे पतिसेवा ही करनी पड़ेगी, गुरुकुलवास न करना पड़ेगा। तब वादीको अपने कन्यागुरुकुल अशास्त्रीय मानने पड़ेंगे। अब वादीकी बनी-बनाई बालूकी दीवार भी गिरती है, पाठकगण देखें। वादीने यह गोभिलका मत दिखलाया है! अन्य किसी गृह्यसूत्रका मत ऐसा है ही नहीं। तो क्या वादी लोग अपना विवाह गोभिलगृह्यसूत्रानुसार करते हैं ? यदि नहीं, तो 'न रहा बांस न बजी बांसुरी'। म.म.जी कहते हैं—'सोमो ददद्' मन्त्र पढ़नेसे पूर्व विवाहमें कन्याका यज्ञोपवीत हो, पर जब वादीकी विवाह-संस्कार-विधिमें—'सोमो ददद्' मन्त्रका ही अत्यन्ताभाव है; तब वे कन्याओंका यज्ञोपवीत कब कराएंगे ? उड़ी उनकी बालूकी दीवाल।

यदि वादी कन्याका यज्ञोपवीत २४ वर्षमें विवाह न करके बहुत पहले ८ वर्षमें कर देगा, तो फिर विवाहके गोभिलके उक्त सूत्रमें 'यज्ञोपवीतिनीम्' इस वधूके विशेषणकी सोपपत्तिकता एवं साभिप्रायता नहीं रहती। अन्यथा पुरुषका भी वहां 'यज्ञोपवीती' विशेषण क्यों नहीं आया, यह वादीको बताना पड़ेगा। पर वादी इसका त्रिकालमें भी उत्तर नहीं दे सकता।

(र) हमारे किये हारीतप्रोक्त सद्योवधूके उपनयनके 'पतिके पास 'वैधनयन' अर्थको उपहासास्पद बताते हुए वादीका यह कहना कि-'क्या बिना पतिके समीप लाये भी वधूका विवाह हो सकता था, जो 'उपनयन-मात्रं कृत्वा विवाह: कार्य:' यह लिखनेकी आवश्यकता हुई ? उपनयनका ऐसा विचित्र अर्थ किसीने भी नहीं किया' (सार्व. जून १९४७ पृ. २०७) इसपर हम सोपपत्तिक तथा वसिष्ठादिकी साक्षीपूर्वक पहले लिख चुके हैं, जिसपर वादी कुछ भी नहीं बोल सका। वादी भी बताये कि-क्या उपनयन-संस्कार विवाहकालमें ही हुआ करता है, जो कि वह विवाह-प्रकरणके उपनयन वा यज्ञोपवीत शब्दका यथाश्रुत अर्थ ले रहा है ? यदि सद्योवधूका 'उपनयन' उपनयन संस्कार ही होता, तो उसे हारीतने वेद क्यों नहीं पढ़ने दिया ? 'ब्रह्मवादिनी' इस नामसे उसे क्यों वंचित किया ? स्पष्ट है कि-वहाँ वादिसम्मत अर्थ नहीं है। 'मन्त्रोपनीता' (१७।६४) में वसिष्ठको भी हमारा ही अर्थ सम्मत है। हारीत, गोभिलादिकी एक-वाक्यतासे वरसे उपवस्त्र लेना, उसे ही यज्ञोपवीतवत् धारण करना, विवाहके अन्तमें उसे भी वेदानुसार ब्राह्मणको दे देना-यह विवाहविधि-विशेष ही उसका उपनयन है, उपनयन-संस्कार वधूका यहाँ इष्ट नहीं। इस विषयमें पहले पर्याप्त स्पष्टता की जा चुकी है।

(ल) न्यायसिन्धु आदिसे पं० शिवदत्तजी आदिके हारीतकी ब्रह्म-वादिनी आदिके उद्धरणसे वादीका अपने पक्षकी सिद्धि करना व्यर्थ है। उसमें प्रष्टव्य है कि-हारीतकी ब्रह्मवादिनी तथा वैदिककालकी ऋषिकाएं समान हैं, या भिन्न-भिन्न ? यदि कहें कि भिन्न-भिन्न, तो 'सार्वदेशिक' जून १९४६ पृ. १६२ में लिखित 'गोधा आदि सैकड़ों ऋषिकाएं वैदिक-कालमें हुईं, जिन्हें ब्रह्मवादिनियोंके नामसे पुकारा जाता था। इन ब्रह्म-वादिनियोंके विषयमें 'हारीतस्मृति' में लिखा है—'तत्र ब्रह्मवादिनीनाम् उपनयनम्' इत्यादि वादीके वचनका स्ववाक्यसे विरोध पड़ेगा। यदि ब्रह्मवादिनी तथा वैदिककालकी ऋषिकाओंको वादी समान माने, तो उसका अब तकके लेखमें सम्यक् उत्तर दिया ही जा चुका है। ब्रह्मवादिनी सारी आयु हारीतानुसार ब्रह्मचारिणी रहती है, यह बात आजकी स्त्रियों पर लागू न होनेसे उनके यज्ञोपवीतका प्रश्न ही नहीं उठता। फलत: स्त्रियोंको उपनयन तथा वेदाध्ययनका अधिकार शास्त्रीय नहीं, गोभिलको भी वैसा इष्ट नहीं, यह सम्यक्तया सिद्ध हो गया।

---

(७) 'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता' पर विचार।

पूर्वपक्ष—'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता' (ऋ. १०।१०९।४) इस मन्त्रसे स्त्रीके उपनयनकी सिद्धि है, 'ब्राह्मणकी जाया-स्त्री यज्ञोपवीत धारण करके भयंकर सबला बन जाती है। इस मन्त्र-द्वारा ब्राह्मण स्त्रीके लिए 'उपनीता' विशेषणका प्रयोग उसके उपनयन एवं वेदाधिकारकासूचक है (स्वा.वे.नं. 'वैदिक-धर्ममें', श्रीम.रा. पौराणिकपोलप्रकाशमें, वादी 'सार्वदेशिक' में श्रीरा.भ., 'स्वा. ह.प्र. वैदिकमुनि स्वाध्याय संहितामें, श्रीज.कु. शास्त्री 'वैदिक डिप्लोमामें' श्रीउ.बु. शि.पू. सार्वदेशिकमें, श्रीर. आर्य 'हिन्दु' में इत्यादि।)

उत्तरपक्ष—यहाँ वादियोंको 'उपनीता' शब्द देखकर भ्रम पड़ गया है, जैसेकि-कइयोंको 'विद्या हवै ब्राह्मणमाजगाम' 'हवै विद्या' देखकर 'हवाई' विद्या प्राप्त हुई, यह अर्थ प्रतीत होता है। जैसे स्वा.द.को 'तरुतारं' में 'तारं' देखकर 'ताराख्यं यन्त्र'' का विचार आ गया। उक्त

मन्त्रमें 'उपनीता' अर्थ 'उपस्थापिता' है, 'यज्ञोपवीतवाली' नहीं। यज्ञोपवीतिनी अर्थका वहां कोई प्रकरण भी नहीं, न ही यज्ञोपवीतिता भयङ्करतामें कभी हेतु हो सकती है। यदि यहाँ यज्ञोपवीत विवक्षित होता, तो यहाँ 'कन्या' शब्द होता, 'जाया' शब्द न होता। वादियोंने यहाँ 'जाया' का 'स्त्री' अर्थ किया है—यह है भी ठीक, 'सा जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुन:' (ऐत.ब्रा. ७।१३, मनु. ९।८) 'जाया' पुत्रको उत्पन्न कर चुकी स्त्रीका नाम है, क्या उसी समय उसका उपनयन-संस्कार होगा? वादीका 'ब्रह्मज्ञान-सम्पन्ना देवी' अर्थ करना भी ठीक नहीं, 'ब्राह्मणस्य' यह षष्ठी है, प्रथमा नहीं, जायाका विशेषण नहीं। 'भीमा' का अर्थ 'भयानक सबला' यह 'सबला' अर्थ कहाँसे निकल आया? उपनयनके पहिननेसे स्त्रीका भयकर होना वा सबल हो जाना निरुपपत्तिक तथा प्रत्यक्ष-विरुद्ध भी है। यज्ञोपवीतसे माणवकको 'सौम्य' कहा जाता है, भयंकर नहीं, अत: स्पष्ट है कि—यह अर्थ यहाँ बनावटी है।

यहाँ 'उपनीता' का अर्थ 'उपस्थापिता' है, इस मन्त्रमें चन्द्रसे अपहृत बृहस्पतिकी स्त्रीको उपस्थापित करनेका वर्णन है। देखिये—इसपर सायण-भाष्य—'तत:, भीमा-शत्रुरूपाणां पापानां भयंकरी पतिवत्नी एषा जाया, ब्राह्मणस्य-बृहस्पते:, उपनीता-समीपे देवै: स्थापिता; तप:-प्रभावो दुर्धानामपि परमे व्योमन्-उत्तमे स्थाने निदधाति खलु। तस्माद् एनामपि देवानां-परिग्रहरूप: तपोमहिमा बृहस्पतेरन्तिके उपस्थापयति'। स्पष्ट है कि—यहाँ कोई यज्ञोपवीतकी गन्ध भी नहीं।

उक्त मन्त्रमें 'ब्राह्मण' का अर्थ 'बृहस्पति है; प्रकरण भी वही है। ब्राह्मणभागमें लिखा है—'ब्रह्म वै बृहस्पति:' (ऐतरेय ब्रा. २।३८) यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ 'बृहस्पति' किया गया है। इससे अधिक स्पष्टता शतपथके इस वचनमें देखनी चाहिये—'स वै एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञ:, यद् एनेन बृहस्पतिरयजत; ब्रह्म हि बृहस्पति:, ब्रह्म हि ब्राह्मण:' (५।१।१।११) 'तैत्तिरीयब्रा.' में भी कहा है—'ब्रह्म वै देवानां बृहस्पति:' (३।७।३।७)

इस प्रकार यहाँ 'ब्राह्मण' का अर्थ 'बृहस्पति' है। बृहस्पतिकी 'तारा' का जिसे चन्द्रने हर लिया था, बृहस्पतिके पास पहुँचानेका वर्णन है। इसकी पुष्टि पूर्वोत्तर-मन्त्रोंसे होती है। 'सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुन: प्रायच्छद् अहृणीयमान:' (ऋ.सं. १०।१०९।२) अर्थात् सोमो राजा (चन्द्रने) अहृणीयमान: (लज्जित न होते हुए) (हृणीङ् लज्जायाम्, कण्ड्वादि:) ब्रह्मजायां—बृहस्पतिकी स्त्रीको पुन: प्रायच्छत् (फिर वापिस कर दिया)।

'ब्राह्मण' का अर्थ 'बृहस्पति' है, यह पहले सप्रमाण दिखलाया ही जा चुका है। इसीकी पुष्टि 'तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पति: सोमेन नीताम्' (ऋ. १०।१०९।५) इस मन्त्रमें है। यहांपर 'ब्राह्मण' का पर्यायवाचक 'बृहस्पति' शब्द साक्षात् देनेसे स्पष्ट ही है। अर्थ भी वही है—'सोमेन-चन्द्रेण, नीतां जायां बृहस्पति: अन्वविन्दत्'। यहां भी स्पष्ट ही 'बृहस्पति' की चन्द्रापहृत पत्नी ताराको लौटाना सिद्ध हो रहा है। इसलिए 'यामाहुस्तारकैषा' (५।१७।४) अथर्ववेदके इन पूर्वोक्त ऋग्वेद वाले मन्त्रोंके उल्लेखके साथ यह मन्त्र भी लिखा है, जिसमें 'तारा' का नाम 'तारका' शब्दसे मिलता है। तब इसमें वादियोंके अर्थका गन्ध भी सिद्ध न हुआ। ब्राह्मणकी स्त्रीको 'उपनीता' कहनेसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रकी स्त्रीका इससे यज्ञोपवीत निषिद्ध हो जायगा। अथवा वे पहनें, तो ब्राह्मणकी स्त्री तो उससे भयानक हो जायगी, शेष स्त्रियां तो सचमुच राक्षसी हो जायंगी। भयानक ब्राह्मणी भी फिर पतिसे वर्जनीय हो जायगी, क्योंकि—उसके पतिका तो उपनयनसे कहीं भयानकत्व दिखलाया नहीं गया, तब यह असदृश विवाह हो जायगा। वस्तुत: उक्त अर्थ निर्मूल है।

इस प्रकरणसे स्पष्ट है—उक्त 'उपनीत' यह क्तान्त क्रिया है, 'यज्ञोपवीत पहने हुई' यह उसका विशेषण-शब्द नहीं, किन्तु 'बृहस्पतिके पास उपस्थापित की गई' यही इसका अर्थ है। तभी 'अथर्ववेद-संहिता' में ऋग्वेद-संहिता-जैसे उक्त मन्त्रमें 'भीमा जाया ब्राह्मणस्याऽपनीता' (५।१७।६)

यहां 'उपनीता, पाठ नहीं, किन्तु 'अपनीता' है। यदि वेदको 'उपनीता' का 'यज्ञोपवीत वाली' यह अर्थ इष्ट होता, तो अथर्ववेदमें ऋग्वेद-जैसे मन्त्र में 'उपनीता' के स्थानमें 'अपनीता' यह पाठ न मिलता। इससे स्पष्ट है कि-'ऋग्वेद, के मन्त्रमें तो 'उपनीता' यह 'उपस्थापित की गई' इस अर्थ में क्तान्त किया है, और 'अथर्ववेद' के मन्त्रमें 'अपनीता' यह बृहस्पति की स्त्रीका क्तान्त विशेषण है। 'अपनीता'का अर्थ हर ली गई हुई' हैं। इसमें ज्ञापक मन्त्र है- 'तेन जायामन्वविन्दत् बृहस्पतिः सोमेन नीताम्' (ऋ. १०।१०९।५) इस लिये इस पर आर्यसमाजी श्रीराजारामजी शास्त्रीने यही अर्थ किया है- 'हर ली गई ब्राह्मणकी जाया भयावनी है'। तब 'यज्ञोपवीत धारण करके पत्नी भयंकर सबला बन जाती है'। यह वादियोंका अर्थ बनावटी सिद्ध हुआ। इधर वादी लोग वेदमें रूढ, योगरूढ शब्द नहीं मानते, तब 'उपनीता' पदका सामान्य अर्थ 'उपस्थापित की गई' यही होगा, 'यज्ञोपवीतवाली' इस अर्थमें इसकी शक्ति नहीं। यदि इन मन्त्रोंका आध्यात्मिक अर्थ माना जाए, तो भी यहां स्त्र्युपनयनकी कोई बात ही सिद्ध नहीं होती। इससे वादियोंकी सिकताभित्ति गिर गई। तब स्त्रीका इस मन्त्रसे वेदाध्ययन कैसा ?

---

(८) 'स्त्रिय उपनीता अनुपनीताः' पर विचार।

पूर्वपक्ष—'पारस्करगृह्यसूत्र' के निर्माणके समय वैदिक-मर्यादाका कुछ लोप हो चुका था, अतः उसमें 'स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च' ऐसा लेख सन् १९३६ में 'सिद्धविनायक प्रेस काशी' में छपे संस्करणमें पृ. ८४ में पाया जाता है, जिससे सिद्ध होता है कि-उस कालमें आर्य स्त्रियोंका उपनयन संस्कार हुआ करता था' (एक सिद्धान्तालंकार, सार्वदेशिक जून १९४६)।

उत्तर-यदि ऐसा है; तो पारस्कर-वर्णित स्त्रियोंका उपनयन भी

वैदिक-मर्यादाका लोप हुआ, क्योंकि वादीने वैसा माना है। फिर तो वादीके स्वामी भी वैदिक-मर्यादाके कुछ विलोपक हुए, क्योंकि-उन्होंने अपनी 'सं.वि.में पारस्करका अनुसरण किया है। जबकि-ऐसा पाठ सब पारस्कर ग्रन्थोंमें नहीं है, एकमें दीखा है, तब स्पष्ट है कि-यह पाठ किसी आधुनिकने उसे मूलमें प्रक्षिप्त कर दिया, अन्यथा सब ग्रन्थोंमें होता। पारस्कर जब कन्याओंके संस्कारमें मन्त्र ही नहीं पढ़वाते, तब उसे उपवीत कैसे देंगे, यह वादी सोच नहीं सकता। देखिये पारस्कर—'अथास्य (पुत्रस्य) मूर्धानमवजिघ्रति 'प्रजापतेष्ट्वा' इत्यादि-मन्त्रैः। स्त्रियै मूर्धानमेव अवजिघ्रति तूष्णीम्' (१।१८।६) 'तूष्णीं' के हरिहर भाष्यमें लिखा है— 'विना मन्त्रेण'। श्री जयरामने भी लिखा है—'स्त्रियास्तु मूर्धावघ्राणमात्रं न त्वन्यत्, तदपि तूष्णीं, नतु मन्त्रेण'। अब स्त्रियोंका 'उपनीता' यह पद पारस्करके मत में प्रक्षिप्त हो गया। और फिर 'अनुपनीताः' पक्ष ही उस में क्यों ? यदि मुद्रायन्त्रविशेषका नाम लेने से प्रामाणिकता होती है, तो सं. १९९५ में 'मास्टर प्रिण्टिग काशी में छपे हुए' पारस्करमें लिखा है- 'पुंसामेवैतद् (उपनयनं) भवति, न स्त्रीणाम्' तब वादीके पक्षका खण्डन हो गया।

इस उद्धरणको आर्यसमाजी श्री इन्दु०ने अपने 'कन्योपनयन-संस्कार' के द्वितीय स्तवक ५४ पृष्ठ में, बम्बई आर्यसमाजके उपदेशक श्री महा. श. ने 'कन्योपनयनविधि' के ३७ पृष्ठमें दिया है। सम्भवतः इसे 'पुरुषार्थ-प्रकाश' में स्वा० नि.नं.जी ने भी .उद्धृत किया है। श्री स.दे. सेठी शास्त्रिणीने 'संस्कृतम्, अयोध्या' (११।१० अङ्क)में, शि.सि. ने 'सार्वदेशिक फर्वरी १९४८में उद्धृत किया है, पर सबने उद्धरण देते हुए अन्धपरम्परा कर दी। देखा भी नहीं कि उक्त पाठ पा. गृ. के मूलमें है भी, या नहीं ? वस्तुतः यह पा.गृ. के मूलमें तो है ही नहीं। यह ३।२।१ पारस्करसूत्रके हरिहर-भाष्य में है। उपस्थापक लोग इसका पूर्व तथा उत्तर पाठ जनता

की दृष्टिसे छिपा कर मध्यका पाठ जनताकी दृष्टिमें रखते हैं, जिससे अनुसन्धान न करने वाली साधारण जनता इनके पक्षको दूध का धुला समझ ले। वस्तुत: ऐसा करना विद्वानोंकी दृष्टिमें अपने पक्षको दुर्बल सिद्ध करना है।

जब यह मूल का पाठ नहीं, किन्तु टीकाका पाठ है, तो टीकाकारके अपने वाक्यसे पहले मूलका वचन देखना पड़ता है, तभी उसके सिद्धान्तका पता लगता है। अब पारस्करगृ. को देखना चाहिए कि उसकी कन्या-संस्कारके विषयमें क्या सम्मति है? उसके अवगाहनसे मालूम पड़ता है कि-पारस्करगृ. तो कहता लड़कोंका ही संस्कार है, लड़कियोंका नहीं। देखिये—'जातस्य कुमारस्य' (१।१६।३) इसकी अनुवृत्ति सब संस्कारोंमें है। यहाँ पारस्करको जातिपक्ष इष्ट नहीं। 'कुमारस्य' कहनेसे उसे जातिपक्षका बाध इष्ट है, अन्यथा 'जातस्य' ही कहना पर्याप्त था, उसीसे जातिपक्षवश 'जाताया:' उत्पन्न लड़कीका ग्रहण हो जाता, पर पृथक् 'कुमार' शब्द कहनेसे यहाँ जातिपक्ष बाधित हो गया। इसलिए इस सूत्र की टीकामें श्रीकर्काचार्यने कहा है-'कुमारग्रहणाच्च अत: प्रभृति स्त्रिया न भवति'। इसी बातको श्रीगदाधरभट्टने भी लिखा है। यहाँ श्रीवेणीराम गौडकी विवृति भी है-'अत्र सूत्रे 'कुमार' पदपाठाद् इत: प्रभृति कार्यं स्त्रीणां न भवतीति ध्वन्यते' (पृ. ५७)।

इस प्रकार पारस्करके मतमें कुमारीके वैध संस्कार होते ही नहीं। जहाँ पर उसे कुमारीका कोई कर्म इष्ट होता है, वहाँ उसका नाम भी कह देता है, और 'तूष्णीम्' कहकर मन्त्रका भी निषेध कर देता है। जैसाकि हम १।१८।६ का उद्धरण ऊपर दे चुके हैं। स्वा.द.जीने भी प्रथम संस्कारविधि नामकरण ३६ पृष्ठमें लिखा है-'अंगादङ्गात् सम्भवति' यह मंत्र पढ़के पुत्रका शिर सूंघे ११। कन्याकी भी इस प्रकारसे क्रिया नामकरणकी करें, किंवा मन्त्रको छोड़ के'।

इस भान्ति पार.गृ.में अवशिष्ट संस्कारोंमें भी समझ लेना चाहिए।

जैसा-'षष्ठे मासि अन्नप्राशनम्' (१।१६।१) यहाँ श्रीकर्कने भाष्य किया है—'कुमारस्य कर्तव्यमिति शेष:। उसका कारण है 'जातस्य' से भिन्न 'कुमार' की आ रही हुई अनुवृत्ति'। इस प्रकार जयराम आदि अन्य भाष्यकारों ने भी लिखा है। चूडाकरणमें 'कुमारमादाय' (२।१।२४) और 'उपनयन' में 'तं च पर्युप्तशिरसम्' (२।२।५) यहाँपर श्रीकर्कने लिखा है-'तं च इति कुमारोऽभिधीयते'।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि-पारस्करगृह्यसूत्र स्त्रियों का उपनयन नहीं चाहता, तब उसका कोई भाष्यकार भी 'स्त्रिय उपनीता:' कैसे लिखे? यदि लिखे भी, तो फिर उससे विरुद्ध कैसे लिखे-'स्त्रियोऽनुपनीता:'। फिर भी 'पारस्करगृ.' के हरिहरभाष्यसे जो कि—'स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च' यह वाक्य कई आर्यसमाजियोंकी ओरसे उद्धृत किया जाता है, उसकी परीक्षा करनी चाहिये कि-उसका क्या अभिप्राय है?

यह उद्धरण ३।२।१ सूत्रस्थ-हरिहरभाष्यसे दिया जाता है। उसमें पूर्वपक्षी इस उद्धरणका पूर्व और उत्तर पाठ जनताकी दृष्टिमें नहीं आने देते। अब हम उनसे छिपाए हुए पाठको उद्धृत करते हैं, जिससे वादियों का अभिप्रेत आशय निरस्त हो जायेगा। वह पाठ यह है। 'तमरुह्य ते पुये उपनीता: [यह 'उपेता जपन्ति' पार. ३।२।१२ सूत्रकी व्याख्या है] ते 'सुहेमन्त:' इति मन्त्रं जपन्ति' अर्थात् उनमें जो उपवीतधारी पुरुष होते हैं, वे 'सुहेमन्त:' इस मन्त्रको बोलते हैं। इसके आगे प्रकृत पाठ यह है—

"अथ 'स्योना पृथिवि!' इत्यनया ऋचा स्वामि-प्रभृतय:, स्त्रिय:, उपनीता:, अनुपनीताश्च-सर्वे यथोक्तक्रमेण दक्षिणपार्श्वै:, प्राक्शिरस: संविशन्ति-स्वपन्ति' (३।२।१-१२) यहाँ पर 'उपनीता अनुपनीताश्च' यह 'स्त्रिय:' का विशेषण नहीं है, किन्तु 'स्वाभिप्रभृतय:...सर्वे' के ये विधेय विशेषण हैं। वहां अर्थ यह है कि-स्वामी तथा अन्य बड़े-छोटे, स्त्रियां, तथा उपनीत-अनुपनीत सभी लोग क्रमश: दाहिनी करवटसे पूर्व दिशाकी ओर सिर करके लेटें"।

यहाँ पर स्वामी आदि जो बड़े उपनीत होते हैं; जो छोटे तथा स्त्रियां अनुपनीत होती हैं, उन सभीको लेटना पड़ता है। इस वाक्य में उपनीत-अनुपनीत सबको नियत-स्थान पर लेटनेका विधान आया है; यह 'उपनीताः' शब्द स्त्रियोंका विशेषण नहीं है। अथवा 'स्वामिप्रभृतयः, तथा स्त्रियः' यह दो पद हैं, उसके मुकाबलेके भी दो पद हैं—'उपनीता अनुपनीताश्च'। तो 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इस न्यायसे 'उपनीताः' यह 'स्वामिप्रभृतयः' का विशेषण है; और 'अनुपनीताः' यह 'स्त्रियः' का विशेषण है। अब विद्वान् पाठकोंने देख लिया होगा कि—अपने निराधार पक्षको सिद्ध करनेके लिए वादी लोग किन-किन अवैध हथकण्डोंका अवलम्बन किया करते हैं। 'स्त्रिय उपनीता अनुपनीताश्च'से पूर्व जो 'स्वामिप्रभृतयः' पाठ था, तथा उसके बाद 'सर्वे' यह पाठ था; जो 'उपनीता अनुपनीताः' का विशेषण था—उसको यह लोग छिपा दिया करते हैं। केवल इसलिए कि—किसी प्रकार इनका निर्मूलपक्ष समूल सिद्ध हो जावे। जबकि मूलकार स्त्रीका उपनयन नहीं मानते, भाष्यकार हरिहर आदि भी वैसा नहीं मानते, तब बलात् उनके पूर्वापररहित उद्धरणसे वैसा कैसे सिद्ध हो जावेगा? सूक्ष्मदर्शी पाठक अब इनसे छिपाये हुए पाठसे समझ गये होंगे कि—इनका पक्ष अब भी वैसेका वैसा निर्मूल ही रहा। तब स्त्रियोंका उपनयनमें इस वाक्यसे अधिकार सिद्ध न होनेसे वेदमें भी अधिकार न रहा।

---

(९) 'यज्ञोपवीतमार्गेण' पर विचार।

पूर्वपक्ष—'यज्ञोपवीतमार्गेण छिन्ना तेन तपस्विनी। सा पृथिव्यां पृथुश्रेणी पपात प्रियदर्शिनी' (६।८१) यह वर्णन नकली सीतादेवीके यज्ञोपवीतके मार्गसे राक्षस-द्वारा काटे जानेका है। उसका समस्त आकारादि धोखा देनेकेलिए ठीक सीताजी जैसा बनाया गया था। अतः

सीतादेवीका यज्ञोपवीतधारण इससे सूचित होता है' (श्रीरवि. 'आर्य हन्दु' में; श्रीध.दे. 'स्त्रियोंका वेदाध्ययन' में)।

उत्तरपक्ष—जब वादी असली सीताके वर्णनसे उसका यज्ञोपवीत सिद्ध नहीं कर सकते, तब नकली सीताके वर्णनसे उसका यज्ञोपवीत कैसे सिद्ध कर सकते है? उन्हें याद रखना चाहिए कि—सीताका विवाह छः वर्षकी आयुमें हुआ था (यह आगे सप्तम पुष्पमें प्रकृत-निबन्धमें बतावेंगे), वे उसका यज्ञोपवीत कब मानेंगे? क्षत्रियका यज्ञोपवीत बारहवें वर्षमें होता है, और फिर उसका गुरुकुलमें गमन और निवास कब और कितने वर्ष तक मानेंगे? रामायणमें सीताके विवाहके समय या उससे पूर्व कहीं उसका यज्ञोपवीत नहीं दिखलाया गया, यह अवश्य स्मर्तव्य है।

उक्त पद्यका वादि-प्रदर्शित अभिप्राय भी ठीक नहीं, वादीने 'यज्ञोपवीतके मार्गसे सीताको काट डाला' यह गोलमटोल अर्थ कर डाला, यह अर्थ संगत ही नहीं होता। वस्तुतः उसे यह अर्थ समझ ही नहीं आया, या फिर उसने उसे छिपाया है। यहांपर 'मार्ग' शब्द 'शैली' या 'रीति'-वाचक है। महाकवि दण्डीने अपने 'काव्यादर्श' में लिखा है—'अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्। तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ' अर्थात् कविवाणियों-कविताओंके अनेक मार्ग-शैलियाँ होती हैं, जिनमें बहुत सूक्ष्म अन्तर रहा करता है। उसमें दो 'मार्ग' वैदर्भ और गौडीय हैं, जिनमें परस्पर अन्तर स्पष्ट है। यहाँ 'मार्ग' शब्द शैली एवं रीति-वाचक है। दण्डीसे अर्वाचीन साहित्यिकों-श्रीमम्मटभट्ट, श्रीविश्वनाथ-आदियोंने इसी मार्गका नाम 'रीति' रखा है, गौड़ी रीति, वैदर्भी रीति।

इसी प्रकार रामायणके उक्त वाक्योंमें भी 'मार्ग' शब्द शैली, रीति-वाचक ही है; अर्थात् मेघनादने उस नकली सीताको 'यज्ञोपवीतकी शैली से, यज्ञोपवीतकी रीति-ढंगसे अर्थात् यज्ञोपवीतकी तरह काट डाला। अभिप्राय यह है कि—जैसे यज्ञोपवीतसूत्र बाएं कन्धेसे प्रारम्भ होकर दाहिनी कमर तक 'चपरास' की तरह लटकता है, जैसाकि इस विषयमें

गोभिलने इस परिभाषाको इस प्रकार स्पष्ट किया है—"दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्ये ऽंसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणकक्षमन्ववलम्बं भवति, एवं यज्ञोपवीती भवति" (१।२।२) वैसे ही मेघनादने भी नकली सीताके बाएं कन्धेसे लेकर दाहिनी बगल तक उसे तेज़-तलवारसे काट डाला, जिससे वह गिर गई। यहीं इस बातको स्पष्ट करनेवाला पद्य भी मिलता है—'तमेवमुक्त्वा रुदतीं सीतां मायामयीं च ताम्। शितधारेण खड्गेन निजघानेन्द्रजित् स्वयम् (६।८१।२९)।

हम इस अर्थमें प्राचीन टीकाकारोंकी सम्मति भी दिखलाते हैं, जिससे हमारा पक्ष सिद्ध होगा। 'रामायणशिरोमणिकार' ने लिखा है—'यज्ञोपवीत-मार्गेण—'तदुपलक्षित शरीरार्धदेशेव छिन्ना' यहां वही हमारा किया हुआ अर्थ स्पष्ट है। इससे भी अधिक स्पष्टता गोविन्दराज-कृत 'भूषण' टीकामें देखिये—'यज्ञोपवीतमार्गेण छिन्ना [अत्र] 'मार्ग' शब्द: 'प्रकार' वचन:। यज्ञोपवीतधारणप्रकारेण छिन्ना इत्यर्थ: [कितनी स्पष्टता है ?]। मूर्धजेषु गृहीतामादाय यज्ञोपवीत-प्रकारेण भिन्ना-यज्ञोपवीतं यथा भवति, तथा भिन्ना-यज्ञोपवीतप्रकारेण भिन्ना' इत्यर्थ:।" (यहाँ 'मार्ग' शब्दका अर्थ है—प्रकार, तरीका। जनेऊके धारणके ढंगसे सीताको काट डाला। बालोंमें पकड़कर जनेऊके विन्यासकी तरह नकली सीताको चीर डाला) इससे अधिक स्पष्टता टीकाकार क्या करते ? इस प्रकार वादीका पक्ष उच्छिन्न हो गया।

'यज्ञोपवीत' अर्थ उस प्रकरणमें हो भी नहीं सकता। सीता नंगी तो नहीं लाई जा सकती थी कि—उसका यज्ञोपवीत दीख जाता। वस्त्राच्छन्न उसका यज्ञोपवीत कहाँ दीखता ? उक्त प्रकरणमें उसकी बाहरी आकृति दिखाई गई है, उसके शरीरकी नहीं। यज्ञोपवीत कपड़ोंके नीचे छिपा होता है, कपड़ोंके ऊपर नहीं होता। तब वहाँ सीताका यज्ञोपवीत प्रसक्त ही नहीं हो सकता। अतएव यहाँ उस नकली सीताके जनेऊ पहरनेके ढंगसे काटनेसे वादीके पक्षकी कोई सिद्धि नहीं। वादीके अर्थसे भी उसकी

पक्ष-सिद्धि नहीं होती।

इस विषयमें हम रामायणकी दूसरी अन्त:-साक्षी भी दिखलाते हैं; जिससे वादीका पक्ष कट जावे—'तस्यांस-फलके खड्गं निजघान ततोऽङ्गद:। यज्ञोपवीतवच्चैनं चिच्छेद कपिकुञ्जर:' (६।७६।१०) उसके कन्धेपर अङ्गदने यज्ञोपवीतकी भान्ति, यज्ञोपवीतके ढंगसे तलवारसे काट दिया; अर्थात् जैसे यज्ञोपवीत बाएं कन्धे पर और दाहिनी कोखपर होता है, वैसे ही अङ्गदने कंपन राक्षसको बाएं कन्धेसे दाहिनी कोख तक तिर्छे ढंगसे तलवारसे काट डाला। इस प्रकार सीताके काटनेके विषयमें भी समझ लें। 'यज्ञोपवीतवत्' और 'यज्ञोपवीत-मार्गेण' दोनों पद्योंका अर्थ समान है।

---

(१०) 'दुहिता मे पण्डिता जायेत' पर विचार।

पूर्वपक्ष—'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत' (१४।९।४।१६, बृहदा. ६।४।१७) शतपथके इस प्रकरणमें यहां लड़कीको पण्डिता बनानेका उल्लेख है। इससे उसका वेदाध्ययन सिद्ध है। शास्त्रोंमें पण्डितका ऐसा ही अर्थ लिखा है। जैसेकि—विदुरनीतिमें—'आत्मज्ञानं समारम्भ: तितिक्षा धर्मनित्यता। यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते।२०। प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्। आशु ग्रन्थस्य वक्ता च य: स पण्डित उच्यते।२२। श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा। असम्भिन्नार्य-मर्याद: पण्डिताख्यां लभेत स: (२४)। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं, 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति:' (मनु०) इत्यादिके अनुसार जब वेद जाने बिना कोई परमात्मा तथा धर्मका यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, ता स्पष्ट है कि पंडितके लिए भी वेदज्ञान अनिवार्य है, सो शतपथमें 'पण्डिता' शब्दका ऐसा सर्वग्राही प्रयोग कर दिया है, जो १, २ या ३ वेदोंके अध्ययनसे भी अधिक विशाल है' (एक सिद्धान्तालंकार सार्वदेशिक अगस्त १९४६)

उत्तरपक्ष (१०)—शतपथ ब्राह्मण वा बृहदारण्यक उपनिषद्में पुत्रको तो वेदका अधिकार दिया गया है, लड़कीको नहीं। देखिये—'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे वेदमनुब्रुवीत' (१४।६।४।१३) यहाँ पर शतपथने पुत्रको एक वेदका अधिकार दिया है। 'पुत्रो मे द्वौ वेदौ अनुब्रुवीत' (१४) यहाँ पर उसने पुत्रको दो वेद पढ़नेका अधिकार दिया है, 'पुत्रो मे त्रीन् वेदान् अनुब्रुवीत' (१४।६।४।१५) में पुत्रको तीन वेदोंके अध्ययनका अधिकार दिया है। 'पुत्रो मे पण्डितो विजिगीथ:, समितिङ्गम, भाषिता जायेत, सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' (१४।६।४।१७) यहांपर शतपथ-ब्राह्मणने पुत्रके लिए पाण्डित्य (बुद्धिमत्ता)का, तथा सब वेदोंका पढ़ना मांगा है; पर लड़कीकेलिए शतपथने 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत' (१४।६।४।१६) केवलमात्र पण्डिता (बुद्धिमती) होना माँगा है, लड़कीकेलिए वेदानुवचन नहीं मांगा। सब अथवा तीन, दो वेदोंका वा एक वेदका अनुवचन भी दूर, आधे वेदका, वा १/४ वेदका अनुवचन भी लड़कीके-लिए नहीं माँगा। देखिये अजमेर वैदिक-यन्त्रालयका शतपथ (७४५-७४६ पृष्ठ)। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् (६।४।१४-१५-१६-१७-१८) में भी देख लेना चाहिये। इससे शतपथ–जो ब्राह्मणभागात्मक यजुर्वेद है–के मतमें लड़कीको वेदाधिकार सिद्ध नहीं होता।

शतपथ अपनी भिन्न-भिन्न कण्डिकाओंमें पुत्रकेलिए बार-बार वेदका नाम लेता हुआ भी नहीं थकता, 'पुत्रो मे पण्डित:, सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' (१७) यहाँपर पुत्रको 'पण्डित होने तथा पंडितत्वसे पृथक् सब वेदोंका अधिकार देता है, पर वही वेद—शतपथ लड़कीकेलिए 'दुहिता मे पण्डिता जायेत' (१६) कह कर चुप हो जाता है, उसे पण्डिता-सयानी तो बनाना चाहता है, पर वह लड़कियोंको वेदका अधिकार नहीं देता। वह 'पंडितत्व' से 'वेदाधिकार' पृथक् वस्तु मानता है, लड़केको वह पण्डितत्व और वेदा-धिकार दोनों देता है, पर लड़कीको वेदाधिकार न देकर केवल पण्डिता-त्वमात्र देता है, सो यहाँ पण्डितात्व स्पष्ट ही घरके काम-काजमें विश्रान्त

है। जैसे कि–बृहदारण्यककी उक्त कण्डिकाकी व्याख्या करते हुए आचार्य शङ्करने कहा है—'दुहितु: पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयकमेव, (न तु वेद-विषयकम्) वेदेऽनधिकारात्' यह व्याख्या निर्मूल भी नहीं है, किन्तु मूलानुसारिणी ही है। यह हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं।

इधर वही शतपथ लड़केसे लड़कीका ग्रहण न मानकर वेदानुवचनमें 'जातिपक्ष' का भी सर्वथा बाध कर देता है; तब "उसी शतपथको 'पण्डिता' शब्दसे दुहिताको वेदाधिकार देना भी इष्ट है" यह वादीका कथन उसकी अपनी भयङ्कर भूलको ही स्पष्ट कर रहा है; तभी तो उसकी कण्डिकामें लड़केकेलिए बहुत बार वेदाध्ययन कहे होनेपर भी लड़कीके-लिए एक बार भी वेदाध्ययन नहीं कहा गया।

'विदुर-प्रजागर' में 'पण्डित' के लक्षण हैं, 'पण्डिता' के नहीं; तब वे पुरुषमें चरितार्थ हो जाएंगे। पण्डिताके लक्षण वहाँ न होनेसे यहाँ 'पण्डिता' शब्द 'सयानी' अर्थमें विश्रान्त हुआ। विदुरनीतिके पंडितके लक्षणमें वेदका नाम भी नहीं। नीतिमें वेदका कोई प्रकरण भी नहीं। कमसे कम 'शतपथ'को तो उक्त स्थलमें दुहिताका पांडित्य वेदानुवचनसे भिन्न इष्ट है, तभी तो पुत्रके वाक्यमें 'पुत्रो मे पंडितो जायेत' यह पृथक् कहा है, 'सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' यह पृथक् कहा है। यदि 'पंडित' शब्दका प्रयोग शतपथको सब वेदोंके अध्ययनसे भी विशाल इष्ट होता, तो पुत्र वाले वाक्यमें 'पंडित' कहकर 'शतपथ' को फिर पुत्रकेलिए उससे पृथक् सब वेदोंका अनुवचन कहना क्यों सूझा? देखिये शतपथ–'पुत्रो मे पंडित:, सर्वान् वेदाननुब्रुवीत' (१७) उक्त कण्डिकामें शतपथ (ब्राह्मण-वेद) को 'पंडित' शब्द वेदानुवचनसे विशाल अभिमत न होनेसे ही शतपथने 'पुत्रके पण्डितत्व' पर सन्तोष न करके उसकेलिए वेदानुवचन पृथक् कह डाला। और लड़कीके 'पंडितात्व' पर ही सन्तोष करके उसकेलिए अनधिकृत वेदको शतपथने अनुशिष्ट नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि–शतपथको दुहितावाले वाक्यमें 'पंडिता' का अर्थ 'बुद्धिमती' इष्ट है। बुद्धि जन्मसे

ही होनी है, वहाँ विद्याध्ययनकी आवश्यकता नहीं। बुद्धिकी विपरीत कोटि मूर्खता तो अध्ययनसे भी सम्भव है—'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा:'। विद्या पढ़े भी ब्राह्मण बुद्धिमान् नहीं थे, यह पञ्चतन्त्रमें 'वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा' इस कथामें प्रसिद्ध है। तो उक्त लड़की वाले वाक्यमें उसे 'पंडिता' बनानेका नहीं, किन्तु जन्मसे ही 'पंडिता' (बुद्धिमती, सयानी) होनेका निर्देश है जोकि—घरके कार्योंमें इष्ट है।

'नाऽवेदविद् मनुते' इत्यादिमें 'वेदके शब्द जाननेवाला' इष्ट नहीं, किन्तु 'वेदके अर्थ जाननेवाला' इष्ट है क्योंकि—वेदका केवल शब्द तो 'अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्' के अनुसार ज्ञानकांडमें, मोक्ष-जिज्ञासामें काम नहीं दे सकता! वेदका अर्थ तो वेदके भाष्यभूत अनादि-प्रवृत्त पुराणों तथा इतिहासोंसे जैसाकि—सायणने अपने ऋग्वेद-भाष्यके उपोद्घातमें लिखा है—'ऐतरेय-तैत्तिरीय-काठकादिशाखासु उक्तानि हरिश्चन्द्रनाचिकेताद्युपाख्यानानि धर्म-ब्रह्मावबोधोपयुक्तानि तेषु-तेषु इतिहासग्रन्थेषु स्पष्टीकृतानि। उपनिषदुक्ता: सृष्टि-स्थिति-लयादयो ब्राह्म-पाद्म-वैष्णवादि-पुराणेषु स्पष्टीकृता:' तथा अपने पिता वा पतिसे भी निष्कर्ष रूपसे प्राप्त हो जाता है, उसमें स्त्रीको निषेध नहीं। निषेध उसका शब्दात्मक, नियत-पद-प्रयोग-परिपाटीक वेदमें ही है, वह भी क्रमिक और वैध-अध्ययनका (मनु. २।१७२-१७३), क्योंकि—उसमें अधिकार नियतों का होता है, सर्वसाधारणोंका नहीं। 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाण परमं श्रुति:' कहने वाले मनु स्वयं स्त्रीको वेदका अधिकार नहीं देते, अत: उनका उद्धरण देना व्यर्थ है। तब स्त्रियोंकेलिए 'परम प्रमाण' की आवश्यकता भी नहीं, उसकी आवश्यकता और उसमें अधिकार केवल द्विज पुरुषोंके लिए ही है। सेवक तथा सेविका तो वह मेवा सेव्यसे अनायास ही यथावकाश प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि—स्त्रीशूद्रादिका धर्म सेवा होनेसे उन्हें नियमितताका अवकाश होता ही नहीं, 'नास्ति स्त्रीणां

पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्। पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते' (५।१५४-१५५) यह मनुजीकी स्पष्ट आज्ञा है, अत: कोई दोष नहीं। इसी तरह श्रीसायणने भी अपने ऋग्वेद उपो. में कहा है—'स्त्री-शूद्रयो: सत्यपि धर्मब्रह्मोपाय-बोधार्थित्वे हेत्वन्तरेण वेदाधिकारस्य प्रतिब(षि)द्ध-त्वात्। उपनीतस्यैव अध्ययनाधिकारं ब्रुवत् शास्त्रम् अनुपनीतयो: स्त्रीशूद्रयो-र्वेदाध्ययनमनिष्टप्राप्तिहेतुरिति बोधयति। तयो: तदुपायावगम: पुराणादि-भिर्जायते। अतएवोक्तम्—'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम्' इति। इसका अर्थ हम पूर्व कर चुके हैं।

(११) पूर्वपक्ष—'पुत्र' शब्द 'जाति' वाचक हुआ करता है, तभी तो 'पुमांसं पुत्रमाधेहि' (अ. ६।१७।१०) यहांपर 'पुमांसं' विशेषण सार्थक है, अन्यथा 'पुत्रम्' इस पुंलिङ्गसे ही 'पुत्र' का नाम सिद्ध और कन्याका नाम निषिद्ध हो सकता है, तब 'पुमांसं' विशेषण व्यर्थ हो जावेगा। इस प्रकार 'पुत्र' शब्दसे 'पुत्री' का ग्रहण भी जब सिद्ध है, तब पुत्रको वेदाधिकार देनेवाली शतपथकी 'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पंडितो जायेत, सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' (१४।९।४।१७) इस कण्डिकासे पुत्रीका भी वेदाधिकार सिद्ध होता है। (म.म. पं० शिवदत्त शर्मा सिद्धान्त-कौमुदी तत्त्वबोधिनी स्त्री-प्रत्यय १५२ पृष्ठ—टिप्पणी)।

उत्तरपक्ष—महामहोपाध्यायजीका 'पुत्र' शब्दको जातिवाचक सिद्ध करनेकेलिए 'पुमांसं पुत्रमाधेहि' (अथर्व.) इस मन्त्रके 'पुमांसं' पदको प्रमाणस्वरूप देना ठीक नहीं। यहाँ 'पुमांसम्' शब्द पुंलिङ्ग अर्थ बोधन करानेवाला नहीं, 'पुमांसं' में 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य' ध्वनि ही है, उसका तात्पर्य है 'शूर'। जैसे लोग कहते हैं—'यह मर्द आदमी है'। जैसेकि—मनुस्मृतिमें 'सुरूपं वा कुरूपं वा पुमान् इत्येव भुंजते' (मनु. ९। १४) यहाँ 'पुम्' शब्द 'बलवीर्यशाली' वाचक है, पुरुष-वाचक नहीं। अन्यथा 'यह मर्द आदमी है' इसमें पुनरुक्ति हो जाय, और मनुके पद्यमें

'पुमान्' व्यर्थ हो जावे।

पूर्वोक्त शतपथके (१४।६।४।१७) इस आक्षिप्त वाक्यमें 'पुत्र' शब्द यदि 'जाति' वाचक इष्ट होता, तो 'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो जायेत, सर्वान् वेदाननुब्रुवीत' इस वाक्यसे पुत्रीका भी पण्डितात्व तथा वेदानुवचन सिद्ध हो जाता, फिर पुत्रीकेलिए 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पंडिता जायेत' (शत १४।६।४।१६) यह उसके साथ वाली कण्डिका जिसमें दुहिताके लिए पुत्रकी तरह वेदका नाम न लेकर केवल उसके पण्डितात्वमात्रका उल्लेख है—व्यर्थ हो जाती, उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी, पर उस कण्डिकाके पृथक् लिखनेसे तथा उसके साथ वेदानुवचन न लिखनेसे सिद्ध हो रहा है कि–यहाँ जातिपक्ष बाधित है, पुत्रसे पुत्रीका ग्रहण नहीं होता, और पुत्रीको वेदका अधिकार भी नहीं–यह स्पष्ट है।

---

(११) म. म. पं० शिवदत्तजीका मत।

आर्यसमाजी-विद्वान् स्त्रियोंके उपनयन-वेदाधिकार विषयमें जैमिनि-न्यायमाला, सिद्धान्तकौमुदीकी टीका, ऋक्सूक्त-संग्रहकी टिप्पणी, न्याय-सिन्धु, आर्यविद्यासुधाकर आदिकी टिप्पणीसे म. म. पं० शिवदत्तजीका मत उद्धृत करते हैं, हम उस मतको पूवपक्षमें उद्धृत तथा अनूदित करके अपना उत्तरपक्ष देंगे।

(१२) पूर्वपक्ष—जैमिनीयन्यायमाला–आनन्दाश्रम प्रेस पूना-३०५ पृष्ठ (क) अस्यैव अधिकरणस्य [पत्नीयज्ञाधिकारस्य] अनुसारेण 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत इत्यत्रापि स्त्रिया अधिकारः' (इसी अधिकरण (पत्नीके यज्ञाधिकार) के अनुसार 'आठ वर्षके ब्राह्मणका उपनयन करे और उसे पढावें, इस ८ वर्षमें लड़कीको उपनयनका अधिकार भी है। (ख) अतएव 'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम् अभ्युदानयन् जपेत्' इति गोभिलगृह्यसूत्रम्' (२।१।१६) (इसलिए 'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम्' इस गोभिलसूत्रमें भी स्त्रीकेलिए यज्ञोपवीत पहनना लिखा है।) (ग) 'पश्चादग्नेः संवेष्टितं कटम् पदा प्रवर्तयन्तीं वाचयेत्–'प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताम्' (२।१।२०) इति च' (लपेटी चटाईको पांवसे फैलाती हुई स्त्रीसे यह मन्त्र बुलवावे–'प्र मे पतियानः'...। (घ) 'मनसा भर्तुरतिचारे त्रिरात्रं यावकं क्षीरौदनौ वा भुञ्जाना अधः शयीत, ऊर्ध्वं त्रिरात्राद् अप्सु निमग्नायाः सावित्र्यष्टशतेन शिरोभिर्जुहुयात् पूता भवति' (२०।५) इति वशिष्ठ स्मृतिः। (मनसे यदि स्त्री भर्ताका अतिक्रमण कर चुकी हो; तीन रात नीचे सोवे। उसके बाद पानीमें डुबकी लगाकर सावित्रीके शिरोमन्त्रका १०८ बार हवन करे। इससे पवित्र हो जाती है (वशिष्ठ)। (ङ) 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत, सर्वमायु-रियात्-इति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम् ईश्वरौ जनयितवै, इति बृहदारण्यकोपान्त्य-श्रुतिश्च'। (जो चाहे कि–'मेरी लड़की पण्डिता बने; तो पति-पत्नी तिलौदन घीमें पकाकर खावें। यह बृहदारण्यककी उपान्तश्रुति है।) (च) 'कठी बह्वृचीत्यादिप्रयोगसाधकम् शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभते इत्यर्थकम् 'गोत्रं च चरणैः सह' इति वार्तिकं च संगच्छते। (कठी, बह्वृची–इत्यादि प्रयोगवाचक 'शाखाध्येतृवाचक' शब्दको जातिकार्य ङीप् हो जाता है, इस अर्थवाला 'गोत्रं च चरणैः' वार्तिक भी सङ्गत हो जाता है।) (छ) 'किंच यजमानपत्न्या अध्ययन-मन्तरेण ऋत्विगादिप्रोक्तस्यार्थस्य ज्ञानाभावाद् उक्त-कर्मणि प्रवृत्तिरेव न स्यात्' (इसके अतिरिक्त यजमान-पत्नीको यदि पढ़ाया नहीं जावेगा; तो उसे ऋत्विक् आदिसे कही हुई संस्कृतके ज्ञान न हो सकनेसे उस स्त्रीकी कर्ममें प्रवृत्ति ही न हो सकेगी।) (ज) संस्कृतातिरिक्तभाषणं तु 'नायज्ञियां वाचं वदेत्, इत्यादिना निषिद्धमेव' (यदि न पढ़ी हुई स्त्री संस्कृतसे भिन्न हिन्दी आदि बोलेगी; तो यज्ञमें 'अयज्ञिय' (असंस्कृत) वाणी न बोले' इस वचनसे निषिद्ध होगा।) (झ) 'उपलभ्यते च प्राचीनेतिहासादिषु सीतामहाश्वेतादीनां यज्ञोपवीतधारणपूर्वक-सन्ध्यो-पासनमपि' (प्राचीन इतिहास आदिमें सीता-महाश्वेता आदिका

यज्ञोपवीत-धारण-पूर्वक सन्ध्योपासन भी मिलता है।) (सार्वदेशिक जून १९४६, मई १९४७)।

(ञ) न्यायसिन्धु (वेङ्कटेश्वर प्रेस सं. १९६५ पृ. १९२) की पं० शिवदत्तजीकी टिप्पणी—'तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम्, अग्नीन्धनं, वेदाध्ययनम्' इत्यादि हारीत-वचनको उद्धृत करके लिखा है—'अध्ययने वेदानामपि न दोष इति सूच्यते; अन्यथा विवाहप्रकरणोक्ततत्तन्मन्त्रपाठस्य वधूकर्तृकस्य अनुपपत्तेः'। न्यायसिन्धुकी टिप्पणी--('तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम्' इत्यादि हारीत-वचनको उद्धृत करके लिखा है—स्त्रियोंके वेदोंके अध्ययनमें दोष नहीं, यह इससे सूचित होता है। नहीं तो विवाह-प्रकरणस्थित मन्त्रोंको वह वधू कैसे पढ़ सकेगी ?) (ट) किंच—'यज्ञकर्मणि पुनर्नापभाषन्ते इति महाभाष्योक्त्या यज्ञकर्मणि अपभाषणनिषेधे पति-ऋत्विगाद्युक्त-संस्कृत-शब्दस्य अबोधे सकलं कर्मैव भ्रष्टं स्यात्' ('यज्ञकर्ममें अपभाषण (गलत बोलना) निषिद्ध है। इस महाभाष्यकी उक्तिसे यदि स्त्री पढ़ी नहीं होगी; तो पति वा ऋत्विक् आदिसे कही हुई संस्कृत न समझ सकनेसे वह सारा कर्म ही भ्रष्ट हो जायगा। (सार्वदेशिक जुलाई १९४६)।

(ठ) सिद्धान्तकौमुदी—(स्त्रीप्रत्ययप्रकरणे)—'पूर्वोत्तरमीमांसयोस्तु केवलं शूद्राणामध्ययन-प्रतिषेध उपलभ्यते [नतु स्त्रीणाम्] (मी. ६।१।३७-३८, वेदा. १।३।३८-३९)। प्रत्युत स्त्रीणां 'जातिं तु बादरायणोऽविशेषात्, तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्' (६।१।८-२०) 'स्त्री चाविशेषात्' (कात्या.श्रौ. १।१।७) 'दर्शनाच्च' (८) तुल्यफलत्वाच्च' (९) इति सूत्रैर्वैदिके कर्मणि पुंस इवाधिकारो दर्शितः।' गृह्यसूत्रेषु कुमारपदमपि जातिपरमेव। अतएव 'कुमारा विशिखा इव' इति श्रुति-सूचितं चौलकर्म कुमारीणामपि स्वीकृतम्'। 'उपाध्यायी, आचार्या' 'उपनीय तु यः शिष्यं' इति मनुवचनेनापि स्त्रीणां वेदाधिकारो ध्वनितः। (पूर्व तथा उत्तर मीमांसामें केवल शूद्रोंके अध्ययनका निषेध मिलता है

[स्त्रियोंका नहीं]; बल्कि मीमांसामें तो 'जातिं तु बादरायणः' इस कथनसे पुरुषोंके कर्ममें जातिपक्षके कारण स्त्रीका ग्रहण भी सिद्ध है। कात्या.श्रौ.सू.में 'स्त्री चाविशेषात्' 'दर्शनाच्च' 'तुल्यफलत्वाच्च' इन सूत्रोंमें वैदिककर्ममें स्त्रियोंका भी पुरुषकी भाँति अधिकार दिखलाया गया है।

गृह्यसूत्रोंमें 'कुमार' पद जातिपरक है; अतः वहाँ कुमारीका ग्रहण भी हो जावेगा। इसलिए 'कुमारा विशिखा इव' इस श्रुतिमें सूचित शिखाकरण कुमारियोंका भी स्वीकृत किया गया है। 'उपाध्यायी, आचार्या' आदिमें उपनीय तु यः शिष्यं' इस मनुवचनसे भी स्त्रियोंका वेदाधिकार ध्वनित किया गया है।)

(ड) 'ऋक्सूक्त-संग्रहे' टिप्पणी—'तस्मान्निश्चीयते 'स्त्री-शूद्रयोस्तु वेदेऽधिकारः प्रतिबद्धः' इति सायणवाक्ये स्त्रीपदमत्र केनचिन्महात्मना प्रक्षिप्तम्, जैमिनिन्यायमालायां [६।१।४] 'अतएव हारीतेनोक्तम्-द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च...' इत्यादि पराशरमाधवे (२ अ. पृ. ४८५) च स्वयं स्त्रियाः कर्माधिकारनिरूपणात्। एतदधिकरणानुसारेण सर्वेषु यागेषु स्त्रिया अधिकार-प्राप्तौ वेदाध्ययनमन्तरा तदनुपपत्त्या 'अष्ट-वर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत' इत्यत्रापि तस्याः [स्त्रियाः] अधिका-रित्वसिद्धौ का हानिः ? उत्तराधिकरणेन (६।१।५) दम्पत्योः सहैवाधि-कारो बोधितो नतु पृथक्। [अतएव 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (४।१।३३) इति स्त्रीप्रत्ययसूत्रे दीक्षितः—वसिष्ठस्य पत्नी। तत्कर्तृकयज्ञस्य फल-भोक्त्री-इत्यर्थः, दम्पत्योः सहाधिकारात्']। ऋक्सूक्तसंग्रहमें टिप्पणी—(इस कारण निश्चित होता है कि--'स्त्रीशूद्रयोस्तु वेदेऽधिकारः प्रतिपिद्धः' इस सायणके वाक्यमें 'स्त्री' पद किसी महात्माने प्रक्षिप्त कर दिया है, सायणके मतमें स्त्री अनधिकारिणी नहीं।)

'जैमिनिन्यायमाला'में हारीतका ब्रह्मवादिनी-सद्योवधू आदिका मत दिखलाकर कहा गया है—'इससे स्त्रीका भी अधिकार निरूपित किया

गया है। इस अधिकरणके अनुसार सब यज्ञोंमें स्त्रियोंको भी अधिकार प्राप्त है, वह स्त्रियोंके वेदाध्ययनके बिना उपपन्न नहीं हो सकता; तब 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' में भी स्त्रीके उपनयनाधिकार-सिद्धिमें क्या हानि है ?

अगले (६।१।५). अधिकरणमें पति-पत्नीका यज्ञमें इकट्ठा ही अधिकार बताया गया है, पृथक-पृथक् नहीं। [इसीलिए ही 'पत्युर्नो यज्ञ-संयोगे' (४।१।३३) इस स्त्रीप्रत्ययके सूत्रमें श्रीदीक्षितने लिखा है-'वसिष्ठस्य पत्नी' वसिष्ठके किये हुए यज्ञकी उसकी स्त्री भी फल भोगने-वाली होती है: क्योंकि-पति-पत्नीका इकट्ठा ही अधिकार बताया गया है]।

उत्तरपक्ष—यदि म.म. पं० शिवदत्तजी इस समय जीवित होते, तो मैं इस विषयमें उनसे शास्त्रार्थ करता। जब वे जीते थे; तब मैं छोटी आयुका था। पर अब उनका मत आर्यसमाजी उद्धृत करते हैं, अतएव उनका उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर है; और उत्तर भी उन्हें ही दिया जाता है।

यहाँ महामहोपाध्यायजीने जैमिनिन्यायमाला (६।१।४) के विरुद्ध ही टिप्पणी दी है। क्योंकि-वहाँ केवल **'स्वर्गकामो यजेत'** पर ही श्री-सायणने 'मीमांसादर्शन' (६।१।६) की तरह जातिसूत्रकी प्रवृत्ति मानी है, **'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत'** पर नहीं, क्योंकि-श्रीजैमिनिने भी मीमां. द.में 'अष्टवर्षं ब्राह्मणम्' पर जातिसूत्र सूत्रित नहीं किया, किन्तु **यज्ञ-विषयक वाक्य** पर ही जातिपक्ष सूत्रित किया है। अधिकरण भी याग-विषयक है, उपनयन-विषयक नहीं। बल्कि-उपनयन तथा वेदके विषयमें तो मीमांसाके 'सस्कारस्य तदर्थत्वाद् विद्यायां [वेदे] पुरुषश्रुतिः' (६।१।३५) इस सूत्रमें पुरुषका नाम कहा है, यही बात वेदमें भी सूचित की है-'तद् ब्रह्मणो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः' (अथर्ववेदसं. ३।३०।४) पुरुषत्वके नाते ब्रह्ममें अधिकार फिर शूद्रको भी प्राप्त है, पर फिर पूर्वमीमांसामें (६।१।३०-३८) तथा उत्तरमीमांसा (१।३।३८-३९)

में निषेध कर दिया है; यह स्वयं म.म. पं० शिवदत्तजी भी मानते हैं। तब स्त्रीका ग्रहण न होनेसे उक्त स्थलमें जातिपक्ष कट गया।

शेष रहा 'स्त्रीके यज्ञमें बैठनेसे उसके वेदाध्ययन तथा यज्ञोपवीतका अनुमान; अन्यथा उनके मतमें स्त्रीका यागमें अधिकार हो जाना अनुपपन्न हो जाता है'-इस पर यह जानना चाहिए कि यज्ञसे सम्बद्ध हो जानेसे स्त्रीका वेद वा उपनयनमें अधिकार नहीं हो जाता। यज्ञमें सम्बन्ध तो उपनयन एवं वेद तथा यज्ञके अनधिकारी निषादस्थपतिका भी मीमांसामें कहा है। जैसा कि-आर्यसमाजके म.म. श्री आर्यमुनिजीने भी ६।८।२१ के मीमांसार्यभाष्यमें लिखा है-'अग्न्याधानका सबको अधिकार नहीं, अर्थात् निषादस्थपति, जिसकी उक्त इष्टि है, वह अग्न्याधानका अधिकारी नहीं। पर निषादस्थपतिके मीमांसा द्वारा यजन कह देनेसे उसका वेद वा यज्ञोपवीतम अधिकार नहीं हो जाता। क्योंकि-मीमांसाके अनुसार वह अत्रैवर्णिक है (मी.द. ६।१।४४-४५-४६-४७-५२) उपनयन तथा वेदका अधिकार वेदके अनुसार मीमांसाके मतमें त्रैवर्णिक पुरुषको है, अतएव स्पष्ट है कि म.म. पं० शिवदत्तजी यहाँ भ्रममें पड़ गए।

जैसे वह निषादस्थपति उत्सर्ग रूपसे अग्न्याधानका अनधिकारी भी अपवादभूत श्रुतिविशेषके वचनके बलसे उस कार्यको ऋत्विज् आदिसे करा लिया करता है, वहाँ मन्त्रोच्चारण तथा होमादि भी ऋत्विगादि ही कर लिया करते हैं, क्योंकि-'यश्च परार्थं यजति; स ऋत्विक्' (मी.द. शाबर. ६।३।२६) तब वही इष्टि निषादस्थपतिस्वामिक हो जाती है, 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (पा. १।३।७२) के अनुसार उनको फल प्राप्त हो जाता है, पर इससे निषादस्थपतिको वेद वा उपनयनका अधिकार नहीं हो जाता, यही बात स्त्रीके यज्ञमें भी समझनी चाहिए। स्त्रीके यज्ञका निष्पादक उसका पति होता है, वह [स्त्री] केवल सुवर्णकी सीताकी तरह ग्रन्थिवद्ध वस्त्रके रूपमें साथ बैठी रहती है, उसका फल

उसको प्राप्त हो जाता है। जैसेकि--'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (४।१।३३) इस सूत्रके 'वसिष्ठस्य पत्नी' इस उदाहरणमें स्त्रीप्रत्ययोंमें महाभाष्यके आशयको लेकर श्रीदीक्षितने लिखा है--'वसिष्ठकर्तृकयज्ञस्य फलभोक्त्री-इत्यर्थः, दम्पत्योः सहाधिकारात्' अर्थात् यज्ञके कर्ता वसिष्ठजी हैं; उसका फल उनकी स्त्री भी प्राप्त कर लेती है, क्योंकि--यज्ञफलमें पति-पत्नी दोनोंका अधिकार है। जो स्त्री यज्ञमें सब तरहकी सहायता पहुंचाती है, उठने-बैठनेका काम वही करती है, अपना प्रतिनिधि पतिवस्त्र-ग्रन्थिबद्ध-वस्त्र वहीं रखती है, यज्ञदीक्षित पतिको उठने-बैठनेकी जरूरत नहीं रह जाती, तब उस स्त्रीको फल मिले भी क्यों नहीं ?

मीमांसादर्शनके 'तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात्' (६।१।२४) सूत्रके शावरभाष्यमें स्पष्ट कहा है--'अतुल्या हि स्त्री-पुंसाः, यजमानः पुमान् विद्वांश्च, पत्नी स्त्री च अविद्या च। यदि एवं हि, एतद् अतुल्यत्वम्' एतद् अतो भवति-क्रत्वर्थेषु यानि याजमानानि श्रवणानि, तेषु उपादेयत्वेन श्रवणाद् विवक्षितं [पुं] लिङ्गम्। तेन तेषु पत्नी न स्यात्। तत् पत्न्या अध्ययनस्य प्रयोजकं स्यादिति यद्युच्येत ? तन्न-असत्यपि प्रयोज-कत्वे तस्य निर्वृतिर्भविष्यति। अस्ति हि तस्य पुमान् निर्वर्तकः।... तस्मात् प्रतिषिद्धस्य पत्न्या अध्ययनस्य पुनः-प्रसवे न किञ्चिदपि प्रमाणम्, अतस्तदपि पत्नी न कुर्यात्' इससे म.म.जीका इस सूत्रकेलिए यह लिखना कि--'इति सूत्रेऽतुल्यत्वं न विद्याऽभावेन, किन्तु राजसंनिधानेऽमात्यस्येव; गुरुसन्निधाने शिष्यस्येव, पतिसन्निधानेऽस्वतन्त्ररूपाऽप्राधान्येनैव' (सिद्धान्त. तत्त्व. टि. पृ, १५२) यह खण्डित हो गया। उसका दृष्टान्त भी उनके पक्षको काट रहा है--राजाकी गद्दी वा गुरुकी कुर्सी अमात्य वा शिष्यको नहीं प्राप्त होती, अतः स्त्रीको भी पुरुष वाले अध्ययनादि अधिकार प्राप्त नहीं होते।

उक्त सूत्रका ऐसा अर्थ केवल शबरस्वामीने ही किया हो, यह बात भी नहीं, किन्तु वेदके प्रकाण्ड विद्वान् श्रीशङ्कराचार्य-स्वामीके भी श्रद्धेय,

मीमांसाके रहस्यज्ञ श्रीकुमारिल-भट्टने भी ऐसा ही किया है--'टुप्' टीका (आनन्दाश्रम) में वे लिखते हैं--'यजमानकांडे ये मन्त्राः, ते यजमानेनैव उच्चारणीयाः, स (यजमानो) हि विद्वान्, इतरा (पत्नी) तु अविद्या। अन्यथानुपपत्त्या अध्येष्यते इति चेत् ? सापि अन्यथानुपपत्तिर्यजमान-विद्वत्तयैव क्षीणा। तदीयेनैव अध्ययनेन निराकाङ्क्षत्वान्न प्रतिषिद्धमध्ययनं करिष्यति, एवं चेद् याजमानमिति अन्यतरस्मात् तद्धितोत्पत्तौ कृतायां येऽपि अमन्त्रवन्तः पदार्थास्तानपि यजमान एव करिष्यति। यद्यपि तेषु (स्त्रियाः) अविद्वत्त्वं नास्ति दोषः, तथापि यजमानेनैव केवलेन तद्धितस्य उत्पद्यमानत्वात् पत्न्या अननुष्ठानम्। न च पत्नीयजमानयोः कृतैकशेषयो-स्तद्धितः, प्रमाणाऽभावात्'।

यहाँ श्रीकुमारिलभट्टने शबरस्वामीकी अपेक्षा भी स्पष्टता कर दी। मीमांसारहस्यज्ञ उनके सामने 'अतुल्यत्वात्' का अर्थ करनेवाले वैयाकरण म.म. प० शिवदत्तजीका कोई मूल्य नहीं। अन्य भी स्पष्टता उन्होंने की है--'ब्राह्मणमुपनयीत' इत्याचार्यकरणे आत्मनेपदं भवति।...माणवकस्य तु उपादीयमानत्वाद् लिङ्गसंख्यं विवक्षितम्...तस्मात् पुंसोऽध्ययनं विहितम्, इतरस्या (स्त्रियाः) विधानाभावाद् अवैधता। न चान्यथानुपपत्त्या अध्ययनं तस्याः, अन्यथापि (पुंविद्वत्तयापि) उपपद्यमानत्वात्। अतः प्राप्तोऽध्ययन-प्रतिषेधः' इत्यादि।

यहीं ६।१।२४ के छठे अधिकरणमें 'जैमिनि-न्यायमाला' में 'विद्वत्त्वात् पुंस एव तत् [१०]. इसकी 'शास्त्रदीपिका' में भी स्त्रीका निषेध ही किया गया है। 'न्यायमालाविस्तर'में भी वही बात (स्त्रियोंका अवैदुष्य) प्रकट की गई है। यह बात ठीक भी है--इस पर म.म. पं० शिवदत्तजी का 'जैमिनि-न्यायमाला' ३०६ पृष्ठमें--'इदं च' 'य इच्छेद् दुहिता मे पंडिता जायेत' इति 'बृहदारण्यक-श्रुतिविरुद्धम्' यह लिखना ठीक नहीं; यहाँ 'पंडिता' अर्थ 'समझदार' है, वेदाध्ययन वाली नहीं; क्योंकि वैसी बात उक्त श्रुतिके साथ वाली बृहदारण्यककी श्रुतिसे विरुद्ध है, जिसमें लड़केको

तो सब वेद पढ़ानेकेलिए कह दिया, पर लड़कीकेलिए आधा वेद भी अधिकृत नहीं किया। म.म.जीका पूर्वपक्ष उद्धृत करने वाले वादीके स्वामी दयानन्दजीने मनुपद्यके अनुसार लिखा है—'[राजा] पुरोहित और ऋत्विज्का स्वीकार इसलिए करे कि—वे **अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजधर्मके कर्म किया करें,** और राजा आप सर्वदा राजकार्यमें **तत्पर रहें'** (सत्यार्थ. ६ समु. ६१ पृ.) जिस प्रकार राजासे वरण किये हुए पुरोहितसे किये हुए कर्मका फल राजाको **मिल जाया करता है,** वैसे ही पत्नीसे वरण किये हुए पतिसे किये हुए **कर्मका फल पत्नीको भी मिल** जाता है। पति भी पत्नीका वरण इसलिए करता है कि—वह उसके गृह-कार्यमें तत्पर रहती है, तब पति भी निश्चन्ततासे सन्ध्या, अग्निहोत्रादि करता है, उसीसे पतिकार्य-सहकारिणी पत्नीको भी फल मिल जाया करता है, जैसाकि मनुजीने पत्नीकेलिए कहा है—'गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया' (२।६७) पतिके घरके कामोंको पूरा कर देना स्त्रियोंका अग्निहोत्र है, अर्थात् उसको उसका फल मिल जाता है, जैसे कि—'वसिष्ठस्य पत्नी' पर हम पहले निर्देश कर चुके हैं।

४।१।३३ महाभाष्यके उद्योतमें भी कहा है—"यज्ञफल-स्वर्गादि-भोक्तृत्वाच्च यज्ञस्वामित्वं भार्याया बोध्यम्'। (यज्ञके फल स्वर्गादि भोगनेसे भार्या भी यज्ञकी स्वामिनी है) 'कथं च स्त्री नाम सभायां साध्वी स्यात्' (४।१।१५) (स्त्री सभामें साध्वी कैसे हो सकती है ?) इस महाभाष्योक्त वचन पर कैयटने लिखा है—'यज्ञसभायां विदुषामेव पुरुषाणां साधुत्वाधिकाराद्'। (यज्ञसभामें विद्वान् पुरुष ही उचित हो सकता है।) श्रीनागेशने इसपर लिखा है—'वैदुष्यं च **उपनयनादिमतां पुंसामेव** इति तात्पर्यम्'। (विद्वत्ता उपनयन वाले पुरुषों की ही हो सकती है ?) यह बात वेदानुकूल भी है। तभी—'सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्' (यजु. २२।२२) इस मन्त्रमें सभाकेलिए पुरुषकी ही प्रार्थना की है, लड़कीकी नहीं। फलतः म.म. पं० शिवदत्तजीका मत इन सबसे विरुद्ध

होनेसे उपेक्षणीय है।

(क-ख) 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यत्र स्त्रिया अपि अधिकार ऐसा पं० शिवदत्तजीने जातिपक्ष मानकर लिखा है। जब वे लड़की यज्ञोपवीत विवाहमें मानते हैं—यह हम पहले दिखला चुके हैं; तब उन्हें लड़केका भी यज्ञोपवीत जातिपक्षके अनुसार विवाहमें करना पड़ेगा; तो क्या वे आठ वर्षके लड़के तथा लड़कीका उपनयन तथा विवाह आठ वर्षमें करेंगे ? क्या वादी उनका यह पक्ष मानेंगे ? यदि नहीं; म.म जी लड़केका यज्ञोपवीत ८ वर्षमें और उसका विवाह वादी २०-२५ वर्षमें करेंगे, और लड़कीका विवाह तथा यज्ञापवीत ८ वर्षमें करेंगे, तो **जातिपक्ष कट गया।** फिर जातिपक्षकी शक्ति नहीं कि—'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' में लड़कीका भी ग्रहण कर सके।

कन्या-विवाहका सिद्धान्त वादियोंके अनुसार १७-२४ वाँ वर्ष है, तब इससे पूर्व कन्याका यज्ञोपवीत न हो सकेगा, न वह वेद पढ़ सकेगी। तब पं० शिवदत्तजीका 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' में कन्याका ग्रहण वादी द्वारा ही खण्डित हो जायगा; क्योंकि वादी कन्याका विवाह २४वें वर्षमें मानेंगे, यज्ञोपवीत भी कन्याका म.म.जीके अनुसार विवाहमें होगा, तब ८वें वर्षमें कन्याका यज्ञोपवीत न होनेसे [क्योंकि पं० शिवदत्तजी विवाहमें कन्योपनयन मानते हैं] 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' में म.म.जीका जातिपक्ष मानकर कन्याग्रहण व्यर्थ सिद्ध हो जायगा। तब जातिपक्ष ही कट गया। **वेदारम्भ होता है ब्रह्मचर्याश्रममें,** विवाह हो जानेसे गृहस्थाश्रम **हो जानेके** कारण पतिके घरके कार्योंमें लगी रहनेसे वधूका वेदारम्भ संस्कार ही न हो सकेगा। अतः पं० शिवदत्तजीका 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत' में जातिपक्ष भी निर्मूल है। जातिपक्ष विषयमें हम पृथक् स्पष्ट भी करेंगे। वादीका पक्ष भी कट गया; वे लड़कीका विवाह १७-२ वर्षमें मानेंगे, ९-१२ वर्षमें ऋतुमती हो जानेसे वह शूद्रा हो जायगी तब उस लड़कीका यज्ञोपवीत भी निषिद्ध हो जावेगा; वह वेदाध्ययन

न कर सकेगी।

(ख) गोभिलसूत्रके 'यज्ञोपवीतिनी' पदके विषयमें हम पहले स्पष्टता कर चुके हैं। फिर भी वादी बताए कि—क्या प० शिवदत्तजी 'यज्ञोपवीतिनी' का ठीक अर्थ कर गये थे ? यदि ऐसा है तो वे गोभिल के उक्तस्थल पर स्त्रीका यज्ञोपवीत विवाहमें मान गये हैं। इधर वे 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' में जातिपक्ष मानकर उसका उपनयन बताते हैं। तब क्या वादी भी उनकी बात मानकर ८ वर्षकी लड़कीका विवाह मानते हैं ? ऐसा हो तो वे स्वा.द.जीको इससे विरुद्ध अवस्थामें कन्या-विवाह लिखने से अनभिज्ञ मानें।

यदि वादी म.म.जीको अनभिज्ञ मानकर कन्याका विवाह २४ वर्षमें करेंगे, और म.म.जीके अनुसार कन्याके विवाहमें उसका यज्ञोपवीत करेंगे तो २४ वर्ष तक वह वेद नहीं पढ़ सकेगी, गुरुकुलवास भी न कर सकेगी, फिर भी वादीका पक्ष कटता है। यदि वादी प० शिवदत्तजीको अनभिज्ञ मानकर कन्याका यज्ञोपवीत बहुत पूर्व ही मान लेंगे; तो विवाहके उक्त स्थलमें 'यज्ञोपवीतिनीम्' इस विशेषणमें कोई उपपत्ति नहीं रहती—उसकी व्यर्थता हो जाती है। अब देखिये—वादीने न तो इस अवसर पर माना गोभिलको, न माना पं० शिवदत्तजी को, न माना स्वा.द.जीको, क्योंकि—वे इस अवसर पर 'यज्ञोपवीतकी तरह वस्त्र लपेटना' अर्थ कर गये हैं, यज्ञोपवीत पहनना नहीं। तब वादी मानते किसको हैं ? क्या हारीतको ? नहीं। आप हारीतको भी नहीं मानते। हारीत ब्रह्मवादिनीका यावज्जीवन ब्रह्मचर्य बताता है, तब उपनयन तथा नियत वेदमन्त्रोंका अधिकार देता है, क्या वादी ऐसी यावज्जीवन कुमारीको ही ऐसा अधिकार देता है ? कभी नहीं। यहां भी आपने हारीतको न माना। हारीत सद्योवधूको जिसका विवाह होना है, विवाहके अवसर पर उसका उपनयन (वादीके अनुसार यज्ञोपवीत, हमारे अनुसार उपवस्त्र) मानता हैं, वेदाध्ययन नहीं। क्या वादी यह मानते हैं ? कभी नहीं; क्योंकि—२४ वर्ष तक वेदाध्ययन न होनेसे, विवाहके अवसर पर दिया हुआ आपका वह यज्ञोपवीत भी व्यर्थ रहेगा। अब वादी बतावे कि—वह किसको मानता है ? किसीको भी नहीं मानता। तब वादीका पक्ष भी किसीसे सिद्ध नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त 'ओं या अकृन्तन्...आयुष्मति परिधत्स्व वासः' 'परिधत्त धत्त वाससा' इन मन्त्रोंके अर्थसे भी कपड़ेका बोध हो रहा है, यज्ञोपवीतकी तो इन मन्त्रोंमें गन्ध भी नहीं। तब इससे वादीका प्रयास विफल हुआ।

(ग) जोकि स्त्रीके लिए 'प्रमे पतियानः पन्थाः कल्पताम्' इति वाचयेत्, यह मन्त्र बुलवाना लिखा है-पहले तो यह मन्त्र वादीके अनुसार वेदका नहीं है; अपने वेदोंमें उसे ढूंढो; अतः उनके पक्षकी सिद्धि नहीं। दूसरा विवाह में स्त्री को कई विशेष मन्त्र बुलवाना अपवाद है, इसकी अभ्यनुज्ञा दी गई है; पर वह उत्सर्ग नहीं। जैसे यज्ञोपवीतसे पूर्व वेदके मन्त्रोंके उच्चारणका किसी को अधिकार नहीं; 'नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनाद् ऋते' (म. २।१७२) में स्वधानिनयन (मृतकश्राद्ध वा अंत्येष्टि) में विना भी यज्ञोपवीतके मन्त्र-विशेषोंका माणवक आदिसे बुलवाना अपवाद है, वैसे स्त्रीके विवाहके लिए भी अपवाद है। इसलिए याज्ञवल्क्य तथा व्यासने भी कहा है—'तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' (१।२।१३) 'नवैताः कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः। विवाहो मन्त्रतस्तस्याः' (व्यासस्मृति १।१५-१६)।

इसलिए इस अवसरपर वर ही स्त्रीके पठनीय मन्त्रोंको भी बोल देता है, जैसे कि—गोभिलपुत्रके 'गृह्यासंग्रह' में भी कहा है—'विवाहे यो विधिः प्रोक्तो मन्त्रा दाम्पत्यवाचकाः। वरस्तु तान् जपेत् सर्वान् ऋत्विग् राजन्य-वैश्ययोः' (२।२४)। इसलिए उसी गोभिल-वचन जिसे म.म.जीने उद्धृत किया है—उसीके साथही लिखा है, जिसे उन्होंने छिपा दिया; वह यह है—'स्वयं [वरो] जपेद् अजपन्त्याम् [वध्वाम्] (यदि वह स्त्री उक्त मन्त्र न बोले; तो वर उसे बोले)। 'प्रास्याः पतियानः'''पतिलोकं गम्याः'

(गोभि० २।१।२१)। इससे हमारे ही पक्षकी पुष्टि हुई।

(घ) वसिष्ठका जो 'सावित्र्या अष्टशतेन जुहुयात्' वचन दिया गया है, उसका उत्तर यह है।-'वसिष्ठस्मृति'-'अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुष-प्रधाना, अनग्निः अनुदक्या, चानृतमिति (५।१) इस प्रकार स्त्रीको स्वतन्त्रतासे अग्निहोत्रका निषेध करती है, तब यहाँ 'जुहुयात्' में अन्तर्भावितण्यर्थ' है, अतः वहाँ 'ऋत्विक्, पुरोहित आदि द्वारा' यह अध्याहृत होता है। जैसा कि म.म. श्रीरघुनन्दन भट्टाचार्यने स्मृतितत्त्वके द्वितीय भागमें ६३४ पृष्ठमें लिखा है-'शूद्रस्य मन्त्रपाठानधिकारे सिद्धे यद् 'अमन्त्रस्य' इति पुनर्वचनं तत् स्त्रिया ग्रहणार्थं परिभाषार्थं च। ततश्च तत् (स्त्री)-कर्म-सम्बन्धिमन्त्रेण विप्रः तदीयकर्मकारयितृ-ब्राह्मणो गृह्यते, तेन ब्राह्मणेन तत्र मन्त्रः पठनीयः"। (शूद्रके मन्त्रपाठके अनधिकार सिद्ध होनेपर भी जो कि-'अमन्त्रस्य' यह फिर कहा गया है-यह स्त्रीके ग्रहणकेलिए है, और पारिभाषार्थ है। तब उस [स्त्री] कर्मसम्बन्धी मन्त्रसे विप्र उस कर्मके करानेवाला ब्राह्मण लिया जाता है। वह मन्त्र उस ब्राह्मणको पढ़ना चाहिए।)

इधर 'वशिष्ठस्मृति' में यहाँ 'सावित्र्याः शिरोभिः' (२१।७) यह पाठ है। इसका अर्थ है कि-'गायत्रीके शिरोमन्त्रसे'। शिरोमन्त्र है-'आपो ज्योतीरसोऽमृतम्' यह उद्धरणकर्ता वादीके अनुसार वेदका नहीं है, वह अपनी चार संहिताओंमें इस मन्त्रको ढूंढे, उसे नहीं मिलेगा। तब सब झगड़ा छूटा। हमारे अनुसार भी यह सम्पूर्ण मन्त्रसे पृथक् होजानेसे 'अनाम्नातेषु अमन्त्रत्वम्' (मीमां. २।१।३४) के अनुसार वेदमन्त्र न रहा। इसी प्रकार 'वाक्यनियमात्' (मी. १।२।३२) इस मीमांसा-नियमके अनुसार नियतक्रमवाला न होनेसे वेद न रहा। तब इससे स्त्रीको वेदाधिकार सिद्ध न होसका। अथवा कहीं 'सावित्र्या' ही पाठ हो, तो भर्ताके मानसिक अतिक्रमण दोषकी निवृत्तिकेलिए 'सावित्र्यै नमः' इस मन्त्रका अथवा सावित्री नामक पतिव्रता स्त्रीका स्मरण भी विवक्षित हो

सकता है। स्वतन्त्रतासे वशिष्ठके मतमें उसे अग्निहोत्रका अधिकार नहीं; तभी उसे 'अनग्निः' कहा गया है।

(ङ) 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता' का उत्तर पहले सम्यक्तया दिया जा चुका है! उसे पाठक (१०) वें उत्तरपक्षमें देखें।

(च) क्या वादी पं० शिवदत्तजीकी यह बात मानता है कि-कठी आदि प्रयोगोंसे स्त्री वेदाधिकारिणी सिद्ध है। तो क्या वादी वेदकी शाखाओंको वेद मानता है? यदि हां; तो उसका सैद्धान्तिक पराजय हो गया, क्योंकि वादी का सम्प्रदाय **शाखाओंको वेद नहीं मानता।** तब यह उद्धरण भी निष्फल सिद्ध हुआ। क्योंकि-'गोत्रं च चरणैः' यह वार्तिक चरण (शाखाओं) का उदाहरण बता रहा है, इससे स्त्रीका वेदाधिकार सिद्ध न हुआ।

शाखाओंको वेद मानने वाले हम लोगोंका इस पर समाधान यहाँकी 'तत्त्वबोधिनी' टीकाने दिया है. कि-यह 'कठी' आदि शब्द 'पुराकल्प'के बोधक हैं। यह शब्द ब्रह्मवादिनी उन ऋषिकाओंकेलिए हैं, जो 'पुराकल्प' अर्थात् कल्पके आरम्भ में कठ बह्वृच आदि संहिताओंके प्राकट्यके लिए प्रकट होती हैं, और वे ऋषिकाएँ नियत होती हैं, उनसे भिन्न आजकल की स्त्रियाँ नहीं होतीं। क्योंकि यह कल्पारम्भ नहीं। इधर कठ, बह्वृच आदिके उनके नियत (न कि सब) मन्त्रोंका स्मरण करनेसे भी 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस न्याय से वे 'कठी बह्वृची' आदि नाम को प्राप्त कर लेती हैं।

(छ) यह कहना ठीक नहीं कि-यजमानपत्नी पढ़ी नहीं होगी; तो ऋत्विक्प्रोक्त अर्थका ज्ञान न होनेसे वह उस कार्यको न कर सकेगी-क्योंकि ऋत्विक् मातृभाषामें स्वयं बतलाते हैं-'ऐसा करो, वैसा करो'। स्त्रियोंको तो क्या, विद्वान् पुरुषोंको भी कहते हैं, इसीलिए तो श्रौतसूत्रोंमें 'वाचयेत्' ऐसे विद्वान् पुरुषों-द्वारा मन्त्र भी पढ़वाये गये हैं, नहीं तो फिर पढ़ने वाले ही स्वयं सब विधियां कर लें, ऋत्विजोंको बुलाया ही न जाय, और फिर

ऋत्विज् आदिसे बतलाई हुई विधि लौकिक संस्कृत जानने पर भी समझ में आ सकती है। पहले जब मातृभाषा संस्कृत थी, तब भी बिना पढ़ी-लिखी स्त्रियां समझ ही जाती थीं। अब जब मातृभाषा संस्कृत नहीं है, तब जो भी अपनी मातृभाषा होगी, उसीमें विधि समझाई जाती है। तथापि विधियां प्राय: पुरुषके लिए आती हैं, स्त्रीके लिए तो कोई एक-आध ही विधि आती है। ऐसे ही विवाहमें, ऐसे ही यज्ञमें। तब इससे हमारे पक्षको कोई हानि नहीं पहुंचती। स्त्रियोंको केवल वैध एवं क्रमिक (मनु. २।१७३) वेदके अध्ययनका ही निषेध है, लौकिक संस्कृतका नहीं। 'पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् पर:'। पिता आदिसे वह लौकिक संस्कृत समझनेका ज्ञान कर सकती है। स. ध. इसका निषेध नहीं करता।

अथवा न पढ़ने पर भी अन्यके कहनेसे वैसा करना पड़ता ही है। अथवा वर उससे वैसा करा लेता ही है, जैसे कि–जातकर्मादि संस्कारोंमें पिता लड़केसे वैसा करा ही लिया करता है, 'अश्मा भव, परशुर्भव' इत्यादि मन्त्रोच्चारण-द्वारा उसके भविष्यत्-कर्तव्यका उसके अन्त:करण-में संस्कार डाल दिया करता है। अन्यथा क्या बच्चा मन्त्रोंके भाव या विधिको समझ सकता है? 'महाभाष्यमें कहा है–'याज्ञे कर्मणि प्रयोग-नियम:' तो याज्ञिक-कर्ममें ज्ञान आवश्यक नहीं, केवल प्रयोग आवश्यक है, जो ऋत्विज् आदिके सहारे निरक्षर भी कर सकता है। इसलिए वादीके स्वामीने भी कहा है—'यदि यजमान न पढ़ा हो, तो इतने मन्त्र तो अव-श्य पढ़ लेवे। यदि कोई कार्यकर्ता जड़, मन्दमति 'काला अक्षर भैंस बरा-बर' जानता हो, तो वह शूद्र है अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो, तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोच्चारण करे, और कर्म उसी मूढ यजमान के हाथसे करावे' (संस्कारविधि-सामान्य प्र० २९ पृष्ठ)। यही बात यहां भी वादी घटा ले।

यह बात यहां जाननेकी है कि स्त्रीका विवाहमें बोलनेका कोई एक-आध ही मन्त्र होता है, देखिये सूत्रग्रन्थ। वे भी प्राय: सौत्र मन्त्र हैं, शेष

सब वैदिक मन्त्र वरके हैं, इससे हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं! यज्ञो-पवीतसे पूर्व लड़का भी अशिक्षित होता है, तब उसको भी संस्कृत शब्दों का बोध न होनेसे संस्कारोंमें उसका भी सारा कर्म ही भ्रष्ट हो जायगा। यदि उस अनधीत लड़केके गुरुके आश्रयसे मन्त्र बोलनेसे भी विधि-भ्रंश नहीं, स्वर आदिके अज्ञानसे होने वाला अधर्म नहीं होता, तो वैसे ही वरके वा पुरोहितके आश्रयसे एक आध अपना नियत मन्त्र बोलने पर अनधीत भी स्त्रीका विधिभ्रंश नहीं होता।

(ज) 'संस्कारादि यज्ञमें अयज्ञिय, संस्कृतसे अतिरिक्त भाषण तो 'नायज्ञियां वाचं वदेत्' से निषिद्ध है' इसका उत्तर हम अभी-अभी दे ही चुके हैं। इसको उद्धृत करने वाले वादीको तो चाहिए कि–विवाहादि संस्कार एवं यज्ञमें संस्कृतातिरिक्त हिन्दी भाषण करवाने वाली अपनी 'संस्कारविधि' का बाईकाट कर दे। यदि वह कहे कि–स्वामीजीकी संस्कारविधि स्त्री-शूद्रों वा मूर्खोंकेलिए है; तो वह याद रखे कि–सभी संस्कारोंमें आपके भाई उसी 'सं.वि.' को ले जाते हैं, वहां की भाषा पढ़कर भी सुनाते हैं, तब आप सारा शूद्र-स्त्रीमण्डल सिद्ध न कीजिये। ऐसा सिद्ध हो जानेसे फिर 'नायज्ञियां वाच वदेत्' यह निषेध स्त्री-शूद्रके लिए प्रसक्त न होगा; अथवा वे फिर यज्ञके अधिकारी न रहेंगे। हमारे मतमें शूद्रोंको तो यज्ञका निषेध है ही, केवल स्त्रीकेलिए 'विवाहस्तु समन्त्रक:' यह अपवाद है, अत: दोष नहीं। इधर यज्ञमें अयज्ञिय वाणी न बोलनेका तोड़ भी, उसके उद्धारका प्रकार भी हमारे पास विद्यमान है। 'नायज्ञियां वाचं वदेत्' (१।६।१८) यह गोभिलका सूत्र है। इसका तोड़ 'यदि अयज्ञियां वाचं वदेत्...नमो 'विष्णवे इति ब्रूयात्' (१।६।२१) यह है, तब स्त्रीको 'नमो विष्णवे' कहना कुछ कठिन नहीं, अत: दोष भी नहीं होगा। इधर स्त्री उस समय लज्जादिवश 'अग्निम् अभिमुखो वाग्यत: (मौनी) प्राञ्जलिरास्ते आकर्मण: पर्यवसानाद् (गो. १।६।१६) की तरह विवाहमें चुप रहती है, उसका कार्य वर-पुरोहितादि ही 'ऊह' करके कर

दिया करते हैं, जैसेकि–इस विषयमें पहले हम गोभिलका सूत्र (२।१।२१) ही उद्धृत कर चुके हैं, तब उसके मुखसे अयज्ञिय वाणी निकलेगी ही नहीं।

(झ) श्री सीता—महाश्वेता आदिके सन्ध्योपासनके विषयमें यह जानें कि–सन्ध्या प्रातःकाल तथा सायंकालके तमः और प्रकाशके मिश्रण सन्धिकालरूप समय-विशेषको कहते हैं, तदाश्रित कृत्यों—शौच-दन्तधावन स्नान तथा भगवान्‌के ध्यान आदिको भी आश्रय-आश्रयीके अभेदसे 'सन्ध्या' कहा जाता है। उसमें वेदमन्त्रोंकी अनिवार्यता नहीं रहती, (वादीके स्वामीने ही 'उण्णादि कोष' (४।११२) में 'सन्ध्या' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार लिखी है–'सन्दधाति यस्यां वेलायां सा सन्ध्या, 'सायंकाल' [यहाँ स्वामीजीको 'प्रातःकाल' भी लिखना चाहिए था, फिर वे लिखते हैं–] 'सम्यग् ध्यायन्ति परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या'। इसमें 'वेद-मन्त्रैः' यह शब्द कहीं नहीं लिखा है, तब वादीके पास क्या प्रमाण है कि–श्रीसीताकी सन्ध्या वेदमन्त्रोंकी थी? परमात्माका ध्यान, भजन करना ही सन्ध्या है, तो उसका भजन अधिकारी वेदमन्त्रोंसे करेंगे, अनधिकारी वेदभिन्न मन्त्रों वा श्लोकोंसे। हमारे देशकी स्त्रियाँ अब भी सायंकालमें मिलकर सन्ध्या किया करती हैं, पर वे वेदमन्त्र नहीं होते। उसमें भगवान्‌का ध्यान तथा 'सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि' (सामवेदसं. २०।३।४।२) 'नामानि ते शतक्रतो! विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे' (अथ. २०। १६।३) इत्यादि प्रमाणोंके अनुकूल उसका नाम-कीर्तन होता है, वैसा ही सीताकेलिए समझ लें।

सन्ध्यामें वेदमन्त्रोंका होना अनिवार्य नहीं। नहीं तो फिर वादी अपनी सन्ध्यासे 'ओं वाक् वाक्, ओं भूः पुनातु शिरसि, ओं भूः इत्यादि सप्त व्याहृतिवाला मन्त्र–ये मन्त्र निकाल दे, क्योंकि–यह उसके अनुसार वेदमन्त्र नहीं। रामायणकालमें अधिकार-अनधिकारका बहुत विचार किया जाता था। तभी तो शास्त्रविरुद्ध तपस्या करते हुए शम्बूक शूद्रको

दण्ड दिया गया था। इधर रामायणमें मनुस्मृतिके अनुसार व्यवहार दिखाये गये हैं, तभी श्रीरामने वालीके आगे उसके मारनेके समय दो मनुस्मृतिके पद्य कहे थे, जो अब भी मनुस्मृतिमें मिलते हैं। श्रीरामने अपना व्यवहार मनुस्मृतिके अनुसारी बतलाया है, तब फिर उनकी स्त्री सीता मनुस्मृतिकी मर्यादाके विरुद्ध वेदमन्त्रों की सन्ध्या कैसे कर सकती थी?

जब तक ६ वर्षमें विवाहित सीताको वादी उपनीता न सिद्ध कर लें, तब तक वे उसकी वैदिक-सन्ध्या सिद्ध नहीं कर सकते। नहीं तो वे 'महाराज (दयानन्द) ने उन [ठाकुर महाशय] को कहा कि–जब तक आप जनेऊ धारण न कर सकें, तब तक यह प्रार्थना किया करें–'हे परमेश्वर!...भवत्कृपया धर्मे मे सदा प्रीतिर्भवेत्, नाधर्मे कदाचित्'... स्वामीजीने वह जप भी लिखाया—ओं नमः परमेश्वराय सच्चिदानन्द-स्वरूपाय सर्वगुरवे नमः। (श्रीमद्दयानन्दप्रकाश १२० पृष्ठ) यह स्वा.द. से निजी गढ़ा हुआ २४ अक्षरका मन्त्र है। जो अनुपनीतकेलिए वे बता रहे हैं। इसके अनुसार लौकिक गद्य-पद्य 'नमो भगवते रामचन्द्राय' आदिकी सन्ध्या समझ लें। अथवा 'तस्माद् अहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन्' (४।५) षड्विंश ब्राह्मणके इस प्रमाणसे सूर्यका ध्यान ही सन्ध्या है; तब 'सूर्याय नमः' इत्यादि लौकिक मन्त्रों द्वारा सूर्यका ध्यान अथवा उस सन्ध्याकालका वन्दन करना ही सन्ध्यावन्दन वा सन्ध्योपासन होता है। स्वामीजी भी 'भद्रकाल्यै नमः, सानुगाय यमाय नमः' इन लौकिक, वेदभिन्न वाक्योंको भी 'मन्त्र' कहते हैं। इन जैसे 'नमः' अन्त वाले मन्त्रोंके जपनवाली सन्ध्यामें हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं।

अथवा यहाँ सीताकी 'सन्ध्या' का भाव प्रातःकालिक स्नान भी प्राकरणिक है। सन्ध्या होती है चित्तकी एकाग्रतामें, पर सीताका चित्त तो उस समय विरह-व्यथामें था, वह सन्ध्यामें क्या लगता? इसलिए

'सन्ध्याकालमना: श्यामा सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी' (वाल्मी. ५।१४।४९) का अर्थ लिखते हुए 'शिरोमणि' टीकामें लिखा है—'सन्ध्याकाल: समयो यस्य, तस्मिन् स्नान-जपादौ मनो यस्या:, सा, श्यामा-नित्य-षोडशवार्षिकीत्वेन प्रतीयमाना जानकी सन्ध्यार्थे-मान्ध्यकर्म [स्नानध्यानादि] निर्वृत्त्यर्थम्' यहाँ प्रात:-सन्ध्याका आश्रित कृत्य स्नान-ध्यान दिखलाया गया है। यही बात रामाभिराम-टीकामें भी लिखी गई है—'सन्ध्यार्थे सन्ध्याकाल-क्रियमाण-स्नानाद्यर्थे। रात्रि-शेषे हनूमतोऽस्य वचस: प्रवृत्ते: सन्ध्याशब्देनात्र प्रात:कालो विवक्षित:। तत्र कर्तव्यस्नानादौ च ग्रस्त्येव स्त्रीणामप्यधिकार:। किं च सम्यग् भगवद्ध्यानस्यैव सन्ध्यापदार्थत्वेन ग्रस्त्येव तत्र स्त्रिया अधिकार:। गायत्रीमन्त्रेण तदर्थस्मरणपूर्वकध्यानं तु द्विजस्यैवाधिकार:'। (सन्ध्याकाल है समय जिसका, उन स्नान-जप ग्रादिमें ही मन है जिसका, नित्य १६ वर्षकी मालूम होनेवाली सीता सन्ध्याके कर्म [स्नान-ध्यान ग्रादि] करनेकेलिए' (शिरो.) (सन्ध्या-सन्ध्याकालमें किये जाते हुए स्नानादिकेलिए। रात कुछ रहती थी; उस प्रात: के समयमें यह हनुमान् का वचन है, तब 'सन्ध्या' से यहाँ प्रात:काल इष्ट है। उसमें करने योग्य स्नानादि कर्मोंमें स्त्रीका भी अधिकार है। भगवान्का ध्यान करना—यह 'सन्ध्या' का अर्थ है, सो उसमें भी स्त्रीका अधिकार है। हाँ, गायत्री-मन्त्र तथा उसके अर्थपूर्वक [वैध] ध्यानमें द्विज-पुरुषका ही अधिकार होता है)।

तो यहां सन्ध्याका प्रात:-सन्ध्याकालिक स्नान अर्थ करना कोई दुराग्रह भी नहीं; क्योंकि प्रात:-स्नान ग्रावश्यक ही होता है, हनुमान्का यह वाक्य थोड़ी रात्रि शेष रहनेके समयका है। श्रीवाल्मीकिको भी यहाँ यही स्नान अर्थ इष्ट प्रतीत होता है, इसलिए वहाँ 'शीतजला नदी' (५।१४।५१) ढूंढी गई है। स्नानकेलिए ता ठंडे जल वाली नदी ढूंढी जा सकती है, सन्ध्याकेलिए उसका अन्वेषण अनिवार्य नहीं। बल्कि वादियोंकी 'सूखी वैदिक सन्ध्या' के लिए तो जलकी भी अनिवार्य

ग्रावश्यकता नहीं, जब तक कि कफ ग्रौर नींद तंग न करें। तब वहाँ 'शीतजला नदी' का ढूंढना तो ग्रौर भी व्यर्थ हो जाता है; क्योंकि—वह तो उल्टा कफको बढ़ावेगी; घरसे यहाँ ग्रानेपर नींद की प्राप्ति तो सम्भव ही नहीं। ग्रत: 'शीतजलां नदीम्' यह साभिप्राय विशेषण प्रात:-काल होनेवाले स्नानको बता रहा है, क्योंकि—स्नानमें ठण्डा जल हितकारक होता है।

महाश्वेताका यज्ञोपवीत पहिनकर सन्ध्या करना यदि अनुकरणीय है; तो उसकी सन्ध्या तो 'त्र्यम्बकस्य दक्षिणां मूर्तिमाश्रित्य ग्रभिमुखीम्... शङ्कराभ्यर्चनाय स्वयमुद्यतां...स्नपनार्द्र लिङ्ग—सक्रान्त-प्रतिबिम्बतया हृदयमिव प्रविष्टां स्मरस्य' [कादम्बरी] शिवलिङ्गकी मूर्तिपूजाकी दिखलाई गई है, इस प्रकार हर्षचरितमें सरस्वतीको भी पुलिन-प्रतिष्ठा-पित-शिवलिङ्गा च' [प्रथम उच्छ्वास] यही मूर्तिपूजा दिखाई गई है। तब क्या वादी शिवलिङ्गकी मूर्तिपूजाका स्त्रियोंके द्वारा अनुकरण ठीक मानता है? यदि ऐसा हो तो वह शीघ्र 'वैदिकधर्मकी जय करे'। यदि वादी यह मूर्तिपूजा बाणभट्टकी वेदानभिज्ञतासे लिखी समझता है, तो उसका स्त्रीयज्ञोपवीत भी उसकी वेदानभिज्ञताका फल समझे। 'मीठा-मीठा गड़प ग्रौर कड़वा-कड़वा थू' यह कहावत क्या वादी चरितार्थ नहीं कर रहा? इसपर वादीको यह याद रखना चाहिए कि—महाश्वेता गन्धर्वकन्या एवं देवता थी; तभी तो अपने पतिके तीन जन्म लेनेपर भी वह बूढ़ी नहीं हुई। क्या वादी ऐसी मानुषी दिखा सकता है? तब देवताओंके नियम मानुषियोंमें लागू नहीं हो सकते, क्योंकि देवता तो जन्मसे ही विद्वान् होते हैं। वे दिव्य (लोकोत्तर) होनेसे कभी-कभी लौकिक-मर्यादा तोड़ देते हैं; ग्रत: उनका लौकिक-धर्मशास्त्रविरुद्ध ग्राचरण अनुकरणीय नहीं। बाणभट्टने मानुषी स्त्रीमें कहीं यज्ञोपवीत नहीं दिखलाया?)

(ञ) हारीतवचन पर पहले स्पष्टता की जा चुकी है। हारीतानुसार

यावज्जीवन थोड़ी-सी ब्रह्मचारिणियाँ भले ही उपनयनपूर्वक वेद पढ़ें; तब वे म.म.जीके अनुसार वैवाहिक मन्त्र क्यों पढ़ेंगी ? सद्योवधूको हारीत भी वेदाधिकार नहीं देता; तब ऋत्विक् उसकी उस समय सहायता करेगा। वस्तुत: वे ऋषिकाएं हैं—यह हम पहले स्पष्ट कर चुके चुके हैं। सद्योवधू तो हारीतानुसार वेद पढेंगी नहीं। सद्योवधूका हारीतप्रोक्त उपनयन 'आचार्यकरण' न होनेसे 'यज्ञोपवीत' नहीं। नहीं तो फिर 'कर्मकरान् उपनयते' में भी वैसा अर्थ हो जाय ? पर नहीं होता। वहाँ 'भृतिदानेन स्वसमीपं प्रापयति' यह अर्थ किया गया है। देखिये— आत्मनेपद-प्रक्रिया (१।३।३६)। शेष है विवाहमें कई वधू-द्वारा पढ़े जाने वाले मन्त्र, उसपर 'तूष्णीमेता: क्रिया: स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रक:' (याज्ञ. १।१।१३) विवाहो मन्त्रतस्तस्या: (व्यास. १।१६) यह अपवाद-वचन मिलते हैं, उन्हें ऋत्विक् आदिके सहारे बुलवाया जा सकता है। दूसरेके सहारे तो निरक्षर बच्चा भी बोल सकता है। 'वचनस्य को नाम भार: ?' इस प्रकार यज्ञके स्त्रीविषयक क्वाचित्क कई मन्त्रोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। इसपर पूर्व प्रकाश डाला जा चुका है।

(ट) इसका उत्तर भी (ज भागमें) दिया जा चुका है। कर्मकाण्डमें वैसा उच्चारण विवक्षित है, ज्ञान नहीं। तो स्त्री ऋत्विगादि-प्रोक्त शुद्ध मन्त्रका जब अनुवचन कर लेगी, तब कर्मभ्रष्टता कैसी ? याज्ञ कर्ममें प्रयोग-पक्ष ही होता है, ज्ञान-पक्ष नहीं। 'तै: पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मणि अप-भाषितम्, ततस्ते पराभूता:' संस्कृतका ज्ञान रखते हुए भी असुरोंने यज्ञके समय 'हेलय:' इस प्रकार अशुद्ध आचरण किया, वे हार गए। तब यहाँ विवाह-यज्ञमें भी उच्चारणमात्रकी आवश्यकता है, ज्ञानकी नहीं। इसलिए वेदमें भी कर्मकाण्डको 'अविद्या' (यजु: ४०।६) कहा गया है। महाभाष्यमें भी 'आचारे नियम:' माना गया है, सो वह लड़की स्वतन्त्रता से कोई मन्त्र अशुद्ध उच्चारित कर ले—यह सम्भव है, इसलिए उसे ऋत्विक् वा वरके परतन्त्र होकर बोलना पड़ता है—इससे कर्मभ्रष्टताकी

आशंका नहीं रहती।

(ठ) 'जातिं तु वादरायण:; तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत' यह मीमांसाका सूत्र केवल 'स्वर्ग-कामो यजेत' में संकुचित है, स्त्रीके उपनयन-वेदाद्यधिकार: में व्यापक नहीं। क्योंकि इस सूत्रमें उसका प्रकरण नहीं। इसका भाव यह है कि—'लिंगविशेषनिर्देशात् पुंयुक्तमैतिशायन: (६।१।६) यह पूर्वपक्ष 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस ऐकदेशिक वाक्य पर सूत्रित किया गया है, उपनयनादिमें नहीं। अन्यत्र भी प्रचलित नहीं, अन्यथा 'पशु-मालभेत' से स्त्री-पशु भी आलब्ध किया जाय, पर नहीं किया जाता। तभी तो ६।१।८ मीमांसासूत्रके भाष्यमें शबरस्वामीने लिखा है—'स्वर्गकाम-शब्देन उभावपि स्त्रीपुंसौ अधिक्रियेते, अतो न विवक्षितं पुंलिङ्गम्। कुत: ? अविशेषात्। नहि शक्नोति एषा विभक्ति: स्वर्गकामं लिङ्गेन विशेष्टुम्'। स्पष्ट है कि—यहाँ उपनयनकी कोई बात ही नहीं। नहीं तो जातिपक्षानुसार लड़कीका भी यज्ञोपवीत अष्टवर्षमें करना पड़े; ब्रह्मवादिनियोंका तो यावज्जीवन विवाह नहीं होता, सद्योवधुओंका वादीके अनुसार विवाहमें उपनयन करना पड़ता है; तो क्या वादी ८ वर्षकी लड़कीका विवाह मानेगा ? यदि नहीं, तब स्पष्ट है कि—यह जातिपक्ष उपनयन-वेदादिमें व्यापक नहीं। यदि जातिपक्ष सर्वत्र अबाधित होता, तो 'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो जायेत' (शत. १४।९।४।१७) से 'पुत्र' के ग्रहणसे पुत्रीका ग्रहण भी हो जाता, तब 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत' (१४।९।४।१६) यह कण्डिका व्यर्थ थी। जब यह पृथक् कही गई है, इससे स्पष्ट है कि—जातिसूत्र 'स्वर्गकामो यजेत' में प्रसक्त है, सर्वत्र नहीं। इस विषयमें हम अधिक १५ संख्यामें कहेंगे।

इसी प्रकार 'स्त्री चाविशेषात्' यह कात्यायन-श्रौतसूत्रका सूत्र भी स्त्री की स्वर्गकामनामें विश्रान्त है, जैसाकि—उसके कर्कभाष्यमें लिखा है—'स्त्री च अधिक्रियते, कुत एतत् ? अविशेषात्। यस्मात् श्रूयमाणमपि एतल्लिंगं न

विशेषकं भवति...उद्दिश्यमानविशेषणं ह्येतत् 'स्वर्गकामो यजेतेति'। विधिसंस्पर्शाभावाद् अविवक्षितं लिङ्गं संख्या च। तस्मात् स्त्रिया अप्यधिकारः। 'दर्शनाच्च' (८) 'योक्त्रविधिपरे वाक्ये पत्न्या अधिकारं प्रदर्शयति। सा च पुंसा सह अधिक्रियते, न पृथक्। येन एकस्मिन् कर्मणि पत्नीसाध्याः पदार्था दृश्यन्ते—'पत्नी आज्यमवेक्षते' इति, यजमानसाध्याश्च-यजमानो वेदं वध्नातीति'। 'तुल्यफलत्वाच्च' (९) कर्कभाष्यम्—'स्वर्गकामो यजेतेति-अनेन यथा यजमानोभिधीयते—एवं पत्नी अपि। यथा यागेन यजमानः फलं साधयति, तथा पत्नी अपि' (चौखम्बा सीरीज पृ. ५-६)।

इससे जातिपक्ष स्त्रीके उपनयनादिमें प्रवृत्त नहीं; किन्तु स्वर्ग-फलकी कामनामें प्रवृत्त है—यह सिद्ध है। यजनमें भी स्त्री-साध्य कार्य आज्यावेक्षण आदि कहे गये हैं, उपनयनादि नहीं। जैसे—श्रीरामने सीताकी अनुपस्थिति में यज्ञमें सुवर्णकी सीता बैठाई थी, जैसेकि—'न सीतायां परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः। यज्ञे-यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनी भवत् (वाल्मी. ७। ९९।७) 'रामोपि कृत्वा सौवर्णी सीतां पत्नीं यशस्विनीम्। ईजे यज्ञैः' (कात्यायनस्मृति २०।१)। उस सुवर्णमयी सीताने न तो वेदमन्त्र ही पढ़े, न यज्ञ ही किया, फिर भी यज्ञपूर्ति मानी गई, इस प्रकार स्त्री भी सुवर्ण-की पुतलीकी तरह यज्ञमें साथ बैठी रहती है, कर्म उसका सब पति ही करता है, साथ बैठनेमात्रसे उसे फल मिल जाया करता है। इसलिए वसिष्ठकी पत्नीको वसिष्ठकर्तृक-यज्ञकी फलभोक्त्री माना गया है। इससे स्त्रीका उपनयन वा वेदाधिकार सिद्ध नहीं हो जाता।

शेष है यजन—सो वह तो उपनयन तथा वेदाध्ययनके अधिकारसे रहित निषादस्थपतिका भी मीमांसामें आता है। जैसे वह ऋत्विक्-द्वारा करा दिया जाता है, वैसे यहां स्त्रीका पति-द्वारा। जैसेकि—म.म. श्रीरघुनन्दन-भट्टाचार्यने 'स्मृतितत्त्व' के द्वितीयभाग ६३४ पृष्ठमें लिखा है—'अमन्त्रस्य तु शूद्रस्य विप्रो मन्त्रेण गृह्यते' इति वराहपुराणाद् अयं विधिः

शूद्रकर्तृकमन्त्रपाठरहितः। ततश्च तत्कर्मसम्बन्धिमन्त्रेण विप्रः तदीयकर्म-कारयितृ-ब्राह्मणो गृह्यते। तेन ब्राह्मणेन तत्र मन्त्रः पठनीयः'।

(वराह-पुराणमें लिखा है—शूद्रको मन्त्रका अधिकार नहीं होता; फिर भी जहाँ वचनके बलसे शूद्रका मन्त्र लिखा हो; वहाँ 'मन्त्र' से ब्राह्मण लिया जाता है। शूद्रको वह मन्त्र नहीं पढ़ना पड़ता, किन्तु उसके कर्मको कराने वाले ऋत्विक्-ब्राह्मण द्वारा ही वह मन्त्र पढ़ना पड़ता है।) इस प्रकार स्त्रीके मन्त्रकेलिए पति गृहीत होता है।

जैसेकि—अन्नप्राशनमें अन्न बालक खाता है, तब 'ओम् अन्नपते! अन्नस्य नो देहि' (यजुः ११।८३) यह अन्नप्राशनका मन्त्र भी बालकको पढ़ना चाहिए। कर्णवेधमें बच्चेका कान विद्ध किया जाता है। तब 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' (ऋ. १।८९।८) यह कर्णवेधका मन्त्र भी बालकको ही पढ़ना चाहिए, पर उसका असामर्थ्य वा अयज्ञोपवीतित्व होनेसे अधिकार न हो सकनेसे उसे उसका संरक्षक वा पिता आदि पढ़ देता है; वैसे ही याज्ञिक स्त्री-विषयक मन्त्रको भी उसका संरक्षक पति ही पढ़ देता है, और उसका फल पुत्रकी तरह स्त्रीको भी प्राप्त हो जाता है। फलतः स्त्री भी यज्ञके फल स्वर्गकी स्वामिनी होती है, उपनयनादि की नहीं। जैसाकि—४।१।३३ महाभाष्यके उद्योतमें मीमांसाके आशयको श्रीनागेश भट्टने भी कहा है—'यज्ञफल-स्वर्गादिभोक्तृत्वाच्च यज्ञस्वामित्वं भार्याया बोध्यम्। मदभिलषितसाधनत्वाद् मदर्थं कर्म-इत्येवं-लक्षणोधिकारो भार्याया अप्यस्ति—इति मीमांसायां स्पष्टम्'। अतः इससे वादिसम्मत स्त्रीके उपनयन-वेदादिकी कोई सिद्धि नहीं। जातिपक्षके विषयमें पृथक् प्रकाश भी १५ संख्यामें डाला जायगा।

गृह्यसूत्रोंमें भी 'कुमार' पद जातिपरक नहीं है, यह हम १५ उत्तर-पक्षमें सिद्ध करेंगे। तब 'कुमारा विशिखा इव' इसमें कुमार पद जाति-पक्षसे कुमारीके चौलकर्मका भी सूचक है'—यह म.म. पं० शिवदत्तजीका कथन ठीक नहीं। इसमें वेदको जातिपक्ष इष्ट नहीं, अन्यथा वेद 'त्वं

कुमार उत वा कुमारी' (ऋ. १०।८।२७) इत्यादि मन्त्रोंमें कुमारसे पृथक् 'कुमारी' शब्द न कहता। अतः 'कुमारा विशिखा इव' में 'कुमाराश्च कुमार्यश्च' इस प्रकार एकशेषसे पु-शेष हुआ है, तभी यहाँ बहुवचन है। तब लड़कीके चूड़ाकरणमें भी इससे क्षति नहीं पड़ती। पर गृह्यसूत्रमें तो एकवचन होनेसे एकशेष नहीं। जातिपक्ष तो वहाँ बाधित है—यह हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं। वस्तुतः उक्त 'कुमारा विशिखा इव' मन्त्रमें 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे कुमारोंका शिखाधारण (शिखा-मुण्डन नहीं) कहा है। कुमारीका भी वह भले ही हो जाय, पर यहाँ जातिपक्ष वेदको इष्ट नहीं—यह १५ उत्तरपक्षमें स्पष्ट किया जायगा। 'उपाध्यायी, आचार्या' आदि म.म.जीसे प्रदर्शित उदाहरणोंपर १६वें निबन्धमें स्पष्टता की जायगी।

(ङ) सायणके वाक्यमें वेदके अनधिकारियोंमें 'स्त्री' पद किसीने प्रक्षिप्त नहीं किया, सायणका वह अपना ही स्पष्ट मत है, वह केवल सायणके ऋग्वेद-भाष्योपोद्घात क्या, अन्य भाष्योंके उपोद्घातमें भी श्रीसायण स्पष्ट लिख चुका है, देखिये उसके ऐतरेयब्राह्मण-भाष्यका उपोद्घात—'ननु एवं सति स्त्री-शूद्र-सहिताः सर्वेपि वेदाधिकारिणः स्युः, इष्टं मे स्याद् अनिष्टं मा भूदिति आशिषः सर्वजनीनत्वात् ? मैवम्-स्त्री-शूद्रयोः सत्यपि उपायबोधार्थित्वे हेत्वन्तरेण वेदाधिकारस्य प्रतिब(षि)द्धत्वाद् उपनीतस्यैव अध्ययनाधिकारं ब्रुवत् शास्त्रम् अनुपनीतयोः स्त्री-शूद्रयोर्वेदाध्ययनमनिष्टप्राप्तिहेतुरिति बोधयति' यहाँ श्रीसायणने स्त्रीका भी वेदाध्ययन स्पष्ट निषिद्ध किया है, तैत्तिरीय-संहिताके भाष्यके उपोद्घातमें भी उसने यही लिखा है। इसलिए ऋग्वेद-भाष्योपोद्घातके उसके उद्धृत स्थलमें 'त्रैवर्णिक-पुरुषाणां वेदमुखेन अर्थज्ञानाधिकारः' यहाँ 'पुरुष' शब्द स्पष्ट है, तब 'स्त्री'-शब्दकी प्रक्षिप्तताकी उसके वाक्यमें म.म.जी की शंका ठीक नहीं हो सकती। शेष पराशरमाधवीय आदिमें उसे कल्पारम्भका आशय यावज्जीवन कुमारियोंके लिए इष्ट है, आजकलके लिए नहीं।

सद्योवधूके उपनयन का भाव हम पहले हारीतके वाक्यकी व्यवस्थामें बता ही चुके हैं। 'अष्टवर्षमुपनयीत' में स्त्रीका ग्रहण करनेमें क्या हानि है-यह भी हम पूर्व लिख चुके हैं। शेष भी उनकी संहाधिकार आदिकी सभी बातोंका उत्तर दिया जा चुका है। म.म. पं० शिवदत्तजीका पूर्वपक्ष समाप्त हो गया।

---

(१३) रामायण के कई प्रमाण।

(क) पूर्वपक्ष—'अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवित् कृतमङ्गला' (वाल्मी २।२०।१५) यहाँ कौशल्या मन्त्रवित् मन्त्रके जानने वाली कही गई है। यहाँ पर 'जुहोति' का स्पष्ट अर्थ 'हवन करती थी' है, पौराणिक टीका-कारोंका 'ब्राह्मणोंसे हवन कराती थी', ऐसा अर्थ करना दुराग्रहमूलक ही है। (ख) 'वैदेही शोकसन्तप्ता हुताशनमुपागमत्' (सुन्दर ५३।२५) यहाँ अशोकवाटिकामें शोकसन्तप्ता सीताका हवन करना दिखाया है। (ग) 'तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकयी प्रत्युवाच ह' (२।१४।५९) यहाँ कैकेयीका विशेषण 'मन्त्रज्ञा' है, वेदमन्त्रोंको जाननेवाली कैकेयीने सुमन्त्रको उत्तर दिया। (च) 'ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी (४।१६।१२) यहां तारादेवीको वेदमन्त्रोंको जानने वाली कहा है। (घ) 'वाग्यतास्ते त्रयः सन्ध्यां समुपासत संहिताः' (२।८७।१९) यहाँ राम, लक्ष्मणके साथ सीताका भी सन्ध्योपासन स्पष्ट है। (च) 'नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी' (५।१५।४८) यहाँ सीताका संन्ध्योपासन स्पष्ट है। ('स्त्रियों का वेदाध्ययनाधिकार' १७१।१७२।१७३।१७६।१७७ पृष्ठमें वादी)।

उत्तरपक्ष—(क) यहाँ कौशल्याके हवनप्रतिपादक वादिदत्त 'रामायण' के प्रमाणमें 'मन्त्रवित्' यह पाठ नहीं है, किन्तु 'मन्त्रवत्' है। वादी-द्वारा पाठ-परिवर्तन करना अपने पक्षकी दुर्बलता प्रकाशित करना है। 'अग्निं जुहोति स्म' का अर्थ है—कौशल्याने किसी ऋत्विक्-द्वारा ब्राह्मणसे यज्ञ

कराया। यहाँ 'जुहोति' 'हु' धातु अन्तर्भावितण्यर्थ' है, 'णिच्' का अर्थ उसने अपने अन्दर डाल रखा है; तब यहाँ 'हावयति स्म' यह अर्थ है। इस अर्थमें न तो कोई पक्षपात है, न दुराग्रह ही, किन्तु वहाँका प्रकरण ही स्वयं इस बातको स्पष्ट कर रहा है, पर वादीने अपने पक्षकी सिद्धिकी प्रसन्नतामें पूर्वोत्तर-प्रकरणको न देखनेकी शपथ ही खा रखी मालूम होती है। देखिये उक्त पद्यका अग्रिम पद्य—'अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृत-मङ्गला' (२।२०।१५) 'प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम्। ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्' (२।२०।१६) यह दोनों पद्य आपसमें अव्यवहित हैं, और अव्यवहित-समयके हैं; क्योंकि-कौशल्याके लिए जब ही 'जुहोति स्म' कहा गया है, तभी वहाँ श्रीरामका प्रवेश कहा गया है। श्रीरामने आकर देखा कि—मेरी माता ऋत्विक्-ब्राह्मण द्वारा हावयन्ती-हवन करवा रही हैं।

इस प्रकार पूर्वपद्यस्थ 'जुहोति स्म' यह पद 'अन्तर्भावितण्यर्थ 'हावयति स्म' इस अर्थमें होकर अग्रिम पद्यके 'हावयन्ती' इस पदके साथ अन्वितार्थक हो जाता है,' अथवा उस 'जुहोति स्म' में 'ब्राह्मणद्वारा' यह अध्याहृत होकर वही अर्थ-'जुहोति-हावयति' ही होकर 'हावयन्ती' के साथ अन्वित हो जाता है। तब अव्यवहित-कालिक होने तथा उद्दिष्ट-प्रतिनिर्दिष्ट होनेसे दोनों पदोंका समान ही अर्थ हुआ कि कौशल्या ऋत्विक्-द्वारा हवन करा रही थी।

जहाँ हमारी बात प्रकरणानुगृहीत है, वहां प्राचीन-टीकाकारोंसे अनुमोदित भी है। देखिये इसपर रामाभिरामी टीका—'अग्निहोत्रं मन्त्रवद् जुहोति स्म ज्येष्ठपत्नीत्वाद् ऋत्विजा-इति शेषः। तदाह—हावयन्तीमिति' (२।२०।१५-१६)। न केवल रामाभिरामने ही ऐसा लिखा है, प्रत्युत 'शिरोमणि' टीकामें भी ऐसा ही लिखा है—'हावयन्तीं, ब्राह्मणैरिति शेषः। एतदनुरोधेन पूर्वत्र 'जुहोति' इत्यस्य 'हावयन्ती' इत्यर्थः, (१५-१६)। कितनी सोपपत्तिकता है? केवल इन दो टीकाकारोंने ही नहीं, 'भूषण' टीकाकारने भी लिखा है—'जुहोति-हावयति कौशल्या, अतएव 'हावयन्तीम्'

(१६) इति वक्ष्यति, ब्राह्मणैरिति शेषः' (१५)। कितनी स्पष्टता है?

यह अर्थ टीकाकारों का निज-कल्पित नहीं है, जिससे कदाचित्-अमाननीय भी हो जाय, किन्तु एक तो प्रकरणानुकूल एवं मूलानुसारी है—यह हम पहले दिखा ही चुके हैं। दूसरा यह सोपपत्तिक तथा समूल भी है। यहाँ 'रामायण' की उपजीव्य 'मनुस्मृति' की साक्षी भी है। देखिये—'पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयाच्चैव चर्त्विजः। तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च' (७।७८) अर्थात् राजा पुरोहित तथा ऋत्विजोंका वरण कर रखे, वे लोग राजघरानेके श्रौत एवं स्मार्त यज्ञोंको सम्पादित करें। कहीं वादी इस मनुपद्यको प्रक्षिप्त ही न कह दे, अथवा इसके अर्थको हमारा कल्पित न कह दे, अतः इस पर उनके मतप्रवर्तक स्वा.द.-की साक्षी भी दी जाती है। देखिये—[राजा] पुरोहित और ऋत्विक्का स्वीकार इसलिए करे कि—वे अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजघरके कर्म किया करें; और आप सर्वदा राजकार्यमें तत्पर रहें' (स.प्र. ६ समु. पृ. ९१)। तब यहाँ राजकार्य होनेसे, दशरथ राजाके रुके होनेसे उसकी ज्येष्ठ पत्नी होनेके नाते कौशल्या ऋत्विक्-द्वारा हवन करा रही थी—यह सिद्ध हो गया।

जहाँ हमने स्वयं प्रकरणसंघटन-द्वारा यह बात वाल्मीकिसम्मत सिद्ध कर दी है, टीकाकारोंकी भी अपने अर्थमें सहमति दिखा दी है, जहाँ हमने वादीके सम्प्रदायाचार्य स्वा.द. द्वारा भी अपने पक्षकी पुष्टि दिखलाई है-आशा है—वादी अपने स्वामीको 'पौराणिक' न मानता होगा, जहाँ हमने श्रीवाल्मीकिको भी यही अर्थ इष्ट है' यह सिद्ध कर दिया है, वहां हम श्रीवाल्मीकिकी एक और भी अन्तः-साक्षी उपस्थित करते हैं; जिससे सिद्ध होगा कि-श्रीवाल्मीकि, स्त्रीका होम ब्राह्मण-पुरुष द्वारा ही कराना चाहते हैं, साक्षात् स्त्री-द्वारा नहीं। ऐसा सिद्ध हो जाने पर फिर वादी टीकाकारोंके लिए 'दुराग्रह' शब्द न लिख सकेगा। उसे वैसा न मानने पर अपना ही 'दुराग्रह' मानना पड़ेगा।

जब श्रीराम वनवासार्थ जा रहे थे, तब कौशल्याने हवन वा स्वस्ति-वाचन स्वयं न करके ब्राह्मण-द्वारा कराया है। यदि वह स्वयम् उसमें अधिकारिणी होती, तो वहाँ ब्राह्मणके बुलाने वा उसे दक्षिणा देनेकी क्या आवश्यकता थी? देखिये-'ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना। हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात्' (२।२५।२७) घृतं श्वेतानि माल्यानि समिधश्चैव सर्षपान्। उपसम्पादयामास कौशल्या परमाङ्गना' (२।२५।२८) उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्तिमनामयम्। हुतहव्याव-शेषेण बाह्यं बलिमकल्पयत्' (२६) मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्य द्विजां-स्ततः। वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाम्' (३०) ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी। दक्षिणां प्रददौ काम्यां-' (२।२५।३१)

यहाँ पर स्पष्ट ही कौशल्याका ब्राह्मणद्वारा हवन कराना दिखलाया है, केवल कौशल्याका यज्ञसामग्री जुटा देनेका वृत्त आया है। स्वस्तिवाचन भी ब्राह्मणोंद्वारा कराया गया है। इस प्रकार पूर्वोपस्थापित पद्य (२।२०। १५) में भी उत्तर-पद्यके अनुरोधसे 'हावयन्तीं' पदके ब्राह्मणद्वारा ही कौशल्याका हवन कराना इष्ट है, स्वयं हवन करना नहीं। इस प्रकार यह वादीका पक्ष सदाके लिए कट गया, अब उसका इसमें फड़फड़ाना सम्भव नहीं हो सकता।

रामायणकी उपजीव्य 'मनुस्मृति' भी स्त्रीका हवन निषिद्ध करती है। देखिये-'न वै कन्या (अनूढा) न युवतिः [ऊढा इत्यर्थः, 'यत्र रजः-शुक्रयोर्मिश्रणं भवति, यौति मिश्रीकरोति शुक्रशोणिते इति युवतिः, 'यु मिश्रणे' यह मिश्रण विवाहितात्व में होता है। यदि 'यु' धातुका यहाँ अमिश्रण अर्थ किया जावे, तो 'कन्या' शब्द व्यर्थ होगा) होता स्याद् अग्निहोत्रस्य' (मनु. ११।३६) 'नरके हि पतन्त्येते (११।३७) यहाँ विवाहिता-अविवाहिता सभी स्त्रियोंको होता बनना निषिद्ध ठहराया है। श्रीकुल्लूकने लिखा है-'कन्या-अनूढा, ऊढा-तरुणी'। मैलापुरके वादिमान्य 'विवाह-कालविमर्श' के ४२ पृष्ठमें कहा है-'यदपि मन्वादिभिर्होमप्रकरणे

'नैव कन्या न युवतिः' इत्यादिभिः 'कन्या-युवत्योर्भेदेन व्यपदेशः कृतः; तदपि विवाहिताऽविवाहिताभिप्रायेण'। राघवानन्दने भी लिखा है-'कन्या युवतिश्च ऊढानूढे'। इस प्रकार अन्य टीकाकारोंने भी लिखा है। यहाँ 'वृद्धा' अर्थ निकालना वादियोंका उपहासास्पद है; नहीं तो उनकी कन्याएँ युवतियां हवन करती हुईं वादियोंके अनुसार ही नरकगामिनी बनेंगी-क्या यह उन्हें इष्ट है? केवल यहीं नहीं, मनुने अन्यत्र भी इसे स्पष्ट किया है-'न···स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित्। अश्लीकम् (अश्रीकम्) एतत् साधूनां यत्र जुह्वत्यमी (स्त्रीप्रभृतयः) हविः। प्रतीपमेतद् देवानां तस्मात् तत् (स्त्रीकर्तृकहोमं) परिवर्जयेत्' (४।२०५-२०६)।

(स्त्री तथा नपुंसकसे हवन किये जानेपर ब्राह्मण वहाँ भोजन न करे। जहाँ पर स्त्री-नपुंसक आदि हवन करते हैं, यह सत्पुरुषोंको ठीक नहीं है। यह स्त्री-होमादि देवताओंसे भी विरुद्ध है। अतः स्त्री आदि-द्वारा हवन बन्द कर-करा दे)।

यहाँ पर भी सभी स्त्रियोंको चाहे वे कन्या वा युवतियाँ वा वृद्धाएँ हों-उनके द्वारा हवन करना निषिद्ध कर दिया गया है। हवन देवपूजार्थ होता है, पर स्त्रियोंके हवनको देव-प्रतिकूल तथा श्री-विनाशक बताया गया है। 'नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञः' (मनु. ५।१५५) यहाँ स्त्रीके पतिविरहित यज्ञका निषेध कर दिया गया है; तब मनुस्मृतिकी उपजीव्य रामायण कौशल्यासे हवन कैसे कराती? यहाँ पति साथ नहीं था।

जहाँ 'चकार रम्यं कौशल्या मंत्रैरभिजजाप च' (२।२५।३१) एतदादि-स्थलोंमें कौशल्याके मन्त्र दीखते हैं, वे पौराणिक ही समझने चाहियें, वैदिक नहीं, जिनका रामायणस्थ कौशल्याके वचनोंमें भाव स्पष्ट है। वे मन्त्र 'रामायण' में इस प्रकार कहे गये हैं—'समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च। स्थण्डिलानि च विप्राणां शैला वृक्षाः क्षुपा ह्रदाः। पतङ्गा पन्नगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम' (२।२५।

'नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सह दैवतैः। अहोरात्रे तथा सन्ध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम्' (१४) इत्यादि २।२५।३-२६ पद्य तक देख लेने चाहियें। वे वेदके शब्द न होते हुए भी 'सानुगाय यमाय नमः, भद्रकाल्यै नमः' इत्यादि स्वा.द. लिखित मन्त्रोंकी तरह 'मन्त्र' कहे जाते हैं। इसी प्रकार २।२५।२२,३४-३५ में भी कौशल्या-द्वारा किया मङ्गल भी वेद-मन्त्ररूप नहीं। तब इससे वादीका पक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं हुआ—यह विद्वान्-पाठकोंने अनुभव किया होगा। इसी प्रकार तारादेवीके मन्त्रोंके विषयम भी जान लेना चाहिए। अब वादीकी यहाँ शक्ति नहीं कि—यहाँ कुछ फड़-फड़ा सके। यह विद्वानोंने समझ लिया होगा।

(ख) 'वैदेही शोकसन्तप्ता हुताशनमुपागमत्' वादी ग्रन्थोंके पूर्वापर-छिपाकर बीचके उद्धरण दे देनेकी प्रकृतिवाला है। इससे पूर्वका पद्य यह है—'लांगूलेन प्रदीप्तेन स एष परिणीयते' (सुन्दर. ५३।२४) 'श्रुत्वा तद्वचनं क्रूरमात्मापहरणोपमम्' (सीताको सूचना मिली कि—हनूमान्की पूंछ जला दी गई है। सो वह जलाई हुई पूंछवाला हनुमान् ले जाया जा रहा है। यह कठोर वचन सीताने जब सुना; तब यह समझा कि—यह मैं मारी जा रही हूं)। उसके आगे उक्त पाठ है—यह पूर्वप्रकरण है। 'उपतस्थे विशालाक्षी प्रयता हव्यवाहनम्। यद्यस्ति पति-शुश्रूषा...शीतो भव हनूमतः। (५३।२६-२७) (यह सुनकर सीता हनुमान्की जलती पूंछकी अग्निके पास आकर खड़ी हो गई। तब वह अग्निके आगे प्रार्थना करने लगी कि—ऐ अग्नि, यदि मैंने पतिकी कुछ भी सेवा की है; तो तू हनुमान्के लिए ठण्डी हो जा)। यह उत्तर-प्रकरण है। जब रावणके आदेशसे हनूमान्की पूंछ जलाई गई; तब सीताने भी यह सुना। उसने उसे अपना नाश समझा। तब वह मनसे पूंछमें लगी अग्निसे प्रार्थना करने लगी कि—तुम हनुमान्केलिए ठंडी हो जाओ। ऐसा ही हुआ—यह अग्रिम-प्रकरणसे स्पष्ट है। यहाँ वादीको सीताके हवनका स्वप्न कहांसे आगया? वहाँपर हवनकुण्ड क्या हनुमान्की पूंछ थी? वहाँ हवन-

सामग्री क्या थी? पूंछकी अग्निमें हवन करनेसे अग्नि शान्त कैसे होती? वह तो उल्टा बढ़ती। यह हैं इन वादियोंके काले कारनामें!!!

इसके अतिरिक्त हवन होता है चित्तके स्वास्थ्यमें। तब शोकसे संतप्त वह हवनमें किस प्रकार प्रवृत्त हो सकती थी? आश्चर्य है कि—वादी अपने पक्षके पक्षपातमें लगा हुआ इस पर सोचता ही नहीं। इस प्रकारके पुरुषोंकेलिए ही कदाचित् स्वा.द.जीने कहा है—'देश-कालके अनुकूल अपने पक्षको सिद्ध करनेकेलिए बहुतसे स्वार्थी विद्वान् अपने आत्माके ज्ञानसे विरुद्ध भी [अर्थ] कर लेते हैं' (स.प्र. ११ पृ. १८५)। भूमिकामें भी स्वामीने ठीक ही लिखा है—'तात्पर्य—जिसकेलिए वक्ताने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसीके साथ उस वचन वा लेखको युक्त करना। बहुतसे हठी, दुराग्रही मनुष्य होते हैं, जो वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मत वाले लोग, क्योंकि—मतके आग्रहसे उनकी बुद्धि अन्धकारमें फंसकर नष्ट हो जाती है' (स.प्र. पृ. ४)। अपने आचार्यकी यह बात वादीमें ठीक घट रही है।

अतएव वादीका 'सीताका हवन' अर्थ भी अशुद्ध है। वादी लोग हवनका प्रयोजन वायुशुद्धि मानते हैं, तब उनको बताना होगा कि—क्या उस समय अशोकवाटिकाकी वायु अशुद्ध हो गई थी कि—उस समय श्री-सीता हवन करने बैठ गई? यदि कहें कि—हनुमान्की पूंछमें लगी अग्निका शीतल करनेकेलिए हवन किया, तो क्या वादी हवनसे अग्नि आदि देवताओंकी प्रसन्नता तथा इष्टफल (अग्निको शीतल करना आदि) मानता है? तब तो उसका साम्प्रदायिक सिद्धान्त [शब्दमय मन्त्रशक्तिका अभाव] खण्डित हो जाता है। तब वादी 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थानमें निगृहीत हो गया। तो फिर ग्रहादियज्ञसे भी इष्ट-सिद्धि हो जानेसे 'स.प्र.'-प्रोक्त ग्रहोंका फल न दे सकना रूप-सिद्धान्त भी कट गया। यदि वादी वैसा नहीं मानता, तो उसका अपने अनुसार प्रक्षिप्त प्रमाणको दे सकने-का अधिकार भी न रहा। हमने तो ग्रन्थकाराभीष्ट अर्थ बता ही दिया

हैं। टीकाकारोंने भी वही अर्थ किया है—'दु:खप्रापकत्वेन स्वापहरण-सदृशतद्वचनं श्रुत्वा शोकसन्तप्ता वैदेही हुताशनं–वन्हिम् उपागमत्–मनसा प्राप्नोत्' [शिरोमणि]। यह 'तिलक' ने भी लिखा है–'उपागमत्-ध्यानेन उपासितवती। यद्वा–तत्र ज्वलमानमग्निमुपासितवती'। यहां हवनकी गन्ध ही नहीं है। यह तो हनुमान्‌की जलती हुई पूंछकी अग्निके लिए कहा है।

इधर 'अयज्ञो वा एष यद् अपत्नीक:' इस वादि-सम्मत प्रमाणके अनुसार 'अपतिक' यज्ञ भी नहीं हो सकता, पत्नीका पतिसे स्वतन्त्र यज्ञ कहीं आया भी नहीं है। जैसे रामायणमें सीतासे पृथग्भावमें श्रीरामका यज्ञ नहीं कहा गया है, वैसे ही श्रीरामके पार्थक्यमें श्रीसीताका यज्ञहवन भी उपपन्न नहीं हो सकता। यदि एक की दूसरा आहुति दे और उसे यज्ञका फल प्राप्त हो जाय, तो एकके कर्मसे दूसरेको भी फलप्राप्ति सिद्ध हो जानेसे वादीको मृतकश्राद्ध' मानना ही पड़ जायगा। इससे वादीके मतानुसार भी 'हुताशनमुपागमत्' का अर्थ हवन नहीं हो सकता।

(ग) 'मन्त्रज्ञा कैकेयी' इस पदका 'राजनीतिक मन्त्रमें चतुर कैकेयी' यही प्रकृत अर्थ है। यहां 'वेदमन्त्र' शब्द नहीं है, जिससे वादीका अर्थ हो सके। इसके अतिरिक्त वेदसे भिन्न मन्त्र भी हुआ ही करते हैं—'सानुगाय यमाय नम:, भद्रकाल्यै नम:' इत्यादि वेद-मन्त्रोंसे भिन्न मन्त्र भी वादीके स्वामीने अपनी 'सं.वि.' में मान ही रखे हैं। रामायणके प्रकृत-स्थलमें सुमन्त्र जैसे राजनीतिज्ञ मन्त्रीको उत्तर देनेके समय 'वेदमन्त्रोंको जाननेवाली होना' अर्थ साभिप्राय भी नहीं है; और न ही उसमें कोई उपपत्ति ही है, अत: इष्ट नहीं। तब यहाँ 'मन्त्र' का अर्थ 'विचार' ही है। इसलिए 'तिलक' टीकामें लिखा है—'मन्त्रज्ञा-स्वकार्ये वक्तव्यज्ञा'। यही गोविन्दराजने लिखा है—'मन्त्रज्ञा राजनीत्यनुसारेण स्वकार्योचित-विचारज्ञा'। तब वादीका प्रयास विफल है। आश्चर्य यह है कि–अपने गलत पक्षको सिद्ध करनेकेलिए यह लोग कैसे-कैसे षड्यन्त्र करते हैं!!!

(घ) ताराको जो मन्त्र जानने वाली कहा है, वह तो वाल्मीकिके अनुसार वानरी थी, इस विषयमें 'आलोक' (६) में आरम्भिक निबन्ध देखो!, तब वह वादीके अनुसार वेदमन्त्र जानने वाली कैसे हो सकती है? हमारे अनुसार देवयोनि होनेसे उसे मन्त्र जानने वाली कहा है। इसलिए 'तिलक' में लिखा है—'स्वस्त्यनमन्त्रवेत्त्री तारा, देवांशत्वात् तद्-वेदनम्'। अथवा मन्त्र 'भद्रकाल्यै नम:' आदिकी तरह वेदभिन्न भी हुआ करते हैं–यह हम पहले बता ही चुके हैं। उक्त रामायणके पद्यमें 'मन्त्र' के साथ 'वेद' शब्द लिखा भी नहीं है, जिससे 'वेदमन्त्र' ही अर्थ लेना अनिवार्य हो। वा.रा.में स्त्रियोंके मन्त्र वेदभिन्न आये हैं, ऐसा हम (क) भागमें दिखा चुके हैं। इसी प्रकार यहाँ 'गोविन्दराज' ने लिखा है–'मन्त्रवत् स्वस्त्ययमन्त्रवत्, मन्त्रश्च वैदिकादन्य इति ज्ञेय:।'

वस्तुत: यहां भी 'मन्त्र' का अर्थ विचार है, क्योंकि—ताराको 'विजयैषिणी' कहा है। तब 'शब्दस्यान्यस्य सन्निधि:' इस शब्दार्थ नियन्त्रण करने वाले प्रसिद्ध हेतुसे 'मन्त्र' का अर्थ विचार भी सम्भव हो सकता है, जैसाकि वादीके स्वामी अपने 'स.प्र.' में मन्त्रोंसे अस्त्र चलानेके अवसर पर 'मन्त्रशक्ति' पर विश्वास नहीं करते। जैसेकि 'थे सब द्रव्य जिनसे अस्त्र-शस्त्रोंको सिद्ध करते थे, वे 'मन्त्र' अर्थात् 'विचार' से सिद्ध करते और चलाते थे, और जो मन्त्र अर्थात् शब्दमय होता है, उससे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। जो कोई कहे कि–मन्त्रसे अग्नि उत्पन्न होता है, तो वह मन्त्रके जप करनेवालेके हृदय और जिह्वाको भस्म कर देवे। मारने जाय शत्रुको, और मर जाय आप। इसलिए मन्त्र नाम है विचार का. जैसे–राजमन्त्री अर्थात् राजकर्मोंका विचार करनेवाला' (११ स. १७३) पृष्ठ। वादीको चाहिये कि–अपने आचार्यका भी अब खण्डन करे।

इस प्रकार जब वादी भी मन्त्रशक्ति पर विश्वास नहीं करता, तब प्रकृत स्थल पर 'वेदमन्त्र' अर्थ अपने मन्तव्यके विरुद्ध कर ही कैसे सकता

हैं ? वादितोषन्यायसे कुछ क्षणकेलिए मन्त्रका 'वेदमन्त्र' अर्थ भी माना जाय, तो भी वादीने देखा होगा कि–शास्त्र-विरुद्ध वैसा प्रयोग करने पर ताराके पति बालीका विजय तो दूर रहा, प्रत्युत वह मारा गया। इस प्रकार किसी भी तरहसे वादीका पक्ष सिद्ध न हुआ।

(ङ) 'त्रय: सन्ध्यां' यहाँ राम, लक्ष्मणके साथ तीसरा सन्ध्योपासन-कर्ता राजमन्त्री सुमन्त्र था; तब इससे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं। देखिये तिलकटीका—'त्रय: सुमन्त्रेण सहिता:, समाहितचित्ता:'। अथवा सीताकी सन्ध्या भी ली जाय, तो वहाँ सन्ध्या भी वेदमन्त्र-भिन्न समझनी चाहिए, क्योंकि–उसका उपनयन नहीं हुआ था। इस विषयमें हम पहले (१२ क्र. में) प्रकाश कर चुके हैं। यहाँ तीनों इकट्ठे मिलकर सन्ध्याके मन्त्र तो बोल नहीं रहे थे कि–तीनोंकी सन्ध्या एक मानी जाय। वहाँ तो तीनोंकेलिए लिखा है–'वाग्यता:' अर्थात् चुपचाप सन्ध्या कर रहे थे। सो यहाँ चुपचाप सन्ध्याकालकी उपासना-वन्दना ही इष्ट है, वेदमन्त्रोंकी इकट्ठी सन्ध्या करनी यहाँ न इष्ट है; न लिखी है। उस समय कौनसी सन्ध्या प्रचलित थी, जो केवल वेदमन्त्र की थी, जो स्त्री-शूद्र सबकी एक थी, यह वादीको सप्रमाण बताना होगा। पहले तो सन्ध्या सबकी स्व-स्वाधिकारके अनुसार थी, साम्यवाद नहीं था, बल्कि–द्विजोंकी सन्ध्या भी एक नहीं थी। ब्राह्मणोंकी सावित्री गायत्री, क्षत्रियोंकी त्रिष्टुप् और वैश्योंकी सावित्री जगती होती थी। स्त्री और शूद्रोंको इनमें कोई छन्द दिया ही नहीं जाता था—यह गृह्यसूत्रोंमें स्पष्ट है, तब वादीका पक्ष निर्मूल है।

(च) सीताकी सन्ध्या, तथा यज्ञोपवीतके विषयमें पहले (६, १२ क्र.) लिखा जा चुका है–वहीं इस भागका उत्तर देख लेनेका पाठक कष्ट करें।

—

(१४) "पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्"

पूर्वपक्ष—'यज्ञियास: पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' (ऋ.सं. १०।५३।४) हे देवो ! आप यज्ञ सम्पादन करते हुए निषादको मिलाकर पाँचों वर्ण मेरे अग्निहोत्रका सेवन करो। निरुक्तमें उद्धृत इस मन्त्रमें यज्ञका अधिकार शूद्र और निषादों तकको भी दे दिया गया है। अत: इनका वेदाधिकार भी सिद्ध हुआ' (श्रीरवि., वादी व.दे.जी, श्री शाण्डिल्यजी, श्रीतर्करत्नजी, श्री वि.दे. शास्त्री आदि)।

उत्तरपक्ष—निरुक्तमें इस मन्त्रमें यज्ञ-प्रकरण होनेसे 'पञ्चजन' का 'गन्धर्वा: पितरो, देवा:, असुरा:, रक्षाँसि-इत्येके' (३।८।१) यह भी अर्थ किया है–यह ठीक भी है, क्योंकि–प्रकृतोपयुक्त है। उपवेदमें लिखा है—'देवास्तथा शत्रु-गणाश्च तेषां (असुरा:), गन्धर्वयक्षा: पितरो भुजङ्गा:। रक्षांसि या चापि पिशाचजातिरेषोऽष्टधा देवगणग्रहाख्य:' (सुश्रुतसं. उत्तरतन्त्र ६०।७) यह देवताओंके आठ वर्ग हैं, इनमें निरुक्त-प्रोक्त देवताओंके पंचवर्ग पञ्चजन जानने चाहियें। (२) 'पंचजनानामुक्थ्यं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितॄणां च' (३।३१) यह 'ऐतरेय-ब्राह्मण' में अर्थ किया है। (३) ऋ. (१।१००।१२) में श्रीसायणाचार्यने 'पाँचजन्य:-गन्धर्वा:, अप्सरस:, देवा:, असुरा:, रक्षांसि पंचजना:, तेषु रक्षकत्वेन भव:, एवम्भूतो मरुत्वान्' यह अर्थ किया है। (४) ऋ. ६। ६६।२० में 'पांचजन्य:-निषाद-पंचमा: चत्वारो वर्णा: पंचजना:, यद्वा–गन्धर्वा:, पितरो देवा असुरा रक्षांसि इत्येते पंचजना:, अथवा देवमनुष्या:, गन्धर्वाप्सिरस:, सर्पा:, पितर इति ब्राह्मणेऽभिहिता: पंचजना:, तेषां तदभीष्टदानेन स्वभूत:' यह अर्थ किया है। (५) ऋ. ५।३२।११ में 'पंचजनेभ्यो-मनुष्येभ्यो हित:' यह व्याख्या की है। (६) ऋ. १०।५३।४-५ मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायणने 'यज्ञिया: पञ्चजना देवमनुष्यादय:' यह अर्थ किया है। (७) ऋ. ६।११।४ मन्त्रके भाष्यमें 'पंचजना:-ऋत्विग्यजमान-लक्षणा:' यह अर्थ किया है। अर्थात्–'चत्वार ऋत्विजो होत्रध्वर्यूद्गातृ-

ब्रह्माणः, पंचमो यजमानः'। (८) शतपथ-ब्राह्मणमें 'चत्वार ऋत्विजो बृहस्पति (ब्रह्म) पंचमाः, ते नाकसदो यज्ञे।' (८।६।१।११) यह पंचजन का अर्थ किया है। (६) चत्वारो महर्त्विजो यजमानश्च' यह श्रीमहीधराचार्यने यजुः १२।२३ मन्त्रके भाष्यमें अर्थ किया है।

(१०) चार वर्ण, पंचम निषाद यह अर्थ भी 'पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्' मन्त्रमें किया जावे, तब भी हमारे पक्षकी हानि नहीं। यह वहाँ मनुष्योंका वर्णन नहीं, किन्तु इस मन्त्रके देवता 'देवाः' हैं। देखिये इस पर अजमेर वैदिक-यन्त्रालयकी छपी 'ऋग्वेद-संहिता'। इसके ५७७ पृष्ठ में इस मन्त्रका 'ऋषि' सौचीक 'अग्नि' दिया है, और देवता 'देवाः' लिखे हैं। तब यह देवताओंका विशेषण है कि-इस जातिके देवता। जैसे कि-'बृहदारण्यक' उपनिषद्में देवताओंका वर्णविभाग आता हैं। जैसे-ब्राह्मण कोटिमें बृहस्पति आदि, क्षत्रिय कोटिमें इन्द्र आदि, वैश्यकोटिमें 'मरुत्' आदि, शूद्रकोटिमें पूषा, असुर आदि (१।४।११-१२-१३) हैं। श्री तर्करत्नजीने भी 'अछूतोद्धार-निर्णय' के १०५ पृष्ठमें इसी प्रकार माना है। इसी प्रकार निषाद-कोटिके भी देवता होते हैं। जैसे कि-निरुक्त-प्रोक्त 'राक्षस'।

अथवा निरुक्त-प्रोक्त इन्हीं देवताओंको औपमन्यवने पाँच वर्गोंमें स्थापित कर दिया है,' यह स्वयम् अन्वित कर लेना चाहिये। इसलिए देवताओंको भी 'पंचजन' कहा जाता है, जैसेकि-इसका प्रमाण 'जैमिन्युपनिषद् ब्राह्मण' में देखिये—'ये देवा असुरेभ्यः पूर्वे पंचजना आसन्' (१।४१।७) इससे पाँच वर्गों वाले देवताओंको अग्निकी ओरसे (क्योंकि-इसका ऋषि वही है, उसीका देवताओंसे संवाद है, जैसे कि-निरुक्त (३।८।१) के भाष्यमें दुर्गाचार्यने कहा है—'सौचीकस्य अग्नेरार्षम्, तस्य विश्वैर्देवैः सह संवादः' कहा जा रहा है कि-'ऐ पाँच-वर्ग वाले देवताओ! मेरी हविको तुम लोग सेवन करो। इसमें मनुष्योंकी कोई बात ही नहीं। देवता तथा मनुष्य वेदके मतसे भिन्न-भिन्न योनि वाले होते

हैं, इसे ४र्थ पुष्पमें बताया जायगा। अतः यहाँ वादीका पक्ष सर्वथा ही सिद्ध न हुआ, क्योंकि-यहाँ पर देवता ही यज्ञसम्पादन करने वाले हुए हैं, निषादादि-मनुष्य नहीं। क्योंकि-मन्त्रमें 'देव' देवता होनेसे 'देव' ही प्रतिपाद्य हैं। अग्नि 'ऋषि' होनेसे प्रतिपादक है।

११—अथवा-यहाँ पर चार वर्ण, पांचवां निषाद मनुष्य यही अर्थ भी कर दिया जाय; तब भी हमारे पक्षमें कोई हानि नहीं पड़ती। इस अर्थसे मनुष्यमात्रका नाम 'पंचजन' है, यह सिद्ध होता है। फिर उसका विशेषण मन्त्रमें है-'**यज्ञियाः**'। इसका अर्थ हुआ कि-ऐ यज्ञके योग्य मनुष्यो! मेरे होत्र (यज्ञ) का सेवन करो। विशेषण सदा साभिप्राय हुआ करता है। यदि सभी मनुष्योंको यज्ञका अधिकार हो, तो '**यज्ञियाः**' विशेषण अनर्थक हो जाता है, क्योंकि-**अव्यभिचारमें विशेषण निरर्थक** होता है। यह एक प्रसिद्ध न्याय है कि-'**सम्भव-व्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्**'।

वादी अपने नामके साथ 'मनुष्यः' विशेषण लिखे, तो व्यभिचारकी प्रसक्ति प्राप्त न होनेसे उक्त विशेषण व्यर्थ हो जायगा। पर 'अश्वत्थामा नरो हतः' यहाँ पर 'अश्वत्थामा' का 'नरः' विशेषण सार्थक है; क्योंकि-अश्वत्थामा गजमें अश्वत्थामा नामसे व्यभिचार प्राप्त था, उसके निवारणार्थ 'नरः' विशेषण सार्थक हुआ। इसी प्रकार 'पंचजन' निरुक्तानुसार जब **मनुष्यमात्रका नाम है;** और मनुष्यमात्र ही यदि यज्ञका अधिकारी है, तब अमनुष्यमें व्यभिचारकी प्रसक्ति न होनेसे यह **विशेषण व्यर्थ** हो जायगा। पर यह विशेषण जबकि व्यर्थ नहीं, किन्तु साभिप्राय है, तब इसके प्रयोग का रहस्य समझना चाहिये।

वह यह है कि-'यज्ञिय' का अर्थ है। 'यज्ञयोग्य' इसकी सिद्धि 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ' (पा. ५।१।७१) इस सूत्रसे 'घ' प्रत्यय करनेपर होती है। 'घ' को 'इय' आदेश होता है। वार्तिककारने इसका अर्थ लिखा है-

'यज्ञ-ऋत्विग्भ्यां तत् कर्म अर्हति—इति उपसंख्यानम्, यज्ञानुष्ठानमर्हति इति यज्ञिय:'। अब प्रश्न यह रहता है कि यज्ञयोग्य 'पञ्चजन' [मनुष्य] कौनसे हैं, इसपर उत्तर 'शतपथ-ब्राह्मण' में लिखा है—'ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा, वैश्यो वा, ते हि यज्ञिया:' (३।१।१।९)। यद्यपि 'पञ्चजन' निरुक्तानुसार मनुष्यमात्रका नाम है, तथापि 'यज्ञिय' आदिम तीन वर्णोंका नाम होनेसे शेष मनुष्योंकी निवृत्ति हो गई, इससे भी वादीका पक्ष गिर गया।

१२ अथवा—यहाँ वादीके आग्रहानुसार 'चार वर्ण, पाँचवां निषाद' ये सभी मनुष्य 'यज्ञिय' हैं—यज्ञके सम्पादक हैं—यह अर्थ मान लिया जाय, तथापि हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं। यज्ञका करना-कराना तो ब्राह्मणादि ही करेंगे। शूद्र-निषादादि भी यज्ञमें अपने योग्य सहायता देंगे। निषाद यज्ञिय-भूमिके मार्जनका प्रवन्ध करेगा, शूद्र भूमिका शोधन, सेचन लेपन करेगा, निमन्त्रित पुरुषोंके आवासस्थानका निर्माण तथा मार्गनिर्माण आह्निकी सेवा करेगा, वैश्य धनदान-द्वारा, क्षत्रिय रक्षा-द्वारा, ब्राह्मण मन्त्रोच्चारण एवं यज्ञके अनुष्ठानके द्वारा यज्ञका कृत्य करेंगे। सेवा सबको नहीं दी जाती, सेवा शूद्रका कर्म है। ब्राह्मणको झाड़ने-बुहारनेका काम नहीं दिया जा सकता। शूद्र-निषाद आदिको, सेवाके अतिरिक्त यज्ञानुष्ठान यजन-याजन करानेका कार्य नहीं दिया जा सकता। सब अपने-अपने योग्य, यज्ञसे सम्बन्ध रखने वाले कृत्योंको करते हुए 'यज्ञिय' कहे जा सकते हैं। 'यज्ञिया: पाशा:, यज्ञिय: प्रदेश:' यह प्रयोग भी वेद-वेदाङ्गोंमें आते हैं, तो क्या प्रदेश वा पाश आदि भी ऋत्विक्की तरह यज्ञमें अधिकृत होते हैं? क्या वे मन्त्रोंको बोला करते हैं? वा यज्ञ किया-कराया करते हैं? कभी नहीं। वैसा होनेपर तो असङ्गति हो जायगी, क्योंकि—यह चेतन नहीं। वस्तुत: यह प्रदेशादि, परम्परासे यज्ञकार्यके सम्पादनमें सहायता देते हैं, अत: वे उपचार (परम्परा) से 'यज्ञिय' कहे जाते हैं, साक्षात् नहीं। दासी (शूद्रा) पीसती है, पत्नी घीको देखती है, साफ करती है, सोमवल्लीके रसको निचोड़ कर देती है, पानीका घड़ा भर

देती है। समिधाएं ठीक कर देती है। इस प्रकार भूशुद्धि आदि सभीका अपना-अपना अधिकृत कर्म हो जाता है। इस तरह शूद्रादि भी औपचारिक-रूपसे यज्ञिय हो जाते हैं।

१३ अथवा—यहाँ अन्य रहस्य है। हम पूर्व सूचित कर चुके है कि निरुक्तकारने 'अथ मनुष्यनामानि' इन निघण्टुप्रोक्त मनुष्य—नामोंका निरूपण करते हुए लिखा है कि—'तत्र पञ्चजना इत्येतस्य निगमा भवन्ति' (३।८।१)। सो 'पञ्चजन' का निगम श्रीयास्कने उक्त मन्त्र दिया है। तब उनके अभिप्रायके अनुसार यह 'पञ्चजन' मनुष्यमात्रार्थक हुआ। 'पञ्चजना:' का विशेषण है 'ऊर्जाद:' इसका अर्थ श्रीयास्कने 'अन्नादा:' किया है, 'यज्ञिया:' का अर्थ 'यज्ञसम्पादिन:' यह वादीने किया है, इसका अर्थ हुआ कि—'यज्ञ सम्पन्न करनेवाले'। अब यह योजना हुई कि—हे अन्नादा अतएव यज्ञसम्पादका: पञ्चजना:! ऐ अन्न खाने वालो, इसीलिए यज्ञकी पूर्ति करने वाले पञ्चजना:—हे पांच मनुष्यो! मम ऋषे: होत्रं-ह्वयम्, आह्वानं' [श्रीसायणने (१०।५३।५) में यही अर्थ किया है] जुषध्वम्-सेवध्वम्' मेरा आह्वानं [बुलाना] सुनो।

हम 'यथेमां वाचं' निबन्धमें बता चुके हैं कि—ऋषि लोग बड़े-बड़े यज्ञ करते थे, उसमें 'दीयतां भुज्यताम्' इस जोरदार कही हुई वाणीका लाउडस्पीकरके ढंगसे प्रयोग करते-कराते थे। यज्ञकी समाप्तिमें उस यज्ञकी सफलतार्थं बड़ा भोज किया जाता था, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पञ्चम, इन सभी पांच प्रकारके मनुष्योंको—जो अपनी-अपनी पृथक् पंक्तिमें स्थित होते थे—भोजन, विना भेदभावके [यह नहीं कि—ब्राह्मणको तो पेड़ा-बर्फी आदि दिया जावे, शूद्रादिको न दिया जावे, ऐसा नहीं] दिया जाता था। इस विषयमें हम 'यथेमां वाचं' निबन्धमें पर्याप्त स्पष्टता कर चुके हैं, सो यहाँ पर भी यही बात है। उन मनुष्योंकेलिए यह कहा जा रहा है कि—यज्ञान्तका अन्न खाकर यज्ञको सम्पन्न (सफल) करने वाले पञ्चजनो! मेरी 'दीयताम्, भुज्यताम्' इस कही जाती हुई

कल्याणी वाणीके आह्वानका सेवन करो, अर्थात् अपनी-अपनी पंक्तिमें आकर भोजन प्राप्त करो। इस प्रकार इस मन्त्र तथा 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' इस मन्त्रकी एकवाक्यता-एकार्थता हो गई। तब इससे वादी से अभिमत दोनों मन्त्रोंका अर्थ खण्डित हो जानेसे हमारा पक्ष ही समूल सिद्ध हुआ।

---

(१५) जातिपक्षकी आलोचना।

पूर्वपक्ष—सुप्रसिद्ध सनातनधर्मी विद्वान् श्रीकाशीशेषवेङ्कटाचलशास्त्री ने 'लघुत्रिमुनिकल्पतरु' में लिखा है—'ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत' अत्र ब्राह्मणपदं जातिपरम्, तेन ब्राह्मणजातीयानां पुंसामिव स्त्रीणामपि तज्जातीयानां तदध्ययनमध्यापनमुपनयनं च भवति' तब इससे स्त्रियोंका भी उपनयन और वेदाध्ययन सिद्ध हुआ। जातिपक्षका यह भाव है कि—'योऽत्रागमिष्यति, स व्यापादयिष्यते' यहांपर 'यः' और 'सः' यद्यपि पुलिङ्ग दीख रहे हैं, तथापि यहाँ जातिपक्षसे पुरुष और स्त्री दोनोंका बोध हो जाता है, नहीं तो 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इसमें 'जात' शब्दके पुलिङ्ग होनेसे स्त्रियोंकी मृत्यु नहीं होनी चाहिये, पर ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत' में भी जातिपक्षवश स्त्री-पुरुष दोनोंका ही उपनयन सिद्ध है। (एक सिद्धान्तालंकार; सार्वदेशिक जून १९४६) श्रीशाण्डिल्यजी, श्रीम.शां, श्रीइन्दु., श्री तुल.रा.स्वामी आदि)।

उत्तरपक्ष—सनातनधर्म व्यक्तिविशेष पर निर्भर नहीं, वह तो अपने प्राचीन-साहित्य पर अवलम्बित है। जो विद्वान् स.ध. के प्राचीन-साहित्यसे कुछ अंशमें विरुद्ध है; उसका दायित्व न हम पर है, न स.ध. पर। हम उसका प्रत्युत्तर देंगे। वादीने ही उसका उद्धरण दिया है, अतः उत्तरदायित्व भी उसीपर है। नहीं तो हम जिन आर्यसमाजी विद्वानोंका

मत दिखलाते हैं। वादी उसे क्यों नहीं मान लेते ?

वस्तुतः विज्ञ सनातनधर्मी उक्त वचनमें जातिपक्ष नहीं कह सकता; क्योंकि ८-११-१२ वर्षमें कन्याका भी उपनयन मानने पर उसे वेद पढ़ना पड़ेगा, उसके बाद जातिपक्षके अनुसार २५ वर्षमें उसका विवाह करना पड़ेगा। 'पिता पितृव्यो भ्राता वा' इस वादीसे मान्य यमवचनसे कन्याको पितृगृहमें रहना पड़ेगा। तब पिताके घरमें उसे रजोदर्शनवश 'पितुर्गेहे तु या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता। भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता' [बृहद्यम ३।२२, लघुशाता. ६५] इत्यादि स्मृति-पद्योंसे विरोध पड़ेगा। यहां 'असंस्कृता'का 'मन्त्रैर्यदि यदि न संस्कृता' (वसिष्ठ १७।६५) की भांति 'अविवाहिता' अर्थ है 'अनुपनीता' नहीं; क्योंकि—इसमें भ्रूणहत्या, वृषलीपतिः' आदि भी लिङ्ग हैं, उनका उपनयन से कोई सम्बन्ध नहीं। 'अनुपनीता' अर्थ होने पर ७-८ वर्षसे उपनीता लड़की आचार्यकुलमें रहेगी; तब रजोदशामें पितृगृह न होनेसे यह पद्य निर्विषय हो जायगा। इसलिए "रजस्वला च या कन्या यदि स्याद-विवाहिता। वृषली' (२१।५) यह लघ्वाश्वलायनमें 'असंस्कृता' का पर्याय 'अविवाहिता' है। शङ्करदिग्विजयका ३।४० पद्य भी इसमें साक्षी है। तब सिद्ध हुआ कि—कोई विज्ञ सनातनधर्मी 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत' में जातिपक्षसे कन्याका ग्रहण नहीं करेगा। वृषलीका विवाह स.ध.में निन्दित है, और वृषलीको वेदाधिकार नहीं हो सकता। १२ वर्षके बाद अभी उसने वेद पढ़ना जारी ही नहीं किया होगा कि—वह वृषली हो जायगी, और उसका वेद पड़ना बन्द हो जायगा।

जातिपक्ष तब बाधित हो जाता है, जब उसके बाधक वचन मिल जावें। अथवा जहाँ केवल पुरुषके वा केवल स्त्रीके ग्रहणके लिङ्ग मिल जावें, वहाँ भी जातिपक्ष बान्धा जाता है। जैसे—'जो यहाँ आयगा, वह मारा जायगा।' यहाँ यदि 'स्त्रीको छोड़कर' यह अपवाद मिल जाये, तो पहला वाक्य जातिपरक नहीं रहता। इसी प्रकार 'प्राङ् नाभिवर्धनात्

पुंसो जातकर्म विधीयते । मन्त्रवत् प्राशनं चास्य' [मनु. २।२९] 'नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्' [मनु. २।३०] इत्यादि पद्योंमें वादीके अनुसार 'अस्य' को जातिवाचक मानकर यद्यपि उससे बालक-बालिका दोनोंका ग्रहण सम्भव था, तथापि 'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः' [मनु. २।६६] इत्यादिसे, तथा २।२९ पद्यमें 'पुंसः', २।३४ पद्यमें 'शिशोः' पदसे जातिपक्ष बान्धा जाता है । इस प्रकार 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः [२।६७] 'एताः क्रियाः स्त्रीणाममन्त्रकाः') बृहद् विष्णुस्मृति २६।१३) 'तासां समन्त्रको विवाहः' (२६।१४) 'एतयैवावृता स्त्रियास्तूष्णीम्' (गोभि.गृ. २।६।२३) तूष्णीम्-अमन्त्रकमेव-यह यहाँ 'सामश्रमी' ने व्याख्या की है, 'स्त्रियाः-कन्यकाया अपि अधस्तनोक्ताः (चूड़ाकरणान्ताः) संस्कारा अमन्त्रकम्' यह स. म. श्री मुकुन्दशर्माने व्याख्या की है) 'आवृतैव स्त्रियाः कुर्याद् अमन्त्रम्' (जैमिनिगृ १।११) 'आवृतैव कुमार्यै' (आश्वला गृ. १।१५।१२) (कुमार्यास्तु अमन्त्रकं कुर्यात्-इति गार्ग्यनारायणः) इत्यादि वाधक वचनोंसे जातिपक्ष वाधित हो जाता है ।

अब 'आलोक' के पाठकगण इस जातिपक्षके वाधक अन्य वचन भी देखें-१ 'आवृतैव कुमार्यै' (आश्व. १।१३।११, १।१४।७, १।१५।२०) श्रीहरदत्तने 'आवृत्' का अर्थ दिया है-'समन्त्रकेऽनुष्ठानप्रकारेऽन्यत्र विहिते तस्यैव मन्त्रवर्जितस्य वचनमावृत्' (१।१६।५) २ 'आवृतश्च आस्त्रीभ्यः' (आपस्तम्बगृ. १।२।१५) यहाँ हरदत्तकी वृति-'मन्त्ररहिताः क्रिया आवृत उच्यन्ते' । ३ 'मानव गृ. (१।१७।१) में अष्टावक्रभाष्य-'कुमार्यै आवृता-तूष्णीं कुर्याद्' । ४'स्त्रियास्तूष्णीम्' (गोभिल. २।८।२५) सामश्रमी-तूष्णीम्-अमन्त्रकमेव' । ५ 'यद् अमन्त्राः स्त्रियो मताः' (बोधायन ध. १।११।५) ५'स्त्रियै मूर्धानमेव अवजिघ्रति तूष्णीम्' (विना मन्त्रेण-हरिहर) (पारस्क गृ. १।१८।३-६) ७ 'आवृतं (विना मन्त्रं) स्त्रियै' (वोधा.गृ. १।१२।१०) ८ तूष्णीं (मन्त्रवर्जम् इति रुद्रस्कन्दः) स्त्रिया' (द्राह्यायण गृ. २।

१।१३ खादिरगृ. २।३।१५) ९ 'सर्वं स्त्रिया विमन्त्रं तु कार्यं' (बृहत्पराशर-स्मृति ४।१४७) इत्यादि वाधक-वचनोंसे स्त्रीका ग्रहण कराने वाला जातिपक्ष वाधित हो जाता है । तब जब कन्याओंके कर्ममें मन्त्र-पाठ का भी निषेध है, तब उनका मन्त्राधिकारप्रद-उपनयनमें अधिकार कैसे हो सकता है ?

(फ) यदि वादीके अनुसार जातिपक्ष अवाधित है, तो क्या वे 'केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः।' (मनु. २।६५) यह केशान्त (मुण्डन) १६, २२, २४ वर्षकी कन्याओंका कराते हैं ? यह अवस्था वादियोंके अनुसार कन्याओंके विवाहकी है । (ख) यदि जातिपक्ष अवाधित है; तो यदि विवाहका आदेश २५ वर्षमें करनेका है, तो २५ वर्ष वाले पुरुषके साथ २५ वर्षकी लड़कीका विवाह क्या वादि-सम्मत है ? यदि पूर्ण-ब्रह्मचारीका विवाह ४८ वर्षमें हो; तो जातिपक्षानुसार पूर्ण ब्रह्मचारिणी का भी ४८ वर्षीय विवाह क्या वादि-सम्मत है ? यदि वादी अपवाद वचनों से यहाँ जातिपक्षको वाधित समझें; तो हमारे मतमें भी यही व्यवस्था है ।

(ग) यदि जातिपक्ष अवाधित है, तो नपुंसकोंका भी गर्भाधान उपनयन, वेदाध्ययन, विवाह आदि वादीको मानना पड़ेगा । यदि वे ऐसा नहीं करते; तो जातिपक्ष वाधित सिद्ध हुआ । (घ) 'आज अमुकके वर पुत्रका विवाह है, ऐसा पत्र यदि मिले; तो हमें उसकी पुत्रीका विवाह भी क्या साथ मान लेना पड़ेगा ? 'राजा दशरथके चार पुत्र हैं' इस वाक्य में क्या उसकी चार लड़कियाँ भी मानी जा सकती हैं ? यदि नहीं, तो जातिपक्ष वाधित ही हो गया । इसी कारण 'पुत्रे जाते वरं ददाति' (मानवगृ. १।१७।१) यहाँ पर अष्टावक्रने लिखा है-'पुत्रे जाते सति, नतु दुहितरि जातायाम् । तस्यां तूष्णीमेव कुर्यात्' ।

वस्तुतः श्री वेङ्कटाचल-शास्त्रीका यह अपना पक्ष नहीं है; जैसेकि वादीने लिखा है, यह तो शास्त्रिमहोदयने पूर्वपक्ष रखा है, अब उन्हींसे

दिया उत्तर-पक्ष भी देखिये। वे लिखते हैं-'परे तु-'पुराकल्पे तु नारीणां' इति यमोक्तेः 'ग्राश्मारोहणमारभ्य स्त्रीणां गौर्यर्चनं परम्। पुराणपठनं श्रेयो न वेदाध्ययनादिकम्' इत्यादिस्मृतेश्च स्त्रीणां वेद-तदङ्गाध्ययनादिकं न-इत्याहुः' [लघुत्रिमुनिकल्पतरु १४ पृष्ठ] इस पक्षका उक्त शास्त्रिमहोदय-ने फिर खण्डन नहीं किया, अतः यही उनका उत्तरपक्ष सिद्ध हुआ। वादियोंमें दूसरेके पूर्वोत्तर-प्रकरणको छिपाकर बीचके उद्धरण दे देना-यह प्रकृति गुरुपरम्परासे चल रही है, इसीसे वे अपना निर्वाह करते आ रहे हैं। अब जातिपक्षका सम्बन्ध उनसे न होकर वादीसे ही हो गया, अतः हम उत्तर भी वादीको ही देते हैं।

(क) गृह्यसूत्रोंमें 'अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत' लिखकर भी वहाँ जातिपक्ष के बाधार्थं कुमार, माणवक, वटु, बालक आदि शब्द आते हैं, अतः वहाँ बालिकाकी निवृत्ति होजाती है। इसलिए 'कुमारं जातं' (आश्व. १।१६।१५) पर श्रीहरदत्तने लिखा है-'कुमारस्य इति अनुच्यमाने जातमिति लिङ्गस्याविवक्षितत्वात् कुमार्या अपि प्राप्नोति (तन्निवृत्त्यर्थं 'कुमार-ग्रहणम्')। 'आश्वला गृ.' के उक्त (१।१६।१) सूत्र पर गार्ग्यनारायण-ने भी स्पष्ट लिखा है-'कुमारमिति (अनु—) वर्तते, कुमारीनिवृत्त्यर्थ-मिति उक्तम्'। (१।१५।१) में उक्त वृत्तिकार-लिखते हैं-(प्र०) कुमार-ग्रहणं किमर्थम्? (उ०) अधिकारार्थम्। 'अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत इत्युपनयनं कुमारस्यैव यथा स्यात्, न कुमार्या इति' (प्र०) ननु ब्राह्मण-मिति पुंलिङ्गनिर्देशादेव न भविष्यति? (उ) न, जातिनिर्देशे लिङ्गम-विवक्षितम्, यथा-'ब्राह्मणो न हन्तव्य इति ब्राह्मण्यपि न हन्यते। एवम-त्रापि स्त्रियाः (उपनयनं) प्रसज्यते, तन्निवृत्त्यर्थं कुमारग्रहणम्'। कितने स्पष्ट शब्द हैं? यहाँ पर व्याख्याता श्रीहरदत्तमिश्रने लिखा है-'ब्राह्मण-ग्रहणं चात्र स्त्रीशूद्रादि-विनिवृत्तये'। जाताधिकाराज्जननाद् अष्टमेऽब्दे भवेदिदम् (उपनयनम्)। कुमारमित्यधिकृतेन स्त्रीणामुपनायनम्।'

इसी प्रकार गोभिल (२।७।१६) के सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्री-

चन्द्रकान्त-तर्कालंकारने भी लिखा है—(प्र०) 'आह'-कुमारग्रहणं किमर्थम्? (उ०) कुमारीनिवृत्त्यर्थम्। एवमेके; तद् असत्। कुतः? 'एतयैव आवृता स्त्रियाः' इति चूडाकरणान्तसंस्काराणां कुमार्या अपि स्मरणात्। (प्र०) मन्त्रनिवृत्त्यर्थं तर्हि? (उ.) न, 'तूष्णीम्-इति करणात्। [प्र.] कुमारग्रहणं तर्हि न कर्तव्यम्। अथ क्रियते प्रयोजनं वक्तव्यम् [उ] अधिकारार्थम्-इति ब्रूमः। तेन उपनयादीनि व्रतानि कुमारस्यैव भवन्ति, न कुमार्याः।··· तस्मात् कुमारग्रहणमुपनयनादिषु व्रतेषु कुमारीव्यावर्तनार्थम्। मनुरपि-'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः' 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणाम्' इत्यादि'। इससे जातिपक्षका बाध होगया।

भाष्यकारोंकी यह बात ठीक भी है, वेदानुकूल भी है। इसलिए वेद-में 'मम पुत्राः शत्रुहणो अथो मे दुहिता विराट् (ऋ. सं० १०।१५६।३) यहाँ पर 'पुत्र' शब्दसे पुत्रीका ग्रहण न हो सकनेके ही कारण पुत्रीका पृथक् ग्रहण किया गया। इसी प्रकार 'यदि स्त्री यदि वा पुमान्' (अथर्व ५।१४।६) 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि; त्वं कुमार उत वा कुमारी' (अ. १०।८।२७) यहाँपर पुमान्से स्त्रीका, कुमारसे कुमारीका ग्रहण न हो सकनेसे ही इनका पृथक्-पृथक् ग्रहण किया। इसी कारण ही 'शं नः करति··· नृभ्यो नारिभ्यः' (ऋ. १।४३।६) यहाँ 'नृ' से भिन्न 'नारी' का ग्रहण किया। इसी लिए ही 'सम्राज्ञी एधि श्वशुरेषु' (अथर्व. १४।१।४४) यहाँ पर 'श्वशुर' शब्द होने पर भी 'सम्राज्ञी उत श्वश्र्वा' (१४।१।४४) श्वश्रूका पृथक् ग्रहण किया है।

इससे स्पष्ट ही वेदके मतमें जातिपक्षका बाध हो गया। इसी प्रकार 'पुत्रो मे पण्डितः सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' (१४।६।४१७) इस शतपथ वाक्यमें पुत्र-शब्दसे 'पुत्री' का ग्रहण न हो सकनेसे 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत' (१४।६।४।१६) यहाँ पुत्रीका पृथक् ग्रहण किया गया फिर भी उसे वेदका अधिकार नहीं दिया गया। इसी प्रकार 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं' (अथर्व. ११।५।३) यहाँ पर 'ब्रह्मचारिणं' पद

कन्याका ग्रहण-वेदको इष्ट न होनेसे ही 'ब्रह्मचर्येण कन्या' (अ. ११।५।१८) में 'कन्या' को पृथक् कहा गया। उत्तरार्धके अनुरोधसे कन्याका ब्रह्मचर्य 'उपस्थसंयम' इष्ट रखा गया। यदि जातिपक्ष सार्वत्रिक होता; तो 'यथैवात्मा तथा पुत्रः, पुत्रेण दुहिता समा' (मनु. ९।१३०) में दूसरा पाद व्यर्थ था, पुत्रसे पुत्रीका ग्रहण हो जाता। यह पद्य पुत्रके अभावमें पुत्री को दायाधिकार बताता है; नहीं तो जातिपक्षमें पुत्रके होने पर पुत्री भी पिता की दायाधिकारिणी होती; पर ऐसा शास्त्र-विरुद्ध है। इस प्रकार वादिप्रदत्त उपनयनसूत्रमें भी सभी गृह्यसूत्रकारोंको जातिपक्ष बाधित इष्ट होनेसे कन्याका उपनयन नहीं होता।

(ख) अब जातिपक्षके बाधमें स्वा.द.जीके प्रमाण भी दिये जाते हैं-. स्वामीने उपनयन तथा वेदारम्भमें 'लड़का' शब्दका १६ बार प्रयोग किया है, अतः उनके मतमें जातिपक्षके बाध होनेसे कन्याको यज्ञोपवीन निषिद्ध हो गया। स्वामीजीने ब्रह्मचर्याश्रम-संस्कारमें 'मैथुनं वर्जय' ।६। 'क्षुरकृत्य वर्जय' ।१४। 'स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्य ऊर्ध्वरेताः सततं भव' ।१५। (सं.वि. वेदारम्भ पृ. ९३) यह लिखा है, यह बातें बालकोंमें समन्वित होती हैं; बालिकाओंमें नहीं। 'मैथुन'का अर्थ स्वामीने लिखा है-'स्त्रीका ध्यान, आलिङ्गन, समागम आदिको जो छोड़ देता है, वह ब्रह्मचारी है' (पृ. ९४)। यदि यहाँ गृह्यसूत्रोंके अनुसारी उपदेशमें स्वामीको लड़की भी इष्ट होती, तो उसकेलिए भी पुरुषके ध्यान, स्पर्श आदिका निषेध करते। क्षुरकृत्यसे दाढी-मूंछ आदिके मूंडनेका निषेध है, लड़कियोंमें उसका अत्यन्ताभाव होनेसे भी यहाँ लड़कियोंका ग्रहण नहीं होगा। इन्द्रिय-स्पर्शसे वीर्यका पतन तथा ऊर्ध्वरेतस्कता आदि भी लड़कियोंका ग्रहण बाधित कर रहे हैं। यदि उपनयन-वेदारम्भमें लड़की भी गृहीत होती, तो उसे भी शिक्षा होती कि-अमुक-अमुक अङ्गको गुप्त रखो-केशवेश न करो, पर ऐसा न होनेसे जातिपक्ष बाधित है। तभी तो स्वामीजीने "द्विज अपने घरमें लड़कोंका यज्ञोपवीत

और कन्याओंका भी यथायोग्य संस्कार करके" (स.प्र. पृ. २०) यह लड़कों और कन्याओंका भिन्न-भिन्न ग्रहण करके उपनयनमें जातिपक्षको काट दिया है।

तभी तो 'यथेमां वाचं...ब्रह्मराजन्याभ्यां' मन्त्रमें ब्राह्मण-आदिसे ब्राह्मणी आदिका ग्रहण वेदानुकूल न होनेसे ही स्वामीजीने 'स्वाय' पदसे स्त्रियोंका ग्रहण करके सन्तोष कर लिया। इससे स्पष्ट ही जातिपक्ष बाधित सिद्ध है। पर स्वामीके अनुयायियोंने उनके वाक्योंमें बहुत स्थान कन्याका प्रक्षेप कर दिया है; इसलिए उनकी परस्पर-विरुद्धता हो गई है। 'जब-जब हो, तब-तब कन्या ही हो, पुत्र न हो...तो उस स्त्रीको छोड़कर दूसरी स्त्रीसे नियोग करे' (स.प्र. ४ पृ. ७३) यहाँपर पुत्रीसे पुत्रको उत्कृष्ट बतला कर स्वामीने जातिपक्षकी कमर तोड़ दी है।

(ग) इस प्रकार 'क्षुरकृत्यं वर्जय' (गोभिल ३।१।२२) 'न मुषितां (नग्नां) स्त्रियं प्रेक्षेत' (मानवगृ. १।१।८, लौगाक्षि गृ. २।१९, काठकगृ. १।१८) 'न विहारार्थं जल्पेत् स्त्रीभिः' काठक. (१।१९) 'सर्वाणि सांस्पर्शिकानि स्त्रीभ्यो वर्जयेत्' (वाराहगृ. ६ खं.) 'न स्त्रिया सह भुञ्जीत' बोधा.गृ. परिभाषा. (१।१२।२) 'भ्रातृपत्नीनां युवतीनां च गुरुपत्नीनां च जातवीर्यः।' (बोधायनधर्म. १।३।३४) 'सूतिकां रजस्वलां नेक्षेत' (कौषीतकिगृ. २।१२) 'नास्य कामे रेतः स्कन्देत्' (खादिरगृ. २.५।१३) इह श्मश्रूणि उन्दति (आश्व.गृ. १।१९।३) 'इह गोदाने श्मश्रूणि उन्दति, न केशान्' इति हरदत्तः। 'स्त्रीप्रेक्षणालम्भने' (गौतमध. १।२।२२) 'स्त्रीभिर्यावदर्थ-सम्भाषी' (आपस्तम्बध. १।३।१६) 'वर्जयेत्-स्त्रियः' (मनु. २।१७७) 'न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्' (२।१८०) 'स्वप्ने-सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः' (२।१८१) 'भैक्ष चाहरहश्चरेत्' (२।१८२) समावृत्तो यथाविधि। उद्वहेत द्विजो भार्या' (मनु. ३।४) 'न स्त्रियमुपैति अष्टचत्वारिंशद् वर्षाणि' (आग्निवेश्यगृ. १।१।४) 'अष्टचत्वारिंशत् सर्वेषाम्' (वाराहगृ. ६ खं., बोधायनध. १।३।१, हिरण्यकेशीयगृ. २।८

मानवगृ. १।२।६, लौगाक्षिगृ. २।५, आपस्तम्बध. १।२।१२) यहाँ ४८ वर्षका ब्रह्मचर्य कहा है—

यह सभी बातें ब्रह्मचारियोंकेलिए कही हैं। इन्हींसे स्त्रीके उपनयन-वेदारम्भ, समावर्तन तथा जातिपक्ष खण्डित हो रहे हैं, क्योंकि—उक्त बातें स्त्रीमें नहीं घटतीं। नहीं तो स्त्री भी यदि ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य रखकर विवाह करे; तो २ वर्षके बाद उसका रजोधर्म बन्द हो जायगा, फिर उसके विवाहका क्या लाभ? अतः जातिपक्ष बाधित है। नहीं तो लड़कीकेलिए भी इस अवसर पर स्तनाच्छादनशिक्षा, रजोधर्मके कर्तव्य, पुरुषसे समागमके निषेध कहे जाते; पर उपनयनादिके इन प्रकरणोंमें ऐसा कहीं नहीं आया है, अतः लड़कियोंका उपनयन गृहीत न होनेसे जातिपक्षका स्पष्टतया ही खण्डन हो गया।

(घ) 'ब्रह्मचारी कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः' (अथर्व. ११।५।६) यहाँ पर ब्रह्मचारी [रेतोनिरोधक], कृष्णमृगचर्मधारी; दीर्घश्मश्रु [स्वा. दयानन्दके शब्दोंमें-] 'चालीस वर्ष तक दाढी-मूंछ आदि पञ्च केशोंको धारण करने वाला ब्रह्मचारी होता है— संस्का.वि.वेदा. पृ. ९८) '४८ वर्ष तक केशश्मश्रुको धारण कर्ता भया' प्रथमसंस्कारविधि ७० पृ.) इनसे भी स्त्रीकी उपनयनसे पृथक्ता सिद्ध हो रही है। यदि स्त्रीके रजको उसका 'रेतः' माना जावे, तो उसका निरोध नहीं हो सकता। अतः वह शुक्र नहीं, यदि हो, तो उसके सेचनसे अन्य स्त्रीमें गर्भ हो जावे, उसके होनेसे स्त्रीकी दाढ़ी-मूछें भी हों, अतः शुक्राऽभाव होनेसे ही मनुने स्त्रियों को 'निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियः' (९।१८) मन्त्रात्मक वेदका अधिकार नहीं दिया है।

कृष्णयजुर्वेद [तै.सं.] में भी स्त्रियोंको 'निरिन्द्रिय' (६।५।८।२) और उन्हें सोम [वैदिकयज्ञ] के योग्य नहीं माना। मनुके २।१८१ पद्यानुसार 'पुनर्मा एतु इन्द्रियं' (अ. ७।६७(६९)।१) में तथा 'पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्' (४।२२०) इस मनुपद्यमें इन्द्रिय शुक्रको कहते

हैं। उसके न होनेसे वे 'निरिन्द्रिय' होती हैं, इसलिए वेदानुसार दीर्घश्मश्रु भी नहीं होतीं। लड़केकी भी दाढी-मूछें चांहे छोटी आयुमें नहीं होतीं; पर भीतर उनका उसमें बीज होनेसे भविष्यत्में हो जाती हैं; पर स्त्रीमें उनका बीज न होनेसे वे कभी भी नहीं होतीं। इससे स्पष्ट है कि स्त्रीमें न्यूनता है। [शुक्राभाव] से उसमें बलकी न्यूनता है, बलकी न्यूनतासे उसमें स्वरोंकी न्यूनता है। वेदमें सात गीत स्वर तथा उदात्तादि तीन स्वर [पाणिनिशिक्षा १२] हैं। पुरुषमें पूर्णता होनेसे उसमें सभी स्वर हैं, स्त्रीमें अपूर्णता होनेसे प्रधान-पञ्चम स्वर होता है।

अन्य स्वरोंकी न्यूनतासे उनको वेदाधिकार देना 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा...स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति' (पाणिनि-शिक्षा ५२) इस आपत्तिको मोल लेना है। इसी वेदके निरिन्द्रियताके आशयको लेकर श्रीआत्मानन्दने अस्यवामीयके भाष्यमें अपूर्णेन्द्रियोंके लिए वेदानधिकार लिखा है—'स्त्रीणां शूद्रान्धपङ्गूनां बधिराः पतिताश्च ये। क्लीबानां नैव काणामां वेदविद्याधिकारिता।' स्त्रीका कोई विशेष-उच्चारणीय मन्त्र आ जावे, तो उसे वर या ऋत्विक्का आश्रय लेना पड़ता है। अस्तु।

(ङ) फलतः उपनयनादिमें जातिपक्ष बाधित होनेसे यहाँ पर पुंलिङ्ग अविवक्षित नहीं माना जाता। इसलिए 'उपनयनं विद्यार्थस्य' (आप.ध. १।१।९) में श्रीहरदत्तने लिखा है [पुं] लिङ्गस्य विवक्षितत्वात् स्त्रिया अपि न भवति।' इसी तरह आपस्त.गृ.के ६।१५।१, १२, ६।१६।१ इन सूत्रोंमें श्रीहरदत्त तथा श्रीसुदर्शनाचार्य आदिकी व्याख्या भी देखी जा सकती है। इस प्रकार वादियोंका जातिपक्ष निराकृत हो गया। इसलिए ही मनुने 'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः' (२।६६) 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' (२।६७) इन पद्योंमें स्त्रीके संस्कार अमन्त्रक कहे; और उपनयनादिका सर्वथा निषेध किया है।

———

(१६) 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' आदि पद्योंकी प्रक्षिप्तता (?) वा भिन्नार्थकता (?)

पूर्वपक्ष—(क) 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' तथा 'वैवाहिको विधि: स्त्रीणां' यह मनुके पद्य प्रक्षिप्त हैं; यदि २।६६-६७ इन मनुपद्योंको हटा दिया जावे; तो 'केशान्त: षोडशे वर्षे' (२।६५) की 'एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधि:' (२।६८) इस पद्यसे ठीक संगति मिल जाती है। (ख) अथवा 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' का 'अनुदरा कन्या' की तरह 'अल्पमन्त्रा' अर्थ है, कन्या-संस्कारमें मेखलाबन्धनादि-विषयक कई मन्त्र छोड़ने पड़ते हैं। (ग) 'वैवाहिको विधि: स्त्रीणां' का अर्थ यह है—स्त्रियोंकी विवाहविधि वैदिक है, पतिसेवा, वेदाध्ययनार्थ गुरुओंके पास निवास, घरका कार्य और अग्निहोत्रादि—ये स्त्रियोंके कर्तव्य हैं। कुल्लूकभट्टका 'स्त्रीणां विवाहविधिरेव वैदिक: संस्कार:, पतिसेवा एव गुरुकुले वास:' यह व्याख्या कपोलकल्पित हैं, इसमें 'एव' शब्द अपनी तरफसे जोड़ा गया है। [श्री तुल. स्वामी मनुटीका, वादा सार्व. जुलाई १९४६]

उत्तरपक्ष:—(क) 'अमन्त्रिका तु कार्येयं 'वैवाह्निको विधि: स्त्रीणां' यह दोनों पद्य मनुस्मृतिमें प्रक्षिप्त नहीं है, यह तो अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि ये दोनों पद्य यहां न होते; तो फिर कुमारियोंका कोई संस्कार ही न हो सकता। देखिये—'प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते'। [मनु. २।२९] यहां तो उत्पत्ति-मूलक संस्कार चलते हैं। यहां लिखा है—'पुंसो जातकर्म विधीयते'। 'पुंस:' में 'पुम्स्' शब्द है 'पुरुष' का नाम 'पुमान्' होता है, लड़कीका नहीं। 'ऐतरेय ब्रा० में लिखा है-'पुमांसो वै नर:, स्त्रियो नार्य:' (३।३४) इसलिए आप.गृ. (६।१५।१०) की टीकामें श्रीहरदत्तने लिखा है—'जातमिति पुंलिङ्गस्य विवक्षितत्वात् पुंस एवायं जातकर्मसंस्कार:, न स्त्रिया:'। इस प्रकार अन्य सभी गृह्यसूत्रोंमें 'जात, माणवक:, कुमार' आदि शब्द भी इसी उद्देश्यसे रखे गये हैं। मनुके २।२९ पद्यसे 'पुंस:' की अनुवृत्ति २।६५ पद्य तक चल

रही है। इसलिए यहां मेधातिथिने लिखा है—'पुंस इति स्त्री-नपुंसकव्यावृत्त्यर्थम्, पुमानेव संस्कार्यतया निर्दिष्ट:'।

इसी 'पुंस:' का अर्थ कुल्लूकभट्टने 'पुरुषस्य' किया है। यह है भी ठीक। 'गोपथ ब्रा.' में कहा है—'पुमांस: श्मश्रुवन्त:, अश्मश्रुव: स्त्रिय:' (१।३।७) तो भविष्यत्-श्मश्रुवाला होनेसे लड़केको भी 'पुमान्' कहा जाता है। भविष्यत्में शुक्रशोणित-समुदाय मिलनेसे (महाभाष्य ४।१।३) लड़कीको भी 'स्त्री' कहा जाता है। 'पुंस्' शब्दसे स्त्रीका ग्रहण न होनेसे ही 'यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार' (अथर्व. ५।१४।६) यहाँ पर 'पुंस्' से पृथक् स्त्रीका ग्रहण किया गया है। उक्त पद्यमें मनुको 'पुंस्' शब्दसे इष्ट भी लड़का ही है, जैसे कि मनुजीने स्वयं लिखा है—'पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे, स्त्री भवत्यधिके स्त्रिया:। समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा' (३।४९)। 'पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनुषिच्यते। तद् वै पुत्रस्य वेदनम्' (अ. ६।१।२) यहाँ भी पुमान्को स्पष्ट ही स्त्रीसे भिन्न माना गया है।

तब चूडाकरणान्त संस्कार पुरुषोंके तो होते, स्त्री-नपुंसकके न होते। तो कन्याओंके भी उक्त सम्कार हो जाएं; अत: 'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणां' (२।६६) यह पद्य मनुजीने बनाया। इसलिए 'पुंस:' पर सर्वज्ञनारायणने लिखा है—'पुंसो, न नपुंसकस्य, स्त्रीणां तु वक्ष्यते'। यदि 'अमन्त्रिका तु' यह मनुपद्य न होता; तो कन्याओंका एक भी संस्कार न होता। अब इस पद्यसे केवल नपुंसकोंका ही संस्कारोंमें निषेध रहा। तभी नपुंसक बालकको नपुंसक लोग उसके माता-पितासे ले जाते हैं। इसीलिए २।२९ पद्यमें मेधातिथिने लिखा है—'अत: स्थितम्-पुंसामेव एते संस्कारा एभिर्विधीयन्ते। विध्यन्तरेण स्त्रीणाममन्त्रका:, नपुंसकस्य नैव सन्तीति'। अब चूडाकरणान्त संस्कार स्त्रियोंके अमन्त्रक सिद्ध हुए।

तभी मेधातिथिने 'स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं' (२।३३) इस मनुपद्यकी व्याख्याकी अवतरणिकामें कहा है—'पुंस इति अधिकृतत्वात् स्त्रीणाम्

अप्राप्तौ नियम्यते-स्त्रीणामिति' । अर्थात्–'पुंस:' की अनुवृत्ति चल रही होनेसे स्त्रियोंका नामकरण प्राप्त नहीं था, तब स्त्रियोंके नामकरणार्थ यह वचन बनाया गया। कितनी स्पष्टता है ? और देखिये–गोविन्दराजने भी 'अमन्त्रिका तु' पद्यकी अवतरणिकामें लिखा है–'प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंस:' इति पुंस् ग्रहणस्य स्त्र्यर्थत्वे प्रमाणाभावात् स्त्रीणामप्राप्त इत्यत आह–'अमन्त्रिका' इति। एषा सकल संस्कार-पद्धति: स्त्रीणां संस्कारार्थं मन्त्र-वर्जिता कार्या'। इससे बढ़ कर अन्य स्पष्टता क्या हो ? टीकाकारने बताया है कि–पुंस् ग्रहणसे स्त्रीका अर्थ कहीं भी प्रमाणित नहीं है, अत: स्त्रीका कोई संस्कार प्राप्त नहीं था–तदर्थ 'अमन्त्रिका' पद्य बना। अब वादीने देख लिया होगा कि–यह पद्य कैसा आवश्यक है, उसकी बताई गई इसकी प्रक्षिप्तता कैसी उडी ? सूत्रग्रन्थोंमें भी 'कुमार' नाम कह कर उक्त संस्कार पुरुषोंकेलिए ही आदिष्ट किये हैं। फिर आश्वलायन, गोभिल आदियोंने 'आवृत:, तूष्णीम्' आदि शब्दोंसे स्त्रियोंके अमन्त्रक-संस्कारकी अभ्यनुज्ञा कर दी।

फिर स्त्रियोंका उपनयन भी अमन्त्रक प्राप्त हुआ, उसकी निवृत्त्यर्थ 'वैवाहिको विधि: स्त्रीणां संस्कारो वैदिक: स्मृत:' (२।६७) यह पद्य बनाया गया कि–स्त्रियोंका विवाह संस्कार ही उपनयनस्थानीय है। उनका साक्षात् उपनयन तथा वेदारम्भ नहीं होता। यही मेधातिथिने स्पष्ट किया है--'पूर्वं-[अमन्त्रिका-तु इति] वचनेन [स्त्रीणां] जातकर्मादि-वद् उपनयनेपि अमन्त्रके प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थमारभ्यते–'वैवाहिको विधिरिति। अतो विवाहस्य उपनयनस्थाने विहितत्वात् तस्य [उपनयनस्य] निवृत्ति:। (प्र.) यदि विवाह: तत्-(उपनयन-) कार्यम्, हन्त! प्राप्तं वेदाध्ययनं [स्त्रीणाम्], प्राप्ता च ब्रह्मचर्या; उपनयनं नाम माभूत् ? एतद् उभयमपि निवर्तयति–'पतिसेवा इति'। (यदि स्त्रियोंका विवाह उपनयनका कार्य है; तो स्त्रियोंका वेदाध्ययन भी प्राप्त हुआ, ब्रह्मचर्य भी; उपनयन उनका भले ही न हो-पर इन दोनोंको 'पतिसेवा गुरौ' आदिसे मनुजी हटाते हैं)

इसी प्रकार कुल्लूकभट्टने भी लिखा है–'अनेन उपनयनेपि प्राप्ते विशेष-माह वैवाहिको विधि:' इति। विवाहविधिरेव स्त्रीणां वैदिक: संस्कार उप-नयनाख्यो मन्वादिभि: स्मृत:। पतिसेवैव गुरुकुले वासो वेदाध्ययनरूप:। गृहकृत्यमेव सायंप्रात: समिद्धोमरूपोग्नि-परिचर्या। तस्माद् विवाहादेरुप-नयनस्थाने विधानाद् उपनयनादेर्निवृत्तिरिति'। (तब विवाहादिके उपनयनादिके स्थानमें विहित होनेसे स्त्रियोंकी उपनयनादिकी निवृत्ति हो जाती है)।

इस प्रकार गोविन्दराजने भी 'एवम् [स्त्रीणाम्] उपनयनेपि अमन्त्रके प्राप्ते आह-वैवाहिक इति' यह अवतरणिका देकर लिखा है–'यद् विवाह-विधानम्, तदेव आसां वैदिक-संस्कारोपनयनस्थाने, पतिसेवा च गुरुशुश्रूषा-स्थाने गृहकृत्यं चाग्निपरिचरणस्थाने'। कितना स्पष्ट लिखा है कि–स्त्रियोंका विवाह-विधान ही उनके वैदिक-संस्कार उपनयनके स्थानपर है, पतिकी सेवा ही गुरुसेवाके स्थान पर है, स्त्रियोंका गृहकार्य अग्निहोत्रके स्थानपर है। इसपर नारायणने लिखा है—'उपनयनं तु न कार्यं तासाम्, विवाहसंस्कारस्य तत्स्थानीयत्वादित्यर्थ:, वैदिक:-वेदाधिगमार्थ उप-नयनरूप:'। (स्त्रियोंका उपनयन तो नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसके स्थानपर स्त्रियोंका विवाह ही है) राघवानन्दने भी लिखा है–'स्त्रीणां वैवाहिक संस्कार उपनयनसंस्कारस्थानीय:; तेन तद्-(उपनयन-) निवृत्ति:। वैदिक:- वेदमन्त्रकृत: 'विवाहस्तु समन्त्रक' इति। नन्दनने भी इसी प्रकार लिखा है। इस प्रकार दोनों ही पद्य 'प्रक्षिप्त' सिद्ध न होकर 'आवश्यक' सिद्ध हुए। उक्त दोनों पद्य प्राचीन-टीकाकारोंने, रामाभिराम, कुमारिलभट्ट, गार्ग्यनारायण, तथा निबन्धकारोंने प्रतिष्ठापूर्वक उद्धृत किये हैं। वादीके मान्य 'विवाहकाल-विमर्श'में व्याघ्रपादने भी 'स्त्रीणा-मुपनयनस्थाने विवाहं मनुरब्रवीत्' इसे स्मरण किया है। (स्त्रियोंका उपनयनका स्थानापन्न मनुजीने विवाहको माना है) माधवीयमें यम-

का वचन भी है—'विवाहं चोपनयनं स्त्रीणामाह पितामहः (मनुः)' इन सब का भाव यही है कि स्त्रियोंका विवाह ही उपनयनादिके स्थानापन्न है; अतः स्त्रियोंका उपनयनादि नहीं होता; और वैध उपनयन न होनेसे वेदाध्ययनादि भी नहीं होता। तब प्रक्षिप्तताकी शंका ही न रही।

(ख) 'अमन्त्रिका' का 'अल्पमन्त्रिका' अर्थ किसी भी टीकाकारने नहीं किया, बल्कि-मन्त्राऽभावका ही पर्याय-वाचक गृह्यसूत्रोंमें 'आवृत:' (आश्व. १।१५।१२ इत्यादि वहुत स्थलोंमें) आया है, उसी अर्थमें 'तूष्णीम्' (२।१।२२) आया है। क्या 'तूष्णीम्' का अर्थ 'स्वल्पमन्त्रा' है? टीकाकारोंको भी 'अमन्त्रिका' का 'मन्त्ररहिता' अर्थ इष्ट है, स्वय मनुको भी 'निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च' (९।१८) इन पद्योंसे 'मन्त्रवर्जिता' ही अर्थ इष्ट है। तब 'मेखलाबन्धनादिके कई मन्त्र कन्यासंस्कारमें छोड़ दिये जाते हैं, अतः कन्या 'अल्पमन्त्रा है' यह वादीकी बात ठीक नहीं। वादी ही कहे कि-क्या उपनयनमें वे कभी स्त्रियोंके मेखलाबन्धन, कौपीन बन्धवाना, हृदयालम्भन, 'मुखेन मुखं संनिधाय जपति' [आग्निवेश्यगृ. १।१।३] मुंह से मुंह मिला कर बोलना, आदि करते हैं? वहाँ मन्त्र पढ़ना न सही, क्या यह क्रियाएं कभी कराते हैं? जब क्रिया ही नहीं होती; तब वह 'अल्पमन्त्रा' कैसे?

हम कन्याओंके चूडाकरणान्त संस्कारोंको अमन्त्रक सिद्ध कर चुके हैं, उनमें क्रिया वही होती है; जो बालकोंके संस्कारमें होती है, परन्तु मन्त्रका ही निषेध है। इस विषयमें गोभिलगृह्यसूत्रके २।१।२२ सूत्रकी म. म. मुकुन्दशर्माकी व्याख्या, वीरमित्रोदयके संस्कारप्रकाश जातकर्मादि-संस्कारों में एवं अन्य सभी गृह्यसूत्रोंमें देखा जा सकता है। अतः वादीका व्याज निरस्त हो गया। क्योंकि—'इयम् अशेषतः आवृत्' (मनु. २।६६) इससे चूडाकरणान्त सभी संस्कारोंमें अमन्त्रकता कही गई है। तब वादी का 'मेखला-बन्धन' कहांसे आ गया? मेखला-बन्धन तो उपनयनमें होता है; कन्याओंके उपनयनका तो 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' (२।३६) मनुके इस

पद्य से आगेके 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां' (२।६७) इस पद्यमें निषेध ही किया गया है।

(ग) 'वैवाहिको विधिः' का अर्थ करनेमें वादीने छल किया है। जब अपने अर्थके अनुसार वादी स्त्रियोंकी विवाहविधि 'वैदिक' मानता है, तब स्त्रियोंके गर्भाधान, सीमन्त, नामकरण आदि सब संस्कार तो 'अवैदिक' हो गये। बात वही हमारी सिद्ध हुई कि-स्त्रीके विवाहमें ही केवल मन्त्र पढ़े जाते हैं, शेष संस्कारोंमें नहीं। शेष उनके संस्कार अवैदिक (वेद-मन्त्रहीन) होते हैं। जब स्त्रियोंका अन्य संस्कारोंमें वेदमन्त्राधिकार न रहा, तब जहां वादिसम्मत जातिपक्षका खण्डन हो गया, वहाँ स्त्रीका वेदाध्ययनाधिकार भी खण्डित हो गया। पक्ष हमारा ही सिद्ध रहा।

अपने इस अर्थमें वादीने 'संस्कारः स्मृतः' पदको कहाँ रखा? 'स्त्रीणां वैवाहिको विधिः- वैदिकः संस्कारः स्मृतः' स्पष्ट अन्वय है। पति-सेवाका 'गुरौ वासः' से सम्बन्ध है; क्योंकि-पति स्त्रीका गुरुस्थानीय होता है। परन्तु वादीने उस सम्बन्धको विच्छिन्न करके अलग-अलग कर दिया है। इसको पृथक् करने वाला 'च' कहाँ है? वह स्त्री पतिकी भी सेवा करे; और रहे गुरुओंके पास, यह बढ़िया अर्थ है! वादी असंगति अलंकार-का आचार्य कबसे बना? जब स्त्री गुरुकुलमें रहेगी, तो पति-सेवाके लिए वह क्या गुरुओंको भेजेगी? इस मनु-पद्यमें प्रकरण जबकि स्त्रीके विवाहितत्वका है, तभी तो 'वैवाहिको विधिः' पतिसेवा, गृहार्थः' यह शब्द उक्त पद्यमें आये हैं; उस समय वेदाध्ययनार्थ गुरुकुलमें रहनेका क्या काम? क्या विवाहके बाद स्त्रीका गुरुकुलवास होता है? यहाँ वादी पतिको स्त्रीका गुरु बता रहा है; वा भिन्न अन्य पुरुषों को? यदि भिन्न, तो यहाँ भिन्नता-प्रदर्शक 'चकार' कहाँ है?

'घरका कार्य और अग्निहोत्रादि ये स्त्रियोंके कर्तव्य हैं' यह आगे वादीका किया अर्थ है, तो अग्निहोत्रादि पतिके कर्तव्य तो न रहे; क्या यह वादीको स्वीकृत है? 'घरका कार्य और अग्निहोत्रादि' यहाँ 'और'

अर्थ बताने वाला 'च' उक्त श्लोकमें कहाँ है ? 'अग्निपरिक्रिया' का 'अग्निहोत्र आदि' यह 'आदि' शब्द वादीके विद्वान् कहाँसे लाए ? ऐसे ही असत्य अर्थ करके अर्थकर्त्ता श्रीतुलसीरामस्वामीने 'भास्करप्रकाश' को तुन्दिल कर रखा है; सत्यसे वे कोसों दूर हैं। यह 'उत्तम' प्रयास नहीं।

जब कि-'वैवाहिको विधिः-स्त्रीणां वैदिकः संस्कारः स्मृतः, पति-सेवा स्त्रीणां गुरौ वासः स्मृतः, गृहार्थः-स्त्रीणाम् अग्नि-परिक्रिया स्मृता' ऐसा अन्वय उक्त पद्यका स्पष्ट है, तब कुल्लूकभट्ट आदिसे लिखा हुआ 'एव' शब्द 'अब्भक्षः, वायुभक्षः, 'अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयति'. (महाभाष्य) की तरह स्वयं गृहीत हो जाता है। वादीने उक्त पद्यमें 'च' न होने पर भी उसे अर्थमें प्रक्षिप्त कर दिया। 'पति-सेवा गुरौ-वासः गृहार्थः, में अविद्यमान भी अल्पविराम (कामा) चिन्होंको प्रक्षिप्त कर दिया। यह 'कर्तव्य' है, यह अर्थ तथा 'आदि' शब्द भी उसमें प्रक्षिप्त कर दिया। यह अपनी प्रक्षिप्तता तो वादीको दीखी नहीं; और उलाहना दिया कुल्लूक-भट्टको, कि-इसने अर्थमें स्वारस्य-प्राप्त 'एव' शब्द लिख दिया। क्या यहाँ '···सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति। आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति' की उक्ति चरितार्थ नहीं ?

अर्थमें 'एव' न भी लिखा जावे, तब भी तो यही अर्थ होगा कि-'विवाह स्त्रियोंका उपनयन एवं वेदारम्भ संस्कार (क्योंकि मनुने इनको पृथक् सस्कार न गिन कर एक ही संस्कार माना है) है, पति-सेवा स्त्रियोंका गुरुकुलमें निवास है, घरका काम स्त्रियोंका अग्निहोत्र है। बात वही निकली। जैसे 'पति स्त्रीका गुरुस्थानीय है' कहनेसे स्त्रियोंके लिए पतिसे अतिरिक्त गुरुकी निवृत्ति हो जाती है, इस लिए वह 'पति ही स्त्रीका गुरु होता है' यह 'एव' का अर्थ 'ही' स्वयं स्वारस्यसे प्राप्त हो जाता है, वैसे ही उक्त अर्थमें 'एव' शब्द स्वयम् उपस्थित हो जाता है, फिर कुल्लूक भट्टको उलहना क्यों ? इस प्रकार वैवाहिक विधिके ही स्त्रियोंके उपनयन-वेदारम्भस्थानीय होनेसे स्त्रीके उपनयनादिकी निवृत्ति

हो जाती है। 'पतिसेवा गुरौ वासः' को उद्धृत करते हुए म. म. पं० शिवदत्तजीने भी इसके पूर्वके तथा बादके मनुपद्यांशको छिपा कर […] शाभाका काम नहीं किया।

जिस प्रकार वे (म.म. जी) पति-सेवासे भिन्न स्त्रीके गुरुकुलवासकी निवृत्ति मानते हैं, वैसे ही वैवाहिक विधिसे भिन्न स्त्रीका उपनयनादि भी उनको निवृत्त मानना पड़ेगा। उन्होंने अन्यत्र 'संस्कारो वैदिकः स्मृतः' के स्थान 'औपनायनिकात् परः' ऐसा मनुका पाठ कर डाला, यह नीति उचित नहीं। अपने निर्मूल पक्षका पक्षपात फिर यही कुकृत्य करवाता है बाधित करता है। अतः उनकी 'सिद्धान्त-कौमुदी' 'महाभाष्य' 'न्याय-सिन्धु' 'ऋक्सूक्तसंग्रह' 'आर्यविद्यासुधाकर' में एतद्विषयक टिप्पणियाँ नितान्त निर्मूल हैं, यह विद्वानोंने हमारे इस पुस्तकसे जान लिया होगा।

(घ) एक आदर्श उनका यहाँ भी देख लीजिये-'स्त्रीप्रत्ययकी टिप्पणी में 'आचार्या' पर उन्होंने लिखा है, जिसे 'सार्वदेशिक' (जुलाई १९४६) में वादीने उद्धृत किया था-'उपनीय तु यः शिष्यम्' इति मनुवचनेनापि स्त्रीणां वेदाध्ययनाधिकारो ध्वनितः' एक तो 'आचार्या-व्याख्यात्री' इस कौमुदीकी प्रतीक पर मनूक्त 'आचार्य' का लक्षण देना उनका ठीक नहीं, क्योंकि-वह पुंलिङ्ग आचार्यका लक्षण बताता है-आचार्याका नहीं। दूसरा जबकि मनु स्त्रीको वेदाधिकार स्पष्ट शब्दोंमें निषिद्ध करते हैं-फिर उन्हीं का लक्षण 'आचार्या' में देना ठीक नहीं।

तीसरा-मनुने 'वेदमध्यापयेद् द्विजः' में आचार्यका अध्यापन माना है-पर व्याकरणमें आचार्याका अध्यापन इष्ट नहीं। यदि होता; तब उसे भी 'या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः' इससे 'उपाध्यायी' की तरह 'आचार्यी' भी बनाया जाता, पर नहीं बनाया जाता। यहाँ 'अध्यापन' अर्थ विवक्षित न होनेसे ही दीक्षित को 'आचार्या-व्याख्यात्री' अर्थ करना पड़ा। पं० शिवदत्तजीने 'मनुवाक्येन ध्वनितः' कहा है, पर जब मनुने अभिधासे ही स्त्रियोंका उपनयन-वेदादिका निषेध कर दिया है

वहाँ आचार्यका लक्षण किया है, 'आचार्या' का वैसा लक्षण मनुने कहीं कहा नहीं, तब उसके अभिप्रायके विरुद्ध अनुमानित ध्वनि बताना ठीक नहीं।

'आचार्य' वेदाध्यापकसे भिन्न भी होता है, जैसे कि-'आचार्याणां शतं पिता' (मनु. २।१४५) इस मनुके पद्यमें यहाँ वेदाध्यापक इष्ट नहीं; वह तो 'उत्पादक-ब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता' (२।१४६) इस पद्यमें 'ब्रह्मदाता' शब्दसे इष्ट है। मनूक्त पारिभाषिक लक्षण 'आचार्या में प्रवृत्त नहीं हो सकता। वहाँ तो 'आचारं' ग्राहयति, आचिनोति बुद्धिम्; आचिनोति अर्थान्' (निरु. १।४।१२) यह यौगिक अर्थ है। 'उपाध्यायी' में भी मनूक्त उपाध्यायका लक्षण नहीं। जिस वार्तिकसे इसकी सिद्धि है, वहाँ तो 'या तु स्वयमेव 'अध्यापिका' यह शब्द आया है, 'वेदस्य' वा वेदैकदेशस्य' नहीं आया, 'उपेत्य अधीते अस्या उपाध्यायी' (महाभाष्य ३।३।२१) वहाँ तो सिलाई-कढ़ाईकी प्रणाली पढ़ानेसे भी वही शब्द संगत हो जाता है। क्योंकि-'या अकृन्तन्' इत्यादि वेदमन्त्रोंमें स्त्रियोंका कपडा बुनना, सीना, कसीदा काढ़ना (ऋ. २।३८।४) आदिका वर्णन आया है, यह भी एक विद्या है, उसीका सिखाना-पढ़ाना इस अवसर पर विवक्षित होता है। यह प्रसक्तानुप्रसक्त हमने कह दिया। वैसे म. म. पं० शिवदत्तजीकी युक्तियोंका हम पूर्व (१२ निबन्ध में) समाधान कर चुके हैं।

उसी 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' का अर्थ जिसे वादीने बदलनेके लिए प्रयत्न किया था, उसीके मान्य 'विवाहकालविमर्श' (मैलापुर) में व्याघ्रपादके 'स्त्रीणामुपनयनस्थानं विवाहं मनुरब्रवीत्' तथा माधवीयमें यमके 'विवाहं चोपनयनं स्त्रीणामाह पितामहः (मनुः)' यह हमारा पक्षपोषक किया है। श्रीमद्भागवतपुराणमें भी उसका 'नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि' (१०।२३।४२) यही अर्थ किया है। तब वादीके किये उक्त मनु-पद्यके अर्थमें वादीका बलात्कार सिद्ध हुआ। किसी भी प्राचीन-टीकाकारने वैसा अर्थ नहीं किया। बल्कि कई आर्यसमाजी

भी अस्मदिष्ट ही अर्थ मानते हैं, जैसे कि श्रीराजाराम शास्त्री-'विवाहकी विधि ही स्त्रियोंका वेदका संस्कार (उपनयन) माना गया है, पतिकी सेवा ही गुरुके निकट वास है, घरका काम अग्नि की सेवा है।'

आर्यसमाजी श्रीतुलसीराम स्वामीने भी मनुकी टीकामें इसका अर्थ ठीक ही किया है कि-'स्त्रियोंकी विवाह-सम्बन्धी जो विधि है, वही केवल वेदोक्त है, और पतिसेवा-गुरुकुलवास, गृहकृत्यादि-सायंप्रातर्होम हैं।' यहाँ उनकी दी हुई डैशें हमारे पक्षको स्पष्ट कर रही हैं। पर भास्करप्रकाशमें उन्होंने इस अर्थ को बिगाड़ा है, वह यह है-'स्त्रियोंको इतनी बातें वैदिक हैं, वैवाहिक विधि, पतिसेवा, गुरुकुलवास, गृहस्थाश्रम और अग्निहोत्र करना, इसमें उन्होंने 'संस्कार' का अर्थ नहीं दिया, क्या पतिसेवा भी कोई संस्कार है? घरका काम-काज भी क्या कोई संस्कार है? स्पष्ट है कि-वे उसमें सफल नहीं हो सके। हमने यहाँ उस अर्थ की आलोचना कर दी है। इस अर्थसे तो स्त्रियोंकी अन्य बातें-अध्यापकता, पुत्रोत्पादन, ब्रह्मचर्य आश्रम, संन्यास आश्रम, वेदाध्ययन जातकर्मादि शेष सब संस्कार-जिनको वादी लोग मानते हैं-अवैदिक हो जाएंगे। क्या वादियोंको ऐसा स्वीकार है? यदि नहीं, तब इससे वादी का उसे प्रक्षिप्त बताना वा उसके अर्थको बदलनेकी चेष्टा करना निन्दनीय प्रयत्न है।

---

(१७) 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्' इत्यादिका वास्तविक अर्थ।

पूर्वपक्ष-'वेदे पत्नीं वाचयति-'वेदोसि वित्तिरसि' (बोधा. श्रौ. ३।३० शाङ्खायन श्रौ. १।१५।१३) 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्-होताऽध्वर्युर्वा, वेदोसि वित्तिरसि' (आश्वला.श्रौ. १।११।१) यहां पत्नीके हाथमें वेद देकर उसके द्वारा मन्त्रविशेषका बुलवाना कहा है। (पृ. ५२) अथ वेदं पत्नी विस्रंसयति 'वेदोसि येन त्वं देव! वेद' (शत. १।९।२।२२-२३) यहाँ वेद को खोलकर 'वेदोसि' (यजु. २।२१) इस मन्त्रपाठका विधान है (पृ.

३९-४०) 'पत्नी वेदं प्रमुञ्चति'–वेदोसीति (कात्या. श्रौत. ३।८।२) पृ. ४६) 'तस्यै (साविञ्यै सीतायै) उ ह त्रीन् वेदान् प्रददौ प्रजापतिः, (तै. ब्रा. २।३।१०) यहाँ सायणका 'वेद' पदका अर्थ 'वेदमन्त्रलाञ्छितं किञ्चिद् गुटिकाद्रव्यं दत्तवान्' यह अर्थ तो अनर्थ है (पृ. १८८) एतदादि-प्रमाणोंसे स्त्रीका वेदाधिकार सिद्ध है (एक सिद्धान्तालङ्कार 'स्त्रियोंका वेदाध्ययन' में)

उत्तरपक्ष–इन वादिदत्त नव वचनों में 'वेद' शब्दका अर्थ 'वेदग्रन्थ' नहीं है; जैसेकि वादीने लिखा है, अन्यथा आश्व.श्रौ.का 'वेदोसि वित्तिरसि' यह मन्त्र वादीको अपने वेदसे दिखाना चाहिये। यदि वह न दिखा सका, तो उसका प्रमाण असिद्ध हो गया; अथवा किसी अन्य संहिता वा ब्राह्मणका है, तो वादीको उन्हें भी वेद मानना पडेगा। अथवा यदि किसी वेद-का अंश है, तो वह नियतानुपूर्वी तथा नियतपदप्रयोग-परिपाटी वाला (अक्षत) न होनेसे वह वेद न रहा। इधर जब पत्नीके हाथमें वेद है; तो होता वा अध्वर्यु वह मन्त्र क्यों पढ़वाता है? फिर तो वेद-पुस्तकका देना व्यर्थ ठहरता है, कहलवानेसे भी मंत्र बुलवाया जा सकता है, ग्रन्थ देना क्यों?

वस्तुत: वादीके उक्त वचनोंमें 'वेद' का अर्थ 'दर्भमुष्टिनिर्मित पदार्थ-विशेष' ही है। इसकी पुष्टिमें हम बहुतसे विद्वानोंकी जिनमें आर्यसमाजी भी हैं–साक्षी उपस्थित करते हैं। १ श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पतिके बनाये 'वाचस्पत्य' नामक महाकोषमें लिखा है–'वेदः–कुशमुष्टिकृतपदार्थभेदः' 'वेदं कृत्वा वेदिं कुर्यात्' इति श्रुतिः। २ 'वेदोसि' (२।२१) मन्त्रपर महीधर-भाष्य भी देखिये–'पत्नी वेदं प्रमुञ्चति (का. ३।८।१) हे कुश-मुष्टिनिर्मितपदार्थ! त्वं वेदः ऋगाद्यात्मको ज्ञाता वाऽसि। हे द्योतनात्मक वेद! देवानां ज्ञापकोऽभूः'। इससे सिद्ध है कि–इस अवसरमें यजमान-पत्नी दर्भमुष्टिनिर्मित पदार्थको ही पहनती है, वेदग्रन्थको नहीं। ग्रन्थ कोई पहननेकी वस्तु नहीं। वही उक्त श्रौतसूत्रमें इष्ट है। इसका प्रमाण

यह है कि–एतदादिस्थलमें 'वेद' शब्द उञ्छादि (पा. ६।१।६०) पठित होने से अन्तोदात्त 'कुशमुष्टि' में योगरूढ है। ग्रन्थराशिमें 'रूढ' वेद शब्द तो वृषादि (६।१।२०१) गणमें पठित होनेसे आद्युदात्त है–यह सर्ववैदिक-कविद्वत्सम्मत है।

३ काण्व यजु:सं.के भाष्यमें श्रीसायणने भी लिखा है—'सम्मार्जनार्थं दर्भमुष्टिना निर्मितः पदार्थो वेदः; तं पदार्थम् ऋग्वेदादिवेदात्मना स्तौति, त्वं वेदोसि–ऋगाद्यात्मको वेदिता वाऽसि' (१।५) इससे स्पष्ट है कि-पत्नीका 'वेद' कुशमुष्टि-पदार्थ ही है। अचेतनकी स्तुति मूर्तिपूजा भी है। ४ आर्यसमाजी विद्वान् श्रीभगवद्दत्तजी (डी.ए.वी. कालेज लाहौर) 'वैदिक-कोष' में लिखते हैं–'वेदः–दर्भमुष्टिः, प्राजापत्यो वै वेदः'। ५ आर्यसमाजी श्रीचमूपतिजीसे सम्पादित 'वेदार्थकोष' (३) में भी यही लिखा है–'वेदः दर्भमुष्टिः, प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि यद् वेदः' (तै. ३।३।६।११)। ६ 'शब्द-कल्पद्रुमकोष' में भी लिखा है —'वेदः दर्भमुष्टिः, यथा च मनुः-'यज्ञोपवीतं वेदं च' (४।३६)।

७ 'आप्टे' की बनाई संस्कृत इङ्गलिश-डिक्शनरी में भी लिखा है–'वेदः–A bundle of Kusha Grass (M. S. 4.36) यहाँ भी कुशाके बण्डलको 'वेद' शब्द-वाच्य माना है। ८ 'सेन्टपीटर्सवर्ग' के कोषमें इसपर लिखा है – वेद-[उञ्छादि] Buschelstarken grased (Kueq)' इस अर्थमें वहाँ अथर्व. ८।२८।१, यजुः २।२१, तै.स. १।७।४।६, तै.ब्रा. ३।३।७।२, शत. १।३।१।११, का. ३१।७, मनु. ४।३६, आश्व.श्रौ. १।११।१ यह प्रमाण दिये हैं। तब आश्वलायन श्रौतसूत्रका हमारा किया हुआ अर्थ समूल ही है। नहीं तो जब वेदग्रन्थ उसके हाथमें है, वह स्वयं मन्त्र पढ़ सकती है; तब 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्' उसका पढ़वाना कैसा? बल्कि जब वह वादी के अनुसार वेदकी विदुषी है तब एक प्रसिद्ध मन्त्र बुलवानेकेलिए उसे वेदग्रन्थ देना उसका वेदमें अवैदुष्य प्रकट करना है। पर जब यहां 'वेद-ग्रन्थ' शब्द ही नहीं है, तब

वेदग्रन्थका अर्थ भी कैसे ? अत: यहां स्पष्ट 'वेद' का 'कुशमुष्टि' अर्थ इष्ट तथा सर्वसम्मत है।

९ मनु (४।३६) पद्यकी टीकामें श्रीमेधातिथिने भी लिखा है- 'वेदो दर्भमुष्टि:। तस्य च प्राणोपस्पर्शनं दर्भै' इत्यादि प्रयोजनम्। १० यहीं पर श्रीकुल्लूकने लिखा है—'वेदं दर्भमुष्टिम्'। ११ श्रीराजाराम शास्त्री (ग्रा.स वि.) ने भी लिखा है-'वेदं कुशाकी मुट्ठी'। १२ इसी प्रकार वसिष्ठधर्मसूत्र (१२।१४।१७) बोधायन. (१।५।३-५, ६।१५, २।६-७), विष्णु. (७१।१३-१६) याज्ञवल्क्य १।१३३ इत्यादि प्रामाणिक-ग्रन्थोंमें भी 'वेद' का अर्थ 'दर्भमुष्टि' ही रखा है। १३ शतपथ 'योषा वै वेदि, वृषा-वेद: (१।९।२।२१-२४) में भी वेदिं पर रखनेकेलिए कुश-राशि ही 'वेद' इष्ट है, वेदग्रन्थ नहीं। १४ वादिमान्य 'वीरमित्रोदय' के उपनयन सम्कार 'ब्रह्मचारिप्रकीर्णक-धर्म' प्रकरणमें ४८९ पृष्ठमें भी कहा है— 'दण्ड कमण्डलुं, वेदं, यम:, वेदो दर्भमुष्टि:'।

१५ 'सत्याषाढश्रौतसूत्र' में 'वेदोसि' (१।२) मन्त्र पर वैजयन्तीकार कहता है—'वेदशब्दोऽयं [दर्भाणां] संस्कारवाची, स एव क्रियते [संस्कार:] स वेदशब्दवाच्य: इत्यर्थ:'। इसी प्रकार 'वेदं प्रान्तै: स्रुवं स्रुचश्च समार्ष्टि' (१।७). वेदका अर्थ एतदादिस्थलमें 'वेदग्रन्थ' माना जाय; तो 'वेद पत्नी निरस्यति' (सत्याषा. २।५) इसका अर्थ हो जायगा कि पत्नी वेदका खण्डन करती है, वा वेदग्रन्थको परे फैंकती है; पर वादीको भी ऐसा अर्थ इष्ट नहीं होगा। फलत: वादीके दिये प्रमाणोंमें 'वेद' का अर्थ 'दर्भमुष्टि' है, न कि वेदग्रन्थ।

१६ 'यज्ञकुण्ड या वेद' (वैदिकधर्म जून ७० पृ. १६० स्त.१ पं. १५) में श्रीवीरसेन वेदश्रमी लिखते हैं-'वेद कुशमुष्टिका नाम भी है। इस विषयमें उनने युक्ति भी दी है—'वेदिके भागमें कुशाप्रस्तरण (वेद) के होनेसे वह भाग इस निमित्त भी 'वेदि' संज्ञक कहलाता है' (पं. १६-१८)।

जहां उक्त प्रमाण इस विषयमें मिलते हैं, वहां उपपत्तियां भी। पाठक देखें। (क) वादी द्वारा दिये 'पत्नी वेदं प्रमुञ्चति' (का.श्रौ. ३।८।२) में 'प्रमुञ्चति' का अर्थ 'छोड़ती है' या 'पहनती है'। वेदोंका पहनना या छोड़ना प्रकृतमें कैसे घट सकता है ? स्पष्ट है-यहां कुश-मुष्टिका ही धारण है। (ख) वादिदत्त 'यजमानो वेदं बध्नाति' (का.श्रौ. १।१।८) में वेदग्रन्थका बान्धना कैसा ? यहां भी स्पष्ट ही कुशमुष्टिका बान्धना है। (ग) 'वेदं पत्नीं विस्रंसयति' (शत. १।९।३।२२-२३) यहां भी अर्थ है कि पत्नी दृढतासे बन्धे हुए वेद (दर्भमुष्टिनिर्मित पदार्थ) को ढीला करती है, 'वेदग्रन्थको खोलती है' यह वादिदत्त अर्थ निर्मूल है। इसी कारण 'का.श्रौ.' के इष्टिनिरूपणाध्यायमें कहा हुआ 'पत्नी वेदं प्रमुञ्चति' यह 'वेद विस्रंसयति' का पर्यायवाचक है। इसमें 'प्र मा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन माऽबध्नात् सविता सुशेव:' यह मन्त्र भी ज्ञापक है। यही बात सत्याषाढ श्रौ. के 'वेदं पत्नी निरस्यते' (२।५) में भी विवक्षित है। बन्धे हुए दर्भपदार्थको ढीला करना या उतारना ही यहां इष्ट है; वेदग्रन्थकी तो यहां कोई चर्चा नहीं। आश्चर्य है कि-वादी इस याज्ञिकप्रक्रियामें भी अपनी कपोलकल्पना लादना चाहता है, जिससे 'पत्नीको वेदाधिकार देना' रूप उसका अशुद्ध पक्ष सिद्ध हो जावे, पर 'आलोक' के विद्वान्-पाठकोंने उसकी बालूकी दीवारको गिरता हुआ देख लिया। स्पष्ट है कि-वादीको इनका अर्थ ज्ञात नहीं।

अवशिष्ट है-कई मन्त्रोंका पढ़ा जाना, इसपर यह स्मर्तव्य है कि-विवाह हो जानेपर स्त्री 'पत्नी' हो जाती है, उसके माता-पितासे भिन्न माता-पिता (सास-ससुर) हो जाते हैं। घर तथा गोत्र भी दूसरा हो जाता है। इसलिए वह द्वितीय जन्मवाली, 'द्विज'-जैसी हो जाती है, इधर पति उसका जीवनभरकेलिए शिक्षक होनेसे गुरुसदृश हो जाता है, उस पतिके समीप उस पत्नीका वैधनयन (विवाह संस्कार) होनेसे उपनयन-संस्कार-सदृशता तथा पतिके घरमें सदाका निवास पत्नीका

गुरुकुलवास-सा हो जाता है। तब 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' (२।६७) इस मनुवचनसे उपनीतसदृश हुई वह पतिके साथ यज्ञोंमें बैठने तथा अपने नियत कार्यको पूर्ण करनेमें समर्थ हो जाती है।

इसीलिए श्रीपाणिनिने भी (४।१।३३) यज्ञके संयोगमें उसे 'पत्नी' माना है, पर साक्षात् उपनयन न होनेसे 'क्रमेण विधिपूर्वकम्' (मनु. २।१७२) उसका क्रमिक एवं वैध वेदाध्ययनका निषेध है, जो कई स्वमात्रनियत दो-चार मन्त्र यज्ञ वा विवाह में उसे ऋत्विक्के सहारेसे बोलने पड़ते हैं; यह वेदाध्ययन नहीं हो जाता। बिना यज्ञोपवीतके कई लड़के बाजारमें घूमते-घामते, जूता पहरे गायत्रीमन्त्र आदि कई वेदमन्त्र बोलते जाते दीखते हैं-, वा शास्त्री आदि परीक्षाओंमें कई लड़कियां परीक्षानियत कई मन्त्र पढ़ती हैं—इसका नाम क्रमिक वा वैध स्वाध्याय (वेदाध्ययन) नहीं होजाता। उसी क्रमिक वेदाध्ययनका स्त्रीको निषेध है, पर पत्नीके विवाहित होजाने से स्वमात्रनियत कई आचार उसे करने पड़ते हैं, इसलिए २।६७ मनुपद्यकी व्याख्यामें श्रीमेधातिथिने भी लिखा है-'एवं च एतदुक्तं (स्त्रीणां) विवाहस्य उपनयनापत्त्यम्, यथैव पुरुषस्य उपनयनात् प्रभृति श्रौताः स्मार्ता आचारप्राप्ताश्च विधया भवन्ति, प्राक् तु कामचारः, कर्माऽक्षमत्वम्। एवं स्त्रीणां प्राग् विवाहात् कामचारः, परस्तात् श्रौतस्मार्तेषु (आचारेषु) अधिकारः। विवाह एव स्त्रीणां वैदिक-संस्कारः उपनयनम्। अनुपनयनेपि, विवाहे भक्त्या (गौणतया) उपनयनत्व-मुच्यते'।

इसमें स्पष्ट कहा है कि—स्त्रीका उपनयन न होनेपर भी, उसके विवाहको गौणतासे उपनयन-सा माना जाता है, तब क्वाचित्क मन्त्रविशेषोंको, जिनमें अधिकांश सौत्र (सूत्रग्रन्थोक्त) हुआ करते हैं—बोल सकती है, पर उसका साक्षात् उपनयन न होनेसे उसका पुरुषकी तरह स्वाध्याय (क्रमिक एवं वैध वेदाध्ययन) में अधिकार नहीं हो

जाना। यह बात सम्यक्तया स्मरण रखनी चाहिए। इस बातके ज्ञान न होनेमें बहुतसे विद्वान् भी इस विषयमें मोहमें पड़ जाते हैं।

इस प्रकार 'वेदोऽसि वित्तिरसि' (५।४।२३) 'वेदो वाजं. वीरं ददातु मे' (२४) वृषा वृषण्वनी वेद पत्नीभ्यो भव' (५।४।२५) इत्यादि वादि-दत्त 'काठक-संहिता' के मन्त्रोंका समाधान भी हो गया। वहाँ वेदका अर्थ पूर्वोक्त प्रमाणोंके अनुसार 'दर्भमुष्टि-प्रणीत पदार्थ' ही है, जिसे कदाचित् वादी न जानता हो, वा जानता हुआ भी उसे छिपा रहा हो। तब इससे विरुद्ध अपनी पुस्तकके १९८वें पृष्ठमें उक्त 'वेद' शब्दका 'वेदग्रन्थ' अर्थ करते हुए आर्यसमाजी विद्वान् एक सिद्धान्तालङ्कारका पक्ष सर्वथा गिर गया। इसी प्रकार 'तैत्तिरीय-ब्राह्मण' (२।।१०) में सीताको जो तीन वेदोंका देना बताया गया है, सो वहाँ भी वही कुशमुष्टि-प्रणीत तीन पदार्थोंका देना इष्ट है—तब वहाँ श्रीसायणका वेदमन्त्र-लांछित किञ्चिद् गुटिकादिद्रव्यं दत्तवान्' यह अर्थ समूल ही है। प्रजापतिने उसे वह 'वेद' दिया था, श्रीभगवद्दत्तजीने कुशमुष्टिरूप उस वेदको इसीलिए ही 'प्राजापत्य' (प्रजापतिदत्त) लिखा है, देखिये—इस निबन्धका ४र्थ अङ्क। तब वादीका श्रीसायण पर आक्षेप करना अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है।

---

(१८) "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम"।

पूर्वपक्षः—'वेदकी एक शाखामें पुरुषमात्रको ही वेदाधिकारी माना गया है, जैसे—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्'।...'यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं, मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह, तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्!' इसमें कोई भी पुरुष विशिष्ट गुणसे युक्त हो; तो उसे वेदाधिकार दिया जा सकता है। वेदके 'शं नः, तं न' आदि शब्द भी वेदमें मानवमात्रको अधिकारी सिद्ध करते हैं। (ख) महा-

भारतमें भी 'इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती। विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः' (शा. १८८) सबके लिए वेदाध्ययनकी साक्षी मिलती है। (श्रीशाण्डिल्यजी 'भारतीयधर्मशास्त्र' ८१-८५ पृष्ठमें)।

उत्तरपक्ष—एक सत्य तो शाण्डिल्यजीके मुखसे अब भी निकल गया। वेदकी शाखाके इस उनके परममान्य प्रमाणमें पण्डितजीके मतमें वेदका अधिकार 'पुरुषमात्र' के लिए ही सिद्ध हुआ। स्त्री वेदाधिकारसे उनके मत में भी वंचित हो गई। इसलिए परमात्माने ब्रह्म' अथर्ववेदसंहितामें भी 'तत् कृण्मो ब्रह्म (मन्त्रात्मकं) वो गृहे सज्ञानं पुरुषेभ्यः' (४।२०।४) घर के पुरुषोंको दिया, स्त्रियोंको नहीं। स्त्रियोंको तो वेदने घड़ा भरना, (अथर्व. ।१२।८) कपड़ा बुनना (१४।२।५१), ओदन बनानेके लिए जल लाना, (११।१।१३), घड़ा उठाना (११।१।२३), भात तैयार करना (११।१।२३), गृहक्षेत्रमें रहना (१४।२।१८), पतिके कामोंके लिए नियुक्ति (१८।१।५५) बीजवपन; सन्तान उत्पन्न करना (१४।२।१४) इत्यादि सेवाकार्य उसके अधिकारमें दिये हैं। शेष उनने पुरुषमात्रका जो नाम लिखा है, उसमें वेदशास्त्रानुसार वेदका अधिकार द्विजको दिया गया है—शूद्र-अन्त्यजादिको नहीं, यह हम पहले सम्यक्तया सिद्ध कर चुके हैं। तब उक्त शाखामन्त्रमें भी द्विज पुरुष ही इष्ट है। शाण्डिल्यजी अपने पुस्तकके ८४ पृष्ठमें द्विज—उपनीतको ही वेदाधिकार देते हैं; पर शूद्रको किसी भी शास्त्र वा संस्कार-विधिमें उपनयन या द्विजत्वकी आज्ञा नहीं, तब शूद्र-अन्त्यज आदिको वेदाधिकार देनेकी पं० जीकी व्याख्या निर्मूल है।

द्विज आदिम तीन वर्ण हैं—यह सर्वसम्मत है, तब उन द्विजोंमें जो उक्तशाखोक्त गुणधारी हैं, वे ही उक्त शाखामन्त्रमें अभिप्रेत हो सकते हैं, शूद्र-अन्त्यज आदि नहीं। वे किसी भी धर्मशास्त्रमें वेदाधिकारी नहीं कहे गए। यदि श्रीशाण्डिल्यजीके अनुसार उक्त मन्त्रोंमें मानवमात्रको वेदाधिकार होता, तो वेदविद्याका भी मानवमात्रके पास जाना उक्त शाखामें कहा जाता। पर उसका जाना दिखाया गया है—केवल ब्राह्मणके पास।

उसे विद्याने जाकर कहा जो ब्राह्मण इस प्रकारका हो, उसे विद्या पढ़ाओ, असूयक आदि ब्राह्मणोंको नहीं। तब उक्त मन्त्र तो विशिष्ट ब्राह्मणको ही वेद-विद्याका अधिकार देने वाले सिद्ध हुए; जिसका मूल 'वेदमाता... द्विजानाम्' (अथर्व. १९।७१।१) यह मन्त्र है। इसमें 'द्विज' से 'ब्राह्मण' इष्ट है, क्योंकि-इस मन्त्रके उत्तरार्धमें 'ब्रह्मवर्चस' की प्रार्थना है, जो कि-'ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी' (यजु. मं. २२।२२) के अनुसार ब्राह्मणके लिए स्पष्ट है। इसकी साक्षी 'ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता [वेदमाता] गच्छ देवि !' (तैत्तिरीयारण्यक १०।३०) में भी मिलती है—ब्राह्मणोंके लिए स्वीकृत।' उसके साथ ही 'द्विज' से क्षत्रिय और वैश्यभी उपलक्षित हो जाते हैं।

शूद्रका तो यहां कोई सम्बन्ध ही नहीं, क्योंकि शूद्रको कोई भी द्विज नहीं कहता, बल्कि असूयकत्व, अनृजुत्व, अयतत्व, अशुचित्व, ब्रह्मचर्याश्रमरहितत्व, द्रोह आदि, मन्त्रमें निषिद्ध गुण, द्विजके तो आगन्तुक होते हैं, पर शूद्रके स्वाभाविक और स्थायी होते हैं। जन्मसे वर्णव्यवस्था मानने वाले हम लोगोंके मतमें वे दुर्गुण शूद्रमें गतजन्मसे योनिके साथ प्राप्त होने से इस जन्ममें भी अनिवार्य होते हैं। कर्मसे वर्णव्यवस्था मानने वाले श्रीशाण्डिल्यजीके मतमें भी शूद्र इन दुर्गुणोंसे समवेत ही होता है। हमारे मतमें क्षत्रिय, वैश्यमें वे दुर्गुण तब सम्भव होते हैं, जब वे पूर्व जन्ममें शूद्र रहे हों। इन मन्त्रोंसे उनको भी वेद पढ़ानेका निषेध सिद्ध करता है कि—शूद्रादिकका वेदमें अधिकार उक्त शाखाको भी इष्ट नहीं।

इसके अतिरिक्त उक्त मन्त्रोंमें ब्राह्मणको अध्यापक स्वीकृत करनेसे भी ब्राह्मण वेदविद्यामें अधिकृत सिद्ध होता है। श्रीशाण्डिल्यजी कह सकते हैं कि—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम' इससे अध्यापकका ब्राह्मण होना तो हमें उपलब्ध होता है; और हम उसे मानते हैं; पर उसमें अध्याप्यमान भी ब्राह्मण हो—यह अभिप्राय निकालना मन्त्रसे बलात्कार करना है। इस मन्त्रमें कहीं भी अध्याप्यमानको ब्राह्मण नहीं कहा गया है। इसपर निवेदन है कि—पहली कही हुई अर्थापत्तिसे यह सिद्ध है, अन्यथा विद्यादेवीने

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यजका अध्यापकत्वमें वरण क्यों नहीं किया ? इसके अतिरिक्त उक्त मन्त्रोंमें स्पष्टतया भी शिष्यको ब्राह्मण कहा गया है। तब उक्त मन्त्र केवल ब्राह्मणको ही वेदाधिकार कह रहे हैं, शूद्र—अन्त्यजादिको नहीं।

'यहां कहां ब्राह्मणको वेदविद्याका अधिकारी कहा गया है' यदि श्रीशाण्डिल्यजी यह जानना चाहते हों; तो उन्हें उक्त मन्त्रोंमें अन्तर्दृष्टि डालनी चाहिये। उनमें 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम' यह पहला मन्त्र है। 'य आतृणत्त्यवितथेन कर्णौ' यह दूसरा है। 'अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते' यह तीसरा है। 'यमेव विद्या: शुचिमप्रमत्तम्' यह चौथा मन्त्र है। प.जी वेद की शाखाके इन मन्त्रोंको प्रमाण मानते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तकमें १ ले तथा ४ थे मन्त्रको उद्धृत किया है, २ रा और ३ रा मन्त्र उद्धृत नहीं किया, किन्तु वहां विन्दुएं जोड़ दी हैं; इससे वे उन्हें भी प्रमाण मानते हैं—यह स्पष्ट है। अब पं० जी तृतीय मन्त्र देखें।

'अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा' यहां पर ब्राह्मणके लिए प्रयुज्यमान 'विप्र' शब्द स्पष्ट 'विशेष्य' है। श्रीसायणने भी यहां यही लिखा है—'ये अधमा विप्रा:' [ऋ. भा. उपोद्घात]। ऋ. [३।३३।४] मन्त्रमें श्रीसायणने 'विप्र:' का अर्थ 'ब्राह्मण:' किया है, १०।६७।६ मन्त्रमें भी 'प्राज्ञो ब्राह्मण:' यही अर्थ किया है। वादीने भी 'धिया विप्रो अजायत' (यजु. २६।१५) में 'विप्र'का अर्थ 'ब्राह्मण' किया है। देखो 'सिद्धान्त' का वर्णव्यवस्था-विशेषाङ्क। इसी प्रकार 'यमेव विद्या: शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।...तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्!' इस चतुर्थ मन्त्रमें भी विशेष्य 'विप्राय' की 'तृतीय मन्त्रसे अनुवृत्ति है। इससे स्पष्ट है कि—प्रकृत मन्त्रोंमें मन्त्रद्रष्टा ऋषिको अध्यापक भी ब्राह्मण तथा अध्याप्यमान भी ब्राह्मण इष्ट है, मानवमात्र नहीं।

इसमें उक्त चार मन्त्रोंका अनुवादक, सृष्टि की आदिमें प्रणीत मनुस्मृतिका वचन भी साक्षी है। जैसेकि—'विद्या ब्राह्मणमेत्याह' (२।११४)

यहाँ पर अध्यापक 'ब्राह्मण' कहा गया है। इसके साथ वाले 'यमेव तु शुचिं विद्यान्नियत-ब्रह्मचारिणम्। तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने' (२।११५) इस पद्यमें अध्याप्यमान भी विप्र (ब्राह्मण) बताया गया है। तब यहाँ 'मानवमात्र' नहीं, किन्तु 'ब्राह्मण' ही अधिकृत सिद्ध हुआ। जब कि—विद्याधिष्ठात्री देवता भी स्वयं अपना अधिकार केवल ब्राह्मणको ही दे रही है, तब उक्तमन्त्रोंसे मानवमात्रको वेदाधिकारी कहना मन्त्रसे अन्याय करना है।

(क) श्रीशाण्डिल्यजी कह सकते हैं कि—'निघण्टु (३।१५) में २४ संख्यावाले मेधावीके नामोंमे 'विप्र' शब्द भी पढ़ा गया है। तब उक्त मन्त्रमें मेधावी मानवमात्रका ग्रहण न्याय्य है, इसमें ब्राह्मण-पर्यायिता नहीं' इस पर निवेदन है कि—विशेषणतामें 'विप्र' शब्द भले ही 'बुद्धिमान्' अर्थ वाला हो; क्योंकि 'मेधावी' शब्द स्वयं विशेषण है, परन्तु विशेष्य 'विप्र' ब्राह्मणार्थक ही होता है; और ब्राह्मणके लिए ही प्रयुक्त किया जाता है। वहां मेधावी' अर्थका सम्बन्ध नहीं होता। जैसे कि—'विप्रं' न जातवेदसम्' (ऋ. १।१२७।१) में 'विप्रं' विशेष्य है; अत: यहां 'ब्राह्मणम्' अर्थ है।

यदि वेदमें 'विप्र' केवल बुद्धिमान्-वाचक होता; तो वही बात 'जातवेदसं'से जब सिद्ध हो रही है, तब वेदको उस अर्थ वाला 'विप्र' शब्द साथ कहने की क्या आवश्यकता थी ? जब कहा है, तो इससे उसकी बुद्धिमद्वाचकता न होकर ब्राह्मणवाचकता सिद्ध हो रही है। तभी श्रीवेङ्कटमाधवने भी इसका अर्थ लिखा है—'जातप्रज्ञं ब्राह्मणमिव।' श्रीसायणने लिखा है—'जातविद्यं मेधाविनं ब्राह्मणमिव।' श्री महीधरने लिखा है—'जातसर्वशास्त्रज्ञानं विप्रं—ब्राह्मणमिव स्थितम्।' (यजु: १५।४७)

स्कन्दस्वामीने लिखा है—'विप्रं' न-मेधाविनमिव, कम् ? सामर्थ्यात् कञ्चिद् ब्राह्मणं जातविद्यम्' [निरुक्त]। जैसे बुद्धिमान् अर्थ वाला

'पण्डित' शब्द आज भी पं० मदनमोहन मालवीय आदिके लिए प्रयुक्त किया जाता है, बुद्धिमान् होते हुए भी श्रीगान्धिजी आदि अब्राह्मणोंके नामके साथ नहीं; वैसे यहाँ 'विप्र' शब्द भी कभी अब्राह्मणके लिए प्रयुक्त नहीं किया जाता।'

'अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्राः' इस शाखामन्त्रमें तथा 'तस्मै मां ब्रूहि विप्राय' (२।११५) इस मनुपद्यमें 'विप्र' विशेष्य है, तब विशेषणता न होनेसे यहाँ 'ब्राह्मणाः' इस अर्थमें पर्यवसान है। तभी अमरकोष 'विप्रक्षत्रियविट्-शूद्राश्चातुर्वर्ण्यमिति स्मृताः' (२।७।१) में भी ब्राह्मण-वर्णका नाम 'विप्र' कहा है। 'विप्रश्च ब्राह्मणः' (२।७।४) इस पद्यमें भी विप्र' शब्द ब्राह्मणका पर्यायवाचक है। इस प्रकार 'त्रिकाण्डशेष' कोष 'वक्त्रजस्त्वनमो विप्रो वर्णश्रेष्ठः कठो द्विजः' (२।७।२) में भी 'विप्र' शब्द ब्राह्मणके पर्यायवाचकोंमें गिना गया है। अत्रिसंहितामें 'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय एव च' (१४१) यह वचन जन्म-ब्राह्मणके लिए आया है। वही ब्राह्मण विद्या पढ़ने पर 'विप्र' कहा गया हैं। ब्राह्मण-व्यतिरिक्तके लिए 'विप्र' शब्द, चाहे वह बुद्धिमान् भी हो—कहीं नहीं आया।

'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' (२।७) इस प्रकार सर्ववेदज्ञ, सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न श्रीमनुजीकी भी इस विषयमें साक्षी देख लेनी चाहिए। उस मनुने 'यश्च विप्रोऽनधीयानः, (२।१५७) 'विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः' (३।१५५) अर्हत्तमाय विप्राय' (३।१२८) 'भस्मीभूतेषु विप्रेषु' (३।९७), 'विप्रसेवैव शूद्रस्य' (१०।१२३) 'विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु (१०।१०) विप्रस्य विदुषो देहे' (४।१११) विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा (५।९९) 'विप्राणां वेदविदुषां (९।३३४) व्रात्यात्तु जायते विप्रात् (१०।२१)

इत्यादि वचनोंमें 'विप्र' शब्दको ब्राह्मणके लिए प्रयुक्त किया है। आर्यसमाजी श्रीतुलसीरामस्वामीने मनुटीकामें बहुत स्थलोंमें 'विप्र' का

अर्थ ब्राह्मण किया है। उक्त पद्योंमें 'विप्र' शब्दका 'मेधावी' अर्थसे सम्बन्ध ही नहीं है, नहीं तो 'अनधीयानो विप्रः, भस्मीभूतो विप्रः, विप्रोऽनृचः' (मनु २।२५८) व्रात्यो विप्रः—इत्यादि स्थलोंमें वह अर्थ असम्भव हो जाय। 'विप्रस्य विदुषो' इत्यादि स्थलोंमें पुनरुक्ति-दोष प्रसक्त हो जाय। मनुस्मृति स्वा.द.जीके भी अनुसार सृष्टि की आदिमें बनाई गई है, वह वेदका अनुवाद देती है, तब 'विप्र' शब्द ब्राह्मणार्थक भी सृष्टिके आदि वैदिककालसे चला हुआ है—यह स्पष्ट सिद्ध हुआ।

यदि निघण्टुमें ब्राह्मणके नाम कहे होते, और उसमें 'विप्र' शब्द न होता, तब तो कहा जा सकता था कि—वह ब्राह्मण-पर्यायवाचक नहीं, पर अब ऐसा नहीं कहा जा सकता। निघण्टुमें तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र शब्द भी पर्यायवाचकार्थ नहीं दिये गये हैं, तो क्या फिर वेदमें ब्राह्मणादिका वर्णन ही नहीं माना जायगा? 'विप्र' यदि निघण्टुमें 'मेधावी' अर्थवाला है, तो होता रहे; पर इससे ब्राह्मणार्थक 'विप्र' शब्दका उसमें कहीं भी विरोध नहीं। एक ही शब्द अनेक-अर्थोंमें भी प्रयुक्त हुआ करता है। 'बुध' का अर्थ 'देव' भी होता हैं, 'विद्वान्' भी। अन्य कोषोंसे भी अनुकूलता होनेसे 'विप्र' का अर्थ 'ब्राह्मण' ही है—यह सिद्ध हो गया।

इसके अतिरिक्त यह भी ठीक नहीं कि—निघण्टु-प्रोक्त अर्थ सब स्थानों में लिया जाय। निघण्टुके अनुसार 'विप्र' यह 'मेधावी' का नाम है, और 'कवि' भी मेधावीका नाम है; तब फिर एक वेदमन्त्रमें यह दोनों इकट्ठे नहीं होने चाहियें; नहीं तो पुनरुक्ति हो जाय, पर देखे जाते हैं, इससे सिद्ध हो रहा है कि—वेद निघण्टुके अधीन नहीं, निघण्टु वेदके अधीन होता है।

यदि सर्वत्र इन अर्थोंमें निघण्टुको ही आदृत किया जाय, तो फिर 'ऋषिविप्रो विचक्षणः त्वं कविः' (ऋ. सं. ९।१०७।७) 'त्वं विप्रः, त्वं कविः' (ऋ. ९।१८।२) 'विप्रः कविः' (९।८४।५) 'विद्वान् विप्रः' (७।८७।४) इत्यादि मन्त्रोंमें क्या श्रीशाण्डिल्यजी पुनरुक्ति-दोष मानकर वेद-

को न्यायके पूर्वपक्षानुसार अप्रमाणित मानेंगे ? 'विचक्षण, कवि' आदि शब्दोंको 'विप्र'की सन्निधिमें व्यर्थ मानेंगे ? उनकी भावनाके नायक स्वा.द. जीने 'अघ्न' का अर्थ निघण्टु (१।१४) में 'अश्व' होने पर भी वेदमें उसका अर्थ 'अश्व' नहीं किया, बल्कि-उसका 'अश्व' अर्थ करने वाले मैक्समूलरको भी आप के श्रद्धेय स्वामीने 'स. प्र.' (८ समु. १४३ पृ. ११ स. १७४ पृ.) तथा ऋ. भा. भू. (१७० पृ.) में फटकार बताई है। इससे स्पष्ट है कि-वेदमें निघण्टु-प्रोक्त ही शब्दार्थ मानना आवश्यक नहीं।

श्रीशाण्डिल्यजी यह भी मानते होंगे कि वर्तमान निघण्टु वेदके शब्दोंका अपूर्ण संग्रह है; तो वेदकी शाखामें स्थित 'विप्र' शब्दका अर्थ भी वे यदि निघण्टुके अनुसार मेधावीमात्र करते हैं, तो क्या वे वेदकी शाखाको भी वेद मानते हैं ? जबकि वेदके निघण्टु-प्रोक्त अर्थ वे वेदमें भी अनिवार्य रूपसे नहीं मानते, तो वेदशाखामें-जो उनके अनुसार वेद नहीं; उक्त निघण्टुको आश्रित कैसे कर सकते हैं ?

उक्त शाखाके ४र्थ मन्त्रमें ३य मन्त्रसे 'विप्र' की अनुवृत्ति आरही होनेसे भी यह शब्द 'ब्राह्मण' वाची है-मेधावी-वाचक नहीं, क्योंकि-४र्थ मन्त्रमें 'मेधाविनं' स्पष्ट कहा ही है। 'तस्मै मेधाविने विप्राय मां ब्रूयाः' इस योजनामें मेधावी-वाचक विप्र शब्द व्यर्थ हो जाता है, अतः 'विप्र' शब्द यहाँ स्पष्ट 'ब्राह्मण'-परक है। 'विप्र' शब्दका 'बुद्धिमान्' अर्थ माननेपर गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था माननेवालोंके मतमें 'शूद्र' का निरास स्वयं ही हो जायगा। क्योंकि-उक्त पक्षमें निर्बुद्धिको 'शूद्र' कहा जाता है। उक्त मन्त्रोंमें बुद्धिमान् अर्थ वाले 'विप्र' शब्द मानने पर शूद्र बुद्धिरहित होनेसे स्वयं वेदविद्यासे बहिर्भूत सिद्ध हो जायगा। गुणकर्मसे वर्ण मानने पर बुद्धिमान् कभी शूद्र नहीं माना जाता।

फलतः इस मतमें भी शूद्र वेदाधिकारी सिद्ध न हुआ। इस प्रकार यहाँ 'मेधावी' शब्द होनेसे स्त्रीका भी निरास उक्त शाखा-मन्त्रसे हो जावेगा, क्योंकि-स्त्री वेदाभिमत बुद्धि तथा मनोनिग्रहको धारण नहीं

करती। जैसे कि-'स्त्रिया अशास्यं मनः, उतो अह रघुं क्रतुम्' (ऋ. ८।३३।१७) यहाँ सायणने लिखा है-'स्त्रिया मनः-चित्तम् अशास्यं-पुरुषेण अशिष्यं-शासितुमशक्यम, प्रबलत्वादिति। ततोपि स्त्रियाः क्रतुं-प्रज्ञां रघुम्-लघुम् अह-आह'। यहाँ पर 'लघु' का ही 'रघु' बना है, 'लघिबंह्योर्नलोपश्च' (उ. १।२९) इससे 'कु' प्रत्यय और न-लोप होकर 'बालमूललघुअङ्गुलीनां वा लो रत्वमापद्यते' इस वार्तिकसे 'ल' को 'र' हो कर 'रघु' बनता है।

'लघुः-स्वल्पः' ऐसा स्वा.द.ने 'उणादि-कोष' में लिखा है। जैसे लघि धातु गत्यर्थ है वैसे रघि भी, अतः दोनोंका अर्थ भी 'स्वल्प' यह समान होगा, प्राकरणिक अर्थ यहाँ है भी यही। 'क्रतु' का अर्थ आपके मान्य निघण्टुके अनुसार कर्म (२।१) वा प्रज्ञा (३।९) है। आपके ही मान्य श्रीसातवलेकरने 'मेधातिथि-दर्शन' ७२ पृष्ठमें उक्त मन्त्रका अर्थ किया है-'स्त्रियोंके मनको संयममें रखना कठिन है, स्त्रियोंके मनको काबू करना अशक्य है। स्त्रियोंके कर्म छोटे होते हैं, उनका सामर्थ्य कर्म होता है, उनकी बुद्धि छोटी होती है। स्वामीजीकी मान्य शुक्रनीतिमें भी तथा चाणक्यनीतिमें इसी मन्त्रानुकूल लिखा है-'अनृतं साहसं मौर्ख्यं कामाधिक्यं स्त्रियां यतः' (३।१६४, २।१)।

यहाँ स्त्रीकी बाह्य लौकिक-बुद्धि नहीं देखनी है, किन्तु वैदिक-बुद्धि। जैसे उस-उस शास्त्रको न पढ़ा हुआ वृद्ध भी 'बालानां सुखबोधाय' 'बाल' शब्दसे कहा जाता है, बुद्धिमान्‌को भी वहाँ अनभिज्ञ माना जाता है, वैसे वेदेष्ट बुद्धिसे रहित, बुद्धिमती स्त्री भी निर्बुद्धि-लघुबुद्धि मानी जाती है। स्त्रीके चिन्ह होते हैं सिरके बाल, जैसे कि-नामिकमें स्वा. द. जीने 'स्तनकेशवती स्त्री स्यात्' (महाभाष्य ४।१।३) के अर्थमें लिखा है-'जिसके शिरके बाल बड़े हों, वह स्त्री' (पृ. ३) यह बात वेदानुकूल भी है-'बृहस्पतिः सूर्यायाः शीर्षे केशानकल्पयत्। तेनेमां नारीं पत्ये शोभयामसि' (ऋ. १४।१।५५)। सूर्या एक स्त्री थी। पुरुषका तो १६-२२-२४ वर्षमें (मनु

२।६५) केशान्त होता है; पर आप लोगोंके अनुसार यह लड़कीकी विवाहावस्था है। पूर्व मन्त्रके संकेतानुसार आप भी स्त्रीके केशोंको नहीं कटवाएंगे। 'विकेश्यः पुरुषे हते' (अ. ११।६।१४) वैधव्यमें ही स्त्रीका केशमुण्डन आया है, अन्यत्र नहीं। सिरमें केशोंकी अधिकता से आपकी भावनाके नायक स्वामीजी (स. प्र. १० पृ. १६२) उष्णता, और बुद्धि-मन्दता कहकर पुरुषोंको तो शिखा-सहित मुण्डन करानेका आदेश देते हैं, परन्तु स्त्रियोंके केश नहीं कटवाते।

तब वेदानुसार केशोंवाली स्त्रीकी बुद्धिकी मन्दता भी स्पष्ट होनेसे श्रीशाण्डिल्यजीके अनुसार मेधावीको वेद-विद्या देने वाले शाखामन्त्रने स्त्रीको भी उससे बहिष्कृत कर दिया। अब स्त्री अपनी वा आप लोगोंकी इच्छासे वह अधिकार नहीं ले सकती। श्रीशंकराचार्य स्वामीने ठीक ही लिखा है—'सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकार-कारणं भवति, शास्त्रीयेर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्य अपेक्षितत्वात्। शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्य अध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्' (ब्रह्मसू. १।३।३४)। अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है—'श्रेयान् स्वधर्मो विगुण: परधर्मात् स्वनुष्ठितात्' (गीता ३।३५) इति स्मरणात्, न्यायाच्च। यो हि यं प्रति विधीयते, स तस्य धर्मो, नतु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते, चोदनालक्षणत्वाद् धर्मस्य। न च रागादिवशात् प्रच्युतिः, नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वात्' (:।४।४०)।

(सामर्थ्य भी लौकिक-अधिकारका कारण नहीं हो सकती। शास्त्रीय अर्थमें शास्त्रीय-सामर्थ्य ही अपेक्षित होती है। शास्त्रीय-सामर्थ्य यहां नहीं है, क्योंकि अध्ययनके निषेध करनेसे शास्त्रीय-सामर्थ्य निषिद्ध हो गई है) (दूसरेके अच्छे धर्मसे भी अपना विगुण धर्म भी अच्छा है। जिसका जिसके प्रति विधान है, वही उसका धर्म है। वह उसका धर्म नहीं है, जो जिसको सुविधा-पूर्वक कर सकता है। क्योंकि धर्मका लक्षण चोदना (विधान) है। रागादिवश उसे हटाया नहीं जा सकता; क्योंकि—

नियम-शास्त्र बलवान् होता है।)

उक्त शाखामन्त्रमें 'असंयत' को वेदविद्या देनेका निषेध किया है, इसलिए वेदमें अधिकार भी ब्रह्मचारी-इन्द्रियोंके संयमकर्ताको माना गया है। इन्द्रियोंका संयम मनके शासन पर निर्भर है। मनका शासन गुरु-आदिके उपदेश पर निर्भर है, पर वेदने स्त्रीके मनको 'स्त्रिया अशास्यं मनः' (ऋ. ८।३३।१७) में अशासनीय–जिसका अनुवाद 'न समाधिः (चित्तस्थैर्यं) स्त्रीषु' (३६१) 'स्त्रीणां मनः क्षणिकम्' (४७९) इन चाणक्यके सूत्रोंमें किया गया है—माना है; जिसके लिए वेदको स्वयम् अन्यत्र स्पष्ट करना पड़ा—'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता' (ऋ. १०।९५।१५) (स्त्रियोंका सख्य नहीं हुआ करता; क्योंकि उनका हृदय भेड़ियोंके हृदयके समान होता है)। तब 'यस्तित्याज सखिविदं सखायं' (ऋ. १०।७१।६) वह सखा वेदसे सखित्वमें कैसे अधिकृत हो सकती है? वह सखा केवल 'सखा सप्तपदी भव' के अनुसार अपने पतिकी ही होगी, वेदादि अन्यकी नहीं। इसमें उक्त शाखा-मन्त्रसे स्त्री भी वेदविद्यामें अनधिकृत सिद्ध हो गई। अस्तु—

फलतः 'यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। तस्मै मा ब्रूयाः' इस मन्त्रमें पूर्व मन्त्रसे 'विप्र' की अनुवृत्ति आनेसे और इस मन्त्रमें 'मेधाविन' साक्षात् पढ़े होनेसे 'विप्र' शब्द 'मेधावी' अर्थमें नहीं, किन्तु 'ब्राह्मण' अर्थमें पर्यवसित हो जाता है। इस प्रकार 'अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्राः' इस तृतीय मन्त्रमें भी 'विप्राः' का अर्थ 'ब्राह्मण' ही है। बुद्धिमान् अर्थ तो संगत भी नहीं हो सकता। जो बुद्धिमान् पढ़ाये गये हुए, गुरुका आदर नहीं करते, जैसे वे बुद्धिमान् गुरुकी कृपाके योग्य नहीं होते, वैसे उन बुद्धिमानों पर गुरुसे उपदिष्ट वेदवाक्य भी अनुग्रह नहीं करता' इस अर्थमें 'बुद्धिमान्' अर्थ स्पष्ट अनुचित है। वैसों को तो 'बुद्धिमान्' शब्दसे कहना ही अयोग्य होता। 'ब्राह्मणाः' इस अर्थमें तो असंगति नहीं। कुत्सित गुणों वाले जन्म-ब्राह्मण ही वहाँ अभिप्रेत हैं।

तब वेदकी उक्त शाखामें भी वेदमें ब्राह्मणका, उसके उपलक्षणसे द्विजका अधिकार कहनेसे शूद्रादिका वेदमें अनधिकार सिद्ध हो गया, क्योंकि-वेदाध्ययनकेलिए उपनयन अनिवार्य हुआ करता है। परन्तु शूद्रका उपनयन कहीं भी आदिष्ट नहीं, अतः उसे 'एकज' कहा जाता है 'द्विज' नहीं।

प्रकृत-स्थलमें जहां निरुक्तकारने उक्त चार मन्त्र प्रमाणरूपसे उपन्यस्त किये हैं, वहाँ स्वयं भी अध्येताका उपनीत होना सूचित किया है। जैसे कि-'नावैयाकरणाय नानुपसन्नाय' (२।३।६) यहाँ श्रीयास्कने 'अनुपसन्न' का पाठनाधिकार निषिद्ध किया है। 'अनुपसन्न' का अर्थ है अनुपेत—अनुपनीत। 'द्विजसे इतर' यह उसका आशय है। इसे निरुक्तकारने पुनरपि स्पष्ट किया है—'उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्' (२।३।८) यहाँ पर स्पष्ट ही उपसन्न-उपेत-उपनीतका अधिकार कण्ठसे कहा गया है। 'उपनीत' शब्दका ही पर्यायवाचक 'उपसन्न' और 'अनुपनीत' का 'अनुपसन्न' निरुक्तके प्रकृत-स्थलमें आया है। जैसे पारस्करगृ.में 'उपनीत' का पर्याय 'उपेताः' (३।२।१२) आया है, और 'अनुपनीताः' का 'अनुपेताः'। आपस्तम्बध.में 'उपनयन' का पर्याय 'उपायनम्' (१।१।६) तथा 'मानवगृह्यसूत्र' में भी (१।२२।१) आया है। इसी तरह 'उपेतः अनुपेतः' (आप.ध. २।६।७) तथा (खादिरगृ. ३।२।६) इस सूत्रमें 'उपेत-अनुपेत' शब्द 'उपनीत-अनुपनीत'-स्थानीय हैं।

इसी प्रकार निरुक्तक उक्त वचनमें भी 'अनुपसन्नाय, उपसन्नाय' शब्द 'उपनीताय, अनुपनीताय' अर्थको बताते हैं। 'उपसन्नाय' का 'पार्श्वे प्राप्ताय' और 'अनुपसन्नाय' का 'पार्श्वे अप्राप्ताय' यह अर्थ किया जावे, तो यह असाभिप्राय हो जाता ह। पासमें न पहुंचे हुए किसीको भी विद्या देना भी असम्भव है—तब ऐसे शब्दका कहना व्यर्थ ही है। तब यहाँ वैध 'उपसन्नता' उपनीत अर्थ वाली होने पर ही साभिप्राय बनती है। इससे अनुपनीतोंका वेदाधिकार हट जाता है। इसी कारण 'ब्रह्मचर्यो-

पपन्नम्' इस पूर्व कहे शाखामन्त्रके पदसे भी 'अशूद्र' शूद्रव्यतिरिक्तका ग्रहण है, क्योंकि शूदका वैध-ब्रह्मचर्याश्रम नहीं होता। उपनयन ही ब्रह्मचर्याश्रमका आरम्भक होता है, शूद्रको तो उसका अभाव ही होता है। 'शुचि' शब्दसे भी शूद्रकी व्यावृत्ति हो जाती है। मेध्यस्थानसे उत्पत्ति न होनेसे मुख आदिसे उत्पन्न ब्राह्मणादि-कोटिक शुचिता उसमें नहीं, किन्तु अमेध्यस्थान पाद-प्रदेशसे उत्पन्न होनेसे वह अशुचि है, अतः विद्यासे व्यावृत्त है।

वैधब्रह्मचर्याश्रमधारी, शुचि, उपनीत, शास्त्रीय-आचारोंमें अप्रमत्त मेधोपजीवी आदिम तीन वर्ण ही उक्त-शाखानुगृहीत हैं, अन्य शास्त्रोंसे स्वीकृत हैं; शूद्र-अन्त्यज नहीं। तब श्रीशाण्डिल्यजीका निरुक्तस्थ वेदशाखाके उक्त-प्रमाणोंसे मानवमात्रको वेदाधिकार देना सिद्ध न हो सका। उनके दिये उक्त मन्त्रोंमें **'मानवाय'** यह **विशेष्य नहीं दीख** रहा, किन्तु **'विप्राय'**(ब्राह्मणाय) ही **विशेष्य** दीख रहा है। उक्त मन्त्रोंके अनुवादक श्रीमनुको भी यहां 'विप्र' से 'ब्राह्मण' ही इष्ट है—यह सिद्ध किया ही जा चुका है।

इसमें साक्षी 'वेदमाता...पावमानी द्विजानाम्' (अ० १९।७१।१) मन्त्र है, इसका अर्थ 'स्त्रियोंका वेदाध्ययन' (१४३ पृष्ठ)में वा[illegible] 'इस मन्त्रमें वेदमाताको द्विजोंको पवित्र करने वाला कहा है' यह लि[illegible] है। यदि एकज-शूद्रादि सभीको भी वेदमाता पवित्र करनेवाली होती, तो यहां 'वेदमाता पावनानी जनानाम्' होता, अब 'द्विजानां' कहकर फि[illegible] शूद्रोंको इनसे उपनयन-वेदादिका अधिकार देना व्याघातको निमन्त्रण देना है।

जोकि पं.जीने अपने 'धर्मशास्त्र'में लिखा है कि-प्रभुकी वाणी [illegible] तो स्पष्ट ही 'जनेभ्यः (यजुः २६।२) कहा है' यह उनकी अपनी [illegible] है। पहले उन्होंने इसे **'ऋषिकी उक्ति'** माना है, अब उसे 'प्रभुकी वाणी' कह दिया। इसलिए ही तो पुरुषकी विद्या अनित्य मानी गई है। [illegible] प्राचीन-पुजारी उसके अन्तस्तलके अनुसार चलना चाहते थे, उसका [illegible]

नहीं बदलते थे, पर आजकलके उसके छली पुजारी उस प्रभुको अपनी इच्छानुसार चलाना चाहते हैं। 'जनेभ्यः' वाले मन्त्रमें 'वेदवाचं' शब्द नहीं, और 'वेदमाता' वाले शब्दमें 'जनानाम्' नहीं, किन्तु 'द्विजानाम्' है, इसीसे उस प्रभुका अभिप्राय स्पष्ट हो रहा है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' न्याय हमारे ही किये अर्थमें समन्वित होता है—श्रीशाण्डिल्यजीके पक्षमें नहीं।

पं.जी शाखाको वेद नहीं मानते, पर माध्यन्दिन-सहिताको यजुर्वेद मानते हैं, उसमें पं.जीके अनुसार 'जनेभ्यः' आया है, उसमें उन पुरुषोंके लिए कोई बन्धन नहीं रखा कि—असूयक, अनृजु आदि न हो, पर शाखा-मन्त्रमें रखा गया है, तब पं.जी के अनुसार यह शाखामन्त्र विशेष-व्यक्तियोंको वेदाधिकार देनेवाला बना। शूद्र-अन्त्यज आदि तो उक्त मन्त्र से निरस्त हो ही जाएंगे, क्योंकि—उनमें यह गुण-कर्म सम्भव नहीं, बल्कि उक्त गुण कर्मवाले व्यक्ति ब्राह्मणादिमें भी बहुत ही न्यून मिलेंगे, तब तो शाखा-मन्त्र भी सीमितोंको वेदाधिकारप्रद सिद्ध हुआ—मानवमात्रको नहीं। तब भी पं.जीका पक्ष इसीसे निरस्त हो गया। पं.जीके माने आदिम-चार ऋषियों(?) को वेद देना—इसीका प्रमाण है। इसमें न कोई स्त्री थी, न शूद्र-अन्त्यज; बल्कि क्षत्रिय-वैश्य भी नहीं थे, किन्तु स्वामीजी के अनुसार पुण्य-गुणकर्मा चार ब्राह्मण ही थे, उनको भी केवल एक-एक वेदका उपदेश दिया गया। प्रभुके व्यवहारसे विरुद्ध यदि पं.जी व्यवहार करना चाहते हैं, तो वह प्रभुके पुजारी न माने जाकर आर्यसमाजके पुजारी माने जाएगे।

'शं नः, तन्नः' आदि वैदिक-पदोंसे भी पं.जीके अनुसार मानवमात्रको वेदाधिकार सिद्ध नहीं, जब तक पं.जीके अनुसार इन शब्दोके कहनेवाले ऋषियोंको पं.जी शूद्र-अन्त्यज सिद्ध न कर दें, तब तक शूद्र-अन्त्यजको वेदाधिकार त्रिकालमें भी नहीं दे सकते। यदि इनके वक्ता ऋषि द्विज हैं, तो इन 'शन्नः, तन्नः' पदोंसे भी वेदाधिकार द्विजोंको रहेगा, मानवमात्रको नहीं। द्विजोंको वह सुख सीधा वेदवाणीसे

मिलेगा, अवशिष्टोंको वह सुख उन द्विजोंकी वेदभाष्यभूत अपनी वाणीसे मिलेगा। शाण्डिल्यजीका यह पक्ष आलोचित हो गया।

(ख) 'इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती। विहिता ब्रह्मणा पूर्वं' इस महाभारतके पद्यसे भी वेदवाणीका चारों वर्णोंकेलिए प्रकट होना सिद्ध नहीं, क्योंकि—महाभारत वेदमें शूद्रोंका अधिकार निषिद्ध करता है—यह हम 'यथेमां वाचं' निबन्धमें बता चुके हैं। उद्योगपर्व (२६।२६) पद्यका अर्थ श्रीसातवलेकरने लिखा है—'शूद्रको वेद पढ़ने और यज्ञ करने का अधिकार नहीं है; और इसे प्राचीन धर्म कहा गया है।' तब पं.जीसे दिये हुए महाभारतके पद्यका भी तत्सम्मत अर्थ नहीं। उक्त पद्यमें 'ब्राह्मी' का अर्थ 'वेदवाणी' नहीं।

सभी जानते हैं कि—ब्राह्मी संस्कृत-भाषाको कहते हैं, देखिये अमरकोष 'ब्राह्मी' (१।६।१) ब्रह्मण इयमिति ब्राह्मी। इसका अर्थ यह है कि—ब्रह्मा ने पूर्वकालमें चारों वर्णोंके बोलनेकेलिए संस्कृत-वाणी बनाई थी, परन्तु वे धन आदि कमानेके लोभमें पड़कर उससे अनभिज्ञ हो गये। यहां पर 'सरस्वती'का अर्थ 'भाषा' है। इसलिए अमरकोषमें 'ब्राह्मी भारती, भाषा, गीर्, वाक्, वाणी, सरस्वती' (१।६।१) ये पर्यायवाचक पढ़े गये हैं। 'निघण्टु' (१।११) में भी ऐसा ही है।

'ब्राह्मी' यहां 'वेदवाणी' तो हो नहीं सकती, क्योंकि वहां लिखा है—'येषां ब्राह्मी सरस्वती विहिता ब्रह्मणा' अर्थात् ब्रह्माने चारों वर्णोंकी बोलचालकी भाषा अपने नामसे ब्राह्मी (संस्कृत) बनाई। 'विहिता' का अर्थ 'बनाई गई' है, पर वेदवाणी बनाई नहीं जाती, अन्यथा कृतक हो जानेसे वह अनित्य हो जावे, पर यह अनिष्ट है। ब्रह्माने भी वेदवाणीको पढ़ा था, प्राप्त किया था, बनाया नहीं था। यहां 'विहिता' का अर्थ 'बनाई हुई' होनेसे यह स्पष्ट है कि—ब्रह्माने चारों वर्णोंके बोलनेकेलिए सस्कृत-भाषा बनाई, पर वे लोभमें रहकर उसे भुला बैठे। तब यहां 'वेदवाणी' अर्थ नहीं। श्रीशाण्डिल्यजीसे अनुवादकेलिए प्रयुक्त किये हुए

'विहिता' का अर्थ 'निर्मिता' ही होना है 'प्रकटीकृता' नहीं।

ब्रह्मदेवसे बनाई होनेसे संस्कृत-भाषाको 'देववाणी' कहा जाता है, 'ब्राह्मी' भी। बल्कि-इस सम्पूर्ण जगत्‌को भी ब्रह्मासे बनाया होनेसे 'ब्राह्म' कहा जाता है। जैसे कि-'सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्, ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि' (शान्तिपर्व १८८।१०) वेदवाणी तो कोई **बोलचालकी भाषा नहीं।** इस कारण पाणिनि, यास्क आदिने इसे मन्त्र (मन्त्रि गुप्त-भाषणे) छन्द (छादनात्) अध्याय वा स्वाध्याय (पाठ) कहा है, उसे भाषा नहीं कहा, पर **लौकिक संस्कृत वाणीको** दोनोंने 'भाषा' कहा है। 'भाषा भाषणात्।' पर छान्दस-प्रयोगोंका लोक-भाषामें अपवादोंको छोड़कर साधारणरूपसे प्रयोग नहीं होता, यह बात वादिप्रतिवादि-सम्मत है, अन्यथा फिर वेद भी लोक-भाषाके एवं मनुष्य-प्रणीत मानने पड़ेंगे।

इससे स्पष्ट है कि-उक्त महाभारतीय पद्यमें चारों वर्णोंका अपनी संस्कृतभाषाको बोलना छोड़ देना बताया है, वेदकी यहाँ कोई बात नहीं। वेद छोड़ा होता; तो चारों वर्णोंने बराबर छोड़ा होता; क्योंकि उक्त पद्यमें चारों वर्णोंका इकट्ठा नाम है, पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंने तो उसे छोड़ा नहीं। शास्त्रोंने भी उन्हींका वेदका अधिकार बताया है। वे ही अब भी स्वय उसमें अपना अधिकार बताते वा मानते हैं, पर शूद्र न तो उसमें अपना अधिकार ही बताता है, न कोई प्राचीन-शास्त्र ही उसे उसका अधिकार देता है।

अतः 'महाभारत' से विरुद्ध अर्थ लेनेके कारण श्रीप.जीका अर्थ तथा उससे उनका पक्ष सिद्ध न हो सका। 'शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते' (मनु. २।१७२) 'योऽनधीत्य द्विजो वेदम्...स जीवन्नेव शूद्रत्व' (२।१३८) इन पद्योंसे ही शूद्रका वेदमें अनधिकार सृष्टिकी आदिसे ही सिद्ध हो रहा है, क्योंकि—मनुस्मृति सृष्टिकी आदिमें बनाई गई है। यह पं.जीसे सम्भावित स्वा.द.जी तथा श्रीयास्क आदि भी बताते हैं।

---

(१९) कई अन्य प्रश्न।

(१९) पूर्वपक्ष—(क) सनातनधर्मी-शास्त्रोंमें 'तर्पणं प्रत्यहं कार्यं भर्तुः कुशतिलोदकैः' इत्यादि पद्योंसे मृतपतिका श्राद्ध-तर्पणादि स्त्रीको करना कहा है। सो श्राद्धादिमें तो यज्ञोपवीतको वाएं-दाहने करना पड़ता है। तब यदि स्त्रीका उपनयनसूत्र नहीं, तो वह मृतक-श्राद्धादिकी अधिकारिणी कैसे हो सकती है? (श्रीइन्दु. आदि)

उत्तरपक्ष— यद्यपि मृतककर्म सपिण्डन-श्राद्धादिमें जनेऊको सव्यापसव्य करना पड़ता है; तथापि वह सामान्य-शास्त्र है। सामान्यशास्त्रके अपवाद भी हुआ करते हैं। मृतककर्म एक आवश्यक कृत्य है। उपनयनसे पूर्व यदि बालकका पिता मर जाय, तब उसका मृतक-श्राद्ध आदि तो अवश्य करना पड़ता है। उस दिन तो उसका अशौचादिके कारण उपवीत किया नहीं जा सकता। इस प्रकार शूद्रको भी अपने मृत-पिताका तर्पणादि करना पड़ता है, परन्तु उसका यज्ञोपवीतमें अधिकार ही नहीं। तब क्या यह लोग मृतकका तर्पणादि न करें?

इस त्रुटिकी पूर्त्यर्थ शास्त्रकारोंने मृतककृत्यके लिए अपवाद कहा है। जैसे कि-मनुस्मृतिमें—'नाऽभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनाद् ऋते। शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते' (२।१७२) इसका यह अर्थ सर्वसम्मत है-जब तक पुरुषका उपनयन नहीं होता, तब तक शूद्र-समान होनेसे **वेदमन्त्रका उच्चारण न करे**, परन्तु 'स्वधानिनयनाद् ऋते' अर्थात् मृतक-कर्म-श्राद्धतर्पणादिको छोड़ कर। इसका अर्थ आर्यसमाजी-श्रीतुलसीराम-स्वामीने किया है—'परन्तु मृतक-संस्कारमें वेद-मन्त्र का उच्चारण वर्जित नहीं'।

'स्मृतिचन्द्रिकाके संस्कारकाण्ड अनुपनीतधर्मके प्रकरणमें भी उक्त मनुपद्यके अर्थविस्तर पर कहा है—'स्वधानिनयनं-प्रेतकर्म। तत्र अनुपनीतस्यापि मन्त्राध्ययनं न विरुद्धम्-इत्यर्थः'। 'वीरमित्रोदय' के अनुपनीत-धर्ममें भी ३२९ पृष्ठमें कहा है—'ब्रह्म-वेदः, तमनुपेतो (अनुपनीतो)

नोच्चारयेत्। तस्य अपवाद:-स्वधानिनयनं-पितृ [मृतक] कर्म, तस्माद् विना। तथाच वसिष्ठ:-'अथाप्युदाहरन्ति-'नह्यस्य विद्यते कर्म किञ्चिद् आमौञ्जिबन्धनात्, अन्यत्र उदककर्मस्वधापितृसंयुक्तेभ्य:'। यहाँ भी वही बात बताई गई है।

सुमन्तुने भी कहा है-'अनुपेतो (अनुपनीतो) ऽपि कुर्वीत मन्त्रवत् पैतृमेधिकम्'। उक्त मनुपद्यके भाष्यमें मेधातिथिने भी लिखा है—'अनुपनीतेन उदकदान-नवश्राद्धादि पितु: कर्तव्यम् इति अस्मादेव प्रतीयते'। यहीं राघवानन्द लिखते हैं-'तेन अनुपनीतस्यापि पितुरौर्ध्वदेहिके अस्त्यधिकार:'। यहीं रामचन्द्रने लिखा है-'अकृतोपनयनस्य द्विजस्य पित्रोर्मरणं भवेत् चेत्; तर्हि स्वधोच्चारणं कर्तव्यं; प्रेतकर्म करणीयम्'।

इससे तात्पर्य यह निकला कि-अन्य कार्यमें तो वेदमन्त्रको यज्ञोपवीतके विना न पढ़े; परन्तु मृतक-कृत्य श्राद्धतर्पण आदि अन्त्येष्टि-सम्बद्ध कर्मोंमें, विना भी यज्ञोपवीत, मन्त्र पढ़ा जा सकता है। इस अपवादसे उपनयन से पूर्व मृतपितृक-माणवक और उपनयनके अनधिकारी स्त्री-शूद्र आदि भी मृतकका तर्पणादि कर सकते हैं। इस प्रकार वादीका प्रश्न दत्तोत्तर हो गया।

शेष रहा तर्पणादिके समय जनेऊको दाएं-बाएं करना—यह प्रश्नांश, सो गोभिलगृ. में वस्त्रको बाएं-दाहिने कन्धे पर रखने पर भी उपवीती, प्राचीनावीती माना जाता है-यह हम 'प्रावृतां यज्ञोपवतिनीम्' निबन्धमें लिख चुके हैं, सो वही वस्त्र स्त्री-शूद्रके लिए होता है, जैसेकि—१।२।१ गोभिलसूत्रकी टिप्पणीमें म.म. मुकुन्दशर्माने लिखा है 'अत्र वाससा यज्ञोपवीतार्थ: स्त्रीशूद्राणां कृते देवपितृ-कर्मणोरुपपद्यते'। २।१।१९ सूत्रकी टिप्पणीमें भी कहा है-'यज्ञोपवीतपदं च उत्तरीयेपि स्त्रीशूद्राणां प्रयुज्यते विन्यासविशेषलाभार्थमित्युक्तमधस्तात्-इत्येवं चन्द्रकान्तभाष्ये सिद्धान्तितम्'। सो वह स्त्री अपने उत्तरीय वा उपवस्त्रको दाहिने-बाएं कन्धे पर घुमा कर मृतकपतितर्पण कर सकती है। इससे स्त्रीका यज्ञोपवीत सिद्ध

नहीं हो सकता।

(ख) पूर्वपक्ष-'उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्' (मनु. ३।४) यहाँ द्विजको सवर्णा स्त्रीसे विवाहकी आज्ञा है, द्विजकी सवर्णा स्त्री भी द्विजा ही हो सकती है, एकजा नहीं। वह अनुपनीता होने पर एकजा होनेसे शूद्रा रहेगी। इस पद्यसे भी स्त्रीका उपनयन सिद्ध हो रहा है। (श्रीइन्दु. तथा एक सिद्धान्तालंकार सार्वदेशिकमें)

उत्तरपक्ष —यह शंका व्यर्थ है। जब मनु 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' 'वैवाहिको विधि: स्त्रीणां' इत्यादिसे स्पष्ट ही स्त्रीका उपनयन निषिद्ध कर चुके हैं—यह हम पूर्व [१६ उत्तरपक्षमें] स्पष्ट कर चुके हैं; तब मनुके इस वाक्यसे उनकी अनिष्ट बात निकालना अनुचित है। वास्तवमें उक्त मनुपद्यका सरलार्थ यही है कि-द्विज सवर्णा-स्त्रीसे विवाह करे। 'सवर्णा' का अर्थ यह है कि-अपने समान वर्ण वाली। सो 'द्विज' यह वर्णका नाम तो है नहीं, किन्तु ब्राह्मण आदि ही वर्णका नाम है। तो जिस द्विजका जो वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि है, वह स्त्री भी उसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णोत्पन्नको ही ले। तब इससे वादीकी कोई भी पक्षसिद्धि नहीं।

उपनयनके अभाव वाला ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही माना जाता है। जैसे कि-न्यायदर्शनके वात्स्यायन-भाष्यमें 'व्रात्योपि ब्राह्मण:' [१।२।१३]। मनुस्मृतिके १०।२१-२२-२३ पद्योंमें व्रात्य [उपनयनाभाववान्] को भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहा है, व्रात्य शूद्रका मनुमें नाम ही नहीं। इस प्रकार स्त्रीके विषयमें जान लेना चाहिए।

यदि स्त्रीको उपनयनरहित होनेसे शूद्रा माना जावे, तो क्या संन्यासी भी उपनयन-रहित होनेसे शूद्र माना जावेगा? क्या उपनयनसे पूर्व माणवक भी शूद्र हो जावेगा? तब वह उपनयनमें ही अधिकृत कैसे हो सकेगा; क्योंकि-शूद्रको तो उपनयनका अधिकार नहीं होता, इस कारण यह शंका भी तुच्छ है। स्त्री एकजा होने पर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण वाली

रह ही जाती है। फिर उपनयन-स्थानापन्न विवाह होने पर द्विज-जैसी हो जाती है।

(ग) पूर्वपक्ष—'शूद्रसमैव ब्राह्मणादीनामपि स्त्री उपनयनरहिता' यह सायणसे प्राचीन आत्मानन्दके 'अस्यवामीय' भाष्यमें लिखा है-तब उससे ब्राह्मण आदिका विवाह निषिद्ध होगा; उससे वे संगम कैसे कर सकते हैं; उससे भोजनादि-व्यवहार कैसे कर सकते हैं? (श्रीमहा. शंकर)।

उत्तरपक्ष—विवाह तो ब्राह्मणका शूद्रा आदिके साथ भी स्मृतियोंमें अभ्यनुज्ञात है, शूद्रसमा ब्राह्मणीका भला कैसे निषेध होगा? संगम तो शूद्राके साथ भी निरुक्तमें अभ्यनुज्ञात किया है—'रामा रमणाय उपेयते, न धर्माय कृष्ण (शूद्र) जातीया' (१२।१३।२)। 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि' (२।२३८) मनुने ही कहा है। वस्तुत: 'सम' शब्द उपमा-वाचक होता है। उपमा सर्वधर्मकी तुल्यतामें नहीं होती, किन्तु किञ्चित्-साधर्म्यमें भी हो जाती है। जैसे कि—न्यायदर्शनमें 'सिद्धं च किञ्चित्साधर्म्याद् उपमानम्' (५।१।५) अर्थात् उपमामें किञ्चित्-सादृश्य होता है, सर्वसारूप्य नहीं। नहीं तो 'चन्द्रवन्मुखम्' में क्या स्त्रीका मुख चन्द्रमा-जितना ही बड़ा वा वैसा मान लिया जायगा? नहीं। इसलिए प्रसिद्ध है कि—दृष्टान्तमें विवक्षित एकदेश ही लिया जाता है-सर्वसारूप्य नहीं।

'इसलिए ३।२।२० ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें स्वा. शंकराचार्यने लिखा है—'नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो: किञ्चित् क्वचिद् विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्व-सारूप्यं केनचिद् दर्शयितुं शक्यम्। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक-भावोच्छेद एव स्यात्'। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें कहीं कुछ विवक्षित-अंशको छोड़कर कोई सर्व-सारूप्य नहीं दिखला सकता। सर्व-सारूप्य हो जानेपर तो दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक-भावका ही उच्छेद हो जावेगा। फलत: स्त्री वेद-उपनयनके अनधिकारमात्रमें शूद्रके समान है, वस्तुत: वह शूद्र नहीं, अन्यथा उससे उत्पन्न सन्तान संकर हो, तब संकरके विरोधी शास्त्रकार भला ऐसी अभ्यनुज्ञा कैसे देते? आत्मानन्दने भी स्त्रीको शूद्र नहीं कहा,

केवल यह कहा है कि—ब्राह्मणादि-स्त्रीका भी शूद्रके समान उपनयन नहीं होता—इससे वादीकी कोई इष्ट-सिद्धि नहीं। वर्णव्यवस्था जन्मसे होनेके कारण ब्राह्मणादिकी लडकी भी ब्राह्मणादि ही होती है, फिर उपनयन-स्थानीय विवाह हो जानेसे वह द्विज-जैसी हो जाती है। इससे वादिप्रदत्त कोई भी दोष नहीं रहता।

पूर्वपक्ष—(घ) 'ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: शूद्रा ये शुचयोऽमला:। तेषां मन्त्रा: प्रदेया वै नतु संकीर्णधर्मणाम्' (भविष्यपुराण उत्तरपर्व १३। ६२) यहाँपर शूद्रकुलोत्पन्न भी जो शुद्ध और पवित्र हैं, उन्हें मन्त्रोंका उपदेश करना कहा है। (श्रीरवि. 'हिन्दु' पत्रमें, वादी 'स्त्रियोंका वेदाध्ययन' पृ. २०८ में)।

उत्तरपक्ष—मन्त्र वेदसे भिन्न भी हुआ करते हैं। स्वा.द.जीने सानुगाय यमाय नम:, सानुगाय वरुणाय नम:' भद्रकाल्यै नम:, आदि लौकिक वाक्योंको भी अपनी तीनों प्रसिद्ध पुस्तकोंमें 'मन्त्र' माना है। तब शूद्रोंके विषयमें भी ऐसे ही 'नम:' अन्त वाले वेद-भिन्न 'मन्त्र' जान लेने चाहिएं। इससे न हमारे पक्षकी कुछ हानि है, न वादीके पक्षको कुछ लाभ। वादी लोग जो भी प्रमाण देते हैं, उसमें पूर्वोत्तर-प्रकरण छूटा हुआ होता है। पूर्वोत्तर-प्रकरण देखनेसे वही प्रमाण वादीके विरुद्ध हो जाता है। यहाँ भी यही बात है। इससे आगेके जो मन्त्र लिये हैं; वे पुराणप्रोक्त ही हैं, वेदके नहीं। वेदके ही मन्त्र शूद्रादिको निषिद्ध हैं; पुराण वा तन्त्रके नहीं। अब देखिये वे मन्त्र। वहां लिखा है—'मृद्गोमयं च संगृह्य मन्त्रैरेभिर्विचक्षण:। अहं तु ते प्रदिश्यामि मन्त्राणां विधि-मुत्तमम्। येषां देयो न देयो वा तान् शृणुष्व वदामि ते' (१३।६०-६१)। यह कह कर आगे वादीसे उद्धृत पद्य दिया है—'ब्राह्मणा: क्षत्रिया' इत्यादि। आगे मृत्तिकाका मन्त्र यह लिखा है—'त्वं मृदे! वन्दिता देवैर्विमलैर्दैत्यघातिभि:। मयापि वन्दिता भक्त्या मामतो विमलं कुरु'

(१३।६६) वादिगण भी इस मन्त्रमें मृत्तिकाकी पूजा कर मूर्तिपूजाको अपनावें। अब स्नानका मन्त्र देखिये-'गङ्गा-सागरजं तोयं पौष्करं नार्मदं तथा। यामुनं सान्निहत्यं [कुरुक्षेत्रस्थं] च सन्निधानमिहास्तु मे' (१३। ७०)।

आगे 'नवो नवोसि मासान्ते जायमानः पुनः पुनः। त्रिरग्निसमवेतो वै देवानाप्यायसे हविः' यह चन्द्र-मन्त्र है। 'त्वत्तले भोक्तुकामोऽहं देवि! सर्वरसोद्भवे! मदनुग्रहाय सुस्वादं कुर्वन्नममृतोपमम्' (१३।६१) यह पृथिवी-मन्त्र है। अब वादी कहे कि-क्या यह वेदमन्त्र हैं? नहीं-यह पौराणिकमन्त्र हैं। पौराणिक मन्त्रोंका भी संकर-अन्त्यजोंको देना निषिद्ध है, जैसे कि वादीसे उद्धृत पद्यमें ही कहा है—'नतु संकीर्णधर्मिणाम्' (१३।६२) प्रत्युत शूद्र भो शुचि और पवित्र हों। तब पूर्वपक्षीका पक्ष कट गया।

(ङ) पूर्वपक्ष—स्त्रीका विवाह तो क्यों **वेदमन्त्रोंसे करना** बताया और अन्य संस्कार क्यों **मन्त्ररहित** विधान किये; इसका उत्तर 'तेरी चुप मेरी चुप' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। गृह्यसूत्रोंमें विवाहमें कन्याके उच्चारण करनेके अनेक मन्त्र लिखे हैं-इससे विवाहमें तो अमन्त्रक बनानेमें आधुनिक स्मृतिकारकोंकी दाल नहीं गली, परन्तु गर्भाधानादिमें स्त्रीके उच्चारणके स्पष्ट मन्त्र नहीं हैं; अतएव उनको अमन्त्रक लिख मारा। यदि आप पारस्करादि-गृह्यसूत्रोंको देखेंगे; तो उनमें कन्याके भी समस्त-संस्कार समन्त्रक ही पायेंगे।' (श्रीतर्करत्नजी 'अछूतोद्धार-निर्णय' में पृ. ४८)।

उत्तरपक्ष—यह कथन प्रत्यक्षका अपलाप है। पारस्करादि समस्त गृह्यसूत्रोंमें कन्याओंके विवाहातिरिक्त **समस्त-संस्कारोंमें** 'तूष्णीम्' 'आवृतः' 'अमन्त्रम्' इत्यादि शब्दोंसे अमन्त्रक क्रियाएं लिखी हैं। 'आवृतः' का अर्थ आश्वलायनादि-गृह्यसूत्रोंमें **'अमन्त्रकाः'** इस अर्थको रखता है-इस पर गार्ग्यनारायण तथा श्रीहरदत्त, सुदर्शनाचार्य आदियोंकी टीका देखी

जा सकती है। 'आवृतः प्राजापत्यः' (कौशिकगृह्यसूत्र १०।७६।३३) यहां आर्यसमाजी ठाकुर-उदयनारायणसिंहने भी-'बिना मन्त्रके' यह अर्थ किया है। **उपनयनमें** 'आवृतः' न आनेसे और गत संस्कारोंसे **कुमारकी-अनुवृत्ति आ रही होनेसे वह कन्याओंका अमन्त्रक भी नहीं होता।**

पारस्कर-गृह्यसूत्र तो कहता ही लड़कोंके संस्कार है-लड़कियोंके नहीं। यह हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है। आश्वलायनकी श्रीकुमारिलभट्टकृत 'गृह्यकारिका' (१।८।६, १।११।३, १।१२।२४, २।१८।५) में भी कुमारियोंके चूडाकरणान्त संस्कार **अमन्त्रक** ही कहे हैं। इस प्रकार वीरमित्रोदयमें भी। शेष है स्त्रीके विवाहकी समन्त्रकता क्यों, इसमें वादीकी चुप्पी भले हो; पर हमारी चुप्पी उसमें नहीं हो सकती। इसका उत्तर यह है स्त्रीका विवाह **उपनयनस्थानीय** है, साक्षात् उपनयन नहीं, यह हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं। तब **कई मन्त्र** कन्याके उच्चारणीय हो जाते हैं, जो **दो-तीनसे अधिक नहीं**। शेष मन्त्र सभी वरके ही उच्चारणीय हैं।

अब रहा यह कहना कि-**वेदमन्त्रोंके अर्थसे** स्पष्ट होता है कि-यह **कन्याके उच्चारणीय** मन्त्र हैं-यह भी व्यर्थ है-'पिप्पल्यः समवदन्त' (अथर्व. ६।१०६।२) यहाँ अचेतन ओषधिका उत्तम पुरुषमें बोलना भी कहा है, तो क्या इस मन्त्रका उच्चारण भी ओषधिसे कराया जायगा? कई **शिशुओंके** भी मन्त्र कहे हैं, 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम' (कर्णवेधमें) आदि, तो क्या वे **कई मासके** वा ५-६ वर्षके बच्चेसे बुलवाए जाएंगे? नहीं; किन्तु उनके संरक्षक पितासे। उसी नीतिसे स्त्री-संरक्षक **वर ही** उन दो-तीन मन्त्रोंका जपन भी कर देता है, जैसे कि-गृह्यासंग्रहमें कहा है-'विवाहे यो विधिः प्रोक्तो मन्त्रा दाम्पत्य-वाचकाः। **वरस्तु तान् जपेत् सर्वान्'** (२।२४) इससे उन स्त्रियोंका सर्वत्र वेदमन्त्राधिकार सिद्ध नहीं **हो** जाता।

पूर्वपक्ष (च) 'कुलायिनी घृतवती' (यजु. १०।१४)। 'पृथिव्याः

पुरीषमसि तां त्वा' (१४।४)। इस मन्त्रसे स्त्रीका वेदाधिकार प्रतीत हो रहा है'। (सार्वदेशिक)

(उत्तर) वादी लोग जहां स्त्रीलिङ्ग देखते हैं; चाहे वहाँ मानुषी स्त्रीका वर्णन न भी हो, किसी देवताका हो, गायका हो; इष्टकाका हो; तब भी वे वहाँ मानुषी-स्त्रीका अर्थ बलात् ठूंस देते हैं। जलोंका वर्णन हो; तो उसका पर्यायवाचक 'अप्' स्त्रीलिङ्ग होता है, गायका वर्णन हो; तो वह भी स्त्रीलिङ्ग। इस प्रकार इष्टका भी स्त्रीलिङ्ग। बस वादी वहाँ मानुषी स्त्रीका बलात् अर्थ करने बैठ जाते हैं। यह है वादियोंका श्रुतिसे बलात्कार। 'कुलायिनी, घृतवती' मन्त्रका 'इष्टका' देवता है। सो वहाँ इष्टकाका अर्थ होगा, मानुषी स्त्रीका नहीं।

आक्षेप (४६)—पौराणिक तथा वाममार्गी उव्वट-महीधरादि भाष्यकारोंने इन मन्त्रोंकी इष्टकोपरक व्याख्याका उपहासजनक प्रयत्न किया है; जो 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' के विरुद्ध तथा सारहीन होनेके कारण अमान्य है।' ('सार्वदेशिक')

परिहार—आप लोगोंके विषयमें यह लोकोक्ति ठीक घटती दीखती है—'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते'। चूंकि आप लोगोंको इस विषयमें कुछ ज्ञान नहीं है; अतः आप व्यर्थकी निन्दा करते हैं। यह बात सर्वमान्य है कि—वेदका विषय यज्ञ है, इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ. १४२-१४६) देखिये—। विशेष करके यजुर्वेदका विषय तो यज्ञ है ही। इसलिए इसे अध्वर्यु-वेद कहते हैं। उसमें यज्ञवेदिमें इष्टकाओंका वर्णन वेदमें स्वाभाविक है। वादीको यदि यह ज्ञात न हो; तो वह मुख्य वेदाङ्ग व्याकरणका अध्ययन करे। उसमें यह सूत्र स्मर्तव्य है—'तद्वान् आसामुपधानो मन्त्र इति इष्टकासु लुक् च मतोः' (४।४।१२५) इस पाणिनिसूत्रमें 'आसां' इस स्त्रीलिङ्गान्त शब्दसे 'इष्टकाएं' सूत्रमें 'इष्टकासु' इस पदसे साक्षात् गृहीत हैं ही। उक्त सूत्रका अर्थ यह है—

'मत्वन्तात्, प्रथमा-समर्थात् आसामिति षष्ठ्यर्थे यत् स्यात्। तत् प्रथमा-समर्थम् उपधानो मन्त्रश्चेद् भवति। यत्तद् आसामिति निर्दिष्टम्, इष्टकाश्चेत् ता भवन्ति। मतोश्च लुक्'। इसका उदाहरण है—'आश्विनीरुपदधाति'। पाणिनिका यह वैदिक-सूत्र है। इसके उदाहरण भी वेदके होते हैं। ब्राह्मणभागके भी वेद होनेसे यह उदाहरण भी उसीसे लिया गया है। 'आश्विनीरुपदधाति' यह शतपथब्राह्मण (८।२।१।११) से लिया गया है। यह हमारा प्राकरणिक सूत्र है।

इसका भाव यह है कि—जिस मन्त्रमें 'अश्विन्' शब्द हो; वह मन्त्र 'अश्विमान्' होता है। ऐसा कौन है? इसपर सुबोधिनी टीकाकार कहते हैं—'ध्रुवक्षितिरित्यादिकः'। देखिये यह 'ध्रुवक्षितिः' (यजुःमाध्यं. १४।१) मन्त्र वादीसे दिये हुए 'कुलायिनी घृतवती' से पहलेका है। वादीसे दिया हुआ मन्त्र १४।२ संख्याका है। यह १४।१ है। इसमें 'अश्विन्' शब्द भी है। टीकाकारने केवल 'ध्रुवक्षितिः' मन्त्र नहीं लिखा, किन्तु 'इत्यादिक' साथ लिखा है। तब इसका भाव यह हुआ कि—'ध्रुवक्षितिः' मन्त्रसे लेकर जिन-जिन मन्त्रोंमें 'अश्विन्' शब्द है, वे मन्त्र 'अश्विमान्' हैं। वे इष्टकाओं के उपधायक मन्त्र हैं।

अब देखिये वे मन्त्र। एक तो वादीसे ही उद्धृत है—'कुलायिनी घृतवती' (यजुः १४।२) इसमें भी अन्तमें 'अश्विनाध्वर्यू सादयताम् इह त्वा' है ही। तीसरा मन्त्र वादीने नहीं लिखा। उसमें भी 'अश्विन' शब्द है। ४र्थ मन्त्रका आदि-अन्तिम भाग वादीने छिपा लिया है। उसमें भी आश्विन्' शब्द है। पाँचवेंमें भी।

फिर अन्तिम सूत्र उसमें अष्टाध्यायीका है—'वयस्यासु मूर्ध्नो मतुप्' (४।४।१२७) इसमें भी वैसी अनुवृत्ति है। 'वयःशब्दवन्मन्त्रोपधेयासु इष्टकासु। यस्मिन् मन्त्रे मूर्धवयः-शब्दौ स्तः, तेन उपधेयासु इष्टकासु'। इसमें 'मूर्धन्-वयः' शब्द वाला मन्त्र है—'मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः' (१४

६) यह मन्त्र वादीसे उद्धृत मन्त्रसे पाँचवाँ है।

कहनेका भाव यह है कि-यह सब 'इष्टकाओंके उपधान मन्त्र हैं'। जब वेदके प्रधान अङ्ग व्याकरणके प्रणेता, वादिप्रतिवादिमान्य श्रीपाणिनि-ने वैदिकप्रक्रियाके अपने सूत्रोंमें यह स्पष्ट बताया है कि-उक्त मन्त्र इष्ट-काओंमें विनियुक्त हैं, और उसीके अनुकूल ब्राह्मणभाग तथा 'कात्यायन-श्रौतसूत्र' आदि आर्ष-ग्रन्थोंने उनका विनियोग बतलाया है; तब क्या इन मन्त्रोंको इष्टकापरक बतानेवाले पाणिनि तथा कात्यायन आदि वाम-मार्गी हैं? अपनी अनभिज्ञतापर दोष न देकर वादी उनको बुद्धिविरुद्ध तथा अमान्य बतलाते हैं-यह बहुत खेदकी बात है।

चूंकि स्वा.द.ने इन मन्त्रोंमें 'स्त्रीको उपदेश' माना है; अतः 'मुल्लाकी दौड मस्जिद तक' न्यायसे वादी भी कूपमण्डूक बने हुए समुद्रका अभाव मानते हैं; तथा उसकी निन्दा करते हैं। कृष्णयजुर्वेद (तै.सं.) में 'चितिवर्णनम्' में 'प्रथमचितौ अपस्याभिधान-इष्टकोपधानम्' लिखकर 'ध्रुवक्षितिः कुलायिनी वसुमती' आदि मन्त्रोंमें 'द्वितीयचितौ आश्विन्यादि इष्टकोपधानम्' यही हमारा कहा हुआ ही विषय माना है; तब इसमें वाममार्गीपन या बुद्धिविरुद्धता क्या हुई? वादीकी बुद्धि ही बहुत तङ्ग है, उसमें उससे अज्ञातविषय कैसे प्रविष्ट हो सके? खेद! उल्टा दोष वादा उवट-महीधर पर देता है, और उन्हें वाममार्गी कहता है! अपना अज्ञान इस विषयमें नहीं देखता। फलतः 'कुलायिनी घृतवती' का स्त्रीपरक अर्थ लगाना निर्मूल है। जो चाहो अर्थ करते जाओ। यही हाल विदेहजीका है। यही हाल स्वा.द.जीका है। उवट-महीधरादिके 'वाममार्ग'-विषयमें आक्षेपपर वादी 'आलोक' (५) पृ. ७७१-८०६ तथा 'आलोक' (६) पृ. ४०६-४१३ पर देखें। अस्तु! यजुर्वेदके भाष्यकी कसौटी स्वा.द.जी 'शतपथब्रा.' को मान गये हैं। सो उवट-महीधरने भी इष्टका वाले मन्त्रोंमें शतपथानुसार ही सब-कुछ लिखा है। शतपथमें-'एषोग्निः

सर्वं इष्टकायामिष्टकायां संस्कृतो भवति' (८।१।४।५) 'द्वे इष्टके भवतः' (८।२।१।१६) में इष्टकाका परिचय देकर 'तद् या एताः पञ्च आश्विन्यः' (८।२।१।१३) 'कुलायमिव वै द्वितीया चितिः' (८।२।१।५) इत्यादिमें जो कुछ शतपथब्रा.ने लिखा है; वही उवट-महीधरने लिखा है। साथ ही वे शतपथकी श्रुति भी लिखते गये हैं। पर वादी अब शतपथको क्यों मानेगा?

आगे वादी उक्त मन्त्रमें श्रीमहीधरका 'ऐश्वर्याय इमानि ब्रह्माणि-मन्त्रान् प्राप्नुहि, अस्मन्मन्त्रोपहितः सौभाग्याय भव' यह अर्थ लेता है। जब श्रीमहीधर 'इष्टका'केलिए उसे सम्बोधित करके उसको अभिमन्त्रित करनेकेलिए प्रयुक्त कर रहे हैं; तब वादी इसे स्त्रीकेलिए कैसे लगाता है? शेष आक्षेप वादीका यह हो सकता है कि-अचेतन इष्टकाको मन्त्रोंसे यह प्रार्थनाएं कैसे की जा सकती है? इसपर वादी याद रखें कि-वेदमें अचेतनोंको भी सम्बोधित किया जाता है; जिसमें अधिष्ठात्री देवताका तात्पर्य रहा करता है। यह न समझकर स्वा.द.ने अपनी निर्मूल कल्पनाएं करके उन्हें प्रथमान्ततामें परिवर्तित कर दिया है।

वादी स्वा.द.का 'घृतेन सीता मधुना' (१२।७०) इस मन्त्रका भाष्य देखे-जिसमें उनने अचेतन पटेलेकी मूर्तिपूजा की है। उस पर दूब या जल शहद या शक्कर आदि चढवाई हैं, उससे घी आदि मांगा है। क्या यह वादीकी बुद्धिके विरुद्ध नहीं। समावर्तनमें वादीने भी अपने स्नातक होनेके समय जूतेके जोड़ेसे रक्षाकी प्रार्थना की ही होगी कि-'प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम्'। छुरेको 'शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेस्तु' इस मन्त्रके अनुसार नमस्कार तथा प्रार्थना वादी लोग कराते ही होंगे। क्या यह सब उनकी बुद्धिसे विरुद्ध नहीं है?

वस्तुतः हमारे पक्षमें कोई दोष नहीं आता। क्योंकि वेद जड़ दीख रही घटादि वस्तुओंका जड़ नहीं समझता, किन्तु उनकी अधिष्ठात्री देवता मानकर सबको चेतन समझता है। इसमें 'अभिमानिव्यपदेशात्' वेदान्त-

दर्शनमें बहुत प्रसिद्ध है। इसमें वादीकी स्वामीजीके बहुत मान्य प्रसिद्ध वेदज्ञ, वेदाङ्ग व्याकरणके भाष्यकार श्रीपतञ्जलिमुनि तथा श्रीकात्यायन-मुनिके वार्तिकका प्रमाण भी देते हैं; अत: वादी अपने कान खोलकर सुने—

'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्। अथवा सर्वं × चेतनावत्। (सभी संसार की वस्तुओंमें चेतनता है) एवं ह्याह—कंसका: सर्पन्ति, शिरीषोऽयं स्वपिति, सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति। आस्कन्द कपिलक इत्युक्ते तृणमास्कन्दति। अयस्कान्तमय: संक्रामति। ऋषि: पठति-शृणोत ग्रावाण:'। (३।१।७) इसका तात्पर्य है कि-सभी जड-चेतन वस्तुएं परमार्थ-दृष्टिसे चेतन हैं। इसमें कई उदाहरण देकर अन्तमें भाष्यकारने कहा है—'ऋषि: पठति-

× जोकि-'दुष्कृत चरकाचार्यम्' निबन्धमें उसके प्रणेताने टिप्पणीमें लिखा है—'वस्तुत: अभिमानी देवताकी कल्पना अर्वाचीन आचार्यो-द्वारा ही सृष्ट हुई है। प्राचीन आचार्य 'अचेतनेषु चेतनावत्' अर्थात् अचेतनमें चेतनवत् व्यवहार औपचारिक [गौण] मानते थे। इसी नियमसे ही 'शृणोत ग्रावाण:' आदि वैदिक वाक्योंका सामञ्जस्य उपपन्न हो जाता है। उसके लिए अभिमानी-देवता की कल्पनाकी कोई आवश्यकता भी नहीं है।"

यह बात प्रतिपक्षीकी गलत है। यह वचन महाभाष्यस्थ वार्तिककेलिए प्रवृत्त प्रतीत होता है। यहाँ 'चेतनावत्' है, 'चेतनवत्' नहीं। और वहाँ 'मतुप्' प्रत्यय है 'वति' प्रत्यय नहीं। वहां 'मतुप्' के 'म' को 'व' हुआ-हुआ है। अत: वहाँ भाव यह है कि—सभी जड़-चेतन पदार्थ 'चेतनावत्' अर्थात् चेतना वाले हैं, चेतन हैं। उक्त वार्तिकमें 'चेतना' शब्द है 'चेतन' नहीं। सो वहां 'मतुप्' प्रत्यय होनेसे अभिमानी देवताकी सिद्धि स्वत: हो जाती है। जब ऐसा है; तो सभी पदार्थ चेतन सिद्ध हुए। तब जो कि ऋभाभू.में स्वा.द.जीने लिखा है—'जड़पदार्थेषु प्रथमपुरुष एव। चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च। अयं लौकिक-वैदिकशब्दयो: सार्वत्रिको नियम:।

'शृणोत ग्रावाण:' (अर्थात्—वेदने कहा है—'हे पत्थरो, सुनो'। इससे वेद-को जड दीख रहे हुए सभी पदार्थ चेतन इष्ट हैं। यह कृ.य. (तै.सं.) (१।३।१३।१) में तथा यही यजु:माध्यं.सं में लिखा है—'श्रोता ग्रावाण:'। (६।१६)।

इसपर श्रीकैयट लिखते हैं—'ऋषि:-वेद: सर्वभावानां चैतन्यं प्रतिपादयतीत्यर्थ:। वैचित्र्येण च पदार्थानामुपलम्भात् सर्वचेतन-धर्मप्रसङ्ग: सर्वत्र नोद्भावनीय:'। (वेद सब पदार्थोंको चेतन मानता है; परन्तु पदार्थोंके विचित्र धर्म होनेसे सबमें सब चेतनोंके धर्म नहीं मिल सकते।) इसपर श्रीनागेशभट्ट लिखते हैं—'चेतनेषु मनुष्येष्वपि नानाजातीय-व्यवहार-दर्शनादिति भाव:। सर्वत्र परिणाम-दर्शनेन चेतनाधिष्ठानं विना च तद-सम्भवात् सर्वस्य तदधिष्ठितत्वं ज्ञायते इति तात्पर्यम्' (चेतन मनुष्योंमें भी

परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगा: सन्ति। तत्रेदं बोध्यं यद्-जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्ष-करणमात्रमेव प्रयोजनम्' (शता.सं. पृ. ६९६) (जडपदार्थोंमें प्रथमपुरुष होता है, चेतनोंमें मध्यम तथा उत्तम पुरुष होते हैं; यह सार्वत्रिक-नियम है; पर वैदिक-व्यवहारमें जडोंमें भी मध्यम-पुरुषका प्रयोग उनका उपकारत्व बतलाता है; पर यह स्वामीजीका व्याजमात्र-बहानामात्र है। जड़ोंके गुण प्रथमपुरुषमें लिखनेसे भी ज्ञात हो सकते थे; पर वेदने जड़ोंको भी मध्यम पुरुष देकर यह सिद्ध किया है कि—ऊपरसे जड मालूम होते हुए भी सभी पदार्थ वस्तुत: चेतन ही हैं इसीलिए ही तो महाभाष्यकारने भी इनकी वास्तविक चेतनामें वेदकी साक्षी दी है कि—'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' ऋषि: पठति 'शृणोत ग्रावाण:'। नहीं तो प्रतिपक्षियोंको परमात्मामें कूटस्थतावश चलनभाषणादिक्रिया न होनेसे परमात्माको भी जड़ मानना पड़ेगा। और फिर परमात्मामें भी वेदमें मध्यम पुरुष उसके उपकारकत्वार्थ ही मानना पड़ेगा। उसे वास्तविक चेतन नहीं मानना पड़ेगा। अत: वादियोंका यह व्याजमात्र है, यह वस्तुतत्त्व नहीं।

नाना प्रकारके व्यवहार दीखते हैं।

सभी पदार्थोंमें परिणाम (परिवर्तन वा विकार) दीखता है, वह चेतन-अधिष्ठानके बिना असम्भव है; तब सभी पदार्थ चेतनाधिष्ठित होनेसे चेतन हैं)।

इससे अन्य स्पष्टता क्या हो सकती है। आजकलका विज्ञान भी सभी वस्तुओंको चेतन मानने लगा है। इस विषयमें हमने अन्यत्र 'आलोक' (५) पृ. १६७-१७२ में स्पष्टता की है। इष्टकासे भी प्रार्थना हो सकनेसे (देखिये उनका सम्बोधन शत. ७।४।२।२९, ७।४।२।१५, तै.ब्रा. ३।१०।३।१, तै.ब्रा. ३।१०।३।१, तै.आ. १०।१।८, इष्टकाचिति शत. १०।१।३।५) वादीसे दिये इष्टकाके मन्त्रमें सङ्गति लग जाती है। उसमें स्त्रियोंके वेदाध्ययनाधिकारका गन्धमात्र भी नहीं—यह सिद्ध हो गया।

(प्र.) 'कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात्, सायं प्रातर्होमौ' (गोभिल. १।३।१५) इसकी टीकामें लिखा है—'पत्नीमध्यापयेत्। कस्मात्? पत्नी जुहुयाद्-इति वचनात्। नहि खलु अनधीत्य शक्नोति पत्नी होतुमिति' यहां स्त्रियोंको वेदाधिकार तथा यज्ञाधिकार स्पष्ट हैं'।

(उ.) यदि वादी टीकाको भी प्रमाणित करते हैं, तब हमारे पास विद्यमान उक्त सूत्रकी टीकामें लिखा है—'स्वस्य असामर्थ्ये गृह्येऽग्नौ, सायं प्रातर्गृह्येऽग्नौ पत्नी [पत्यनुमता] जुहुयात्' यह भी वादियोंको मानना पड़ेगा। क्योंकि—'कामं' का यही तात्पर्य है। यहां पतिके असामर्थ्यमें वैसा कहा है, सर्वसाधारणतासे नहीं। और फिर उस-उस कृत्यकी सिद्धिकेलिए पहले विधिशास्त्र दिखलाना पड़ता है, पर वादी उसे कहींसे भी नहीं दिखलाते। इससे स्पष्ट है कि—यह अपवाद-वचन है। सो उतने मन्त्रों का पत्नी-द्वारा बोलना कहा है, सर्वसाधारणतासे नहीं। इससे वादियोंसे उद्धृत टीका भी 'पत्नी जुहुयाद् इति वचनात्' यह शब्द कहती है। वह औत्सर्गिक-नियमको नहीं बान्ध सकती।

महाभाष्यमें स्पष्ट लिखा है—'नैव ईश्वर आज्ञापयति, नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति, अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्ताम्' (सिद्धचोन्यात् सूत्रमें) (न ही यह कोई ईश्वरकी आज्ञा है; और न ही धर्मसूत्रकार कहीं कहते हैं कि—अपवादोंसे उत्सर्ग बान्ध लिए जावें—'प्रकल्प्य चापवाद-विषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते' (महाभाष्य ३।२।१२४) अपवाद-विषयको प्रकल्पित करके शेष स्थान उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र) ही बना रहता है। 'अपवाद किसी सिद्धान्त (उत्सर्ग) का खण्डन नहीं करता। वह उत्सर्गमें सङ्कोचमात्र कर सकता है। प्रत्येक औत्सर्गिक वचनका अपवाद होता है। सत्य बोलना उत्सर्ग है। पर किसीके प्राण बचानेकेलिए असत्य बोलना अपवाद है।

यदि अपवाद उत्सर्गका खण्डन कर दे; तब तो 'सत्यमेव जयते' यह उत्सर्ग (सिद्धान्त) कभी रह ही नहीं सकेगा। शास्त्रकारोंने अपवादको केवल इतना ही अवसर दिया है कि—वह विधिशास्त्र (उत्सर्ग) में स्वातिरिक्तत्वेन सङ्कोचभर कर सके। तब 'उत्सृज्य च अपवाद-विषयम् उत्सर्गः प्रवर्तते' (अपवादविषयको छोड़कर शेष सर्वत्र उत्सर्ग ही प्रवृत्त होता है) के नियमसे उत्सर्ग और अपवादमें एकवाक्यता हो जाती है। तब कहा जाता है कि—कुछ अवसरको छोड़कर सदा सत्य ही बोलना चाहिये।

इसी प्रकार क्वचित् (असामर्थ्यादिमें) अपनी पत्नी आदि द्वारा हवन करा लेनेसे न तो स्त्री-द्वारा आम हवन करा लेनेका सिद्धान्त स्थिर किया जा सकता है; और न ही 'पुरुष स्वयं हवन किया करें' का खण्डन किया जा सकता है।

अपवाद-शास्त्र कहीं-कहीं हुआ करते हैं; उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र) को कभी बाधित नहीं किया करते। क्योंकि—अपवाद वचनकी उत्सर्गको छोड़कर ही 'व्यवस्थिति शास्त्रों' में प्रसिद्ध है। पतिके सामर्थ्य होनेपर फिर पत्नीका स्वातन्त्र्यसे हवनका अधिकार नहीं हुआ करता।

तब वादीसे उद्धृत उक्त वचन ऐकदेशिक ही है; क्योंकि—इससे पूर्व

सूत्रमें कहा गया है—'एवमत ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ जुहुयाद् वा हावयेद् वा' (१।३।१४) अर्थात् पुरुष ही स्वयं सदा सायं-प्रातः हवन करे। अपनी असामर्थ्यमें तब 'हावयेद् वा' यह विकल्प रखा गया है। इसलिए भाष्यकार श्रीचन्द्रकान्त तर्कालङ्कारने भी लिखा है—'जुहुयाद् वा, स्वयम-सम्भवश्चेद् हावयेद् वा पुत्रादिभिः, असम्भवश्चेत्'।

असम्भव वा सम्भवके विषयमें 'कर्मप्रदीप'में कहा है—'सूतके च प्रवासे च अशक्तौ श्राद्धभोजने एवमादि-निमित्तेषु हावयेदिति योजयेत्' (कात्यायन-स्मृति २४।४) अर्थात् परदेसमें होनेपर अथवा अशक्ति आदि निमित्तमें 'हावयेत्' (हवन करवा ले) यह पक्ष भी रखा जाता है। इस प्रकार यह तुल्यबल विकल्प नहीं है, बल्कि यहां व्यवस्था है; सम्भव होनेपर स्वयं हवन करे; असम्भव होनेपर दूसरेसे हवन करवा ले।

जैसे कि—न्यायदर्शनमें भी कहा है—'अशक्तो विप्रमुच्यते इत्येतदपि नोपपद्यते। स्वयमशक्तस्य बाह्यां शक्तिमाह'—'अन्तेवासी वा जुहुयाद् ब्रह्मणा स परिक्रीतः, क्षीरहोता वा जुहुयाद् धनेन स परिक्रीतः' (४।१।६०) यह प्रमाण वात्स्यायन भाष्यमें दिया गया है।

पूर्वपक्ष (ज)—'इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य' (अ. १६।५८।६) इस मन्त्रमें पत्नियोंके साथ यज्ञविधान स्पष्ट है; तब स्त्रियोंको वेदाधिकार भी सिद्ध हुआ।

उत्तरपक्ष—यहां पूर्वपक्षी लोग उक्त मन्त्रके अन्तिम अंशको छिपा देते हैं। वह यह है कि—'यावन्तो देवाः तविषा मादयन्ताम्' (अथर्व. १६।५८।६) यहाँ देवता तथा देव-पत्नियोंको हव्य देना कहा है। 'देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः' (शतपथ. ७।४।२।४०) यहाँ देवता तथा मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न योनि बताई गई है। तब उससे मनुष्योंको अधिकार कुछ भी सिद्ध न हुआ। क्योंकि—योनिभेद होनेसे दोनोंके अधिकार समान सिद्ध नहीं हो सकते। देवताओंके सभी आचरण अनुकर्तव्य नहीं हो सकते। पुराणोंमें देवोंके जो चरित्र बताये हैं, वादी स्वयं उनकी शिकायत

करते हैं।

फिर भी पूर्वपक्षियोंका ही अर्थ मानकर भी उस पर विचार किया जाता है। यह हम भी मानते हैं कि—पत्नी यज्ञमें पतिके साथ बैठी ही रहती है। जब सीता वनवासमें थी; और भगवान् रामने अश्वमेध यज्ञ किया; तब पत्नीने भी उनके साथ बैठना ही था; क्योंकि—पत्नी यज्ञके संयोगमें ही होती है। पर सीताके वहाँ उपस्थित न होनेसे वहाँ पर सोनेकी सीताको बैठाया गया; जैसेकि रामायणमें कहा है—

'न सीतायाः परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः। यज्ञे-यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनी भवत्' (वाल्मी. ७।६६।७) यही बात कात्यायनस्मृतिमें भी कही है—'रामोपि कृत्वा सौवर्णीं सीतां पत्नीं यशस्विनीम्। ईजे यज्ञैर्बहुविधैः सह भ्रातृभिरच्युतः' (२०।१०) अब सोनेकी सीताने न तो वेदमन्त्र बोले, और न आहुतियाँ डालीं, फिर भी यज्ञकी पूर्ति मानी गई। इस प्रकार स्त्री भी पतिके साथ सोनेकी पुतली की तरह बैठी रहती है, उसका पति ही यज्ञ करता है, और मन्त्रादि पढ़ता है। परन्तु फल पत्नी-को भी मिलता है, इसलिए सिद्धान्तकौमुदीमें श्रीदीक्षितने 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (४।१।३३) सूत्रके उदाहरण 'वसिष्ठस्य पत्नी' में लिखा है—'तत्कर्तृक-यज्ञस्य फलभोक्त्री' यह अर्थ स्वीकृत किया है कि—यज्ञ करते हैं पति वसिष्ठजी; और उसका फल भोगती है उनकी पत्नी भी। क्यों न वह भोगे? वह घी देख देती है, साफ कर देती है। समिधाएं काट देती है। उठने-बैठने आदिका कार्य वही कर देती है, किन्तु ग्रन्थिबद्ध उसका वस्त्र उसका वहाँ प्रतिनिधि बना ही रहता है।

महाभाष्यमें भी कहा है—'सर्वेण गृहस्थेन पञ्च महायज्ञा निर्वर्त्याः (सभी गृहस्थी पुरुषों को पञ्च महायज्ञ करने पड़ते हैं।) यच्च प्रात-र्होमचरु पुरोडाशान् [पतिः] निर्वपति, तस्य [तन्निर्वाप-फलस्य] असौ [पत्नी] ईष्टे' (सो पति जो हवि आदि डालता है, पत्नी भी उस फलकी स्वामिनी होती है।)

यही 'प्रदीप' में श्रीकैयटने भी कहा है—'पति-शब्दार्थस्य यज्ञसंयोगे इति विशेषणम्। पत्न्याश्च दम्पत्योः सहाधिकारात् कर्तृत्वात् तत्फल-सम्बन्धाद् यज्ञसंयोग:'। इसी प्रकार उद्योतमें श्रीनागेशभट्टने भी कहा है—'यज्ञफलस्वर्ग-भोक्तृत्वाच्च यज्ञस्वामित्वं भार्याया बोध्यम्। सहाधिकारा-दिति—'मदभिलषितसाधनत्वान्मदर्थं कर्म' इत्येवंलक्षणोधिकारो भार्यायां अप्यस्तीति मीमांसायां स्पष्टम्' वही पूर्वोक्त भाव है। मीमांसामें भी वही हमारा पक्ष है।

(प्रश्न) 'अग्नये स्वाहा—इति सायं जुहुयात्, सूर्याय स्वाहा इति प्रात: तूष्णीं द्वितीये उभयत्र। 'आभिराहुतिभिर्जुहुयात् स्त्री प्रातश्च सायं च।' (आश्वला.गृ. १।६।८-९) यहाँ स्त्रीका भी हवन कहा है'।

(उत्तर) यह पहला उद्धरण आश्वलायनगृ. (१।६।८-९) में है। इसका उद्धरण व्यर्थ है। यहाँ स्त्रीका नाममात्र भी नहीं है। और फिर 'अग्नये स्वाहा, सूर्याय स्वाहा' आदि वेदभिन्न भी मन्त्र हुआ करते हैं। तब इससे स्त्रीका वेदाधिकार सिद्ध नहीं होता। यह स्मार्त कर्म हो जाता है। स्त्रीको उसका निषेध नहीं। दूसरा उद्धरण आश्व.गृ. १।६।२ में नहीं है। अत: वादीकी कल्पना मिथ्या है। क्योंकि १।६।२ सूत्र तो 'नित्यानु-गृहीतः स्यात्' यह है। वह वादीके पक्षका पोषक नहीं है। तब 'आभिराहुतिभिर्जुहुयात् स्त्री' यह वाक्य वादीका बनावटी सिद्ध हुआ।

इसपर यह भी जानना चाहिये कि—स्त्रीका वेदाध्ययन व मन्त्र पढ़नेका औत्सर्गिक-अधिकार तो कहीं भी नहीं कहा गया है। जहाँ पर कोई इस प्रकारका वचन मिलता है, वहाँ पर ऋत्विक् वा पुरोहित उसका कार्य सम्पन्न कर देते हैं। मनुस्मृतिमें कहा गया है—'पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम्। तेऽस्य गृह्याणि कार्याणि कुर्युर्वैतानिकानि च' (मनु. ७।७२) ऋत्विक् वा पुरोहित राजाके अनवकाशवश स्मार्त कर्म कर दिया करते हैं; और फल राजाको मिलता है, यह स्वा.द.ने माना है, 'पुरोहित और ऋत्विक् राजाके अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राज-

घरके कर्म किया करें; और राजा आप सर्वदा राजकर्ममें तत्पर रहें' (स.प्र. ६ पृ. ९१) वैसे ही अनधिकारवश औत्सर्गिकतामें निषिद्ध भी स्त्रीके श्रौतकर्म, कहीं अपवाद होनेसे वचन-बलसे निषादस्थपतिके याजनकी तरह ऋत्विक्-पुरोहित सम्पन्न करते हैं, और उसका फल स्त्रीको होता है। जैसे निषादस्थपतिके यज्ञाधिकारका औत्सर्गिकतामें निषेध होने पर भी वचन-बलसे अपवादरूपसे कहा गया यजन ऋत्विक् वा पुरोहित सम्पन्न कर दिया करते हैं; ऐसा स्त्रीके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

(प्रश्न) 'यत्र नारी अपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते' (ऋ. १।२८।३) इस मन्त्रके भाष्यमें लिखा है—'जिस कर्ममें पत्नी शालासे निकलना तथा शालामें घुसना सीखती है, यहाँ नारी वेदसे विहित इन विधियोंका अभ्यास करे। यह लिखा है; तब नारियोंके इस वैदिक अधिकारको कौन हटा सकता है?

(उत्तर) यहाँ नारीका वेदाभ्यास कहीं भी नहीं कहा। यहां तो शालामें जाना तथा निकलना कहा है।

(प्र.) 'अभ्यास-प्रयोज्यांश्च चातु:-षष्टिकान् यान् कन्या रहसि एकाकिनी अभ्यस्येत' (वात्स्यायन कामसूत्र ३।१२) यहां ६४ कलाओंका लड़की द्वारा एकान्तमें अभ्यास करना कहा है।

(उत्तर) इसमें स्त्रियोंके वेदाधिकारकी कुछ भी चर्चा नहीं है। आप उन्हें नाचना-गाना भले ही सिखा दें; पर इससे स्त्रियोंका वेदाधिकार कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

जो कि—आश्वला.गृ. (५।४) में मैत्रेयी आदिका नाम ३।४।४ सूत्रमें कहा है, यहाँ तो गार्गी वाचक्नवी आदि स्वर्गीय-स्त्रियोंका तर्पण कहा है, जिसे दाहिने कन्धे पर जनेऊ करके पुरुषोंको करना पड़ता है। इससे मृतक-श्राद्धकी सिद्धि होती है। उससे वादियोंका साम्प्रदायिक सिद्धान्त कटता है। यहाँ यह भी नहीं लिखा कि—यह वेदमें अधिकृत थीं? अथवा स्त्रियोंका वेदाधिकार औत्सर्गिक होता है—यह भी यहां नहीं लिखा।

पूर्व. (झ) कालगतिके अनुसार पुरुषोंनें नारी-विरोधिनी वृत्ति जारी हुई कि–प्रसिद्ध भक्त तुलसीदासको भी यह कहना पडा—'अधम ते अधम अधम अति नारी' और 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताडन के अधिकारी' क्या यही पुरुषोंकी महानुभावता है ? क्या इसीसे वे सर्वश्रेष्ठ होना चाहते हैं ? कृतघ्न होते हुए भी अपने-आपको वे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ?

क्या तुलसीदास उपस्थित होकर बतावेंगे कि–सांसारिक विषय-वासनामें डूबे हुए उनका उद्धार उनकी स्त्री के सिवाय और कौन कर सका, जिसने उन्हें शिक्षा दी थी— 'अस्थि-चर्ममय देह मम तामें जैसी प्रीति। ऐसी जो कहुं राममें होति न तो भवभीति' उस देवीकी क्या यही कृतज्ञता गुसाईं जीने की कि–सारी स्त्री-जातिको ताडनाका अधिकारी बनाकर मातृजातिका अपमान किया। (एक शास्त्रिणी कुमारी)

(उत्तर) गो. तुलसीदासने अपने 'मानस' के आधारभूत साहित्यके-लिए लिखा था—

'नानापुराणनिगमागम-सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि। ...भाषा-निबन्धमति मञ्जुलमातनोति' (१।७) 'मानस' में हमने नाना-पुराण, तथा वेद एवं शास्त्रों तथा कुछ अन्य साहित्यको भी अपने 'मानस' का आधार बनाया है। यदि यह बात सिद्ध हो जावे; तब गोस्वामीजी अपने उत्तरदायित्वसे उन्मुक्त हो जावेंगे।

आक्षेप्ताओंको याद रखना चाहिये कि–स्त्री-पुरुषके अधिकार समान नहीं हुआ करते; अतएव वेदमें पुत्रमें पक्षपात दिखलाया गया है। तभी पुंसवन-संस्कार माना गया है; जिसमें कुछ मन्त्र देखिये–

'पुमांसं पुत्रं जनय' (अथर्व. ३।२४।३) 'आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान्' (अ. ३।२३।२) 'जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्' (अ. ८।६।२५) इन मन्त्रोंमें पुत्रोत्पत्तिकेलिए कहा है।

स्वा.द.जीने भी कन्या की अपेक्षा पुत्रकी ही प्रधानता मानी है। तभी ता कन्याएं बहुत होनेपर और पुत्र सर्वथा न होने पर नियोगकी आज्ञा दी हैं' (स.प्र. ४ पृ. ७३) इस प्रकार जब वेदोंमें, शास्त्रोंमें और वादियोंके सम्प्रदायमें भी कन्याकी अपेक्षा पुत्रमें पक्षपात है; तब समानता तो समाप्त हो गई।

वेदादि प्राचीन-साहित्यमें स्त्रीयोनिको 'पापयोनि' स्वीकृत किया गया है। सनातनधर्मी-संसारमें यह प्रसिद्ध है कि–पुरुष पूर्व-जन्ममें कई पापोंके कारण स्त्री बनता है। जैसे कि–'अदुष्टाऽपतितां भार्यां यौवने यः परित्यजेत्। सप्त जन्म भवेत् स्त्रीत्वं' (पराशरस्मृ. ४।१६). (जो पुरुष यौवनमें अदुष्ट और अपतित स्त्रीको छोड़ देता है; वह सात जन्म स्त्री बनता है) इस प्रकारके शास्त्रोंमें बहुत पाप बताये गये हैं, जिससे पुरुष पुरुषयोनिसे गिरकर स्त्री बनता है।

कृष्णयजुर्वेदमें कहा है—'तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि, पापात् पुं ँस उपस्तितरं वदन्ति' (तै.सं. ६।५।८।२) इस पर सायणभाष्य यह है—पापात् पतितादपि पुंसोपि उपस्तितर–क्षीणतरं स्त्रीत्वस्यं वदन्ति'। यहाँ स्त्रीको पतित पुरुषसे भी निम्न माना गया है। अब यह बात वैदिक हो गई; उसीका अनुवाद गोस्वामीजीने 'अधमसे अधम' इस चौपाईमें दिया है; अब यह पुरुषोंमें कालकी गतिके अनुसार स्त्रीविरोधिनी प्रवृत्ति सिद्ध न हुई, किन्तु वैदिक होनेसे त्रिकालाऽबाधित सिद्ध हुई।

'येपि स्युः **पापयोनयः**। स्त्रियो वैश्याः (वेश्यापुत्राः) तथा शूद्राः' (गीता ९।३२) इसे वादिप्रतिवादिमान्य गीताके वचनमें भी स्त्रीको पापयोनि माना गया है। उसका रहस्य यह है कि–पुरुष गत-जन्ममें बहुतसे पाप करनेसे ही पुरुषत्वसे गिरकर स्त्री बनता है।

इस विषयमें हम अन्यत्र बहुत कुछ लिख चुके हैं कि–वेदोंके स्त्रीके विषयमें क्या भाव हैं। एक आदर्श अन्य भी देख लीजिये–'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता' (ऋ. १०।९५।१५) यहाँ

स्त्रियोंके हृदयको भेड़िये वा गीदड़के हृदयके समान कहा है। यह भाव वेदके हैं। पुराणोंमें उन्हींका अनुवाद है। अतः 'कालगतिसे स्त्री-विरोधी भाव स्वार्थियोंने पुराणादिमें प्रक्षिप्त कर दिये', यह आक्षेप गलत हैं। एतदादि-कारणोंसे स्त्रीकी ताड़ना कहीं गई है। इसमें भी मौलिक आधार वेद ही है। देखिये—

'इन्द्र! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम्! मायया शाशदानाम्' (अथर्व. ८।४।२४) यहाँपर मायावी स्त्रीको भी पीटना कहा है।

अब ब्राह्मणभागात्मक वेदमें भी देखिये—'सा चेद् अस्मै न दद्यात् कामम्, एनां यष्टया वा, पाणिना वा उपहत्य अतिक्रमेत्' (१४।६।८।७, बृहदारण्यक ६(८)।४।७) यहाँपर स्त्रीको छड़ीसे पीटना कहा है। विशेष इस विषयमें 'आलोक' (६) में देखिये। स्वा.द.जीने भी अप्रिय-वादिनी स्त्रीके प्रतीकारार्थ अन्य स्त्रीसे नियोग करना कहा है—यह भी ताड़नाका ही प्रकार है।

उक्त तुलसीदासके 'ढोल, गंवार' इस वचनका मूलवचन भी देखिये—'दुर्जनाः शिल्पिनो [पशवो] दासा मूर्खाश्च पटहाः स्त्रियः। ताडिता मार्दवं यान्ति न ते सम्मानभाजनम्' यह वचन गरुड-पुराण (१।१०९।३१) चाणक्यनीति-शास्त्र (२।४५) तथा गर्गसंहिता आदिमें भी मिलता है। तब अब गोस्वामीजी पर दोष न रहा।

सो स्त्री-ताडनके विषयमें भी गोस्वामीजीने अपनी स्त्रीका ही वचन पाला है। क्योंकि—जब गोस्वामीजीने देखा कि—स्त्री रामके पथमें काँटा है। काव्यप्रकाशमें एक पद्यमें भी कहा गया है—'एषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ' यह स्त्री संसाररूप समुद्रमें नहाने गये हुएकेलिए उसके गलेमें बान्धी हुई एक भारी शिला है। यह डुबोनेवाली तो है ही; बाहर नहीं निकलने देती; तब उन्होंने पुरुषका स्त्रीसे बहुत लाड़-प्यार अच्छा नहीं समझा। क्योंकि—'लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः' यह समझकर उस स्त्रीको 'अस्थि-चर्ममय देह' समझकर उसे ताड़नाका

अधिकारी लिख दिया। यह तो उन्होंने अपनी स्त्रीकी बात पूरी की। तब इससे भी गोस्वामीजीपर दोष न रहा। उन्होंने इसमें उल्टा स्त्रीकी कृतज्ञता रखी। कृतघ्नता नहीं की। तब उसपर आक्षेप करनेवाला कुमारी खण्डित हो गई। नारीने गोस्वामीजीका उद्धार नहीं किया, किन्तु श्रीरामभक्तिने गोस्वामीजीका उद्धार किया।

पूर्व. (झ)—हिन्दु संस्कृतिके पुनरुद्धारक शङ्कराचार्यने भी स्त्री-निन्दा करते हुए कहा है—'द्वारं किमेकं नरकस्य? नारी'। यहाँ नारीको नरकका द्वार बताया गया हैं। 'विज्ञान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा? नार्या पिशाच्या न च वञ्चितो यः' यहाँ नारीको पिशाची बताया गया है; और जो उससे नहीं ठगा गया है, उसे स्वामीने बड़ा समझदार बताया है। फिर कहा है—'का शृङ्खला प्राणभृतां हि' (प्राणियोंकेलिए बेड़ी कौन है? इसका उत्तर आचार्य शङ्करने दिया है—'नारी'।

मैं मानती हूँ कि—उन्होंने जैन-बौद्ध मतोंका ह्रास किया, और हिन्दु-जातिका उद्धार किया, परन्तु उनका जन्म स्त्रीके गलेमें फाँसीका फन्दा डालनेकेलिए हुआ। शङ्कराचार्य बतावें कि—मण्डनमिश्रके साथ शास्त्रार्थमें क्या उन्होंने उनकी स्त्री भारतीको मध्यस्थ नहीं माना? और भारतीसे भी जब शास्त्रार्थ किया; तब उसमें निरुत्तर होकर उससे उन्होंने एक महीना अवधि नहीं माँगी? देखो शङ्कर-दिग्विजय। इसी स्त्री-जातिकी निन्दाके फलस्वरूप ही शङ्कराचार्यकी भगन्दर-रोगसे मृत्यु हुई। (एक शास्त्रिणी कुमारी)

(उत्तर)—'द्वारं किमेकं' आदि शङ्कराचार्यके वचनोंपर विचार किया जावे; तो इसमें कुछ अयुक्तता नहीं दीखती। क्योंकि—नारी-कीट बना हुआ पुरुष नरकका ही तो उपार्जन कर रहा होता है।

गो. तुलसीदासजी जब तक स्त्री-लम्पट बने रहे, तब तक रामभक्ति-में अन्तराय पड़े रहनेसे नरकमें डूबे रहे। उस मोहके हट जानेपर ही उनका उद्धार हुआ। तब नारी नरकका द्वार ही सिद्ध हुई।

आक्षेप्ताओंको यह भी याद रखना चाहिए कि—श्रीशङ्कराचार्य थे—अद्वैत-संन्यासी। तब सन्यासीकेलिए स्त्री स्पष्ट नरकका द्वार सिद्ध हुई। तब वैसा कहनेवाले शङ्कराचार्यकी निन्दा क्यों ?

श्रीमद्भागवतपुराणमें भिक्षुधर्मनिरूपणमें यहां तक कहा है—'पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।...स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गत:' (११।८।१३) संन्यासी लकड़ीकी बनी हुई स्त्रीको भी न छूए; नहीं तो बन्ध जाता है।

आर्यसमाजके स्वामी दयानन्दजी जब स्वामी विरजानन्दजीके पास पढ़ा करते थे; उस समय एक दिन ध्यानकी दशामें एक स्त्रीने स्वा.द.जी के पैरों पर सिर रख दिया। स्वामीजीने उसके प्रायश्चित्तस्वरूप तीन-दिन उपवास किया। यह सुनकर स्वा. विरजानन्द रोमाञ्चित हो गये। (श्रीमद्दयानन्दप्रकाश वैराग्यकाण्ड, नवमसर्ग पृ. ५६ पं. २६)।

(ञ) शेष है मण्डनमिश्रके शास्त्रार्थमें उसकी स्त्रीको मध्यस्थ बनाना; इसमें आक्षेपिका-कुमारीके पक्षकी कुछ सिद्धि नहीं। मण्डनमिश्र-की स्त्री भारती, सरस्वती देवीका अवतार थी। दुर्वासाके शापसे ब्रह्मलोक-से इस भूलोकमें अवतीर्ण हुई थी। तो उसमें विना पढ़नेके भी सब विद्याएं संक्रान्त थीं, इस विषयमें हम इस पुष्पके अन्तमें लिखेंगे।

उसने दोनोंका शास्त्रार्थ सुना तक नहीं; केवल दोनोंके गलेमें एक-एक दिव्यमाला डालकर अपने घरके कामोंमें लग गई। उन दो मालाओंमें जिसके पुष्प म्लान हो जाने थे; उनकी पराजय भारतीने बतानी थी। एक दिन वह वहाँ फिर आई; और अपने पतिकी मालाके पुष्पोंको उसने म्लान देखा; तो कह दिया कि आपकी भिक्षाका समय उपस्थित हो गया है। दोनोंके शास्त्रार्थमें एक शर्त रखी गई थी, कि—इन दोमें जो पराजित हो जावे; उसे विजेताका आश्रम स्वीकार करना पड़ेगा। संन्यासी शङ्कराचार्य जीत गये, सो मण्डनमिश्रको अब उनका आश्रम संन्यास ले लेना चाहिये। यही भारतीने तरीकेसे अपने पतिको कह दिया कि—

आपका भिक्षाकाल उपस्थित हो गया है। संन्यासीको भिक्षु कहते हैं; अर्थात् आप हार गये; अब संन्यासी बनिये।

अब इस विषयको शङ्कर-दिग्विजयमें देखिये—'एवं विजेतुमनसोः विष्टयोस्तां, मालां गले न्यधित सोभयभारतीयम्।' (८।६७) माला... मलिनभावयुपैति कण्ठे, यस्यापि तस्य विजयेतर-निश्चय: स्यात्'। ... गृहं गतवती गृहकर्मसक्ता भिक्षाशनेपि चरितुं गृहिमस्करिभ्याम्' (८।६८) इससे स्पष्ट है कि—दोनोंके शास्त्रार्थमें उसने कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया; और मण्डनमिश्र संन्यासी बननेको तैयार हो गये।

(ट) तब भारतीने आचार्य-शङ्करको कहा कि—यह आपकी विजय अपूर्ण है; मुझसे शास्त्रार्थ कीजिये। मुझे हराने पर ही आपका पूर्ण विजय होगा। शङ्करस्वामीने स्वीकार किया; और भारतीको अनायास पराजित कर दिया।

फिर भारतीने चालाकी की। शङ्कराचार्यपर कामशास्त्र-सम्बन्धी कई प्रश्न कर दिये। संन्यासी होनेके नाते आचार्य शङ्करको कामशास्त्रका कुछ भी ज्ञान नहीं था; अत: वे उत्तर नहीं दे सकते थे; अत: उन्होंने भारतीसे एक मासकी अवधि माँगी। इसमें न तो भारतीका ही कुछ गौरव था; और न आचार्य-शङ्करका ही कुछ लाघव था। संन्यासी होनेके नाते यदि आचार्यको कामशास्त्रका ज्ञान नहीं था, इससे तो उलटा उनका महत्त्व ही था। तथापि वे निरुत्तर नहीं हुए। उनने एक मासकी मोहलत माँगी।

उन्होंने अपने आत्माको मृतक अमरुक-राजाके शरीरमें संक्रान्त कर लिया; और अमरुक-राजा बनकर उनकी स्त्रियोंसे कामशास्त्रका ज्ञान करके फिर अमरुकके शरीरको छोड़ दिया। और आकर उस काम-शास्त्रार्थमें भी भारतीको परास्त कर दिया। तब दुर्वासाका शाप पूर्ण हो जानेसे भारती ब्रह्मलोकको चली गई। इस विषयमें हम शङ्कर-दिग्विजयके कुछ पद्य उद्धृत करते हैं—

'अथ शारदाऽकृतकवाक् प्रमुखेष्वखिलेषु शास्त्रनिचयेषु परम्। तमजय्यमात्मनि विचिन्त्य मुनिं पुनरप्यचिन्तयदिदं तरसा' (९।६६) (भारतीने सोचा कि—शङ्करको जीता नहीं जा सकता) 'अतिबाल्य एव कृतसंन्यसनो, नियमैः परैरविधुरश्च सदा। मदनागमेष्वकृतबुद्धिरसौ, तदनेन सम्प्रति जयेयमहम् (६७) (शङ्कर अति बाल्यावस्थासे ही संन्यासी बने हैं; अतः इन्हें कामशास्त्रका कुछ ज्ञान नहीं होगा। अतः कामविषयक-प्रश्न करके मैं इन्हें जीतूं—यह भारतीने सोचा)।

'इति सम्प्रधार्य पुनरप्यमुना, कथनंप्रसङ्गमथ संङ्गतितः। यमिनं सदस्यमुमपृच्छदसौ कुसुमास्त्र (काम) शास्त्र-हृदयं विदुषी' (९।६८) (उसने उनपर कामशास्त्र-सम्बन्धी प्रश्न कर दिये।) 'कलाः कियत्यो वद पुष्पधन्वनः, किमात्मिकाः किं च पद समाश्रिताः। पूर्वे च पक्षे कथमन्यथा स्थितिः, कथं युवत्या कथमेव पूरुषे' (६९)। (वे यही प्रश्न थे)।

'नेतीरितः किञ्चिदुवाच शङ्करो विचिन्तयन्नत्र चिरं विचक्षणः। तासामनुक्तौ भविताऽल्प-वेदिता, भवेत् तदुक्तौ मम धर्मसंक्षयः' (७०) (आचार्य शङ्कर कोई आजकलके संन्यासी स्वा.द. थोड़े ही थे कि—उन्हें स्त्री-पुरुषोंके आकर्षण-विकर्षणादिका पूरा ज्ञान होता। सोचने लगे कि—मैं उत्तर न दूँ; तो अल्पज्ञ कहलाऊंगा; उत्तर दूँ; तो मेरा संन्यासधर्म क्षीण होता है।

'इति संविचिन्त्य स हृदाऽऽशु तदाऽनवबुद्ध-पुष्पशरशास्त्र इव-विदितागमोपि सुरिरक्षयिषुर्नियमं जगाद जगति जयिनाम्' (९।७१) इह मास-मात्रमवधिः क्रियताम्, अनुमन्यते हि दिवसस्य गणः। तदनन्तरं सुदति! हास्यसि भोः! कुसुमास्त्रशास्त्र-निपुणत्वमपि' (७२) (एक मास वा कई दिनोंकी अवधि मांगी)।

'उररीकृते सति तथेति तयाऽऽक्रमते स्म योगिमृगराड् गगनम्। श्रुतविग्रहः, श्रुतविनेययुतो दधदत्रचारमथ योगदृशा' (७३) (आचार्य

शङ्कर उस समय आकाशमें उड गये। और कामशास्त्रका ज्ञान प्राप्त करके वापिस आकर भारतीको उस विषयमें हरा दिया—यह 'शङ्कर-दिग्विजय' के १०म सर्गमें स्पष्ट है।

तब वादियोंका यह कहना सर्वथा गलत है कि—'यह अवधि लेकर शङ्कराचार्य वहांसे चम्पत हो गये; और पुनः बुलानेपर भी नहीं आये।' यह 'कन्योपनयन-संस्कार' (पृ. ५०) में कहते हुए दयानन्दी 'इन्दुशर्मा' असत्यवक्ता सिद्ध हुए।

आचार्य-शङ्कर जब कामकला-ज्ञान करके मण्डनमिश्रके घर लौटे; पूर्व-प्रतिज्ञानुसार प्रत्युत्तर दिया; तब भारतीने स्वयं अपने पतिके साथ अपना पराजय भी स्वीकार किया। देखिये 'शङ्कर-दिग्विजय' में (१०म सर्ग ६५-६६-६७ पद्योंमें)। भारतीने स्वयं शङ्कराचार्यको कहा था—'त्वया यदावां (भारतीमण्डनमिश्रौ) विजितौ परात्मन्' (१०।६८)

पाठकोंने देख लिया कि—यह पूर्वपक्षी कितने झूठे हैं, यह पुस्तकोंके पूर्वापर-प्रकरण छिपा देते हैं। अनुसन्धान न करनेवाली जनता इन्हें सत्यवादी समझ लिया करती है। हमने इस ग्रन्थमालामें इनसे छिपाये हुए अंश सब प्रकट कर दिये हैं।

(ठ) जोकि पूर्वपक्षिणी कुमारीने कहा था कि—स्त्रीजातिके अनादर-कर्मके फलसे शङ्कराचार्यको भगन्दर हो गया; उससे वे मरे—यह बात भी गलत है। फिर गो. तुलसीदास भी भगन्दरसे क्यों न मरे, वे भी आक्षेपिका कुमारीके अनुसार स्त्री-निन्दक थे? इस प्रकार कुमारीके वेदाध्ययनको हटानेवाले अन्यान्य स्मृतिकार भी भगन्दर-रोगग्रस्त क्यों न हुए? भगन्दर तो बहुत विलासियोंको हुआ करता है, स्त्रियोंसे पृथक् रहनेवालोंको भला वह क्यों हो? स्त्री-निन्दासे तथा भगन्दर रोगसे परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं।

यथार्थता यह है कि—श्रीशङ्कराचार्यके जैन-बौद्धादिसे अनेक शास्त्रार्थ हुआ करते थे; उनमें अभिनवगुप्त-नामक एक महाविद्वान्ने जो तान्त्रिक

भी था. शङ्कराचार्यसे शास्त्रार्थमें पराजित होकर उसके प्रतिशोधकेलिए अभिचारक्रिया (जादू-टोने) द्वारा शङ्कराचार्यको शारीरिक कष्ट देना सोचा। उसके फलस्वरूप श्रीशङ्कराचार्यके शरीरमें भगन्दर रोगको संक्रान्त कर दिया। उसे आचार्य-शङ्करके मन्त्रज्ञ पद्मपादनामक शिष्यने मन्त्र-चिकित्सा द्वारा शान्त कर दिया। इस विषयमें भी श्रीमच्छङ्कर-दिग्विजयमें देखिये—

'अथ यदा जितवान् यतिशेखरोऽभिनवगुप्तमनुत्तममान्त्रिकम्। स तु तदाऽपजितो यतिगोचरं हतमनाः कृतवान् अपगोरणम्' (हिंसार्थं उद्यम) (१६।१) स ततोऽभिचचार मूढबुद्धिर्यति-शार्दूलममुं प्ररूढरोषः। अचिकित्स्यतमो भिषग्भिरस्माद् अजनिष्टाऽस्य भगन्दराख्यरोगः' (१६।२) 'तदनु स्वगुरोर्गदापनुत्त्यै-परमन्त्रं तु जजाप जातमन्युः। मुहुरार्य-पदेन वार्यमाणोऽप्यरित्रगोऽप्यनुकम्पिनाऽऽजपादः (पद्मपादः)' (३१) अमुनैव ततो गदेन नीचः प्रतियातेन हतो ममार गुप्तः (अभिनवगुप्तः)। (३२)

(पद्मपादने अपने गुरुका वह भगन्दररोग मन्त्रशक्तिसे शान्त करके उसी रोगको शत्रुओंपर दया करनेवाले आचार्य शंकरके निषेध करनेपर-भी गुस्सेमें आकर अभिनवगुप्तमें संक्रान्त कर दिया; जिससे वह मर गया।)

श्रीशंकराचार्यके ऐहिकलीला-संवरणके समय तो भगन्दररोगका कहीं गन्ध भी नहीं। वहाँ तो यह कहा गया है—

'एवं-प्रकारैः कलिकल्मषघ्नैः, शिवावतारस्य शुभैश्चरित्रैः। द्वात्रिंश-दत्युज्ज्वलकीर्तिराशेः समा व्यतीयुः किल शंकरस्य' (१६।९६) इति कृत-सुरकार्यं नेतुमाजग्मुरेनं रजतशिखरि-शृङ्गं तुङ्गमीशावतारम्। विधि-शतमख-चन्द्रोपेन्द्रवाय्वग्निपूर्वाः सुरनिकरवरेण्याः सर्षिसङ्घाः ससिद्धाः' (१६।१०३) यहाँ तो देवताओं तथा ऋषियोंका उन्हें लानेको आना कहा है। उनका कथन यह था—

'भवान् आद्यो देवः कवलितविषः कामदहनः, पुरारातिविश्व-प्रभवलयहेतुस्त्रिनयनः। यदर्थं गां प्राप्तो भवमथन! वृत्तं तदधुना, तदायाहि स्वर्गं सपदि गिरिशाऽस्मत्प्रियकृते' (१६।१०५) यहाँ शंकराचार्य-को शिवका अवतार कहा गया है, वृद्धोंके प्रभावको दूर करनेकेलिए उनका अवतरण 'शंकरदिग्विजय' के आरम्भमें बताया गया है। तब वे दिव्य बैलपर चढ़कर शिवलोकमें गये—

'आरुह्योक्षाणमग्र्यं प्रकटितसुजटाजूटचन्द्रावतंसः, शृण्वन्नालोक-शब्दं समुदितमृषिभिर्धाम नैजं प्रतस्थे' (१६।१०७) इस प्रकार आक्षेपिका कुमारीके आक्षेप निरस्त हो गये।

पूर्वपक्ष (ड)—'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्' (यजुःमाध्य. (३।६०) 'अरिष्टाऽहं सह पत्या भूयासम्' (यजुः ३७।२०) 'ममेदमनुव्रतं पतिः सेहानाया उपाचरेत्' (ऋ. १०।१२९।२) 'उतास्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः' (ऋ. १०।१५९।२) इत्यादि मन्त्र स्त्रियोंको भी बोलने पड़ते हैं; इससे स्पष्ट है स्त्रियोंको वेदाधिकार सिद्ध है।

उत्तरपक्ष—यह मन्त्र उन-उन ऋषिकाओं-द्वारा समाधिमें दृष्ट हैं। और ऋषिकाएं नियत-संख्यासे भिन्न नहीं होतीं; और इनमें कई देवस्त्रियाँ भी हैं। इसलिए कहीं अपवादरूपसे एतदादिक-मन्त्र 'स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' (याज्ञव. १।२।१३) इस वचनके बलसे—जैसेकि-मृतकश्राद्ध वा अन्त्येष्टि आदिमें अनुपनीत भी लड़केको 'स्वधानिनयनाद् ऋते' (मनु. २।१७२) इस अपवादवचनसे नियत विशेष-मन्त्र बोलने पड़ते हैं; उनके अतिरिक्त वेदका क्रमिक एवं वैध-वेदका अध्ययन नहीं करना पड़ता (मनु. २।१७३) वैसे स्त्रियोंकेलिए भी यहाँ अपवाद समझना चाहिये, औत्सर्गिक अधिकार नहीं।

इसमें रहस्य यह है कि—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' (मनु. २।६७) इस मनुवचनसे स्त्रियोंका विवाह उपनयन-संस्कार-स्थानापन्न, उपनयन-संस्कार—जैसा हो जाता है; इसीलिए विवाहि-

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य स्त्रियाँ भी 'द्विज' कही जाती हैं; अतः उन द्विज-स्त्रियोंका उपनीत-सदृश हो जानेसे विवाह या वैवाहिक-यज्ञ-सम्बन्धी विशेष मन्त्रोंपर अधिकार हो जाता है; अतः उन्हें वर वा पुरोहित वा अध्वर्युके आश्रयसे बोल सकती हैं; पर साक्षात् उनका उपनयन न होनेसे वे 'क्रमेण विधिपूर्वकम्' (मनु. २।१७३) के अनुसार क्रमसे वैध सम्पूर्ण वेदाध्ययन द्विजपुरुषकी भांति नहीं कर सकतीं। हाँ, शूद्रकी भान्ति वैदिक-मन्त्रोंमें उनका सर्वथा अनधिकार नहीं हो जाता। कुछ थोड़े-से मन्त्रोंका किसीके सहारे बोल लेना, वा विशेष परीक्षाकी तैयारीकेलिए कुछ मन्त्र पढ़ लेना—यह वैध एवं क्रमिक वेदाध्ययन उनका नहीं हो जाता। विवाहित वे तो द्विजसदृश हैं ही; पर जैसे कई अनुपनीत बच्चे अविधि-पूर्वक बाज़ारमें सरे-आम गायत्री-मन्त्र आदि बोलते रहते हैं; कोई भी उनका नाम वेदाध्ययन नहीं मानता, वैसे यहाँपर भी समझ लेना चाहिये। जैसे शूद्रका सर्वथा वेदमें अनधिकार होता है; वेदके शब्द सुननेका अधिकारी भी वह नहीं रहता; पर विवाहित द्विज-स्त्रीमें शूद्र-जैसा प्रतिबन्ध नहीं।

वह उपनीत-कल्प होनेसे उपनीतके कुछ अधिकारोंको; क्वाचित्क-अपने-सम्बन्धी मन्त्रोंको वर वा अध्वर्यु आदिके अवलम्बसे बोल सकती है। पर औत्सर्गिकता (सामान्यशास्त्र) न होनेसे केवल अपवाद होनेसे यह वैध-वेदाध्ययनका प्रयोजक नहीं होता। तब वादियोंका स्त्रीसे उच्चारणयोग्य मन्त्रविशेषोंके संग्रह करनेका परिश्रम व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। क्योंकि—इससे स्त्रीके विशेष स्वसम्बद्ध मन्त्रोंका वर आदिके सहारे बोलना ही सिद्ध कर रहा है कि—स्त्रीका वेदमें औत्सर्गिक अधिकार नहीं। इस विषयमें हम यत्र-तत्र स्पष्टता कर ही चुके हैं। यहाँ निर्देशमात्र कर दिया है।

प्र. (ढ) वैदिक कर्मकाण्डमें कई कार्य स्त्रियोंको भी करने पड़ते हैं; तब यदि स्त्रियोंको वेदका अधिकार न हो; तब वे तत्तत्कर्म कैसे कर

सकती हैं? (एक दयानन्दी)

(उ.) यह आक्षेप व्यर्थ है। जैसे हम इस ग्रन्थमें सीता-त्यागके अवसरपर अश्वमेध-यज्ञोंमें श्रीराम-द्वारा सुवर्णकी सीताकी मूर्तिका निर्माण कह चुके हैं; वैसे यहाँपर भी समझ लेना चाहिये। न तो उस सोनेकी सीताने कई मन्त्र पढ़े, न ही अग्निमें आहुतियाँ डालीं; तथापि कार्यनिर्वाह हो गया; श्रीराम ही वे-वे कार्य करते रहे; वा पुरोहित वा ऋत्विक्-आदियों द्वारा वह-वह कृत्य कराते रहे; वैसे यहाँपर भी समझ लेना चाहिये। इसलिए पति-पत्नीका ग्रन्थि-बन्धन किया जाता है। 'वसिष्ठ-पत्नी' में यज्ञ वसिष्ठ करते रहे; सो वह यज्ञ उनकी पत्नीका भी माना गया, और उसे भी फल प्राप्त हुआ; वैसे यहाँपर भी समझना चाहिये। इसी अवसर पर प्रतिनिधिवाद भी समझ लेना चाहिये।

एक अन्य भी दृष्टान्त दिया जाता है। हमारे सामने स्वा. दयानन्दजी की संस्कारविधि पड़ी है। उसमें हम छोटे बच्चोंके संस्कार दिखलाते हैं। जातकर्ममें देखिये—उसमें बच्चेकी जीभपर 'ओ३म्' लिखते हैं, उसके कानमें कहते हैं—'वेदोऽसि' (तेरा गुप्त नाम वेद है) (पृ. ५६)। 'ओं भूर्भवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि' (पृ. ७०) यह घृत-मधु चटाते हुए बच्चेको कहा जा रहा होता है। 'मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती' (पृ. ५७-५८) इत्यादि नौ मन्त्र बच्चेके कानमें जपे जाते हैं।

फिर बच्चेको कहा जाता है—'अश्मा भव, परशुर्भव, हिरण्यमस्तृतं भव। वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्' 'तन्नो अस्तु आयुषम्' (पृ. ५६) यह मन्त्र बच्चेके बोलनेका था; पर उसे पिता वा पुरोहित बोल देता है।

निष्क्रमणमें 'अस्मे प्रयन्धि' मन्त्र बच्चेके कानमें बोला जाता है; इसका भाव यह है कि—यह मन्त्र बच्चेके बोलनेका है—'अस्मे' का अर्थ है—'अस्मभ्यम्'। फिर बच्चेको सूर्यदर्शन कराके 'तच्चक्षुः....जीवेम शरदः शतं' (पृ. ५७) यह मन्त्र बोला जाता है, जो बच्चेके

बोलनेका है।

अब अन्नप्राशनमें देखिये—'ओम् अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि' (पृ. ७१) यह अन्न खानेके समय बच्चेके बोलनेका मन्त्र है। फिर चूडाकरणमें 'तन्नो अस्तु अ्यायुषम्' (पृ. ७६) यह भी बच्चेके बोलनेका मन्त्र है।

कर्णवेधमें 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' (पृ. ७७) यह भी बच्चेके बोलनेका मन्त्र है।

एतदादिक मन्त्र न तो बच्चा बोल सकता है, न बोलता ही है; तथापि उसकी ओरसे उसका पिता वा पुरोहित बोल दिया करता है, इस प्रकार वैदिक-कर्मकाण्डमें स्त्रीकेलिए भी समझ लेना चाहिये। स्त्रीके अशिक्षित होनेपर भी बच्चेकी भांति उससे तत्तत् कार्य करा लिया जाता है।

वेदमें तो पशुओंके भी कुछ कर्तव्य कहे हैं—'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण अश्वो घासं जिगीर्षति' आदि, तब क्या उसकेलिए घोड़े-बैलको भी वेद पढ़ाया जायगा? नहीं, किन्तु बैल आदिके स्वामी ही उससे तत्तत् कार्य करा लेते हैं।

वेदोंमें मृतककेलिए भी कई कर्तव्य आते हैं, जैसे कि—'इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य ! प्रेतम्' (अ. १८।३।१) इस विषयमें 'आलोक' (८) देखो; तब उसकेलिए क्या मृतक भी वेद पढ़ना शुरू करेगा? नहीं, प्रतिनिधि पुत्र वा अध्वर्यु ही तत्तन्मन्त्र पढ़ दिया करता है। इस प्रकार स्त्रीके विषयमें भी जान लेना चाहिये। वादियोंके एतदादि प्रश्न प्रत्युत्तरित हो गये।

पूर्वपक्ष (ण)—'अत्र सिद्धा शिवा नाम ब्राह्मणी वेदपारगा। अधीत्य सकलान् वेदान् लेभेऽसन्देहमक्षयम्' (महाभा. उद्योग. १०८।१८-१९) यहाँपर एक ब्राह्मणीका वेद पढ़ना कहा है—(ध.दे.)

(उत्तर)—यह पद्य पूर्वपक्षीने गलत दिया है। वास्तविक पद्य वहाँ

यह है—'अत्र सिद्धाः शिवा नाम ब्राह्मणा वेदपारगाः। अधीत्य सकलान् वेदान् लेभिरे मोक्षमव्ययम्' (महाभारत उद्योगपर्व १०९।१८-१९) यह पाठ श्रीपाददामोदर-सातवलेकरसे प्रकाशित महाभारतमें है। इससे प्रतीत होता है कि—पूर्व-पद्यमें पूर्वपक्षीने पाठ बदलकर अपने पक्षको सिद्ध करनेकी असफल चेष्टा की। यहाँ तो ब्राह्मणोंका वेद पढ़ना कहा है, किसी विशेष-ब्राह्मणीका नहीं। पूर्वपक्षीसे दिये हुए पाठमें एक त्रुटि भी है। 'अधीत्य सकलान् वेदान् लेभेऽसन्देहमक्षयम्' इसमें 'अक्षयं' इस विशेषणका विशेष्य सर्वथा नहीं दिया गया है। इससे स्पष्ट यह पाठ असङ्गत है। इसका सातवलेकरजीने यह अर्थ लिखा है—

'इसी दिशामें वेदके जाननेवाले शिव नामक प्रसिद्ध ब्राह्मणोंने सब वेदोंको पढ़कर अविनाशी मोक्षको प्राप्त किया'।

पूर्व. (त)—'सततं मूर्तिमन्तश्च वेदाश्चत्वार एव हि। सन्ति यस्याश्च जिह्वाग्रे सा च वेदवती स्मृता' (ब्रह्म. प्रकृति खं. १४।६४) यहाँ एक वेदवती लड़कीका वर्णन है, जिसके जिह्वाके अग्रभागमें मूर्तिमान् चार वेद थे। (ध.दे.)

उत्तर—यह वेदवती एक विशेष देवता थी। इसे वहाँ 'कमलांशा वेदवती कमलायाँ विवेश ह' (६३) उसे लक्ष्मी-देवताका अंश माना गया है। इससे मानुषी स्त्रियोंकी वेदज्ञता नहीं बताई गई है।

वह पैदा होते ही प्रसूतिगृहमें वेद-ध्वनि कर उठी 'सा च भूमिष्ठ-मात्रेण ज्ञानयुक्ता बभूव ह। कृत्वा वेदध्वनिं स्पष्टमुत्तस्थौ सूतिकागृहे' (१४।४)। क्या सभी लड़कियाँ पैदा होते ही वेदध्वनि कर उठती हैं? यदि नहीं, तो वह सर्वसाधारण स्त्रीका विषय नहीं। उसीकेलिए रामायणमें लिखा है—

'तस्याऽहं कुर्वतो (कुशध्वजस्य) नित्यं वेदाभ्यासं महात्मनः। सम्भूता वाङ्मयी कन्या नाम्ना वेदवती स्मृता' (७।१७।६) यहाँ रामाभिरामटीकामें लिखा है—'वेदाभ्यासं कुर्वतो महात्मनः तस्य सकाशाद्

वाङ्मयी—वाङ्मय-वेदमूर्तिः कन्याऽहं सम्भूता। अत एवाऽहं पित्रा नाम्ना वेदवती-इति स्मृता। भगवतः शक्तिर्लक्ष्मीरेव रावणवधाय रावणं हन्तुमत्र अवतीर्णा। अस्या वाङ्मयीत्वं सार्वात्म्यात्। अत एव वक्ष्यति—'पितुर्मे विष्णुर्जामाताऽभिप्रेत इति (७।१७।१२) इससे वह विशेष देवता होनेसे और मानुषियोंकेलिए उसके लक्षण असम्भव होनेसे इससे मानुषियोंकेलिए उसका उद्धरण नहीं बन सकता।

———

(२०) यवनों को वेद पढ़ाना ?

पूर्वपक्ष—दूरदर्शी कण्व ऋषिने मिस्र देशके दस हजार वयनों (मुसलमानों) को संस्कृत पढ़ाकर यज्ञोपवीत दिया और द्विज बनाकर ईश्वरीय-ज्ञान वेदको सबके लिए देनेका मार्ग ही खोल दिया। अतः दूरदर्शी-ब्राह्मणोंको शास्त्र-सिद्धान्तानुसार भूमंडलके सभी मानवोंको द्विज बनाकर अपनाना चाहिये (श्रीशाण्डिल्यजी, 'भारतीय धर्मशास्त्र' में, श्रीकाव्यतीर्थ जी, श्रीराम. 'शुद्धि' में, श्रीरवि. आदि)

उत्तरपक्ष—इस भविष्य-पुराणके प्रमाणको सभी दयानन्दजी बड़े प्रेमसे दिया करते हैं; और इस इतिहाससे अपना पक्ष पुष्ट किया करते हैं। अब यह प्रसिद्ध एक प्रामाणिक इतिहास मान लिया गया है। अतः इस-पर विचार आवश्यक है। पहले यह स्मरण रखना चाहिए कि—'श्रुति-स्मृति पुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु तयोर्द्वैधे स्मृति-र्वरा' (व्यासस्मृति १।४) अर्थात् स्मृति और पुराणके विरोधमें स्मृतिका कथन अधिक मान्य हुआ करता है। यदि पुराणका यह इतिहास स्मृतिसे विरुद्ध है, तो मान्य नहीं हो सकता। ऐतिहासिक धर्म-विरुद्ध आचरण उपेक्षणीय ही हो जाता है; उपादेय नहीं। तब शाण्डिल्यजीने स्मृतिविरुद्ध इस इतिहास को उद्धृत करनेका कष्ट क्यों किया ? तथापि हम प्रत्युत्तर देते हैं।

वस्तुतः यह इतिहास तो शूद्रोंको वेदाधिकार निषिद्ध कर रहा है इसे सम्पूर्ण देखनेसे यह बात ज्ञात हो जायगी। 'सरस्वत्याज्ञया कण्वो मिश्रदेशमुपाययौ। म्लेच्छान् संस्कृतमाभाष्य तदा दशसहस्रकान्। वशीकृत्य स्वयं प्राप्तो ब्रह्मावर्ते महोत्तमे। ते सर्वे तपसा देवीं तुष्टुवुस्तु सरस्वतीम्। पञ्चवर्षान्तरे देवी प्रादुर्भूता सरस्वती। सपत्नीकांश्च तान् म्लेच्छान् शूद्र-वर्णाय चाकरोत्' (प्रतिसर्गपर्व ४खं २१।१६-१७-१८) इस भवि. के वचनमें पं० जीने 'म्लेच्छ' शब्दसे मुसलमान समझ लिए हैं, यह ठीक नहीं। क्या सत्य वा त्रेतायुगमें कण्व ऋषिके समय भी मुसलमान थे ? 'म्लेच्छ' शब्द वेदोंमें भी आया है, पाणिनि धातुपाठमें भी 'म्लेच्छ' अव्य-क्तायां वाचि' [चु. उ. से.] म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे, अस्फुटे अपशब्दे च' [म्वा. प. से.]। तब क्या वेद, पाणिनि आदि भी मुसलमानोंसे अर्वाचीन मान लिये जाएं ? नहीं, ऐसा नहीं।

अशुद्ध वा अव्यक्त भाषण करने वाले चाहे ब्राह्मण हों, चाहे क्षत्रिय आदि भी, सभी म्लेच्छ कहे जाते हैं। 'म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्' इस भाष्यकारके वचनमें 'हम मुसलमान न हो जाएं; अतः हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये' यह अर्थ नहीं हो सकता। 'म्लेच्छवाचश्चार्य-वाचः' (मनु. १०।४८) यहां 'म्लेच्छ वाक्' कही गई है, सो वह अपशब्द अपभ्रंश भाषा विवक्षित है। नहीं तो क्या मनुके समय मुसलमान थे ?

श्रीशाण्डिल्यजीके मान्य श्रीसामश्रमीजीने 'ऐतरेयालोचन' १७-१८ पृष्ठमें लिखा है- 'एवं च अस्मत्शास्त्रकृता ब्राह्मणादि-जातिसंज्ञा तु अस्मा-कमेव। भारतादन्यत्र ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णाः शूद्रम्लेच्छाश्च नैव सन्ति-इति तत्रत्यानां ब्राह्मणादि-जातिभावेन आर्यत्वं, शूद्रम्लेच्छत्वेन अनार्यत्वं वा न किमपि संगच्छते अस्मत्-शास्त्रानुसारतः। तदेवमिङ्गलैंडादिदेशानां म्लेच्छदेशत्वं, तत्तद्देशीयानां म्लेच्छत्वं च न कथमपि संगच्छते-इति प्रणिधा-नेन आलोच्यताम्। म्लेच्छदेशाः किलात्र भारते विद्यन्त एव। म्लेच्छा अपि भारतीयेष्वेव केचन। म्लेच्छाचाराश्च अस्मच्छास्त्रविमुखानामार्या-

णामनार्याणां च भारतीयानामेव, न तु अन्यदेशीयानाम्। सन्ति हि अत्र चिरादेव म्लेच्छाः, म्लेच्छदेशाः, अम्लेम्छानां म्लेच्छाचारनिषेधाश्च" इत्यादि।

इस प्रकार 'यवन' शब्द भी शास्त्रानुमार मुसलमानोंका नाम नहीं, नहीं तो १४ शतकके यवनोंका वर्णन करने वाले सृष्टिकी आदिके मनु और व्यास, पाणिनि आदि पांच सहस्र वर्षोंके ऊपरके मुनि भी मुसलमानोंसे अर्वाचीन हो जाए, पर यह अनिष्ट है। यवन भी यहाँ कीं धर्मोल्लंघक क्षत्रिय-जाति ही इष्ट है, यह बात 'इमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्व गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्, (१०।४३) इस मनुवचनसे स्पष्ट है, अरबकी जाति-विशेष इष्ट नहीं, क्योंकि-अरब भारतीय-देश नहीं। मुसलमान, अरब आदिकी एक अर्वाचीन जाति है। यवन प्राचीन क्षत्रिय जाति है, अतः मुसलमान मौहम्मद-जाति हैं, यवन-जाति नहीं।

तब काश्यपमुनिने उन म्लेच्छों में जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अव्यक्तभाषी वा अपशब्दभाषी मिश्रित थे जिससे उस भारतीय देशका नाम 'मिश्र' देश था, मिस्र नहीं, उनको सरस्वती (सस्कृतभाषाधिष्ठात्री) देवताकी आज्ञासे संस्कृत वाणी सिखला कर (२१।१५) उनको पृथक्-पृथक् कर दिया। अर्थात् शूद्र, वैश्य आदि अलग-अलग कर दिये गए। तब उनसे स्वस्ववर्णकर्म कराये गए।

महाभारतमें 'मिश्रक' नामक तीर्थका उल्लेख है। चरकने 'मिश्रक-स्नेह' नामकी एक ओषधि बताई है। पाणिनीय धातुपाठमें 'मिश्र सम्पर्के' (चु. उ. से.) धातु भी प्रसिद्ध है। अतः यह भारतीय देश है। विलसन आदि अनुसन्धाताओंका अनुमान है कि–भारतीय 'मिश्र' उपाधिधारी ब्राह्मणोंने अतिप्राचीनकालमें अफ्रीकाके किनारे उपनिवेश स्थापित किया था, इसीसे 'मिश्र' देश बना। अस्तु, भारतके ब्रह्मावर्त आदि भागोंसे जहाँ आचारशिक्षा दी जाती थी–दूर बस जानेसे कालक्रमसे वे मिश्रित ब्राह्मणादि अपनी संस्कृतभाषाको भुला बैठे और समान आचार-विहार

वाले होकर अपशब्द-भाषण करते हुए 'म्लेच्छ' व्यवहृत होने लगे। तब कण्वमुनिने ब्रह्मावर्तसे आकर उन्हें संस्कृतभाषा सिखाई, और सरस्वतीने उन्हें अपने अपने वर्णमें प्रतिष्ठित किया, और मुनिने उन्हें शिक्षा देकर अपने वशमें किया। तब वे स्वयं अपने ब्रह्मावर्त देशमें आगए।

पं० जीके इष्ट श्लोक यह हैं–'मिश्रदेशोद्भवा म्लेच्छाः काश्यपेनैव शासिताः। संस्कृताः शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्णमुपागताः! शिखासूत्रं समाधाय पठित्वा वेदमुत्तमम्। यज्ञैश्च पूजयामासुर्देवदेवं शचीपतिम्' (२०।७२-७३) पं.जीने इन श्लोकोंका न तो पूर्वापर-प्रकरण देखा; न उन्होंने यह जांचने का कष्ट किया कि-वह वहाँका सिद्धान्तपक्ष है या पूर्वपक्ष? इन पद्यों को आर्यसमाजी लोग उपस्थित करते हैं। अतः उनकी देखा-देखी श्री-शाण्डिल्यजी ने भी इन पद्योंको विना देखे-भाले उद्धृत कर दिया। अब हम वह प्रकरण उद्धृत करते हैं, जिससे पं० जीके इष्ट-पद्योंका वास्तविक आशय ज्ञात हो।

बात यह है–जब कण्वमुनि मिश्र देशसे ब्रह्मावर्तमें चले आये, तब कण्वके ही कई शिष्य ऐसे भी निकले, जो मुनिके जाते ही शूद्र होते हुए भी स्वेच्छासे ब्राह्मण बन बैठे, वा ब्राह्मणोंमें घुस गए (२१।७२) और अपनी धींगाधींगीसे चोटी-जनेऊ धारण करके, जैसे आजकलके कई मुसलमान आर्यसमाजकी कृपासे शूद्र होकर भी धर्मपाल आदि बन कर, शिखासूत्र धारण कर वेद पढ़ने और यज्ञादिके लिए तैयार हो जाते हैं, वैसे वे म्लेच्छ (अपशब्दभाषी) भी कण्वसे शासित और संस्कृत (शुद्ध वाणी बोलनेवाले) बन कर बलिदैत्यकी प्रेरणा से ब्राह्मणोंमें घुस कर उनकी भाँति शिखासूत्र रख यज्ञोंसे शचीपति-इन्द्रका पूजन करने लगे, जो उनकी अनधिकार-चेष्टा थी। उस समय कण्वमुनि स्वर्गमें थे, अतः उन्हें उनका भय नहीं था। यही वे पद्य हैं जिनका पता पं० जीने पृ. ८६ की टिप्पणीमें दिया।

उन शूद्रोंने जो वेदादि-ग्रहण किया, तथा यज्ञ करके इन्द्रकी पूजा की, न तो भविष्यपुराणकारको यह इष्ट है, न यज्ञके देवता इन्द्रको यह बात इष्ट थी, न भगवान् विष्णुको, क्योंकि यह दैत्यमत था, देवमत नहीं। वह बलिदैत्यके इशारेसे देवताओंको अतृप्त-निस्तेज करनेका प्रकार था। इससे यज्ञके देवता इन्द्रको दुःख हुआ। उसने श्रीजगन्नाथजीको यह बात कही। तब भगवान्ने वृद्धावतार धारण कर उन शूद्रोंसे वेद छीन लिये; और मुनियोंको दे दिये। वे शूद्रादि बौद्ध बन कर फिर म्लेच्छ बन गए, यह सब इस प्रकरणमें स्पष्ट है। मालूम होता है कि- पं० जीने यह सारा प्रकरण स्वयं नहीं देखा, किन्तु वहाँके दो-तीन श्लोक आर्यसमाजी निबन्धकारोंकी पुस्तकोंसे उन पर विश्वास करके उद्धृत कर दिये। यदि श्रीशाण्डिल्यजी स्वयं सारा प्रकरण देख लेते, तो इस अपने पक्षका खंडन करने वाले, प्रकरणके पूर्वोत्तर-अंशविरहित, दो-तीन पद्योंको उद्धृत न करते!

प्रकरण यह है-'भविष्यपुराण' के प्रतिसर्गपर्वके ४र्थखंडके २०वें अध्यायमें यज्ञांश नामक ब्राह्मणका जगन्नाथपुरीमें जानेका वर्णन दिया गया है। उनके साथ दस हजार वैष्णवादि थे (३।४।२०।६७-६८) वहाँ पर जगन्नाथजी ब्राह्मण-रूप धारण कर उनसे मिले [६९] यज्ञांशने उनसे कहा कि-कलियुगका वृत्त सुनाइये (७०-७१)। श्रीजगन्नाथने उसे सुनाया। पं० जीके वे इष्ट श्लोक पहले हम लिख ही चुके हैं- यही वृत्त था। वे म्लेच्छ-शूद्र जो ब्राह्मण बन कर वेदपाठ और यज्ञ करने लगे, इसमें प्रेरक कण्व-मुनि नहीं थे। 'काश्यपेन च शासिता:' यह 'शासिता:' भूतकालका प्रयोग है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि-जिन अपशब्दभाषियोंको कण्वमुनिने शासित किया था, अब वे ही शूद्र होते हुए भी अपने अधिकारसे विरुद्ध 'ब्रह्मवर्णमुपागता:' ब्राह्मण बन बैठे, ब्राह्मणोंमें आ घुसे; चोटी-जनेऊ भी उन्होंने स्वयं धारण कर लिये। इसमें इशारा बलिदैत्यका था। जिस देवताका पूजन करते थे, वे इन्द्रदेव भी नहीं चाहते थे कि-

शूद्र लोग जिनका अन्न खाना भी द्विजोंको निषिद्ध है-वेदोंसे मेरा यज्ञ करें।

पर इसमें अपने प्रबल-शत्रु, दैत्याधिपतिका हाथ देख कर इन्द्रदेवने विष्णु-भगवान्की शरण लेना अच्छा समझा। भगवान्को इन्द्रदेवताने वस्तुस्थिति समझाई कि-कण्वकी इन लोककी स्थितिमें तो यह शूद्र अपनी मर्यादा (कारुकवृत्ति) में रहे (२१।१७), पर कण्वके स्वर्ग चले जाने पर इन्होंने बलिदैत्यके संकेतसे मुझे अतृप्त एवं निस्तेज करनेके लिए उक्त चाल चली कि-वैदिक-यज्ञ करने लगे, पर इन्द्रदेवताने स्पष्ट कह दिया कि शूद्रोंके यज्ञोंसे मेरी तृप्ति नहीं हुआ करती, उसका कारण इन्द्रको यह इष्ट है कि-शूद्रान्त्यज आदिका अन्न देवता भी नहीं खाते। जैसेकि मनुने भी कहा है-'दैवपित्र्यातिथेयानि तत् (शूद्रा) प्रधानानि यस्य तु। नाश्नन्ति पितृ-देवास्तद् (शूद्रान्नं) नच स्वर्गं स गच्छति' (३।१८) तब उन्होंने निस्तेज होना ही हुआ। जब अन्न ही न खाया जावे; तो न तो तृप्ति ही होगी, और न तेज ही बढ़ेगा। तभी त्रिशङ्कु चांडालके यज्ञमें देवता नहीं आये, त्रिशङ्कुको स्वर्ग में भी नहीं आने दिया गया, विश्वामित्रको नये देवता रचने पड़े। यहाँ तक कि-द्विजोंको भी शूद्रोंका अन्न खाना अयोग्य है। 'शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम्' (मनु ४।२१८)। प.जी अब इस इतिहासके पद्य भी देखें-

'दुःखितो भगवान् इन्द्र: श्वेतद्वीपमुपागत:। स्तुत्या मां (जगन्नाथ) बोधयामास देवमङ्गलहेतवे। प्रबुद्धं मां वच: प्राह (इन्द्र:) शृणु देव! दयानिधे! शूद्र-संस्कृतमन्नं च खादितुं न द्विजोऽर्हति। तथाच शूद्रजनितैर्यज्ञैस्तृप्तिं नचाप्नुयाम्। काश्यपे स्वर्गते, प्राप्ते मागधे राज्ञि गच्छति। मम शत्रुर्बलिर्दैत्य: कलिपक्षमुपागत:। निस्तेजाश्च यथाहं स्यां तथा वै कर्तुमुद्यत:' (७४-७७)। यह कहकर इन्द्रने सुनाया कि-मेरे निस्तेज करनेकेलिए बलिदैत्यने इधर शूद्रोंको ब्राह्मणोंमें अज्ञात तौरसे घुसा दिया; इधर देवताओंकी शक्ति क्षीण करनेके लिए देववाणी (संस्कृतभाषा) में परिवर्तन करके उसे प्राकृतभाषाका रूप दे दिया। अब मेरी रक्षा कीजिये।

'मिश्रदेशोद्भवे म्लेच्छे सांस्कृती (देववाणी) तेन संस्कृता (तस्यां संशोधनं कृतम्) । भाषा देवविनाशाय दैत्यानां वर्धनाय च । आर्येषु प्राकृती भाषा दूषिता तेन वै कृता । अतो मां रक्ष भगवन् ! भवन्तं शरणागतम्' (७७-७८-७९) ।

यह सुनकर श्रीजगन्नाथने इन्द्रसे कहा कि-तुम १२ अदितिके लड़के अवतार लो, मैं भी अवतार लूंगा । इन शूद्रोंसे वेद छीनकर फिर मुनियों-को दे दिये जावेंगे । वैसा ही किया गया । इनमें विष्णुने बुद्धावतार लिया । सबने वेदनिन्दा आरम्भ कर दी । यह वेदरक्षाकी एक नीति थी । इस नीतिमें फंसकर उन शूद्रोंने वेद छोड़ दिये, बुद्धमत ले लिया । वेद फिर शुद्ध ब्राह्मणोंको दे दिये गये । उन ब्राह्मणोंमें जो शूद्र घुस आये थे, वे बुद्ध-नीतिके प्रभावसे उनसे पृथक् होकर बौद्धशास्त्रपरायण हो गये । इस वेदनिन्दासे देवताओंको कुष्ठ रोग हो गया । तब सबने श्रीजगन्नाथका दर्शन कर पापशुद्धि की । वे भविष्यपुराणके पद्य यह हैं-

'इति श्रुत्वा तदाहं (जगन्नाथ:) वै देवराजमुवाच ह । भगवन्तो दशादित्या गन्तुमर्हन्ति भूतले । अहं लोकहितार्थाय जनिष्यामि कलौ युगे ।। प्रवीणो निपुणोभिज्ञः कुशलश्च कृती सुखी । निष्णातः शिक्षितश्चैव सर्वज्ञः सुगतस्तथा । प्रबुद्धश्च तथा बुद्धः-आदित्याः क्रमतोऽभवन् । धाता मित्रोर्यमा शक्रो मेघः प्रांशुर्भगस्तथा । विवस्वांश्च तथा पूषा सविता त्वाष्ट्रविष्णुकौ । कीकटे देश आगत्य ते सुरा जज्ञिरे क्रमात्' (ऋ.सं. ३।५३।१४) के मन्त्रोंमें कीकट देशका वर्णन आया है । इसीकी व्याख्या निरुक्तकारने 'कीकटो नाम देशोऽनार्यनिवासः' (६।३२।१) लिखी है ।

'वेदनिन्दां पुरस्कृत्य बौद्धशास्त्रमचीकरन् । तेभ्यो (शूद्रेभ्यो) वेदान् समादाय मुनिभ्यः प्रददुः सुराः । वेदनिन्दाप्रभावेण ते सुराः कुष्ठिनोभवन् । विष्णुदेवमुपागम्य तुष्टुवुर्बौद्धरूपिणम् । हरिर्योगबलेनैव तेषां कुष्ठमनाशयद् । तद्दोषाद् नग्नभूतश्च बुद्धः स तेजसाभवत् । बौद्धराज्यविनाशाय दारुपाषाणरूपवान् । अहं सिन्धुतटे जातो लोकमङ्गलहेतवे । मन्दिरं रचितं

तेन (इन्द्रद्युम्नेन) तत्राहं (जगन्नाथः) समुपागतः । मां विलोक्य न शुद्धः कलिकाले भविष्यति' (भविष्यपुराण ३।४।२०।८०-९१) ।

इसी वृत्तकी स्पष्टता अग्रिम २१वें अध्यायमें पुनः की गई है । कि-'इति श्रुत्वा वचस्तस्य जगन्नाथस्य धीमतः । कृष्णचैतन्य एवा समुवाच प्रसन्नधीः । विस्तरात् तत्कथां ब्रूहि यथा बौद्धसमुद्भवः' (२१।१-२) जगन्नाथ उवाच 'स्वर्गते काश्यपे विप्रे ते म्लेच्छाः शूद्रवर्णकाः । समर्चयामासुर्देवदेवं शचीपतिम्' (२१।२१) पूर्वापर-प्रकरणसे यह स्पष्ट है कि काश्यप (कण्व) उस समय इस लोकमें नहीं थे-जबकि उन शूद्रों यज्ञ शुरू कर दिये । यदि वे होते तो अपने शिष्योंको इस अनधिकार चेष्टासे रोकते । इस कारण कण्वके शिष्योंने भी यह विरुद्ध आचरण उनकी इस लोककी स्थितिमें न करके उनके स्वर्गमें जानेके समय किया । तब श्रीशाण्डिल्यजीका 'दूरदर्शी कण्व-ऋषिने दस हजार यवनोंको यज्ञोपवीत दिया, और वेदको सबको देनेका मार्ग ही खोल दिया' यह कहना निजकल्पित है । भविष्यपुराणके इस इतिहाससे यह बात सिद्ध नहीं हो रही । बल्कि-शूद्रोंके यज्ञ करनेकी इस अनधिकार-चेष्टासे यज्ञके देवता इन्द्रको दुःख हुआ । उन शूद्रोंसे वेद छीननेकेलिए इन्द्रने देवताओंको ब्राह्मण-योनिमें अवतार लिवाकर भेजा । उन शूद्रोंसे उन्होंने वेद छीने । जैसे कि-

दुःखितो भगवान् इन्द्रः सबन्धुर्जगतीतले । [शूद्रेभ्यो] वेदा आहर्तुमिच्छन्तो [देवाः] ब्रह्मयोनौ बभूविरे । जिनो नाम द्विजः कश्चित् तत्पत्नी जयनी स्मृता । कश्यपाद् अदितेरंशाज्जातौ तौ कीकट-स्थले । तयोः सकाशात् संजाता आदित्या लोकहेतवे । तत्रोष्य बौद्धशास्त्राणि चक्रुः शास्त्रार्थमुत्तमम् । वेदान् शूद्रेभ्य आहृत्य विशालां प्रययुः पुरीम् । समाधितो मुनीन् सर्वान् समुत्थाप्य [तेभ्यो वेदान्] ददुः स्वयम् । ... सर्वे सुराः स्वर्गे ततः प्रभृति भूतले । म्लेच्छा बभूविरे बौद्धाः, तत्र वेदतत्पराः । सरस्वत्याः प्रभावेण त आर्या बहवोऽभवन् । तैश्च देवपि...

म्यश्च हव्यं काव्यं समर्पितम्। तृप्तिमन्तः सुराश्चासन्, त आर्याणां सहस्रकाः।' (भविष्य. प्रतिसर्गपर्व, चतुर्थखण्ड, २१ अध्याय, ३२-२६)

इस प्रकार शूद्रोंसे वेद छीनकर तपोनिष्ठ मुनियोंको दे दिये गये। उस दिनसे देवता लोग भूतलको छोड़कर स्वर्गमें रहने लगे। वे ही शूद्र देवताओंकी नीतिसे बौद्ध बन गये। उन म्लेच्छोंसे भिन्न जो आर्य (ब्राह्मण) थे, वे वेदोंमें लग गये। सरस्वतीकी कृपासे उनकी वंशपरम्परा-में वृद्धि हो गई। वे देवोंको हव्य और पितरोंको कव्य देने लगे। तब जाकर बलिवैत्यकी नीति फेल हो गई। शूद्रोंके यज्ञोंसे अतृप्त देवता अब ब्राह्मणोंके यज्ञोंसे तृप्त और तेजस्वी हो गये।

अतः 'आलोक' पाठकोंने जान लिया होगा कि—दयानन्दियोंने पूर्वापर-प्रकरणरहित भविष्यपुराणके कई पद्य उद्धृत करके सर्वसाधारणमें कितना भ्रम फैला रखा है कि—श्रीशाण्डिल्यजी जैसे विद्वान् भी उस जालमें फँस कर हानि उठाते हैं। वस्तुतः यह उन म्लेच्छ-शूद्रोंकी दैत्यसम्मत नीति थी। देवताओंका पक्ष उक्त श्लोकोंको देनेवाले वादी छिपा दिया करते हैं। उसका कारण उनका भी दैत्य-पक्षवाला होना है। परन्तु छिपा लेनेसे वह बात छिप थोड़े ही जायगी, अपितु बहुत प्रकट होगी।

ऐसे लोग इस अवसर पर उचित वा अनुचित सभी हथकण्डे अपने अशुद्ध पक्षको सिद्ध करनेकेलिए अपनाते हैं। जब वे इस इतिहासको प्रमाणित कर उद्धृत करते हैं, तो उन्हें इस इतिहासके पूर्वापर तथा निष्कर्ष वा सिद्धान्तको भी प्रमाण मानना चाहिए। अन्यथा उसका पूर्वांश मानकर उसके उत्तरपक्षांशको छिपा लेना अपने पक्षको निर्मूल सिद्ध करना है। पं.जीकी इस आर्यसमाजी नीति अपनानेसे शोभा नहीं होगी। आशा है—अबसे पं.जी वा उन जैसे अन्य वादी, देवताओंको अतृप्त एव निस्तेज करनेवाले दैत्यपक्षका फिर कभी आग्रह नहीं करेंगे।

---

(२१) श्रीमध्वाचार्यस्वामीके स्पष्ट प्रमाण (?)

पूर्वपक्ष—(क) सुप्रसिद्ध द्वैतमतप्रचारक श्रीमध्वाचार्यस्वामीने 'महाभारत-तात्पर्यनिर्णय' ग्रन्थमें लिखा है—'वेदा अप्युत्तमस्त्रीभिः कृष्णाद्याभिरिहाखिलाः' (२१।३७) अर्थात् उत्तम-स्त्रियोंको कृष्णा (द्रौपदी) की तरह सम्पूर्ण वेद पढ़ने चाहियें। इसलिए महाभारतमें द्रौपदीकेलिए 'पण्डिता च पतिव्रता' (वनपर्व. २७।२) 'पण्डिता' शब्द आया है। 'शतपथ' के 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत' (१४।९।४।१६) लड़कीकेलिए 'पण्डिता' शब्दके प्रयोगसे लड़कियोंका वेदाध्ययन भी सिद्ध होता है; तभी उद्योगपर्वान्तर्गत 'विदुरनीति' में 'प्रवृत्तवाक् चित्रकथः'... यः स पण्डित उच्यते' (२३) में वेदादिग्रन्थोंके उत्तम वक्ताका नाम 'पण्डित' कहा गया है। (एक सिद्धान्तालङ्कार सार्वदेशिक-अगस्त १९४६ में)

(ख) 'व्योमसंहिता' नामक एक अत्यन्त-प्राचीन ग्रन्थके अनेक वचन श्रीमध्वाचार्यने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें उद्धृत किये हैं। उनमें—'आहुरप्युत्तमस्त्रीणामधिकारं तु वैदिके। यथोर्वशी यमी चैव शच्याद्याश्च तथापराः' इस वचनमें उत्तम स्त्रियों—उर्वशी, यमी, शची आदि प्राचीन-कालकी ऋषिकाओंका वेदाध्ययनादिमें अधिकार माना है। (ग) 'उत्तमस्त्रीणां तु न शूद्रवत्' यह श्रीमध्वाचार्यने १।३।३६ ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें लिखा है। (स्त्रियोंका वेदाध्ययन (पृ. ५३) में एक सिद्धान्तालङ्कार)

उत्तरपक्ष—(क) द्रौपदी मानुषी स्त्री नहीं थी; किन्तु अयोनिजा होनेसे देवकल्प थी। महाभारतके अनुसार तो वह 'इन्द्राणी' देवता थी। तब श्रीमध्वाचार्यके वचनका यह अर्थ कैसे हो सकता है कि सभी स्त्रियोंको वेद पढ़ने चाहियें। 'उत्तमस्त्रीभिः' यह 'कृष्णाद्याभिः' का विशेष्य है, न कि—सर्वसाधारण स्त्रियोंका। अर्थात् द्रौपदी जैसी देवकल्प (अमैथुनयोनि) स्त्रियोंका अधिकार उक्त आचार्यने कहा है—सर्वसाधारण मानुषी-स्त्रियोंका नहीं।

वस्तुत: वादीने उक्त आचार्यके पूर्व श्लोकोंको छिपा लिया है—जिससे अर्थका अनर्थ होगया है। वहाँ हरिभक्त्यधिकारीका वर्णन चालू है। वे श्लोक यह हैं—'परिचर्यैव शूद्रस्य वृत्तिरन्येष्वपूर्ववत्' (२९।३०) 'वर्णाव्यङ्गेष्ववर्णास्तु न ज्ञानी स्यात् कथञ्चन। इति श्रुतेरवर्णस्य ज्ञापन-प्राप्तिरेव न' (३४) यहाँ शूद्रों तथा अवर्णों (अन्त्यजों) को ज्ञानका अधिकार निषिद्ध किया गया है। वादी भी ऐसा मानकर अपने स्वामीका 'यथेमां वाचं'...शूद्राय च, अरणाय' का अन्त्यजोंको वेदाधिकार देनेका अर्थ खण्डित हुआ माने। पर अब वादी कहेगा कि—श्रीमध्वाचार्यको वेदका ज्ञान नहीं। पर वह याद रखे—'इति श्रुते:' कहकर आचार्यने अन्त्यजोंका वेदानधिकार वेदसम्मत माना है।

आगे उक्त आचार्यका स्पष्ट वचन सुनिये—'ज्ञेयं सर्वं त्रिवर्णस्थै: स्त्रीभिर्वेदान् विनाखिलम्। (२९।३५) इस पद्यको वादीने छिपा दिया था। यहाँ आचार्यने स्पष्ट कहा है कि—त्रैवर्णिकोंको वेदादिका पूर्ण अधिकार है, परन्तु स्त्रियोंको वेदके बिना शेष सब कुछ जानना चाहिये। जब वेदके विद्वान्, वादीके मान्य, द्वैतवादी आचार्य स्त्रीको वेदका अधिकार नहीं देते; तो उन्हींसे हमारा पक्ष सिद्ध हो गया।

शेष जो वादीने उनका 'वेदा अप्युत्तमस्त्रीभि:' वचन दिया है, यह अपवाद है, सामान्य शास्त्र उनका बताया जा चुका है कि स्त्रियां वेद नहीं पढ़ सकतीं। उसका बाध नहीं हो जाता क्योंकि—'नचोत्सर्गस्य अपवादाद्-निवृत्ति: (योगदर्शन व्यासभाष्य-साधनपाद १३) (अपवादसे उत्सर्ग-सामान्यशास्त्रकी निवृत्ति नहीं हो जाती) 'नैव ईश्वर आज्ञापयति, नापि धर्मसूत्रकारा: पठन्ति-अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति' (मिदचोऽन्त्यात्-सूत्रमें) (न ही ईश्वर आज्ञा देता है; और न ही धर्मशास्त्री विद्वान् कहीं कहते हैं कि—अपवादोंसे सामान्यशास्त्रका बाध होता है; अर्थात् अपवादसे अन्यत्र सामान्यशास्त्र ही रहा करता है)।

तभी महाभाष्यमें अन्यत्र कहा है—'प्रकल्प्य च अपवाद-विषयं तत

उत्सर्गोऽभिनिविशते' (३।२।१२४) अर्थात् अपवादविषय प्रकल्पित करके फिर अवशिष्ट अंशमें उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र) ही बना रहता है।

इसी प्रकार 'काव्यप्रकाश' में श्रीमम्मटभट्टने भी लिखा है—'अपवाद-विषय-परिहारेण उत्सर्गस्य व्यवस्थिते:' (१०म उल्लास 'असङ्गति' अलङ्कार पर) अर्थात् अपवाद-विषयको छोड़कर शेष सर्वत्र उत्सर्गकी ही व्यवस्था रहा करती है)।

निष्कर्ष यह है कि—अपवाद किसी सिद्धान्त (उत्सर्ग) का खण्डन नहीं करता। वह उत्सर्गमें संकोचमात्र कर देता है। प्रत्येक औत्सर्गिक वचनका अपवाद होता है। सत्य बोलना उत्सर्ग है, पर 'किसीके प्राण बचानेकेलिए असत्य बोलना पाप नहीं' यह अपवाद है। यदि अपवाद उत्सर्गका खण्डन कर दे; तब तो 'सत्यमेव जयते' (मुंड.) यह सिद्धान्त ही न रह जायगा।

शास्त्रकारोंने अपवादको केवल इतना ही अवसर दिया है कि—वह विधिशास्त्रमें 'स्वातिरिक्तत्वेन' सङ्कोच भर कर सके। तब 'उत्सृज्य च अपवादविषयं तत उत्सर्ग: प्रवर्तते' के नियमसे उत्सर्ग और अपवादमें एकवाक्यता हो जाती है। तब कहा जाता है कि—कुछ सीमित अवसरको छोड़कर सदा सत्य ही बोलना चाहिये। यह अन्यत्र भी हमने स्पष्ट किया है।

यही बात प्रकृतमें भी समझ लेनी चाहिये। व्यवस्था उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र) से ही हुआ करती है, अपवादसे नहीं।

वादीसे उद्धृत वचनमें आचार्यको उत्तम स्त्रियां यह विवक्षित है—'देव्यो मुनिस्त्रियश्चैव नरादि-कुलजा अपि। उत्तमा इति विज्ञेया:, सद्भिर्द्वैरप्यवैदिकम्। ज्ञेयमन्यैर्हरेर्नाम निजकर्तव्यमेव च' (३८-३९) यहां आचार्यको उत्तम स्त्रियोंसे देवयोनिकी स्त्रियां तथा ऋषिकाएं इष्ट हैं। आगे 'नरादिकुलजा अपि' में भी आचार्यको वे ही देवता स्त्रियां मनुष्य आदिकी योनिमें अवतीर्ण हुई-हुई विवक्षित हैं। उसमें उन्होंने कृष्णा

(द्रौपदी) का उदाहरण दिया है, महाभारतके अनुसार शची (इन्द्राणी) देवता ही मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण हुई थी। इससे उन्होंने मानुषी स्त्रीको तो वेदाधिकार नहीं दिया—उसकेलिए तो लिखा है—स्त्रीभिर्वेदान् विना।'

उक्त वचनमें देवताओं तथा ऋषिकाओंकेलिए 'एव' शब्द दिया है, परन्तु 'नरादिकुलजा:' के लिए 'अपि' दिया है। उसमें रहस्य यही है कि आरूढपतिता ब्रह्मवादिनियां—जो मनुष्यों वा पशुपक्षियोंमें भी हो सकती हैं—उन ऋषिकाओंको भी अधिकार है; इस दृष्टान्तसे आचार्यके म.में सर्वसाधारण-स्त्रियोंको वेदाधिकार सिद्ध न हुआ। अपवाद वचनकी उत्सर्गमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। सच्छूद्रोंको भी यहाँ वेदका अधिकार निषिद्ध किया गया है। द्रौपदीकेलिए महाभारतमें कहे हुए 'पण्डिता' शब्दसे भी वादीका पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि—'निरिन्द्रिया ह्यशास्त्राश्च स्त्रियोऽनृतम्' (अनु. ४०।११) से महाभारत 'निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च' (मनु. ९।१८) में मनु स्त्रीको वेदाधिकार नहीं देते, तब 'पण्डिता' का 'बुद्धिमती' अर्थमें पर्यवसान हो जाता है।

विदुरनीतिमें पण्डिताका लक्षण नहीं, पण्डितके लक्षणमें भी वहाँ वेदका कोई प्रकरण नहीं। विदुरजी शूद्र होनेसे वेदविषयक बात नहीं कहते थे, जैसेकि—'शूद्रयोनौ अहं जातो नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे' (उद्योग-पर्व ४१।५) तब विदुरजीने वैसे उपदेशकेलिए 'ब्राह्मीं हि योनिमापन्न: सुगुह्यमपि यो वदेत्' (४१।१६) ब्राह्मणयोन्युत्पन्न श्रीसनत्सुजातको बुलवाया था। पुंल्लिङ्ग उस पण्डितके लक्षणमें स्त्रीका लक्षण इष्ट भी नहीं। 'प्रवृत्तवाक्'के अर्थमें वादीने 'वेद' शब्द स्वयं प्रक्षिप्त किया है—मूलमें नहीं है। शतपथके वचनमें भी 'पण्डिता' से वेदका अभिप्राय नहीं—यह हम १२०-२१-२२ पृष्ठमें बता आये हैं।

(ख) वादीने व्योमसंहिताके पूर्वके पद्य भी छिपा दिये हैं, वे यह हैं—'अन्त्यजा अपि ये भक्ता नामज्ञानाधिकारिण:' (यहाँ अन्त्यजोंका केवल परमात्माके नामज्ञानमें अधिकार बताया गया है, वेदादि-ज्ञानमें नहीं) 'स्त्री-शूद्रब्रह्मबन्धूनां तन्त्रज्ञानेधिकारिता' (यहांपर स्त्री-शूद्रों तथा नीचोंका वेदज्ञानमें अधिकार न कहकर तन्त्रों (पुराणविशेषों) के ज्ञानमें अधिकार बताया है। तब वादीका पक्ष कट गया। यही उक्त पुस्तकका सिद्धान्तपक्ष था, जिसे वादीने छिपा दिया।) 'एकदेशे परोक्ते तु ननु ग्रन्थपुर:सरे' (यहाँ स्त्री-शूद्रको तन्त्रोंका ज्ञान भी परोक्ति—दूसरेके कथनसे कर्तव्य बताया है, ग्रन्थ-पूर्वक पढ़नेमें अधिकार नहीं बताया।) त्रैवर्णिकानां वेदोक्ते सम्यग् भक्तिमतां हरौ' यहाँ स्त्री-शूद्रसे अतिरिक्त तीन वर्णोंका ही वेदमें अधिकार बताया गया है। इससे वादीका पक्ष कट गया।

'आहुरप्युत्तमस्त्रीणां' में प्रोक्त उत्तम-स्त्रियोंका आचार्यप्रोक्त लक्षण हम पूर्व बता चुके हैं। व्योमसंहिताकारने जो उत्तम स्त्रियाँ बताई हैं, उनमें मानुषी कोई भी नहीं, सब देवताएं हैं। आचार्य देवताओंको मनुष्यसे भिन्न ही योनि मानते हैं। अत: यह पद्य भी मानुषी-स्त्रीको वेदाधिकार नहीं देता। उनसे कही उर्वशी, देवता—अप्सरा है, यमी, यम-देवताकी बहन है, शची इन्द्र देवताकी स्त्री है। इनके ऋ.सं.में क्रमश: १०।९६, १०।१०, १०।१५९ सूक्त हैं। इससे वादीकी इष्ट-सिद्धि नहीं।

संहिताकार इन्हें स्त्री-विशेष बता रहा है। तभी तो रामा. २।२०।१५ की तनिश्लोकी-टीकामें वैवस्वतमनुकी स्त्री मानवी देवीका अवतार कौसल्याको दिखलाकर उसे यज्ञका अधिकार दिया है, सर्वसाधारण स्त्रीको नहीं। शचीका अर्थ बुद्धिमती स्त्रीमात्र लिया जावे; तो उर्वशी यमी आदि मर्ख माननी पड़ेगीं। इन सूक्तोंके इनके अतिरिक्त अन्य ऋषि-देवता नहीं हो सकते, अत: यह सामान्य-स्त्रियोंका विषय न रहा। तब वादिपक्ष भी सिद्ध न हुआ।

(ग) 'उत्तमस्त्रीणां तु न शूद्रवत्' यह जो श्रीमध्वाचार्य-स्वामीने लिखा है, इससे उन्होंने शूद्रका तो वेदाधिकार निषिद्ध कर ही दिया है; इससे स्वा.द. द्वारा किये हुए 'यथेमां वाचं' के अर्थका खण्डन कर दिया

गया। क्या यह वादीको स्वीकार है? शेष उत्तम स्त्रियोंकेलिए भी उन्होंने वेदमें क्रमिक एवं वैध अधिकार नहीं दिया, किन्तु विशिष्ट, स्वयोग्य 'सपत्नीं मे पराधम' इत्यादि सपत्नी-बाधन-आदि कर्मकेलिए कहा है। जैसेकि उनके यह शब्द हैं-'उत्तमस्त्रीणां तु न शूद्रवत् 'सपत्नीं मे पराधम' इत्यादिषु अधिकारदर्शनात्'। उसका कारण यह है कि-उन्होंने भी स्त्रीका शूद्रकी तरह उपनयनाभाव ही माना है।—

'संस्कारभावेन [उपनयनेन] अभावस्तु शूद्रसामान्येन' कई विशेष-विधियोंका कारण उन्होंने यह बताया है—'अस्ति च तासां संस्कार: [उपनयनसदृश:] स्त्रीणां प्रदानकर्मैव [विवाह एव] यथोपनयनं तथा' इति स्मृते:' यह 'वैवाहिको विधि: स्त्रीणां संस्कारो वैदिक: स्मृत:' (२।६७) इस मनुवचनका ही अनुवाद है, सो वह उपमा वा दृष्टान्त कुछ बातोंके साहश्यमें चरितार्थ होता है, सर्वसाहश्यमें नहीं। जैसेकि 'न्यायदर्शन' में कहा है—'सिद्धं च किञ्चित्-साधर्म्यादुपमानम्' (५।१।५) (उपमा कुछ साहश्यमें होती है. पूरे साहश्यमें नहीं) श्रीशंकराचार्य महाराजने भी कहा है-'नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो: क्वचित् कंचिद् विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद् दर्शयितुं शक्यते; सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक-भावोच्छेद एव स्यात्' (ब्र. ३।२।२०)। (दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकमें कहीं किसी विवक्षित अंशको छोड़कर सर्वसारूप्य कोई भी नहीं दिखला सकता। यदि सर्वसारूप्य हो; तो दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक-भावका उच्छेद हो जावे)। इससे उनका भी सम्पूर्ण-वेदमें क्रमिक एवं वैध अधिकार सिद्ध नहीं होता। इसको पहले कई बार स्पष्ट किया जा चुका है।

---

(२२) लौकिक दृष्टिकोण।

पूर्वपक्ष—आपने शास्त्रीय-दृष्टिसे तो यथावत् सिद्ध कर दिया कि-शूद्रों एवं स्त्रियोंको यज्ञोपवीत और वेदका वैध अधिकार नहीं, पर लौकिक दृष्टिसे तो उनको विद्या देना ठीक प्रतीत होता है। वे चाहते भी है, और

उनमें पढ़नेकी सामर्थ्य भी है, तब क्यों न उन्हें विद्या पढ़ाई जाय? यह निषेध कदाचित् स्वार्थिजनकल्पित हों। (कुछ दयानन्दी)

उत्तरपक्ष—चाहनेमात्र वा सामर्थ्यमात्रसे किसीका कोई अधिकार नहीं हो जाता। श्रीस्वामी शंकराचार्यने ३।४।४० ब्रह्मसूत्रकी व्याख्यामें उक्त पूर्वपक्षका उत्तर दे दिया है कि-'यो हि यं प्रति विधीयते, स तस्य धर्मो, न तु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते, चोदनालक्षणत्वाद् धर्मस्य'। १।३।३४ सूत्र की व्याख्यामें आचार्यने लिखा है-'यत्तु अर्थित्वं, न तद् असति सामर्थ्ये अधिकारकारणं भवति। सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकार-कारणं भवति। शास्त्रीये-अर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्य अपेक्षितत्वात्। शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्य अध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्'। इसे पहले स्पष्ट किया जा चुका है। तो जब शास्त्रोंने स्त्रीशूद्रोंको अधिकार नहीं दिया, तो उनकी अपनी इच्छामात्रसे उनका वह अधिकार-ग्रहण अनधि-कार-चेष्टा है।

लौकिक दृष्टिकोणसे भी स्त्रियोंका यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययनादि उचित प्रतीत नहीं होते, क्योंकि- स्त्रियोंका स्त्रीत्व उन्हें प्राय: अपवित्र दशामें रखने को बाध्य करता है, जिससे यज्ञोपवीतके नियमोंका पालन उनकेलिए कठिन बन जाता है। प्रतिमास रजस्वला होने पर, प्रसवकाल में तथा नवजात शिशुओंके मलमूत्र आदिमें ही स्त्रीका समय व्यतीत होता है। स्त्रीके जिस वक्ष पर ब्रह्मसूत्रको लटकाया जायगा, वह तो धूल-धूसरित, मलमूत्रदिग्धाङ्ग नवजात-शिशुका दिन-रात स्तनपानके समय क्रीड़ास्थल बना रहेगा। क्यों न वह उस डोरीके साथ कुतूहलसे किलोल करेगा? फिर पवित्रता कैसी? या उबटनसे खराब होता रहेगा। तब 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं' कहाँ रहा?

निषेधक स्मृतिकार, सूत्रकार तथा पुराणेतिहासकार आदि उन्मत्त भी नहीं हैं, स्वार्थी भी नहीं। वे सभी पूर्ण वेदज्ञ और सावधान हैं, सेवा-वृत्तिमें लगे हुए वा शीघ्र लगने वालोंके भारको हलका करने वाले होने

से परार्थी हैं। उनको भला स्त्रीके उपनयनादि-निषेधसे क्या वैयक्तिक लाभ था? घरका काम कोई साधारण-कृत्य नहीं होता, पुरुष भी उसे नहीं कर सकता। स्वार्थी तो वादी लोग हैं, कि—कपड़े भी उनसे धुलवाते हैं—चौका-चूल्हा भी उनसे कराते हैं, स्त्रियों वाले काम भी उनसे लेते हैं, प्रसव उनसे कराते ही हैं, अपने बालक-पालनादि कार्य भी उन्हींसे कराते हैं, फिर पढ़ाई का बोझ भी उन पर डालते हैं। पढ़ने-लिखनेका काम दाहिने अङ्गका है, वाएंका नहीं।

प्रकृतिने स्त्रियोंको अबला बनाया है, क्योंकि—पिताके थोड़े शुक्र तथा माताके अधिक रजसे कन्याशरीर बनता है। शुक्र सप्तम धातु होता है, रज तृतीय, अतः रज, शुक्रकी अपेक्षा निर्बल होता है। शुक्रसे अस्थि आदि कठोर तथा शरीरको सबल करने वाली वस्तुएं बनती हैं। कन्याके शरीर में इनकी गौणता तथा रजोमूलक कोमल वस्तुओंकी अधिकता होती है। अतएव कन्या पुरुषकी अपेक्षा निर्बल प्रकृति-सिद्ध है। तब उन्हीं अबलाओंके सिर पर वेदादिका भारी भार डालकर वादी लोग उन पर अत्याचार करते हैं। परीक्षाओंमें उन अबलाओंको सिरतोड़ परिश्रम करना पड़ता है। हर समय अपने वा अपनी छात्राओंकी उत्तीर्णता वा अनुत्तीर्णताकी चिन्ता रखनी पड़ती है, तो अब सोचिये कि- अबलाओंका प्रबल परिश्रम, रजस्वलात्वके समय जबकि तीन दिन एकान्तमें बैठना लिखा है-उस समय अस्पृश्यताको छिपा कर पढ़ने-पढ़ाने वा परीक्षा देने जाना उनको भीतरसे निर्बल वा सतत अस्वस्थ—रोगी न कर देंगे? क्या उनकी भीतरी हानि न करेंगे?

क्या उस परिश्रमका प्रभाव गर्भ अथवा प्रसव एवं सन्तानके शरीर वा मस्तिष्क पर न पड़ेगा? फिर स्तनन्धयोंकी पुष्टि क्या होगी? पढ़ाने जानेके समय उन स्त्रियोंके बच्चों का पालन नौकरोंके अधीन हो जाता है। वेतनग्राही नौकर उस बच्चेकी क्या सेवा करेगा? माता वाला हृदय कहांसे लाएगा? थकी हुई माताका स्तन्य भी बच्चेकी पुष्टि क्या

करेगा? इधर खाद्य पदार्थ निस्सार मिलनेसे बालकोंकी आयु घटेगी वा बढ़ेगी?

इसी अक्षरशिक्षा-वृद्धिके फलस्वरूप स्त्रियोंकी लज्जाहानि, आवरण-प्रथा त्याग, इधर-उधर जाना, पढ़ानेके लिए 'मा वियौष्ट' (अ. १४।१।२२)से विरुद्ध पतिविरहित देशमें जाना, अपरिचित पुरुषोंके साथ आमोद-प्रमोद, सदाचार-हानि, मानसिक-पतन आदि बहुत हानियां पड़ती हैं। वेदाध्ययनार्थ उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्षका माना जाता है, तब क्या उनका विवाह **रजोधर्मकी समाप्ति पर** किया जायगा? यदि २४ वर्ष तक भी वादी उन्हें वेदादि पढ़ाएं; तब भी उनकेलिए पतिकी कठिनता आ पड़ती है। पति उन्हें उस समय आयुर्वेदके अनुसार ३३वर्षका मिलना चाहिए। पर वैसा पति या तो पहले विवाहित अब विधुर, अथवा विवाहित सपत्नीक मिलता है। दोनों प्रकारसे पठिताको ही कष्ट मिलता है। यदि २४ वर्ष वाली वह २४ वर्षके पुरुषसे विवाह करे, तो आयुर्वेदका व्याकोप होता है। यदि वादी उन्हें १६वर्ष तक विवाहित करें, तब उनकी **वेदविद्या पूर्ण नहीं होती**; बल्कि वेदका प्रारम्भ ही नहीं होता; उन्हें पुरुषोंसे न्यून विद्या मिलती है, जिसे वादी पक्षपात मानते हैं।

ब्रह्मचर्यमें शुक्रनिरोध करना पड़ता है? परन्तु स्त्रीमें शुक्र कहां है? यदि रज ही शुक्र माना जावे, तो उसका निरोध स्त्रीके वशकी बात नहीं। वह तो १२ वर्षके बाद प्रकृतिके नियमानुसार क्षरित होता रहता है, तो जब स्त्री 'ब्रह्मचारी' नहीं, इसे हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं। तो उसका उपनयन और वेदमें अधिकार कैसा?

इसके अतिरिक्त स्त्रीके रजको 'पुष्प' कहा जाता है; उसके प्रकट करनेसे प्रकृति इङ्गित करती है कि—अब इसको फल लगनेका समय है। तो प्रकृतिका इङ्गित उसके प्राकट्य होनेसे पूर्व विवाह करनेमें ही होता है, वेदादि पढ़ने-पढ़ाने तथा गुरुकुल भेजनेमें नहीं। यदि उससे बलात् वैसा कराया जायगा; तो उसके मस्तिष्क-तन्तुओंमें तथा शारीरिक

स्नायुओंमें त्रुटि पड़नेसे उसका दुष्प्रभाव गर्भाधान, प्रसव एवं सन्तान पर पड़ेगा।

इधर स्त्रियोंकी विद्याके प्रचार बढ़ जानेसे उनकी सदाचार-शिक्षा तो तिरोहित हो गई है। फैशन-प्रियता बहुत बढ़ गई है। इधर पुरुषोंसे ट्यूशन द्वारा पढ़नेसे पिताओंका व्यय बहुत बढ़ गया है। पर-पुरुषोंसे विनोद वा बातचीत आदिके अवसर मिल जानेसे मनकी कलुषता बढ़ कर भयंकर परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। अध्यापिकाएं बनकर वे धन इकट्ठा कर 'ममेयमस्तु पोष्या' [अ. १४।१।५२] इस वैवाहिक नियमसे विरुद्ध हो कर 'पोषिका' बन रही हैं। साम्यवाद आनेसे स्वस्वामिभाव वा पाति-व्रत्य हट रहा है, विवाद बढ़ रहे हैं, विवाहोच्छेदोंकी भूमिकाएं तैयार हो-रही हैं। पहलेकी 'गृहपत्नी' अब अध्यापिकात्वमें परपुरुषोंकी किङ्कर तथा विनोदपात्र बनती हैं। वेतन बढ़ानेके लोभसे वे उनसे अस्थानोंमें किये हुए स्पर्शको भी सहन कर जाती हैं, इस प्रकार बढ़ते जानेसे स्त्री अपने-आपको दूसरोंके चंगुलमें पड़ा पाती है।

यह सब घटनाएं आजकल प्रत्यक्ष हैं, पर अपने अशुद्ध पक्षके सिद्ध होनेके नशेमें इन बातोंपर आवरण डाला जाता है। बहुत समय तक पढ़ाईमें रखनेसे लड़कियोंमें कई प्रकारकी कुटेवें उत्पन्न हो जाती हैं, जो कि-छात्रास्थानोंमें उनकी सामग्रीकी तलाशीमें समय-समय पर मिलती रहती हैं। कहना न होगा कि-यह सब उन्हें इस विद्या लाईनमें लानेका ही दुर्विपाक है। आचार्य शंकरने ब्रह्मसूत्र (३।३।५३ सूत्रके) के भाष्यमें कहा है-'यो हि यस्मिन् सति भवति, असति च न भवति, तत् तद्धर्मत्वेन अध्यवसीयते' (जो बात जिसके होनेपर होती है, जिसके न होनेपर नहीं होती; वह उसीका परिणाम होता है) आजकल 'गर्लस्कूल' 'गरल' (विषैले) स्कूल सिद्ध हो चुके हैं।

हमारे स्मृतिकारोंने जैसे अन्तिम वर्णके अधिकारमें सब वर्णोंका-सेवाधर्म सौंपा था, 'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' यह समझकर

शूद्रोंको यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययनके कठोर व्रतसे अवकाश दे दिया था; वैसे उन्होंने स्त्रीके अधिकारमें भी पति तथा सन्तानादि कुटुम्बकी सेवाका भार सौंपा था। वेदका संकेत देखकर उन्होंने असिधारा-व्रत-सदृश वेदाध्ययनादिसे उन्हें उन्मुक्त कर दिया था। उसी सेवासे उनका सामाजिक तथा पारलौकिक सुधार होना था। कोई सामाजिक-हानियां भी नहीं होती थीं, पर आज उन्हें पुरुषों वाले कार्य दिये जा रहे हैं। आज स्त्रियां आफिसोंकी क्लर्क बन रही हैं, इससे जो हानियां हैं, वे लोक-प्रत्यक्ष हैं। अतएव यह अर्वाचीन-शैली हटवा ही देनी चाहिए। स्त्री प्रकृति है, पुरुष पुरुष है। प्रकृति जड़ होती है। पुरुषकी छायासे ही सब कार्य करती है, स्वतन्त्रता से नहीं, इसी प्रकार यहां भी स्त्रीके विषयमें समझ लेना चाहिये।

यहाँ तक हमने २२ उत्तरपक्षोंमें अनेक प्रश्नोंके उत्तर दे दिये हैं। यह केवल एक-दो व्यक्तियोंका पक्ष नहीं हैं, किन्तु सभी आर्यसमाजी तथा सुधारकोंका यह पक्ष है, अतः उसका खण्डन आवश्यक था। इसमें हमने इस विषयकी १५ के लगभग पुस्तिकाओंके आक्षेपोंके परिहार दे दिये हैं। सं. २००३ में हमारा यह शास्त्रार्थ 'सिद्धान्त' पत्रमें हो चुका है; जिसे कई विख्यात सनातनधर्मी महोपदेशकोंने उत्तम समझकर हमारा नाम लिये बिना अपनी पुस्तकमें संक्षेपसे दे दिया था। इसमें हम अपने परिश्रमकी सफलता समझते हैं कि उनको भी हमारा परिश्रम पसन्द आया।

इस द्वितीयावृत्तिमें भी हमने कई उपयोगी युक्तियां वा तर्क देकर इस संस्करणकी उपयोगिता बढ़ा दी है। इसमें वादियोंसे दिये गये प्रसिद्ध प्रमाणोंका हमने समाधान कर दिया है। जो कई अन्य इस विषयके प्रमाण वादियोंके द्वारा दिये जाते हों, पाठकगण उन्हें हमें बतलावें, जिससे उनका समाधान अग्रिम संस्करणमें कर दिया जावेगा। अब ऐतरेय महिदास, ऐलूष कवष, तथा कक्षीवान् आदि वादियों द्वारा शूद्र एवं वेदवक्ता बतलाए जाते हैं, उस पर प्रकाश डाला जायगा।

---

(२३) क्या ऐतरेय-महिदास शूद्र थे ?
(आजके युगकी कई ऐतिहासिक भूलें)

पूर्वपक्ष—'ऐतरेय-ब्राह्मण' के प्रवक्ता श्रीमहिदास जबकि शूद्र थे—ऐसा श्रीसत्यव्रत सामश्रमी, श्रीशिवशंकर काव्यतीर्थ आदि विद्वान् मानते हैं, और वे (ऐतरेय) वेदके भारी विद्वान् थे, तो शूद्रोंका वेदमें अधिकार सिद्ध हो ही गया। आप शूद्रोंको वेदानधिकारी कैसे मानते हैं ? 'पथिक' ('वैदिकधर्म' (मार्च १९५०) में, एक काव्यतीर्थ तथा एक सिद्धान्तालंकार)।

उत्तरपक्ष—'निरुक्तालोचन' एवम् 'ऐतरेयालोचन' आदिके प्रणेता श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीजीने 'ऐतरेयालोचन'के १३-१४ पृष्ठमें श्रीमहिदासको शूद्र माना है- यह वादीका कथन है। इन्हींके मतको उपजीवित करके एक काव्यतीर्थने अपने 'जातिनिर्णय' पुस्तकमें उसका प्रचार किया। उसे उपजीवित करके आर्यसमाजने ऐसा प्रचार किया कि—कई सनातनधर्मी विद्वान् भी इसी मतको ठीक समझनेकी भूल करते हैं। इससे वे (आ. स.) शूद्रका वेदमें अधिकार अबाधित मानते हैं। श्रीसामश्रमीके 'ऐतरेयालोचन' (द्वितीय संस्करण) का काल सन् १९०६ है। उनके तथा 'निरुक्तालोचन' के प्रथम संस्करणमें श्रीसामश्रमीजीने १८९० सन्के लगभग यह बात लिखी होगी।

सन् १९०७ में प्रसिद्ध आर्यसमाजी एक काव्यतीर्थने अपने 'जातिनिर्णय' २४९ पृष्ठमें वही बात लिखी। फिर १९१८ सन् से लेकर श्री रामदेव आदि आर्यसमाजियों-द्वारा यह बात प्रचलित कर दी गई। आश्चर्यका अवसर है कि—इन सबकी आधारभित्ति केवल श्रीसामश्रमीका लेखमात्र है। न उन्होंने इस विषयमें नूतन प्रमाण दिया है, न ही कोई नई, अभेद्य उपपत्ति ही दी है। तब सामश्रमीके मतके आलोचित कर देने पर 'प्रधानमल्लनिबर्हण' न्यायसे सबका मत आलोचित हो जायगा। 'आलोक'-पाठक सावधानतासे देखें।

(१) 'एतद् ह स्म वै तद् विद्वान् आह महिदास ऐतरेयः (१।८।२) इस ऐतरेयारण्यकके अनुसार श्रीमहिदास 'ऐतरेय' सिद्ध होते हैं। 'छान्दोग्योपनिषद्में भी कहा है—'एतद् ह स्म वै तद् विद्वान् आह महिदास ऐतरेयः। स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्' (३।१६।७) यहां शाङ्करभाष्यमें लिखा है—'महिदासो नामतः, इतराया अपत्यमैतरेयः'।

(२) 'ऐतरेय' यह नाम, तथा 'इतराया अपत्यम्' यह उसकी व्युत्पत्ति देख कर जो कि आजकलके कई सुधारक इस भ्रममें पड गये हैं कि- महिदास शूद्र था-यह ठीक नहीं। वह इतरा नाम वाली स्त्रीका पुत्र था, इतराका नहीं। इसको संस्कृतमें यह कहना पड़ेगा कि—'स इतरायाः (इतरानाम्न्याः) पुत्र आसीद् न खलु इतरस्याः' (शूद्रायाः)। 'इतर'-शब्द सर्वनामतामें अन्य वा नीच-वाचक है, उस 'इतरा' शब्दका स्त्रीलिङ्गमें 'ङस्'में 'इतरस्याः' प्रयोग बनता है 'इतरायाः' नहीं। स्वा. शंकराचार्य महाराजने भी 'इतराया अपत्यम्' यही विग्रह किया है, 'इतरस्या अपत्यम्' विग्रह नहीं किया। श्रीसायणाचार्यने भी 'ऐतरेय-ब्राह्मण' की भूमिकामें 'इतरायाः पुत्रः' यही विग्रह किया है, 'इतरस्याः पुत्रः' नहीं। श्रीसामश्रमीजीने भी 'ऐतरेयालोचन' तथा 'निरुक्तालोचन'में यही [इतरायाः] व्युत्पत्ति अनूदित की है, दूसरी (इतरस्याः) नहीं। श्रीसामश्रमीने 'आर्यकन्यानमेव उद्वहने यथाविधि वैदिकमन्त्रादीनां व्यवहारः समुचितः' तत एव तेषां [तासाम् ?] पत्नीत्वम्; अत एवोक्तं भगवता पाणिनिनापि—'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (४।१।३३)। इतरस्याः (शूद्रायाः) तु अमन्त्रकम्' (ऐ. आ. पृ. १२-१३) इस अपने वाक्यमें शूद्राकेलिए 'इतरस्याः' यह सर्वनाम-पद प्रयुक्त किया है, सर्वनामत्वरहित 'इतरायाः' नहीं। तब महिदासकी माताके लिए प्रयुक्त 'इतरायाः' यह सर्वनामसंज्ञारहित पद स्पष्ट ही उसे 'अशूद्रा' बता रहा है। इससे ऐतरेयकी माताकी 'इतरा' यह संज्ञा (नाम) सिद्ध हो रही है, शूद्राकी पर्यायवाचकता नहीं।

तभी 'महाभाष्य'में कहा है—'संज्ञोपसर्जने च विशेषे अवतिष्ठेते' (१।

१।२६) । यहाँपर श्रीकैयटने लिखा है–'सर्वनामकार्यम् अन्तर्गणकार्यं च सर्वनामत्वप्रयुक्तानामेव भवति, न तु सञ्ज्ञोपसर्जनानाम्'। इस विषयमें 'सिद्धान्त-कौमुदी' में श्रीदीक्षितने भी स्पष्टता की है। जैसेकि–'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादय:। महासंज्ञाकरणेन तदनुगुणानामेव गणे संनिवेशात्। अत: संज्ञाकार्यमन्तर्गणकार्यं च तेषां न भवति। सर्वो नाम कश्चित्, तस्मै सर्वाय देहि' इससे यह सिद्ध हुआ कि–सर्वादिगणमें पढ़ा हुआ भी शब्द यदि किसी का नामविशेष हो, तो उसकी सर्वनाम सञ्ज्ञा तथा तत्प्रयुक्त कार्य नहीं होते।

तब ऐतरेयकी माता 'इतरा' की भी जब 'इतराया अपत्यम्' इस विग्रहमें सर्वनाम-संज्ञा नहीं दीख रही, इससे स्पष्ट हो रहा है कि-यह उस का नामविशेष है, 'शूद्र' अर्थवाला 'इतरा' शब्द नहीं। नहीं तो 'इतरस्या-अपत्यम्' ऐसा सर्वनाम संज्ञा वाला विग्रह होता। पर ऐसा विग्रह किसी भी प्राचीन-अर्वाचीन विद्वान्ने नहीं किया। इस प्रकार जब 'इतरा' यह महिदासकी माताका नाम-विशेष सिद्ध हुआ; तो उसका पुत्र 'ऐतरेय-महिदास' शूद्र कैसे हो सकता है? 'इतर' शब्द 'शूद्र' का पर्यायवाचक भी नहीं। नीचका पर्यायवाचक तो है; परन्तु 'महिदास' की माता 'इतरा' नीच थी-इस विषयमें भी कोई प्रमाण उपलब्ध न होनेसे यह बात भी निर्मूल है।

(३) श्रीसामश्रमीने 'ऐतरेयालोचन' के १४वें पृष्ठमें अधम जातिकी स्त्रीका नाम तैत्तिरीय और सायणके अनुकूल 'परिवृक्ति' और 'शतपथ' के अनुसार 'पालागली' और निरुक्तके अनुसार 'रामा' माना है 'इतरा' नहीं। यहाँ जब 'इतरा' नामविशेष है. और उसके उक्त विशेषण 'परिवृक्ति आदि कहीं मिले नहीं, तब उसके शूद्रा होनेकी भ्रान्ति हो ही नहीं सकती।

(४) यदि वह 'इतरा' नाम होनेसे ही शूद्रा मानी जावे, तब तो

'मीमांसादर्शन' के भाष्यकर 'शबराचार्य' को 'शवर' नाम होनेसे क्या शूद्र वा अन्त्यज (भील) माना जायगा? तब तो रामायणमें वर्णित 'मातङ्ग' ऋषि भी 'चाण्डाल' माने जावें। इस प्रकार तो 'मृच्छकटिक' के प्रणेता 'द्विज-मुख्यतया कविर्बभूव प्रथित: शूद्रक इत्यगाधसत्त्व:' (१।३) शूद्रक भी शूद्र मान लिए जाएंगे; पर यह अनिष्ट है।

तब तो मुद्राराक्षसमें वर्णित राक्षस 'सुबुद्धिशर्मा' को भी वास्तवमें 'राक्षस' ही मानना पड़ेगा। फिर तो माण्डूकि मुनिको मेण्डकका लड़का, चाणक्यको चनेका लड़का, भारद्वाज मुनिको भरद्वाज पक्षीका लड़का, शाकटायनको शकट (छकड़े) का लड़का मानना पड़ेगा। फिर तो 'हर्षचरित' में वर्णित 'कुमारगुप्त' तथा 'ध्वन्यालोक' के टीकाकार ब्राह्मण, श्रीमान् 'अभिनवगुप्त' भी गुप्तान्त नाम वाले होनेसे वैश्य माने जावें; पर ऐसा कोई भी नहीं मानता, इस प्रकार महिदासकी माता 'इतरा' भी इसी नामसे ही शूद्रा और उसका पुत्र ऐतरेय भी शूद्र कैसे हो सकता है?

(५) इस लिए श्रीसायणाचार्यने 'ऐतरेय-ब्राह्मण' के भाष्यकी भूमिकामें इस विषयमें एक आख्यायिका लिखी है। उसमें उनके स्पष्ट शब्द हैं–'कस्यचित् × खलु महर्षेर्बह्व्य: पत्न्यो विद्यन्ते (स्म), तत्र कस्याश्चिद् इतरा इति नामधेयम्। तस्या इतराया: पुत्रो महिदासाख्य: कुमार: तदीयस्य तु पितुर्भार्यान्तरपुत्रेष्वेव स्नेहातिशयो नतु महिदासे। तत् कस्याञ्चिद् यज्ञसभायां तं महिदासमवज्ञाय अन्यान् पुत्रान् स्वोत्सङ्गे स्थापयामास। तदानीं खिन्नवदनं महिदासमवगत्य इतराख्या तन्माता स्वकीयकुलदेवतां भूमिमनुसस्मार। सा च भूमिदेवता दिव्यमूर्तिधरा सती यज्ञ-

× (दयानन्दी पथिकने 'परोपकारी' (मार्च १९६७ के अङ्क पृ. १६-१७) में 'कस्यचित् खलु महर्षे:' इस सायणके वाक्यका अर्थ किया है–'किसी 'खलु' नामक महर्षिकी बहुतसी स्त्रियाँ थीं'। 'खलु' वाक्यालङ्कार अर्थमें आता है, पर इस समझदारने 'खलु' यह नाम बना दिया। इस पर 'आलोक' के 'दशमसुमन' का मुखबन्ध देखो।

सभायां समागत्य महिदासाय दिव्यं सिंहासनं दत्त्वा तत्र एनमुपवेश्य सर्वेषु कुमारेषु पाण्डित्याधिक्यमवगमय्य एतद् (ऐतरेय-) ब्राह्मण-प्रतिभासनरूपं वरं ददौ। तदनुग्रहात् तस्य मनसा...चत्वारिंशदध्यायोपेतं ब्राह्मणं प्रादुरभूत्'। (पृ० ४)

श्रीसायणसे दिखलाई हुई, तथा श्रीसामश्रमीसे 'निरुक्तालोचन' और 'ऐतरेयालोचन'में उद्धृत की हुई इस कथासे महिदास कहीं भी शूद्र वा शूद्रा के पुत्र प्रतीत नहीं होते; किन्तु स्पष्टतासे ब्राह्मणके पुत्र और जन्मसे ब्राह्मण सिद्ध होते हैं। महर्षि भला शूद्र कैसे हो सकते हैं ? और महर्षिका शूद्रा-के साथ विवाह भी अनुपपन्न ही है; क्योंकि-शास्त्रोंमें उसका निषेध है-'शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्। जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते' (मनु. ३।१७) 'प्रायश्चित्तीयते चापि विधिदृष्टेन कर्मणा' (महा. अनुशासनपर्व ४७।९) यहाँ प्रायश्चित्त बताया गया है। 'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि। कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः' (मनु. ३।१२) तब ऋषिमें कामसे विवाह भी अनुपपन्न ही है।

(६) जोकि-कहा जाता है कि-'अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा' (मनु. ९।२५) इससे ब्राह्मणोंका भी अधमयोन्युत्पन्न स्त्रीसे विवाह सूचित होता है; इस पर जानना चाहिए कि-श्रीवसिष्ठकी स्त्री अरुन्धती ही अक्षमाला है, पर उसकी शूद्रता इतिहास-सिद्ध नहीं। तब यहाँ 'अधमयोनिजा' का अर्थ है कि-अपनी योनिकी अपेक्षा निम्नयोनिमें उत्पन्न। सो वसिष्ठजीकी ऋषियोनि एवं पुरुषयोनि होनेसे श्रेष्ठता तथा अरुन्धती की मनुष्ययोनि एवं स्त्रीयोनिमें जन्म होनेसे 'अधमयोनिजता' हुई। '(मनुष्यजातिः-) पशूनुद्दिश्य श्रेयसी; देवान्-ऋषींश्च अधिकृत्य न' (४।३३) योगदर्शनके व्यासभाष्यके इस वचनमें मनुष्ययोनिको पशुयोनिकी अपेक्षा तो उत्तम बताया है, पर देव और ऋषियोनिकी अपेक्षा निकृष्ट। और फिर स्त्रीयोनि पुरुषयोनिकी अपेक्षा भी अधम होती है, जैसेकि-'मानस' में गो० तुलसीदासने कहा है-'अधम ते अधम अधम अति नारी' (अरण्यकाण्ड)। कृष्णयजुर्वेदमें भी कहा है-'तस्मात् स्त्रियः... पापात् पुंस उपस्तितरं वदन्ति' (तै. सं. ६।५।८।२) यहां पर सायणभाष्य इस प्रकार है-'पापात्-पतितात् पुंसोऽपि उपस्तितरं-क्षीणतरं स्त्रीस्वरूपं वदन्ति' पूर्वजन्मके 'अदुष्टापतितां भार्यां यौवने यः परित्यजेत्। सप्त जन्म भवेत् स्त्रीत्वं' (पराशर-स्मृति ४।१६) इत्यादि कई पापोंसे पुरुषयोनिसे पतित-हो कर जीव स्त्रीयोनिमें जाता है, इसलिए 'येपि स्युः पापयोनयः: स्त्रियो (९।३२) इस गीतावचनमें स्त्रियोंका 'पापयोनयः' यह विशेषण आया है। इसलिए इसके प्रतिद्वन्द्वी ९।३३ पद्यमें 'पुण्याः' यह पापयोनिका प्रति-द्वन्द्वी शब्द आया है।

'उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्राद् अराधसः' (ऋ.सं. ५।६१।६) यहां देवपूजा एवं दानसे रहित पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीको श्रेष्ठ कहकर स्त्रीको पुरुषकी अपेक्षा अधमयोनि सूचित की है, क्योंकि-उक्त मन्त्र देवपूजा वा दान से हीन पुरुषका निन्दार्थवाद है। अरुन्धती कपिलमुनिकी भगिनी भला शूद्रा कैसे हो सकती है ? अतः मनुके 'अधमयोनिजा' का 'अधमाऽनृषि-मनुष्ययोन्युत्पन्ना' यही तात्पर्य है, 'शूद्रा' आदि नहीं।

(७) जब महर्षिकी स्त्रीका 'इतरा' यह नाम ही बताया गया है; वर्ण नहीं, तब वह शूद्रा कैसे हो सकती है ? पिताका किसी पुत्रमें यदि स्नेहातिशय नहीं है, इससे वह शूद्र थोड़े ही हो जायगा ? यदि शूद्राके पुत्र होनेके कारण उसमें स्नेह न माना जावे, तो वह शूद्रासे ही विवाह वा स्नेह वा संगम कैसे कर सकता है ? तब किसी पत्नीके पुत्रमें बहुत स्नेह न होनेसे वह शूद्र नहीं हो जाता। राजा उत्तानपादका सुरुचिकी सपत्नी, अपनी प्रथम-पत्नी सुनीतिके पुत्र ध्रुवपर स्नेह नहीं था, उसे उस ने गोदसे उतार दिया था; तब क्या इससे ध्रुव शूद्र हो जायगा ? ऐसा कोई मानता है ?

तब इससे श्रीक्षि.मो.शास्त्रीका यह कहना कि-'ऋषिने अपनी

ब्राह्मणपत्नीसे उत्पन्न पुत्रको ही गोदमें लेकर उसे नाना-तत्त्वोंका उपदेश दिया, शूद्रापत्नीसे उत्पन्न ऐतरेयकी उपेक्षा की–यह निर्मूल सिद्ध हुआ। कहीं भी ऐसा नहीं लिखा कि–'उस ऋषिकी एक पत्नी ब्राह्मणी और एक शूद्रा थी'। यह वादीकी निर्मूल कल्पना है।

(८) 'ऐतरेय-श्रीमहिदास कण्ववंशप्रसूत पर्वत नामक ऋषिका पुत्र था। उसकी रात्रि और इतरा नामवाली दो स्त्रियाँ थीं'–यह वृत्त नाथ-द्वाराके गोस्वामियोंके पुस्तकालयमें रखे 'वंशब्राह्मण' (६।५।३) में लिखा है। यदि यहां 'इतरा' शूद्राका पर्यायवाचक है, तो क्या उसकी दूसरी पत्नी 'रात्रि' भी 'रात' थी? यदि रात्रिमें पर्यायवाचकता नहीं, किन्तु नाम है; वैसा ही 'इतरा' भी नाम ही है।

(९) केवल श्रीसायण, वा 'वंश-ब्राह्मण' ही नहीं, किन्तु पुराण भी ऐतरेय तथा उसके पिताको ब्राह्मण कहते हैं। जैसे कि–'लिङ्गपुराण' के उत्तरभाग २५८ अध्यायमें 'कश्चिद् द्विजो महाप्राज्ञस्तपस्तप्त्वा कथञ्चन' (७।१६) पुत्रमेकं तथोत्पाद्य संस्कारैश्च यथाक्रमम्। योजयित्वा यथाकालं कृतोपनयनं पुनः (१७) (यहाँ ऐतरेयको ब्राह्मणका लड़का, तथा आठ-वर्षमें यज्ञोपवीतधारी कहा गया है।) शूद्रका उपनयन विधिविहित नहीं होता, तब ऐतरेय-महिदास शूद्र कैसे हो?

अध्यापयामास तदा स च नोवाच किञ्चन। न जिह्वा स्पन्दते (नाऽन्यवर्णान् प्रस्रवति) तस्य दुःखितोभूद् द्विजोत्तमः। (७।१८) 'वासुदेवेति नियतमैतरेयो वदत्यसौ। (उसे पढ़ाया गया, पर वह बोलता नहीं था। उसकी जीभ अक्षर बोलती ही नहीं थी। केवल वह 'वासुदेव' शब्द कहता था) जीभमें रोगविशेष वा अशक्तिसे यदि अक्षर नहीं निकलते, तो कोई इससे शूद्र नहीं हो जाता। ब्राह्मणपुत्र होनेसे वह स्पष्ट ब्राह्मण सिद्ध हुआ। 'पिता तस्य तथा चान्यां (भार्यां) परिणीय यथाविधि (७।१९) पुत्रान् उत्पादयामास तथैव विधिपूर्वकम्। वेदानधीत्य सम्पन्ना बभूवुः सर्व-सम्मताः' (२०)। (उसके पिताने अन्य स्त्रीसे विवाह किया। उस स्त्रीसे

उत्पन्न सभी लड़के वेदके जानकार बने)।

'ऐतरेयस्य सा माता दुःखिता शोकमूर्छिता। उवाच पुत्राः सम्पन्ना (मम सपत्न्याः) वेद-वेदाङ्गपारगाः' (७।२१) ब्राह्मणैः पूज्यमाना हि मोदयन्ति च मातरम्। मम त्वं भाग्यहीनायाः पुत्रो जातो निराकृतिः (यत्नहीनः) (२२) ममात्र निधनं श्रेयो न कथञ्चन जीवितम्। इत्युक्तः स च निर्गम्य यज्ञवाटं जगाम वै' (२३) तस्मिन् याते द्विजानां तु मन्त्रा न प्रतिपेदिरे। ऐतरेये स्थिते तत्र ब्राह्मणा मोहितास्तदा। (२४) ततो वाणी समुद्भूता वासुदेवेति कीर्तनात्। ऐतरेयस्य ते विप्राः प्रणिपत्य यथा-तथम्' (२५) पूजां चक्रुस्ततो यज्ञं स्वयमेव जगाम वै। ततः समाप्य तं यज्ञमैतरेयो धनादिभिः (२६) सर्ववेदान् सदस्याह सषडङ्गान् समाहितः। तुष्टुवुश्च तथा विप्रा ब्रह्माद्याश्च तथा द्विजाः (२७) ससृजुः पुष्पवर्षाणि खेचराः सिद्धचारणाः। एवं समाप्य तं यज्ञमैतरेयो द्विजोत्तमः (२८) मातरं पूजयित्वा तु विष्णोः स्थानं जगाम ह' (७।२९)।

(ऐतरेयकी माँ बहुत दुःखी हुई, और कहा कि–मेरी सौतके तो पुत्र वेदवेदाङ्गोंको जाननेवाले हैं। ब्राह्मण उनका सम्मान करते हैं; और वे माँ को प्रसन्न करते हैं। तू मुझ अभागिनका निकम्मा लड़का पैदा हुआ है। मैं मर जाऊं तो ठीक है, मेरा जीना ठीक नहीं। यह सुनकर ऐतरेय वहाँसे निकल कर एक यज्ञमें गया। उसके वहाँ होनेपर ब्राह्मणोंको मन्त्र ही नहीं फुरते थे। तब वासुदेव कहनेसे उसकी वाणी फुर उठी। उस यज्ञमें उसने वेद अङ्गों सहित सुनाये)। यहाँ पर ऐतरेयको स्पष्टतया 'द्विजोत्तम' (श्रेष्ठ ब्राह्मण) कहा गया है। तब उसकी शूद्रता सर्वथा खण्डित हो गई है।

(१०) इसके अतिरिक्त 'इतरा' उस ब्राह्मणीकी प्रथम पत्नी थी, तब उस ऋषिने पुत्रकी जिह्वामें अस्पन्दन देखकर दूसरी स्त्रीसे विवाह किया। पहली स्त्री ब्राह्मणकी कभी शूद्रा नहीं हो सकती, जैसे श्रीसामश्रमीजीने 'ऐतरेयालोचन' में 'तत्र सर्वेषामेव आर्यवर्णानां प्रथमं स्वजाति-

यया पाणिपीडनमेव विहितम्' (पृ. १२) (सब ब्राह्मणादि पहले अपने समान वर्ण वाली स्त्रीसे विवाह करते थे) ऐसा लिखा है, तब स्पष्ट है कि-वह ब्राह्मणी थी। इसलिए 'मनुस्मृति'में भी कहा है कि-'सवर्णाऽग्रे द्विजातीनाम्' (३।१२) यहाँ पर कुल्लूक भट्टने लिखा है-'ब्राह्मणक्षत्रिय-वैश्यानां प्रथमविवाहे कर्त्तव्ये सवर्णा श्रेष्ठा भवति।' ब्राह्मणादि-द्विजकी पहली स्त्री 'इतरा' भला शूद्र कैसे हो सकती है? और रोगविशेषसे जिह्वाके अस्पन्दनवश किसी बालककी शूद्रता भी नहीं हो सकती।

(११) ब्राह्मणेन प्रोक्तं, ब्रह्मणा वा प्रोक्तम्' यह 'ब्राह्मण-ग्रन्थकी की जाती हुई व्युत्पत्ति भी ऐतरेय-ब्राह्मणके कर्ता श्रीमहिदासको ब्राह्मण बताती है, जैसेकि-'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के वेदसंज्ञाविचार ८७ पृष्ठमें स्वा. द. जीने यह शब्द लिखे हैं-'ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति। अत्र प्रमाणम्-'ब्रह्म वै ब्राह्मणः, क्षत्रं राजन्यः' (शतपथ १३।१) 'समानार्थौ एतौ ब्रह्मन्-शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च'-इति व्याकरणमहाभाष्ये (५।१।१) चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिः- ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि, तानि ब्राह्मणानि।' ब्राह्मणग्रन्थके कर्त्ता-ऐतरेयको यदि शूद्र माना जावे, तब उसका नाम 'ब्राह्मण' स्वामीके अनुसार भी कैसे हो सकता है? इस से भी ऐतरेय-महिदास ब्राह्मण ही सिद्ध हुए, शूद्र नहीं।

(१२) पहले हम लिङ्गपुराणका प्रमाण ऐतरेयके ब्राह्मण होनेमें दे चुके ही हैं; अब इसमें स्कन्दपुराण की साक्षी भी दिखाई जाती है। 'स्कन्दपुराण (श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई) के माहेश्वरखण्डके कुमारिका-खण्ड में भी ऐतरेयकी कथा आई है, उसमें ऐतरेयको ब्राह्मण वा ब्राह्मणपुत्र कहा गया है। जैसे कि-'अत्र तीर्थवरे पूर्वम् ऐतरेय इति द्विजः। सिद्धिं प्राप्तो महाभागो वासुदेवप्रसादतः' (४२(३७)।२६) इस नारदके वचनमें ऐतरेयको द्विज (ब्राह्मण) कहा गया है। शूद्र तो एकज होता है, द्विज नहीं। तब इससे उसकी शूद्रता खण्डित हो गई। तब अर्जुनका प्रश्न हुआ कि-'ऐतरेयः कस्य पुत्रो निवासः क्वास्य वा मुने! कथं सिद्धिमगाद्

धीमान् वासुदेवप्रसादतः' (४२।२७) इस पर नारदने कहा-'अस्मिन्नेव मम (नारदस्य) स्थाने हारीतस्यान्वयेऽभवत् (२८) माण्डूकिरिति विप्राग्र्यो वेद-वेदाङ्ग-पारगः' (२९) यहाँ पर ऐतरेयके पिताको भी स्पष्ट ही श्रेष्ठ-ब्राह्मण कहा है।

(इन पद्योंका अर्थ यह है कि-इस तीर्थमें ऐतरेय एक ब्राह्मण वासुदेव की कृपासे सिद्धिको प्राप्त हुआ। तब प्रश्न हुआ कि-ऐतरेय किसका पुत्र था? वह कहाँ रहता था? उसने सिद्धि कैसे प्राप्त की? इसपर नारदने कहा-इसी मेरे स्थानमें हारीतके कुलमें एक वेद-विद्वान् माण्डूकि नामक ब्राह्मण था।)

तस्यासीद् इतरा नाम भार्या साध्वी गुणैर्युता। तस्यामुत्पद्यत [मजायत] सुतस्त्वैतरेय इति स्मृतः' [४२।३०] यहाँपर माण्डूकि नाम वाले ब्राह्मणकी स्त्री इतराको साध्वी [अच्छे गुण-कर्मों वाली] कहा है, तब वह जन्मसे शूद्र वा गुणकर्मसे नीच भी कैसे हो सकती है, जो कि-वादी 'इतरा' शब्दका अर्थ 'नीच' करते हैं। उसी इतरा नाम वालीका पुत्र 'ऐतरेय' कहा है। इस इतिहासमें न ऐतरेयके पिताको शूद्र कहा है, न ही उसकी माताको, न ऐतरेयको ही शूद्र कहा है। तब ऐतरेय शूद्र कैसे हो सकता है?

(१३) जो कि-एक दयानन्दी-द्वारा कहा जाता है कि 'शूद्रस्य च जुगुप्सितम्' (मनु. २।३१) इस वचनसे शूद्रका जुगुप्सित नाम रखना पड़ता है, 'इतरा' यद्यपि यह नाम है, तथापि घृणित होनेसे उसकी शूद्रताको बता रहा है।' इस पर जानना चाहिये कि-स्वा.द.जीने 'देवदास' यह शूद्रका नाम कहा है, उसमें 'देव' यह शूद्रका नाम है, 'दास' यह वर्ण-चिह्न है, तो क्या 'देव' यह नाम जुगुप्सित है कि-स्वामीने शूद्रका तथा ब्राह्मणादिका वह नाम रखा? तब तो रामायणवर्णित मुनिका 'मतङ्ग', मृच्छकटिकके प्रणेता राजाका नाम 'शूद्रक' निम्नजाति-सूचक होनेसे जुगुप्सित है, इसलिए स्वा.द.ने भी 'सं.वि.' में 'चाण्डाली' आदि नाम

रखना निषिद्ध कर दिया है, तो क्या यह शूद्रक-आदि, शूद्र मान लिए जाएंगे ? मीमांसादर्शनके भाष्यकार 'शबर' भी क्या शूद्र होंगे ?

यदि नहीं, तब 'इतरा' भी नाममात्रसे शूद्रा कैसे हो ? 'इतर' शब्द 'अन्य'-वाचक भी होता है, वह जुगुप्सित नहीं। वहीं स्वामीने लिखा है-'स्त्रियोंका विषमाक्षर नाम रखे' (पृ. ६५) तब क्या अर्जुन, नकुल, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि विषमाक्षर नाम वाले स्त्री हो जाएंगे ? यदि नामसे इसका ज्ञान नहीं होता, तब 'इतरा' इस नामसे उसका शूद्रा होना भी निर्मूल है।

(१४) स्कन्दपुराणके अग्रिम पद्य यह हैं-'स च (ऐतरेयः) बाल्यात् प्रभृत्येव प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम्। जजाप मन्त्रं त्वनिशं द्वादशाक्षर-संज्ञितम्। एवंप्रभावः सोऽभूच्च बाल्ये विप्रसुतस्तदा। [४२।३१] यहां भी ऐतरेयको ब्राह्मणका पुत्र कहा है। 'न शृणोति, न वक्त्येव, न चाध्येति कथंचन। ततो मूकोयमित्येव नानोपायैः प्रबोधितः' [३२] ततो निश्चित्य माण्डूकिर्जडोयमिति भारत ! अन्यान् विवाहयामास दारान् पुत्रांस्तथा दधे। पिङ्गा नाम च या भार्या तस्याः पुत्राश्च जज्ञिरे [३३।४३] चत्वारः कर्मकुशलाः वेदवेदाङ्गवादिनः। द्विजैः सर्वत्र पूजिताः' [३५]। इस कथाका तात्पर्य भी प्रायः पहली कथा-जैसा है। अतः पृथक् अर्थ नहीं लिखा।

ब्राह्मणपुत्र होनेसे ही ऐतरेयको विष्णुभगवान्‌ने कहा था-'त्वं च वत्स! श्रौतधर्मान् सम्यगाचर श्रद्धया' [४२।२२८] यज यज्ञैरवाप्यैव दारान् नन्दय मातरम्' (२२९) साम्प्रतं प्रतिभास्यन्ति वेदाश्चापठिता अपि (२३६) ततस्त्वं कोटितीर्थे च यज्ञे वै हरिमेधसः। याहि यत्र भविष्यं ते सर्वं मातुरभीप्सितम्' (४२।२३७) इन सभी स्थलोंमें ऐतरेयको ब्राह्मण वा ब्राह्मणका पुत्र कहा है, शूद्र कहीं भी नहीं।

श्रीमदानन्दतीर्थके ब्रह्मसूत्र-१ भाष्यके अन्तिम अधिकरणमें लिखा है-'महिदासाभिधो जज्ञे इतराया-स्तपोबलात्। साक्षात् स भगवान् विष्णुर्यस्तन्त्रं वैष्णव व्यधात्' (इति ब्रह्माण्डे)। यहां इतराके तपोबलसे

महिदासकी उत्पत्ति बताई गई है, उसे विष्णुका अवतार बताया गया है। विष्णुका अवतार शूद्र नहीं होता। वहीं जयतीर्थकी टीकामें लिखा है-'न च महिदासो मुनितया उच्यते, वैयर्थ्यादेव। महिदासस्य विष्णुत्वं कुत इत्यत आह-'महिदासेति'। वहीं टिप्पणीमें 'इतरायाः पुत्रः विशालसंज्ञकर्षेरुत्पन्नो महिदासस्तन्नामको-भगवान्। महिनः-महात्मानः दासा यस्य स इति महिदासः। साक्षाद् भगवान् विष्णुगुणपरिपूर्णः परमात्मैव इत्यर्थः'। श्रीआनन्दतीर्थाचार्यके समकालीन, उसके जीवनवृत्तके रचयिता श्रीनारायण-पण्डिताचार्यने भी श्रीमन्मध्वविजयकाव्य ८ सर्ग ३५ श्लोकमें लिखा है-'महिदास पूज्य-चरणाद् द्विजाद् अभूद् विदितात् सः' इसकी व्याख्यामें 'विदितात्-प्रसिद्धाद् द्विजात् इतरादेव्यां महिदासनामा चासौ। महिदासः-महिदासः-महिदास-भगवत्पादाचार्यः, वैष्णवतन्त्र-प्रवक्ता। महिदासः-मह उत्सव एषामस्तीति महिनो ब्रह्मादयः। ते दासा यस्य स कल्किरिति यावत्। द्वावपि विष्णोरवतारविशेषौ। श्रीमन्महैतरेयोपनिषद् भाष्यमें भी श्रीमध्वगुरुओंने यही कहा है। तब महिदासको शूद्र बतानेवाले दयानन्दी शोच्य हैं।

हाँ, पूर्व-जन्ममें ऐतरेयने अपना शूद्र होना कहा है जब वह इतराका पुत्र ही नहीं था। तब मृत्यु हो जानेपर वह इस जन्ममें इस ब्राह्मणपत्नीमें उत्पन्न हुआ। जैसेकि-'ऐतरेयः स्वजननीं मुदितो वाक्यमब्रवीत्। पुरा [जन्मनि]ऽहमभवं शूद्रो भीतः संसारदोषतः। परिनिष्ठागतं धर्मं ब्राह्मणं शरणं गतः (स्कन्द. २४०)। स कृपालुर्मम प्राह मन्त्र वै द्वादशाक्षरम्। सदेमं जप चेत्युक्त्वा तमहं जप्तवान् सदा' (४२।२४१) तेन जाप्यप्रभावेन ममोत्पत्तिस्तवो [ब्राह्मण्या उ-] दरात्। जातस्मृतिर्विष्णुभक्तिः स्थितिरत्र च सर्वदा (२४२) इदानीं च प्रयाम्येष यज्ञं तं हरिमेधसः' (२४३) गेहाय मातरं प्रोच्य स यज्ञे प्रोक्तवान् द्विजः [ऐतरेयः]' (४२।२४५)

ततो वेदार्थ-[ऐतरेय-ब्राह्मण] नैपुण्यैस्तेन [ऐतरेयेण] ते तोषिता द्विजाः। आकर्ण्यासनपूजाद्यैः पूजयामासुरञ्जः ! तम्' (२४८) प्रदक्षिणां सर्वां हरिमेधाः सुतामपि। नन्दयित्वा स्वजननीं पुत्रानुत्पाद्य चामलान्।

(२४६) इष्ट्वा यज्ञैरैतरेयो द्वादशीव्रततत्पर: । व ासुदेवानुध्यानेन मोक्षं पश्चादुपागत:' (४२।२५०) यदि इतरा शूद्रा होती, तो क्या जपका प्रभाव महिदासको शूद्राके गर्भमें डालनेवाला था ?—कभी नहीं, तब वह स्पष्ट ब्राह्मणी सिद्ध हुई। यहाँ सर्वत्र ऐतरेयको ब्राह्मण कहा है। उसने यज्ञ कराया, पूजा प्राप्त की।

(१५) इससे ऐतरेय-महिदास ब्राह्मण सिद्ध हुए। यहाँ ऐतरेयने पूर्वजन्ममें अपना शूद्र होना और इस जन्ममें इतराके गर्भसे उत्पत्ति कही है। किसी माताके गर्भसे उत्पत्ति पहले मरकर फिर अन्य जन्ममें होती है। तब ऐतरेयकी इस जन्ममें शूद्रता कहीं भी सिद्ध न हुई। पुराणके इस इतिहासमें यद्यपि ऐतरेयका महीपूजन और महिदास नाम नहीं दिखलाया, तथापि इस विषयमें यह जानना चाहिए कि—सब घटनाएं सब स्थान वर्णित नहीं की जातीं। जैसे स्वा.द. चरितके लेखकोंने उनकी सब घटनाएं सब जीवन-चरित्रोंमें नहीं दिखलाईं। जैसे स्वा.द.की प्रसिद्ध विषदान-घटना किसी जीवन-चरित्रमें न दिखलाई हो, इससे दोनों जीवन-चरित्रों वाले दयानन्द भिन्न भिन्न नहीं हो जाते, वैसे यहांपर भी जानना चाहिये। जब एक शताब्दीके स्वा.द.की जीवन-घटनाओंमें पितृनाम और जन्मभूमिके नाम आदिमें बड़ा अन्तर दिखलाई देता है, तब प्राचीनतम ऐतरेयमें कुछ घटनाओंके भेदसे पुराण तथा सायणभाष्यमें वर्णित ऐतरेय भिन्न-भिन्न नहीं हो जाते।

पुराणोंमें 'ऐतरेय' इस मुख्य नामको लेकर उसकी कथाका वर्णन किया गया है, कहीं महिदास नामसे भी, यह हम पहले दिखला चुके हैं। जैसेकि कई जीवन-चरित-लेखक अपने चरितनायककी सब घटनाओंका वर्णन न करके अपनी इष्ट घटनाओंका निरूपण करते हैं, घटनाओंमें कुछ अपने अनुकूल परिवर्तन भी कर दिया करते हैं, जैसेकि—महाभारत और पद्मपुराणके दुष्यन्त-शकुन्तलाके चरित्रोंमें भी पर्याप्त अन्तर है, एकमें दुर्वासाका शाप वर्णित है, दूसरेमें नहीं। श्रीरामकी घटनाओंका भी रामायण, महाभारत एवं पुराण आदिमें स्थान-स्थानमें अन्तर दिखाई देता है। रघुवंशमें तथा पुराणमें वर्णित रघुके पितामें नाम-भेद और घटनाभेद दिखाई पड़ता है। इससे दुष्यन्त वा रघु आदिकी भिन्न-भिन्नता नहीं हो जाती। श्रीलेखराम तथा देवेन्द्रनाथके बनाये जीवनचरितोंमें घटनाओं तथा कालनिर्देशका भारी वैषम्य है, इससे दोनों स्थलोंके दयानन्द भिन्न-भिन्न नहीं हो जाते, वैसे प्रकृतमें भी जानना चाहिये।

जैसे महिदास-प्रोक्त ब्राह्मण 'ऐतरेय'-ब्राह्मणके नामसे है 'महिदास-ब्राह्मण' नामसे नहीं, वैसे ही पुराणोंमें भी उस महिदासकी घटनाको न लेकर प्रसिद्ध 'ऐतरेय' नामको ही लेकर उसकी माता इतराके सम्बन्धका वृत्त तो बताया है, उसकी कुलदेवताके कारण हुए 'महिदास'-नामके घटनाचक्रको नहीं दिखलाया। जैसे श्रीमोहनदास यह नाम उतना प्रसिद्ध नहीं, जैसेकि श्रीगान्धि। इस कारण प्राय: लोग 'श्रीगान्धि' यही नाम दिखलाते हैं, 'मोहनदास' नहीं, वैसे ही यहां पर भी प्राय: महिदास नाम न लेकर 'ऐतरेय' नाम ही लिया गया है, क्योंकि—वह ऐतरेय-नामसे सर्वसाधारणमें प्रसिद्ध था। 'मही' उसकी कुलदेवता थी, इसलिए उसका नाम जो महिदास हुआ—यह सर्वसाधारणमें उतना प्रसिद्ध नहीं था। जैसेकि—दयानन्द यह नाम जितना प्रसिद्ध है, वैसे मूलजी नहीं। कहीं दयाराम नाम है, कहीं दयाल और कहीं मूलशंकर; इससे दयानन्द भिन्न-भिन्न नहीं हो जाते। वैसे यहां पर भी समझना चाहिए। इससे दोनों ऐतरेय भिन्न-भिन्न नहीं हो जाते, जैसेकि—कई वादियोंका विचार है।

(१६) जोकि एक सिद्धान्तालंकारने कहा है कि—'स्कन्द-पुराणने ऐतरेयकी शूद्रता छिपानेके लिए 'पुरा जन्मनि' इन शब्दोंसे उसे गतजन्ममें शूद्र कहा है,' यह भी ठीक नहीं। ऐतरेयको आजकलके ही सुधारक ५०-६० वर्षसे शूद्र मानने लगे हैं। पर स्कन्दपुराण अब तो बनाया नहीं गया कि—आजकलके मतसे डरकर उसने परिवर्तन कर दिया हो। पुराणमें

तो जो वास्तविकता थी; वह बता दी कि–इतराके पुत्र होनेमें तो वह ब्राह्मण था, पर उससे पूर्वजन्ममें जब वह इतराका पुत्र नहीं था–तो शूद्र था। इसमें और वादीकी बातमें तो आकाश-पातालका अन्तर है, यह विपरिणाम वा छिपाना नहीं। पुराण-वर्णित ऐतरेय ब्राह्मणग्रन्थके प्रवक्ता ऐतरेयसे भिन्न भी नहीं, क्योंकि–मन्त्र-ब्राह्मण प्रोक्त ऋषि, मुनि तथा आचार्यों एवं द्रष्टा और प्रवक्ताओंके इतिहास-पुराणादिमें ही तो बतलाये गये हैं, अतः उनका चरित्र जाननेकेलिए पुराणार्णवको ही मन्थन करना पड़ता हैं। फलतः पुराणोंमें ऐतरेयको 'द्विजोत्तम' कहकर उन वादियोंके मतकी जड़ काट दी गई है, जो 'ऐतरेय' (इतरा-पुत्र) इस नामसे ही उसे शूद्र सिद्ध करनेका सरतोड़ परिश्रम करते हैं।

(१७) इस प्रकार हमने 'नदेवम् ऐतरेयनामव्युत्पत्तित एव इतरागर्भ-सम्भूतत्वसिद्धेः मिथ्यत्वेव (महिदासस्य) दासीपुत्रत्वम्' तत एव महिदास इति दासान्तमभिधानमपि विश्रुतम्' (ऐतरेयालोचन १४ पृष्ठ १६ पंक्ति) श्रीसामश्रमीके इस वचनमें पूर्व अंशकी तो प्रमाणोपपत्ति-सहित आलोचना हमने कर दी, अब उनके अग्रिम अंशकी कि–दासान्त नाम होनेसे भी 'महिदास' शूद्र थे–अब आलोचना दी जाती है। यह भी सामश्रमीजीका कथन व्यभिचरित है, क्योंकि-'शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद् राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्' (मनु. २।३२) यहाँपर नामसे पृथक् ही शर्मा-दास आदिका संकेत कहा है। स्वा.द.जीने अपनी 'सं.वि.' में नामकरण प्रकरणमें लिखा है–'ब्राह्मण हो तो देव-शर्मा, क्षत्रिय हो तो देव-वर्मा, वैश्य हो देव-गुप्त और शूद्र हो तो देवदास' (पृ. ६६) यहाँ स्वामीने दो-अक्षरों वाला नाम 'देव' रखकर उससे अलग ही शर्मा-दास आदिका संकेत लिखा है, परन्तु 'महिदास' में यह बात नहीं घटती। 'महिदास' यह तो चार अक्षरों वाला नाम है; दो अक्षरों वाला नहीं। इसकी स्पष्टता हम आगे करेंगे। कुछ पीछे भी कर आये हैं।

श्रीसायणसे दिखलाई हुई आख्यायिकासे विज्ञ पाठकोंने जाना होगा

कि–ऐतरेयकी कुलदेवता 'भूमि' थी, उसीका पर्यायवाचक 'मही' शब्द है। महीका दास (सेवक) होनेसे उसने दिव्यमूर्तिधारिणी उस 'मही' की कृपा से ही 'ऐतरेय-ब्राह्मण' प्राप्त किया। इसी कारण 'मह्या दासः' इस विग्रहसे उसकी 'महिदास' यह संज्ञा हुई, तभी 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा. ६।३।६३) इस सूत्रसे संज्ञा होनेके कारण 'कालिदास' की तरह 'महिदास' में भी ङीप्के 'ई' को ह्रस्व हो गया। इससे 'मही' यह ऐतरेय-की माताका नाम है'–इस प्रकार 'जातिनिर्णय' में कहते हुए श्रीकाव्यतीर्थ-का मत खण्डित हो गया। क्योंकि 'मही' तो भूमि (पृथ्वी) का नाम है, जो उसके कुलकी पूजनीय देवता थी, जिसका महिदासकी माता 'इतरा' ने ध्यान किया था। तब 'इतरा' स्मरण-क्रियाकी कर्ता; और 'मही' स्मरणक्रिया की कर्म-दोनों एक कैसे हो सकती हैं ?

इसके अतिरिक्त 'इतरा' मानुषी और 'मही' देवता थी। उक्त कथामें दोनोंकी विभक्तियां भी भिन्न-भिन्न हैं, तब दोनों अभिन्न कैसे हों ? उसी कुलकी उपास्य देवता 'मही' के दास होने से वह 'महिदास' कहलाता था, और माताके नामसे 'ऐतरेय' प्रसिद्ध था ? 'मही' इनकी माता नीच-जाति-की दासी थी, इसलिए उसका नाम 'इतरा' था' यह जो काव्यतीर्थने लिखा है, उनसे प्रष्टव्य है कि–यह कहां लिखा है ? उक्त आख्यायिकामें मही और इतरा दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, और ऐतरेय इतराका लड़का बताया गया है 'मही' का नहीं, मही (पृथ्वी) का तो वह उपासक था, लड़का नहीं। काव्यतीर्थजीने दोनों (मही और इतरा) को एक कैसे कर डाला ? मही तो उक्त आख्यायिकामें दिव्यमूर्तिधर देवता बताई गई है, तो क्या दिव्यगुणों वाली देवता भी नीच दासी हो सकती है ? ऐसा सम्भव ही नहीं। स्पष्ट है कि–काव्यतीर्थ-महाशयका यह मत जहाँ असत्य है, वहाँ निर्मूल भी है।

(१८) जो कि–काव्यतीर्थ महाशयने लिखा है कि–'इतरा' शब्दार्थ

ही नीच है-'इतरस्त्वन्यनीचयोः' (अमरकोष), पर यह व्यर्थ है। 'इतरा' तो उसकी माताका नाम था, यह हम पहले सिद्ध कर चुके हैं, तब क्या नामके अर्थसे भी जाति मानी जाती है ? तब तो मीमांसाभाष्यकार शबराचार्य भील ही हो जाएंगे ! रामायणके मतङ्ग मुनि भी अन्त्यज हो जाएंगे, और राजा शूद्रक शूद्र हो जाएंगे ! क्या काव्यतीर्थ-महाशय तथा अन्य कोई ऐसा मानता है ? यदि नहीं, तब उनका मत कट गया।

(१६) श्रीक्षि.मो. शास्त्रीका 'भारतवर्षमें जातिभेद' (८५ पृष्ठ) में 'एक ऋषिकी शूद्रा पत्नीसे उत्पन्न पुत्र ही ऐतरेय थे, यज्ञके समय ऋषिने अपनी ब्राह्मणी-पत्नीसे उत्पन्न पुत्रको ही गोदमें लेकर उसे नाना-तत्वोंका उपदेश दिया; और बेचारे ऐतरेयकी उपेक्षा की' यह कथन भी निर्मूल ही है, क्योंकि-उक्त इतिहाससे विरुद्ध है। जो कि शास्त्रीने लिखा है कि— "दुःखित होकर ऐतरेयने अपनी मातासे अपने मनका दुःख बताया। उनको माताने अपनी कुलदेवी महीका स्मरण किया। शूद्रगण तो महीकी सन्तान हैं। पृथिवीगर्भसे देवी आविर्भूत हुई; और ऐतरेयको दिव्य सिंहासन पर बिठाकर सर्वोत्तम ज्ञान देकर तिरोहित हुई।...महीदेवीसे शिक्षा पानेके कारण ऐतरेय, महिदास भी कहाते हैं" यह भी प्रायः गलत है। शूद्रगण महीकी सन्तान हैं—इसका क्या आशय है ? ऐतरेय, महीकी सन्तान तो नहीं था तब उसे शास्त्रि-महाशय शूद्र कैसे कहते हैं ?

वह तो इतराकी सन्तान था-यह वे भी मानते हैं, तब उन्होंने यह कैसे लिखा ? 'मही' यह तो पृथिवीकी अधिष्ठात्री देवताका नाम है, जो पृथिवीके गर्भसे प्रकट हुई। जिस देवताने ऐतरेयको शिक्षा दी, तब इससे महिदासके शूद्रत्वका सम्बन्ध कैसा ? क्या महीदेवता शूद्रा थी ? जब उसके इतिहासमें 'इतरा' यह नाम है; तब वह भी शूद्रा कैसे ? 'पिताने ब्राह्मणीके पुत्रको उपदेश दिया, शूद्रापुत्र ऐतरेयकी उसने उपेक्षा की' ऐसी बात किस इतिहासमें लिखी है ? 'नमो मात्रे पृथिव्यै' (यजु.सं. ६।२२) इस मन्त्रमें तथा अथर्ववेद [शौ.] संहिताके १२वें काण्डके आरम्भमें हम-

आपके-लिए महीकी उपासना वा प्रार्थना आई है, तो क्या हम-आप शूद्र होंगे ? पृथिवीसे उत्पन्न श्रीसीता भी क्या शूद्रा थी ? पृथिवीसे कौन उत्पन्न नहीं होता, तो क्या सभी शूद्र होंगे ? वादीका नाम ही 'क्षिति-मोहन' है-पृथिवीके मोहन-पुत्र, तो क्या इससे वादी भी शूद्र होगा ? यदि नामसे यह बात नहीं होती, तो इतरा नामसे ही उसकी शूद्रता कैसी ? 'पत्नी' यज्ञ-संयोगमें होती है; शूद्राका महाभाष्यानुसार यज्ञसयोग न होनेसे 'पत्नी' यह संज्ञा नहीं हो सकती, तब शास्त्रीजीने 'शूद्रा-पत्नी' शब्द कैसे लिखा ? इस प्रकार उनका मत भी कट गया।

(२०) लगे-हाथ भूमिदेवताके दिव्यमूर्ति-धारण पर भी कुछ विवेचना दी जाती है—'भावं तु बादरायणोस्ति हि' (वेदान्तदर्शन १।३।३३) इस तथा 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' (२।१।५) इस सूत्रमें श्रीवेदव्यासने भूमि-आदिके अभिमानि-देवता भी बताये हैं। स्वामी शंकराचार्य महाराजने उसका इस प्रकार विवरण दिया है—

'ज्योतिरादि-विषया अपि आदित्यादयो देवतावचनाः शब्दाः चेतनावन्तम् ऐश्वर्याद्युपेतं तं-तं देवतात्मानं समर्पयन्ति, मन्त्रार्थवादादिषु तथा-व्यवहारात्। अस्ति हि ऐश्वर्ययोगाद् देवतानां ज्योतिराद्यात्मभिश्च अवस्थातुम्, यथेष्टं च तं-तं विग्रहं ग्रहीतुं सामर्थ्यम्। तथाहि श्रूयते-'मेधातिथिं ह काण्वायनमिन्द्रो मेषो भूत्वा जहार' (षड्विंशब्रा. १।१) स्मर्यते च—'आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह' इति। मृदादिष्वपि चेतना अधिष्ठातारोऽभ्युपगम्यन्ते मृदब्रवीद्, आपोऽब्रुवन्-इत्यादिदर्शनात्। ज्योतिरादेस्तु भूतधातोरादित्यादिषु अचेतनत्वमभ्युपगम्यते। चेतनास्तु अधिष्ठातारो देवतात्मानः; मन्त्रार्थवादादिव्यवहाराद् इत्युक्तम्' (वेदा. १।३।३३)।

(ज्योति आदि विषयों वाले भी आदित्य आदि देवतावाची शब्द चेतन, ऐश्वर्य वाले उस-उस देवतात्माको बताते हैं; क्योंकि-मन्त्र-अर्थवादादिमें वैसा ही व्यवहार देखा गया है। देवताओंमें ऐसा ऐश्वर्य है,

कि—देवता ज्योति आदिके आत्मारूपमें रह सकते हैं; और अपनी इच्छानुसार शरीर धारण कर सकते हैं। जैसे श्रुतिमें—कण्वके लड़के मेधातिथि का इन्द्रने मेष बनकर अपहरण कर लिया। स्मृतिमें आदित्य पुरुष बनकर कुन्तीके पास गया। मट्टी आदिमें भी 'मिट्टी बोली' इत्यादिमें चेतन अधिष्ठाता माने जाते हैं। ज्योतिरूपमें तो सूर्य आदि अचेतन माने जाते हैं, पर इनके अधिष्ठाता देवता मन्त्र-ब्राह्मणादिके अनुसार चेतन माने जाते हैं)।

(२१) सम्पूर्ण शांकरभाष्यको मथकर उसका सुन्दर विवरण आर्यसमाजी-पण्डित श्रीराजारामजी शास्त्रीने अपनी अथर्ववेदभाष्य-भूमिकामें किया है। उसके कई उद्धरण दिये जाते हैं—'परमेश्वरकी सृष्टिमें देहधारी जीवोंकी सृष्टि नाना-प्रकारकी है। इस भूलोकमें ही शैवाल, तृण, घास आदि नाना प्रकारके स्थावर और पशु-पक्षी आदि नाना-प्रकारके जङ्गम हैं। ये सारे जीव-विशेष हैं। मनुष्य इन सबसे ऊंची श्रेणीका जीव है, पर परमात्माकी सृष्टि यहीं तक समाप्त नहीं है। मनुष्यसे कई दर्जेमें ऊंचा पद रखनेवाले जीव भी उसकी सृष्टिमें विद्यमान हैं, जो मनुष्योंकी नाईं चेतन हैं। वे अपनी शक्ति और ज्ञानमें इतने ऊंचे पहुंचे हुए हैं कि—मनुष्यकी शक्ति और ज्ञान उनके सामने तुच्छ हैं।

इस अनेक-प्रकारकी ऊंची सृष्टिमें सबसे ऊंचा स्थान देवताओंका है। देवता चेतन हैं। मनुष्यसे ऊपर और परमेश्वरसे नीचे हैं। परमेश्वरकी ओरसे उनको भिन्न-भिन्न अधिकार मिले हुए हैं, जिनका वे पालन करते हैं। देवता अजर और अमर हैं, पर उनका अजर-अमर होना मनुष्योंकी अपेक्षासे है, वस्तुतः उनकी भी अपनी-अपनी आयु नियत है। ब्रह्माण्डकी दिव्य-शक्तियोंमें से एक-एक शक्ति पर एक-एक देवताका अधिकार है। जिस शक्ति पर जिसका अधिकार है, वही उसका देह है, जो उसके वशमें है।

जैसे हमारे देहमें एक जीवात्मा है, जो इस देहका अधिपति है, इसी प्रकार उस शक्तिके अन्दर भी एक जीवात्मा है, जो उसका अधिपति है। जैसे हमारे अधीन यह देह है, वैसे एक देवताके अधीन सूर्य [पृथिवी आदि] रूपी देह है। हम एक थोड़ी-सी शक्ति वाले देहके स्वामी हैं, वह एक बड़ी शक्ति वाले देहका स्वामी है। वह अध्यात्म-शक्तियोंमें इतना बढ़ा हुआ है कि—अपनी इच्छानुसार जैसा चाहे; वैसा रूप धारण कर जहाँ चाहे, वहाँ जा सकता है। वही देव-सूर्य [पृथिवी आदि] का अधिष्ठाता कहलाता है; और सूर्य [पृथिवी आदि] के नामसे ही बुलाया जाता है। इसी प्रकार अग्नि और वायु [एवं पृथिवी] आदिके अधिष्ठाता देवता हैं।

देवताओंका ऐश्वर्य बहुत बड़ा है, पर वह सारा परमेश्वरके अधीन है। एक-एक देवता एक-एक दिव्य शक्तिका नियन्ता है, पर उन सबके ऊपर उन सबका नियन्ता परमेश्वर है। इसलिए सभी देवता मिलकर जगत्का प्रबन्ध इस प्रकार कर रहे हैं, जिस प्रकार राजाके अधीन उसके भृत्य उसके राज्यका प्रबन्ध करते हैं। देवताओंकी उपासनाओंसे उन कामनाओंकी सिद्धि होती है, जिसके कि वे मालिक होते हैं, पर मुक्ति नहीं। मुक्ति केवल ब्रह्मज्ञानसे प्राप्त होती है। देवता स्वयं भी ब्रह्मको साक्षात् करनेसे मुक्त होते हैं। ब्रह्मको साक्षात् करके भी वे तब तक दिव्य-शरीरको धारण किये रहते हैं, जब तक उनका वह अधिकार समाप्त नहीं हो लेता, जिस अधिकार पर उनको परमेश्वरने लगाया है। अधिकारकी समाप्ति पर वे मुक्त हो जाते हैं; और उनकी जगह दूसरे आ ग्रहण करते हैं; जो मनुष्योंमें से ही उपासना-द्वारा उस पदवीके योग्य बन गये हैं। देवताओंके ऐश्वर्यके दर्जे होते हैं, और सबसे ऊंचा दर्जा ब्रह्माका है' (पृ. ११)

(२२) इससे पृथिवी-देवताका दिव्यमूर्ति-धारण भी स्पष्ट हो गया। इस प्रकार आपात-रूपसे अचेतन दीख रहे पृथिवी आदि पदार्थोंका चेतनत्व वार्तिककार श्रीकात्यायन तथा महाभाष्य-प्रणेता श्रीमान् श्री-

पतञ्जलि भी स्वीकार करते हैं। जैसे कि–'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' (३।१।७) इस पाणिनि-सूत्रसे इच्छा अर्थमें सन् होता है, पर 'अश्मा लुलुठिषते, कूलं पिपतिषति' यहाँ किनारा व पत्थरके अचेतन होनेसे इच्छाके अभावके कारण इच्छार्थक सन् प्राप्त नहीं होता; तब 'आशङ्कायाम् अचेतनेषु उपसंख्यानम्' यह वार्तिक अचेतनोंमें आशङ्का-अर्थमें सन् करनेकेलिए बनाया गया।

इसपर भाष्य इस प्रकार है—'आशङ्कायाम् [अर्थे] अचेतनेषु उपसंख्यानं कर्तव्यम्-अश्मा लुलुठिषते, कूलं पिपतिषतीति। [पत्थरके लुढ़कनेकी, किनारेके गिरनेकी आशङ्का है] (प्र.) किं पुनः कारणं न सिध्यति (इह इच्छार्थकः सन्) ? (उ.) एवं मन्यते-चेतनावतएतद् भवति इच्छा इति। कूलं च अचेतनम्, (अश्मापि) च अचेतनः'।

(आशङ्का अर्थमें अचेतनोंमें भी सन् करना चाहिये। पत्थरके लुढ़कनेकी, किनारेके गिरनेकी आशङ्का है। (प्र.) क्यों इनमें इच्छार्थक सन् नहीं होता ? (उ.) ऐसा माना जाता है कि–इच्छा चेतनोंमें होती है। किनारा और पत्थर दोनों अचेतन हैं)।

इसपर खण्डनवार्तिक आता है—'न वा तु अकारणत्वाद्, इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिः' इस पर भाष्य यह है—'न वा वक्तव्यम् (पूर्व-वार्तिकम्)। (प्र.) किं कारणम् ? (उ.) तुल्यकारणत्वात्। तुल्यं हि कारणं चेतनावति देवदत्ते, कूले च अचेतने। (प्र.) किं कारणम् ? (उ.) इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिर्भवति। योपि असौ (चेतनावान् देवदत्तः) कटं चिकीर्षुर्भवति, नासौ आघोषयति-कटं करिष्यामीति। (प्र.) किं तर्हि ? (उ.) सन्नद्धं रज्जुकीलकपूलपाणिं दृष्ट्वा तत इच्छा गम्यते। कूलस्यापि पिपतिषतो लोष्टाः शीर्यन्ते, भिदा उपजायते, देशाद् देशान्तरमुपसंक्रामति (अतस्तत्रापि इच्छार्थक एव सन् कर्तव्यः।)

(आशङ्का अर्थमें सन् करनेवाले वार्तिककी आवश्यकता नहीं है। (प्र.) क्यों ? (उ.) चेतन-देवदत्तमें तथा अचेतन-किनारेमें कारण समान है। (प्र.) क्या कारण है ? (उ.) इच्छाकी प्रवृत्तिसे उपलब्धि होती है। जो चेतन देवदत्त चटाई बनाना चाहता है; वह ढंढोरा नहीं पिटाता कि–मैं चटाई बनाऊंगा, किन्तु रस्सी और कील तथा मूंज आदि उसके हाथमें देखकर उसकी इच्छाका पता लग जाता है। इस प्रकार किनारा भी जब गिरा चाहता है, उसके ढेले गिरने लगते हैं। उसमें दरार पड़ जाती है, भूस्खलन हो जाता है; इसलिए उसमें भी इच्छार्थ-वाला ही सन्-प्रत्यय करना चाहिये)।

इस पक्षमें कुछ अस्वरस देखकर 'उपमानाद् वा सिद्धमेतद्' यह अन्य वार्तिक बनाया गया। (कूलं) पिपतिषतीव पिपतिषति; इच्छेव इच्छा'। यह उत्तर भी कृत्रिम था, अतः वार्तिककार इसमें वास्तविक उत्तर देते हैं—'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' यहां भाष्य इस प्रकार है–'अथवा सर्वं× चेतनावत्। एवं ह्याह–कंसकाः सर्पन्ति, शिरीषोऽयं स्वपिति; सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति। ऋषिः पठति-शृणोत ग्रावाणः' (तै.सं. १।३।१३।१) (महा. ३।१।१।७)। यहाँ 'प्रदीप'में कैयटने कहा है—'ऋषिः-वेदः, सर्व-भावानां (पदार्थानां) चैतन्यं प्रतिपादयतीत्यर्थः। आत्माऽद्वैतदर्शनेन-इति भावः। (तब यह शंका हुई कि–यदि पत्थर आदि चेतन हैं, तो वे भी हमारी तरह चलते-बोलते क्यों नहीं ? इस पर कहते हैं–'वैचित्र्येण च पदार्थानामुपलम्भात् सर्वचेतनधर्मप्रसङ्गः सर्वत्र नोद्भावनीयः'। (पदार्थोंमें धर्मोंकी विचित्रता होनेसे सब चेतनोंमें सब धर्म नहीं हो सकते) यहाँ उद्योतमें श्रीनागेशभट्टने लिखा है–'चेतनेषु मनुष्येष्वपि नानाजातीय-व्यवहारदर्शनादिति भावः। सर्वत्र परिणामदर्शनेन चेतनाधिष्ठानं विना च तदऽसम्भवात् सर्वस्य (प्राणिनोऽप्राणिनो वा) तद-(चेतना-)धिष्ठितत्वं ज्ञायते–इति तात्पर्यम्'।

× यहाँ 'मतुप्' प्रत्यय है, 'वति' नहीं। सो 'दुष्कृतं चरकाचार्य' में उसके कर्ताका 'वति' प्रत्ययका अर्थ करना ठीक नहीं। इसपर पहले लिखा जा चुका है।

(सभी वस्तुएं चेतन होती हैं। तभी कहते हैं कि—कटोरे सरक रहे हैं। यह सिरसका वृक्ष सो रहा है। सूर्यमुखी फूल सूर्यकी ओर मुंह करता है। तभी वेदने कहा है—'पत्थरो ! सुनो।) इसपर कैयटने लिखा है—वेदने यहां सभी पदार्थोंको चेतन कहा है। विचित्रतावश सभी चेतनोंमें सभी चेतनोंके धर्मका प्रसङ्ग शङ्कित नहीं करना चाहिये। इसपर श्रीनागेशभट्टने कहा है—चेतन मनुष्योंमें अनेक प्रकारके व्यवहार दीखते हैं। तब सब स्थान परिवर्तन-परिवर्धन दीखनेसे चेतन-अधिष्ठानके बिना वैसा होना सम्भव नहीं, अतः सभी पदार्थ चेतनसे अधिष्ठित हैं, अर्थात् चेतन हैं)।

(२३) इस सन्दर्भसे भूमि-देवताकी शक्तिपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सो वेदके भी मतमें पृथिवी-देवता चेतन है। यदि अचेतन होती; तो वेद 'त्वद् विश्वा भुवनानि वज्रिन् ! द्यावा रेजेते (कम्पेते) पृथिवी च भीषा' (ऋसं. ८।९७।१४, १।६१।१६) इत्यादि-मन्त्रोंमें पृथिवीका इन्द्रसे भय न दिखलाया जाता। जड वस्तुको भला भय कैसे हो ? तब वेदके मतमें पृथिव्यभिमानी देवता चेतन होनेसे उससे अधिष्ठित पृथिवी भी चेतन सिद्ध हुई।

तभी वेदने 'भूम्यै पर्जन्य-पत्न्यै नमोस्तु' (अ. १२।१।४२) 'पृथिव्या अकरं नमः' (अ. १२।१।२६) 'नमो मात्रे पृथिव्यै' (यजुःसं. ९।२२) इत्यादि मन्त्रोंमें पृथिवीको नमस्कार करके मूर्तिपूजा सिद्ध की है। तब पृथिवी महिदासके कुलकी देवता होनेसे उसकी शक्तिका प्रभाव महिदासमें भी जानना चाहिये।

(२४) इससे सिद्ध हुआ कि—महिदासका 'मही' यह स्त्रीलिङ्गान्त दो अक्षरोंवाला नाम नहीं था, जिससे 'दास' पद उसका शूद्रत्व-बोधक माना जावे, जैसेकि—श्रीसामश्रमीका अभिप्राय है, किन्तु कृदन्ती चार अक्षरों वाला 'महिदास' यही नाम था। नामके मध्यमें ही शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास शब्द आवें, तो उनसे पुरुषकी ब्राह्मणता-शूद्रता आदि नहीं

जानी जाती, किन्तु नामसे पृथक् ही ठहरे हुए शर्मा, दास आदि शब्द पुरुषको वैसा बताते हैं।

जैसे किसी स्त्रीका नाम 'रामकुमारी' हो, वहाँ 'कुमारी' शब्दमात्र देखनेसे उसका अविवाहितात्व नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उसका सारा ही नाम 'रामकुमारी' हैं। 'राम' यह पुंलिङ्गान्त भला स्त्रीका नाम कैसे हो सके ? तब 'रामकुमारी' यह नाम विवाही स्त्रीका भी हो सकता है, परन्तु 'रमा कुमारी' नाममें उसका 'रमा' यह द्व्यक्षर नाम भी हो सकता है। 'कुमारी' यह उसका विशेषण होनेसे उससे उसका अविवाहितात्व भी सिद्ध हो सकता है। विवाह हो जानेपर वह द्व्यक्षर नाम वाली अपने आपको 'रमा कुमारी' नहीं लिख सकती। परन्तु 'अयुजानि स्त्रीणाम्' (आश्व. १।१५।६) इस शास्त्रोक्तिके अनुसार 'रमाकुमारी' यह पञ्चाक्षर ही सारा नाम उसका इष्ट हो, तो विवाहिता-भी वह अपना नाम 'रमाकुमारी' लिख सकती है, क्योंकि—उसमें 'कुमारी' शब्द नामके अन्तर्गत ही है, पृथक् नहीं।

इस प्रकार किसी क्षत्रियका नाम 'सत्यशर्मा' वा 'कृष्णगुप्त' है, अथवा ब्राह्मणका नाम 'धर्मवर्मा' वा 'अभिनवगुप्त' है, इस प्रकारके नामोंमें समास होनेसे शर्मा, वर्मा, गुप्त शब्दोंसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण नहीं जाना जा सकता, किन्तु वहाँ 'सत्यात् शर्म यस्य स सत्यशर्मा क्षत्रियः, धर्मो वर्म यस्य स धर्मवर्मा ब्राह्मणः, अभिनवाद् गुप्त इति अभिनवगुप्तो ब्राह्मणः, कृष्णेन कृष्णाद् वा गुप्त इति कृष्णगुप्तः क्षत्रियादिः' यह व्युत्पत्तियां होंगी। उस पुरुषके क्षत्रिय होने पर 'सत्यशर्मवर्मा' इस प्रकार नामसे पृथक् ही 'वर्मा' जोड़ा जाता है। इस प्रकार 'धर्मवर्म-शर्मा, अभिनवगुप्त-शर्मा, कृष्णगुप्त-वर्मा'में भी जान लेना चाहिये। इसलिए ध्वन्यालोकके टीकाकार 'श्रीअभिनवगुप्त' गुप्तान्त होनेपर भी वैश्य नहीं कहे जाते, किन्तु ब्राह्मण ही। विकटारको चाणक्य ने कहा था—ब्राह्मणोऽहं विष्णुगुप्तो नाम शिवगुप्ततनयः।' ब्राह्मण होनेसे ही विष्णु-

गुप्तको राजा नन्दके श्राद्धकेलिए निमन्त्रित किया गया था।

इधर विष्णुगुप्त भी गुप्तान्त था, चन्द्रगुप्त भी। यदि श्रीसामश्रमीका उक्त तर्क ठीक हो, तो गुप्तान्त होनेसे दोनोंको वैश्य माना जावे। परन्तु ऐसा नहीं। विष्णुगुप्त (चाणक्य) ब्राह्मण था, चन्द्रगुप्त-मौर्य शूद्र था, किन्हींके मतमें क्षत्रिय। यमराजके लेखक 'चित्रगुप्त' भी गुप्तान्त होनेसे वैश्य नहीं माने जाते। इससे स्पष्ट है कि-सम्पूर्ण नामके अन्तर्गत गुप्त, दास आदि शब्द वैश्य, शूद्र, वर्णको नहीं बताते, किन्तु सम्पूर्ण नामसे पृथक् रखे हुए ही वे वर्णचिन्ह बनते हैं।

(२५) इस प्रकार 'महिदास' में भी 'दास' शब्द नामान्तर्गत है, सम्पूर्ण नामसे पृथक् नहीं, अर्थात् उसका सम्पूर्ण नाम ही 'महिदास' यह चार अक्षरोंका था। 'मही' यह द्व्यक्षर उसका नाम नहीं था, स्त्रीलिङ्ग होनेसे 'मही' यह पुरुषके नाममें कैसे जुड़ सकता है? तब नामान्तर्गत 'दास' शब्दसे उसकी शूद्रता कभी व्यक्त नहीं हो सकती।

महिदास (ऐतरेय) अपनी कुलदेवता मही (पृथ्वी) का उपासक होनेसे उसकी दासतावश 'महिदास' नामसे बुलाया जाता था। पूर्वके प्रमाणोंसे वह ब्राह्मणपुत्र होनेसे 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' (महाभाष्य ४।१।६३) इस प्रमाणसे ब्राह्मणजातिवाला ही था। उसकी माताका 'इतरा' यह नाम ही था। निरुक्तालोचनमें श्रीसामश्रमीने ही स्वयं लिखा है—'इतरा इति प्रसिद्धायाः कस्याश्चिदपि ऋषिरमण्याः पुत्रेण इदं प्रोक्तमिति' (वेदकालनिर्णये २१८ पृ.)। माताके नामके कारण तो उसे 'ऐतरेय' कहा जाता था, महिदास नहीं। जब वह ब्राह्मणका पुत्र सिद्ध है, सामश्रमीजीने वैसे माना भी है, तब वह शूद्र कैसे माना जावे?

दासान्त होनेसे शूद्र मानने पर तो महान् अनर्थ घटेगा। गो. तुलसीदास (मानस-प्रणेता) ब्राह्मण थे, तब वे भी दासान्त होनेसे शूद्र हो जाएंगे, इस प्रकार कालिदास भी। परन्तु ऐसा नहीं है। पहले दिवोदास और सुदास क्षत्रिय हुए हैं, क्या वे भी शूद्र हैं? 'मुद्राराक्षस' का पात्र

वैश्य चन्दनदास भी फिर शूद्र माना जायगा। आजके मोहनदास गान्धि वैश्य भी शूद्र हो जाएंगे। इस प्रकार श्रीदेवदास गान्धि, श्री पुरुषोत्तमदास-टण्डन, श्रीघनश्यामदास आदि नामोंमें भी जानना चाहिये। यदि ऐसा नहीं, यह व्यक्ति दासान्त-नामसे भी जब शूद्र नहीं हैं, क्योंकि—'दास' शब्द यहां नामान्तर्गत है, नामसे पृथक् वर्णचिन्ह नहीं; इसी प्रकार दासान्त होनेसे महिदास भी शूद्र नहीं।

इससे 'ऐतरेय-ब्राह्मण' की पदानुक्रमणिकाकी भूमिकामें जो कि—श्रीविश्वनाथशास्त्री जोशीने 'शूद्रे दासं प्रयोजयेत्' यह प्रमाण लिखा है, और गोभिलगृ.के चिन्तामणि-भट्टाचार्यके भाष्यमें 'दासान्तं चान्त्यजन्मनः' यह शङ्ख-शातातपका वचन दिया गया है, और जो कि-'शर्मा देवश्च विप्रस्य, वर्मा त्राता च भूभुजः। भूतिर्गुप्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत्' यह वचन उद्धृत किया है, इनका उत्तर भी पूर्ववत् ही है। इनका कथन भी श्रीसामश्रमीका अन्धानुकरण ही है। शब्द भी वही हैं। सुश्रुतमें काशिराज श्रीदिवोदासका वर्णन है, तो क्या वे शूद्र थे? उसके-लिए बालमनोरमा (अलुक्समास) में कहा है-'कश्चिद् राजर्षिरयम्'। इससे सिद्ध है कि शर्मा, दास आदि नामसे पृथक् होते हुए वर्णव्यञ्जक होते हैं, नामके मध्यमें नहीं।

(२६) शेष प्रश्न है कि-'यदि महिदास ब्राह्मण हैं, तो उनके नामके साथ 'शर्मा' क्यों नहीं? इस पर जानना चाहिए कि-एतदादिक सब कृत्य ब्राह्मणोंके अधीन थे? सब वर्ण अपने-अपने कर्ममें संलग्न थे, तब 'शर्मा' के साथ न होनेपर भी भ्रमकी सम्भावना नहीं थी। विशेषण व्यभिचार (अनिप्रसक्ति) की प्राप्ति पर ही देना पड़ता है। प्रसिद्ध है—'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्।' तभी तो प्राचीन-समयमें शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास आदि चिन्ह जोड़नेकी शैली कहीं भी न दिखाई, न सुनाई पड़ती है। तब प्राचीनकालके 'महिदास' के नाममें स्थित 'दास' शब्दमें ही वह शैली कहांसे घुस पड़ी?

शर्मा-आदि संकेतोंका तो आजके समयमें ही अधिक उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि-आजके अवर वर्ण, उच्च वर्णोंके कर्म करते हुए भी लज्जित नहीं होते। तब उनसे भेदकतार्थ 'शर्मा' आदि चिन्होंको साथ लगाना पड़ता है, परन्तु पहले सभी स्वस्वकर्मनिरत थे। अत: उस समय 'शर्मा' आदि न लिखने पर भी भ्रम वा व्यभिचार सम्भव नहीं था। नहीं तो याज्ञवल्क्य, शौनक, पाणिनि आदिके नामके साथ 'शर्मा' न होनेसे वे क्या शूद्र मान लिए जाएंगे? यदि ऐसा नहीं, तब 'अत्र "विद्वान् महिदास:" इति लिखितम्, ब्राह्मण ऋषिर्वा महिदास इति न, अतोऽयं शूद्र:' (यहाँ विद्वान् महिदास यह लिखा है; ब्राह्मण वा ऋषि महिदास नहीं लिखा; इसलिए महिदास शूद्र है) यह सामश्रमीजीका अनुमान कुछ भी महत्त्व नहीं रखता।

(२७) श्रीसामश्रमीका यह लिखना कि-'यदि महिदासके नामके साथ 'ऋषि' शब्द प्रयुक्त होता, तब वे ब्राह्मण माने जाते, निरुपपत्तिक है। ऋषि मन्त्रद्रष्टा हुआ करते हैं-यह स्वयं वे अपने 'निरुक्तालोचन' में मान गये हैं। जब महिदास मंत्रद्रष्टा नहीं थे, तब अबाधितरूपसे उन्हें 'ऋषि' कैसे कहा जाता? यदि सामश्रमीजीके अनुसार ऋषि होनेसे ब्राह्मण होता है, पर महिदास अब ऋषि न होनेसे ब्राह्मण नहीं, तो कवषको वे ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? वे तो मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। परन्तु श्रीसामश्रमी उसे ब्राह्मण न मानकर शूद्र मानते हैं, तब उनकी युक्ति अपने मतसे भी विरुद्ध सिद्ध हुई।—वस्तुत: 'ऋषि' शब्दसे मन्त्रका बोध होता है, ब्राह्मणका नहीं, 'यद् ब्रह्मभि: (ब्राह्मणै:) यद् ऋषिभि: यद् देवैर्विदितं पुरा' (अथ.सं. ६।१२।२) इस मन्त्रमें ब्राह्मण, ऋषि और देव पृथक्-पृथक् कहे गये हैं। इससे स्पष्ट है कि-'ऋषि' शब्दसे ब्राह्मणका बोध नहीं होता। ऋषि-योनि तो मनुष्य-योनिसे भिन्न होती है-यह हम 'वेदकी ऋषिकाएं' (७२-७९ पृष्ठ) में बता चुके हैं।

(२८) जोकि—श्रीसामश्रमीजीने महिदासके दूसरे नाम 'ऐतरेय'-

शब्दमें 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा. ४।१।१२०) इस अथवा 'शुभ्रादिभ्यश्च' (पा. ४।१।१२३) इस सूत्रसे ढक् प्रत्यय बताकर इतरा नामकी माताके नामसे प्रसिद्ध होनेसे, पिताका नाम प्राप्त न करके महिदासके शूद्र होनेका अनुमान किया है—यह भी ठीक नहीं। प्राचीन बहुतसे पुरुषोंके नाम माताके नामसे भी देखे गये हैं। उसमें एक कारण है—'सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते' (मनु. २।१४५) (माता हजार पिताओंसे भी गौरवमें बढ़कर है) इस शास्त्रीय-वचनका अनुसरण। जैसे कि-'बृहदारण्यक' के अन्तिम वंश-ब्राह्मणमें गौतमीपुत्र, भारद्वाजीपुत्र, पाराशरीपुत्र, काण्वीपुत्र, आत्रेयीपुत्र, शाण्डिलीपुत्र, (६।५।१-२) आदि नाम माताके नामसे बताये गये हैं; शाङ्करभाष्यमें इसपर 'स्त्री-प्राधान्याद् गुणवान् पुत्रो भवतीति प्रस्तुतम्। अत: स्त्रीविशेषणेनैव पुत्रविशेषणाद् आचार्यपरम्परा कीर्त्यते' (शंकरा.) 'स्त्रीप्राधान्यवशान्मातृनाम्ना निर्देश:' यह सूचित भी किया है, तब क्या यह ऋषि शूद्राके पुत्र शूद्र माने जाएंगे?

महाभाष्यमें श्रीपाणिनिको कई बार 'दाक्षीपुत्र' इस प्रकार माताके नामसे स्मृत किया गया है। श्रीपतञ्जलि अपने आपको 'गोणिका-पुत्र' कहते हैं, 'सौमित्रि' यह लक्ष्मणकेलिए, 'गाङ्गेय' यह भीष्मकेलिए, 'कौन्तेय' युधिष्ठिरकेलिए, 'सौभद्रेय' अभिमन्युकेलिए मातृनाम प्रसिद्ध है! महाकवि-भवभूति 'उत्तररामचरित' में अपने आपको 'जतुकर्णीपुत्र' बताते हैं। तब क्या यह सब व्यक्ति मातृनाम मिलनेसे शूद्र माने जाएं? यदि नहीं, तब यही उपपत्ति ऐतरेयको शूद्र सिद्ध करनेमें निर्बल सिद्ध हुई। मातृ-नामका अन्य कारण एक पुरुषकी बहुत पत्नियाँ होना भी होता है। पिता एक और माताए जब बहुत हों, तब उन माताओंके पुत्र पिताके नहीं-किन्तु अपनी-अपनी माताके नामसे भेदकतार्थ प्रसिद्ध किये जाते हैं, जैसे कश्यप-मुनिकी अदिति पत्नीके पुत्र 'आदित्य वा आदितेय नामसे, दितिके दैत्य, विनताका वैनतेय, कद्रूके काद्रवेय नामसे प्रसिद्ध थे।

इस प्रकार एक महर्षिकी बहुत पत्नियां होनेसे जैसाकि—श्रीसायणने उसकी ग्राख्यायिकामें लिखा है, उनमें इतराका पुत्र भी 'ऐतरेय' कहा गया है, उसकी ग्रन्य विमाताएं थीं। इससे सन्तान शूद्र कैसे हो सकती है ? यह पर्वत नामक ऋषिका पुत्र था—यह पूर्व बता चुके हैं, वह 'ऐतरेयब्राह्मण'-का कर्ता था—इन बातोंसे वह स्पष्ट ब्राह्मण सिद्ध होता है; ग्रन्यथा उससे प्रोक्त ग्रन्थकी 'ब्राह्मण' संज्ञा न होती—यह हम स्वा.द.के ग्रभिप्रायके ग्रनुसार बता ही चुके हैं। पुराणके वचनसे उसके पिताको भी ब्राह्मण बता ही चुके हैं। इस सामश्रमीजीकी युक्तिमें तो ऐलूष-कवषका पितृनाम मिलनेसे वह भी ब्राह्मण सिद्ध हुग्रा। यदि वह शूद्र होता, तो उसकी भी माताके नामसे प्रसिद्धि होती। तब यह सामश्रमीजोकी युक्ति भी व्यभिचरित सिद्ध हुई।

(२९) जो कि—'छूत ग्रौर ग्रछूत' (पूर्वार्ध) में श्रीसातवलेकर महोदयने कहा है—'यह इतरा-स्त्रीका पुत्र था, इसलिए 'ऐतरेय' कहलाया; नहीं मालूम कि—इसका पिता कौन था, इसलिए उसका नाम उसकी माँके नामसे चलता है', यह भी ठीक नहीं। हम पुराणादिसे उसके पिताका परिचय दे चुके हैं। सायणने उसे ऋषि, पुराणने उसे द्विज, स्कन्दपुराणने ऐतरेयको भी द्विज कहा है। पिताका नाम पता न होनेसे पुरुष शूद्र नहीं-हुग्रा करता। श्रीपतञ्जलि ग्रादिके पिताका नाम न मिलने ग्रौर माता-गोणिकाके नामसे प्रसिद्ध होनेसे क्या उन्हें शूद्र मान लिया जायगा ? यदि नहीं, तब ऐतरेयके विषयमें भी यह क्यों नहीं सोचा जाता ? वह माण्डूकि वा पर्वत नाम वाले ब्राह्मणका लड़का था—यह हम बता ही चुके हैं। तब ब्राह्मणका लड़का शूद्र कैसे हो ? पिताका नाम भिन्न-भिन्न मिलनेसे यदि शूद्रता हो; तो कहीं ग्रम्बाशङ्कर ग्रौर कहीं करसनदास पिताका नाम मिलनेसे ग्रौर भिन्न-भिन्न प्रकारके इतिहास मिलनेसे स्वा.द. भी शूद्र सिद्ध हो जावें। क्या वादी ऐसा माननेको उद्यत हैं ?

(३०) इधर महिदासको शूद्र मानने पर वादियोंके साम्प्रदायिक

सिद्धान्तका भङ्ग भी होता है। उसमें प्रश्न है कि—महिदास जन्मसे शूद्र था. वा गुणकर्मसे ? यदि जन्मसे ग्रर्थात् शूद्रापुत्र होनेसे, तब 'वर्णव्यवस्था गुणकर्मसे होती है', यह वादियोंका सिद्धान्त खण्डित होता है। यदि वह गुणकर्मसे शूद्र था, तो उसके कौनसे निकृष्ट गुणकर्म थे ? वह इतरा भी किसी शूद्रकी कन्या होनेसे शूद्र थी, वा निकृष्ट गुणकर्मसे ? दोनों ही पक्षोंमें क्या प्रमाण है ?

यदि ऐतरेय, शूद्राके पुत्र होनेसे शूद्र था, तो वर्ण-व्यवस्था जन्मसे सिद्ध हुई, फिर उसे ब्राह्मण-पदवी कब ग्रौर कहाँ मिली ? वह शूद्रसे ब्राह्मण बन गया—यह कहाँ लिखा है ? इसमें प्रमाण क्या है ? इसमें श्रीसामश्रमी वा उनके पिछलगुग्रोंके साध्य प्रमाण यहां प्रमाणित नहीं हो सकते। यहाँ प्राचीन ऐतिहासिक-प्रमाण ग्रपेक्षित हैं। उनके न होनेसे यह सिद्ध हुग्रा कि—कोई मन्त्र वा ब्राह्मणका द्रष्टा शूद्र नहीं। 'वह गुणकर्मसे शूद्र था'—यह तो प्रत्यक्षसे भी विरुद्ध है। जो वेदके भागको प्रकाशित करता है—वह गुणकर्मसे शूद्र कैसे हो सकता है ? ग्रथवा यदि वह जन्मसे शूद्र है; पीछे ब्राह्मण हो गया; तब तो यह भी सिद्ध हुग्रा कि—सामान्यतया वर्णव्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध होती है, कहीं ग्रपवादवश वर्णका परिवर्तन हो जाता है। पर मूल-सिद्धान्त तो सामान्य-शास्त्रके ही ग्रनुसार होता है। ग्रपवाद सिद्धान्तकी गिनतीमें कभी नहीं ग्राता।

यदि कहीं महिदासका शूद्रसे ब्राह्मण बनना नहीं लिखा; तो वादि-सम्मत 'शूद्र' का लक्षण कट गया। तब शूद्रादि-वर्ण जन्म-मूलक सिद्ध हुए। पर महिदासकी तो जन्मसे शूद्रता ही ग्रसिद्ध है। इसका पिता ब्राह्मण है, माता भी शूद्रा नहीं—यह हम सिद्ध कर ही चुके हैं। 'इतरा' तो उसकी माताका नाम ही था। नाम होनेसे ही 'इतरा' शब्द सर्वनाम-न रहा, ग्रत: 'इतराया ग्रपत्यम्' यह उसकी व्युत्पत्ति वादी-प्रतिवादियोंने पउजीवित की है, ग्रनूदित की है, ग्रादृत की है। नीच ग्रर्थ होनेसे तो

सर्वनाम-संज्ञा न हटनेसे 'इतरस्या अपत्यम्' यही व्युत्पत्ति होती, पर वैसा न होने वा न दीखनेसे वादियोंकी मूलभित्ति ही निर्मूल होनेसे गिर गई–यह विद्वान्-पाठकोंने स्पष्ट अनुभव कर लिया होगा ।

(३१) इससे 'वैदिकधर्म' (३।१।३) में 'सभी भाष्यकार 'इतराका पुत्र 'ऐतरेय' लिखते हैं–इनसे महिदास शूद्र ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि-अमरकोष के अनुसार 'इतरा' शब्दार्थ ही नीच है' यह कहते हुए एक पूर्वपक्षी का भी खण्डन हो गया । 'इतरा' इस नामसे वह 'नीच' कैसे हो सकती है ? अमरकोषमें 'सिंह' शेरका और 'शिव' महादेवका नाम है, तो क्या 'शिव-पूजनसिंह' 'महादेवकी पूजाका शेर' है ? 'कुशवाहा' यह उसका नाम क्या 'कुश उखाड़ने वाली स्त्री' होनेसे है ? यदि नहीं, तो यहाँ भी वैसा क्यों नहीं समझते ?

क्या वादी शूद्रोंको भी नीच मानते हैं ? जन्मसे, वा गुण-कर्मसे ? इतरामें वह नीचता कैसे घटती है ? उसकी नीचतासे उसका पुत्र भी नीच कैसे ? उसने कौन सी नीचता की ? अथवा-माताके शूद्र होनेसे यदि पुत्र भी शूद्र होता है; तो वर्णव्यवस्था जन्मसे सिद्ध होती है । वस्तुतः इन लोगोंके पास श्रीसामश्रमीका वचन ही आधार है, जो स्वयं ही साध्य है, सिद्ध, मूल-आधार इनके पास कोई नहीं, तब इनका पक्ष भी निर्मूल ही है ।

(३२) जो कि–वादी वहीं कहता है कि–'छान्दोग्य-उपनिषद्' तथा 'ऐतरेयारण्यकके वचनसे महिदास, ब्राह्मण सिद्ध नहीं होते, वहाँ तो 'इतराके पुत्रने यह कहा है-' यह लिखा है । इससे महिदास शूद्र सिद्ध होते हैं, क्योंकि–'इतरा' शब्दार्थ ही 'नीच' है ।" यह भी ठीक नहीं–इस पर उत्तर पहले कहा जा चुका है । 'इतरा' नामका अर्थ 'नीच' और ऐतरेयका अर्थ 'नीच स्त्रीके लड़के शूद्र' का नहीं होता । न कभी कोई ऐसा लिखता ही है कि– अमुक बात नीच स्त्रीके लड़केने कही है । वह शूद्र था या ब्राह्मण; यह इतिहासका विषय है। इतिहाससे हमने उसे ब्राह्मण सिद्ध

कर दिया है ।

आरण्यक-उपनिषद्के 'एतद् ह स्म आह महिदास ऐतरेयः' इस वचनमें भी वादीसे इष्ट अर्थ नहीं । महिदासका मत वहाँ दिया जावे गौरवार्थ; और फिर 'नीच स्त्रीके पुत्र शूद्रने यह कहा है' ऐसा उसका विशेषण दिया जावे, यह न्याय्य बात नहीं हो सकती । अपने पक्षकी पुष्ट्यर्थ दूसरेका प्रमाण वा साक्षी उत्तमता बताकर उपस्थापित की जाती है, उस की नीचता बताकर नहीं । 'यह हमारी कही हुई बात एक नीचके पुत्रने मानी है' यह कह कर किसीका प्रमाण कभी नहीं दिया जाता । माता-पिताकी उत्तमतासे पुत्रकी उत्तमता बताई जाती है । जैसेकि मनुस्मृतिमें-

'अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद् वेदपारगः । अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात् पिता स्याद् वेदपारगः' (३।१३६) ज्यायांसमनयोर्विद्याद् यस्य स्यात् श्रोत्रियः पिता' (३।१३७) यहाँ पर पिताकी उत्तमतासे पुत्रकी उत्तमता मानी गई है, पुत्रकी उत्तमता तथा पिताकी नीचतासे पुत्रकी उत्तमता नहीं मानी गई । इसका मूल वेदमें भी देखिये–

'ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यम्' (यजु. माध्यं. ७।४६) अर्थात्-मुझे इस प्रकारका ब्राह्मण मिले, जो पितृमान् हो । 'पिता अस्य अस्ति-इति पितृमान्, तम्' । यह अर्थ ठीक नहीं । पिताके बिना कोई नहीं उत्पन्न होता, अतः यहाँ प्रशस्त-अर्थमें मतुप् है, 'प्रशस्तपितृकम्' इत्यर्थः । यहाँ–'पितृ' शब्दसे माता-पिता दोनोंका ग्रहण है, एकशेष (पा. १।२।७०) से 'मातृ' शब्दका लोप है । 'पैतृमत्यम्' से प्रशस्त पितामह (दादा) आदि विवक्षित हैं—'पितरः-पितामहादयः प्रशस्ता यस्य स तम्' ।

इससे माता-पिताकी प्रशंसासे पुत्रकी प्रशंसा सिद्ध हुई, परन्तु 'नीच-माता-पिताके पुत्र महिदासने ऐसा कहा है-' ऐसा कहनेसे महिदास की प्रशंसा कभी नहीं हो सकती, किन्तु निन्दा ही । तब वादीका मत भी उपेक्षणीय सिद्ध होगा । दूसरेका नामग्रहण उसकी पूजा-सम्मानके लिए होता

है, जैसे-'वा सुप्यापिशले:' (पा. ६।१।९२) इस सूत्रमें आपिशलिके नाम-ग्रहणके लिए कहा है—'आपिशलिग्रहणं पूजार्थम्'। आपिशलके पुत्रने ऐसा माना है। तब उपनिषद् वा आरण्यकमें गौरवके लिए लिया हुआ वह नाम व्यर्थ हो जावेगा-यदि इतरा-नीच माताके पुत्रने यह कहा है; अथवा 'इतरयो:-नीचयो: शूद्रयो: पुत्र इदमाह' (नीच-शूद्र माता-पिताके पुत्रने यह कहा है) यह कहा जावे-यह इतनी स्पष्ट बात है कि-यहाँ अधिक कहना वा लिखना अनावश्यक है। अत: वादीको अपने पक्षकी पुष्ट्यर्थ दूसरेका नामग्रहण प्रशंसार्थ इष्ट होनेसे उपनिषद् और आरण्यकने भी महिदासकी प्रशंसार्थ उसकी माताका नाम लेकर उसे उच्चकुलप्रसूत ब्राह्मण ही सिद्ध कर दिया है—यह रहस्यज्ञाताओंके लिए स्पष्ट है।

वहाँ 'इतरा नाम वाली माताके पुत्र महिदासने यह कहा है' ऐसा तो उसके गौरवार्थ कहा जा सकता है। माताका नाम-ग्रहण 'सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते' (मनु. २।१४५) इस वचनसे पिताकी अपेक्षा भी माताके अपने सम्मानार्थ है, अथवा बहुत माताओं वाले होनेसे उसकी अपनी माताके परिचयकेलिए। नीच अर्थ तो कभी विवक्षित नहीं हो सकता; नहीं तो दाक्षीपुत्र नामसे बुलाये जाने वाले पाणिनि, गोणिका-पुत्र नामसे कहे जाने वाले पतञ्जलि, तथा माताकें नामसे प्रसिद्ध अन्य व्यक्ति भी शूद्र माने जावें, पर यह अनिष्ट है। स्कन्दपुराणमें इतराके पुत्रको द्विज कहा है, और इतराको साध्वी और गुणगणयुता कहा है—यह हम (१२वें अंशमें) बता चुके हैं। एतदादिक बातें वादीका अभिप्राय काट रही हैं।

(३३) जोकि-सामश्रमीजीने कहा है-'एतद् ह स्म तद् विद्वान् आह महिदास:' (३।१६।७) इस छान्दोग्यके वचनमें महिदासके लिए 'विद्वान्' शब्द आया है, ऋषि वा आचार्य नहीं, अत: यह ब्राह्मण नहीं' (ऐत. १४ पृ.) यह भी ठीक नहीं। उक्त स्थलमें 'विद्वान्का अर्थ 'पंडित' नहीं, किन्तु 'जानन्' यज्ञदर्शनको जानते हुए महिदासने कहा है, यही

अर्थ इष्ट है। 'विद्वान्' शब्द 'विद्' धातुसे किये शतृप्रत्ययको वसु आदेश करने पर सिद्ध होता है, जिसका अर्थ शतृप्रत्ययके अनुसार ही होता है। उससे श्रीसामश्रमीजीकी कुछ भी इष्टसिद्धि नहीं, प्रत्युत यज्ञतत्त्वको जाननेवाले होनेसे श्रीमहिदास, ब्राह्मण सिद्ध होते हैं; शूद्र नहीं। तब जिन महाशयोंने श्रीसामश्रमीजीके मतको ही आधार बनाकर श्रीमहिदासको शूद्र कहा है, उनका पक्ष खण्डित हो गया। निष्प्रमाण होनेसे श्रीसाम-श्रमीजीका पक्ष 'साध्य' सिद्ध हुआ, 'सिद्ध' सिद्ध नहीं।

(३४) जो कि-'आर्य और दस्यु' के श्रीरा.दे.जीके मतसे वादी महिदासको शूद्र बताता है, यह तो व्यर्थ है। उसमें तो उनने 'यह किसी ऋषिकी पत्नी इतराका पुत्र था' यही लिखा है। इससे वह शूद्र कैसे हो जावे? पिताको जब ऋषि कहा है, तो उसका पुत्र भी ब्राह्मण ही प्रतिफलित होता है। यदि श्रीरा.दे.जी उसे शूद्र लिख भी दें, तो उनका कथन निष्प्रमाण होनेसे चिन्त्य होगा, 'सिद्ध' नहीं।

(३५) हमारे शिष्य स्व. श्रीध.दे. शास्त्री-(दर्शनकेसरी) का 'सुधा' (११।२) में 'महिदास जैसे शूद्र उसी जमानेमें ब्राह्मण-ग्रन्थोंके निर्माता बने हैं-' यह कथन भी केवल गतानुगतिकतामात्र है। उस महाशयने भी इस विषयमें कोई सिद्ध प्रमाण नहीं दिया, अत: निर्मूल है।

जोकि उसने कहा है-'महाभारत'में तो अनेकों ऐसी दन्तकथाएं मिलती हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि-शूद्र भी बड़े विद्वान् और प्रतिष्ठित होते थे' यह भी भ्रम है। हम तो मनुके शब्दसे कहते हैं-' न ब्राह्मणक्षत्रिययो:··· कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते' (३।१४) कि-किसी ब्राह्मणकी स्त्री शूद्रा नहीं अनुशिष्ट की गई। जिसके माता-पिता दोनों शूद्र हों; ऐसे शूद्रका वर्णन उनको प्रकृतमें दिखलाना चाहिए था, पर वैसा नहीं दिखलाया। हाँ, धर्मव्याधकी तरह कोई आरूढपतित हो, वह तो अपवाद ही होगा, सामान्य नहीं। व्यवस्था सामान्यशास्त्रसे होती है। 'विद्वान्' इस शब्दसे यदि उन्हें 'वेदभिन्न ग्रन्थका विद्वान्' अर्थ इष्ट हो, तो हमारा

अधिक विवाद नहीं। शूद्रकी विद्वत्तासे गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था कटती है—यह भी वादियोंको विचारना चाहिये।

(३६) श्री र. का. शास्त्री, ठा. ब. ज. सिं., श्रीनो.ला. आदियोंका ऐतरेयको 'दासी-पुत्र' बताना 'साध्य' ही है, 'सिद्ध' नहीं। 'दासी' भी शूद्रा हो—यह भी आवश्यक नहीं। शर्मिष्ठा देवयानीकी दासी थी, पर न तो वह 'शूद्रा' थी; और न उसके लड़के पुरु आदि दासीपुत्र-शूद्र माने जाते हैं। उन महाशयोंने श्रीसामश्रमी तथा उनके पिछलगुवा श्रीकाव्यतीर्थके कहनेसे वैसे लिखा है. हमने उस पक्षका खण्डन कर ही दिया है; मूल आधार जिससे महिदास शूद्र सिद्ध हो सकें, इनके पास सर्वथा नहीं है। तब श्रीसामश्रमी-के मतके निराकरणसे 'प्रधानमल्लनिबर्हण' न्यायसे वा 'गर्भिणीहनने गर्भ-हननवत्' इस लोकोक्तिसे उनका पक्ष कट गया।

बीजकी प्रधानतासे, उसके पिताके ब्राह्मण होनेसे श्रीमहिदास स्पष्ट ब्राह्मण ही सिद्ध होते हैं। इतराको भी किसी इतिहासमें शूद्रा नहीं कहा। विवाह सवर्णासे ही शास्त्रोंने अनुशिष्ट किया है. तब एक ऋषि-ब्राह्मण असवर्णासे विवाह कैसे करे? जहाँ वैसा करता है; वहाँ वैसा निर्देश लिखा हुआ होता है. पर यहाँ कहीं ऐसा नहीं लिखा। श्रीसामश्रमीके अनुसारियोंने उनकी अपेक्षा कोई नया प्रमाण वा नई उपपत्ति भी तो नहीं दी, तब उनकी सम्मतिका क्या मूल्य हो सकता है? हाँ, श्रीसाम-श्रमीसे पूर्वकालीन किसी प्रामाणिक-विद्वान्का वा पुराण-इतिहास आदिका कोई परिपुष्ट प्रमाण दिया जाता, तो उसका कुछ महत्त्व भी था, पर अब केवल साध्य श्रीसामश्रमीका पक्ष-समर्थन 'साध्यसम' हेत्वाभास ही है।

(३७) जोकि शूद्रोंको वेदाधिकारकी सिद्धि के लिए वादीने 'वैदिक-धर्म'पत्रमें 'शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद् वेदवचनमपि दर्शितं स्वामिदयानन्देन 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' इति; तदेवं वेदविधेः पक्षपातदोषभाक्त्वं न कथमपि-इति स्पष्टम्' (शूद्रके वेदाधिकारमें साक्षाद् वेदका—'यथेमां वाचं

कल्याणीम्' वचन भी स्वा.द.ने दिखलाया है—तब इस प्रकार वेद पक्षपाती भी सर्वथा नहीं है—यह स्पष्ट है) यह श्रीसामश्रमीजीका उद्धरण लिखकर इससे वेद-प्रवक्ता श्रीमहिदासकी शूद्रता एक ढंगसे सिद्ध करनेकी चेष्टा की है, इस पर यह जानना चाहिये कि—यह मन्त्र शूद्रादिको वेदाधिकार-प्रद नहीं। इस विषयमें हम इस ग्रन्थके आरम्भसे ५५ पृष्ठ तक प्रकाश डाल ही चुके हैं—इससे भी बादीके पक्षकी सिद्धि नहीं। इस स्वा.द.के नाम लेनेसे भी सिद्ध हुआ कि—श्रीसामश्रमीको उक्त मन्त्रका स्वा.द.का तथाकथित अर्थ इष्ट नहीं। नहीं तो स्वा.द.का नाम न लेकर उक्त मन्त्रका स्वयं वैसा अर्थ लिखते।

शूद्रोंको वेदाधिकार न देनेसे वेदादि-शास्त्रोंका पक्षपाती होना भी सिद्ध नहीं हो सकता। गत-जन्मके कुत्सित-गुणकर्मों से और पूर्वजन्मके पुण्य न होनेसे इस जन्ममें यदि परमात्माने वा ऋषियोंने शूद्रको वेदका अधिकार नहीं दिया, तो इसमें भी पक्षपात नहीं। वादीको बताना चाहिये कि—परमात्माने उनके साम्प्रदायिक-सिद्धान्तानुसार वेद चार ऋषियों(?) को दिये, इनमें कोई स्त्री तथा शूद्र क्यों नहीं रखा गया? क्या यह पक्षपात नहीं? यदि वे स्वा.द.जीके शब्दोंमें कहें कि—

'अत ईश्वरे पक्षपातस्य-लेशोपि नैव आगच्छति; किन्तु अनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यग् न्यायः प्रकाशितो भवति। कुतः? न्यायेति अस्यैव नाम अस्ति; यो यादृशं कर्म कुर्यात्, तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात्। अत्रैवं वेदितव्यम्—'तेषामेव (चतुर्ऋषीणां) पूर्वपुण्यमासीत्, अतः खलु एतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्तुं योग्योस्ति' (ऋ.भा.भू. वेदोत्पत्ति-विषय १६ पृष्ठ) (इससे ईश्वरमें पक्षपातदोषका लेश भी नहीं आ सकता, किन्तु इससे उस न्यायकारी परमात्माका सम्यक् न्याय ही प्रकाशित होता है, क्योंकि—न्याय इसीका नाम है, जो जैसा कर्म करे, उसे वैसा ही फल दिया जावे। इसमें यह जानना चाहिये कि—उन चार ऋषियोंका पूर्वजन्मका पुण्य था, इसलिए उन्हीं चार ब्राह्मणोंके हृदयमें वेदोंका प्रकाश

करना योग्य था) ।

तब हमारी ओरसे उत्तर भी यही होगा कि—स्त्री-शूद्र आदियोंके पूर्वजन्मके कर्म इस प्रकारके थे कि—उनका त्रैवर्णिकोंके घर और पुरुष-रूपमें जन्म नहीं हुआ । इससे उन स्त्री-शूद्रोंका प्रतिनिधि भी वेद-ग्रहणमें नहीं रखा गया । तब स्त्री-शूद्रोंके वेदमें अनधिकारसे भी ईश्वरका पक्षपात नहीं, अपितु उन पर अनुग्रह ही किया है जैसे कि वादी से उद्धृत उद्धरणके आगे ही श्रीसामश्रमीने लिखा है—

'स्पष्टं च दासानामनुपयुक्तमतीनां मन्वादिकर्तृकं वेदानधिकारित्व-विधानम् अनुग्रहार्थमेव इति' (ऐत. पृ. १७) । (स्पष्ट ही है कि—अनुपयुक्त-बुद्धिवाले शूद्रादिकेलिए वेदका अधिकार न रखना मनु आदियों-का उनपर अनुग्रहार्थ ही है ।)

जैसे कि—कई लोग सारा समाचारपत्र पढ़कर उसमें प्रयास करके दृष्टिको कष्ट देकर देशकी दशाको जान लेते हैं; और कई लोग समाचारपत्रके, पढ़ने-देखनेके कष्टके विना ही अन्य-द्वारा उसका निष्कर्ष सुन लिया करते हैं, कृच्छ्रकर्मोंमें लगे होनेसे उनके समयकी रक्षा भी हो जाती है, अन्य कष्ट भी बच जाता है । इस प्रकार स्त्री-शूद्रादि भी कृच्छ्रकर्मोंमें सदा लगे रहनेसे पठनादि-कष्टकी प्राप्तिके बिना ही पुराणेतिहास-श्रवणके द्वारा वही वैदिक-तत्त्व अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं । इससे समय बच जानेसे वे शूद्रादि यन्त्रादिनिर्माण करके देशका महोपकार कर सकते हैं ।

फलतः स्त्री-शूद्रोंको वेदका अधिकार अशास्त्रीय ही है, और ऐतरेय-महिदास ब्राह्मण ही हैं—यह हम प्रमाणोपपत्तिसहित सिद्ध कर ही चुके हैं, तब उनके दृष्टान्तसे शूद्रोंका वेदाधिकार सिद्ध नहीं हो जाता ।

(३८) विशेष सूचना यह भी आवश्यक है कि—श्रीसामश्रमीजीने 'तत एव महिदास इति दासान्तमभिधानमपि विश्रुतम्, तथा 'विद्वान्' इत्येवं

विशेषणम्, ननु ऋषिरिति, आचार्य इति वा' (ऐत. पृ. १४) (तभी उसका 'महिदास' यह दासान्त नाम भी प्रसिद्ध है, तथा—'विद्वान्' उसका विशेषण है, ऋषि वा आचार्य नहीं) यहाँ महिदासको 'ऋषि' नहीं माना, पर वादीने उन्हें अपने शीर्षकमें 'ऋषि' माना है, अपने शब्दोंमें 'विद्वद्वर्य' सामश्रमीजीके पक्षसे उसका यह 'विद्रोह' क्यों ?

(३९) श्रीसामश्रमीजीने महिदासको 'ऐतरेयालो.' के १४वें पृष्ठमें 'दासीपुत्र' लिखा है, १८वें पृष्ठमें 'शूद्रागर्भजातत्वेपि ब्राह्मणग्रन्थ-प्रवचन-शक्तिमत्वेन ब्राह्मणत्वं स्यात् सजातम्; किं तत्र चित्रम्' यहाँ उसका ब्राह्मणत्व सन्दिग्ध-रूपसे लिखा है । फिर २०वें पृष्ठमें 'सोयमेक एव ऐतरेयो महिदासो ब्राह्मणः, पारशवो वा विद्यया ब्राह्मणत्वमासाद्य' यहाँ महिदास-को पहले तो ब्राह्मण, फिर पारशवसे ब्राह्मण भिन्न-भिन्न करके लिखा है ।

१२वें पृष्ठमें 'कैश्चिदनुमीयते-सोऽयमैतरेयः स्याद् दासीपुत्रः' इस अपने वाक्यमें 'कैश्चित्' इस शब्दसे सम्भवतः कई पाश्चात्य विद्वानों वा तदनुसारी आजकलके कई सुधारकोंके मतमें उसे 'दासीपुत्र' दिखलाया है, तब २०वें पृष्ठमें लिखा हुआ—'सोऽयं महिदासो ब्राह्मणः' यही पक्ष ही उनका सिद्धान्त प्रतीत होता है, तब तदनुसारी वादियोंका महिदासका शूद्रताविषयक मूल ही सर्वथा उच्छिन्न हो जाता है । तथापि कई अर्वाचीनोंके पक्षको सिद्ध करनेकेलिए कई दुर्बल उपपत्तियाँ देकर उन्होंने अपना दोलायितमतित्व दिखला दिया है । उन उपपत्तियोंकी निस्सारता हमारे इस निबन्धसे अभिज्ञ पाठकोंको प्रतीत हो ही गई होगी । विद्वानों-को इस आजकलके प्रमादको अब हटा ही देना चाहिए ।

(४०) जोकि—श्रीसत्यव्रत-सामश्रमी-महाशयने 'निरुक्तालोचन' वा 'ऐतरेयालोचन' में लिखा है कि- 'दासीपुत्रस्य ब्राह्मणग्रन्थप्रवक्तृत्वं तु किं तुच्छम्, मन्त्रद्रष्टृत्वमपि ज्ञायते दासीपुत्रस्यापि । तद् यथाश्रुतं तावत् तत्रैव (ऐतरेयब्राह्मणे) कवषैलूषोपाख्यानम्' (दासीपुत्रका ब्राह्मणग्रन्थप्रवक्ता

होना तो क्या बात है, दासीपुत्रका तो मन्त्रद्रष्टा होनेका भी पता लगता है—यह ऐतरेय ब्राह्मणमें देखा गया है) यह लिखकर मन्त्रद्रष्टा ऐलूष-कवष को भी शूद्र सिद्ध करना चाहा है, इसमें भी वे भ्रममें पड़ गये—यह अग्रिम-निबन्धमें बताया जाता है।—

---

(२४) क्या ऐलूष कवष शूद्र थे ?
(दूसरी ऐतिहासिक भूल)

पूर्वपक्ष—शूद्रोंको भी वेदका अधिकार है। दासीपुत्र ऐलूप-कवष शूद्र था, फिर भी वह वेद-ऋषि बना, इसमें निम्न साक्षियाँ हैं—'दासी-पुत्रस्य [महिदासस्य ऐतरेय] ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रोक्त (प्रवक्त ?) त्वं तु किं तुच्छम्, मन्त्रद्रष्टृत्वमपि ज्ञायते दासीपुत्रस्यापि। तद् यथाश्रुतं तावत् तत्रैव (ऐतरेय-ब्राह्मणे) कवषैलूषोपाख्यानम्—इति' (श्रीसामश्रमी ऐतरेया-लोचन'—द्वितीय सं. सन् १९०६ पृ. १४)। (ख) 'मन्त्रद्रष्टा' ऐलष-कवष भी शूद्र था—इस सामश्रमीजीके मतको प्रचलित करनेवालोंमें सव-प्रथम आर्यसमाजी श्रीशि.शं. काव्यतीर्थ थे। उन्होंने 'जातिनिर्णय' (सन् १९०७) के २४९-२५० पृ: में लिखा है—'कवप दासीपुत्र और जुआरी था, और (अब्राह्मण) अपने आचरणोंसे बहुत ही भ्रष्ट था। पश्चात् इसने अध्ययनरूप महाव्रतको धारण किया; और सम्पूर्ण ऋग्वेदका (?) अध्ययन करनेपर उसे वेदके नवीन-नवीन विषय भासित होने लगे। यह देख ऋषियोंने उसे बुलवाया।

(ग) इसी प्रकार (वैदिक वाङ्मयका इतिहास द्वितीयभाग २२१-२२२ पृष्ठमें) (घ) 'छूत और अछूत' (पूर्वार्ध १५६ पृ.) में, (ङ) 'आर्योदय' १३१ पृष्ठमें, (च) 'हिन्दुजातिका उत्थान और पतन' (२५६ पृ.) में, (छ) 'भारतवर्षमें जातिभेद ५ पृ.) में, (ज) श्रीरा.रा. शास्त्री वेदान्तदर्शनभाष्य (२५४ पृ.) में, (झ) श्रीरा.प्र. 'वैदिकसिद्धान्त' (७५ पृ.) में, (ञ) स्वा.भ.द. 'वर्णव्यवस्थाका मरण' (५५ पृ.) में, (ट) श्रीग.प्र. एम.ए., (ठ) सार्वदेशिक (३१।१) में, (ड) एक सिद्धान्तालङ्कार आदि ३० के लगभग आजकलके सुधारक इसमें सहमत हैं।

(ढ) श्रीतर्करत्नजी भी 'अछूतोद्धारनिर्णय' में लिख चुके हैं। (ण) श्रीशाण्डिल्यजी 'भारतीय-धर्मशास्त्र' पृ. १५ में लिखते हैं—'जातिमें भेदभावना-प्रदर्शक पतन' तो इस पाणिनिसे भी पूर्वका है; ऐतरेयब्रा. में कवषको विद्वत्ता और योग्यता होनेपर यहाँ तक तिरस्कृत कर दिया कि यह अब्राह्मण दासीका पुत्र, कितव क्यों आया है ? वह प्यासा ही मरे, पर सरस्वती नदीका जल पी नहीं सकता—विद्या नहीं पढ़ सकता'। इससे इन सबके मतमें शूद्रको भी वेदाधिकार सिद्ध होता है। आप शूद्रको वेदानधिकारी कैसे बताते हैं ?

उत्तरपक्ष—हम इन सब मतोंको अपने क्रमसे उद्धृत करके आलोचित करेंगे, 'आलोक' के पाठकगण सावधानतासे इधर ध्यान देंगे। जैसे इन विद्वानोंको श्रीमहिदासकी शूद्रतामें भ्रम हुआ, वैसे ही इनको कवषके विषयमें भी शाब्दिक-भ्रम हो गया है। सबके उपजीव्य श्रीसामश्रमी हैं, अतएव हम उनकी आलोचना पहले देंगे, यद्यपि उन्होंने इस पर विशेष कुछ भी नहीं लिखा। फिर इनके पिछलगुआ काव्यतीर्थ आदि की भी हम आलोचना करेंगे।

(१) 'ऐतरेय-ब्राह्मण' में ऐलूषकवषके विषयमें निम्न कण्डिका मिलती है—'ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। ते कवषमैलूषं सोमाद् अनयन्। दास्या:पुत्र:, कितव:, अब्राह्मण: कथं नो मध्ये अदीक्षिष्ट इति ? तं बहिर्धन्व उदवहन्, अत्र एनं पिपासा हन्तु, सरस्वत्या उदकं मा पात् इति। स बहिर्धन्व उदूढ: पिपासया वित्त एतद् अपोनप्त्रीयमपश्यत् 'प्रदेवत्रा' (ऋसं. १०।३०) इति। तेन अपां प्रियं धाम उपागच्छत्। तम् आपोऽनूदायन्, तं सरस्वती समन्तं पर्यधावत्...एनं सरस्वती समन्तं

परिससार। ते वै ऋषयोऽब्रुवन्-विदुर्वै इमं देवाः, उप इमं ह्वयामहै इति' तथा इति तमुपाह्वयन्। तमुपहूय एतदपोनप्त्रीयप्रकुर्वत' (२।२।१९)।

अर्थात्—भृगु-अङ्गिरा आदि ऋषियोंने सरस्वती नदीके किनारे एक यज्ञ आरम्भ किया। इसमें इलूषके लड़के कवषने भी दीक्षा ली थी, परन्तु वह द्यूतव्यसनी था, इस कारण ऋषियों—मन्त्रद्रष्टाओंने उसको उस यज्ञसे निकाल दिया। उनका यह आशय था कि—यह दास्याःपुत्र-नीच, अब्राह्मण-वेदानभिज्ञ अप्रशस्त-ब्राह्मण, कितव-जुवारी है, तब यह हम प्रशस्त वेद-द्रष्टा ऋषियोंमें दीक्षा कैसे ले सका? वे उसे उस यज्ञ-प्रदेशसे बाहर सरस्वती नदीके तटसे दूर निर्जल प्रदेशमें ले गये कि यह यहाँपर प्यासा मर जाय, पवित्र सरस्वती-नदीका जल न पीवे। कवषको तव बहुत प्यास लगी हुई थी। उस समय कवषको अप् देवता वाला ऋ. १०।३० सूक्त प्रतिभात हुआ। उक्त सूक्तके जपनेसे जलाभिमानी देवताका उस कवष-पर अनुग्रह हो गया। सरस्वती-नदीका जल उसकी ओर कुछ प्रवाहित हो गया—जिससे उसकी प्यास बुझ गई। उसके निकालने वाले ऋषियोंने कहा—अहो! इस कवषको तो हमसे उपासित हो रहे देवता लोग उत्तम समझते हैं, इसलिए यह अनादरयोग्य और निकालने योग्य नहीं। अब इसको बुला लें। उन्होंने उसको बुला लिया।

(२) इसमें श्रीशाण्डिल्यजीका कथन हम पूर्वपक्षके [ण] भागमें उद्धृत कर चुके हैं। श्रीशा.जीने इससे यह सिद्ध किया है कि—निरवसित शूद्रोंका पात्रबहिर्भूत होनेका व्यवहार पाणिनिसे भी पूर्वसे प्रचलित है, और वह ब्राह्मणकालमें था। पर हम कहते हैं कि—पाणिनिके अनुसार ब्राह्मणभाग वेद है, तब ऐसा व्यवहार वेदकालका सिद्ध है, तो क्या वेद आपके मतमें पतन सिखलाता है? पं.जी यदि ब्राह्मणभागको वेद न भी मानें, तो इतना तो सिद्ध हो गया कि—यह व्यवहार ब्राह्मणकालमें ग्रन्थमें लिखा गया।

इससे स्पष्ट है कि—ब्राह्मणभागमें दिखलाया हुआ कवष उनके

मतमें ब्राह्मणकालसे पूर्वके मन्त्रकालमें हुआ, और उसके साथ हुआ भेदव्यवहार वेदकालमें ही सिद्ध हुआ, जिसे ब्राह्मणभागने अनूदित किया वा समर्थित किया। 'वेदकालमें ही यह व्यवहार हुआ' इस विषयमें यही प्रमाण पर्याप्त है कि ऐलूष-कवष ऋसं. के १०म मण्डलके ३०-३४ सूक्तोंका ऋषि-द्रष्टा प्रकटयिता है। वेदकालमें ही ऋषियों द्वारा मन्त्र-प्राकट्य होनेसे कवषकी वेदकालमें सत्ता सिद्ध हुई, तब उसके साथ भेद-व्यवहार भी वेदकालिक ही सिद्ध हुआ।

श्रीशाण्डिल्यजीका 'सरस्वत्या उदकं मा पात्' का 'विद्या नहीं पढ़ सकता' यह अर्थ ठीक नहीं है, प्रकरणविरुद्ध भी है। 'शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः' इस शब्दार्थके निर्णायक हेतुके कारण यहाँपर यथाश्रुत ही अर्थ है, क्योंकि—आगे 'बहिर्धन्व—[मरुप्रदेशे] पिपासया वित्त एतद् अपोनप्त्रीयम-पश्यत्—'पिपासा एनं हन्तु' यहाँपर जलके पीने न पीनेका ही वर्णन है, विद्याके पढ़ने-न पढ़नेका नहीं, क्योंकि—वहाँ कोई गुरुकुलका प्रकरण नहीं। वहाँ तो सरस्वती-नदीके तीर पर हो रहे हुए यज्ञका वर्णन हो प्रकृत है। उस नदीके किनारे यह विचार प्रचलित हो रहा था कि—इस कवषको यज्ञमें दीक्षित किया जाय, या नहीं? उस समय प्यासे हुए कवषको उसकी ठगीके दण्डनार्थ सरस्वती-तटसे दूर निर्जल-स्थानमें भेज दिया गया था।

इधर विद्या न पढ़नेका शा.जीका अर्थ अपने कथनसे व्याहत भी है, क्योंकि—पहले उन्होंने लिखा है—'कवषकी विद्वत्ता और योग्यता होने पर भी उसे कह दिया कि—यह विद्या नहीं पढ़ सकता'। यदि वह विद्वान् था, तो फिर विद्या पढ़नेका प्रश्न ही उदित नहीं होता। इस कारण यहाँ सरस्वती-नदीके जलपानका ही निषेध इष्ट है। तब उनके भी मतानुसार दासीपुत्रका सरस्वती नदीका जलपाननिषेध, शूद्रोंके निरवसित-अनिरवसित भेदको वैदिक सिद्ध कर रहा है। वस्तुतः कवष शूद्र नहीं था, किन्तु ब्राह्मण ही था।

'दास्याःपुत्र' शब्द पर विचार।

(३) उक्त कण्डिकामें कवषकेलिए कहे हुए 'दास्याःपुत्र' और 'अब्राह्मण' शब्द आजकलके शब्दार्थमात्रग्राही, प्रकरण-पर्यन्त पहुंचनेमें आलसी, अनुसन्धानवन्ध्य वादियोंको उत्पन्न हुए भ्रमके आधार हैं, परन्तु यहाँ यह जानना चाहिये कि-'दास्याःपुत्रः' इस अलुक्समास वाले शब्दका 'शूद्राका पुत्र' अर्थ नहीं, किन्तु जुवारी-कवषकी निन्दार्थ ऋषियोंने उसे इस शब्दसे गाली दी। अतः उक्त कण्डिकाकी व्याख्या करते हुए श्रीसायणाचार्यने लिखा है—'दास्याःपुत्रः' इत्युक्तिरधिक्षेपार्था' अर्थात् उक्त कथन उस पर आक्षेपार्थ है, वह वास्तवमें ऐसा नहीं है। इसमें स्पष्ट हुआ कि-वह शूद्र नहीं; किन्तु उसके अपमानकेलिए यह वचन है। यदि वह वास्तवमें दासी-पुत्र होता, तो वैसा कहना उसका अपमान नहीं था, किन्तु यह तो तब सत्य था।

(४) आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा.द.जीने भी 'स.प्र.'के ५६ पृष्ठमें लिखा है—'गुणेषु दोषारोपणमसूया अर्थात्-दोषेषु गुणारोपणमपि असूया। गुणेषु गुणारोपणं, दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः' (४ समु.)। इस प्रकार 'नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य' (पा. ८।४।४८) इस सूत्रसे 'पुत्रादिनी त्वमसि पापे' इस प्रयोगमें असत्य होनेसे आक्रोश (निन्दा)-वश 'पुत्र' शब्दके द्वित्वका निषेध कर दिया है, पर 'पुत्त्रादिनी सर्पिणी' में सत्य होनेसे आक्रोश (निन्दा) न होनेसे पुत्र शब्दका द्वित्व हो ही जाता है। फलतः शूद्रको 'दासी-पुत्र' कह देना यह उसका अपमान नहीं होता, क्योंकि वह तो सत्य होता है। सत्यतामें अधिक्षेप नहीं होता। पर ब्राह्मण वैसा नहीं होता, उसकेलिए 'दास्याःपुत्र' शब्दका प्रयोग आक्रोश-अधिक्षेपमें ही पर्यवसित हो जाता है। इस प्रकार प्रकृतमें भी जानना चाहिये।

(५) वेदाङ्ग-व्याकरणके ज्ञाता जानते हैं कि—'षष्ठ्या आक्रोशे' (पा. ६।३।२१) इस सूत्रकी अनुवृत्तिमें आक्रोश-अर्थमें 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' (पा. ६।३।२२) इस सूत्रके उदाहरणमें अलुक्समासमें 'दास्याःपुत्रः' यह और लुक्में 'दासीपुत्रः' यह निन्दाका स्पष्ट उदाहरण है। आक्रोश अतत्त्व-(असत्य) वचनका नाम होता है, तत्त्व (सत्य) वचनमें समासमें तो अलुक्समासता सर्वथा नहीं होती, व्यस्तता भले ही हो।

इस प्रकार उक्त श्रुतिमें भी वेदाङ्गकी साक्षी होनेसे 'दास्याःपुत्र' यह समासयुक्त शब्द आक्रोश, अधिक्षेप, निन्दावाचक ही है। इससे कवष वस्तुतः शूद्रापुत्र सिद्ध नहीं होता; किन्तु ब्राह्मण होते हुए भी कितव [द्यूतव्यसनी] होनेसे 'दास्याःपुत्र' शब्दसे उसकी निन्दा ही इष्ट है। 'दास्याःपुत्र' यह अलुक्समासवान् शब्द गालिप्रदानकी तरह निन्दा-प्रयोजनक, अथवा निन्दार्थ-द्योतक ही हुआ करता है; वास्तविक शूद्रा-पुत्र कैसे सिद्ध हो सकता है?

(६) इसपर एक दयानन्दी-वादी 'सार्वदेशिक' (३१।३) में कहता है कि-'आप व्याकरणका डण्डा लेकर शूद्रापुत्रको ब्राह्मण कहते हुए साधारण-जनताकी आँखमें धूलि फेंकते हैं', इस पर उत्तर यह है कि-जबकि हमारा भारतीय-वाङ्मय संस्कृत-भाषामें है, तब संस्कृत-शब्दके अर्थ करनेकेलिए संस्कृत-व्याकरणकी अपेक्षा होती ही है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद वा लौकिक-शास्त्रका अर्थ जानना इष्ट हो; तो वहाँ मुखस्थानीय-वेदाङ्ग-व्याकरणका आश्रय लेना ही होता है।

यदि व्याकरणका परिनिष्ठित ज्ञान न हो तो 'नताद् ब्राह्मणम्' इस 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा०' (पा. ७।१।३९) वेदाङ्ग-व्याकरणसे निष्पादित वैदिक-वाक्यमें स्कूली ग्रामर पढ़ा हुआ विद्यार्थी 'नताद्' को पञ्चम्यन्त जानेगा; जबकि यह पाणिनि-व्याकरणानुसार द्वितीयान्त है। व्याकरणका परिनिष्ठित ज्ञान न होने पर 'देवानाम्प्रियः' इस अलुक्समास वाले शब्दका कोई 'विद्वानोंका प्यारा' अर्थ कर देगा, जबकि-इसका अर्थ अलुक्समासमें केवल 'मूर्ख' ही है।

केवल कोष लेकर मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदका अर्थ किया जावे, इसलिए

'दास्या:पुत्र' इस अलुक्समास वाले प्रयोगका भी 'शूद्रापुत्र' ही अर्थ किया जावे, तो 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जार: शृणोतु न:' (ऋसं. ६।५५।५) 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' (१।१६४।३३) इत्यादि मन्त्रोंका भी अश्लील अर्थ हो जावे ! पर वादी भी ऐसा नहीं मानेगा। इससे स्पष्ट है कि—एतदादि-स्थलमें व्याकरण और प्रकरणका भी **परिनिष्ठित ज्ञान** आवश्यक ही है। हाँ, व्याकरणका **दुरुपयोग** नहीं करना चाहिए, जैसाकि—**वादी** किया करते हैं।

इससे सिद्ध है कि—उक्त प्रयोगमें **द्यूतसेवी** होनेसे **निन्दार्थ** ही कवषको अलुक्समास वाले 'दास्या:पुत्र' शब्दसे अधिक्षिप्त किया गया है, वस्तुस्थिति वैसी नहीं। इस ब्राह्मणाभागात्मक वेदमें 'दास्या:पुत्र' प्रयोगमें निन्दार्थकताका अनुसन्धान करके ही श्रीपाणिनिने वेदाङ्ग अपने-व्याकरणमें यह सूत्र बनाया—'षष्ठ्या आक्रोशे' 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' (६।३।२१-२२)। तब इस ब्राह्मणग्रन्थके प्रयोगमें **आक्रोश अर्थ** ही फलित हुआ, यथार्थता (शूद्रापुत्रता) नहीं। तो फिर 'दास्या:पुत्र' शब्दसे 'कवष' की निन्दामात्र इष्ट हुई, वास्तविकता (शूद्रापुत्रता) नहीं।

(७) यदि वादी यहाँ व्याकरणके प्रमाणसे डरता है, क्योंकि उसे उसका ज्ञान नहीं, तब व्याकरणानभिज्ञका इस विषयमें प्रवेशाधिकार ही नहीं, तथापि उसके सामने काव्य-नाटकोंके मधुर-प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं, जिससे सिद्ध होगा कि—'दास्या:पुत्र' शब्दका अर्थ अलुक् समासमें गालिप्रदानमात्रमें विश्रान्त है, वास्तविकतामें नहीं। देखिये—

(क) श्रीकालिदास-प्रणीत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटकके द्वितीयाङ्कमें एक संस्करणमें सेनापतिके लिए 'गच्छ भो ! 'दास्या:पुत्र!' ध्वंसितस्ते उत्साहवृत्तान्त:' यहाँ विदूषक-द्वारा उक्त पदका कथन उसके आक्रोशार्थ ही है, तत्त्ववाद नहीं। वहाँका सेनापति 'शूद्रापुत्र' नहीं माना जा सकता; नहीं तो वह **अधम-पात्र** होनेसे **प्राकृत बोलता**, संस्कृत नहीं। पर वह संस्कृत बोलता है।

वस्तुत: 'दास्या:पुत्र' शब्द अनादिकालसे **गालिप्रदान-अर्थमें** प्रयुज्यमान चला आता है। (ख) जैसेकि—श्रीअम्बिकादत्तजी व्याससे बनाए हुए 'शिवराजविजय'के सप्तम-नि:श्वासमें 'मन्ये न कोपि जागर्ति। सर्वे अत्यन्तगाढनिद्रया सुप्ता एते 'दास्या:पुत्रा:' यह यहाँ पालकी उठाने वालोंकेलिए गालिप्रदान अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। (ग) अथवा—जैसे 'मृच्छकटिक' के प्रथमाङ्कमें विदूषकने 'एते खलु दास्या:पुत्रा-अर्था:' यहाँ धनको उक्त शब्दसे अधिक्षिप्त किया है। तो क्या धन उक्त-शब्दसे शूद्राका पुत्र हो जावेगा ?

(घ) उसी नाटकके ३यांकमें 'किमत्र उज्जयिन्यां कोपि चौरो नास्ति, य एतद् दास्या:पुत्रं (सुवर्णभाण्डं) नापहरति ?' इस विदूषककी उक्तिमें क्या कोई सुवर्णपात्रको शूद्राका पुत्र मान लेगा ? स्पष्ट है कि—यहाँ उस पात्रकी रक्षासे तंग आकर विदूषकने उसे 'दास्या:पुत्र' शब्दसे **आक्रुष्ट** किया है, अन्यथा उसका शूद्रापुत्रतासे क्या सम्बन्ध था ? (ङ) वहीं पञ्चमांकमें विदूषकने दुर्दिनको 'दास्या:पुत्र!' कहा है। बादलोंसे ढके दिनके शूद्रापुत्र न होने पर भी वैसा कथन निन्दार्थ-पर्यवसायी है।

(च) शाकुन्तल नाटक २याङ्कमें विदूषकका सेनापतिके प्रति यह वाक्य है—'त्वं तावद् दास्या:पुत्र: अटवीतोऽटवीमाहिण्डमान: कस्यापि जीर्णऋक्षस्य मुखे निपतितो भव' यहां सेनापतिको, (छ) 'ही ही भो: ! एष दास्या:पुत्र-कुसुमरसपाटच्चरो दुष्टमधुकर: तत्रभवत्या वदनकमभिलपति' इस छठे अङ्कके विदूषकके वाक्यमें भौंरेका 'दास्या:पुत्र' शब्दसे, (ज) 'नागानन्द नाटकके ३याङ्कमें 'प्रेक्षे तावत् किं दास्या:पुत्रा मधुकरा: करिष्यन्ति' उक्त शब्दसे भ्रमरोंको अधिक्षिप्त किया गया है। (झ) इस प्रकार प्राचीन-कवि भासप्रणीत 'स्वप्नवासवदत्त'में भी 'दास्या:पुत्रैर्मधुकरै: पीडितोस्मि'[४अंक] इससे न तो सेनापति किसी शूद्राका लड़का हो जाता है, न भौंरा। केवल इस प्रकारका शब्द निन्दामात्रमें पर्यवसित हो जाता है। जैसे कि-टीकाकार लिखते है—'अत्र दास्या:पुत्र' इति निन्दा-

याम्, नीचैरित्याशय:'।

(८) यहां वादी आक्षेप कर सकता है कि-जितने यह उदाहरण-गर्भित प्रमाण दिये गये हैं, इसमें प्रतिपाद्य कोई ब्राह्मणपात्र नहीं; जिसे 'दास्या:पुत्र' शब्दसे अधिक्षिप्त किया गया हो। अधिकसे अधिक क्षत्रियोंको वैसे कहा गया हो। वक्ता भी कोई सभ्य-जन नहीं, किन्तु निकृष्ट-पात्र विदूषक ही है। तब कवषको 'दास्या:पुत्र' कहनेसे वह शूद्रापुत्र ही प्रतिफलित होता है। भला ब्राह्मणीके पुत्रको 'दास्या:पुत्र' शब्दसे कैसे कहा जा सकता है? सभ्य ऋषि भी भला कैसे किसीको गाली दें? यहां वादी-के तोषार्थ ब्राह्मणके लिए प्रयुक्त और सभ्य पुरुषसे कहे हुए 'दास्या:पुत्र' शब्दको भी हम दिखलाते हैं। जैसेकि—

(ञ) कविवर शूद्रक-प्रणीत 'मृच्छकटिक' [प्रथमांक] में शकारने ब्राह्मण-चारुदत्तके लिए 'क: स गर्भदास्या:पुत्र:' यह कहा है। (ट) अष्टमांकमें भी-'परित्रायतां दास्या:पुत्रो दरिद्रचरुदत्तस्त्वाम्' वसन्तसेनासे पूर्ववत् कहा है। श्रीचारुदत्त मृच्छकटिकमें ब्राह्मण-पात्र है, शूद्र नहीं। तो जैसे उसे गाली-रूपमें 'दास्या:पुत्र' कहा है (ठ) वहीं ५वें अंकमें दास्या:-पुत्र! दुष्ट पारावत! यह किसी वर्णसे सम्बन्ध न रखनेवाले कबूतरको और गाली-रूपमें कहा है, वैसे ही कवषकेलिए प्रयुक्त भी उक्त शब्द उसके लिए गाली ही है-वास्तविकता नहीं।

इस प्रकारके शतश: वाक्य उपस्थापित किये जा सकते हैं—जिनमें उक्त शब्द प्रयुक्त किया गया है। यह वाक्य इसलिए प्रमाणित किये गये हैं, कि वादी फिर न कहे कि 'आपने व्याकरणके डण्डेको लेकर साधारण-जनता की आंखोंमें धूल झोंकी'। यह नाटकके प्रमाण इतने सुगम हैं कि-साधारण-जनताकी आंखमें धूलि फैंकी ही नहीं जा सकती, न मुझ-द्वारा और न वादी-द्वारा ही। जनता स्वयं भी इनसे निर्णय कर सकती हैं।

(९) मृच्छकटिकके प्रणेता श्रीशूद्रकके कालके विषयमें अनुसन्धान-

विशारद आर्यसमाजी विद्वान् श्रीभगवद्दत्तजीने 'भारतवर्षका बृहद् इतिहास-प्रथमभागके १६४-१६५ पृष्ठमें लिखा है—'कलिसं. २८४५में [ईसवी वर्षसे ४५५ वर्ष पूर्व] सम्भवत: शूद्रक-संवत्का आरम्भ हुआ। जिस शूद्रकने मृच्छकटिक-सदृश सुन्दर प्रकरण लिखा, जो बड़ा विद्वान् तथा तेजस्वी-सम्राट् था, जिसका संवत् कभी अति प्रसिद्ध था'। ८७ पृ. में फिर उन्होंने लिखा है-'मृच्छकटिक-प्रकरणका कर्त्ता शूद्रक जो विक्रम-सं. से कई सौ वर्ष पूर्वका है'।

इससे मृच्छकटिककी प्राचीनता भी सिद्ध हो गई। अब वादी ही सोचे कि-'आ दास्या:पुत्र! जूर्णवृद्ध!' (मृच्छ. १ अंक) यहाँ सभ्य-पात्र सूत्रधार द्वारा-ब्राह्मण जूर्णवृद्धको 'दास्या:पुत्र' शब्द कहनेसे क्या वह शूद्राका लड़का मान लिया जायगा? यदि नहीं, तब 'दास्या:पुत्र' शब्दके कहनेसे ब्राह्मण-कवष ही शूद्रापुत्र कैसे हो जायगा?

(१०) शेष है-सभ्य ऋषियों-द्वारा कवषको वैसी गाली देनेका प्रश्न; इस पर जानना चाहिए कि-सभ्य ऋषिगण भी वञ्चककी वञ्चनासे क्षुब्ध होकर उसे गाली दे दें, इसमें कोई आश्चर्यका विषय नहीं। (क) कवषको शूद्रापुत्र सिद्ध करने वाले आर्यसमाजियोंके तथाकथित 'महर्षि'-स्वा.द.जीने भी अपने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में 'पोप' गवर्गण्ड, कंजर, चाण्डाल-वर्णोत्पन्न' आदि शब्दोंसे अपनी दृष्टिसे वञ्चकोंका गाली दी है, नहीं तो चाण्डाल भी भला किसी वर्णका नाम है? 'कञ्जर' कहते हैं-'वेश्याके पति वा पुत्रको'। सो उन्हें यहां वस्तुत: 'वेश्याका पति वा पुत्र' अर्थ नहीं; किन्तु उसे अधिक्षिप्त करना ही स्वा.द. जीको इष्ट है। यही बात कंजर के दूसरे शब्द 'दास्या:पुत्र' शब्दके लिए भी समझी जा सकती है; तब उससे कवष भी शूद्र नहीं हो जाता।

(ख) अथवा स्वा.द. की बात छोड़ दीजिये-उपनिषद्का ऋषि भी शुष्ककर्मकाण्डियोंको निम्न शब्दोंसे आक्रुष्ट करता है-'अविद्यायामन्तरे

वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः । जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' (मुण्डक १।२।८) इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः' (मु. १।२।१०)

(ग) मन्त्रभागका ऋषि भी 'नीहारेण प्रावृताः, जल्प्या च असुतृप उक्थशासंश्चरन्ति' (ऋ. सं. १०।८२।७) इस प्रकार शुष्क कर्मकाण्डियों-को कितने कठोर शब्दोंसे आक्रुष्ट करता है ? तब ब्राह्मणभागके ऋषियों-द्वारा 'दास्याःपुत्र' शब्दसे एक द्यूतव्यसनीको गाली देना कैसे असम्भव हो सकता है ? आशा है—वादी गतानुगतिक्ता को छोड़कर स्वयं भी कुछ विचार करेगा। (घ) मन्त्रभागमें ब्राह्मणके उक्त अधिक्षेपशब्दोंके सदृश आक्रोशशब्द साक्षात् पर्यायरूपसे भी दिखाई पड़ते हैं। 'आलोक'-पाठकगण देखनेका कष्ट उठावें—

'नि मायावान् अब्रह्मा दस्युरर्त (ऋसं. ४।१६।९) यहां पर कुत्सके शत्रुको मायावान्, अब्रह्मा और दस्यु इन शब्दोंसे अधिक्षिप्त किया है। 'ब्रह्मा' यह ब्राह्मणका नाम है, जैसे कि महाभाष्यमें 'समानार्थौ एतौ ब्रह्मन्‌शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च । आतश्च समानार्थौ, एवं ह्याह-कुतो नु चरसि ब्रह्मन् ! कुतो नु चरसि ब्राह्मणेति । तत्र द्वयोः समानार्थयोरेकेन विग्रहः' (५।१।१।७) । स्वा.द. जीने भी वेदसंज्ञाविचारमें (८७ पृष्ठ) ऐसा ही माना है। तो यहां 'अब्रह्मा' ब्राह्मणभागके 'अब्राह्मणः' पद-स्थानीय सिद्ध हुआ। यह शब्द कहा भी ब्राह्मणको ही जाता है उसके आक्षेपकेलिए; ब्राह्मणसे भिन्नके लिए नहीं कहा जाता। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रमें उसकी प्रसक्ति ही नहीं।

मन्त्रभागप्रोक्त 'दस्यु' शब्द ब्राह्मण-भागके 'दास्याःपुत्र' शब्दके अर्थको क्रोडीकृत कर रहा है। 'मायावान्' यह मन्त्रपद ब्राह्मणप्रोक्त 'कितव' शब्दके अर्थको रखता है। जैसे यह शब्द कुत्सके शत्रुके केवल अधिक्षेप-मात्रकेलिए रखे गये हैं, वास्तवमें उसे शूद्र बतानेकेलिए नहीं, इसलिए ही 'अब्रह्मा' का सायणादिने 'वेदोक्तकर्मसु आस्तिक्यरहितः' यही अर्थ किया

है, 'दस्यु' का 'शत्रु' अर्थ किया है. इस प्रकार इन मन्त्रोंके पर्याय 'दस्युः' (ऋ.)—'दास्याःपुत्रः' (ऐत्रा), 'अब्रह्मा' (ऋ.)—'अब्राह्मणः' (ऐब्रा.) 'मायावान्' (ऋ.)—'कितवः' (ऐ.) दास्याःपुत्र, अब्राह्मण आदि पदोंसे भी ऋषिगणद्वारा कितव (जुवारा) कवष पर अधिक्षेपमात्र इष्ट है, उसकी वास्तविक-शूद्रताका प्रतिपादन इष्ट नहीं; यह अत्यन्त स्पष्ट है।

इसलिए 'स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं (व:) वृषलः' (ऋसं. १०।३४।११) इस मन्त्रमें कितव (द्यूतव्यसनी) को केवल गाली देनेके उद्देश्यसे 'वृषल' कहा है, वास्तवमें उसे शूद्र बतानेकेलिए नहीं, इसलिए श्रीसायणने उसका अर्थ 'वृषलकर्मा' ही लिखा है। तब कितव होनेसे कवषको ब्राह्मण होने पर भी वृषलके पर्यायवाचक 'दास्याःपुत्र' शब्दसे अधिक्षिप्तमात्र किया गया है। वेदके विद्वान् इन मन्त्र-ब्राह्मणके पदोंकी परस्पर-तुलना स्वय कर देखें। 'दस्यु' यह मन्त्र पद 'दास्या पुत्र' अर्थात् दासका बोध कराता है। 'अकर्मा दस्युरभि नो···त्व तस्य···दासस्य दम्भय' (ऋसं. १०।२२।८) इस मन्त्रमें उसी पूर्वनिर्दिष्ट 'दस्यु' का पुनः 'दास' शब्दसे प्रतिनिर्देश किया गया है। एतदादिक शब्दोंका आक्रोशमें प्रयोग वेदके मन्त्रभागमें भी सुलभ है। तब वेदके ब्राह्मणभागमें भी उसकी सुलभता ही है। फलतः इन शब्दोंसे कवषका केवल आक्रोश ही इष्ट है, यथाश्रुत अर्थ नहीं—यह अवश्य ध्यान देनेकी बात है।

(११) जो कि आजकलके विद्वान् कवषको शूद्रापुत्र मानते हैं—इस पर यह जानना चाहिये कि-भ्रान्ति वा भूल विद्वानोंकी हो जाती हुई भी देखी गई है। अथवा बहुतसे गतानुगतिकतामें प्रवृत्त भी होजाते हुए देखे गये हैं। 'नैषधचरित'में कहा है—'वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकः, तद्गतानुगतिको न महार्घः' (५।५५) हितोपदेशका यह पद्य भी प्रसिद्ध है—'गतानुगति-को लोको न लोकः पारमार्थिकः।'

कई विद्वान् साम्प्रदायिकतामें निमग्न होकर अशुद्ध भी अपने पक्षको शुद्ध प्रसिद्ध किया करते हैं। जैसेकि—स्वा.द.जीने लिखा है—'तात्पर्य—जिसके

लिए वक्ताने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसीके साथ उस वचन वा लेखको युक्त करना। बहुतसे हठी-दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि–जो वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मत वाले लोग, क्योंकि–मतके आग्रहसे उनकी बुद्धि अन्धकारमें फंसके नष्ट हो जाती है' (स.प्र. भू. ४ पृ.) इसलिए 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह न्याय भी प्रचलित है।

जब ऐसा है, तब श्रीसायणका 'दास्याःपुत्र इत्युक्तिरधिक्षेपार्था' यह अर्थ व्याकरण संस्कृतसाहित्य और वेदके अनुग्रहवश ठीक ही सिद्ध हुआ। जो आजकलके ३० के लगभग व्यक्ति इससे विरुद्ध हैं, वे प्रायः आर्य-समाजी हैं या सुधारक हैं, शूद्रोंके सेवक हैं। जिनकी शास्त्रविरोध होने पर भी आजके देशकालानुकूल शूद्र-समाजके साथ सहानुभूति है, और कई श्रीसामश्रमीके लेखसे भी प्रभावित हुए हैं, क्योंकि–वे आजके शिक्षित-दयानन्दी सुधारक-समाजमें श्रीसामश्रमी वैदिक-साहित्यके धुरन्धर-पण्डित माने गये हैं। उनके मतसे श्रीशि.शं. काव्यतीर्थ प्रभावित हुए, फिर उन्हींको गड्डलिका-प्रवाहकी तरह अनुसरण करते हुए अन्य व्यक्ति भी, बिना अपना विशेष अनुसन्धान किये, उनसे किये अर्थमें मुग्ध होकर स्वयं भी उसी पक्षके हो गये। पर एक अनुसन्धानकर्ता और सत्यान्वेषी-पुरुषका कर्तव्य हो जाता है कि वह परप्रत्ययनेयपतित न बनकर इधर-उधरकी गवेषणा तथा मूलसूत्रोंका प्रत्यवेक्षण करे। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो पता लग जाता है कि–वह अनुसन्धाता वा सत्यान्वेषी नहीं है, किन्तु वह पक्षपाती है, या गतानुगतिक है। वा किसी सम्प्रदायका अन्धा-भक्त है। ऐसा होनेपर वह कभी मूल सत्यको प्राप्त नहीं कर सकता है–यह निश्चित है। जब तक कवषके माता-पिताको किसी प्रामाणिक-इतिहासके-द्वारा शूद्र सिद्ध नहीं किया जाता, जब तक कि उसकी माता शूद्रा-दासी सिद्ध न की जा सके, तब तक कवषको दासीपुत्र शूद्र सिद्ध नहीं किया जा सकता, केवल वह 'दास्याःपुत्र' शब्दसे कितव होनेसे निन्दित-अर्थवाला

ही माना जावेगा।

यदि वादी सचमुच अनुसन्धान-पथका पथिक है, तब उसे श्रीसामश्रमी-तथा उसके अनुयायियोंका मतसंग्रह नहीं, किन्तु उसे प्राचीनोंका मत संग्रह करना चाहिये, जहां ऐलूष-कवषको शूद्र कहा गया हो? ऐतिहासिक-आकाङ्क्षामें इतिहासको ही देखना पड़ता है, किसीका वैयक्तिक कथन नहीं। परन्तु वैसा पूर्व-लेख न मिलनेसे स्पष्ट है कि–यह मत केवल श्रीसामश्रमीका ही उपज्ञात है। हम उनकी प्रमाणोपपत्तियोंकी आलोचना कर ही चुके हैं, अतः वे भ्रमपतित सिद्ध हो गए। 'प्रधानमल्लनिबर्हण'-न्यायसे उनके अनुयायी भी आलोचित हो गये। जहां कहीं अर्वाचीनोंने कुछ विशेष कहा है, उसकी आलोचना आगे की जावेगी।

'अब्राह्मण' शब्द पर विचार।

(१२) 'दास्याःपुत्र' का यथार्थ तात्पर्य दिखला कर अब कवषकेलिए प्रयुक्त 'अब्राह्मण' शब्द पर भी विचार किया जाता है। यह शब्द भी 'ऐ.ब्रा.' के उक्त स्थलमें ब्राह्मणव्यतिरिक्त-वाचक नहीं; किन्तु शब्दार्थके अनवच्छेद [संशय] में विशेषस्मृतिहेतु संयोगादि-पदार्थोंमें 'शब्दस्यान्यस्य संनिधिः' हेतुसे 'कितव' शब्दकी सन्निधिसे 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' के 'अपशवः' शब्दकी तरह 'अब्राह्मणः' शब्द भी 'अप्रशस्त-ब्राह्मण' वाचक होकर निन्दार्थवादमात्रमें विश्रान्त है। जैसे 'दस्युः... अमानुषः' (ऋ. १०।२२।८) इसमें 'दस्यु' मनुष्य 'अमानुष' शब्दसे कहा हुआ 'मनुष्य-व्यतिरिक्त' अर्थ वाला इष्ट न होकर 'अप्रशस्त-मनुष्यार्थक' ही विवक्षित होता है, इसीलिए ही श्रीसायणने 'मनुष्यसंव्यवहाराद् बाह्यः, आसुरप्रकृतिः' यह उसका अर्थ किया है, इसी प्रकार 'अब्राह्मणः' में भी ब्राह्मण-व्यवहारसे बाह्य, अब्राह्मण-प्रकृतिवाला–यही अर्थ विवक्षित है, क्योंकि–जुआ खेलना ब्राह्मण-प्रकृति नहीं। इसीलिए 'स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं [वः]...वृषलः' (ऋसं. १०।३४।११) इस मन्त्रमें कितव [जुआरी]-को निन्दासे 'वृषलः' कहा गया है। इसका श्रीसायणने 'वृषलकर्मा' अर्थ-

किया है, सो यहां 'शूद्र-प्रकृतिक' ही अर्थ विवक्षित है, वस्तुत: 'शूद्र'-नहीं।

(१३) यदि उक्त ब्राह्मण-कण्डिकामें 'दास्या:पुत्र' का वस्तुत: 'शूद्रा-पुत्र' ही अर्थ इष्ट होता, तो इसी शब्दसे कवष स्वत: 'अब्राह्मण' सिद्ध हो गया, फिर उसकेलिए 'अब्राह्मण' शब्दका उपादान व्यर्थ होगा, क्योंकि—अब्राह्मण शब्दसे 'क्षत्रिय, वैश्यका अर्थ भी जाना जा सकता है, पर पहले 'शूद्रापुत्र' अर्थ विवक्षित होने पर फिर 'अब्राह्मण' शब्दका कहना तो—सर्वथा ही व्यर्थ हो जाता है। फिर भी पृथक् उल्लेखसे स्पष्ट है कि—"यह 'दास्या:पुत्र: कितव:' नीच जुआरी 'अब्राह्मण:'—अप्रशस्त-ब्राह्मण है, तो हम प्रशस्त ब्राह्मणोंमें इसने दीक्षा कैसे ली" यही यहाँ आशय है।

(१४) नञ् के छ: अर्थ हुआ करते हैं, उनमें एक अर्थ 'अप्रशस्त' भी होता है। जैसे कि—'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्था: षट् प्रकीर्तिता:'। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—१ तत्सदृश:—अब्राह्मण: (ब्राह्मणसदृश:)। २ अभाव:—अपापम् (पाप नहीं)। ३ तद्भिन्न:—अनश्व:, (अश्वसे भिन्न)। ४ अल्प:—अनुदरा कन्या छोटे पेटवाली लड़की)। ५ अप्रशस्त:—अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्य: (अप्रशस्त पशु)। ६ विरुद्ध:—अधर्म: (धर्मविरुद्ध)।

जैसे प्रशस्त-पशु गाय-घोड़ोंकी प्रतियोगितामें अवशिष्ट पशु 'अपशु—अप्रशस्त-पशु' कहे गये हैं; यह नहीं कि—'वे पशु ही नहीं' रहे; वैसे ही प्रशस्त ब्राह्मणोंमें यह कितव कवष; अब्राह्मण—द्यूतकार होनेसे अप्रशस्त-ब्राह्मण यह कैसे दीक्षित हुआ—वह ऋषियोंका अभिप्राय है। तब यहां 'अब्राह्मण' शब्द-स्थित 'नञ्' अप्रशस्त अर्थमें ही प्रकरणानुगृहीत है, अन्य अर्थमें नहीं।

(१५) 'नञ्' (पा. २।२।६) सूत्र-महाभाष्यमें गुणहीनके उदाहरण में 'खड़े होकर पेशाब करते हुए वा खाते हुए, ब्राह्मणकी अप्रशस्तता बताने के लिए 'अब्राह्मण' शब्द प्रयुक्त किया है। जैसे कि—'अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति, अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् भक्षयति'। इसकी व्याख्या करते हुए श्रीकैयटने लिखा है—'तप:श्रुतयोरभावाद् 'निन्दया' अत्र 'अब्राह्मण.'-शब्द-प्रयोग:। तत्र जातिमात्रे अवयवे समुदाय-रूपारोपाद् 'ब्राह्मण' शब्द-प्रयोग:। नञा तु स्वाभाविकी तप:श्रुतयोर्निवृत्तिर्द्योत्यते'।

अर्थात्—इस ब्राह्मण-जातिजातमें न तो है तपस्या, न है वेदशास्त्रादि-का अध्ययन। तभी तो यह खड़ा होकर पेशाब करता है, वा खाता है, उसीकी निन्दार्थ 'अब्राह्मण' शब्दका प्रयोग है। यहाँ तपस्या, अध्ययन, और जाति तीन-ब्राह्मणत्वकारक साधनोंमें अन्यतम 'जाति' रूप अवयवको समुदाय मानकर उसे ब्राह्मण कहा गया, और नञ् से उसकी तपस्या और श्रुतका अभाव दिखलाया गया। इससे उसकी वास्तविक ब्राह्मणजाति निषिद्ध नहीं की जा रही; किन्तु 'नञ्' से उसकी निन्दा ही विवक्षित होती है।

तात्पर्य यह है कि—'अब्राह्मणोयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति' इस वाक्यमें जैसे 'अब्राह्मण' शब्द ब्राह्मणकेलिए ही आया है, ब्राह्मण-भिन्नकेलिए नहीं। इससे खड़े होकर मूतने वाले ब्राह्मणको ब्राह्मण-भिन्न न बताकर उसकी अप्रशस्तता बतानी ही इष्ट होती है, वैसे ही ऐ.ब्रा. की श्रुतिमें कवषके लिए कहा हुआ 'अब्राह्मण' शब्द उसको ब्राह्मण-भिन्न न बताकर ब्राह्मण ही बता रहा है। ब्राह्मणताके साथ उसकी कितवत्वसे अप्रशस्तता बता रहा है—यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गई। यदि इस कण्डिकामें 'अब्राह्मण' शब्द न होता, तो कवषके ब्राह्मण होनेका शीघ्र पता न चलता, पर अब 'दास्या:पुत्र' के साथ स्थित 'अब्राह्मण' शब्दने कवषको स्पष्ट ही ब्राह्मण बता दिया। 'अब्राह्मण' यह गाली ब्राह्मणको ही दी जा सकती है; शूद्रादिको नहीं। नहीं तो 'दास्या:पुत्र' से ही उसकी अब्राह्मणता प्रतीत होनेपर फिर 'अब्राह्मण' पदका ग्रहण व्यर्थ हो जाता। इसलिए ही श्रीसायणने कहा है—'कितवो-द्यूतकार:, तस्माद् अब्राह्मणोऽयम्, ईदृशो [द्यूतदेवनव्यसनी] योऽस्माकं शिष्टानां मध्ये स्थित्वा कथं दीक्षां कृतवान्

इति तेषामभिप्रायः'। यहाँ श्रीसायणने कवषको 'दासीपुत्र' होनेसे अब्राह्मण-नहीं कहा, किन्तु कितव होनेसे ही उसे 'अब्राह्मण' कहा है, तब 'अब्राह्मण'-पद उसकी अप्रशस्ततामें ही पर्यवसित हो जाता है, न कि उसकी तद्भावता-में, क्योंकि–वह-वह पुरुष वह-वह न होता हुआ भी निन्दार्थ उस-उस शब्दसे निन्दित किया जाता है। जैसे कि–

(१६) ४।१।४ पाणिनि-सूत्रके महाभाष्यमें लिखा है–'चतुर्भिः प्रकारैः 'अतस्मिन् सः' इत्येतद् भवति। (चार कारणोंसे 'वह न होता हुआ' भी 'वह' कहा जाता है।) तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्-सामीप्यात्, तत्साहचर्या-दिति। तात्स्थ्यात् तावत्–मञ्चा हसन्ति, (मञ्चकस्थित बच्चे हंसते हैं) गिरिर्दह्यते (पहाड़ जलता है)। ताद्धर्म्यात्–जटिनं यान्तं ब्रह्मदत्त इत्याह, ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि, जटिन्यपि तानि क्रियन्ते-इत्यतो जटी ब्रह्मदत्त इत्युच्यते' (जटाधारीको जा रहे देखकर यह ब्रह्मदत्त है' यह कहनेका यह भाव है कि–ब्रह्मदत्तमें जो काम हैं, जटाधारीमें भी वही है; अतः यह 'जटी' ब्राह्मण है–यह कहा जाता है। तत्सामीप्याद्—गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकुलम्। (गङ्गाके किनारे बस्ती है, कुएंके पास गर्गका घर है)। तत्साहचर्यात्–कुन्तान् प्रवेशय (लाठीधारियोंको, भाले उठानेवालोंको प्रविष्ट करो)। यष्टीः प्रवेशय, यहाँपर प्रदीपमें कैयटने लिखा है–आरोप्यते ताद्रूप्यम्, न तु मुख्यमित्यर्थः। बालेषु मञ्चत्वारोपाद् 'मञ्च' शब्द-प्रवृत्तिर्हसन्तीति पदान्तरयोगाद् विज्ञायते। [एवं 'कितव' पदान्तरयोगाद् 'अब्राह्मण' शब्द-प्रयोगः कवषकृते] (बच्चोंमें मञ्चत्वका आरोप होनेसे 'हसन्ति' इस दूसरे पदके योगसे 'मञ्च' का अर्थ 'मञ्चस्थित बच्चों'का बोध करा रहा है। [इस प्रकार 'कितव' इस दूसरे पदके योगसे कवषको 'अब्राह्मण' कहना उसे 'अप्रशस्त ब्राह्मण' बता रहा है। 'यह ब्राह्मण नहीं है' इस अर्थको नहीं बता रहा है। 'जटिनं' ब्रह्मदत्तवद् धर्मलाभात् तद्-रूपारोपः। सिंहो माणवकः. गौर्वाहीकः' इत्यादावपि ताद्धर्म्यात् ताद्रूप्या-रोपात् तच्छब्द-प्रवृत्तिः। वदुक्तं हरिणा–'गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात्

कैश्चिदिष्यते। अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः' [वाक्यपदीय]। यह आशय है कि–जैसे 'मञ्चा हसन्ति' यहाँ 'हसन्ति' पदके योगसे 'मञ्चक' का अर्थ 'मञ्चकस्थित बालक' हो जाता है, वैसे 'कितवोऽब्राह्मणः' 'कितव' पदके योगसे 'कितवशब्द-प्रयुक्त निन्दाके द्योतनार्थ 'अब्राह्मण'-शब्दका प्रयोग भी औपचारिक है, वा निन्दार्थवाद है।

(१७) यदि यहाँ वादी व्याकरणका डंडा देखकर उससे डर जाय, तो हम उसे तर्कशास्त्रका प्रमाण देते हैं। 'न्यायदर्शन' के २।२।६३ सूत्रकी अवतरणिकामें श्रीवात्स्यायनने कहा है–'निमित्ताद् अतद्भावेपि तदुपचारो दृश्यते खलु' अर्थात् पुरुषको वैसा न होनेपर भी कभी किसी निमित्तसे वैसा कह दिया जाता है। उन निमित्तोंको सूत्रकार गिनते हैं–'सहचरण १ स्थान २ तादर्थ्य ३ वृत्त ४...ब्राह्मण १ मञ्च २ कट ३ राज ४...पुरुषेषु अतद्भावेपि तदुपचारः' (२।२।६३) इसके सब उदाहरण तो 'न्यायदर्शन' में देखे जा सकते हैं, परन्तु यहाँ चतुर्थ निमित्त 'वृत्त' का उदाहरण देखना चाहिए–'वृत्ताद् यमो राजा, कुवेरो राजा इति, तद्वद् वर्तते" अर्थात् राजा वास्तवमें यम या कुवेर तो नहीं हो जाता, परन्तु वैसे वृत्त [आचरण] से राजाको यम वा कुवेर कहा जाता है, जिसका पर्यवसान तद्वत्तामें हो जाता है, कि–यम-जैसा, कुवेर-जैसा) वैसे ही कवषके भी द्यूतक्रीड़ाव्यसनी होनेसे अब्राह्मणोंका वृत्त धारण करनेसे उसे 'अब्राह्मण' कहा गया, जिसका पर्यवसान वास्तविक-अब्राह्मणत्वमें न होकर अब्राह्मणवत्ता-अब्राह्मसादृश्यमें हुआ कि–यह अब्राह्मण-जैसा है।

(१८) अथवा कहीं वादी इसें न्यायका ही डंडा न मान लें, इसलिए उसका प्रिय-प्रमाण इस विषयमें दिया जाता है। 'ब्रह्म (वेदं) जानाति ब्राह्मणः' यह वादिसम्मत प्रमाण ब्राह्मणकी परिभाषा बताता है, तब 'न ब्राह्मणः (वेदका न जानने वाला) इस विग्रहमें 'अब्राह्मण' शब्द व्युत्पन्न होता है। तब यह अर्थ निकला कि–यह कवष 'अक्षैर्मा दीव्यः' (ऋसं. १०। ३४।१३) इस वेदमन्त्रको भी नहीं जानता, वा उसे नहीं अनुसृत करता,

तभी तो अभी तक भी कितव है। इस समय तक कवषने यह सूक्त नहीं देखा था। इसलिए जब उसने यह सूक्त देखा, तब देवताओंने 'तव गावः कितव! (ऋ. १०।३४।१३) उसे 'कितव' शब्दसे सम्बोधित किया। ऐतरेयब्राह्मण ऋसं.के इस इतिहासको बता रहा है, क्योंकि--उसकी ऐसी शैली है, जैसेकि--शौनःशेपाख्यानको ऐ.ब्रा.ने ऋग्वेदके क्रमसे दिखलाया है। इस कारण उस सूक्तसे अनभिज्ञ होनेसे उसे पारिभाषिकतासे, वा लाक्षणिकतासे, वा यौगिकतासे 'अब्राह्मणः' इस प्रकार निन्दार्थ कहा है, उसकी ब्राह्मणताके निषेधार्थ नहीं।

इसलिए म.म. श्रीमित्रमिश्रने अपने 'वीरमित्रोदय' के उपनयन-संस्कार उपनेय-निर्णय प्रकरण (३६२ पृ.) में लिखा है--दास्या.पुत्रः कितवोऽब्राह्मण इति आक्षेपमात्रं, नतु वस्तुगत्यैव तन्मातुर्दासीत्वम्--इति भाष्यव्याख्यानात्'। इससे श्रीसायणोक्त 'दास्याःपुत्र इत्युक्तिरधिक्षेपार्था। कितवो द्यूतकारः, तस्माद् (द्यूतकारत्वाद्) अब्राह्मणो-(अप्रशस्तब्राह्मणो-) ऽयम्-ईदृशो नः-अस्माकं शिष्टानां मध्ये स्थित्वा कथं दीक्षां कृतवान्-इति तेषामभिप्रायः" यह अभिप्राय ठीक ही सिद्ध हुआ।

श्रीसायणने ऐसा कहीं नहीं लिखा कि--शूद्राका पुत्र हम ब्राह्मणोंमें कैसे आ घुसा', बल्कि यह लिखा है कि--यह आचारहीन ब्राह्मण हम सद्-ब्राह्मणोंमें कैसे आ घुसा? इसलिए श्रीसायणने कवषकेलिए--'सरस्वत्याः पवित्रमुदकमयं पापिष्ठो मा पिबतु' यहाँ उसकी निन्दार्थ ही पापिष्ठ शब्दका प्रयोग कराया है। वादीने भी 'अब्राह्मण' का अर्थ 'अपने आचरणोंसे बहुत ही भ्रष्ट' यह (सार्वदेशिक अप्रैल १९५० पृ. ७६३) किया है। श्रीशिवशं. काव्य. ने भी 'जातिनिर्णय' (२५० पृ.) में यही अर्थ किया है। यह ठीक भी है, नहीं तो 'दास्याःपुत्र' का 'शूद्राका पुत्र' अर्थ करने पर, और 'अब्राह्मणः' का 'यह ब्राह्मण नहीं' ऐसा अर्थ करना व्यर्थ वा पुनरुक्त हो जाता है। इस कारण यहाँ उक्त शब्दोंसे उसकी निन्दा ही विवक्षित है--यह अत्यन्त ही स्पष्ट है। जब तक किसी

प्रामाणिक-इतिहाससे कवषको दासीपुत्र (शूद्र) न सिद्ध किया जावे; तब तक श्रीसामश्रमी एवं उनके पिछलगुओंका पक्ष असिद्ध ही रहेगा।

(१९) श्रीसायणाचार्य वेदादि-शास्त्रोंकेभाष्यकार हमारी अपेक्षा अधिक शास्त्रदर्शी और इतिहासदर्शी थे। उसमें उन्होंने देखा कि-कवष वास्तवमें शूद्रापुत्र नहीं, इसलिए उनने दिखलाया कि--उसे कितव (द्यूत-कार) होनेसे ही 'दास्याःपुत्र' शब्दसे और उससे आगेके 'अब्राह्मण' शब्दसे अधिक्षिप्त किया गया है। वादियोंके पास ऐसा कोई इतिहास नहीं, जहाँ कवषको शूद्र दिखलाया गया हो, बल्कि--ब्रह्मपुराणमें 'पैलूष इति विख्यातः कवषस्य सुतो द्विजः' (१३९।२) इस पद्यमें उसे द्विज कहा गया है। 'द्विजका क्षत्रिय, वैश्य अर्थ करना तो वादीके 'शूद्रता' पक्षके ही काटने वाला होगा।

(२०) इससे 'वैदिक-वाङ्मयका इतिहास' द्वितीयभागमें लिखित उसके प्रणेताका निम्न लेख भी भ्रममूलक सिद्ध हुआ, जिसमें उन्होंने लिखा है-"ब्राह्मणोंके पाठसे पता चलता है कि--चारों वर्ण साधारणतया जन्मसे माने जाते थे...पर ब्राह्मणोंका पाठ यह भी बताता है कि--जन्मसे वर्ण एक कड़ा नियम न था। तपसे, ज्ञानसे, घोर-परिश्रमसे एक अब्राह्मण भी ब्राह्मण बन सकता था। इसी प्रकार विद्या-गुणहीन एक ब्राह्मण भी नाममात्रका ब्राह्मण रह जाता था। ब्राह्मणमें कहा है-'ऋषयो वै सरस्वत्यां... दास्याःपुत्रः, कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्येदीक्षिष्ट' ऋषिजन सरस्वतीतट पर यज्ञ करने लगे, उन्होंने कवष-ऐलूषको सोमसे परे कर दिया--'दासीका पुत्र धोखा देने वाला, अब्राह्मण किस प्रकार यह हमारे यज्ञमें दीक्षित हुआ है। वह बाहर जंगलमें गया पिपासासे सन्तप्त। उसने यह अपोनप्त्र देवताका सूक्त देखा' (ऐ. २।३।१९)। इससे प्रतीत होता है कि--एक अब्राह्मण भी मन्त्रोंका द्रष्टा बन गया। उसे ही ऋषियोंने वेदार्थद्रष्टा-ब्राह्मण मान कर पुनः अपने यज्ञमें बुलाया' (पृ. २२१-२२२)

यह उल्लेख इसलिए ठीक नहीं कि--कवषकी शूद्रता तथा शूद्रसे

ब्राह्मणता यहां नहीं दिखलाई गई। हाँ, पीछे उसका मन्त्रद्रष्टा हो जाना बताया है। इससे प्रतीत होता है कि–वह यज्ञ ऋषियोंका था, अनृषियोंका नहीं। उसमें कोई अनृषि दीक्षा नहीं लेसकता था, उसमें कवष दीक्षित हो गया। वह ऋषि तो था नहीं, साथ ही कितव–धूर्त द्यूतकार भी था; यह ऋसं. के १०।३४ अक्षसूक्तके कवष-ऋषि होनेसे सूचित होता है। वहां पर कवषके बोधनार्थ देवताओंने बार-बार 'कितव' शब्दका कवषके मुखसे ही प्रयोग कराया है। उसके यज्ञमें प्रवेशसे ऋषियोंको क्रोध हुआ कि–इसने हमारे साथ भी कितवता (चारसौ बीस) की है कि–ऋषियोंसे प्रवेष्टव्य यज्ञमें यह अनृषि एवं भ्रष्टाचरण आ घुसा है। क्रोधसे उन्होंने 'दास्या:पुत्र:' कितव:' अब्राह्मण:'...इन शब्दोंसे उसे गाली देकर यज्ञसे वाहर कर दिया। तब देवताओंकी कृपासे अपोनप्त्रीय सूक्त उसमें प्रतिभात हुआ देखकर उसे ऋषि–मन्त्रद्रष्टा होगया हुआ देखकर उसपर देवताओंकी कृपा जानकर ऋषियोंने उसके कितवता दोष पर उपेक्षा करके फिर उसे ऋषि-यज्ञमें शामिल कर लिया।

इससे वै.वा.इ. के प्रणेता श्रीअनुसन्धाताजी का अभिप्राय निरस्त हो जाता है। यहां कवषका अब्राह्मणसे ब्राह्मण होना तो कहीं नहीं दिखलाया। हाँ, अनृषिसे ऋषि होना सूचित किया है। ऋषि मन्त्रद्रष्टाको कहते हैं। वह केवल ब्राह्मण ही नहीं होता; किन्तु ब्राह्मणसे अतिरिक्त क्षत्रियादि-अब्राह्मण भी हो सकता है। निरुक्त (६।२७।१) में कहा हुआ 'जालबद्धा मत्स्या ऋषय:' इनका निदर्शन हैं। परन्तु ऋषियोंमें कोई शूद्र नहीं सुना गया।

पहले श्रीभग.जीने जिस कवषको 'मन्त्रद्रष्टा' दिखलाया, उसीको द्वितीय-पंक्तिमें 'मन्त्रार्थद्रष्टा' कह दिया–इस प्रकार उद्दिष्ट-प्रतिनिर्दिष्टकी असमानता करके उन्होंने प्रक्रमभङ्ग दोषको आमन्त्रित करके परस्पर-विरोध करके अपने पक्षको निर्मूल सिद्ध कर दिया। 'वेदार्थद्रष्टा होने पर ऋषियोंने उसे ब्राह्मण मानकर यज्ञमें बुला लिया' यह अनुसन्धाताजीका

कथन निर्मूल ही है। ऐ. ब्रा.में कहीं ऐसा नहीं कहा गया। अत: 'ब्राह्मण'-शब्दका उन्होंने बीचमें प्रक्षेप ही किया है। ब्राह्मण तो वह पूर्वसे ही था, हाँ वह पहले मन्त्रद्रष्टा-ऋषि नहीं था, साथ ही कितव भी था। फिर ऋषियोंने उसे ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) होगया देखकर यह कह कर कि–'विदुर्वै इमं देवा: उप इमं ह्वयामहै' (देवता इसे जानते हैं, यज्ञ भी तो हम देवताओंकी प्रसन्नतार्थ ही कर रहे हैं, तब देवताओंके कृपापात्र इस कवषको फिर यज्ञमें बुला लें–) इन शब्दोंसे बुला लिया। इन शब्दों तथा अनुसन्धाताजीके शब्दोंमें तिल-तालका अन्तर है।

इस प्रकार श्रीसामश्रमीजीका मत असिद्ध ही सिद्ध हुआ–जोकि उन्होंने कवषको निर्मूलतासे शूद्र कहा। इसलिए 'ते ह वा ऋषयोऽब्रुवन् विदुर्वै इमं देवा:, उप इमं ह्वयामहै' (ऐ. २।३।१९) इसकी व्याख्यामें श्रीसायणने कहा है–'ते भृग्वादय: परस्परमिदमब्रुवन्=इमं–कवषं देवा: सर्वेऽपि विदुर्वै-जानन्त्येव; अतोऽस्य कितवत्वादिदोषो नास्ति, तस्माद् इमम्-स्मन्समीपं प्रत्याह्वयाम' यहाँ भी उसे कितवादिदोषसे दूषित कहा है, शूद्र-नहीं कहा।

तब जो अपोनप्त्रीय-सूक्त कवषने देखा था-वह ऋसं. (शा) का १०। ३० है। उसका ऋषि अजमेरीसंहितामें भी ऐलूष कवष ही लिखा है। तब कवषको 'अक्षैर्मा दीव्य:' (ऋ. १०।३४) इस सूक्तके दर्शनसे द्यूतक्रीड़ासे भी घृणा हो गई। इस सूक्तका ऋषि भी उक्त संहितामें कवष ही लिखा है। इससे स्पष्ट है कि–कवषको कितव होनेसे ही ऋषियोंने 'दास्या:पुत्र' और 'अब्राह्मण' शब्दसे गाली दी; वास्तविकतासे नहीं। अतएव द्यूत-निन्दा-सूक्तमें 'कितव' (१०।३४।१३) आदि कवष जैसोंको लक्ष्य करके कहा गया।

इस प्रकार ऋ.सं.के विवरण करनेवाले ऐ.ब्रा.ने यहां कवषका वही कितवतासम्बन्धी इतिहास व्यक्त कर दिया है। तब 'दास्या:पुत्र, अब्राह्मण' इन शब्दोंसे श्रीसामश्रमीका ऐलूष-कवषको शूद्र सिद्ध करना

अलुक्समासके निरर्थक प्रयोग तथा 'अपशव:' की तरह अप्रशस्तार्थक नञ्के प्रयोगकी ओर ध्यान न देना ही है। इस आलोचनासे प्रधानमल्ल-निबर्हण-न्यायसे सामश्रमीजीके पिछलगुए सुधारकोंका निराकरण भी हो गया।

(२१) कवषको कथञ्चिद् दासीपुत्र मान भी लिया जाय; तथापि उसकी माता शूद्रा थी—यह भी बात विचार पर नहीं टिकती। दासियाँ सभी शूद्रा हों; यह निष्प्रमाण ही है। (क) अज्ञातवासमें द्रौपदी सैरन्ध्री नामसे राजा विराटकी दासी बनी, वह क्षत्रिया थी, शूद्रा नहीं। (ख) राजा हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी शैव्याको बेचा, वह किसी की दासी बनी। न वह शूद्रा हुई, न उसके पुत्र रोहिताश्वको कहीं शूद्र कहा गया है। (ग) राजा ययातिकी पत्नी देवयानीकी शर्मिष्ठा दासी थी; न तो वह शूद्रा कही जाती है; और न उसके लड़के पुरुको ही कहीं शूद्र कहा गया है। (घ) पत्नी भी पतिकी दासी होती है, इससे क्या वह शूद्रा हो जाती है?

(ङ) गरुड़की माता विनता कद्रू नाम वाली अपनी सपत्नीकी दासी थी, पर वह शूद्रा नहीं थी, उसका पुत्र गरुड़ भी दास्या:पुत्र, वा शूद्र नहीं कहा जाता। (च) राजा लोग शत्रु राजाको जीतकर उसकी लड़कीको अपनी दासी बना लिया करते हैं, उससे वह शूद्रा नहीं हो जाती। कुलूतेश्वरकी लड़की पत्रलेखाको चन्द्रापीड़की सेवार्थ दासी बना दिया गया था—इससे वह शूद्रा नहीं हो जाती। तब वादितोषन्यायसे कवषको कथञ्चित् दासीका लड़का भी मान लिया जाये, तब वह शूद्र कैसे हो जायगा—जब तक कि उसके माता-पिताको किसी ऐतिहासिक-प्रमाणसे शूद्र सिद्ध न किया जावे।

(२२) जोकि श्रीगौतमने कवषको इलूषा नामक दासीका पुत्र कहा है—यह भी निर्मूल है, नहीं तो उन्हें वैसा इतिहास किसी इतिहास-ग्रन्थसे दिखलाना चाहिये। (क) इलूष तो कवषके पिताका पुंलिङ्गान्त नाम है—इलूषस्य अपत्यम् ऐलूष:। (ख) कवषको शूद्र मानते हुए भी श्रीराजाराम शास्त्रीने अपने 'वेदान्तदर्शन-भाष्य (२६४ पृष्ठ)' में ऐलूषका पुत्र कवष' इस प्रकार यह पुरुषका नाम ही माना है। (ग) वैसा ही माननेवाले श्रीनगेन्द्र. वसुने भी अपने हिन्दी विश्वकोष ४र्थ भाग (२२५ पृ.) में 'इनके पिताका नाम इलूष' माना है। (घ) वैसा ही माननेवाले श्रीच.से. शास्त्रीने भी 'हिन्दुराष्ट्रका नवनिर्माण' (१६१ पृ.) में 'इलूषके पुत्र कवष' यह उसका पितृनाम माना है। (ङ) श्रीसायणने भी अपने ऋसं.के भाष्य (१०।३०) में इलूषपुत्रस्य कवषस्यार्षम्' यही लिखा है—'इलूषापुत्रस्य' नहीं कहा। (च) अपने ऐ.ब्रा.के भाष्यमें भी श्रीसायणने 'तेषां मध्ये कश्चिद् इलूषाख्यस्य पुरुषस्य पुत्र: कवषनामकोऽप्यस्ति' यह कहकर उसके पिताका नाम ही 'इलूष' बताया है। पुरुष भला दासी कैसे हो।

(छ) इससे यह भी सिद्ध होता है कि—कवष यदि किसी दासीका पुत्र होता, तब उसका नाम भी उस दासीके नामसे प्रसिद्ध होता, पिताके नामसे नहीं। परन्तु उसकी माता दासीके नाम न मिलनेसे, केवल पिताका नाम ही मिलनेसे यह स्पष्ट हो गया कि—वह वस्तुत: दासीपुत्र नहीं, किन्तु 'दास्या:पुत्र:' यह उसे गाली ही दी गई है। (ज) इससे श्री-क्षि.मो. शास्त्रीका 'भारतवर्षमें जातिभेद' (२५ पृ.) में 'इलूषा' एक शूद्र दासी थी, यह लिखना भी असत् (गलत) सिद्ध हो गया। क्योंकि—स्त्रीका नाम अकारान्त न होकर आकारान्त [टावन्त] ही होता है, परन्तु 'इलूषा' ऐसा टाप्-युक्त नाम कहीं भी नहीं मिला—अत: कवषकी दासी-पुत्रता भी निर्मूल ही है, उस पर सुधारकों-द्वारा बलात् ही थोपी गई है।

(२३) श्रीकाव्यतीर्थका यह लिखना कि—'सम्पूर्ण ऋग्वेदका अध्ययन करनेपर उसे वेदके नवीन-नवीन विषय भासित होने लगे, यह देख ऋषियोंने उसे फिर यज्ञमें बुलाया' यह कोरी कल्पना ही है। ऐ.ब्रा. में वा अन्यत्र कहीं ऐसा नहीं लिखा। वहाँ तो 'स बहिर्धन्व उदूढ: पिपासया

वित्त एतद् अपोनप्त्रीयमपश्यत्' तत्क्षण ही उसे अतर्कित उक्त-सूक्तका स्फुरण बताया है, उसका कहीं वेदका पढ़ना नहीं बताया गया, तभी तो ऋषियोंने झट उसी समय उसे यज्ञमें शामिल कर दिया। उसे यज्ञसे बाहर करनेवाले ऋषि भी अभी वहीं ठहरे थे। इस थोड़े ही क्षणोंके समयमें उसने उस मरु (रेतीले प्रदेश) में जहां कोई भी गुरुकुल नहीं था, कवषका सम्पूर्ण-ऋग्वेद पढ़ना अनुपपन्न ही है। यदि यह पहलेसे ही वेद पढ़ा हुआ होता, तब उसका ऋषियों-द्वारा निकालना ही उपपन्न नहीं होता। नहीं तो फिर उसे बुलाते ही नहीं। उसे तो तब 'अपोनप्त्रीय' (ऋ. १०।३०) इस एक सूक्तकी ही स्फुरणा बताई गई है, पीछे उसे ३१-३२-३३-३४ सूक्त प्रतिभात हुए। सम्पूर्ण ऋग्वेद वाली बात काव्य-तीर्थजीकी निर्मूल है। आश्चर्य यह है कि—यह लोग निर्मूल कल्पनाएं गढ़ते हुए नहीं शर्माते।

(२४) श्रीर.का. शास्त्रीका यह लिखना कि—ऋषियोंने इन्हें दासीपुत्र कह यज्ञसे निकाल दिया; तत्पश्चात् इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेदका अध्ययन कर उसके नये-नये विषयोंको हृदयङ्गम किया। तब ऋषियोंने उन्हें पास बुलाकर अपना आचार्य बनाया' यह ऐ.ब्रा.से विरुद्ध ही है, क्योंकि यज्ञसे निकालने तथा फिर बुलानेके समयमें कोई साल-छः महीनेका अन्तर नहीं कि—इस अवधिमें उसने सब संहिताओंकी उपजीव्य ऋसं.को भी पढ डाला, उसमें नव-नव उन्मेष भी वह कर सका। यहाँ तो कई मिनटों की बात थी। न सारी ऋसं.की पढ़नेकी बात कहीं लिखी ही है।

यज्ञ शुरू होनेको था। तब जो ऋषि उसे नदी-तटसे दूर ले गये थे—वे भी अभी वापिस नहीं आये थे। उनके देखते ही देखते कवषको अपोनप्त्रीय सूक्त स्वयं, बिना पढ़नेके परिश्रमके, अनायास ही प्रतिभात हो गया। यह चमत्कार देखकर ऋषियोंने उसपर देवकृपा जानकर उसे उस प्रवृत्त यज्ञमें मिला लिया। आश्चर्य है कि—सुधारक लोग ग्रन्थकारसे विरुद्ध भी कल्पनाएं गढ़ दिया करते हैं। यह शास्त्रीजीने

काव्यतीर्थजीका ही अन्धानुसरण किया है, उसका उत्तर दिया जा चुका है।

(२५) 'छूत और अछूत' में उसके प्रणेताका यह कहना कि—'ऐसा कहकर ऋषियोंने दासीपुत्र कवषऐलूषको अपनेमें शामिल कर लिया। विद्वत्ताके कारण मनुष्यका सम्मान किस प्रकार होता था—इसका यह अच्छा उदाहरण है। जिन लोगोंने उसे नीचकुलोत्पन्न कह कर त्याग दिया था, उन्होंने उसकी वेदविद्याको जानकर अपनेमें शामिल कर लिया', यह भी गलत है।—

इसमें यह प्रष्टव्य है कि—कवष पूर्वसे ही विद्वान् था, अथवा ऋषियों-से निकाले जानेके इन कई मिनटोंके समयमें विद्वान् हो गया? यदि वह पूर्वसे ही विद्वान् था; तब उसे 'अब्राह्मण' क्यों कहा गया? यदि वह अभी-अभी विद्वान् बन गया, तो क्या यह सम्भव है? वस्तुतः यज्ञमें जो सम्बन्धित हुए थे, वे सब ऋषि-मन्त्रस्तोमद्रष्टा (निरु. २।११।१) थे। उस समय तक कवष मन्त्रद्रष्टा न होनेसे ऋषियोंकी पंक्तिमें बैठने योग्य नहीं था, अतः उसे यौगिक वा पारिभाषिक एवं शाब्दिक अब्राह्मण [ब्रह्म जानाति—इति ब्राह्मणः, न ब्राह्मणः इति अब्राह्मणः, वेदमन्त्रोंका अद्रष्ट] और कितव होनेसे वहाँसे निकाल दिया गया।

'दास्याःपुत्र' शब्द तो गाली ही है, नहीं तो यदि दासी [शूद्रा] के पुत्र होनेसे ही ऋषियोंका उसे यज्ञमें शामिल करना इष्ट नहीं था, तो दासीपुत्र तो वह वादियोंके अनुसार अब भी था, किसी ब्राह्मण-ब्राह्मणीका पुत्र नहीं बन गया था, न ऐसा होना सम्भव ही था, तब दासीपुत्रताके द्वेषी ऋषियोंने उसे यज्ञमें क्यों बुला लिया? इसीसे स्पष्ट है कि—'दास्याःपुत्र' शब्द केवल उसकेलिए गाली ही थी, वास्तविकता नहीं।

जब कवष तत्क्षण वैदिक-सूक्त प्रतिभात होनेसे ऋषि बन गया, सरस्वती नदीके स्वयम् उपस्थित जलसे उसकी प्यास भी बुझ गई; ऐसी

देवताओंकी कृपा उस पर हुई देख उन ऋषियोंने उसे यज्ञमें बुला लिया, इससे हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं, क्योंकि ऋषि बनना अपने अधीन की बात नहीं। जिसे लुप्त वेदमन्त्र समाधिमें वा अतर्कित स्वयं प्रतिभात हो जावें, वही ऋषि होता है। मन्त्रद्रष्टा न होथेसे यास्क, पार्णिनि आदि भी ऋषि नहीं थे, हाँ सम्मानकेलिए उन्हें कहीं ऋषि-महर्षि कहा गया हो-यह भिन्न बात है, जैसे कि-आजकल महर्षि मदनमोहन मालवीत, महर्षि मुहम्मद, राजर्षि टण्डन इत्यादि कह दिया जाता है—यह बात श्रीसामश्रमीजीके 'निरुक्तालोचन' में भी स्पष्ट है।

कवष पर देवताओंकी एक कृपा तो यह हुई कि उस प्यासेको सरस्वती-नदीका जल मिल गया, फिर देवोंथे उसे द्यूतनिरत देखा, जिसके लिए ऋषियोंने उसे 'दास्या:पुत्र' और 'अब्राह्मण' शब्दसे गाली निकाली थी। दूसरी कृपा यह हुई कि-उसे द्यूतहानिसूचक ऋसं. १०।३४ सूक्त भी प्रतिभात हो गया-जिससे उसका कितवत्व भी समाप्त हुआ। इस प्रकार उसकी भारी कष्ट पानेरूप तपस्यासे तत्क्षण प्रसन्न देवताओंने ऋषियों-द्वारा यज्ञमें पुन: प्रतिष्ठापनपूर्वक उसका सम्मान कराया-इससे वादिपक्षकी कुछ भी सिद्धि न हुई। यह ऐ.ब्रा. में ऋसं.के इन सूक्तोंके प्राकट्यका क्रमिक इतिहास है। तब भी कवषको इन्हीं सूक्तोंका ऋषि कहा गया है, सारी ऋसं. का नहीं।

(२६) श्रीवि.ब. शास्त्रीका यह उल्लेख कि-ऐत. में कवष-ऐलूषका चरित्र अब्राह्मण और जुआरिया लिख कर फिर स्वीकार किया गया है कि-वह भी अपने परिश्रमसे ऋषि हो गया' इसपर उत्तर यह है कि-अब्राह्मणसे उसके ऋषित्वमें तो हमें आपत्ति नहीं ब्राह्मणता तो उसकी उनके अनुसार नहीं दिखलाई गई। ब्राह्मण तो वह पहलेसे ही था। ऋषि तो देवशुनी सरमा भी बनी थी, जैसा कि-निरुक्त (११।२५।१) और ऐतरेयालो.' (३१ पृ.) में सूचित किया गया है। उक्त वाक्यमें 'अपने परिश्रमसे' यह शब्द चिन्तनीय हैं, कई मिनटोंके इस समयमें अपना

परिश्रम क्या हो सकता है? कहाँ था उस मरुभूमिमें गुरुकुल? यह तो अतर्कित दैवी-कृपासे उसे कई सूक्त स्फुरित हो गये कि-वह ऋषि हो गया। वस्तुत: कवष ब्राह्मण था—यह हम पूर्व बता आये हैं।

(२७) श्रीरा.गो. शास्त्रीका (क) 'वेदमें कोई ऐसा मन्त्र नहीं, जो शूद्रके अधिकारका बाधक हो, (ख) प्रत्युत यह बड़ा प्रबल साधक प्रमाण है कि-'ऐलूषका पुत्र कवष ऋषि जो जन्मसे शूद्र (?) है, वह अपोनप्त्रीय-सूक्तका द्रष्टा है' यह कहना भी ठीक नहीं। (क) 'वेदमाता...द्विजानाम्' (१९।७१।१) यह अथर्ववेदका मन्त्र शूद्रोंका वेदमें अनधिकार बता रहा है। स्वयं श्रीराजारामजी अपने इस मन्त्रके भाष्यमें इसे वेदपाठके बाद पठनीय मानते हैं, और 'वरको देनेवाली वेदमाता मुझसे स्तुति की गई है, वह द्विजोंकी पावमानी प्रेरे'। उन्हींके किये इस अर्थसे भी अद्विज-एकज-शूद्रोंका वेदपाठमें अनधिकार सिद्ध हो रहा है।

(ख) कवषकी शूद्रता सिद्ध नहीं है-यह हम बता चुके हैं। उक्त अथर्व-मन्त्रमें जब एकज-शूद्रका वेदमें अधिकार ही नहीं, तब वह वेदका द्रष्टा कैसे हो सकता है? तब 'मो जब शूद्रको मन्त्रद्रष्टा ऋषि बननेकी रोक नहीं, तो उसको मन्त्राध्ययनमें कैसे रोक हो सकती है' यह शास्त्रीजीका कथन खण्डित हो गया।

'यह अनुदारताका भाव है कि-शूद्र वेदाध्ययनका अधिकारी नहीं, पूर्व ऋषियोंके समय नहीं पाया जाता' यह उनका कथन भी ठीक नहीं, अनधिकारीको अधिकार न देना 'अनुदारता' नहीं होती। इसी ऐत. के वाक्यमें ऋषियोंने कवषको शास्त्रीजीके अनुसार दासीपुत्र होनेसे ही तो यज्ञसे बहिष्कृत कर दिया, प्रत्युत उसे सरस्वती-नदीके जल पीनेका अधिकारी भी नहीं माना; अत: उसे मरुदेशमें डाल दिया। तो क्या यह उनके मतमें 'अनुदारता' नहीं? यह तो कवष पर देवकृपा हो गई कि-उसे अपोनप्त्रीय सूक्त स्फुरित हो गया। तब उन्होंने इस विशेष कारण-वश उसे पुन: स्वीकृत कर लिया। इससे शास्त्रीजीका पक्ष कट गया।

वस्तुत: वह दासीपुत्र नहीं था—यह हम सिद्ध कर ही चुके हैं।

(२८) श्रीगं.प्र. एम०ए० का 'जब ऋषियोंको ज्ञात हुआ कि—कवष ज्ञानी है, तो उनको बुला कर ऋषि-पदवी दी' यह कथन तथा श्रीरा.दे.-जीका 'ज्ञानी तथा परमात्माका उपासक बननेसे यदि मन्त्रद्रष्टा ऋषि बन सकता है, तो उसकेलिए अन्य और कौनसी महत्ता शेष रह जाती है' यह कथन भी हमारे पक्षसे बहुत विरुद्ध नहीं। पर यहां शूद्रसे ब्राह्मण हो जाना कहीं नहीं कहा, किन्तु मन्त्रद्रष्टा [ऋषि] हो जाना ही कहा है। ऋषित्व तो [ऋसं. १०।१०८।२,४,६,८,१०,११] देवशुनी [कुतिया] का भी कहा है, जैसे कि—ऐतरेयालो. ३१ पृष्ठमें सामश्रमीजीने 'उसे 'सुशिक्षिता कुक्कुरी' कहा है, इससे वह ब्राह्मणी नहीं बन जाती। ऋषि होना अपने अधीनकी बात नहीं है। श्रीरा.नं.ने कवषकेलिए कहा है—'कवषको ऋषियोंने यज्ञसमारोहसे धूर्त, अब्राह्मण, दासीपुत्र कहकर निकाल दिया था, तब उसे दीक्षा देना अङ्गीकार न किया। देवता लोग कवषको जानते थे कि—कवष ज्ञानी, विद्वान् तथा धर्मात्मा पुरुष था, अत: कवष महर्षि बना लिया गया' इससे वादीका पक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं होता। यहाँ अनजानमें ऋषियों-द्वारा गाली देकर निकालना कहा है, फिर देवताओं-द्वारा उसका परिचय प्राप्त होनेपर उसको पुन: बुला लेना कहा है—इससे वादीकी पक्ष-सिद्धि नहीं। श्रीसायणाचार्यकी वह बात ठीक सिद्ध हुई कि—'दास्या:पुत्र' और 'अब्राह्मण' यह कवषको गाली दी गई थी। उसमें वास्तविकता नहीं थी। वह ब्राह्मण था।

(२९) जोकि—वादी सायणके इस कथनको अटकलपच्चू मानता है। यह तो व्यर्थ है। श्रीसायणाचार्य मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद तथा वेद-ऋषियोंके इतिहाससे सुपरिचित थे, अत: उनकी उक्त व्याख्या निर्मूल नहीं, उन्होंने इस विषयका मूल अवश्य देख लिया होगा। मूलग्रन्थ भी तो वही बता रहा है। वादीके 'क्या [कवषको शूद्र बताने वाले] आजकलके विद्वानोंने सायण-भाष्यको नहीं देखा था' इस कथन पर उत्तर यह है कि—सायण-

भाष्य इन दिनों तो छपा नहीं। यदि आजके अर्वाचीन-उपनेत्रधारी लोगोंने उसे देखा भी होगा, पर अर्वाचीनताके कालुष्य-दोषसे उसे देखकर भी नहीं देखा। यदि देखा भी है, तो व्याकरणके परिनिष्ठित ज्ञान न होनेसे वे 'दास्या:पुत्र इत्युक्तिरधिक्षेपार्था' इस वाक्यका तात्पर्य न जान सके। या आजकलकी गतानुगतिकता (भेडाचाल) की।

जोकि वादी कहता है—'कवष-ऐलूषकी गाथासे तो स्पष्ट है कि-एक दासीपुत्र-अब्राह्मण भी तप करके, पढ़कर, विद्वान् होकर ऋषि तक बन सकता है' यह कथन भी व्यर्थ है। यदि वह अविद्वान् था; तब बाहर निकालनेके इन कई मिनटोंमें ऋषियोंके देखते ही देखते वह कैसे पढ़ सकता था ? वा क्या तप कर सकता था ? क्या इतने समयमें वह बिना किसीकी सहायताके विद्वान् हो सकता था ? जो ऋषि उसे निर्जल-प्रदेशमें छोड़नेकेलिए गये थे, वे भी वैसे ठहरे हुए थे। यह तो दैवी-घटना हुई कि—उसे वेदका सूक्त अतर्कित तथा स्वत: ही प्रतिभात हो गया। ब्राह्मण-तो वह पहलेसे ही था। ऋषि दैवी-कृपासे होता है। 'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तमृषिम्' (ऋ. १०।१२५।५) उसका शूद्रसे ब्राह्मण होना यहाँ वा अन्यत्र कहीं लिखा ही नहीं, तब यह गलत है।

यदि वह वस्तुत: शूद्र होता, तो वैदिक-यज्ञमें पहलेसेही लिया न जाता, क्योंकि यज्ञिय-वर्ण आदिम तीन ही हैं, शूद्रादि नहीं। जैसेकि-शतपथमें 'ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा, वैश्यो वा, ते हि यज्ञिया:' (३।१।१।९) 'द्विजातय इवेज्याभि:' (मनु. ८।३११)। (वैदिक-यज्ञोंसे सम्बन्ध द्विजोंका होता है, अद्विजोंका नहीं।) प्रत्युत शतपथकी ३।१।१।१० कण्डिकामें यज्ञदीक्षितका शूद्रके साथ साक्षात् आलाप (बातचीत) भी निषिद्ध किया गया है, उसको यज्ञमें दीक्षित करना तो दूर रहा !!!

तब स्पष्ट है कि—ब्राह्मण-कवष कितव [जुवारी] तथा अवृषि होनेसे अप्रशस्त-ब्राह्मण होनेके नाते प्रशस्त ब्राह्मण-ऋषियोंमें अपांक्तेय माना गया; और निकाल दिया गया। जब दैवी-कृपासे अपोनप्त्रीय-सूक्त उसे

प्रतिभात हो गया, जब सरस्वतीके जलने स्वयं उसके पास आकर उसकी प्यास बुझाई, तब ऋषियोंने उसपर दैवी-कृपा देखकर कि-जब यज्ञोपास्य-देव इसके कितवतामूलक अप्रशस्त-ब्राह्मणताके दोषको नहीं देखते, तब हम भी उन देवोंके भक्त उसके इस दोषको कैसे देखें ?

इधर वह वेदसूक्तद्रष्टा होजानेसे ऋषि भी बन गया है, तब यह अब ऋषिपङ्क्तिमें बैठने योग्य है—यह जानकर उसे फिर बुला लिया। यह अन्तर कई मिनटोंका है। दिन, महीना, सालोंका अन्तर नहीं था कि-वह पढ़ने गया, और वह विद्वान् हो गया। यदि ऐसा होता, तो ऋषियोंको कैसे पता लगता कि-यह कहाँ है ? तो क्या चालू-यज्ञमें उसे बुलाया जा सकता था ? क्या वह यज्ञ कई वर्षों तक चलता रहा ? उसमें भी क्या कवषके विना काम रुका हुआ था कि-उसका बुलाना आवश्यक समझा गया ? वास्तवमें वादियोंका पक्ष निर्मूल ही है, यह भली प्रकार सिद्ध हो ही चुका। जोकि वादी 'यथेमां वाचं' मन्त्र-द्वारा शूद्रादिको भी वेदका अधिकार देता है, यह भी ठीक नहीं—यह इस पुष्पके पृ. २ से ५५ पृष्ठ तकमें देखना चाहिये।

---

(२५) मतङ्गका ब्राह्मण बनना ?
(तीसरी ऐतिहासिक भूल)

पूर्वपक्ष—(क) मतङ्ग चाण्डाल-कुलसे ब्राह्मण हो गया। कवष दासीका पुत्र था। [एक बी.ए. वैदिक-सिद्धान्तमें]। (ख) 'स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यं नालभद् भरतर्षभ ! चाण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्' (महा. अनु. ३।१९) इस युधिष्ठिरके प्रश्नसे प्रतीत होता है कि-मतङ्ग चाण्डालसे ब्राह्मण हो गया'। [श्रीछु.ला. 'वेदप्रकाश' पत्रमें] (स.प्र. स्वा.वे.नं.सर. पृ. ८०-८१)।

उत्तरपक्ष—(क) मतङ्गकी कथाके दृष्टान्तसे तथा कवषकी दासी

पुत्रतामें ब्राह्मणता निर्मूल है। इस विषय पर हम पहले बहुत लिख चुके हैं। मतङ्ग चाण्डालकुलसे ब्राह्मण कभी बना ही नहीं। इन्द्रकी तपस्या-करके उसने ब्राह्मणत्व माँगा, पर इन्द्रने चाण्डालसे ब्राह्मण बनना बहुजन्म-साध्य बताया। [२८।६-७-८-९-१०-११-१२-१३] इस पर 'महाभारत' अनुशासनपर्व २७-२८-२९ अध्याय द्रष्टव्य हैं। इन्द्रके यह शब्द हैं—

'ब्राह्मण्यं दुर्लभं तात ! प्रार्थयानो न लप्स्यसे' (२८।३) 'वृणीष्व काममन्यं त्वं ब्राह्मण्यं हि सुदुर्लभम् (१६) 'चाण्डालयोनौ जातेन (ब्राह्मण्यं) नावाप्यं वै कथञ्चन। अन्यं कामं वृणीष्व त्व मा वृथा तेऽस्त्वयं श्रम: (२९।४) 'मतङ्ग ! ब्राह्मणत्वं ते विरुद्धमिह दृश्यते [८] 'बह्वीस्तु संविशन् योनीर्जायमान: पुन: पुन:। पर्यायें तात ! कस्मिंश्चिद् ब्राह्मण्यमिह विन्दति। तदुत्सृज्येह दुष्प्राप ब्राह्मण्यमकृतात्मभि:। अन्य वरं वृणीष्व त्वं दुर्लभोऽयं हि ते वर:' (२९।११-१२) 'एवमेतत् परं स्थानं ब्राह्मण्यं नाम भारत ! तच्च दुष्प्रापमिह वै महेन्द्रवचनं यथा' (२९।२६) ब्राह्मण्यं तात ! दुष्प्राप्यं वर्णै: क्षत्रादिभिस्त्रिभि:' (२७।५)। तब मतङ्गका चाण्डालसे ब्राह्मण हो जाना कहना इतिहाससे विरुद्ध है। बी.ए. महाशयने स्वा.द.जी पर विश्वास करके आँख बन्द करके यह असत्य लिख दिया।

उक्त पद्योंका यह अर्थ है—हे तात ! सुदुर्लभ ब्राह्मणत्व तू चाहता है; पर वह तुम्हें नहीं मिलेगा।२८।३ तुम किसी दूसरे वरको माँगो, तुम्हें ब्राह्मणत्व मिलना बहुत दुर्लभ है। चाण्डालयोनिमें उत्पन्नको ब्राह्मणत्व कभी नहीं मिलता। तू कोई दूसरा वर माँग, जिससे तेरा वह परिश्रम व्यर्थ न जावे।२९।४ ऐ मातङ्ग, ब्राह्मणत्व तुम्हारे विरुद्ध है।

'बहुत-सी योनियोंमें बार-बार जन्म लेता हुआ किसी जन्ममें जाकर ब्राह्मण बनता है।११। तब अपवित्र आत्मावालोंसे दुर्लभ ब्राह्मणत्वके वर-को छोड़कर किसी अन्य वरको माँग। यह ब्राह्मणताका वर तुम्हारेलिए दुर्लभ है।१२। सो ब्राह्मणत्व यह बड़ा पद है। इन्द्र-वचनानुसार तुम्हारे-

लिए दुर्लभ है ।२६। क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंकेलिए ब्राह्मणत्व दुर्लभ है । २७।५)

मतङ्गकी कथामें उसे ब्राह्मणत्व-प्रदान नहीं किया गया—वह पूर्वप्रोक्त स्थलमें देखा जा सकता है । वादीके दिये हुए पद्यमें भी यही कहा है—'स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यं नालभद्' ।

(ख) (हे भरतश्रेष्ठ भीष्मजी ! चाण्डालयोनिमें मतङ्ग ब्राह्मण न बन सका—यह तो ठीक है, पर क्षत्रिय-विश्वामित्र ब्राह्मण कैसे बन गये ?) 'कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्' यह मतङ्गकेलिए नहीं है, किन्तु अगले पद्यमें स्थित विश्वामित्रकेलिए है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—'स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यं नालभद् भरतर्षभ ! चाण्डालयोनौ जातो हि कथं स [विश्वामित्र:] ब्राह्मणोऽभवत्' (३।१७) इसीका हम पूर्वापर दिखलाते हैं; जिससे यह विषय स्वच्छ हो जाय ।

अनुशासनपर्वके ३रे अध्यायके आरम्भमें विश्वामित्रका प्रश्न चला हुआ है—'ब्राह्मण्यं यदि दुष्प्राप्यं त्रिभिर्वर्णैर्नराधिप ! कथं प्राप्तं महाराज ! क्षत्रियेण महात्मना । विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ? ब्राह्मणत्वं नरर्षभ ! (१-२) अर्थात् यदि तीन वर्ण क्षत्रियादि ब्राह्मण नहीं बन सकते; तो क्षत्रिय-विश्वामित्र कैसे ब्राह्मण बने ? 'तस्यैतानि च कर्माणि तथाऽन्यानि च कौरव ! क्षत्रियस्येत्यतो जातमिदं कौतूहलं मम' (३।१६) (उस क्षत्रिय विश्वामित्रके यह तथा अन्य कर्म हैं) ।

'किमेतदिति तत्त्वेन प्रब्रूहि भरतर्षभ ! देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत्' (३।१७) एतत्तत्त्वेन मे तात ! सर्वमाख्यातुमर्हसि' (बिना देह बदले विश्वामित्र ब्राह्मण कैसे बन गये ? इसका पूरा वृत्त मुझे बताइये) इसके बाद यह श्लोक है—'मतङ्गस्य यथातत्त्वं तथैवेतद् वदस्व मे' (३८) स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यं नालभद् भरतर्षभ ! चाण्डालयोनौ जातो हि, कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्' (३।१९) । मतङ्गका भी मुझे पूरा हाल सुनाइये । यह चाण्डालयोनिमें पैदा हुआ था; अत: वह ब्राह्मण नहीं बन सका, यह तो (स्थाने) ठीक है; पर [विश्वामित्र] ब्राह्मण कैसे बने ?

यह है पूर्वापर-प्रकरण; तब यहाँ प्रतिपक्षी लोग गड़बड़ी कैसे मचाते हैं ? फिर चौथे अध्यायसे भीष्मजीने विश्वामित्रका पूरा वृत्तान्त सुनाना शुरू किया । ४।६१ पद्यमें यह कहा है—'तथैव क्षत्रियो राजन् ! विश्वामित्रो महातपा: । ऋचीकेनाहितं ब्रह्म परमेतद् युधिष्ठिर' । इसका अर्थ श्रीसातवलेकरजीने ठीक ही किया है कि—महातपस्वी विश्वामित्रके [क्षत्रिया माता द्वारा उत्पन्न होनेसे] क्षत्रिय होनेपर भी ऋचीक-मुनिके द्वारा जो पहले ब्रह्मतेज प्रवेशित किया गया था; उस ही के निमित्तसे उन्होंने...ब्राह्मणत्व-लाभ किया था' ।

इसके बाद बहुतसे प्रासङ्गिक प्रश्न युधिष्ठिरने पञ्चम अध्यायसे पूछे । प्रकरणवश शिव तथा शिवलिङ्गका वृत्तान्त भी आया । फिर २७वें अध्यायमें युधिष्ठिरने प्रश्न किया कि—'क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जिस कर्म वा तपस्यासे ब्राह्मण बन जावे, यह मुझे बताइये । तब यहांसे भीष्मजीने क्षत्रियादिको ब्राह्मणत्वादिकी प्राप्ति दुर्लभ कहकर पहलेसे पूछा हुआ मतङ्गका हाल सुनाना शुरू किया । २८वें तथा २९वें अध्यायमें भी वही मतङ्गकी चर्चा जारी रही । इन्द्रकी उसने तपस्या की—ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिकेलिए । पर इन्द्रने निषेध कर दिया । यह मतङ्गोपाख्यान यहाँ समाप्त हो गया । मतङ्ग कभी ब्राह्मण बना ही नहीं, तब स्वा.द.का उसे ब्राह्मणत्व-लाभ कहना इतिहाससे सर्वथा विरुद्ध है ।

आर्यसमाजी श्रीवेदानन्दजीने तो यहाँ पाठ भी स्वकल्पित रख दिया है, और अर्थ भी गलत दिया है कि—'यह उचित ही है कि मतङ्गने ब्राह्मणता प्राप्त की । चाण्डालत्वमें उत्पन्न होकर भी उसने कैसे ब्राह्मणता प्राप्त की' ('यह अर्थ कितना विरुद्ध वा अशुद्ध है !) 'नालभत्' को 'आलभत्' कर दिया ! धोखा !!!

गीता-प्रेसके महा.में यह अर्थ किया है—'मतङ्गस्य यथा तत्त्वं तथैवैतद् वदस्व मे' (३।१८) जैसे मतङ्गको तपस्या करनेसे भी ब्राह्मणत्व नहीं

प्राप्त हुआ; वैसी ही बात विश्वामित्रकेलिए क्यों नहीं हुई ? यह मुझे बताइये। मतङ्गको जो ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं हुआ, यह तो उचित ही था; क्योंकि उसका जन्म चाण्डालकी योनिमें हुआ था; परन्तु विश्वामित्रने कैसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया ? (३।१९)

शेष है—'चाण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्' यह अंश; इसमें वादीको या तो भ्रम हुआ, या उसने जान-बूझकर अर्थका अनर्थ किया है। इसमें 'चाण्डालयोनौ जातो हि' यह तृतीय पाद तो पहलेके दो पादोंसे सम्बद्ध है—यह मतङ्गका विशेषण है, शेष 'कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्' यह चतुर्थ पाद प्रकृत विश्वामित्रकेलिए है कि—'देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत्' (३।१७) 'कथं प्राप्तं महाराज ! क्षत्रियेण महात्मना। विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ! ब्राह्मणत्वं नरर्षभ !' (३।१-२)

इसलिए इस पद्यका अर्थ श्रीसातवलेकरने इस प्रकार लिखा है—'विश्वामित्र बिना दूसरा शरीर धारण किये हुए ही किस प्रकार ब्राह्मण हुए...जैसा मातङ्गका वृत्तान्त है, वैसे ही इसे भी आप मेरे निकट वर्णन करिये। मतङ्गने शूद्रके सहारे ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न होके कठिन तपस्या करनेपर भी ब्राह्मणत्व-लाभ नहीं किया; वह युक्ति-सङ्गत है, परन्तु विश्वामित्रने किस प्रकार ब्राह्मणत्व-लाभ किया'। अत: वादीका उक्त पद्यका किया अर्थ ठीक नहीं। रामायण-अरण्यकाण्डका मतङ्गमुनि तो ब्राह्मण था—महाभारतीय मतङ्गसे भिन्न था। फलत: वादीका पक्ष कट गया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि—कवष भी शूद्र नहीं था। यदि होता, तो उसकेलिए भी मतङ्गकी तरह ब्राह्मणत्व दुर्लभ होनेसे उसे ऋषियों-द्वारा यज्ञमें न लिया जाता। पर लिया जानेसे स्पष्ट है कि—वह ब्राह्मण था, पर उसमें कितवत्व एक दोष था, जिससे उसे निकाला गया। पर देवकृपा उस पर देख कर फिर उसके इस दोषकी पर्वाह नहीं की गई। फिर कितवत्व उसका हट भी गया। यह गत निबन्धमें स्पष्ट कर दिया गया।

(२६) वेश्यापुत्र जावाल (?)
(चौथी ऐतिहासिक भूल)

पूर्वपक्ष—'सत्यकाम-जावालकी गाथा भी इसी बातको सिद्ध करती है। वह वेश्याका पुत्र था; अज्ञातकुलका था, उसे गुरुने सत्य बोलनेसे ब्राह्मण बना दिया। यह छान्दोग्योपनिषत्में प्रसिद्ध है। इसी तरह कवष भी दासीपुत्रसे ब्राह्मण बना' (स्वा.द.जी स.प्र.में, श्रीवा.सो. दलाल बी.ए. हिस्ट्री आफ इण्डियामें, 'पतितोंकी शुद्धि सनातन है' में श्रीरा.च. शास्त्री, श्रीभ.आ. आदि)।

उत्तरपक्ष—यह प्रतिपक्षियोंका पक्ष अशुद्ध है। कोई ७-८ वर्षका बालक जिसे पिताका पता न हो और वेश्या-पुत्र हो; पूछनेपर बताए कि—मैं वेश्यापुत्र हूँ, तो क्या वादी उसे ब्राह्मण बना देंगे ? आजकल इस प्रकारसे ब्राह्मणोंकी संख्या बहुत बढ़ाई जा सकती है, जिससे आर्यसमाज-आदिका गौरव बढ़े। तब तो जो इसके विपरीत अपने माता-पिताके परिचयको ठीक-ठीक न कहे, तो क्या वादियोंके मतमें वह शूद्र हो जायगा ? ऐसा होने पर तो स्वा.द. भी शूद्र हो जायेंगे। इनके तीन-पिताओं (पितृनामों) का पता लग चुका है, क्योंकि उन्होंने अपने पिताका ठीक-ठीक परिचय नहीं दिया।

यदि जावाल वेश्यापुत्र वा अज्ञातकुलका होता; तब उसे 'प्रशस्त-मातापितृक' न कहा जाता; पर 'उसे प्रशंसित माता-पिता वाला' कहा जाता है, देखिये शतपथमें—'सत्यकामो जाबालो' मनो वै ब्रह्म-इति यथा मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् ब्रूयात्; तथा तज्जाबालोऽब्रवीत्' (बृहदारण्यक ४।१।६) यहाँ प्रशंसा-अर्थमें मतुप् है। सो प्रशस्त माता-तथा प्रशस्त पिता, तथा प्रशस्त-आचार्य वाला कहा गया है। यदि वह अज्ञातकुल वा वेश्यापुत्र होता; तब उसे प्रशंसार्थक माता-पिता वाला न कहा जाता।

वस्तुत: यदि जावाल जन्मसे ब्राह्मण न होता, किन्तु वेश्यापुत्र होता'

सत्यभाषणसे ही उसे ब्राह्मण वनाया जाता, तो वहां 'नैतद् अब्राह्मणो विवक्तुमर्हति' (छान्दोग्य ४।४।५) यह वाक्य गुरु न कहता, प्रत्युत यह कहता कि–तूने सत्य कहा है–अत: हम तुम्हें शूद्रसे ब्राह्मण बनाते हैं'। पर गुरुने ऐसा न कह कर यह कहा कि–'ब्राह्मणके बिना कोई अन्य ऐसा नहीं कहता। अर्थात् गौतममुनि सत्यकामके सत्यभाषणसे उसमें ब्राह्मणत्व आरोपित नहीं करते, किन्तु उसे पूर्वकालसे ही ब्राह्मण मानते हैं, नहीं तो उनकी ऐसी वाक्ययोजना न होती। यहाँपर स्वा. वेदानन्दने अपनेसे प्रकाशित स.प्र.में इसका यह अर्थ लिखा है–'ऐसी बात अब्राह्मण नहीं कह सकता है। (टिप्पणी स.प्र. की पृ. ७६ में)।

यह भी यहां जानना चाहिए कि–इस प्रकार सत्य बोलने पर वह ब्राह्मण बनाया भी नहीं जा सकता; नहीं तो सत्यहरिश्चन्द्र राजाको तथा महाभारतीय तुलाधार-वैश्यको भी ब्राह्मण कहा जाता; क्योंकि–यह भी सत्यवादी थे। वादीके प्रति यह प्रश्न है कि–उसकी माता जबाला ब्राह्मणी थी, या शूद्रा? यदि ब्राह्मणी, तब उसका पुत्र होनेसे जाबाल भी जन्मसे ब्राह्मण सिद्ध हुआ। यदि वह शूद्रा थी, तो इससे वादियोंका ही पक्ष कटता है। वह ऐसे कि–उसके पुत्रने जो सत्य बोला था, इसमें उसका महत्त्व कुछ भी नहीं था, क्योंकि–ऋजुबुद्धि छोटा बालक यह नहीं जान सकता कि–'वेश्यापुत्र' कहनेसे मेरी कितनी हानि है? और जो उसने यह कहा भी था—यह उसका अपना स्वतन्त्र वा स्व-ज्ञानपूर्वक वचन नहीं था, किन्तु यह उसने अपनी माताके वचनका 'तोतेरटन्त' अनुवादमात्र कर दिया। इस विषयमें उसकी माता ही सत्यवक्त्री मानी जावेगी, क्योंकि–यदि वह ऐसा न कहती, तो वह छोटा-बच्चा इतना भी न कह सकता। तब इस सत्यभाषणसे महत्त्व उसकी माताका है, उसके ७-८ वर्षके लड़केका नहीं।

परन्तु यदि सत्य बोलने वाली भी उसकी माता जबालाको वादी ब्राह्मणी नहीं बताते; किन्तु शूद्रा-वेश्या ही बताते हैं, तब तो वादिपक्षका

स्वयं उनके द्वारा ही खण्डन हो गया कि–वे सत्यभाषणसे तो ब्राह्मण-वर्णकी व्यवस्था मानते हैं, पर सत्यभाषणसे उसकी माता-जबालाको ब्राह्मणी नहीं मानते, तब उसका अज्ञानपूर्वक तोतेरटन्त बोलने वाला लड़का ही उनके मतमें ब्राह्मण कैसे बन सकता है? यदि उसकी माता ही सत्यभाषण आदिसे ब्राह्मणी हुई, तब उससे उत्पन्न माताके नाम वाला जाबाल भी जन्मसे ही ब्राह्मण सिद्ध हुआ, क्योंकि उसने स्वयं तो कुछ कहा ही नहीं, केवल माताके वचनका अनुवाद ही कर दिया। इस आयुमें बालकमें सांसारिक ज्ञान न होनेसे माताके कथनसे अधिक कहनेकी शक्ति नहीं होती। अत: सत्यकाम तथा कवष-सम्बन्धी वादियोंका पक्ष कट गया। इस पूछनेसे तो वर्ण-व्यवस्था जन्ममूलक ही सिद्ध हो रही है। नहीं तो इस छोटी आयुमें जब उसने कोई विद्या नहीं पढ़ी थी; तब अच्छे गुण-कर्म न होनेसे गुणकर्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था तथा वर्ण पूछना बन ही नहीं सकता।

'नैतद् अब्राह्मणो विवक्तुमर्हति' यहाँ पर अर्थ यही है कि–ब्राह्मणके पुत्रके बिना दूसरा ऐसा नहीं कह सकता। ब्राह्मण:—ब्रह्मणस्य अपत्यं ब्राह्मण:; 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा. ६।४।१७१)। न ब्राह्मण इति अब्राह्मण:, स एतद् विवक्तुं न अर्हति'। अत: यह ब्राह्मणका पुत्र ही है। जाबाल शतपथ (१०।६।२।६) के अनुसार उपमन्युका पुत्र है, उपमन्यु व्याघ्रपाद-का पुत्र है। उसे बौधायनकल्पसूत्रमें वसिष्ठवंशीय कहा गया है। अत: जन्म-ब्राह्मण ही है।

'परिचारिणी' का अर्थ 'वेश्या' नहीं, किन्तु 'पतिके पास आये अतिथियोंकी सेवामें लगी हुई'। यह अर्थ है। 'निघण्टु' (३।५) में परिचरण अर्थमें 'सपर्यति' आदि धातुएं कही गई हैं। परिचरणका अर्थ 'सेवा' होता है, 'वेश्याकर्म' नहीं। कोई स्त्री शब्दत: वा अर्थत: अपने आपको 'मैं वेश्या हूं' यह नहीं कहती, तब जबालाके वाक्यका तदनभीष्ट अर्थ कैसे किया जा सकता है?

सो पतिके अतिथियोंकी सेवामें लगी हुई, वह पतिसे गोत्र नहीं

जान सकी। पतिके अभ्यागतोंके भोजनादि-सेवाका भार स्त्री पर रहता है! कभी-कभी तो स्त्रियोंके एतदर्थ अपने भोजनका अवसर भी नहीं आता। आज भी सैकड़ों ब्राह्मणियाँ सुलभ हैं, जो पतिके गोत्रको नहीं जानतीं। इधर तो वृद्ध-पुरुषोंका ही अधिक ध्यान रहता है।

मनु. १०।५ पद्यमें श्रीमेधातिथिने भी इसे स्पष्ट किया है—'गौतमस्यापि न ततो वचनाद् ब्राह्मणोऽयमित्यवगमः, प्रागेवाऽसौ तं ब्राह्मणं वेद, गोत्रं न वेद। गोत्र-प्रश्नेन चरणप्रश्नो वेदितव्यः, तत्र उपनयनभेदोस्ति'।

श्रीमेधातिथि कहते हैं—आचार्य गौतमको भी जाबालके वचनसे 'यह ब्राह्मण था' यह मालूम नहीं हुआ। वह तो उसे पहलेसे ही ब्राह्मण जानता था। [क्योंकि उस आचार्यकुलमें ब्राह्मण ही जाते थे, शूद्र नहीं], केवल उसका गोत्र नहीं जानता था। गोत्रके प्रश्नसे चरण (वेदशाखा वा प्रवर-सम्बन्धी) का प्रश्न समझना चाहिये; क्योंकि—गोत्र-प्रवरसे उपनयनकी ग्रन्थियोंमें भेद होता है।

जिस आप्त मेधातिथिके विश्वाससे 'अथ शब्दानुशासनम्' इस महाभाष्यके वार्तिकको पाणिनिका सूत्र माना जाता है, उस आप्त मेधातिथिके वचनसे जाबालको ब्राह्मण क्यों न माना जावे?

तब वादियोंको यदि ऐसे गोत्रानभिज्ञ-लड़कोंके मिलनेका अवसर मिले, तो क्या वे उसे वेश्या-पुत्र मानेंगे? वे परीक्षा करके देखें; और बनावें बहुतोंको वेश्यापुत्र? उपनिषद्में गोत्र पूछा गया है, वर्ण नहीं। वर्ण वा गोत्र एक नहीं होते। अतः 'वैखानसधर्मप्रश्न' में कहा है—'ब्रह्मर्षिवंश्यानामार्षेयगोत्रस्मृतिर्नान्येषाम्, यस्मात् 'किंगोत्रो नु सोम्य! असि?' इति सत्यकाम-ब्राह्मणं ज्ञातुं गौतमेच्छाया: छान्दोग्यस्तुतिः' (४।८।८) (ब्रह्मर्षिवंशवालोंको आर्षेय-गोत्रकी स्मृति होती है, दूसरोंको नहीं; तभी तो 'किं गोत्रो नु सोम्य! इस प्रकार ब्राह्मण सत्यकामको जाननेकेलिए गौतमकी इच्छाको छान्दोग्यमें सूचित किया गया है') इससे हमारा पक्ष ही सिद्ध हो रहा है। इस प्रकार वैखानसधर्मप्रश्नकारने भी जाबालको

ब्राह्मण ही बताया है।)

उक्त छान्दोग्य-श्रुतिकी आनन्दगिरिने यों व्याख्या की है—'अतिथ्यभ्यागतादि अधिकृत्य परिचर्याजातं बहु चरन्ती भर्तृगृहे यतोऽहं स्थिता, तेन परिचरणचित्ततया गोत्रादीन् नापृच्छम्। (मैं जबाला) पतिके घरमें उनकी इच्छानुकूल अतिथि-अभ्यागतोंकी सेवाको बहुत करती रही; इससे परिचरण (सेवा) में लगे हुए चित्त वाली होनेसे पतिसे गोत्रादि नहीं पूछ सकी।) ['यौवने त्वामलभे' इस उपनिषद्के वचनसे सिद्ध होता है कि—जबालाका विवाह छोटी आयुमें हुआ था; परन्तु गर्भ तथा प्रसव यौवनमें हुआ था। इसलिए आगे वह कहती है—] यौवने लज्जया प्रथमं पतिं प्रति न प्रश्नः. पुनश्च तस्य उपरत- (मृत-) त्वाद् दुःखबाहुल्याच्च'। (जवानीमें पहले शर्मसे पतिसे न पूछा गया, फिर पति मर गया, तो बहुत शोकाकुल रही), (इधर-उधरसे भी गोत्रको न जान सकी)।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि—पहले गोत्रादि-निर्णयके बिना किसीका उपवीत नहीं होता था। गोत्रका प्रश्न द्विजत्वकी स्थिरतार्थ है, शूद्रोंका गोत्र नहीं होता। गोत्रका न कहने वाला शूद्र माना जाता था, और उसे यज्ञोपवीत नहीं दिया जाता था। यहाँ तो गोत्र न जानने पर भी ब्राह्मणतामात्रके अनुमानसे यज्ञोपवीत दिया गया। शूद्र होने पर उसे 'अब्राह्मण' भी नहीं कहा जा सकता था।

स्वा.द.जीका इसे अज्ञातकुल लिखना ठीक नहीं। श्रुतिमें गोत्र पूछा गया है, कुल नहीं। कुल-गोत्र भिन्न-भिन्न होते हैं, जैसेकि—'न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुल-गोत्रे निवेदयेत्' (मनु. ३।१०९)। विवाहमें स्त्रीका गोत्र परिवर्तित होता है, कुल नहीं। 'जो स्त्री पिताके गोत्रकी न हो, वही विवाहमें उत्तम (सं. वि. १२४ पृष्ठ), तो क्या स्वामीजी गोत्रका अर्थ वर्ण या कुल करेंगे? पितासे भिन्न वर्ण वाली लड़कीके साथ विवाह करायेंगे? अतः श्रीतुलसीरामस्वामीका भी यहाँ 'गोत्र' से वर्णकी ध्वनि बताना ठीक

नहीं।

यदि वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मसे होती; तो वर्ण पूछनेकी आवश्यकता भी क्या थी? पूछना जन्मसे वर्ण-व्यवस्थामें बनता है, गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था होने पर पूछनेका क्या अवकाश? यदि उसकी माता शूद्रा होती, तो अपने लड़केको उपनयन वा वेदाध्ययनार्थ आचार्यकुलमें न भेजती, किन्तु द्विजोंकी सेवाके लिए भेजती; क्योंकि–शूद्र वा संकरको उपनयनका अधिकार कोई भी संस्कारविधि नहीं देती। अतः स्पष्ट है कि–जावाल जन्मसे ही ब्राह्मण था, यही बात ब्रह्मसूत्र (१।३।३७) में बताई गई है। वाल्मी. (२।१०८।१) में जाबालिको ब्राह्मणोत्तम बताया गया है। फलतः वादीका पक्ष गिर गया। इस विषयमें 'आलोक' में अन्यत्र तथा ११वें पुष्प (पृ. १८३-२३१) में देखिये। कवषकी ब्राह्मणता हम बता हो चुके हैं।

---

(२७) श्रवणकुमार आदिका कुल।
(पाँचवीं ऐतिहासिक भूल)

पूर्वपक्ष—'कवष ऐलूष, श्रवण, द्रुपद, कश्यप, द्रोण, कृप, कमठ, यवक्रीत, कक्षीवान्, माण्डव्य, कणाद, शुक, महिदास आदि भी नीच-कुल में जन्म लेकर अपने कर्म और वृत्तिसे ब्राह्मण बन गये' (श्री भ.द. संन्यासी) (महा. शान्ति. २९६।१२-१७)

उत्तरपक्ष—श्रवण, द्रुपद आदि कहीं भी ब्राह्मण नहीं कहे गये, श्रवणने श्रीदशरथको स्वय ही अपनी अद्विजता कही थी, जैसे कि–'ब्रह्म-हत्याकृतं पापं हृदयाद् अपनीयताम्। न द्विजातिरहं राजन्' (वाल्मी. २।६३।५०-५१) (आप ब्रह्महत्याके पापके डरको हृदयसे हटा दीजिये, मैं ब्राह्मण नहीं हूं)। तब उसकी सन्ध्या एवं ब्रह्मवाद आदि भी अनधिकारवश तान्त्रिक वा पौराणिक ही समझने चाहियें। जब मरनेके समय श्रवण अपनेको 'अद्विज' कह रहा है, तब वादी उसे ब्राह्मण कैसे कहता है? क्या

यहाँ 'मुद्दई-सुस्त गवाह-चुस्त' कहावतको वादी चरितार्थ नहीं कर रहा? महिदास, कवष आदिके विषयमें पूर्व लिखा हीं जा चुका है। कक्षीवान्‌के विषयमें अग्रिम निबन्धमें कहा जावेगा। शेष कश्यप, द्रोण आदियोंके पिता ब्राह्मण थे, अतः इनको नीच-कुल लिखना ठीक नहीं। महाभारत अनुशासनपर्व (१६५।४६-४७) में यवक्रीत, कश्यप, सूत-व्यासादि को ब्राह्मण कहा है।

सुनिये–'देवतानन्तरं विप्रान् (ब्राह्मणान्) तपः-सिद्धान् तपोधिकान्। कीर्तितान् कीर्तयिष्यामि सर्वपाप-प्रमोचनान्' (अनु. १६५।३६) यवक्रीतोऽथ रैभ्यश्च कक्षीवान् औशिजस्तथा' (३७) मित्रावरुणयोः पुत्रः तथाऽगस्त्यः (४०) ऋषिर्दीर्घतमाश्चैव गौतमः काश्यपस्तथा। (४२) अत्रिर्वसिष्ठः शक्तिश्च पाराशर्य (व्यास)श्च वीर्यवान्। विश्वामित्रो भरद्वाजो जमदग्नि-स्तथैव च। (४४) ऋचीकपुत्रो राम (परशुराम)श्च (४५) लोमहर्षण (सूत) एव च। ऋषिरुग्रश्रवाः (सूतः) चैव भार्गवश्च्यवनस्तथा (४६-४७) एष वै समवायश्च ऋषिदेवसमन्वितः' (१६५।४७)।

हाँ, कई ऋषियोंने अपनी तपस्याकी सामर्थ्यसे पशु-पक्षियोंमें भी पुत्र उत्पन्न किये। बीजकी प्रधानता और तपोबलसे वहाँ क्षेत्रदोष-बाधक नहीं होता। नहीं तो वादीको उनकी सन्तानोंको भी पशु-पक्षी मानना चाहियें, पर वह भी ऐसा नहीं मानता। वस्तुतः पिता यदि उच्च वर्ण ब्राह्मणादि है, तो 'तस्माद् बीजं प्रशस्यते' (मनु. १०।७२) इस सिद्धान्तसे 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि' (२।२३८) इस अभ्यनुज्ञासे निम्न-कुल की माताका सन्तान भी पिताके ही वर्णका माना जाता है।

मनुस्मृतिमें प्रश्न किया गया है–'अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया। ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद् भवेद्?' (१०।६६) (ब्राह्मणसे अनार्यमें उत्पन्न हो, वह श्रेष्ठ है? या अनार्यसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हो, वह श्रेष्ठ है?) उसमें उत्तर दिया गया है–'जातो नार्यामनार्याया

आर्याद् आर्यो भवेद् गुणैः। जातोऽप्यनार्याद् आर्यायामनार्य इति निश्चयः' (१०।६७) (आर्यसे अनार्यामें उत्पन्न हुआ आर्य होता है, और अनार्यसे आर्यामें उत्पन्न अनार्य होता है।) इस सिद्धान्तसे वीर्यकी ही प्रधानता मानी गई है। 'याहग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि। ताहग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा' (९।२२) यहां पर स्त्रीको भी पतिके संयोगसे उसके गुणों वाला हो जाना माना गया है।

इसलिए 'ऐतरेयालोचन' में श्रीसामश्रमीजीने भी वैसा मानते हुए लिखा है—'एषां (वर्ण-त्रयोत्पन्नषट्-पुत्राणाम्) अपसदत्वेपि द्विजत्वं न व्याहतम्। तच्च तत्रैव 'सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः' इति। 'षट्पुत्रा द्विजधर्मिण उपनेयाः' इति च तत्र कुल्लकः। पुनस्तत्रैव 'यस्माद् बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्। पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद् बीजं प्रशस्यते' (१०।७२)। 'यदुक्तं—'न ब्राह्मणक्षत्रिययोः...शूद्रा भार्योपदिश्यते' इत्यादि षट्-श्लोक्या, तन्नूनमपरिणीतसवर्णापरम्, अतएव धीवरी-गर्भजस्य वेदव्यासस्य विप्रत्वमुपपद्यते (पृ. १३)।

(इन वर्णोंसे उत्पन्न छः पुत्रोंके निम्न होनेपर भी उनका द्विजत्व नहीं हटता। वहां यही कहा है—'सजातीयोंसे उत्पन्न छः लड़के द्विजधर्म वाले होते हैं'—उनका उपनयन हो सकता है—यह वहांपर कुल्लूकभट्टने लिखा है। फिर वहीं मनुने कहा है—'चूंकि बीज (वीर्य) के प्रभाववश पशु-पक्षियोंसे उत्पन्न हुए भी ऋषि हुए, पूजे गये, और उनकी प्रशंसा हुई, इस कारण बीजका ही अधिक महत्त्व होता है। जो कि कहा है—'ब्राह्मण-क्षत्रियकी शूद्र स्त्री नहीं होनी चाहिये, यह छः श्लोकोंमें कहा हुआ निषेध अविवाहित असवर्णाकेलिए है; तभी तो धीवरी (?) के गर्भसे उत्पन्न व्यासजीको भी ब्राह्मण माना जाता है।)

(३३) इससे हमारा ही पक्ष सिद्ध हुआ। ऐसे ही यदि पिता विशिष्ट-ब्राह्मण है, उसकी स्त्री शूद्रा भी हो, फिर भी उसकी सन्तान बीजकी प्रधानतासे ब्राह्मण ही मानी जावेगी, शूद्र नहीं। तब वादितोषन्यायसे

महिदास एवं कवषकी माताके कथञ्चित् शूद्रा मानने पर भी इनके पिताके ब्राह्मण-होनेसे बीज-प्रधानतावश यह दोनों ही ब्राह्मण होंगे, शूद्र नहीं। वादी इनके पिताओंको शूद्र नहीं सिद्ध कर सके, तब उनका पक्ष असिद्ध ही रहा। परममान्य होनेसे वादियोंको श्रीसामश्रमीका उपर्युक्त मत मानना ही चाहिये।

परन्तु हम मनुके ही शब्दोंमें कहते हैं कि 'न ब्राह्मणक्षत्रिययो-रापद्यपि हि तिष्ठतोः। कस्मिँश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते' (३।१४) अर्थात् किसी भी इतिहासमें ब्राह्मणकी शूद्रा भार्या उपदिष्ट नहीं। इसके अनुसार हम कह सकते हैं और अनुसन्धान भी हमें यही बताता है कि-महिदास और कवषकी माताएं भी शूद्रा नहीं थी।

श्रीसामश्रमीजीका श्रीवेदव्यासकी माता (सत्यवती) को धीवरी बताना भी अपना इतिहासका अज्ञान बताना है। वह धीवरके वीर्यसे नहीं, किन्तु उपरिचरवसु-राजाके वीर्यसे जन्मी थी। उपरिचरवसु धीवर नहीं थे। हाँ, उस लड़कीको धीवरने पाला अवश्य था। यदि धीवरसे पालनेसे वह धीवरी ही हो, तो पन्ना धायसे पाला हुआ राना उदयसिंह शूद्र, तथा मुसलमान धायोंसे पाले हुए हिन्दु-कुमार भी क्या मुसलमान माने जाएंगे? शूद्रा धात्रेयिकाओंसे पाले हुए राजकुमार तथा दयानन्दी-भी शूद्र हो जाएंगे? वह तो उपरिचर-क्षत्रियकी पुत्री थी। इस सम्बन्धमें 'महाभारत' (आदिपर्व ६३ अध्याय) देखना चाहिये। धीवरने भी कहा था कि—'अपत्यं चैतद् आर्यस्य (उपरिचरवसोः) यो युष्माकं समो गुणैः। यस्य (आर्यस्य) शुक्रात् (वीर्यात्) सत्यवती सम्भूता वरवर्णिनी' (१।१००।७९) (कि-यह आर्यवीर्योत्पन्न है, अपने (धीवरके) वीर्यसे उत्पन्न उसे नहीं बताया। इस विषयमें 'आलोक' (७) देखो।

—

(२८) क्या वेदके कई ऋषि शूद्र थे ?
(छठी ऐतिहासिक भूल)

पूर्वपक्ष—ऋ. १०।१४२ में शार्ङ्गीके लड़के जरिता, द्रोण, सारिसृक्क, स्तम्बमित्र—यह चार शूद्रापुत्र वेदके ऋषि थे। वे शार्ङ्गीसे मन्दपाल-ब्राह्मणसे उत्पन्न हुए थे। वे अर्जुनकृत-खाण्डवदाहमें बच गये। तब आप कैसे कहते हैं कि—वेदका कोई ऋषि शूद्र नहीं है। अजमेरी ऋसं. १०।१४२ में ऋषिः 'शार्ङ्गाः' लिखा गया है, जिसका अर्थ है—'शार्ङ्गीके लड़के'। फिर पृथक् १-२ का जरिता। ३-४ का द्रोण। ५-६ का सारिसृक्क। ७-८ का स्तम्बमित्र—यह लिखा गया है। यह चारों शार्ङ्गिणीके लड़के हैं। जब खाण्डव वनको अग्नि लगाई गई थी; वे अग्निकी स्तुति कर रहे थे। उससे वे बच गये। तब अग्निने पक्षियोंको शाप दिया कि—आगेसे तुम (पक्षी) नहीं बोल सकोगे। यह बात कादम्बरीमें कुमारपालित-मन्त्रीने राजा शूद्रकको यह संकेतित की थी।

उत्तरपक्ष—शार्ङ्गीको कहीं भी 'शूद्रा' नहीं लिखा गया। हाँ, वह एक पक्षिणी अवश्य थी। कुल्लूकभट्टने (मनु. ९।२३ की टीकामें) उसे 'चटका' (चिड़िया) लिखा है। श्रीसायणने भी 'शार्ङ्ग' इति पक्षिविशेषस्य आख्या'। शार्ङ्गजातयः जरितृप्रभृतयश्चत्वारः चतुर्णां द्व्यृचानां द्रष्टारः' (ऋ. १०।१४२) यह लिखा है (कि—शार्ङ्ग यह विशेष-पक्षीका नाम है। शार्ङ्ग जातिवाले जरितृ आदि चार, चार ऋचाओंके जोड़ेके द्रष्टा हैं)।

महाभारतमें भी कहा है—'तच्छ्रुत्वा मन्दपालस्तु वचस्तेषां वनौकसाम्। क्व नु शीघ्रमपत्यं स्याद् बहुलं चेत्यचिन्तयत्' (आदि. २३१।१५)। स चिन्तयन् अभ्यगच्छत् सुबहुप्रसवान् खगान्। शार्ङ्गिकीं शार्ङ्गिको भूत्वा जरितां समुपेयिवान्' (१६) तस्यां पुत्रान् अजनयत् चतुरो ब्रह्मवादिनः (१७)। (मन्दपाल उन वनवासियोंके वचन सुनकर सोचने लगे कि—कहाँ शीघ्र और बहुत सन्तान हो सकती है? यह सोचकर वह बहुत

सन्तानों वाले पक्षियोंके पास पहुंचा। तब जरिता नामवाली शार्ङ्गी पक्षिणीसे उसने शार्ङ्गी पक्षी बनकर गमन किया। उससे चार ब्रह्मवादी लड़कोंको पैदा किया)।

इस इतिहाससे शार्ङ्गिणी पक्षिणी सिद्ध है, शूद्र नहीं। इस विषयमें 'आलोक' (७) (पृ. ८६७-६८) देखो। तथा नवम पुष्पमें (पृ. ३४५-४६) उस शार्ङ्गिणी पक्षिणीमें मन्दपाल-ब्राह्मणने शार्ङ्गिपक्षीरूपमें उत्पत्ति की। इसमें मनुजीकी भी साक्षी है—'यस्माद् बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्। पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद् बीजं प्रशस्यते' (१०।७२) (बीजके प्रभावसे पशुपक्षि-स्त्रियोंसे भी उत्पन्न होनेवाले ऋषि बन गये)। इस पद्यसे वीर्यकी प्रधानता बताकर उससे उत्पन्न हुओंको ब्राह्मण बताया गया है।

मन्दपालको वहाँ 'विप्रर्षिर्ब्राह्मणो' (२३१।२१) ब्राह्मण सिद्ध किया गया है। 'अजातपक्षाश्च सुता न शक्ताः सरणे मम' (२३२।५) यहाँ उन बच्चोंको भी पक्षी बताया गया है कि—अभी उनके पंख नहीं आये, अतः वे उड नहीं सकते। 'द्रोणो ब्रह्मभृतां वरः' (१०) यहाँ द्रोण-लड़केको ब्रह्मवित् बताया गया है।

महाभारत शान्तिपर्वमें लिखा है—'राजन्! नैतद् भवेद् ग्राह्यमपकृष्टेन जन्मना। महात्मनां समुत्पत्तिः तपसा भावितात्मनाम्' (२९६।१२) उत्पाद्य पुत्रान् मुनयो यत्र-तत्र ह'। स्वेनैव तपसा तेषामृषित्वं विदधुः पुनः' (१३) यहाँ अपकृष्ट जन्मवाले पुत्रोंको ऋषियोंने पैदा करके अपने तपोबलसे ऋषि बना दिया, यह लिखा है।

इन शार्ङ्गीके चार पुत्रोंको 'शूद्र ऋषि' श्रीचतुरसेनशास्त्रीने लिखा था। हमने उस महाशयसे पत्र-व्यवहार किया था कि—यह तो पक्षी हैं, आपने इन्हें शूद्र कैसे लिख दिया?

इसपर शास्त्रीने (११।१२।५६ को हमारे पास) उत्तर भेजा था—'जरितर आदिको मैं तो शूद्र मानता नहीं। वेदकी ऋचाएं रचनेकी सामर्थ्यवाले ऋषिको मैं कैसे शूद्र मान सकता हूं? मैं तो धर्मशास्त्रोंमें

जहाँ भी यत्किञ्चित् इतिहासकी कुछ झलक दीख पड़ती है, उसको सब चमत्कारों और रहस्योंसे मुक्त करके शुद्ध इतिहासके रूपमें ही देखनेकी चेष्टा करता हूं; इसीसे मैं उन्हें न पक्षी समझता हूं, न पक्षधारी'।

'आलोक'-पाठकोंने देख लिया कि—'सेनजीने कितना गलत उत्तर लिखा है। उनकी जो इच्छा हो; क्या वही इतिहासका रूप है? वहाँ पक्षी और पंखवाले लिखा है; तब इससे वे मनुष्य कैसे बन गये? और फिर शूद्रता उनकी कहाँ लिखी है? यदि नहीं लिखी; तब आपने वैसी गलत-प्रसिद्धि कैसे कर ली? इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि—वेदका कोई भी ऋषि शूद्र नहीं है।

जब स्वा.द.ने वेदके प्राप्त करनेवाले ऋषियोंमें किसीको भी स्त्री-शूद्र नहीं बताया; तब उनके पिछलगुओंकी इस विषयमें क्या शक्ति है कि—वह शूद्र-ऋषि वेदमें सिद्ध कर सकें? अतः स्पष्ट है कि—यह सेनजीकी कल्पना इतिहास तथा धर्मशास्त्रसे विरुद्ध होनेसे मननीय नहीं, खण्डित हो गई। तपस्याकी शक्तिसे पक्षियोंका ब्रह्मवादी होना सब सम्भव है। सुनिये तपस्याकी महिमा—'यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (मनु. ११।२३८) (जो दुर्लभ, दुष्कर, दुर्गम, दुस्तर हो; वह सब तपस्यासे सुसिद्ध हो जाता है)।

यदि वे न मानें; तो जरितर आदि चार ऋषि थे, यह भी बात उनकी गलत है। आधारमें चित्र होता है, निराधारमें नहीं।

(यह मन्त्र यद्यपि पूर्वसे वेदमें थे; पर लुप्त थे; पर जरितृ आदिको अपने समयपर प्रतिभात हुए; इसलिए वे इनके ऋषि (द्रष्टा) माने गये। वेदके कई ऋषि पक्षी तथा मत्स्य आदि भी थे, यह हम पहले बता आये हैं; पर शूद्र-ऋषि कोई नहीं बताया गया।

---

(२९) पराशर, वसिष्ठ आदिका कुल (?)
(७वीं ऐतिहासिक भूल)

पूर्वपक्ष—'पराशर, वसिष्ठ, व्यास प्रभृति ऋषि भी तो नीच कुलोत्पन्न होकर ब्राह्मण और ऋषि आदि हुए। इसी प्रकार कवष भी नीचकुलके थे। (एक दयानन्दी 'सार्वदेशिक' में।)

उत्तरपक्ष—इनके पिता जब ब्राह्मण थे, तो इनका नीच-कुल कैसे कहा जा सकता है? श्रीव्यासके पिता श्रीपराशर ब्राह्मण थे, माता सत्यवती क्षत्रिय-सन्तान थी—इस विषयमें हम पूर्व बता चुके हैं। उसीके साथ श्रीपराशरका दिव्य-विधिसे संयोग हुआ, देखो 'आलोक' (७) (पृ. ६११-६३३) तब नीच-कुलकी बात ही न रही। 'क्षत्रियायास्तु (ब्राह्मणेन) यः पुत्रो ब्राह्मणः सोप्यसंशयः' (महा.अनुशा. ४७।१३) (ब्राह्मणसे क्षत्रियामें जो पुत्र हो, वह भी ब्राह्मण होता है) 'त्रिषु वर्णेषु जातोपि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत्' (१७) (ब्राह्मणसे तीनों वर्णोंमें उत्पन्न लड़का ब्राह्मण होता है)। शेष है लोकप्रसिद्धि; उसमें तो तिलका भी ताल हो जाता है। श्रीसीताके रावणगृहमें शुद्धतासे निवासमें भी लोकमें असत्प्रसिद्धि होगई। अतः प्रसिद्ध है—'जनानने कः करमर्पयिष्यति।' 'जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं क्षये जगज्जीवपिबं वदन् शिवम्' (नैषधचरित ९।१२४) अर्थात्—(लोग जनत्राता विष्णुको तो जनार्दन (जनपीडक) कहते हैं; और प्रलयके कर्ता रुद्रको 'शिव' कहते हैं।)

श्रीव्यासका निरूपण हो चुका। श्रीपराशर श्रीशक्ति-नामक ऋषिके संयोगसे अदृश्यन्तीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे—'परासुः स यतस्तेन वसिष्ठः स्थापितो मुनिः। गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः' (महाभा. १।१७८।३)। (वसिष्ठ मर रहे थे, गर्भस्थित पराशरने उन्हें बचवा दिया, इसलिए उनका नाम पराशर हुआ)। निरुक्तमें भी लिखा है—'पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे' (६।३०।२)। (वसिष्ठ जीर्ण-शीर्ण बूढ़े हो चुके थे; तब पराशर पैदा हुए) 'आश्रमस्था ततः पुत्रमदृश्यन्ती व्यजायत।

शक्ते: कुलकरं (पराशरं) राजन् ! द्वितीयमिव शक्तिनम्' (महा. १७८। (१८०।१) (आश्रमस्थित अदृश्यन्तीने शक्तिके कुल बनानेवाले दूसरे शक्ति, पराशरको पैदा किया। यहाँ भी कोई नीचकुलकी बात नहीं। इसमें इतिहासको देखना चाहिये, असत्प्रसिद्धि पर नहीं दौड़ना चाहिये।

शेष हैं श्रीवसिष्ठ, उनकी उत्पत्ति मित्रावरुण-देवताके द्वारा देवाप्सरा-उर्वशीके मनसे हुई है। वेद भी यही कहता है-'उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ ! उर्वश्या ब्रह्मन् ! मनसोधिजात:' (ऋसं. ७।३३।१२) (हे वसिष्ठ जी; तुम मित्रावरुणकी सन्तान हो; हे ब्राह्मण ! तुम उर्वशीके मनसे प्रकट हुए हो) इस प्रकार पुराण-इतिहासमें भी कहा है- 'मित्रावरुणजं तेज आविश त्वं महायश: ! अयोनिजस्त्वं भविता तत्रापि द्विजसत्तम !' (श्रीमद्भा. ९।१३।६) (हे महायशस्वी वसिष्ठजी; तुम मित्रावरुणके तेजमें प्रविष्ट होओ; तुम वहाँ भी अयोनिज बनोगे।) यहाँ पर भी नीच-कुल नहीं। देवयोनि मनुष्य-योनिकी अपेक्षा उत्कृष्ट ही होती है; इसलिए देव-पत्नी-'अप्सराओं'को मनुष्य द्वारा नमस्कार भी कराई गई है-'ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नम:' (अथर्व.सं. २।२।५)। उर्वशी कोई मनुष्य-वेश्या नहीं, जैसे कि वादी कहा करते हैं। यह देवाप्सरा है। मनुस्मृतिके अनुसार मनुसे वसिष्ठकी मानसिकउत्पत्ति कही गई है (१।३५) फलत: वसिष्ठ भी ब्रह्मर्षि ही हैं।

इस प्रकार ऐलूष कवषका भी ब्राह्मण-कुल है। केवल इसमें द्यूतव्यसन था, वह भी 'अक्षैर्मा दीव्य:' (ऋ.सं. १०।३४) इस सूक्तके दर्शनके समय क्योंकि-इस सूक्तका ऋषि भी ऐलूष-कवष ही है-हट गया। इसी द्यूत-क्रीड़ाप्रियतासे ही उसे निन्दार्थवादसे-'दास्या:पुत्र, अब्राह्मण' कहा गया, वस्तुत: नहीं। अर्थवादका शब्दार्थमें पर्यवसान न होकर उसके विवक्षित निन्दा-प्रशंसारूप तात्पर्यमें ही पर्यवसान होता है। इस प्रकार एक सिद्धान्तालंकारका 'कवष-ऐलूष एक दासीपुत्र था, किन्तु तप, सदाचार और विद्याके बलसे वह ब्राह्मण-ऋषि बन गया' यह कथन भी निर्मूल

है। निकालनेके कुछ क्षणोंमें वह क्या तपस्या कर सकता था, क्या ब्रह्मचारी हो सकता था, क्या विद्या पढ़ सकता था ? उसको तो देवतानुग्रहवश कई ऋग्वेदसूक्त विना पठन-परिश्रमके स्फुरित होगये। ऐसी देवकृपा जानकर ही उसे यज्ञमें बुला लिया गया। इसलिए ऐ. ब्रा.में कहा है- 'विदुर्वै इमं देवा: उप इमं ह्वयामहै' (२।१९) 'ऋषि' शब्दका निर्वचन करते हुए श्रीयास्कने 'तद् यद् एतान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत्, ते ऋषयोऽभवन्' 'तद् ऋषीणामृषित्वम्' (२।१९।१) यह लिखा है। इसपर श्रीदुर्गाचार्यने स्पष्टता की है-'अनधीतमेव तत्त्वतो ददृशु: तपोविशेषेण'। अर्थात् ऋषि लोग बिना ही अध्ययन किये मन्त्रोंके द्रष्टा बन जाते हैं। यही ऋषियोंका ऋषित्व होता है'। इससे वादियोंकी कवषके अध्ययनकी बात कट जाती है।

यदि कहा जावे कि-'प्रज्ञानात्मिका तपस्या एक क्षणमें भी होजाती है;' तब इससे श्रीकाव्यतीर्थ आदिका अभिप्राय तो कट गया। तब इस प्रकारकी अवितर्कित घटना सामान्यशास्त्रमें नहीं गिनी जा सकती, फिर इस असाधारण-घटनासे साधारण-शूद्रोंका वेदाधिकार कैसे सिद्ध हो सकता है ?

(३५) जो कि वादी कवषकी शूद्रता सिद्ध करके, इतिहाससे शूद्रका वेदाधिकार बताकर उसमें 'यथेमां वाचं कल्याणीं' इस मन्त्रसे सभी शूद्र-अन्त्यजादिका वेदाधिकार बताया करते हैं; यह ठीक नहीं; हम इस मन्त्रका यह अर्थ इस पुस्तकके आरम्भमें आलोचित कर चुके हैं-विद्वान् पाठकोंने इस अर्थकी निर्मूलता जान ही ली होगी। वेद तो अपना अधिकार द्विज-पुरुषको ही देते हैं, शूद्र एवं स्त्रीको नहीं। जैसे कि-'स्तुता मया वरदा वेदमाता...पावमानी द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) इस मन्त्रके विरोधसे 'यथेमां वाचं' का वेदाधिकार अर्थ करना ठीक नहीं। इस विषयमें प्राचीन ऋषि-मुनियोंके प्रमाण अपेक्षित हैं, आजकलके अवैध अछूतोद्धारप्रेमी सुधारकोंके नहीं। स्वा.द. से पूर्व किसी भी प्राचीनने उक्तमन्त्रका ऐसा

अर्थ नहीं किया; अतः यह अर्थ निर्मूल है। जबकि यह मन्त्र कर्मकाण्डमें प्रसिद्ध है, और सर्वजन-प्रत्यक्ष है। उसमें कोई भी स्त्री-शूद्रादिको वेदाधिकार नहीं मानता।

(३६) फलतः 'ऐतरेय-ब्राह्मण' को 'दास्याःपुत्र' यह अलुक्समास-वाला शब्द कवषके आक्रोश (निन्दन) मात्रमें पर्यवसित है। अथवा उक्त पद उक्त स्थलमें अलुक्समास वाला न भी माना जाए; समासरहित ही 'दास्याःपुत्रः' यह माना जावे; तथापि वह ऐसे अवसरमें गाली देनेमें विश्रांत होता है, वास्तवमें दासी (शूद्रा) के पुत्र अर्थ होनेमें नहीं। इसमें पूर्व कहे नाटकोंके वैसे प्रमाण भी साक्षी हैं। उनमें असमास भी माना जा सकता है।

लोकमें कहते हैं—'यह कंजरी (वेश्या, वा रंडी) का पुत्र हमारे मण्डलमें क्यों घुस आया'? इससे आक्षिप्त व्यक्ति सचमुच वेश्यापुत्र नहीं हो जाता; किन्तु वहां केवल गाली देना ही इष्ट होता है। कई पञ्जाबी ललनाएं तङ्ग कर हुई अपनी लड़कियोंको कहती हैं—'अरी रण्डी!!!' उत्तरप्रदेशकी स्त्रियां कहती हैं—अरी रांड! इसमें केवल गाली देना ही इष्ट होता है। अपनी लड़कीका 'रंडी' (वेश्या) वा 'रांड' (विधवा) होना इष्ट नहीं होता। इससे 'शाङ्खायन-ब्राह्मण' वा कौषीतकी-ब्राह्मण का निम्न वचन भी व्याख्यात हो गया। वह यह है—

'माध्यमाः सरस्वत्यां सत्रमासत, तद्धापि कवषो मध्ये निषसाद ('माध्यम लोगोंने सरस्वती नदीके किनारे यज्ञ शुरू किया। उस यज्ञमें कवष भी बीचमें शामिल हुआ'।) यहाँपर कवषको शूद्रापुत्र नहीं बतलाया तं ह इमे उपोदुः (उसे उन माध्यमिकोंने अपवादित किया, निन्दित किया, उसे गाली दी) दास्या वै त्वं पुत्रोसि ('तू दासीका लड़का है' यह निन्दात्मक गाली है, इसमें 'उपोदुः' यह शब्द लिङ्ग है।) जैसे स्वा.द.जीने स.प्र.में एक आचार्यको गालीसे 'चाण्डालवर्णोत्पन्न' कह दिया, सो चाण्डाल कोई वर्ण ही नहीं होता। दूसरे आचार्यको उन्होंने कञ्जरजात्युत्पन्न,

तीसरेको यवनकुलोत्पन्न, चौथेको 'डोम' लिख दिया, पांचवें 'रामसनेही' को 'रांडसनेही' कह दिया, यह सब क्रोधसे गाली-रूपमें कह दिया। न वयं त्वया सह भक्षयिष्यामः' ('हम तेरे साथ भोजन नहीं करेंगे' यह भी गाली है, जैसे कि—कोई ब्राह्मण खाने आदिमें अस्वच्छता आदि-व्यवहार कर रहा हो, तो उसे कहते हैं—तू तो भंगिनका लड़का या भंगी है, वा मुसलमान है, हम तेरे हाथका नहीं खावेंगे, वा तेरे साथ एक पंक्तिमें भोजन नहीं करेंगे)

'स ह क्रुद्धः प्राद्रवत् (वह गुस्सेसे वहांसे चला गया) यदि वह सचमुच दासीका लड़का होता; तो उसे ऐसा कहनेसे क्रोध न लगता)। सरस्वतीमेतेन सूक्तेन तुष्टाव (उसने सरस्वती नदीकी इस सूक्तसे स्तुति की।) यदि वह सचमुच दासी-पुत्र होता; तो वह भी केवल दास-सेवक होता, उसे वेदके सूक्त कैसे याद होने थे?) 'तं ह इयं (सरस्वती) अन्वियाय। (सरस्वती नदी उसके पीछे-पीछे चली) तत उ ह इमे निरागा इव मेनिरे (उन्होंने उसीसे उसे निरपराध माना) यहाँ उसकी निरपराधता बताई है, इससे स्पष्ट हुआ कि—उसने कोई ऐसा अपराध किया था, जैसा कि—ऐब्रा.में उसका द्यूतदेवन दिखाया था—उससे माध्यमिकोंने उसे उक्त गाली दी।

'तं ह अन्वावृत्य ऊचुः—नमः ते अस्तु, मा नो हिंसीः, त्वं वै नः (ब्राह्मणानां मध्ये) श्रेष्ठोसि; यं त्वा इयमन्वेति (वे माध्यमिक कवषके पास जाकर कहने लगे, तुम्हें नमस्कार हो, शाप आदिसे हमें हानि न पहुंचाना। तुम हम ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ हो; जोकि यह सरस्वती नदी तुम्हारे अनुकूल चलती है) यहां उसे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ बताया है, इससे स्पष्ट है कि—वह ब्राह्मण था, उसको उन्होंने साधारण समझ, उसके किसी कुव्यवहारसे उसे उक्त शब्दोंसे गाली दी, पर सरस्वती-नदी द्वारा उसे सम्मानित देखकर उसे अपने लोगोंमें श्रेष्ठ समझ उससे क्षमा मांगी, और कहा कि—हमें कहीं शापसे हिंसित न करना।

'तं ह ज्ञपयाञ्चक्रुः, तस्य ह क्रोधं विनिन्युः (क्षमा मांगकर उसका क्रोध शान्त किया, (दासीपुत्र होनेपर उसके क्रोधका अवकाश ही न था) 'स एष कवषस्यैव महिमा' (१२।३) (यह कवषकी ही महिमा है) भंगीको भंगी कहने पर क्रोध नहीं होता, भिन्नको तो होता है।

इसी प्रकार छागलेयोपनिषद्में भी कहा है—'ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत; तेऽथ कवषमैलूषं 'दास्या:पुत्र' इति दीक्षाया अच्छिन्दन्।' (ऋषियोंने सरस्वती नदीके किनारे यज्ञ किया, उन्होंने ऐलूष-कवषको 'दास्या:पुत्र' कहकर दीक्षासे अलग कर दिया)। ऋषियोंने जिस शब्दसे उसे गाली थी, सर्वत्र उस शब्दका अनुवाद वा उद्धरण दे दिया गया है, वह केवल तिरस्कारार्थ ही है; उससे उसकी शूद्रता प्रतिफलित नहीं होती—क्योंकि इसमें कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं, यह हम सिद्ध कर चुके हैं। इसलिए बृहदारण्यकके अन्तमें ब्राह्मण-वंशोंमें कावषेयका निरूपण कवषको ब्राह्मण ही सिद्ध कर रहा है। इस प्रकारका एक पुराणका प्रमाण भी हम पूर्व दे चुके हैं।

(३७) उक्त ब्राह्मणकण्डिका पर कोई कहता है कि—'कवष जन्मसे दासीपुत्र और कर्मसे कितव, इसलिए अब्राह्मण अप्रशस्त-ब्राह्मण कहा गया है' इस पर जानना चाहिये कि जो जन्मसे दासीपुत्र हो, और कर्मसे कितव हो; उसे अब्राह्मण—अप्रशस्त ब्राह्मण भी कैसे कहा जा सकता है? उसे तो शूद्र कहा जाता है। 'अब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण वा ब्राह्मणसदृश-के लिए आता है। 'फणहीनो नाग:' में जिस प्रकार 'नाग' हाथीका नाम नहीं हो सकता, 'अशंखचक्रो हरि:' में जैसे 'हरि' बन्दरका नाम नहीं हो सकता; वैसे 'अब्राह्मण' शब्द भी ब्राह्मणकेलिए ही गालीरूपमें प्रयुक्त होता है, शूद्रादिकेलिए नहीं; क्योंकि—'प्राप्तौ सत्यां हि निषेधो भवति' (निषेध प्राप्ति होनेपर ही होता है) यह एक प्रसिद्ध न्याय है। यदि कवष जन्म और कर्मसे शूद्र था, तो उसमें ब्राह्मणत्व प्रसक्त ही न होनेसे उसे 'अब्राह्मण' कहा ही नहीं जा सकता था। पर वैसा कहना ही कवषकी ब्राह्मणताको

सूचित कर रहा है, चाहे वह अप्रशस्त ब्राह्मण ही हो। अप्रशस्त-ब्राह्मणतासे गुण-कर्मसे वर्ण माननेवालोंका ही सिद्धान्त कटता है।

(३८) कई शङ्का करते हैं कि—'कवष शूद्र हो, वा ब्राह्मण—इसमें आपका क्या बिगड़ता-बनता है, आपका उसके ब्राह्मणत्वका प्रयास क्यों?' इस पर जानना चाहिये कि-जब यह वादियोंका अशुद्ध वा असत्य पक्ष है, तब उनकी अशुद्धता बताकर सर्वसाधारणका भ्रम हटाना एक उचित कार्य है। इसी असत्य-घटनासे साधारण-जनता पर प्रभाव डालकर वादी शूद्रोंको वेदाधिकार सिद्ध करनेके लिए एड़ीसे चोटी तकका पसीना बहाते हैं, और साधारण-जनता भी परप्रत्ययनेय बनकर स्वयं तो इस विषयमें अनुसन्धान करती नहीं। वह भी इस दिशामें प्रवृत्त हो जावे, स्वयं भी इस विषयमें अनुसन्धान कर सके—इसलिए ही हमारा यह प्रयत्न है।

(३९) जो कि प्रतिपक्षी कहा करते हैं—'मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' इस नियमके अनुसार 'दास्या:पुत्र, अब्राह्मण' आदि पदोंकी व्याख्या क्यों न मुख्यार्थमें की जावे?' इसपर उत्तर यह है कि—जब किसीको अधिक्षिप्त करना हो, तो वहाँ लाक्षणिक वा अमुख्यार्थक शब्द भी प्रयुक्त किये जाते हैं। वहाँ भला मुख्यार्थ कैसे किया जा सकता है? किसी अपकारीको कहा जाता है—'उपकृत बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम्' यहां यद्यपि 'उपकृत' आदि पदोंका उपकार ही मुख्यार्थ होता है, पर अपकारीमें अधिक्षेपार्थ प्रकृत होनेसे वह (मुख्य) अर्थ कैसे माना जा सकता है? इस प्रकार ब्राह्मणमें भी आक्रोश-अधिक्षेपके लिए प्रयुक्त 'दास्या:पुत्र' 'अब्राह्मण' आदि पदोंका मुख्यार्थ कैसे लिया जा सकता है? जैसे कि—छान्दोग्योपनिषद्में रैक्वने क्षत्रिय भी जानश्रुतिको 'शूद्र' (४।२।३) इस उपचारशब्दसे कहा था—यह ब्रह्मसूत्र (१।३।३४-३५) में स्पष्ट है, जैसे वहाँ मुख्यार्थ नहीं माना जाता, किन्तु अमुख्य ही अर्थ माना जाता है, वैसे यहाँ पर भी समझना चाहिये।

'दास्या:पुत्र' कहकर फिर 'अब्राह्मण' कहना तो स्पष्ट ही कवषको

ब्राह्मण सिद्ध कर रहा है, 'नञ्' यहाँ उसकी अप्रशस्तता बता रहा है, नहीं तो 'दास्याःपुत्र' कहनेसे ही जब वह शूद्र सिद्ध हो सकता था, उसका ब्राह्मणत्व किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं था, तो फिर उसका निषेध कैसा ? यह व्यर्थ हुआ निषेध कवषकी ब्राह्मणता बता रहा है, तब 'दास्याःपुत्र' शब्द भी स्वयम् आक्रोशार्थक प्रतिफलित होता है। इस ऐतिहासिक प्रमाद में विद्वानोंको अवश्य ध्यान देना चाहिये। इस साध्य दृष्टान्तसे शूद्रोंका वेदाधिकार सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि—कवष शूद्र ही सिद्ध नहीं।

(४०) अथवा अभ्युपगमसिद्धान्त वा वादितोषन्यायसे कवषको वस्तुतः ही दासीपुत्र मान लिया जावे, तब भी शूद्रोंको वेदाध्ययनाधिकार सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि—उसने ऋसं. का १०।३० सूक्त ऐ. ब्रा. के अनुसार किसी गुरुसे तो पढ़ा नहीं था, किन्तु देवके अनुग्रहसे उसे स्वतः प्रतिभात हो गया। जैसे सन्त ज्ञानेश्वरके हाथ पड़नेसे भैंसा भी वेदमन्त्र बोल उठा था। इससे न तो यह सिद्ध होता है कि—भैंसेने गुरुसे वेद पढ़ा, न इससे अन्य भैंसोंका ही वेदमें अधिकार सिद्ध हो जाता है, वैसे प्रकृतमें भी समझना चाहिए।

वेदके कई सूक्त जालबद्ध मत्स्योंको तथा देवताओंकी कुत्तिया सरमाको भी अतर्कित प्रतिभात हो गये थे, पर इस दृष्टान्तसे अन्य मछलियों वा कुत्तियाओंका न वैसा अधिकार हो जाता है, न उनका सर्वसाधारणसे पठन सिद्ध हो जाता है, वैसे किसी विशेष आरूढपतित-शूद्रके मुख से भी अतर्कित कई मन्त्र निकल पड़े, इससे अन्य शूद्रोंका वेदाधिकार सिद्ध नहीं हो जाता। इस विषयकी विशेष स्पष्टता हम 'वेदकी ऋषिकाएं' (७२-७९ पृ.) में कर चुके हैं।

यही बात स्वा. शंकराचार्यमहाराजने पूर्वोत्तर-पक्षमें स्पष्ट कर दी है। (पू.) 'विदुरप्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्रभवा अपि विशिष्टज्ञानसम्पन्नाः स्मर्यन्ते; तस्मात् शूद्रोधिक्रियते विद्यासु' (ब्रह्म. १।३।३४) (उ०) न-शूद्रस्याधिकारः, वेदाध्ययनाभावात्। येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद् विदुर-

धर्मव्याध-प्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिः, तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुम्, ज्ञानस्य ऐकान्तिकफलत्वात्। (१।३।३८)।

(प्र.) विदुर आदि, शूद्रयोनि वाली दासीमें उत्पन्न हुए भी विशिष्ट-ज्ञानवाले माने जाते हैं। तब शूद्रका वेदमें अधिकार होना चाहिये। (उ.) शूद्रका अधिकार नहीं। क्योंकि—उपनयन न होनेसे उनका वेदाध्ययन नहीं होता।

जिन विदुर-धर्मव्याध आदिकी आरूढपतित होनेसे गत-जन्मके संस्कारके कारण ज्ञानोत्पत्ति हो गई हो, उनकी अपवादवश फल-प्राप्ति निषिद्ध नहीं हो सकती। ज्ञानका फल ऐकान्तिक हुआ करता है।)

यही बात श्रीमध्वाचार्यस्वामीने अपने उक्त ब्रह्मसूत्रके सूत्रभाष्यमें लिखी है—'विदुरादीनां तु उत्पन्नज्ञानत्वान्न कश्चिद् विशेषः'। (विदुर-आदियोंको जन्मसे ही ज्ञान उत्पन्न हुआ-हुआ था, अतः उनके दृष्टान्तमें कुछ विशेषता नहीं) अब एक प्रश्न रह जाता है कि—देवता भी तो त्रैवर्णिक एवं उपनीत नहीं, तब उन्हें वेदका अधिकार कैसे ? इसी तरह शूद्रका भी वेदाधिकार होना चाहिए। यही पूर्वपक्ष 'वैयासिक-न्यायमाला' में आया है—'शूद्रोधिक्रियते वेदविद्यायामथवा नहि ? अत्रैवर्णिक-देवाद्या इव शूद्रोधिकारवान्' ? इसका वहीं उत्तरपक्ष आया है—'देवाः स्वयंभात-वेदाः, शूद्रोध्ययनवर्जनात्। नाधिकारी श्रुतौ, स्मार्तेष्वधिकारो न वार्यते' (१।३।१९-२०) इसीको वहां स्पष्ट किया है—'अस्ति देवशूद्रयोर्वैषम्यम्। उपनयनाध्यनाभावेपि स्वयंभातवेदा देवाः; तादृशस्य पुण्यस्य पूर्वमुपार्जितत्वात्। शूद्रस्तु तादृशसुकृतराहित्यान्न स्वयंभातवेदः। नापि तस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनाभावात्। अतो विद्वत्ताख्यस्य अधिकारहेतोरभावान्न श्रौतविद्यायां शूद्रोधिकारी।......,।

(देवताओं एवं शूद्रोंमें विषमता है। देवताओंमें चाहे उपनयन तथा अध्ययन नहीं है; तथापि उन्हें वेद स्वयं ही प्रकाशित हुए होते हैं। क्योंकि—उन्होंने गतजन्ममें वैसा पुण्य अर्जित कर लिया था। शूद्र तो वैसे

पुण्यसे रहित होनेसे उसे स्वयं वेद प्रकाशित नहीं हुए होते। शूद्रका वेदाध्ययन भी नहीं है, क्योंकि उसका उपनयन नहीं होता। इसलिए विद्वत्ता नामके अधिकारके हेतु न होनेसे शूद्र वेदविद्यामें अधिकारी नहीं होता।)

इससे वादीका पक्ष सिद्ध न हुआ, क्योंकि-कवषको स्वयं वेदके कुछ सूक्त प्रतिभात हो गये थे—उसने यथाविधि उन्हें गुरुसे नहीं पढ़ा था। तब इससे शूद्रोंको वेदाधिकार कैसे सिद्ध हो सकता है ? पर हमने इस निवन्ध में प्रमाणोपपत्तिसे सिद्ध कर दिया है कि—ऐलूष-कवष शूद्र नहीं थे, किन्तु ब्राह्मण थे। इसलिए कवषके लड़केका भी ब्राह्मण होनेसे ही बृहदारण्यक के अन्तमें वंशब्राह्मणमें 'कावषेय' नामसे निरूपण आया है, अतः वादियों का पक्ष सर्वथा उच्छिन्न हो गया।

---

(३०) क्या मन्त्रद्रष्टा कक्षीवान् शूद्र थे ?

(आठवीं ऐतिहासिक भूल)

पूर्वपक्ष—'(क)' कस्तावद् वेदाधिकारी-इति वेदेनैव वक्तव्यम्, तत्र तु न कुत्रापि संकेतेनापि निवारितोऽधिकारः शूद्राणाम् (ख) प्रत्युत 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' इत्यस्मिन् मन्त्रे सर्वाधिकारा परमात्मवाणी-इत्येवोपदिष्टम्, नैकस्य सञ्चिता सम्पत्तिर्वेदाः, सर्वेषां हि ते। गौतमवचनं तु अवैदिकमेव। वेदाध्ययनेऽपि सर्वेषामधिकारः'।

(क) (वेदका अधिकारी कौन है, यह तो वेदको ही बताना चाहिए। वेदमें तो संकेतसे भी शूद्रों का अधिकार नहीं हटाया गया। (ख) वल्कि 'यथेमां वाचं' में वेदवाणी में सबका-शूद्रान्त्यजों-तकका अधिकार बताया गया है। वेद एककी सञ्चित सम्पत्ति नहीं है, वेद सभी के हैं। गौतम-स्मृतिका वचन तो अवैदिक है। वेदाध्ययन में तो सब का अधिकार है)। (श्रीभ.आ. स्वामी 'ब्रह्मसूत्रस्य वैदिकभाष्ये' पृ. १६४-१६५)।

(ग) ऋग्वेद-मन्त्राणां शूद्रोपि (कक्षीवान्) ऋषिः। सर्ववेदव्याख्याता-सायणाचार्योपि अत्र सम्मतः, (ऋग्वेदमन्त्रोंका कक्षीवान् शूद्र भी ऋषि है। सर्ववेदव्याख्याता सायणाचार्य भी इसमें सहमत हैं।) (संस्कृत-साप्ताहिकपत्रमें वही)। (घ) ऋग्वेदके प्रथम मण्डल के ११६वें सूक्तका ऋषि कक्षीवान् है, जिसे दीर्घतमाने अङ्गराजकी पट्टरानीकी दासी (शूद्रा) उशिक्ने उत्पन्न किया था, ऋ. ९।७४ का भी वही ऋषि है, उसका पुत्र शबर-ऋ. १०।१६९ का ऋषि है। कक्षीवान् की पुत्री घोषा दशममण्डलके अनेक सूक्तोंकी ऋषिका है। (श्रीभग.) (ङ) 'समानो मन्त्रः समितिः समानी' ऋ. १०।१९१।३ इति अन्तिम-मण्डलस्यान्तिमसूक्तस्य उपान्त्येन मन्त्रेण सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां समानमन्त्रत्वोपपादनमपि वेदानां सर्वाधिकारत्व समर्थयते' (ब्र. सू. वैदि. १६५ पृ. में)।

('समानो मन्त्रः' इस ऋग्वेदके अन्तिम मन्त्रसे पूर्वके मन्त्रमें सभी ब्राह्मण-शूद्रादिका समान-मन्त्र बताना भी वेदोंके सर्वाधिकारका समर्थन करता है)। (च) 'तस्यां कक्षीवदादीन् स शूद्रयोनौ ऋषिस्तदा। जनयामास धर्मात्मा पुत्रानेकादशैव तु' (१।१०४।४७) यहां पर कक्षीवान्को शूद्रयोनिमें उत्पन्न कहा गया है; और वह वेदका द्रष्टा है, सो शूद्रोंका भी वेदमें अधिकार सिद्ध हुआ' ('वर्तमान' सम्पादक; श्रीर.शं. अवस्थी)

उत्तरपक्ष—(क) वादीका 'वेदमें कहीं संकेतसे भी शूद्रोंका अपनेमें अनधिकार नहीं बताया गया'—यह कहना अयुक्त है; 'वेदमाता... द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) 'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋस. १।१४९।५) इत्यादि मन्त्रोंसे वेदने 'अद्विज' (शूद्र-अन्त्यज) का वेदमें अधिकार निषिद्ध कर दिया है। वैदिककालसे आजतकके सभी आचार्योंने 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को ही द्विज एवं यज्ञिय माना है, शूद्र-अन्त्यजको नहीं। इन्हें एकज एवम् अयज्ञिय माना जाता है, अतः इन्हें यज्ञोपवीताधिकार न होनेसे वेदका अधिकार भी नहीं। इन्हें तो सभी शास्त्रोंने कृच्छ्रकार्य सेवाका ही दिया

है, वेदाध्ययनादिका नहीं।

(ख) 'यथेमां वाचं' से परमात्मवाणी 'सर्वाधिकारा' सिद्ध नहीं। इस विषयमें हम इस ग्रन्थके आरम्भिक ५५ पृष्ठोंमें स्पष्टता कर चुके हैं। वेद तो 'तपसे शूद्र' (यजुः ३०।५) शूद्रको कठिन-सेवाकार्यका अधिकारी मानता है, वेदका नहीं। वेदका अधिकार वेद 'ब्रह्मणे ब्राह्मण' (यजुः ३०।५) ब्राह्मणको ही देता है, तब 'यथेमां वाचं' यह वेदके अन्य मन्त्रोंसे विरोध आनेके कारण शूद्रान्त्यजको वेदाधिकार देनेका 'सिद्ध' मन्त्र नहीं। तब इससे वादीकी पक्षसिद्धि भी नहीं। इसके अतिरिक्त भगव. जी ('संस्कृतम्' १२।२०,१७,३,४२ में) वेदोंको 'पौरुषेय' मानते हैं, तब वे इमां वाचं' से 'परमात्माकी वाणी' अर्थ ले ही कैसे सकते हैं? क्या वे इस पक्षकी सिद्ध्यर्थ ही वेदोंको अब अपौरुषेय (परमात्म-वाणी) मानने लगे हैं? वेद-सम्पत्तिके अध्यक्ष परमात्मा उसे शूद्रोंको जब नहीं देते; तब शूद्रका उस सम्पत्तिमें अधिकार भी कैसे हो?

(ग) कक्षीवान्‌को शूद्र और वेदद्रष्टा सिद्ध करके वादी शूद्रका भी वेदमें अधिकार सिद्ध करना चाहता है; यह बात वादी सायणसम्मत मानता है; पर यह बात वादीकी सर्वथा गलत है। कक्षीवान्‌के उत्पादक दीर्घतमाः शूद्र नहीं थे, किन्तु ब्राह्मण-ऋषि थे, तब उनसे उत्पन्न कक्षीवान् शूद्र कैसे हो सकते हैं? 'बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते' (मनु. ९।३५) अमोघवीर्य-तपस्वियोंके ब्रह्मवर्चसको साधारण-क्षेत्रदोष नष्ट नहीं कर सकता। इसीलिए क्षत्रियाके क्षेत्रसे उत्पन्न भी श्रीविश्वामित्र ऋचीक-ब्राह्मणके चरुसे जन्म होने के कारण ब्राह्मण हुए।

धीवर-कन्यारूप प्रसिद्ध भी सत्यवतीमें ब्राह्मण-श्रीपराशर-ऋषिके दिव्यसंयोगसे उत्पन्न श्रीवेदव्यास ब्राह्मण हुए। इस प्रकार अन्य भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। ऋषियोंने कई पक्षिणियोंसे भी सन्तान उत्पन्न किये हैं, क्या वे संतानें भी पक्षी मानी जाएंगी? नहीं, बीजकी प्रधानतासे वे ब्राह्मण ही माने जावेंगे। वैसे यहाँ प्रकृतमें भी समझना

चाहिये। यहां उशिक्-दासीको भी मन्त्रपूत-जलसे ऋषिने ऋषिपुत्री कर लिया था। मन्त्रपूत-जलकी शक्तिसे पुरुषको भी पत्थर और पत्थरको भी स्त्री-पुरुष बना देना प्रसिद्ध है, तब यहां पर कक्षीवान्‌की शूद्रताकी कोई प्रसक्ति ही नहीं। श्रीसायणाचार्य जब शूद्रको वेदाधिकारी नहीं बताते, (देखो उनका वेदभाष्योंका 'उपोद्घात') तब वे वेदके ऋषि को शूद्र कैसे बता सकते हैं? यदि वादीकी वस्तुतः ही श्रीसायणमें श्रद्धा है, तो हम सायण-भाष्य ही उद्धृत करते हैं, जिससे वादीका पक्ष गिर जायगा।

ऋ. १।१२५।१ के सायणभाष्यमें यह पूर्वपक्ष किया है—'ननु कक्ष्या-नाम अश्वबन्धनी रज्जुः, तद्वान् कक्षीवान्। अश्वबन्धनं च राज्ञ एवोचितम्, अतोस्य राजन्यत्वात् प्रतिग्रहो नोपपद्यते; 'याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः' [१०।७६] इति स्मरणात्। तस्माद् ब्राह्मणस्यैवाधिकारो न तु क्षत्रियस्येति?' यह पूर्वपक्ष है। [क] (कक्ष्या घोड़ेकी बान्धनेकी रस्सी का नाम है। अश्व का बन्धन राजाको ही उचित है। अतः कक्षीवान् क्षत्रिय होनेसे उसके द्वारा प्रतिग्रह लेना उपपन्न नहीं हो सकता। क्योंकि मनु. [१०।७६] ने ब्राह्मणका प्रतिग्रह लेना कहा है। इस पूर्वपक्षमें भी कक्षीवान्‌को क्षत्रिय बताया है—शूद्र नहीं। इसका श्रीसायण उत्तरपक्ष देते हैं—

'यद्यपि असौ कलिङ्गाख्यस्य राज्ञः पुत्रः, तथापि तेन कलिङ्गेन स्वयं वृद्धत्वाद् अपत्योत्पादनाय सामर्थ्यमलभमानेन तदुत्पादनाय याचितो दीर्घतमा ऋषिः, अपत्योत्पादनाय प्रेषितया राजमहिष्या अतिजरठेन महर्षिणा सह रन्तुं लज्जमानया स्ववस्त्राभरणैरलंकृत्य स्वप्रतिनिधित्वेन प्रेषितामुशिङ्-नामिकां योषितं दासी-इत्यवगत्य मन्त्रपूतेन जलेन अभिषिच्य ऋषिपुत्रीं-कृत्वा तया सह रेमे। तदुत्पन्नः कक्षीवान् नाम ऋषिः। एतत् सर्वमस्माभिः पूर्वाध्याये विस्तरेण प्रतिपादितम्। अतोऽस्य क्षत्रिय-सम्बन्धात् कक्षीवान् इति नाम उपपन्नम्। दीर्घतमसः परमर्षेरुत्पन्नत्वेन ब्राह्मणत्वात् प्रतिग्रहोपि

उपपन्न एव।'

(यद्यपि कक्षीवान् कलिङ्ग-राजाका पुत्र है, तथापि यह राजा स्वयं वृद्ध होनेसे सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता था, तब उसने दीर्घतमा ऋषिसे प्रार्थना की, और अपनी रानीको उसके पास भेजा। पर रानी बहुत बूढेके पास जानेमें शरमाती थी, अतः उसने अपने स्थानमें अपनी दासीको भेजा। ऋषिने अभिमन्त्रित जलसे अभिषेक करके उसे ब्राह्मणपुत्री बना दिया। उससे कक्षीवान् पैदा हुआ; सो ऋषिसे पैदा होनेसे ब्राह्मणता होनेसे वह प्रतिग्रह भी ले सकता है)। यहाँ श्रीसायणाचार्यने स्पष्ट ही कक्षीवान्‌को ब्राह्मण बताया है, शूद्र नहीं। दासी शूद्रा हो—यह भी आवश्यक नहीं। देवयानीकी दासी शर्मिष्ठा शूद्रा नहीं थी, किन्तु ब्राह्मणी थी।

(घ) श्रीसायणाचार्यकी अन्य साक्षी भी इस विषयमें देखिये—'स च अङ्गराजः सर्वज्ञं तं दीर्घतमऋषिमवगत्य...एवमवोचत् 'भगवन्! मम पुत्रो नास्ति, एषा महिषी, अस्यां कञ्चित् पुत्रमुत्पादय—इति। स च तथा—इत्यब्रवीत्। सा महिषी तु राजानं प्रति 'तथा' इत्युक्त्वा 'अयं वृद्धतरो जुगुप्सितो मम योग्यो न भवतीति बुद्ध्वा स्वकीयामुशिक्-संज्ञां दासीं प्राहैषीत्। तेन च सर्वज्ञेन ऋषिणा मन्त्रपूतेन वारिणा अभ्युक्षिता सती सैव ऋषिपत्नी बभूव। तस्यामुत्पन्नः कक्षीवान् नाम ऋषिः' (ऋसं. १।५१।१३)। इसका तात्पर्य लिखा जा चुका है। पूर्व-जैसा होनेसे फिर नहीं लिखा।

यहाँपर इस सायणोक्तिसे भी कक्षीवान् ब्राह्मण सिद्ध हो गये। वादीने स्वमानित सायणसे विरुद्ध लिखा है; यह खेद है। महाभारतमें भी इसकी साक्षी देखिये—'औशिजश्चैव कक्षीवान्...मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान्। एते ब्रह्मर्षयो नित्यमास्थिता दक्षिणां दिशम्' (शान्ति-पर्व २०८।३०) यहाँपर औशिज कक्षीवान्‌को ब्रह्मर्षि-ब्राह्मण-ऋषि कहा गया है, शूद्र-ऋषि नहीं। अब सबसे बढ़कर वेदका ही प्रमाण इस

विषयमें देख लीजिये।

'अहं मनुरभवं, सूर्यश्चाहं, कक्षीवान् ऋषिरस्मि विप्रः' (ऋसं. ४।२६। १) यहाँपर वेदने भी उक्त ऋषिको विप्र [ब्राह्मण] माना है। 'विप्र' शब्दकी ब्राह्मणवाचकतामें मीमांसा इस ग्रन्थके १८ उत्तरपक्ष १९२-१९६ पृ.में देखनी चाहिये। इस कारण वादीसे इष्ट कक्षीवान्‌की शूद्रता निराकृत हो गई। जब वे ब्राह्मण सिद्ध हुए, तब उनका लड़का शबर तथा लड़की घोषा भी ब्राह्मण सिद्ध हो गये। 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' (महा. ४।१।६३) (एकका नाम परम्परा ब्राह्मण कहनेसे उसके पुत्र-पौत्रादि भी उसी जातिके माने जाते हैं) 'शबर' शब्दसे भी घबड़ानेकी आवश्यकता नहीं, 'शबर' उसका नाम था, जाति नहीं। यदि नामसे उसे अन्त्यज माना जावे, तब तो मीमांसाभाष्यकार-शबरस्वामी भी भील माने जावें, रामायणके मतङ्ग-मुनि भी चाण्डाल माने जावें, पर यह अनिष्ट है।

(ङ) 'नैकस्य सञ्चिता सम्पत्तिर्वेदाः, सर्वेषां हि ते। गौतमवचनं तु अवैदिकमेव' यह वादीके व्यक्तिगत विचार हैं। श्रीस्वामी शंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, यतिभगवत्पादाचार्य, (देखो उनका ब्रह्मसूत्रका अपशूद्राधिकरणभाष्य) वैयासिकन्यायमालाकार, श्रीसायणाचार्य आदि सभी आचार्य तथा श्रीमनु, याज्ञवल्क्य, वेदव्यास आदि, वेदके भारी विद्वान् थे, उन सबका शूद्रके वेदानधिकार-विषयमें ऐकमत्य है, अतः वादीकी इस विषयमें अपनी ही भूल रही है कि-वे परप्रत्ययनेय बनकर इस पक्षके पक्षपाती बने हैं।

"शूद्रको कड़ा दण्ड"

गौतमवचन 'अथ हास्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाछेदः, धारणे शरीरभेदः, (गो.ध सू. २।३।४) भी अवैदिक नहीं है, किन्तु वेदमें शूद्रानधिकारका अर्थवाद है—अतः अत्याचार भी नहीं। अर्थवादमें यथाश्रुत अर्थ नहीं हुआ करता, किन्तु उसका तात्पर्य देखा जाता है। इसका 'शूद्र वेदको न सुने, न स्वयं

उच्चारण करे, न याद करे' इतने ही अर्थमें तात्पर्य है। वेदके अशुद्ध उच्चारणमें वृत्रासुरकाण्ड सुप्रसिद्ध है। शूद्र भी विद्यारहित होनेसे सुनकर कहीं उसके उच्चारणका प्रयत्न वा अनुकरण न कर ले, जिससे हानि उठा बैठें, वा किसी की हानि कर बैठें; यही तात्पर्य उन्हें वेदश्रवण-उदाहरण-उच्चारणमें प्रबल-निषेधका हैं। शासनको कई अनिष्ट विभीषिकाएं रखनी भी पड़ती हैं, एक-आधको दण्ड देना भी पड़ता है—उसमें उसका अपने तथा दूसरेकेलिए हित निहित होता है।

जैसे सरकार ऐसा दण्ड-विधान कर दे कि—'जो ब्लैकमार्कीटिंग करेगा, उसे फांसी मिलेगी।' आपाततोदर्शीको ऐसा दण्ड अखरता है, वह इसे अत्याचार मानता है, पर सर्वतोमुखीन दृष्टि वालेको इसमें परिणामहिता-वहता मालूम पड़ती है। वैसे कठिन दण्डविधानसे वैसी परम्परा नहीं बन पाती। वैसा दण्ड एक-आधको ही देना पड़ता है, पर विधानमें आ जानेसे वैसी परम्परा नहीं बन पाती। रामराज्यमें एक शूद्रको दण्ड मिला; शेष-इतिहासमें फिर इस काण्डकी आवृत्ति नहीं आई। निम्न लोग कड़े दण्डके विधानमें उल्लेख हो जानेसे फिर कोई अव्यवस्था नहीं कर पाते। इसलिए मनुजीने भी कहा है—'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतां मदं जगत्' (८।४१८) (वैश्य-शूद्रको राजा प्रयत्नसे अपने कर्म करावे। वे यदि अपने कर्मोंसे च्युत हुए, तो देशमें बहुत अव्यवस्था फैल जाती है।

राजा-राम द्वारा शूद्रको दण्ड देनेमें जहां धार्मिक कारण था, वहां राजनीतिक कारण भी था। तपस्या है ब्राह्मणकर्म—'शमो दमः तपः शौचं... ब्रह्मकर्म स्वभावजम्' (गीता १८।४२) यह जन्म ब्राह्मणका कर्म है। ब्राह्मणने राजासे लेना है, राजाको देना कुछ नहीं। इस प्रकार यदि सभी शूद्र ब्राह्मणकर्म-तपस्या करने शुरू हो जावें; क्योंकि 'एक खर्बूजेको देखकर दूसरा खर्बूजा रंग पकड़ता है', इस लोकोक्तिसे शूद्रोंमें अन्धानु-करणकी प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है, तब उनकी ओरसे राजाको कुछ नहीं

मिलता। इस प्रकार निरन्तर होते रहनेसे राजाकी अर्थ-व्यवस्था पर कड़ा दुष्प्रभाव पड़ता है। विषैले फोड़ेको बढ़नेसे पहले ही जड़मूलसे काट दिया जावे—यह अच्छा होता है, नहीं तो उससे विष सारे शरीरमें फैलनेकी आशङ्का रहती है।

फिर शूद्रादिका काम है चातुर्वर्ण्यसेवा अर्थात् देश-सेवा। देशकी रक्षाकेलिए एवं देश-शत्रुओंके विनाशकेलिए अस्त्र-शस्त्र बम आदि तथा यान-विमानादि बनाने पड़ते हैं। शत्रु-सङ्कट निकट आनेसे पहले ही यह कार्य देशमें तैयार कर देना पड़ता है। सो शूद्रादि यदि उस जन्मसिद्ध कर्मको छोड़कर ब्राह्मणोंका कर्म-तपस्या करने चल पड़ें; तो शत्रुओंकी विघातक-प्रवृत्ति बढ़ जानेसे देशकी सङ्कट-समस्या बड़ी गम्भीर हो सकती है; तब उसका उपाय यही है कि—राजा उस शूद्रको फांसी दे दे, वा उसका गला ही काट दे। इस अवसर पर गान्धिजीका सत्याग्रह-शस्त्र कुण्ठित ही सिद्ध होता है। श्रीराम यदि कड़े-युद्धको छोड़कर लङ्काके राक्षसोंके आगे गान्धि-शस्त्र-'अनशन' (भूख-हड़ताल) शुरू कर देते, जैसे कि हिटलरसे युद्ध करना छोड़कर उसके आगे सत्याग्रह करनेकी अंग्रेजोंको श्रीगान्धिजीने शुभ (?) सम्मति दी थी; कि—हिटलरको स्वयं राज्य दे दो। वे यदि शत्रुकी भूमिमें ही पहुंचकर कड़ा युद्ध न करते; तो लङ्काके राक्षसोंका जीतना तो दूर, उल्टा राक्षस ही अयोध्यापर आक्रमण भी कर देते। सो प्रतिपक्षीको इन बातोंकी अवैदिकता बताना तो अपना अल्प-श्रुतत्व प्रकट करना है।

शेष रहा 'समानो मन्त्रः' मन्त्रसे चारों वर्णोंकी समानमन्त्रताका उपपादन; यह प्रतिपक्षीकी बात ठीक नहीं। एतदादिक मन्त्र एक-कुटुम्बी तथा समानपात्र (जैसेकि—मीमांसा शाबर. ३।५।४३ में स्पष्ट है) ऋत्विजों-केलिए है, सर्वसाधारणकेलिए नहीं। वेदोंका विषय यज्ञ है, (न्याय. ४। १।६२, सिद्धान्तशिरो. गणि. कालमाना. इत्यादि) देखो इसपर 'आलोक' (६) (पृ. १४२-१४६) 'मन्त्राश्च कर्मकरणाः' (आश्व.श्रौ. १।१।२१)

'अनर्थका हि मन्त्राः' (निरुक्तमें कौत्स) इसका यह भाव नहीं है कि—मन्त्रोंके अर्थ नहीं होते। इसका यह भाव है कि—मन्त्रोंका महत्त्व शब्दमें है, अर्थमें नहीं। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' (मीमां. १।२।१)। यहाँ भी वेदकी अर्थवत्ता कर्मकाण्डार्थ बताई गई है।

महाभाष्यमें व्याकरणके प्रयोजनोंमें अधिकका सम्बन्ध वैदिक-कर्मकाण्डसे बताया गया है। कल्प वेदका हस्तरूप अङ्ग है। उसका सम्बन्ध भी याज्ञिक-कर्मकाण्डसे है। यज्ञिय केवल आदिम तीन वर्ण ही हैं—'ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा, वैश्यो वा, ते हि यज्ञियाः' 'न वै देवाः सर्वेणैव सवदन्ते, **ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा, वैश्येन वा'** (शत. ३।१।१।६-१०) 'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋसं. १।१४६।५) तब वे ही द्विज, यज्ञ-निष्पादक ऋत्विक्-यजमान यज्ञकी समाप्ति पर उक्त मन्त्रसे प्रार्थना करते हैं, क्योंकि—ऋस. की समाप्तिमें वह यज्ञ-स्तोत्र भी समाप्त हो जाता है। इसलिए श्रीसायणने यहाँ लिखा है—

'एषाम् एकस्मिन् कर्मणि सह प्रवृत्तानाम् ऋत्विजां स्तोत्रियाणां वा **मन्त्र एकविधोस्तु।'** (इस एक कर्ममें इकट्ठे स्थित हुए ऋत्विजों वा स्तोत्र बोलनेवालोंका मन्त्र एक-जैसा हो) सो यह उनका इकट्ठे होकर एक-स्वरसे समान ही मन्त्र बोलना इष्ट है। किसीकी स्वर कैसी हो, दूसरेका मन्त्र दूसरा हो, ऐसा यज्ञमें शोभित भी नहीं होता।

सो यहां यही 'समानो मन्त्रः' का तात्पर्य है। और "समानी प्रपा" आदि मन्त्र भी एक कुटुम्बियोंकेलिए चरितार्थ हैं। 'अरा नाभिमिव-अभितः अग्निं सपर्यत' (अ. ३।३०।६) 'वत्सं जातमिवाघ्न्या' (अ. ३।३०।१) एतदादि-मन्त्र इस विषयमें प्रकाश करते हैं।

रथके अरे परस्पर-सम्बद्ध एक कुटुम्बको स्मरण कराते हैं। रथ बहुत होते हैं, एक नहीं, इस प्रकार कुटुम्ब भी। आरे अपने ही रथके पहियेमें संयुक्त होते हैं; **भिन्न-भिन्नोंका भिन्न-भिन्नसे संयोग नहीं होता।**

ऐसा करनेपर फिर अरोंको काटना पड़ता है, दूसरेमें जोड़नेपर फिर वैषम्य आकर उपस्थित होता है।

इस प्रकार मन्त्रमें उपमित गाय भी **अपने बछड़ेसे** प्यार करती है, दूसरेसे नहीं। अतः द्विजोंमें एकजोंको मिश्रित करना वेद-प्रतिकूल है।

फलतः 'समानो मन्त्रः' से वादीकी पक्ष-सिद्धि नहीं। यहाँ तो **ऋत्विजोंका एक स्वरसे मन्त्रोचारण** इष्ट है, जिससे विस्वरताका प्रसंग उपस्थित न हो जाय। वा समान ही मन्त्र बोलना इष्ट है—यह नहीं कि—एक, एक संहिताके मन्त्रको बोले, तो दूसरा भिन्न-संहिताके। इससे कर्ममें उपहास तथा विघ्न ही उपस्थित होता है। इसमें कोई शूद्रादिके वेदाधिकार-प्रसंगकी चर्चा नहीं।

उक्त-मन्त्रमें चारों वर्णोंका कुछ भी वर्णन नहीं। वैसा कहना प्रतिपक्षीकी कृत्रिमता है। यहां तो ऋत्विजोंका वर्णन है। ऋत्विक् बननेका अधिकार केवल **ब्राह्मणको** है, यह मीमांसा-दर्शन (१२।४।३८-३९-४२) तथा (६।६।१८) में स्पष्ट है। उन्हीं ऋत्विजोंकी समान-मन्त्रता यहां उपपादित है, चारों वर्णोंकी नहीं।

(च) 'तस्यां कक्षीवदादीन् स शूद्रयोनौ ऋषिस्तदा' का वादीने जो यह अर्थ किया है कि—उस ऋषिने कक्षीवान् आदि लड़कोंको शूद्रयोनिमें उत्पन्न किया, अर्थात् वे शूद्र थे' ठीक नहीं। यहाँ अर्थ है कि—'तस्यां शूद्रयोनौ ऋषिः कक्षीवदादीन् जनयामास' 'शूद्रयोनौ' यह 'तस्यां' का विशेषण है, शूद्र इति योनिः यस्याः सा शूद्रयोनिः, तस्यां शूद्रयोनौ दास्यामित्यर्थः।' सो यहाँ 'शूद्रयोनि वाली अर्थात् **दासीमें** उसने कक्षीवान् आदियोंको पैदा किया—यह अर्थ है, सो उत्पादक **ब्राह्मण** होनेसे बीजकी प्रधानतावश वे लड़के भी **ब्राह्मण** थे, **कक्षीवान् आदिको कहीं भी शूद्र नहीं बताया गया।** अमोघवीर्य-ऋषियोंके ब्रह्मवर्चसको **क्षेत्रदोष नहीं दबा सकता**—यह हम पूर्व बता चुके हैं।

तभी तो दीर्घतमाने 'नेत्युवाच महर्षिस्तं ममेमे इति चाब्रवीत्'

(१।१०४।४६) उनको अपना लड़का माना। नहीं तो ब्राह्मण अपने लड़के शूद्र कैसे रखे ? तब 'शूद्रयोनौ' का अर्थ 'शूद्रायां' ही है, तभी 'अवमन्य ददौ मूढा शूद्रां धात्रेयिकां मम' (५०) यहाँ 'शूद्रा' यह 'धात्रेयिका' का विशेषण दिया है, अतः पूर्वपद्यमें भी 'शूद्रयोनौ—शूद्रायां, तस्यां धात्रेयिकायां कक्षीवदादीन् एकादश पुत्रान् जनयामास' यही अर्थ सिद्ध हुआ। श्रीसातवलेकरजीने भी इसका यही अर्थ किया है—'ऋषिने उस शूद्रयोनि [दासी] में कक्षीवदादि ग्यारह पुत्र उत्पन्न किये' तब वादीकी इष्ट सिद्धि न हुई।

कई विद्वान् कहा करते हैं कि—'जात्यन्धो वेदवित् प्राज्ञः पत्नीं लेभे स विद्यया। तरुणीं रूपसम्पन्नां प्रद्वेषीं नाम ब्राह्मणीम्। स (दीर्घतमाः) पुत्रान् जनयामास गौतमादीन् महायशाः' (महा. १।१०४।२३-२४) इस प्रमाणसे दीर्घतमाकी ब्राह्मणी स्त्रीसे उत्पन्न गौतमादि लड़कोंमें ही कक्षीवान् भी था। गौतमादिकी गणना स्कन्दपुराण सह्याद्रिखंडमें इस प्रकार आई है—'या भार्या दीर्घतमसः प्रद्वेषी परिकीर्तिता। तस्या पुत्रास्त्रयश्चासन् गौतमः कक्षिवान् कलिः। सर्वे वेदस्य द्रष्टारो बभूवुर्वेदपारगाः। पुत्रान् तपस्विनो दृष्ट्वा प्रद्वेषी मुमुदे भृशम्' (३५।२९-३०)

यहां कक्षीवान्को वेदद्रष्टा भी माना है, ब्राह्मी प्रद्वेषी ही का दूसरा नाम उशिक् हो—यह सम्भव है। राजा बलिकी दासीमें दीर्घतमाने पुत्रोंको पैदा किया उनमें कक्षीवान् नहीं बताया गया, किन्तु 'काक्षीवत' ही बताया गया है, यह बात महाभारतके प्रकृतस्थल पर देखी जा सकती है, उसमें 'काक्षीवदादीन्' (१०४।४८) 'काक्षीवदादयः' (४९) पाठ है। उनकेलिए 'अधीयतः' (४८) साधारण अध्ययन आया है, वेदद्रष्टृत्व नहीं आया। फलतः दोनों ही पक्षोंमें हमारी पक्ष-सिद्धि है।

जोकि कई लोग कहते हैं कि—वेदके कई ऋषि शूद्र थे—परन्तु यह बात निष्प्रमाण है। इस विषयमें हम पहले ही लिख चुके हैं (पृ. ३४०-३४२) कोई भी ऋषि शूद्र स्मरण नहीं किया गया। यदि कहीं लिखा है; तो वहां

वह एक पारिभाषिक शब्द है, वास्तविक नहीं है। ज्यौतिषके अनुसार ब्राह्मणोंके 'तुलसीराम' 'दयानन्द' आदि नामोंका शूद्रवर्ण होता है, पर वे वस्तुतः शूद्र नहीं हो जाते। भगवदाचार्य नामका वर्ग मूषक होता है—वह चूहा नहीं हो जाता। उसकी योनि 'श्वा'—बताई गई है, वह वस्तुतः वैसा नहीं हो जाता।

इस प्रकार कक्षीवान् तथा कवष भी ज्यौतिषानुसार औपचारिक शूद्र वर्ण है, वास्तविक नहीं। जैसे वृक्षोंके, पशुओंके, पक्षियोंके, देवताओंके, ग्रहोंके, सामवेदीय स्तोत्रोंके, वैदिक छन्दोंके कृमि-पतङ्ग आदियोंके ब्राह्मण-शूद्रादि वर्ण बताये गये हैं, वह वास्तविक शूद्रादि वर्णके नहीं होते, उपचारसे वैसे कहे जाते हैं—इस प्रकार ऋषियोंके इस प्रकारके बताये वर्ण भी औपचारिक हैं, जैसे ब्राह्मण सत्त्वगुणसम्पन्न भी प्रकृतिकी त्रिगुणात्मकतासे त्रिगुणात्मक भी होते हैं, तब वे उपचारसे 'देवो, मुनिः, द्विजो, राजा, वैश्यः, शूद्रो, निषादकः। पशुर्म्लेच्छोऽपि चाण्डालो विप्रा दशविधाः स्मृताः' (३७१) इस अत्रिस्मृतिके अनुसार पशु आदि संज्ञा वाले कहे जाते हैं, चाणक्यनीतिमें ११।११-१२-१३-१४-१५-१६-१७ पद्यों में भी उनके लक्षण कहे हैं; वैसे ऋषियोंमें भी ऐसी संज्ञामात्र ही सम्भव है, वास्तविकता उसमें नहीं होती। इस प्रकार वादीका यह पक्ष भी गिर गया। अब संक्षेपसे श्री 'सूत' पर भी प्रकाश डाला जाता है।

———

(३१) क्या पौराणिक-सूत सूत जाति के थे ?
(९वीं ऐतिहासिक भूल)

पूर्वपक्ष—(क) पुराणमें वर्णित रोमहर्षण सूत सूत-जातिके थे। 'क्षत्रियात् सूत एव तु' (मनु. १०।१७) क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें प्रतिलोमसङ्कर सूत उत्पन्न होता है। (ख) इसलिए श्रीबलदेवने उसे 'प्रतिलोमज' (भागव. १०।७८।२४) कहा था। (ग) पुरुषोत्तममासमाहात्म्य (२१५) में वह

अपने आपको भी 'विलोमज' कहता है, तब प्रतिलोमज होनेसे वह अछूत हुए। (घ) इस प्रकार भागवत (१।१८।१८) में भी कहा है। वे शौनकादि-ब्राह्मणोंको पुराण सुनाया करते थे। (ङ) 'सूत्यायामभवत् सूतः' (वायु-पुराण १।३३) यहाँ सूत-स्त्रीमें सूतका उत्पन्न होना कहा है। (च) यदि वह ब्राह्मण होते, तो शौनक आदिका उन्हें कहीं नमस्कार वर्णित होता, पर नहीं है। (छ) 'वक्ता वेदादिशास्त्राणां त्रिकालामलधर्मवित्, इस अग्निपुराणके वचनमें उसे वेदादि-वक्ता कहा है-इससे वर्णसङ्करोंका भी वेदमें अधिकार सिद्ध है' (ज) श्रीतर्करत्नजी 'अछूतोद्धारनिर्णय १३४ पृ. में (झ) चौधरी रो.ला. 'अछूतोद्धार' ३५ पृष्ठमें, (ञ) श्री काव्यतीर्थ 'जातिनिर्णय' (२७६ पृष्ठ) में, (ट) श्री रा.चं.शास्त्री 'पतितोंकी शुद्धि सनातन है' (४२ पृ.) में; (ठ) श्रीसु.दे. विद्यावाचस्पति 'नमस्तेकी व्याख्या' पृष्ठ २३ में)। (ड) प्राचीन भारतमें दो प्रकारकी परम्पराएं प्रचलित थीं, पहली वेदसे संबद्ध, दूसरी पुराणोंसे संबद्ध। पहलीके प्रचारक ब्राह्मण थे-दूसरी परम्पराके प्रचारका श्रेय अब्राह्मणों-सूत आदिको प्राप्त है (पार्जिटर-एक अंग्रेज विद्वान्)

उत्तरपक्ष—श्रीलोमहर्षण जातिसूत नहीं थे-किन्तु उच्च-ब्राह्मण थे। उनका 'सूत' यह यौगिक उपनाम वा उपाधि है, जाति नहीं। वे पुराणानुसार यज्ञकुण्डमें उत्पन्न हुए थे। जब वे पुराणसे ही सूत-जाति के सिद्ध किये जाते हैं; तब पुराण उनके विषयमें जो कहें, वह वादियों को माननीय होना चाहिए।

(१) (क) 'हरिवंश' जो महाभारतका अन्तिम भाग है, उसके १।४ पद्य में 'सौति' शब्द आया है। 'सौति' सूतके लड़के को कहते हैं। इस पर श्रीनीलकण्ठने अपनी टीकामें कुछ लिखा है, उससे वादियोंके प्रयास पर पानी फिर जाता है। वह उल्लेख यह है-'सूतः- 'अग्निकुण्डसमुद्भूत ! सूत ! निर्मल-मानस !' इति पौराणिकप्रसिद्धेरग्निजो लोमहर्षणः, तस्य पुत्रः सौतिः—उग्रश्रवाः, न तु 'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतः' इति स्मृत्युक्तः, तद्धितानर्थक्यापत्तेः"।

अर्थात् पुराण सूतकी अग्निकुण्डसे उत्पत्ति बताते हैं; अतः 'अग्नि-कुण्डप्रसूत' होनेसे उनका नाम 'सूत' भी प्रसिद्ध है। यहाँ सूत-जाति नहीं; नहीं तो सूतके लड़केको भी 'सूत' ही कहा जाता, 'सौति' सर्वथा नहीं। जातिका पुत्र नहीं होता, किन्तु व्यक्तिका ही। ब्राह्मणके लड़केको 'ब्राह्मणि' न कह कर ब्राह्मण ही कहा जाता है। सूत-जाति वाले पुरुषके पुत्र रूपमें प्रसिद्ध भी कर्णको कहीं भी 'सौति' न कहकर 'नाहं वरयामि सूतम्' (महा. १।१८९।२३) सूत ही कहा गया है। पर लोमहर्षण सूतके लड़केको 'सौति' इस प्रकार तद्धिती इञ्-प्रत्ययसे कहा गया है, इसीसे सिद्ध है कि-सूत यह जाति नहीं, किन्तु नाम है।

'कश्चित् पुमान् ब्रह्मयज्ञे यज्ञकुण्डात् समुत्थितः। स सूतो धर्मवक्ता च मत्पूर्वपुरुषः स्मृतः।' (ब्रह्मवैवर्त ब्रह्मखण्ड १०।१३४) पुराणं पाठयामास तं च ब्रह्मा कृपानिधिः। पुराणवक्ता सूतश्च यज्ञकुण्डसमुद्भवः (१३५) इसी प्रकार शिवपुराण वायवीयसंहिता उत्तरभाग (१।६) में यहाँ सौतिने अपने पिताको यज्ञ-कुण्डमें उत्पन्न कहा है, तब सूत-जातिका प्रश्न ही नहीं उठता। श्रीमद्भागवतादिमें जो कि सौतिको 'सूत' कहा जाता है, उसमें कारण सूत-जाति नहीं, किन्तु जैसे 'जनक' यह उपाधि थी; उसके उत्तराधिकारी भी सीरध्वज आदि 'जनक' कहे जाते थे, जैसे आद्य-शङ्कराचार्यके उत्तराधिकारी भी 'शङ्कराचार्य' ही कहे जाते हैं, वैसे यहाँ भी जानना चाहिये।

(२) यदि लोमहर्षण, सूत-जातिके वर्णसंकर होते; तो श्रीबलदेवको उसके मारनेमें श्रीमद्भागवत (१०।७८।३२-३३) में ब्रह्महत्या न कही जाती। जैसेकि-रामायणमें सङ्कर श्रवणकुमारने कहा था कि-'ब्रह्महत्या-कृतं पापं हृदयादपनीयताम्। न द्विजातिरहं राजन्! (२।६३।५०-५१) 'शूद्रायामस्मि वैश्येन' (५२) (मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, मैं वैश्यसे शूद्रामें पैदा ासग्रहुङ्कर हूँ), अतः मेरे मारनेसे ब्रह्महत्याका डर हटा दीजिये, क्योंकि-

सङ्कर होनेसे मेरे मारनेसे आपको ब्रह्महत्या नहीं लगेगी।) इस प्रकार सूतके सङ्कर होनेपर उसे मारने पर श्रीबलराम भी ब्रह्महत्याका प्रायश्चित न करते। अतः स्पष्ट हुआ कि–वे ब्राह्मण हैं। महाभा. आदि पर्व ४र्थ अध्यायमें श्रीनीलकण्ठने भी सूतको ब्राह्मण लिखा है।

(३) (ख) श्रीबलदेवद्वारा 'प्रतिलोमज' शब्दका प्रयोग उसके तिरस्कारार्थ है। जैसे शेषके अवतार उनके आगे मुनियोंने उठकर प्रणाम किया था। (१०।७८।२१) सूतके उनके आने पर न उठनेसे वे तिरस्कारके पात्र थे। जैसे 'अवतार, सुपात्र, हजरत, पुण्यजन (राक्षस) शब्द विपरीतलक्षणासे कुत्सित अर्थमें प्रयुक्त किये जाते हैं, वैसे ही प्रतिलोमसङ्कराभिधायक सूत-जैसा 'सूत' शब्द तिरस्कारार्थ 'प्रतिलोमज' अर्थमें क्यों नहीं प्रयुक्त किया जा सकता? वस्तुतः 'प्रतिलोमज' कहनेका अन्य रहस्य है। वह यह है–

(४) (ग-घ) वायुपुराण (१।१।३३-३६) में कहा है–'वैन्यस्य तु पृथोर्यज्ञे वर्तमाने महात्मनः। सुत्यायामभवत् सूतः प्रथमं वर्णवैकृतम्। ऐन्द्रेण हविषा तत्र हविः पृक्तं बृहस्पतेः। जुहावेन्द्राय दैवेन ततः सूतो व्यजायत (१।१।२९-३०) शिष्यहव्येन सम्पृक्तमभिभूतं गुरोर्हविः। अधरोत्तरचारेण जज्ञे तद् वर्णवैकृतम्' (१।३३।३६) वेनके लड़के महात्मा पृथुका यज्ञ जब चालू था; उस समय सुत्या (यज्ञकी अभिषवभूमि)में सूत पैदा हुआ। यह एक प्रकारका वर्णविकार था। शिष्य इन्द्र (क्षत्रिय) की हविसे गुरु बृहस्पति (ब्राह्मण) की हवि दब गई; तब सूत पैदा हुआ। शिष्य (क्षत्रिय-इन्द्र) की हविसे, गुरु (ब्राह्मण, बृहस्पति) की हवि दब गई। इस प्रकार निम्न (शिष्य) के ऊपर तथा उच्च (गुरु) के नीचे हो जानेसे यह वर्णविकार हुआ।)

इससे स्पष्ट हो रहा है कि–सूत जाति-सूत नहीं थे, 'सुत्या–अभिषवभूमि अर्थात् यज्ञकुण्डसे उत्पन्न हुए थे। पृथुका यज्ञ हो रहा था। अग्निमें इन्द्रदेवकी हवि भी डाली गई, देवगुरु बृहस्पतिकी भी। उससे सूत

उत्पन्न हुए।

सूतकी वर्णसंकरताकी प्रसिद्धिका कारण यह है कि–देवताओंमें इन्द्र क्षत्रिय माने गये हैं और बृहस्पति ब्राह्मण।

जैसे कि–'स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञः, यद् एतेन बृहस्पतिरयजत। ब्रह्म हि बृहस्पतिः, ब्रह्म हि ब्राह्मणः। अथो राजन्य (क्षत्रिय)स्य (यज्ञः) यद् एतेन इन्द्रोऽयजत। क्षत्रं हि इन्द्रः। क्षत्रं राजन्यः' (शत. ५।१।१।११)।

तब क्षत्रियवर्ण शिष्य इन्द्रके चरुसे ब्राह्मण बृहस्पतिके चरुके अभिभूत होजानेसे उसकी संकरतासे उत्पन्न सूत क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न सूतके समान हो गया, क्योंकि सूत जातिमें भी क्षत्रिय अवरवर्ण होनेसे अपनी अपेक्षा उच्च वर्णवाली ब्राह्मणीमें आधान करके प्रतिलोमतासे ब्राह्मणत्वको अभिभूत करता है। यहां पर साक्षात् तो वैसा नहीं हुआ, क्योंकि अग्निकुण्डमें न कोई साक्षात् क्षत्रिय मनुष्य था, न ही कोई ब्राह्मण-जातीया मानुषी स्त्री साक्षात् थी। अतः सूत, सूतजातिवाले नहीं थे, क्योंकि यह योनिज तो थे नहीं; यह तो अग्निसे उत्पन्न हुए अयोनिज थे। किन्तु उसके कुछ सादृश्यवश उपचारसे कहीं-कहीं प्रतिलोमज वा विलोमज कहे गये। ब्राह्मणरूप अग्निसे उत्पन्न होनेसे 'अग्निर्वै ब्राह्मणः' इस श्रुतिसे वे ब्राह्मण थे। वास्तविक संकर होने पर तो वे 'अस्य ब्रह्मासनं दत्तं' (भाग. १०।७८।३०) ब्रह्मासनके योग्य न होते। क्योंकि–'व्यासासनोपवेशाच्च शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्। विप्रस्यैवाधिकारोस्ति व्यासासनसमाक्रमे। धर्माणां श्रुतिगीतानामुपदेशे तथा द्विजः' (१।१।५ वंशीधरीटीकामें उद्धृत संहिता-वचन) ब्राह्मणं च पुरस्कृत्य ब्राह्मणेन च कीर्तितम्। पुराणं शृणुमान्नित्यं महापापदवानलम् (पद्मपुराण स्वर्गखण्ड ६२।५८) इत्यादि पुराण-वचनानुसार पुराणका सुनना भी ब्राह्मणके अधिकारमें होता है।

चोधरी रो.ला.जीका सूतजातिको अछूत कहना भी गलत है। अस्पृश्यता तो शास्त्रानुसार चाण्डालश्वपचकी होती है, देखो मनु.

(१०।५१,५।८५)। जाति-सूतको भी कहीं भी अस्पृश्य नहीं बताया गया। उनका कार्य तो 'सूतानामश्वसारथ्यं' (१०।४७) है। सञ्जय-सूत धृतराष्ट्रका रथ चलाता था, पर उसे कहीं अस्पृश्य नहीं कहा गया। सूतजातिसे प्रसिद्ध कर्णको भी कहीं अस्पृश्य नहीं कहा गया, पर पौराणिक-सूत तो सूत-जातिके नहीं थे, किन्तु अग्न्युत्पन्न होनेसे ब्राह्मण थे।

(५) हरिवंशपुराणमें भी सूतकी उत्पत्तिका वर्णन इस प्रकार किया गया है—'एतस्मिन्नेव काले तु यज्ञे पैतामहे शुभे। सूतः सुत्यां समुत्पन्नः सौत्येऽहनि महामतिः। तस्मिन्नेव महायज्ञे जज्ञे प्राज्ञोथ मागधः। पृथोः स्तवार्थं तौ तत्र समाहूतौ महर्षिभिः' (१।५।३३-३४) ब्रह्मपुराण (४। ६०-६१) नीलकण्ठने यहाँ—'सुत्यां-सोमाभिषवकाले। अभिषवः—सोमवल्याः कण्डनं रस-निष्कासनार्थम्' यह टीका की है। (सोमरस निकालनेके समय यज्ञ-कुण्डसे सूत उत्पन्न हुए।)

'कल्याण' के 'हरिवंश' में पाठ तो 'सूत्यां' है पर वहाँ अर्थ किया गया है कि पृथुके राज्यत्वकालमें पितामहने शुभ-यज्ञमें सोमके निकालनेके दिन सोमका अभिषव करनेके समय अर्थात् रस निकालनेके समय सोमलताको कूटते समय महाबुद्धिमान् सूतकी उत्पत्ति हुई।' (च) यहाँ पर तथा वायुपुराणके वाक्यमें 'सूत्यायां' पाठ नहीं, किन्तु 'सुत्यायां' है, अतः सूतजातीय स्त्री भी अर्थ नहीं, वैसा होने पर जातिवाचक ङीषन्त 'सूती' शब्दका 'ङि' में सूत्यां' यह पाठ होता 'सूत्यायां' नहीं। एक पाणिनीयसूत्र (४।१।८०) से 'सूत्या' शब्द भी बनता है, पर उसका अर्थ 'प्राप्तयौवना' होता है, जैसा कि—बालमनोरमा में लिखा है, पर उस अर्थका यहाँ कोई प्रसंग नहीं।

(६) 'सुत्या' शब्द 'समज-निषद-निपत-मन-विद-षुञ्' (पा. ३।३। ९९) इस सूत्रसे षुञ् धातुको संज्ञामें क्यप् और तुक् करने पर बनता है, स्त्रीत्वके अधिकारमें टाप् हुआ। 'सिद्धान्त-कौमुदी' में उसका अर्थ 'अभिषव' [सोमयज्ञ] किया है। अमरकोषमें भी ऐसे ही है—'सुत्याभिषवः सवनं च सा' (२।८।४७)। अतः 'सूत्या' यह शब्द तथा 'सूतजातीय' यह अर्थ यहाँ नहीं। तब वे सूत, सूतजातिके भी नहीं।

(ज) जिस पुराणमें श्रीसूतजीको 'वक्ता वेदादिशास्त्राणां' कहा है, वहीं उन्हें स्पष्टरूपसे ब्राह्मण भी कहा है, जैसे कि—'ब्रह्मणः पौष्करे यज्ञे सुत्याहे वितते सति। पृषदाज्यात् समुत्पन्नः सूतः पौराणिको द्विजः [ब्राह्मणः]। वक्ता वेदादिशास्त्राणां त्रिकालामलधर्मवित् [अग्निपुराण]।

(ब्रह्माके पुष्करके यज्ञमें सोमरस निकालने के दिन दही-घीसे पौराणिक ब्राह्मण-सूत पैदा हुआ, जो वेदादिशास्त्रोंका वक्ता था, तथा त्रैकालिक धर्मका निर्मल ज्ञाता था)।

मुनि सूतको कहते हैं—'न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिद् वेदे शास्त्रे च भारते। पुराणे मोक्षशास्त्रे च सर्वज्ञोसि महामते' (१।१७) ब्रह्मपुराणके इस वचनमें सूतको वेदविद्वान् भी बताया है। शूद्र होनेपर उसे ऐसा न कहा जाता। क्योंकि शूद्र वा सङ्करका वेदाधिकार नहीं होता।

स्कन्दपुराणके ब्रह्मोत्तरखण्डमें भी सूतजीको 'तन्मन्त्राणां च माहात्म्यं तवैव द्विजसत्तम' (१।३) द्विजसत्तम [श्रेष्ठ ब्राह्मण] कहा है, और मन्त्रों (वेदों) के माहात्म्य जाननेवाला कहा है। तब वेदवक्तृत्व यहां ब्राह्मणका सिद्ध हुआ, प्रतिलोमजका नहीं।

'जातिभास्कर' (पृ. २८१) में पं. ज्वालाप्रसादने लिखा है—'पुराणका सूत अग्निकुण्डसे उत्पन्न है। और सारथ्यकर्मा सूत संकरजातिसे दूसरा है (पं. ८)। इससे हमारा पक्ष बहुत पुष्ट हुआ। जब वह सूत पौराणिक (पुराणवक्ता) है; तब पुराणने उसके विषयमें जो कहा है, उसे मानना पड़ेगा, यह स्वाभाविक है। प्रतिपक्षी लोग चाहे किसी भी प्रकारका छल-बल लगावें; पर वे पुराणोंसे सूतको कभी जाति-सूत नहीं सिद्ध कर सकते; यह हमारी स्पष्ट घोषणा है।

(७) कौटिल्य-अर्थशास्त्रमें जोकि एक प्रामाणिक तथा प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्र है-में 'वैश्यान्मागधवैदेहकौ [क्षत्रिया-ब्राह्मण्योः]' (३।७।२९) 'क्षत्रियात् [ब्राह्मण्यां] सूतः (३।७।३०) इन सूत आदि-सङ्करोंका निरूपण करके कि-क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें सूत होता है-इस सङ्कर-सूतका वर्णन करके फिर पौराणिक सूतके विषयमें कहा है-'पौराणिकस्तु अन्यः सूतो मागधश्च, ब्रह्म-क्षत्राद् विशेषः' (३।७।३१) अर्थात् पुराणमें जो सूत कहा है, वह प्रतिलोमज सूतसे, और पुराण-प्रोक्त मागध, सङ्कर-मागधसे भिन्न है। इनमें पौराणिक-सूत ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ है, और मागध क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ है। इससे बढ़कर पौराणिक-सूतके ब्राह्मणत्वकी सिद्धि अन्य क्या हो सकती है।

इस पर महामहोपाध्याय पं० गणपतिशास्त्रीकी टीका इस प्रकार है-'पृथुचक्रवर्तियज्ञभूम्युत्पन्नस्य पौराणिकस्य सूताख्यस्य, मागधाख्यस्य च पृथुस्तोत्रविधायिनः प्रतिलोमजत्वशङ्काप्राप्ति मनसि कुर्वन् तां परिहरति-'पौराणिकस्तु अन्यः सूतः' इत्यादि। अस्यार्थ-पुराणप्रवक्ता रोमहर्षणापरनामा यः सूतः, सः अन्यः-उक्तात् प्रतिलोमजसूताद् भिन्नः; यस्तत्सहपठितः पुराणेषु मागधो नाम, स च प्रतिलोमज-मागधाद् भिन्नः। ब्रह्म-क्षत्राद् विशेषतः—विशेषेण युक्तः। सूतो ब्राह्मणाद् विशिष्टः-उत्कृष्टः। मागधः क्षत्रियाद् विशिष्ट इति। एतच्च तथ्यम्, यतः-'तस्यैव जातमात्रस्य यज्ञे पैतामहे शुभे। सूतः सुत्यां [यज्ञाभिषवभूमौ] समुत्पन्नः सौत्येऽहनि महामतिः। तस्मिन्नेव महायज्ञे जज्ञे प्राज्ञोथ मागधः, इति विष्णुपुराण-प्रथमांशतृतीयाध्याये।'

(चक्रवर्ती राजा पृथुकी यज्ञभूमिमें उत्पन्न पौराणिक-सूत प्रतिलोमज है-इस शङ्काको मनमें रखकर अर्थ-शास्त्रकार श्रीकौटल्य उसका प्रत्युत्तर देता है कि-पुराण-प्रवक्ता सूत-जिसका दूसरा नाम रोमहर्षण था, वह पहले कहे हुए सङ्कर-सूतसे जो क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न होता है-उससे भिन्न होता है; इस प्रकार उसके साथ पुराणमें पढ़ा हुआ मागध

भी, प्रतिलोमज-मागधसे भिन्न होता है। उनमें पौराणिक-सूत श्रेष्ठ-ब्राह्मण है, और पौराणिक-मागध श्रेष्ठ-क्षत्रिय है, और यह ग्रन्थकारकी बात ठीक है; क्योंकि-विष्णुपुराणके प्रथमांशके तृतीयाध्यायमें यह स्पष्ट है)।

इसी प्रकार वहां अग्निपुराण तथा कूर्मपुराणके इस प्रकारके वचन उद्धृत करके कहा है—'इति व्यासशिष्य-पौराणिक- सूतस्य अयोनित एव उत्पत्तिः प्रतिलोमज-सूतविलक्षणा कथ्यते, तथा द्विजत्व, विष्ण्वंशसम्भूतत्व च; तथैव मागधस्यापि तत्सहपठितस्य अयोनिजत्वम्।'

(इस प्रकार व्यासके शिष्य पौराणिक-सूतकी अयोनिज-उत्पत्ति तथा उसका श्रेष्ठ ब्राह्मण होना, तथा विष्णुके अंशसे उत्पन्न होना कहा है, वैसे साथ पढ़ा हुआ मागध भी अयोनिज है) अब इससे बढ़कर हमारे पक्षका अन्य क्या पुष्टि हो ? 'आलोक'-पाठक तथा प्रतिपक्षी लोग यह स्वयं समझ लें।

(८) 'अछूतोद्धारनिर्णय' के प्रणेता, श्रीसूतको प्रतिलोमज मानने वाले श्रीतर्करत्नजी अपने 'कौटलीयार्थशास्त्र' में इन सूत्रोंका अनुवाद यह लिखते हैं—'क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न सूत कहाता है। पुराणमें जो सूतजीका वर्णन आता है, वह इससे पृथक् है, मागध भी यहां दूसरे ही हैं। ये [सूत एव मागध] ब्रह्म (ब्राह्मण) और क्षत्रियसे भी श्रेष्ठ माने गये हैं।' इससे भी हमारा ही मत सिद्ध हुआ। वे (तर्करत्नजी) इस स्थलको प्रक्षिप्त भी नहीं मानते। क्षत्रियके साथ उनका लिखा 'ब्रह्म' शब्द स्पष्ट ही ब्राह्मण-वाचक है, तब उनसे कही पौराणिक-श्रीसूतकी प्रतिलोमजता 'उष्ट्रलगुडन्याय' से कट गई। उनके हामी प्रतिपक्षिगण भी इस बातको स्वयं समझें।

(९) विद्याभास्कर वेदरत्न, आर्यसमाजी श्रीउदयवीरजीने भी अपनी कृत-अर्थशास्त्रकी टीकामें उक्त सूत्रोंका अर्थ यही लिखा है-'वैश्यसे क्षत्रिया में उत्पन्न हुए मागध तथा क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुआ सूत कहाता है, परन्तु जो सूत और मागध नामक पुरुष पुराणोंमें वर्णित किये गये हैं, वे

इनसे बिल्कुल भिन्न हैं, तथा ब्राह्मण और क्षत्रियोंसे भी [दोनों क्रमसे] श्रेष्ठ हैं।'

(१०) अनुसन्धानप्रवीण आर्यसमाजी विद्वान् श्रीभगवद्दत्तजी 'भारत-वर्षका बृहद् इतिहास' प्रथमभाग-तृतीयाध्यायमें लिखते हैं-'लोमहर्षण आदि तो विद्वान् ब्राह्मण थे' (पं. ३) यहाँ लोमहर्षण उन्हें पौराणिक-सूतजी ही ब्राह्मणत्वेन इष्ट हैं। उक्त पुस्तकके ६८ पृष्ठमें उन्होंने फिर लिखा है—'कौटल्य अपने सुप्रसिद्ध-वाक्यमें पौराणिकसूत और सारथि सूतका भेद बताता है—'पौराणिकस्त्वन्यः सूतः' (अध्याय ६४)।

(११) इस प्रकार पौराणिक लोमहर्षण-सूत, ब्राह्मण सिद्ध हुए। इसीलिए 'भविष्यपुराण' प्रतिसर्गपर्व [३] द्वितीयखण्डमें शौनक आदि-ऋषियोंने सूतजीको 'सत्यं ब्रह्मन्! वदोपायं नराणां कीर्तिकारकम्' (२४। ३) में ब्राह्मणके पर्यायवाचक 'ब्रह्मन्' शब्दसे सम्बोधित किया है।

इस प्रकार महाभारतके अनुशासनपर्वमें-'देवतानन्तरं विप्रान् तपः-सिद्धान् तपोधिकान्। कीर्तितान् कीर्तयिष्यामि सर्वपापविमोचनान्' (१६५।३६) इस ब्राह्मणोंके नामकीर्तनके अवसरमें-'लोमशो नाचिकेतश्च लोमहर्षण एव च। ऋषिरुग्रश्रवाश्चैव भार्गवश्च्यवनस्तथा' (४६-४७) यहां लोमहर्षण और उग्रश्रवाको, जो सूत हैं; यवक्रीत, तथा काश्यप-व्यासादिको भी ब्राह्मण बताया गया है।

(१२) श्रीतर्करत्नजीने 'अछूतोद्धारनिर्णय' पृ. १३४ में प्रतिलोमज-सूतके वंशमें भगवान् कृष्णका जन्म लेना माना है, यदि यह ठीक है; तो श्रीकृष्णजी प्रतिलोमज क्यों नहीं कहे गये? क्षत्रिय क्यों कहे गये? और यह कहाँ लिखा है? तब तो उनके भ्राता श्रीबलरामजी भी प्रतिलोमज सूत होंगे, तो बलरामजीने सूतजीकी प्रतिलोमज-शब्दसे निन्दा कैसे की, जब वे तर्करत्नजीके अनुसार आप भी वैसे थे? श्रीकृष्णजी भी उस समयमें विद्यमान थे, क्योंकि श्रीबलरामजीने ही श्रीसूतको मारा था, तब यदि श्रीकृष्ण उसके वंशज थे, तो सूतजी क्या उनके पिता थे, वा पितामह, वा प्रपितामह? वा चाचा ताया? वस्तुतः यह कथन निर्मूल है।

'कूर्मपुराण' के 'त्वया [सूत! महाबुद्धे! भगवान् ब्रह्मवित्तमः। इतिहास-पुराणार्थं व्यासः सम्यगुपासितः। त्वं हि स्वायम्भुवे यज्ञे सुत्याहे वितते सति। सम्भूतः संहितां वक्तुं स्वांशेन पुरुषोत्तमः' (हे महाबुद्धि-वाले सूत! तुम भगवान्, ब्रह्मविदोंमें श्रेष्ठ (ब्राह्मण) हो। तुमने इतिहास-पुराणोंकेलिए श्रीव्यासजीकी खूब सेवा की थी। तुम ब्रह्माके यज्ञमें जबकि सोमरस निकाला जा रहा था, संहिता कहनेकेलिए उत्पन्न हुए थे; तुम अपने अंशसे पुरुषोत्तम (विष्णु या कृष्ण) हो) इस वचनमें जो म.म. गणपति शास्त्रीकी पूर्वोक्त टीकामें उद्धृत किया गया है, श्रीसूत को पुरुषोत्तमका अंश कहा है, सो उसका भाव है कि-यह भगवान् विष्णुके अवतार हैं-ऐसे महत्त्वपूर्ण-व्यक्ति (सूतजी) को पुराण ब्राह्मण न कहकर भला प्रतिलोमज जिसे प्रतिपक्षी अछूतोद्धार-प्रणेता श्रीतर्करत्नजी समझ ही न सके, और उनने उसे अनाप-शनाप लिख दिया, सङ्कर कैसे कह सकते हैं? आशा है-विद्वान्-'आलोक' पाठकोंने यह अच्छी तरह समझ लिया होगा, और प्रतिपक्षियोंने भी)।

(१३) (छ) 'यदि सूतजी ब्राह्मण होते, तो शौनकादि उन्हें नमस्कार करते, पर नहीं किया; अतः यह जातिसूत है' यह आक्षेप भी ठीक नहीं। श्रीमद्भागवतके पद्मपुराणीय उत्तरखण्डस्थ माहात्म्यमें 'नैमिषे सूतमासीन-मभिवाद्य महामतिम्। कथामृतरसास्वादकुशलः शौनकोऽब्रवीत्' (१।१।३) श्रीशौनकका सूतको अभिवादन [प्रणाम] आया है, नहीं तो ब्राह्मण-द्वारा वर्णसङ्करको अभिवादन कैसे होता?

इस प्रकार स्कन्दपुराणके द्वितीय वैष्णवखंडस्थ भागवतमाहात्म्यमें भी 'नैमिषे सूतमासीनम् अभिवाद्य महामतिम्। कथामृतरसास्वाद-कुशला ऋषयोऽब्रुवन्' (२) यहां ब्राह्मण-ऋषियोंका सूतको अभिवादन आया है।

इस प्रकार शिवपु. व्याससंहितामें 'तस्मिन्नवसरे सूतं पञ्चक्रोशदिदृक्षया। गत्वा समागतं वीक्ष्य [मुनय:] पुरा ते तं ववन्दिरे (१।६) तं दृष्ट्वा सूतमायान्त मुनयो हृष्ट-चेतसः। अभ्युत्थानासनाद्यादिपूजया समपूजयन्' (१०।५) सूत! सूत! महाभाग! त्वमस्मद्गुरूत्तमः' (११।१)। देवीभा.में 'नमश्चक्रु: पुन: सूत क्षमाप्य च मुहुर्मुहुः' (१२।१४।३०) यहाँ पर मुनियोंका सूतको नमस्कार तथा सूतका उनको आशीर्वाद देना सूतका ब्राह्मणत्व बता रहा है।

'शिवपुराण' विद्येश्वर-संहितामें 'सूत! सूत! महाभाग! व्यासशिष्य! नमोस्तु ते। तदेव व्यासतो ब्रूहि भस्ममाहात्म्यमुत्तमम्' (१।२३।१, २।११।१,५।१।२) यहां भी ऋषियोंका सूतको नमस्कार कहा गया है। यही तात्पर्य 'सत्कृतं सूतमासीनम्' (१।१।५) इस श्रीमद्भागवतके 'सत्कृतम्' पदका है। 'सत्कृतम्-आदृतम्-अभिवादितम्।' इससे सूत यह उपाधि वा वंशपरम्परासूचक चिन्ह है। आज भी कथावाचकको व्यासजी वा सूतजी कहते हैं। वह ब्राह्मण ही होता है; प्रतिलोमज नहीं।

(१४) श्रीसूतकी अग्निकुण्डसे उत्पत्तिमें भी शङ्का नहीं करनी चाहिये। द्रौपदी और धृष्टद्युम्नकी भी तो उत्पत्ति अग्निसे ही हुई-यह महाभारतमें प्रसिद्ध है। वहाँ हवि: क्षत्रियत्वाभिमन्त्रित थी, अतः वे क्षत्रिय माने गये। निरुक्तमें भी 'अङ्गारेषु अङ्गिरा:' (३।१७।१) 'अङ्गिरस: पुत्रास्ते अग्नेरधिजज्ञिर इति अग्निजन्म' (११।१७।१) यहाँ अङ्गिरा ऋषिकी उत्पत्ति अग्निसे कही गई है। अग्निसे उत्पत्तिके कारण श्रीसूतको ब्राह्मण कहा गया है। 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' (यजु: ३१।११) 'मुखादग्निरजायत' (३१।१२) इससे अग्नि एवं ब्राह्मणकी परमात्माके मुखसे उत्पत्ति होनेसे दोनों सहोदर माने गये हैं। इससे अग्निको भी ब्राह्मण और ब्राह्मणको भी अग्नि कहा जाता है। जैसे कि-'वैश्वानर: (अग्नि:) प्रविशति अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् (कठोप. २।१।७) 'ब्राह्मणो

वैश्वानर:' (तै.ब्रा. ३।७।३।२)। 'प्रजापतिरकामयत-प्रजायेयेति। स मुखतस्त्रिवृत निरमिमीत। तमग्निर्देवतान्वसृज्यत, ब्राह्मणो मनुष्याणां' (तै.सं. ७।१।१।४) तब ब्राह्मणरूप अग्निसे प्रसूत श्रीसूत साधारण-ब्राह्मण नहीं, किन्तु दिव्य-अयोनिज ब्राह्मण सिद्ध हुए।

(१५) जो कि कहा जाता है कि-त्रेतायुगमें भी सूत जातिका बड़ा सम्मान रहा, राजा दशरथने सूत-सुमन्त्रको अपना मन्त्री बनाया हुआ था। इस पर जानना चाहिए कि-वह सुमन्त्र रथ भी चलाया करता था-इसलिए उसे सूत कहा जाता हो, पर वह सूत-जाति वाला नहीं था। श्रीकृष्ण भी महाभारतमें अर्जुनके रथको चलाते थे, इसलिए सूत हुए; उन्हें 'पार्थसारथि' कहते हैं, परन्तु इस से उनकी सूतजाति नहीं हो जाती। 'सूतो मातलि:' (अमरकोष १।१।४५) मातलिको इन्द्रका सूत कहा गया है, पर वह सूतजातिका नहीं हो जाता; न ही वैसा कहीं कहा गया है।

आज भी मालिक स्वयं घोड़ा वा 'कार' चलाते हैं; और सूत स्वामीके स्थान पर बैठता है, पर इससे स्वामी सूत-जातिवाला नहीं हो जाता। जब तक वादी पुराण-इतिहासका कोई ऐसा परिपुष्ट प्रमाण न दें, जिससे सूतका पिता कोई क्षत्रिय-मनुष्य कहा गया हो; और उसकी माताको किसी ब्राह्मणकी कन्या कहा गया हो, वा सूतजीके माता-पिता जब तक सूत-जातिके सिद्ध न किये जावें; तब तक सूतजीकी सूत-जाति असिद्ध ही रहेगी; उनके दृष्टान्तसे शूद्रादिका वेदादिमें अधिकार नहीं हो सकता।

(१६) एक अन्य भी सूत होता है, जो होता तो ब्राह्मण है, पर प्रतिलोमधर्मा होता है। इसमें उशनाका वाक्य यह है-'मृषा ब्राह्मणकन्यायां विवाहेषु समन्वयात्। जात: सूतोत्र निर्दिष्ट: प्रतिलोमविधिर्द्विज:। वेदानर्हस्तथा चैषां धर्माणामनुबोधक:' इसका अर्थ 'वीरमित्रोदय' के संस्कार-प्रकाश, उपनयन संस्कार, अनुपनेय-प्रकरणमें आया है-'ब्राह्मणकन्यायां मृषा-विधिहीनेषु ऊढाया: समन्वयात् जात:, अत्र शास्त्रे प्रतिलोम-

विधि: प्रतिलोमधर्मा द्विजो निर्दिष्ट: । स च वेदानर्ह:,तथापि एषां–स्मार्तानां धर्माणाम् अनु-पश्चाद् ब्राह्मणं पुरस्कृत्य ब्राह्मणाऽभावे बोधक:–उपदेष्टा भवति । ततश्च विधिविकलविवाहोढब्राह्मणीजातस्य **ब्राह्मणस्यैव सूतसंज्ञस्य** प्रतिलोमधर्मस्य इदमुपनयनं, न सूतजातेरिति न विरोध:' (पृ. ४०६) ।

(ब्राह्मणकी अवैध-विवाहित कन्यामें ब्राह्मणसे पैदा हुआ ब्राह्मण प्रतिलोमधर्म वाला होता है । वह वेदपर अधिकार तो नहीं रखता; तथापि ब्राह्मण न होनेपर ब्राह्मणको आगे करके स्मार्त-धर्मोका उपदेश कर सकता है । सो ऐसी ब्राह्मणीके लड़के सूत नाम वाले प्रतिलोम-धर्मा ब्राह्मणका ही यह उपनयन है, सङ्कर जातिवाले सूतका उपनयन तो नहीं होता । अत: यह विरोध नहीं) ।

इससे भी एक **ब्राह्मणविशेषकी सूतसंज्ञा** कही गई है, उसे उपनयन भी कहा गया है, फलत: वह भी सूतजाति नहीं होता । पर पौराणिक सूत तो उससे उच्च है, उसे वेदवक्ता भी पुराणमें यथास्थान कहा गया है । 'मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात्' इस श्रीभागवतके वचनमें सूतका वेदमें अनधिकार इष्ट नहीं, किन्तु 'उसका पुराण-इतना वेदमें अभ्यास नहीं'–यह तात्पर्य है, 'छान्दसेऽस्नातम्'में 'अस्नात' का अपारङ्गत अर्थ है, 'अप्रविष्ट' अर्थ नहीं, अनधिकारमूलक अप्रवेश नहीं । क्योंकि-पुराणमें ही उसे **अग्न्युत्पन्न** एवं **ब्राह्मण**, और **वेदादिका ज्ञाता** भी कहा गया है । सो उसका पुराणोंपर जितना अधिकार (निष्णातता) है; उतना–वेदोंपर नहीं–यह तात्पर्य है ।

(१७) श्रीमद्भागवतकी 'भावप्रदीपिका' टीकामें भी श्रीसूतको ब्राह्मण ही बताया गया है । जैसे कि–(प्र.) ननु 'ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जात: सूत:' इतिस्मृतेस्तस्य विलोमजातीयत्वेन शूद्रत्वात् 'श्वचर्मणि यथा क्षीरम-पेयं स्याद् द्विजातिभि: । तथा शूद्रमुखात् शास्त्रं न श्रोतव्यं कदाचन' (विप्रो वक्ता सुधी: कार्यो विशुद्धोभयवंशज: । इतिहासपुराणानां विप्रान्यो धर्महानिकृत्' (भाव.प्र. १०।७८।२) इति महाभारतादिस्मृतेश्च कथमतीव

विज्ञा: शौनकादय: साक्षाद् वेदरूपं श्रीभागवतं शुश्रुवु: ?

(प्र.) 'ब्राह्मणीमें क्षत्रियसे पैदा हुआ सूत-जातिका होता है' यह स्मृति कहती है, तब प्रतिलोमज होनेसे शूद्र होनेके कारण 'कुत्तेके चमड़ेमें रखा हुआ दूध द्विजोंकेलिए उपयोग-योग्य नहीं होता, वैसे शूद्रके मुखसे सुना हुआ शास्त्र भी उपयोगके लायक नहीं होता । [ब्राह्मण वक्ता हो, जो विद्वान् हो; तथा माता-पिता दोनों कुल उसके शुद्ध हों, उसीसे पुराण-इतिहास सुने । ब्राह्मणसे भिन्न वक्ता धर्महानि करनेवाला होता है, भा.प्र. १०।७८।२] इत्यादि महाभारत आदिके कथनसे अतीव-विद्वान् शौनक-आदियोंने साक्षात्-वेदस्वरूप-श्रीभागवतको सूत-शूद्रसे कैसे सुना ?)

इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया गया है–

'**नह्ययं जातिसूत:** । अस्य उत्पत्तिस्तु वायु-पुराणे 'वैन्यस्य तु सुत्यायामभवत् सूत:' इत्यादि । अग्निकुण्डसमुद्भूत ! सूत ! इति पुराणान्तराच्च रोमहर्षणो 'ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जात:' इति-जाति सूतो न, किन्तु अग्निज:' (१।१।५) 'अस्य ब्रह्मासनं दत्तम्' (भाग. १०।७८।३०) ब्रह्मासनार्हता तु अस्य ब्रह्मणसङ्कल्पादेव...'अग्निर्वै ब्राह्मण:' इति **श्रुतेरग्निजत्वेन ब्राह्मणत्वादेव** । अन्यथा 'व्यासासनसमाक्रमे । धर्माणां-श्रुतिगीतानामुपदेशे तथा द्विज:' इति संहितोक्तिर्व्याकुप्येत ।

'किञ्च-ब्रह्मासनं वैशम्पायनहारीग्रशान्तव्रत-मार्कण्डेयादिसमान: तत्सजातीय एवार्हति, न हीन: । न महान्त: शौनकादयो हीनात् परं रहस्यं जगृहुरिति वक्तुंशक्यम्, 'न हीनत: परमभ्याददीत' इति श्रुते: । 'नीचादपि उत्तमा विद्या ग्राह्या' इति तु आपत्परं वृत्त्युपयोगिविद्यापर वा । (नीच-का तात्पर्य यहां स्ववर्णापेक्षया अपकृष्ट इष्ट है । जैसे कि–उपनिषदमें कई ब्राह्मण क्षत्रियोंसे ब्रह्म-विद्या सीखने गये, यहाँ नीचका शूद्र या अवर्ण अर्थ इष्ट नहीं) अतएव तद् (सूत)-वधाद् बलरामेण ब्रह्महत्या-व्रतं चीर्णमिति स्मर्यते ।'

(उ.) यह पौराणिक-सूत सूत-जातिका नहीं है । इसकी उत्पत्ति

वायुपुराणमें इस प्रकार है—'वेनके लड़के पृथुके सोम निचोड़नेके समय अग्निकुण्डसे सूतकी उत्पत्ति हुई। 'अग्नि-कुण्डसे उत्पन्न हे सूत!' इस अन्य पुराणके वचनसे पुराणवक्ता रोमहर्षण-सूत 'ब्राह्मणीमें क्षत्रियसे पैदा हुआ सूत-जातिका नहीं है। किन्तु अग्निसे उत्पन्न है' (१।१।५)। इस सूतको ब्रह्मासन दिया गया है (भाग. १०।७८।३०) ब्रह्मासनकी इसकी योग्यता ब्राह्मण-सङ्कल्पसे ही है।...

'अग्नि ब्राह्मणवर्ण होता है' यह श्रुति है। सो अग्निसे उत्पन्न होनेसे ब्राह्मणत्वके कारण है। नहीं तो व्यासासनपर बैठनेसे शूद्र चाण्डाल हो जाता है। व्यासासनपर बैठनेका अधिकार ब्राह्मणको ही है। वेदसे उद्दिष्ट धर्मोंके उपदेशमें भी ब्राह्मणका ही अधिकार होता है' यह संहिताकी उक्ति व्याहत हो जावे।

इसके अतिरिक्त वैशम्पायन-हारीत-मार्कण्डेय आदिके समान उनके समान जातिवाला ही ब्रह्मासन पर बैठ सकता है, हीन नहीं बैठ सकता। बड़े विद्वान् शौनक आदि कभी हीनसे परम-रहस्यको ग्रहण करने वाले बने, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि—'हीनसे परम रहस्य नहीं लेना चाहिये' ऐसी श्रुति भी मिलती है। 'नीचसे भी उत्तम विद्या ले' यह वचन तो आपत्तिकालपरक है, अथवा वृत्तिकी उपयोगिनी विद्याकेलिए है। इसलिए ही उस सूतके वधसे श्रीबलरामने ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त किया, यह स्मरण किया जाता है।)

इस सन्दर्भसे भी पौराणिक-श्रीसूतकी वादिसम्मत सूतजातीयता निरस्त होगई। इससे 'पुराणोंका प्रचार अब्राह्मणों-द्वारा हुआ, इसलिए पुराणोंका ब्राह्मणोंसे प्रचारित वेदोंसे विरोध है' ऐसा पश्चिमी-विद्वानोंका कथन भी खण्डित होगया। अब शवरी तथा श्रीवाल्मीकि तथा जानश्रुति के शूद्रत्वाऽशूद्रत्व-विषयों पर निर्णय लिखकर अन्तमें 'उवट-महीधरके मतमें शूद्रको यज्ञाधिकार (?)' विषयमें तथा कुछ अन्य विषयोंपर भी प्रकाश करके 'आलोक'-ग्रन्थमालाका यह तृतीय-पुष्प समाप्त किया जायगा।

(३२) क्या शवरी शूद्रा थी?

(१०वीं ऐतिहासिक भूल)

(पूर्वपक्ष) (क) शवरी जब शूद्रा थी, श्रीरामने उसके जूठे बेर भी खाये थे, तब शूद्रोंकी भी द्विजोंसे व्यवहार्यता एवं समता तथा वेदादिमें अधिकार सिद्ध हुआ। (ख) अथवा यदि वह सन्यासिनी थी—तो स्त्रीको यज्ञोपवीत एवं वेदादिका अधिकार भी सिद्ध हुआ। (श्रीभग. श्रीमा. झा शास्त्री, म.म. ज्ये.रा.जोशी शास्त्री आदि)

(उत्तरपक्ष) (क)—'शवरी' शूद्रा थी; इस बातको अस्पृश्योद्धारके इस युगमें खूब बढ़ा-चढ़ा कर वर्णित किया जाता है, परन्तु हमारा विश्वास-है कि यह धारणा भी भ्रान्तिमूलक है, इस असत्प्रचारमें मूल-कारण कुछ-पुराने भक्तोंकी एतद्विषयक सूक्तियां भी हैं। तथा दूसरा कारण शवरीका स्वयं नाम भी है। 'शवरी' भीलनीको कहते हैं। भील-जातिको अन्त्यजों-में गिना जाता है। तब शवरी शूद्रा थी-ऐसा सन्देह स्वाभाविक है। पर वह शूद्रा थी; या नहीं-इस बात के निर्णयके लिए उसका मूल-इतिहास ढूंढना पड़ेगा।

शवरीका श्रीरामसे घनिष्ठ संबंध है, तब शवरीकी वास्तविकताको जाननेके लिए पहले हमें श्रीरामका इतिहास जांचना पड़ेगा। श्रीरामके इतिहासका प्राचीन ग्रन्थ 'श्रीवाल्मीकि-रामायण' है-यह वातिप्रति-वादिसम्मत सिद्धान्त है। शेष रामचरित्रप्रतिपादक सभी ग्रन्थ इसी (वाल्मीकिरामायण) के उपजीवक हैं। उनमें यदि वाल्मीकि-रामायणसे विरुद्धता पाई जाए; तो उन ग्रन्थोंके विरुद्ध अंश माननीय नहीं होंगे। आज हम भी उसी रामायणके आधार पर शवरीका शूद्रत्व खण्डित करेंगे, विद्वान्-पाठकोंका अवधान इधर प्रार्थनीय है।

(१) वाल्मीकिरामायणमें राघववंशके राज्यका वर्णन आता है, उस-में हमें मिलता है कि—उसमें अधर्म अर्थात् धर्म-विरुद्ध व्यवहार प्रचलित नहीं था। सभी वर्ण अपने-अपने धर्ममें शास्त्रप्रोक्त-स्वधर्माचरणमें निरत

थे। इधर रामायणके चरित्रनायक श्रीराम मनुस्मृतिप्रोक्त धर्मके पक्षपाती थे—यह बात वालि-वधके समय कहे हुए श्रीरामके रामायणस्थ-वचनोंसे सूचित होती है। देखिये—

'श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्र-वत्सलौ। गृहीतौ धर्मकुशलैः तथा तच्चरितं मया' (४।१८।३०) (मनुजीने दो श्लोक कहे हैं; जिन्हें धर्मात्मा लोग ग्रहण करते हैं, मैंने भी तदनुकूल आचरण किया है)। वे मनुके दो पद्य जो श्रीरामने कहे थे, वे 'मनुस्मृति' (८।३१६, ३१८) में भी मिलते हैं, रामायण (४।१८।३१-३२) में भी मिलते हैं। जैसे कि—

'राजभिधृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा'। शासनाद्वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते। राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्विषम्'। यह रामायणमें पाठ है (पापयुक्त पुरुषोंको राजा-द्वारा मृत्यु-दण्ड देनेपर वा मूसल मारनेसे मृतक-कल्प होकर बच जानेपर भी पापी लोग निर्मल होकर स्वर्गमें जाते हैं। पापी पुरुष शासन (राजदण्ड) से वा उसके द्वारा छोड़े जानेसे पापसे छूट जाते हैं; परन्तु यदि राजा पापीका शासन नहीं करता, तब उसका पाप राजाको लगता है (वाल्मी. ४।१८।३१-३२)।

वर्तमान-मनुस्मृतिमें रामायणसे थोड़ा पाठ-भेद है, वह अकिञ्चित्कर है। बहुत प्राचीनतामें इस प्रकारके साधारण भेद हो जाने स्वाभाविक हो जाते हैं; क्योंकि—श्रीराम मनुस्मृति खोलकर तो बोल नहीं रहे थे, किन्तु मौखिक ही। अर्थभेद कुछ भी नहीं है। मनुका पाठ यह है—

'शासनाद्वा वियोक्षाद् वा स्तेनः [स्तेन इति सर्वपापस्य उपलक्षणम्] स्तेयाद् विमुच्यते। अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्विषम्' (८।३१६) 'राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा' (३१८)।

इधर श्रीरामने किससे किस कारण प्रेम किया, किसको किस कारण

मारा—यह भी श्रीरामायणद्वारा अनुसंहित करना पड़ेगा, तब हम जाकर शबरीके विषयमें विश्वस्त-निर्णय करनेके अधिकारी हो सकेंगे। आइये 'आलोक' पाठकगण! इस कसौटीको अपनाइये, तब सुवर्णके खरे-खोटे होनेका स्वयं ज्ञान हो जायगा।

(२) श्रीराम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे, यह विश्वविश्रुत है। मर्यादा तोड़नेवालेको वे वध दण्ड भी देते थे—चाहे वह सर्वपूज्य ब्राह्मण ही क्यों न हो, अथवा अवध्या स्त्री ही क्यों न हो—यह भी एक प्रसिद्ध बात है—'हन्त्येष (श्रीराम) नियमाद् वध्यान् अवध्येषु न कुप्यति' (वाल्मी. २।२।४६)। (श्रीराम वधयोगोंको नियमके अनुसार मार देते हैं; पर अवध्य (वधके अयोग्यों) पर क्रोध नहीं करते) रावणको श्रीरामने क्यों मारा, वह तो ब्राह्मण था—चतुर्वेदवित् था! इसलिए कि उसने ब्राह्मणत्व-की मर्यादा तोड़ रक्खी थी। ताटका स्त्रीको क्यों मारा? शूर्पणखा-नामक स्त्रीके नाक-कान क्यों कटवाये? इसलिए कि इन्होंने भी धर्म-मर्यादा तोड़ रक्खी थी। आततायीको दण्ड देकर श्रीरामने—'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवा-विचारयन्' (८।३५०) (गुरु हो, चाहे बच्चा वा बूढा हो, या विद्वान् ब्राह्मण भी हो—यदि वह आततायी (धर्मविरोधी) हो; तो उसे विचार किये बिना ही मार डालो) इस मनुप्रोक्त सिद्धान्तको अर्घ्य दिया।

उसी मर्यादा-पुरुषोत्तमने शम्बूक-शूद्रको क्यों मारा, वह तो तपस्यामें लगा था, जिसका विवरण उत्तरकाण्डके अतिरिक्त 'श्रूयते शम्बुके शूद्रे हते ब्राह्मणदारकः। जीवितो धर्ममासाद्य रामात् सत्यपराक्रमात्' (महा-भारत शान्तिपर्व १५३।६७) इत्यादि ग्रन्थोंमें भी आवृत्त हुआ है। श्रीरामने उसे इसलिए मारा कि—शूद्र होते हुए उसने शास्त्र-विरुद्ध तपस्या की; जिससे एक ब्राह्मणका बालक मर गया।

शूद्रका त्रैवर्णिक-सेवाके अतिरिक्त तपस्यामें अधिकार किसी भी धर्म-शास्त्रमें नहीं बताया गया है। श्रीरामकी उपजीव्य मनुस्मृतिमें स्पष्ट

कहा है-'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया' (१।९१) (प्रभुने शूद्रको केवल एक ही कर्म आदिष्ट किया है कि-वह इन वर्णोंकी निष्कपटतासे सेवा करे) और 'मनुस्मृति' में 'तपः शूद्रस्य सेवनम् (११।२३५) सेवासे भिन्न शूद्रकी तपस्या नहीं मानी गई। 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' (१६।२४) की घोषणा करनेवाली 'श्रीमगवद्‌गीता' ने भी शूद्रोंकेलिए स्पष्ट कहा है-'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्' (१८।४४) यहाँपर भी शूद्रका कर्म सेवा कहा है। तपस्या तो ब्राह्मणका कर्म कहा है-'शमो दमस्तपः शौचं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्' (१८।४२) पर कर्मके आचरणके लिये वहाँ कहा है-'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (३।३५) स्वयं 'रामायण' ने भी शूद्रोंका कर्म सेवा लिखा है—'शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः' (१।६।१९)।

(शूद्र अपने कर्मोंमें लगे हुए थे, तीनों वर्णोंकी सेवा किया करते थे)। इस नियमका कारण यह था कि अयोध्या-नगरी भी मनुजीसे बनाई गई थी। जैसे कि-'अयोध्या नाम नगरी तत्रासीद् लोकविश्रुता। मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्' (वाल्मी. १।५।६) सो यह अयोध्या मनुजीसे बनाई हुई आदिनगरी थी। जब ऐसा है; तब अयोध्या-नगरीके नियम-कानून भी परम्परासे मनुस्मृतिके अनुसार बनाये वा चलाये गये हों-यह स्वाभाविक है।

'मनुस्मृति' में अपने धर्ममें न रहनेवाले शूद्रकेलिए-देखिये क्या लिखा है-'वैश्य-शूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्' (८।४१८) अर्थात् राजाको चाहिए कि शूद्रादिसे अपने कर्मोंको कराये, वे जरा अपने कर्मसे फिसले कि जगत्‌में गड़बड़ी मची। 'मनुस्मृति' राजाके द्वारा शासन करनेमें क्या कहती है, यह भी देखिये-'नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति' (८।३३५) तान् सर्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः' (९।२२४) (जो अपने

धर्ममें न रहे; राजा उसे दण्ड दे सकता है। द्विजका लिङ्ग रखने वाले शूद्रको राजा मरवा दे)

जब इस प्रकार स्वधर्मविरुद्ध आचरण करनेवाले शूद्रका वध धर्म-शास्त्र-सम्मत है, तब उस धर्मशास्त्रके पक्षपाती श्रीरामजीने वैसे शम्बूक-शूद्रका वध कर जहां शास्त्रीय-व्यवहार किया, वहाँ राजकीय नियमका भी ठीक-ठीक पालन किया। तपस्या द्विजका-लिङ्ग है, शूद्रका नहीं।

(३) इससे स्पष्ट है कि-मनुस्मृतिकी मर्यादानुसार चलने वाले श्रीराम शूद्रकी तपस्याको नहीं सह सकते थे। पर उन्होंने शबरीसे तपस्या की वृद्धि पूछी है। देखिये-'कच्चित्ते वर्धते तपः? आहारश्च तपोधने!' (३।७४।८-९) यहाँ उसे 'तपोधना' बताया है। यदि शबरी शूद्रा होती, तो उसे तपोधना वा 'तापसी' (३।७४।१०) न कहा जाता। प्रकृत-स्थलमें शबरीके धर्मचारिणी, धर्मनिपुणा' (१।१।५६) सिद्धा' 'धर्मसंस्थिता' (३।७४।६-७) आदि विशेषण आये हैं।

यदि वह शूद्रा और तपस्विनी होती, तो उसे 'धर्मनिपुणा' न कहकर 'धर्मानभिज्ञा' कहना चाहिए था। वैसे शम्बूक शूद्रके तपस्या करनेसे ब्राह्मण-कुमारकी मृत्यु बताई है; वैसे ही शूद्रा शबरीकी तपस्या करनेपर भी अधर्म होनेसे तत्फलस्वरूप किसीकी अकाल-मृत्यु हो जानी चाहिए थी। पर जब नहीं हुई; तब स्पष्ट है कि-वह शूद्रा नहीं थी; किन्तु ब्राह्मणी थी। पूर्वोक्त भगवद्‌गीताके पद्य (१८।४२) में तपस्या ब्राह्मणका कर्म बताया गया है।

(४) अन्य उपपत्ति यह है कि-शबरीको 'श्रमणी' (३।७३।२६, १।१।५६) कहा गया है। 'श्रमणी' का अर्थ है 'संन्यासिनी'। देखो बृहदारण्यक 'श्रमणोऽश्रमणः' 'तापसोऽतापसः' (४।३।२२) यहाँ श्री-शङ्कराचार्यने 'श्रमणः-परिव्राट् (संन्यासी)' 'तापसः-वानप्रस्थः' अर्थ लिखा है। 'वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा बभूवुः' (तैत्ति.आ. २।७।१) कुमार-श्रमणादिभिः' (पा. २।१।७०) इत्यादि वचनोंमें 'श्रमण' शब्द संन्यासी-

वाचक है। संन्यासाश्रमका अधिकार ब्राह्मणको ही होता है। जैसे कि–मनुस्मृतिमें कहा है–'**ब्राह्मणः** प्रव्रजेद् गृहात्' (६।३८)। विष्णुस्मृतिमें कहा है–'परिव्रज्याश्रमप्राप्ति**र्ब्राह्मणस्यैव** चोदिता' (५।१३)। 'वैखानस-गृह्यसूत्र' में कहा है–'**ब्राह्मणस्या**ऽऽश्रमाश्चत्वारः' (१।१।१०) क्षत्रियस्याद्यास्त्रयः। (११) वैश्यस्य आद्यौ (१२); यहांपर **शूद्रका किसी आश्रमका वैध विधान** नहीं कहा है।

'शुक्रनीति' में कहा है–'**चत्वार आश्रमाश्चैते ब्राह्मणस्य** सदैव हि। अन्येषामन्त्यहीनाश्च क्षत्रविट्-शूद्रकर्मणाम्' (४।३४०) 'वर्तयन्त्योन्यथा दण्ड्या या वर्णाश्रमजातयः' (४।३४२) यहाँ तो स्पष्ट ही **शूद्रादिको संन्यासाश्रम लेनेपर दण्ड-विधान** कहा है। तब स्पष्ट है कि संन्यासिनी-शबरी **शूद्रा नहीं** थी।

(ख) शेष है शबरीका संन्यास। सो स्त्रीका संन्यासका वैध अधिकार' नहीं होता, अतः इसे गार्गी आदि ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी तरह **अपवाद ही** समझना चाहिये, पर इससे स्त्रीका उपवीत एवं वेदादिका अधिकार नहीं हो जाता। संन्यासीको तो वेदाधिकारप्रद यज्ञोपवीतका एवं वैदिक-यज्ञोंका ही त्याग करना पड़ता है; तब उसके दृष्टान्तसे स्त्रीका वेद एवं यज्ञोपवीतका अधिकार कैसे सिद्ध हो सकता है? स्त्रीका पतिसम्बन्ध (विवाह) ही उपनयन हुआ करता है, सो संन्यासमें उसका वैधव्य अथवा **पतिसम्बन्ध त्याग देना ही उपनयन-त्यागरूप** संन्यास होता है। अतः यहाँ किसी भी शंकाका अवसर नहीं।

'न वेद-व्यवहारोऽयं संश्राव्यः **शूद्रजातिषु। तस्मात्** सृजापरं वेदं **पञ्चमं सार्ववर्णिकम्**' (१।१२) 'नाट्यशास्त्र' (भरतमुनि) के इस वचनसे **शूद्रका चार वेदोंमें** अधिकार नहीं; तब शबरीके वेदाधिकारित्वरूप एक-देशी पक्षमें तो उसकी **शूद्रत्व-प्रसक्ति सर्वथा नहीं**। जहाँ-कहीं शूद्रका वेद-श्रवण दीखे; वहाँ '**नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं-करोम्यहम्**' (नाट्यशास्त्र १।१५) नाट्यशास्त्ररूप अथवा पुराणेतिहासरूप-**पञ्चम-वेदका** श्रवण

समझना चाहिये। अस्तु।

(५) पहले कहा जा चुका है कि–श्रीरामका व्यवहार 'मनुस्मृति' के अनुसार था, जैसे कि–उन्होंने बालीको स्वयं कहा था–'श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ। गृहीतौ धर्मकुशलैः तथा **तच्चरितं मया**' (४।१८।३०) रामायणमें मनुके कहे हुए वे दोनों पद्य 'मनुस्मृति' में यथास्थान मिलते भी हैं। कीजिये दोनोंकी तुलना–(वाल्मी. ४।१८।३०-३१-३२ मनु. ८।३१६,३१८)। शबरीको यदि भिल्ल-जाति की माना जाय, तो वह शूद्रवर्णकी भी नहीं रहेगी, किन्तु अवर्ण एवं **अन्त्यज** मानी जायगी। 'व्यासस्मृति' (१।१२-१३) में भिल्लको **अन्त्यजोंमें** गिना गया है। 'अमरकोष' (२।१०।२०) में शबरीको चाण्डालके भेदोंमें बताया गया है। 'स्त्री-शूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः' (२७।४६) इस श्रीमद्भागवतके पद्यमें 'शबर'को 'शूद्र' से पृथक् गृहीत किया गया है। यह ठीक भी है; क्योंकि शूद्र 'वर्ण' है, शबर 'अवर्ण' है।

जब इस प्रकार 'शबर' चाण्डाल सिद्ध हुआ; तब यह जानना पड़ेगा कि 'मनुस्मृति' चाण्डालको स्पृश्य मानती है; या अस्पृश्य? उसमें कहा है–'दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतकां तथा। शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा **स्नानेन शुध्यति**' (५।८५) यहाँपर चाण्डाल (दिवाकीर्ति) को अस्पृश्य कहा है। तब मनुस्मृत्यनुसारी **मर्यादा-पुरुषोत्तम**-श्रीरामने उस चाण्डालीको अपना **पांव क्यों छूने दिया?** क्यों उसका आचमन-जल स्वीकार किया? जब किया है, तो स्पष्ट है कि–वह शबर-जातिकी नहीं थी, किन्तु श्रीराम-भक्ता ब्राह्मणी थी।

(६) इस पर कहा जा सकता है कि–'जब श्रीरामने निषाद-गुहका आलिङ्गन किया और निषाद चाण्डालको कहते हैं, (अमर. २।१०।२०) तब चाण्डाली-शबरी भी उनका चरण-स्पर्श कर सकती थी।' इसपर यह जानना चाहिये कि निषाद दो प्रकारका होता है। एक अनुलोमज,

दूसरा प्रतिलोमज। प्रतिलोमज-निषाद तो चाण्डाल एवं अस्पृश्य होता है, यह ठीक है, पर अनुलोमज वैसा नहीं। अनुलोमज-निषादका दूसरा नाम 'पारशव' होता है, देखिये 'मनुस्मृति'।—

'निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते' (१०।८) यह अनुलोमज-निषाद दाश (कैवर्त) का उत्पादक होता है, देखिये-मनुस्मृति (१०।३४)। मनुस्मृतिके अनुसार उसके बाल-बच्चे नौकर्मजीवी (नौका चलाने वाले) होते हैं। मेदिनीकोषके-'निषादः स्वरभेदेपि चण्डाले, धीवरान्तरे' इस वचनमें निषाद चण्डालसे भिन्न धीवर (मल्लाह) का नाम भी आया है; इसलिए 'रामायण' में भी उनका काम नौकाओंका चलाना दिखलाया गया है।

यदि वह निषाद चाण्डाल होता, तो 'मनुस्मृति' के अनुसार—'अवान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः' (१०।५५) 'वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया' (१०।५६) इस प्रकार निःस्वामिक मुर्दोंका उठाना उसका कर्म होता, पर रामायणके निषादके ये कर्म नहीं बताये गये, किन्तु नौजीवन ही कर्म बताया है। इसलिए वह चाण्डाल भी नहीं; यह स्पष्ट है। 'मनुस्मृति' के अनुसार आचारवाले श्रीराम निषाद-गुहके चाण्डाल होनेपर उसके साथ स्पर्श तक न करते। इससे स्पष्ट है कि—रामाणीय-निषाद अनुलोमज है, प्रतिलोमज नहीं। इसलिए वह स्पृश्य है, अस्पृश्य नहीं। पर शवरी यदि चाण्डाली है; तो मर्यादा-पुरुषोत्तम राम, प्रतिलोमज होनेसे उसका स्पर्श स्वीकृत न करते। यदि किया है; तो स्पष्ट है कि—वह चाण्डाली नहीं, किन्तु तपस्विनी ब्राह्मणी थी, यह सिद्ध हो गया।

(७) अनुलोमज होनेसे स्पृश्य होने पर भी शूद्रसधर्मा होनेसे निषादसे श्रीरामने कोई वस्तु नहीं ली, बल्कि—'अरित चैतन्मूल-फलं निषादैः स्वयमर्जितम्' (वाल्मी. २।८४।१७) यह उसकी फलादि-सामग्री भी नहीं ली। मित्रताके नातेसे केवल इतना कह दिया कि—'यत् त्विदं भवता

किञ्चित् प्रीत्या समुपकल्पितम्। सर्वं तदनुजानामि, नहि वर्ते प्रतिग्रहे' (२।५०।४३) (तुमने जो कुछ प्रीतिसे दिया है, उसका मैं तिरस्कार तो नहीं करता हूं, पर उसे ले नहीं सकता।) बल्कि जल भी उससे न लेकर लक्ष्मणका लाया ही पिया—'ततश्चीरोत्तरासङ्गः सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम्। जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम्' (२।५०।४८)।

पर शवरीका आचमन भी स्वीकार किया, वन्यफल भी स्वीकृत किये, इससे स्पष्ट है कि—वह चाण्डाली नहीं थी; किन्तु रामभक्ता ब्राह्मणी थी। जब श्रीरामने सवर्ण शम्बूक शूद्रको भी 'दण्डेनैव तमप्योषेत् स्वकाद् धर्माद्धि विच्युतम्' (मनु. ९।२७३) तपस्या करनेसे दण्डित किया; तब अवर्णा शवरीको [यदि वह भीलनी है] स्वधर्म-विरुद्ध आचरण करनेपर बिना दण्डके क्यों छोड़ दिया? स्त्री होनेका व्याज तो व्यर्थ है—स्मरण कीजिये इसपर ताटका एवं शूर्पणखाको। बिना दण्ड दिये शवरीको तपस्यासे स्वर्ग देनेसे सिद्ध होता है, कि वह ब्राह्मणी थी।

(८) पाठकोंको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि—शवरी यह उसकी जाति नहीं थी; किन्तु यह नाम था। जैसेकि—'मृच्छकटिक' के प्रणेताका 'शूद्रक' यह नाम था, जाति नहीं। रामायणके पात्र शवरीके गुरुका 'मतङ्ग' यह नाम था, जाति नहीं। 'मीमांसादर्शन' के भाष्यकार 'शवराचार्य' का जैसे यह नाम था, जाति नहीं; वैसे ही शवरी यह भी उसका नाम था, जाति नहीं। तभी 'वाल्मीकि-रामायण' में भी 'श्रमणी शवरी-नाम काकुत्स्थ! चिरजीविनी' (३।७३।२६) इस स्थलमें उसका 'शवरी' यह 'नाम' आया है, जाति नहीं।

जैसे उपनयनमें कहा जाता है—'को नामासि', वैसे यहाँ भी 'शवरी-नाम' कहा है। इसी प्रकार 'अयोध्या नाम नगरी' (वाल्मी. १।५।६) 'रावणो नाम भद्रं ते' (३।४८।२) 'गुहो नाम' (२।५०।३३) एतदादि स्थलोंमें भी 'नाम' शब्द 'नाम' वाचक है। अथवा 'नाम' शब्द प्रसिद्धार्थक भी हो; वह भी एतदादि-अवसरपर नाममें ही प्रयुक्त होता है। अथवा

'शवरीनाम' यह समस्त-पद भी हो; तब 'अनो बहुव्रीहे:' (पा. ४।१।१२) इससे ङीप्का निषेध हो गया। दीर्घका अभाव तो आर्ष होनेसे हुआ; अथवा रामायणके पाणिनिसे पूर्वजताके कारण हुआ।

श्रमणीका अर्थ है 'तापसी'। जैसे शतपथमें 'श्रमणोऽश्रमण:' (१४।७।१।२२) 'वातरशना ह वा ऋषय: श्रमणा: ऊर्ध्व-मन्थिनो बभूवु:' (तै.आ. २।७।१) यहाँपर भी 'श्रमणा:' का 'तापसी' अर्थ है। इसी प्रकार 'कुमार-श्रमणादिभि:' (पा. २।१।७०) यहां भीं 'कुमारी-श्रमणा यह उदाहरण दिया है। सो 'तापसी' अर्थ है। रामायणमें 'निषाद' यह जाति-शब्द है, किन्तु उसका नाम 'गुह' बताया है। यदि 'शवरी' यह जातिनाम अभीष्ट होता, तो रामायणकार उसका पृथक् नाम भी निषाद-गुहकी भान्ति अवश्य बताते; क्योंकि—जातिनाम केवल देनेकी रामायण-कारकी शैली नहीं।

(६) शेष प्रश्न यह रह जाता हैं कि—शबरी यदि वह ब्राह्मणी है; तो उसे कहीं-कहीं 'हीनजातिसमुद्भवा' 'अधमजन्मा' 'जातिहीन' 'हीनजन्मा' 'अधजन्मा' आदि क्यों कहा है? इसपर उत्तर यह है कि—स्त्रीजाति पुरुषजातिकी अपेक्षा हीनजाति मानी गयी है; क्योंकि—कई पाप करनेसे ही पुरुष दूसरे जन्ममें स्त्री बनता है। तभी तो गोस्वामी-तुलसीदासको भी स्त्रीजातिकी हीनता बतानेकेलिए शबरीके मुखसे—'अधम ते अधम, अधम अति नारी' यह कहलाना पड़ा। उसे (स्त्री)को यज्ञोपवीतका अधिकार भी नहीं; इसीलिए ही उसे कहीं शूद्रा, कहीं शूद्रसदृशी तथा हीनजाति कहा जाता है—

'येपि स्यु: पापयोनय:। स्त्रियो वैश्या (वेश्यापुत्रा-) स्तथा शूद्रा:' (गीता ९।३२) यहाँ पर स्त्रीको पापयोनियों अथवा निकृष्टोंमें रखा गया है। 'स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवा:' (श्रीमद्भाग. २।७।४६)। यहाँ स्त्रीकी भी पापजीवोंमें गणना की गई है। स्त्रीका शूद्रोंसे साहचर्य तो प्राय: शास्त्रोंमें आता ही है; तब शवरीकेलिए प्रयुक्त 'अधजन्मा'

आदिका समाधान तो हो गया। यह वेदसिद्ध भी है।

कृष्णयजुर्वेदमें कहा है—'तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात् पुंस उपस्तितरं वदन्ति' (तै.सं. ६।५।८।२) यहाँ श्रीसायणभाष्यमें लिखते हैं—'तस्माल्लोके स्त्रिय: सामर्थ्यरहिता अपत्येषु दायभाजो न भवन्ति। पापात् पतितादपि पुंसोपि उपस्तितरं—क्षीणतरं स्त्रीस्वरूपं वदन्ति'। तब ब्राह्मणी-पक्षमें भी उसे 'अधजन्मा' आदि कहा जा सकता है।

(१०) शवरीकेलिए प्रयुक्त 'श्रमजीविनी' शब्द भी उसे शूद्र सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं, 'श्रम: तपसि खेदे च' इस कोषके प्रमाणसे, तथा 'श्रमु तपसि खेदे च' इस दिवादिगणीय धातुपाठमें कहे हुए अर्थविशेषसे 'श्रमजीविनी' का 'तपस्विनी' अर्थमें पर्यवसान हो जाता है। इसीका अन्य पर्याय 'श्रमणी' भी प्रसिद्ध है। 'तपसा श्राम्यतीति श्रमणा' (तिलक. १।१।५६)।

इस प्रकार रामचरित-प्रतिपादक प्राचीन-ग्रन्थ 'श्रीवाल्मीकिरामायण'-के अनुसार 'शवरी' यह उसका नाम सिद्ध हुआ; तदनुसार वह ब्राह्मणी सिद्ध हुई, शूद्रा नहीं। तदनुसार ही अर्वाचीन इतिहासोंमें भी शवरी-विषयक इतिहासोंको रामायणानुकूल ही समन्वित करना ठीक है। भक्ति मार्ग के कई अर्वाचीन-ग्रन्थोंमें तो शूद्रोंमें भी भक्तिभावको फैलाने के उद्देश्यसे कई प्राचीन-भक्तोंको प्राचीन-ग्रन्थोंके विरुद्ध चाण्डाल कह डाला है! ब्राह्मण अजामिलको भी उनमें शूद्र बताया गया है; जबकि यह श्रीमद्भागवतसे विरुद्ध है। उक्तग्रन्थ अर्वाचीन भक्तिमार्गके हैं। भक्तिके अर्थवादस्वरूप वहाँ भगवद्भक्त अन्त्यजोंका उच्छिष्ट द्विजोंको भी खिलाया गया है; जबकि यह धर्मशास्त्रोंसे विरुद्ध है। अत: ऐतिहासिकतामें उन ग्रन्थोंका अव्याहत-प्रामाण्य भी नहीं है।

फलत: 'शवरी शूद्रा थी' यह बात रामचरित्रके सब ग्रन्थोंके उपजीव्य श्रीवाल्मीकिरामायणसे विरुद्ध है; अत: माननीय नहीं। इस कसौटीसे उन्हें इस सोनेके खरे-खोटे होनेका पता चल सकेगा। प्रसिद्धिके पीछे

नहीं दौड़ना चाहिये। इसीलिए 'आनन्दरामायण' के राज्यकाण्डमें उसकेलिए लिखा है—'न सा दासी (शूद्रा) तु शवरी मुनिसेवन तत्परा' (३।४४)।

(११) श्रीराम-द्वारा शवरीके जूठे वेर खाने पर भी विचार किया जाता है। भक्तोंकी सूक्तिमें प्रसिद्ध है–'कैसे तुम भीलनीके जूठे वेर खाये हों'। इस विषयमें यह जानना चाहिये कि वाल्मीकि-रामायणमें तो वेरों का नाम ही नहीं है। वहाँ पर तो–'मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ! तवार्थे पुरुषव्याघ्र! पम्पायास्तीरसम्भवम्' (३।७४।१७) यह कहा है। उच्छिष्टकी तो यहाँ गन्ध भी नहीं है। वेर तो आजकल मुसलमानोंसे भी ले लिये जाते हैं।

'अध्यात्मरामायण'में भी उच्छिष्टका गन्ध नहीं है, देखिये–'संगृहीतानि दिव्यानि रामार्थं शवरी मुदा। फलान्यमृत-कल्पानि ददौ रामाय भक्तितः'। कई लोग–'फलानि च सुपक्वानि मूलानि मधुराणि च। स्वयमास्वाद्य माधुर्यं परीक्ष्य परिभक्ष्य च ॥ पश्चान्निवेदयामास राघवाभ्यां दृढव्रता। फलान्यास्वाद्य काकुत्स्थस्तस्यै मुक्तिं परां ददौ' ॥ इस 'पद्मपुराण' (?) के वचनसे अपने पक्षकी पुष्टि देखते हैं। इसमें शवरी-द्वारा फलोंका स्वयं खाना तथा माधुर्यकी परीक्षा करना कहा है। पर यहां पर जानना चाहिए कि यहाँ उच्छिष्टका गन्ध भी नहीं है। किसी आम-वेर आदिके वृक्षोंके फलोंके खट्टापन वा मिठास जाननेका प्रकार यह है कि स्थाली-पुलाक-न्यायसे उस-उस वृक्षका एक-एक फल खाना पड़ता है, उसीसे ही उन-उन वृक्षोंके अन्य सब फलोंका खट्टापन वा मिठास मालूम पड़ जाता है।

शवरीने भी इसी प्रकार परीक्षा की; तब यहां साधारणरूपसे उच्छिष्टता होने पर भी वस्तुतः उच्छिष्टता नहीं। हमें भयानक-गर्मीमें अतिथिविशेषकी ठंडे जलसे सेवा करनी है। हमारे पास पांच-छः कुंए हैं। क्रम-क्रमसे हम उन कुओंसे जल निकाल कर स्वयं पीते हैं; और

जांच करते हैं कि–किस कुएंका जल अधिक शीतल है। जिस कुएंका जल अधिक शीतल सिद्ध होता है, उसी कुएंका जल कुएंसे निकाल कर अतिथियोंको उपहृत किया जाता है। पर इससे वह जल उच्छिष्ट कहा जा सकने पर भी वास्तवमें उच्छिष्ट नहीं होता।

इस प्रकार जब सब वृक्षोंके एक-एक फलके खानेसे उनका मिठास जानकर उस वृक्षके अन्य-फल किसीको दिये जाएं, वहाँ पर उन अन्य फलोंकी वास्तविक-उच्छिष्टताका अवसर ही उपस्थित नहीं होता। आधा स्वयं खाकर आधा श्रीरामकेलिए रखना माना जाए; तो यह नहीं हो सकता; क्योंकि वैसा फल शीघ्र विकृत हो जाता है, और सूख भी जाता है। इसी प्रकार–'कन्दमूल फल सरस अति दिये राम कहं आनि। प्रेम सहित प्रभु खायउ बारहिं बार बखानि।' "तुलसीरामायण" के अरण्यकाण्ड-स्थित इस दोहेमें भी उच्छिष्टताका गन्ध नहीं। इस प्रकार अन्य ग्रन्थोंमें भी जानना चाहिए। जहाँ जूठे वेर लिखे हों, वहाँ पूर्व-कहे प्रकारसे ही जान लेना चाहिये कि वहां वास्तविक जूठापन नहीं। तब वादियोंका मत सर्वथा उच्छिन्न हो गया।

---

(३३) क्या श्रीवाल्मीकि चाण्डाल थे ?
(११वीं ऐतिहासिक भूल)

पूर्वपक्ष –श्रीवाल्मीकि चाण्डाल थे—भंगी उन्हींके नामसे वाल्मीक कहे जाते हैं, वे तपस्वी एवं मुनि थे; वेदज्ञ थे; तब शूद्रोंका भी वेदाधिकार सिद्ध हुआ। (आजकलके सुधारक)

उत्तरपक्ष—अन्त्यजोद्धारके इस समयमें पुराने मुनियोंको ढूंढ़-ढूंढ़कर उन्हें शूद्र-अन्त्यज सिद्ध करनेकी चेष्टा की जा रही है। उससे प्रसिद्ध श्री-वाल्मीकि मुनि भी नहीं बच पाये। उन्हें 'भंगी' कहा जाता है। पर यह बात सर्वथा निर्मूल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि–उनका कुछ समय

कुसंगतिमें अवश्य बीता, पर वे थे ब्राह्मण ही। 'आलोक' के पाठक अवधान दें।

(१) श्रीवाल्मीकि-रामायणके कर्ता श्रीवाल्मीकि-मुनि माने जाते हैं। तब उस रामायणसे उनका जो परिचय मिले, वह समूल कहा जावेगा। वाल्मीकि-रामायणके अन्तमें कहा है—'कृतवान् प्रचेतसः पुत्रस्तद् ब्रह्माप्यन्वमन्यत' (७।१११।११) इसमें रामायणके कर्ता श्रीवाल्मीकिको **प्रचेताका पुत्र** कहा गया है। इसलिए ही श्रीवाल्मीकिकी 'प्राचेतस' यह संज्ञा प्रसिद्ध है। जैसा कि–'मुनिः प्राचेतसस्तदा' वाल्मी. (७।९३।१६) प्रचेताको मनुस्मृतिके–'मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च' (१।३५) इस पद्यमें ब्रह्मा वा मनुका पुत्र कहा गया है। तब ब्रह्मा वा मनुके पुत्र **प्रचेताके लड़के** वाल्मीकि भंगी कैसे हो सकते हैं?

अश्वमेधयज्ञके समय जब श्रीवाल्मीकि-मुनि सीताको साथ लाए, तब उन्होंने अपना परिचय दिया कि–'**प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो** राघवनन्दन ! न स्मराम्यनृतं वाक्यम्' (७।९६।१८) (मैं प्रचेताका दसवाँ पुत्र हूं, आज तक मैंने असत्य कभी कहा हो; यह मुझे स्मरण नहीं आता) यही श्लोक अध्यात्म-रामायण (७।७।३१) में भी मिलता है। इसमें वाल्मीकिने अपने आपको प्रचेताका दसवां पुत्र कहा है। प्रचेताका परिचय दिया ही जा चुका है। इससे वाल्मीकि स्पप्टतया **ब्राह्मण** सिद्ध हुए।

(२) अध्यात्मरामायणमें वाल्मीकिकी कुसङ्गतिका वृत्त इस प्रकार दिया गया है–'अहं पुरा किरातेषु किरातैः सह वर्द्धितः। **जन्ममात्रं द्विजत्वं** मे शूद्राचाररतः सदा' (अयोध्याकाण्ड ६।६५) यहाँपर वाल्मीकिजीने श्रीरामको स्वयं वताया है कि–मैं **जन्ममात्रसे ब्राह्मण हूं**, छोटी आयुमें मैं किरातों (भीलों) में रहा, मेरे शूद्रों-जैसे आचार रहे। फिर वाल्मीकिजी-ने बताया कि–मैंने विवाह भी एक शूद्रा-स्त्रीसे कर लिया। उससे कई लड़के भी हुए, जैसा कि—

'शूद्रायां वहवः पुत्रा उत्पन्ना मेऽजितात्मनः। ततश्चौरैश्च संगम्य चौरोऽहमभवं पुरा' (२।६।६६) (मुझ अजितेन्द्रियके शूद्रामें वहुतसे लड़के हुए। फिर चोरोंसे मिलकर मैं भी चोर रहा) इससे स्पष्ट सिद्ध हुआ कि वाल्मीकि जन्मसे ब्राह्मण थे। परन्तु भीलोंकी कुसङ्गतिसे शूद्रों-वाला व्यवहार करने लगे थे, शूद्रासे विवाह कर लिया, कई लड़के भी हो गये। यहां वाल्मीकिने अपने-आपको '**अजितात्मा**' कहा है। यदि वह शूद्र होते, तो **शूद्रामें सन्तान पैदा** करनेसे अपने आपको '**अजितात्मा**' न **कहते**। ब्राह्मण होनेपर शूद्रोंमें सन्तान पैदा करनेसे उन्हें अपनेको '**अजितात्मा**' **कहना** सार्थक है। इससे स्पष्ट है कि वे जन्मसे ब्राह्मण हैं। अस्तु।

चोरी करते हुए उन्हें मुनि मिले। 'दृष्ट्वा मां मुनयोपृच्छन् किमायासि **द्विजाधम** !' (अध्यात्मरामा. (२।३।६९) 'दुर्वृत्तोऽयं **द्विजाधमः**' (७८) (अपने सामने आते हुए देखकर मुझे मुनि कहने लगे-ऐ नीच ब्राह्मण ! तू क्यों आ रहा है?) यह नीच ब्राह्मण वहुत बुरे आचार वाला है) इत्यादि-श्लोकोंमें मुनियोंने उसे चोरी आदि करनेसे **अधम-ब्राह्मण** कहा। इससे स्पष्ट हुआ कि वाल्मीकि जन्मसे ब्राह्मण थे, परन्तु कुसङ्गतिमें पड़कर शूद्रोंके काम करने लग पड़े थे। वे जन्मसे शूद्र नहीं थे–यह बात सिद्ध हो गई।

'वाल्मीकिर्यस्य चरितं चक्रे भार्गवसत्तमः' (मत्स्य-पुराण १२।५१) के इस पद्यमें वाल्मीकिको **भार्गव** कहा गया है। विष्णुपुराण तृतीयांश तृतीयाध्यायमें भी कहा गया है–'ऋक्षोऽभूद्भार्गवस्तस्माद् वाल्मीकिर्योऽभि-धीयते' भार्गव शब्द पर वाल्मी. रामायणके रामाभिरामी टीकाकारने लिखा है–'प्राचेतसत्वेन अस्यापि भार्गवत्वम्, भृगोर्वरुणपुत्रत्वाद्, भृगो-र्भ्राता भार्गव इत्यन्ये, (७।९४।२५) अर्थात् प्रचेता वरुणको कहते हैं, इधर भृगु वरुणका पुत्र है, भृगुके भ्राता होनेसे वाल्मीकिको भार्गव कहते हैं; और प्रचेता **आदिम प्रजापति** थे, तव प्राचेतस-वाल्मीकि चाण्डाल

कैसे हो सकते हैं ?

स्कन्दपुराण (५।१।२४, ७।१।२७८) में वाल्मीकि सुमति-नामक ब्राह्मण के पुत्र कहे गये हैं, तथा ब्रह्मर्षि भी। परन्तु श्रीमद्भागवतपुराणकी एक-टीकामें 'श्वादोपि सद्यः सवनाय कल्पते' (३।३३।६) इस पद्यकी टीकामें यह शब्द मिले हैं—'स्मरणस्य तु वाल्मीकेः। स हि चाण्डाल एव मार्ग-घातकः। ऋषेरुपदेशात्पूर्वं महर्षित्वभावनां कृत्वा पश्चाद् रामस्मरणेन तस्मिन्नेव जन्मनि वाल्मीकिर्जातः इति न किञ्चिदनुपपन्नम्।' (नामस्मरण का उदाहरण वाल्मीकि है। वह राहजन चाण्डाल था, ऋषिके उपदेशसे पूर्व उसने महर्षि बननेकी भावना की। फिर रामके स्मरणसे उसी जन्ममें ब्राह्मण हुआ—इसमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं है) पर यह शब्द विश्वसनीय नहीं जान पड़ते, क्योंकि पूर्वोक्त प्रमाणोंमें वाल्मीकि **जन्मसे ब्राह्मण** माने गये है। उसी टीकामें 'सद्यः' का अर्थ 'तदुत्तरजन्मनि' (उससे अगले जन्ममें) किया गया है।

'सद्यः' के भावमें गम्भीरता है। उसका भाव यह है कि—वैसे तो शूद्र-आदिसे ब्राह्मण होना बहुजन्मसाध्य है, जैसे कि—महाभारतके अनुशा-सनपर्व (२८।६-७-८-९-१०-११) में पशुपक्षी योनिसे बहुत जन्मोंके बाद चाण्डाल होना, चाण्डालका सहस्र जन्मोंके बाद शूद्र बनना, शूद्रकी ३० जन्मोंके बाद वैश्य-वर्णमें उत्पत्ति, वैश्यका साठ जन्मोंके बाद क्षत्रिय होना, फिर क्षत्रियका साठ जन्मोंके बाद ब्राह्मण होना कहा है, परन्तु हरिके अनन्य-भक्त श्वपचको 'सद्यः' अर्थात् बहुत जन्मोंको (जैसे कि—श्रीगीतामें कहा है—'प्रयत्नाद् यतमानस्तु:...अनेकजन्मसंसिद्धः' (६।४५) 'बहूनां जन्मनामन्ते' (७।१९) न प्राप्त करके अर्थवादसे साथ वाले जन्ममें सवनाधिकारी (द्विज) हो जाना कहा है।

तब उक्त-टीकाकारको भी नारदकी भांति वाल्मीकि भी पूर्वजन्ममें चाण्डाल अभीष्ट हों—यह सम्भव है, क्योंकि—**उसी जन्ममें जाति-परिवर्तन** नहीं हो सकता, अत एव नारदकी कथा-प्रसंगमें श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'एवं यतन्तं विजने माम् (नारदम्) आहागोचरो गिराम्' (१।६।२१) हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् न मां द्रष्टुमिहार्हति।...हित्वाऽवद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि' (१।६।२६) (इस प्रकार पूर्व-जन्ममें शूद्राके पुत्र नारदको भगवद्दर्शनमें यत्न करते हुए; ब्राह्मण बनना चाहते हुए देखकर आकाशवाणी हुई कि तुम इस जन्ममें मेरा दर्शन नहीं कर सकोगे। इस अधम (शूद्र) शरीरको पूरा करके फिर मेरी जनता (ब्राह्मणत्व) को प्राप्त कर सकोगे)।

श्रीमद्भागवतमें—'चर्षणी वरुणस्यासीद्यस्या जातो भृगुः पुनः। वाल्मी-किश्च महायोगी वल्मीकादभवत् किल' (६।१८।४) यहाँ श्रीधर-व्याख्या यह है—'चर्षणी वरुणस्य भार्यासीत्, पूर्वं ब्रह्मणः पुत्रो भृगुर्यस्यां पुनर्जातः वाल्मीकिर्वरुणस्यैव पुत्रोऽभवत्, एतौ वरुणस्यासाधारणौ पुत्रौ।' (चर्षणी वरुणकी स्त्री थी। पहले ब्रह्माका पुत्र भृगु हुआ था, और फिर जिससे वल्मीकसे बाहर आया हुआ वाल्मीकि उत्पन्न हुआ) यहाँ पर श्रीमद्-भागवतकार जब वाल्मीकिकी उत्पत्ति चाण्डालसे नहीं बताते, तब श्रीमद्-भागवतके उक्त-टीकाकार उसे इस जन्ममें उससे विरुद्ध **चाण्डाल कैसे कह** सकते हैं ? वल्मीकसे श्रीवाल्मीकिकी यह तपस्या अभीष्ट है; जिसके कारण उनपरमट्टी जम गई थी, उसमें वल्मीक (बांबी) बन गये थे, उस वल्मीकसे निकलनेसे उनको वाल्मीकि कहते थे—यह कथा स्कन्दपुराण (१।२४।७। १।२७८) में स्पष्ट है। इस पर रामाभिरामी टीकाकार कहते हैं—

'वाल्मीकिः—वल्मीकस्यापत्यम् 'वल्मीकप्रभवो यस्मात् तस्मात् वाल्मीकि-रित्यसौ' इति ब्रह्मवैवर्तोक्तेः वल्मीक-प्रभवत्वेन गोणीपुत्रादिवद् गौणमस्य वल्मीकापत्यत्वं गृहीत्वा इञ् साधुरपत्यार्थः। यद्वा-वल्मीक इति ऋषिविशे-षस्य संज्ञा इत्यादि' (वाल्मीकि १।१।१) अर्थात् जिस प्रकार शेषके अवतार पतञ्जलि गोणी-नामक स्त्रीके हाथमें सर्परूपमें आ पड़े थे, उनको गौणतासे 'गोणीपुत्र' कहा जाता है, वैसे ही वल्मीकसे निकलनेके कारण गौणरूपसे वल्मीकका अपत्य मानकर इन्हें अपत्यार्थक इञ्-प्रत्ययसे

'वाल्मीकि' यह कहा जाता है, या वल्मीक किसी ऋषि (कदाचित् प्रचेताका) नाम है—उसके अपत्य होनेसे इन्हें वाल्मीकि कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि वे जन्मसे चाण्डाल नहीं थे। हाँ, उक्त टीकाकार-का उन्हें चण्डाल कहना और ढंगसे माना जा सकता है। मार्गघातक कई चाण्डाल-विशेष होते हैं, यह भी उन्हींका कार्य करते थे; जैसा कि हम अध्यात्म-रामायणमें पहले स्पष्ट कर चुके हैं, पर वहाँ उन्हें 'शूद्राचाररत' 'जन्ममात्रसे द्विज' माना है। तब सम्भव है कि मार्गघातक-चाण्डालवत् होनेसे ही उन्हें चाण्डाल कहा गया हो।

जैसे कि महाभाष्यमें कहा गया है—'अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते तद् यथा-एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह, तेन मन्यामहे ब्रह्म-दत्तवद् अयं भवतीति (१।१।२३)। अर्थात् तत्सदृशको भी उस शब्दसे कहा जाता है, जैसे अब्रह्मदत्तको ब्रह्मदत्त कहनेसे उसका भाव ब्रह्मदत्त-सदृशमें पर्यवसित हो जाता है, इस प्रकार अचाण्डालको भी चाण्डाल कहना चाण्डालसदृशमें पर्यवसित हो जाता है, वास्तविक-चाण्डाल होनेमें नहीं। महाभाष्यमें अन्यत्र भी यह स्पष्ट किया है—

'चतुर्भिः प्रकारैः 'अतस्मिन् सः' इत्येतद् भवति' तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यात्। तात्स्थ्यात् तावत्-मञ्चा हसन्ति, गिरिर्दह्यते। ताद्धर्म्यात्-जटिनं यान्तं ब्रह्मदत्त इत्याह। ब्रह्मदत्ते यानि कर्माणि, जटिनि अपि तानि क्रियन्ते इति अतो जटी ब्रह्मदत्त इत्युच्यते। तत्सामीप्यात्-गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकुलम्। तत्साहचर्याद्-कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशय-इति' (४।१।४८) इस सन्दर्भका हिन्दी अर्थ (पृ. ३१२-३१३) में दिया जा चुका है।

तब वाल्मीकि भी भीलोंमें रहते थे, उनके धर्मको करते थे, उनके पास रहते थे, और उनके सहचारी थे। तब इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि—वे इन कारणोंसे 'चाण्डाल' कहे गये हों। परन्तु इसमें वे

'वास्तविक चाण्डाल नहीं थे' यह मानना पड़ेगा, नहीं तो पूर्वके प्रामाणिक वचनोंसे विरोध पड़ता है। तब चाण्डाल उनका गौण, केवल निन्दा-सूचक नाम हुआ, वास्तविक नहीं, जैसा कि—'न्यायदर्शन'में कहा है-'प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देन अनुवादः, निन्दाप्रशंसोपपत्तेः' (४।१।६०) (जहाँ प्रधान-शब्द संगत न हो सकता हो, वहाँ निन्दाआदिसे गुणवाद-रूप अर्थवाद हुआ करता है)।

अथवा उनकी चाण्डालप्रसिद्धिका एक अन्य कारण भी हो सकता है। मनुस्मृतिमें कहा है—'शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्। जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते, (३।१७) अर्थात् शूद्रासे संतान पैदा करनेसे—ब्राह्मणत्वकी हानि होती है। अध्यात्मरामायणके वचनसे बताया जा चुका है कि—वाल्मीकिके शूद्रासे विवाह कर रखा था, उससे कई लड़के भी पैदा हो गये थे, तब ब्राह्मण्यकी भ्रष्टतासे उसे कर्मचाण्डाल कहीं कहा गया हो; यह सम्भव है। पर पातित्यमें भी जाति नहीं जाती, यह शास्त्रीय मत है। तभी तो उक्त अध्यात्मरामायणके वचनमें कहा है—'जन्ममात्रं द्विजत्वं मे'।

इसके अतिरिक्त चाण्डाल होता है ब्राह्मणीकी शूद्रपतिसे उत्पन्न सन्तान; परन्तु न यह बात वाल्मीकिमें घटती है, न वाल्मीकिके पितामें। तब चाण्डालोंने उनसे अपना सम्बन्ध कैसे जोड़ लिया? उसकी शूद्रा स्त्रीके सन्तान पारशव तो माने जा सकते हैं, चाण्डाल नहीं।

यहाँ पर यह भी जानना चाहिये कि—ब्राह्मणको भी कहीं-चाण्डाल कहा जा सकता है, वहाँ पर चाण्डाल-शब्द वास्तविक नहीं होता, किन्तु पारिभाषिक होता है। देखिये इस पर अत्रिस्मृति—'देवो, मुनिर्द्विजो, राजा वैश्यः, शूद्रो, निषादकः। पशुर्म्लेच्छोऽपि, चाण्डालो विप्रा दशविधाः स्मृताः (३७१, अत्रिसंहिता ३७३) यहां पर ब्राह्मणके दश भेद कहे गये हैं। उसमें ब्राह्मणका एक भेद 'पशु' भी कहा गया है, तो क्या वादी-लोग उसे वास्तवमें 'पशु' मानकर उस दिनसे उसे खली-भूसा खिलाना

प्रारम्भ करेंगे ? यदि नहीं; तो इसी प्रकार ब्राह्मणको वहाँ चाण्डाल कहने-पर भी उसे वास्तविक चाण्डाल नहीं समझना चाहिये, किन्तु उसे पारिभाषिक शब्द समझना चाहिये ।

वह परिभाषा यह है—'क्रियाहीनश्च मूर्खश्च सर्वधर्मविवर्जितः । निर्दयः सर्वभूतेषु विप्रश्चाण्डाल उच्यते' अत्रिस्मृति ३८१ (अत्रिसंहिता ३८३) यह लक्षण 'शूद्राचाररत' जन्म-ब्राह्मण-वाल्मीकिमें घट जानेसे उसे कहीं चाण्डाल कहा गया हो, यह सम्भव है, पर यह वास्तविक-चाण्डाल सिद्ध न हुए; किन्तु जन्म-ब्राह्मण ही सिद्ध हुए । मत्स्यपुराणमें वरुणका वीर्य वल्मीकमें गिरनेसे यह वरुणपुत्र थे—ऐसा सूचित किया है ।

अथवा यहाँ अन्य रहस्य भी हो सकता है, वह यह है कि—वाल्मीकि दो हैं, एक महर्षि वाल्मीकि, दूसरे श्रीवाल्मीकि । श्रीनाभाजीसे बनाई 'भक्तमाला' पुस्तकमें जिसकी श्रीप्रियादासने टीका लिखी है—दो वाल्मीकियोंका निरूपण किया है । वहाँ उनने ६१ संख्या वाले पहले श्रीवाल्मीकिके विषयमें लिखा है कि—'आदिकवि श्रीवाल्मीकि थे तो ब्राह्मण, परन्तु भीलके द्वारा पाले गये, भीलनी हीसे उनका विवाह हुआ; पथिकोंको मारना-लूटना ही उनका उद्यम रहा । करुणाकर हरिकी इच्छासे एक दिन सप्तर्षि उसके सामने आये ।

इनको भी जब उसने लूटना चाहा; तब उन महात्माओंने ऐसा उपदेश दिया कि—रे द्विजाधम ! 'जो तेरे यम-दण्डमें भागी होइ न कोई । तो कत ही जत पाप हठि घोर दण्ड जिहि होई' इत्यादि । श्रीसीतारामकी कृपासे महाभागवत सप्तर्षियोंके दर्शन और सम्भाषणसे उसकी किरात-बुद्धि हट गई, विरक्ति और सुबुद्धि उत्पन्न हुई । वह वहाँ मरा-मरा जपते हुए ठहरे । बहुत समय बीतने पर वे सप्तर्षि फिर वहाँ आये । उसे उन्होंने वल्मीक (बांबी) में ढूंढा, और उसका नाम 'वाल्मीकि' रखा ।

दूसरा ६२ संख्या वाला वाल्मीकि भी 'भक्तमाला' में वर्णित किया गया है, वह वहां श्वपच (चाण्डाल) बताया गया है, परन्तु उसे गुप्त-

भगवद्भक्त और नामस्मरण-लग्न स्वीकृत किया गया है । यह सम्भव है कि उक्त टीकाकारका लेख उसी श्वपच (चाण्डाल) वाल्मीकिको अधिकृत करके लिखा गया हो ? वह वाल्मीकिरामायणके कर्त्तासे भिन्न होनेसे उससे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं । सो भंगियोंका उपास्य यही श्वपच वाल्मीकि ही हो सकता है, उनका रामायणकर्त्ता वाल्मीकिसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं; अतः उन्हें यह अपनी भूल सुधार लेनी चाहिये ।

कहीं यह भी लिखा मिला है कि-यह ब्राह्मणपुत्र थे । उसके माता-पिता इसे वनमें छोड़कर तपस्या करने चले गये । तब यह बालक एक-भीलनीको मिला । उसने इसे पाला । उसने इनका नाम 'रत्नाकर' रखा । उसका विवाह भी भीलकन्यासे किया । भिल्लसंसर्गसे यह अपना स्वरूप भी भूल गये, जिसका नारदजीने स्मरण कराकर उद्धार किया ।

फलतः—श्रीवाल्मीकि जन्मसे ब्राह्मण सिद्ध हुए । यद्यपि किरातोंकी सङ्गतिसे वह बाल्यमें अपना स्वरूप भूल बैठे, तथापि ऋषियोंकी सत्सङ्गतिसे फिर सम्भल गये । मलिन सोना फिर स्वच्छ-सुवर्ण हो गया । भारी तपस्या करके इन्होंने पूर्वका प्रायश्चित्त कर डाला । कहावत एक प्रसिद्ध है कि 'सुबहका भूला शामको घर लौट आए, तो भूला नहीं कहा जा सकता' । तब इनको 'भंगी' बताने वाले भारी भूल कर रहे हैं । फिर 'वाल्मीकिका भंगियोंसे सम्बन्ध कैसे हुआ, यह बात विचारणीय है ।

हो सकता है कि-वाल्मीकिके शूद्रा-गर्भज लड़कोंकी परम्परा चल पड़ी हो, और उन्होंने वाल्मीकिकी तपस्या प्रसिद्ध हो जानेके समय अपने आपको 'वाल्मीक' प्रसिद्ध कर डाला हो । पर वे धर्मशास्त्रविरुद्ध होनेसे न्याय्य (जायज) लड़के नहीं थे, तब उनका सुधरे हुए तपस्वी ब्राह्मण-वाल्मीकिसे सम्बन्ध जोड़ना भी व्यर्थ है, क्योंकि—उस समय वे 'रत्नाकर' थे, वाल्मीकि नहीं । अथवा दूसरे श्वपच वाल्मीकिका भक्तमालासे वर्णन भी हम बता चुके हैं, तब भंगियोंका सम्बन्ध उसी वाल्मीकिसे हो, यह सम्भव है । पर वे रामायणकर्ता नहीं थे ।

वस्तुतः स्कन्दपुराण-वैष्णव खण्ड, वैशाखमाहात्म्य २१ अध्यायमें श्रीवाल्मीकिको **पूर्व जन्ममें ही व्याध** बताया गया है, तब दूसरे जन्ममें वल्मीकका पुत्र वाल्मीकि-इस नामसे विख्यात होकर रामकथाका प्रकाशक उसको कहा है, इससे भी वादियोंकी पक्ष-सिद्धि नहीं।

इस अनुसन्धानसे स्पष्ट हुआ कि वाल्मीकि चाण्डाल वा अन्त्यज वा भँगी नहीं थे, वे दिव्य वा **उच्च ब्राह्मण** थे। वे ब्रह्माके पौत्र थे, तभी उनकी रामायणका ब्रह्माजीने रामायणके अन्तिम पद्यके अनुसार अनुमोदन किया। आरम्भमें नारद तथा ब्रह्मा इसी सम्बन्धसे उनके पास गये थे; और उन्हें रामायणके बीज समझाये थे। तब शूद्रोंका वेदाधिकार सिद्ध करनेमें यह उदाहरण भी अकिञ्चित्कर सिद्ध हुआ। अन्त्यजोद्धार-बद्ध-बुद्धि सज्जनोंको उचित है कि उनका मर्यादामें रहकर उद्धार करें, ऋषि-मुनियोंको शूद्र-अन्त्यज सिद्ध कर देनेसे **अन्त्यजोंका उद्धार नहीं होगा।**

श्रीवाल्मीकि रामायण जिसे सभी लोग प्रामाणिक मानते हैं—उसमें तथा पुराण-इतिहासमें एतद्विषयक कोई गन्ध भी नहीं मिलती, न ही किसी अन्य मूलपुस्तकमें ऐसी कोई बात मिली है। तब इन प्रसिद्ध-प्रमाणोंको छोड़ कर अप्रसिद्ध एवं निर्मूल किसी अन्य अनाप्तकी निष्प्रमाण बातोंको मान्य कर लेना अपना अविवेक प्रकट करना है। आशा है—विद्वान् लोग फैले हुए एतद्विषयक भ्रमोंको मिटानेमें सहायक बनेंगे। स्त्रीको पति एवं माता-पिता द्वारा तथा शूद्र अन्त्यजोंको द्विज-द्वारा पुराणादि-स्थित वैदिकज्ञान यथावकाश सुनाना यही प्राचीन एवं शास्त्रीय-मर्यादा है, साक्षात् वेदाधिकार उन्हें देना शास्त्रीय एवं प्राचीन मर्यादा नहीं।

---

(३४) क्या जानश्रुति वस्तुतः शूद्र थे?
(१२वीं ऐतिहासिक भूल)

(पूर्वपक्ष)—जानश्रुति-नामक पुरुष-जो रैक्वके पास विद्याग्रहणार्थ गया था—शूद्र था। रैक्वने उसे कहा था 'अह हारे त्वा शूद्र!' (छान्दोग्योपनिषद् ४।२।३) तब शूद्रका भी विद्याधिकार एवं वेदाधिकार सिद्ध हुआ। (एंबार कृष्णमा. 'वर्णविमर्श' में)

(उत्तरपक्ष)—ऐसा नहीं। जानश्रुति **जन्मसे क्षत्रिय था,** उसे निन्दासे शूद्र कहा है, वह **वस्तुतः शूद्र नहीं।** जैसे—'साहित्यसङ्गीत-कलाविहीनः, **साक्षात् पशुः**' इस भर्तृहरिके वचनमें साहित्यसंगीतकलासे हीन पुरुषको **साक्षात् पशु**' कहने पर भी उसे वस्तुतः **पशु नहीं** माना जाता, नहीं तो उसे भी **खूंटेमें बांधा जाय, खली-भूसा भी उसे खिलाया जाय,** पर ऐसा नहीं किया जाता, किन्तु उसे **निन्दार्थवादसे** वैसे कहा जाता है। जैसाकि 'न्यायदर्शन' में कहा है—'प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादः, निन्दाप्रशंसोपपत्तेः' (४।१।६०)

उसका तात्पर्य तद्वत्तामें ही माना जाता है, साक्षात् तत्तामें नहीं, वैसे ही उक्त-उपनिषद्में क्षत्रिय-जानश्रुतिकेलिए कहा हुआ 'शूद्र' शब्द निन्दार्थवाद होनेसे 'गौण' शब्द है, 'मुख्य' नहीं, अतएव "यौगिक' है—'रूढ' नहीं। शुचा अभिद्रुद्राव, इति शूद्रः' हंसके वचन सुननेसे अपनी ज्ञानहीनताके शोकसे युक्त हुआ जानश्रुति रैक्वके पास दौड़ा गया, इसलिए उसे शब्दतः **'शूद्र'** कहा गया है। रूढि अर्थ प्रकृत न होने पर अवयवार्थ भी किया जाता है; यदि वह प्रकृत हो तो।

जानश्रुति गुरु-शुश्रूषाकर्त्ता बनकर रैक्वके पास जिज्ञासाशमनार्थ नहीं गया, किन्तु शूद्रोंकी तरह उसे धनका लोभ दिखाकर उसने अपनी आशङ्का दूर करनी चाही; अतः मुनिने उसे **अशूद्र होने** पर भी **शूद्रवत्तासे** 'शूद्र' कहा। 'वत्' प्रत्यय न होने पर भी 'वत्' का अर्थ लग जाता है, जैसेकि

शेष रहा वादीका 'यथेमां वाचं' मन्त्रका अर्थ; सो वह तो सर्वथा ही अशुद्ध है। जब वादीके स्वा.द.ने ही उसमें भक्तके द्वारा बुलवाना नहीं लिखा; इधर जब ईश्वर 'देवता' होनेसे प्रतिपादक नहीं, किन्तु प्रतिपाद्य है, वादीके भी अनुसार निराकार होनेसे जब परमात्मा स्वयं बोल नहीं सकता, तब भक्तके द्वारा वह प्रतिपाद्य ही रहेगा, स्वय प्रतिपादक नहीं। तब वादीके अर्थके अशुद्ध सिद्ध होनेसे उस सिकताभित्ति पर आश्रित वादीका पक्षरूपी महल भी स्वयं धराशायी हो गया।

'स्व' का अर्थ वादी करता है कि—'ऐ भक्त! क्या तेरे अपने, क्या पराये'। स्वा.द.ने इससे अपनी स्त्री, सेवक तथा अन्त्यज, लिये हैं; तब दोनों गुरु-चेलोंमें किसका अर्थ ठीक और किसका गलत है?

आगे जो 'हे भक्त! ऐसा उद्योग कर, जिससे देवोंमें मेरा प्रेम बढ़े, यज्ञ करनेवाले तथा दक्षिणा देनेवालोंमें मेरा प्रेम बढ़े'? इस अर्थसे वादीने परमात्माको अशक्त सिद्ध कर दिया। मन्त्र कहता है—'प्रियो देवानां भूयासम्' 'दक्षिणाया दातुश्च प्रियो भूयासम्' (मैं देवताओंका प्यारा बनूं, दक्षिणा देनेवालोंका प्यारा बनूं) पर वादीने 'इनमें प्रेम बढ़े' यह अर्थ ही बदल दिया है। 'ऐसा उद्योग कर' यह शब्द भी वादीने स्वयं मन्त्रार्थमें प्रक्षिप्त कर दिये, जो शायद परमात्माकी गलतीसे छूट गये हों! 'हे भक्त! तेरे उद्योगसे 'अयं मे काम: समृध्यताम्' (मेरी यह कामना पूर्ण हो)।

देखिये पाठकगण! वादीने 'हे भक्त! तेरे उद्योगसे' इतने शब्द उक्त वेदमन्त्रके अर्थमें प्रक्षिप्त कर दिये हैं। हा खेद! यह लोग परमेश्वरकी वाणीमें शायद त्रुटि देखते हैं, तब मनगढ़न्त प्रक्षेप उसमें कर देते हैं।

यही दशा इस 'यथेमां' से पूर्व मन्त्रकी भी वादीने की है। वस्तुत: यहां वादीके अनुसार भी ईश्वरके निराकार होनेसे प्रतिपादक न हो-

सकनेके कारण 'यह परमात्माने भक्तको कहा है' यह व्याघात हो जानेसे उसका पक्ष मूलसे ही कट गया। क्योंकि—कभी कहते हैं—'परमात्मा निराकार होनेके कारण स्वयं बोल नहीं सकता, इसलिए भक्तों-द्वारा बुलवाता है' (पृ. २९३) कभी कहते हैं कि—परमात्मा भक्तोंसे कहता है' (पृ. २९६), तब 'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मे पिता। माता तु मम वन्ध्यासीद् अपुत्रश्च पितामह:' की तरह वादीका लेख स्वयं ही व्याघात-ग्रस्त होनेके कारण खण्डित हो गया।

वादीने हमसे दिखलाये हुए दोषोंका न तो क्रमसे उद्धरण दिया है; न उनका कोई समाधान ही किया है। केवल कुछ लिख देनेसे काम नहीं चल सकता।

'हे भक्त! ये अग्नि और पृथिवी मेरे सामने सिर झुकाते हैं, मेरी आज्ञा है-सदा झुकाते रहें'। यह अर्थ भी गलत है। एक तो भक्तका अध्याहार करना निर्मूल है। दूसरा जब अग्नि और पृथिवी उसके सामने सिर झुका रहे हैं; तब यह आज्ञा देना कि—सदा सिर झुकाते रहें—यह कथन व्यर्थ हो जाता है। और 'मेरी आज्ञा है' यह किस पदका अर्थ है? वादी मन्त्रार्थमें प्रक्षेप कर रहा है। 'सिर झुकाने' का भाव 'अनुकूल होना' है। सो अनुकूल तो वे ऋषिके सामने भी हो सकते हैं। इसलिए आवश्यक नहीं कि यहाँ परमात्मा ही वक्ता हो। ऋषि भी हो सकता है।

इधर 'सन्नमतां' का अर्थ 'सन्नमयताम्' है। 'छन्दस्युभयथा' (पा. ३।४।११७) 'णेरनिटि' (पा. ६।४।५१) इन पाणिनिसूत्रोंसे सार्वधातुक-शप्की आर्धधातुक संज्ञा हो जानेसे णिका लोप होकर उक्त प्रयोगकी सिद्धि है कि—अमुकको मेरे वशवर्ती करें। यहाँ प्रार्थनामें लोट् है। सो इसका प्रार्थनाकर्ता ऋषि याज्ञवल्क्य ही वक्ता है। परमात्मा वा देवता भला वक्ता कैसे हो सकते हैं? देवता तो इस मन्त्रके अजमेर वैदिक-यन्त्रालयकी यजुर्वेदसंहितामें 'अग्न्यादय:' इस प्रकार बहुतसे कहे गये हैं।

हंसवाक्याद् आत्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः शुक् उत्पेदे, ताम् ऋषी रैक्वः 'शूद्र' शब्देनानेन सूचयाम्बभूव आत्मनः परोक्षज्ञताख्यापनाय-इति गम्यते, जातिशूद्रस्यानधिकारात् । (हंसवचनेन) शुचमभिदुद्राव, शुचा वा अभिदुद्रुवे, शुचा वा रैक्वमभिदुद्राव-इति (शाब्दिक-) शूद्रः । अवयवार्थ-सम्भवाद् रूढ्यर्थस्य च असम्भवात् । दृश्यते च अयमर्थोऽस्यामाख्यायिकायाम् ।'

(पूर्वपक्ष)—'शूद्राधिकारका पोषक श्रुतिका यह लिङ्ग है—'संवर्ग-विद्याके श्रवणकी इच्छावाले जानश्रुतिको 'शूद्र' शब्दसे बुलाया गया है।

(उत्तरपक्ष)-यह लिङ्ग नहीं है कि-शूद्रको ब्रह्मविद्याका अधिकार है, क्योंकि-इसमें न्याय नहीं। न्याय होनेपर ही लिङ्ग द्योतक हुआ करता है, अन्यथा नहीं। पर यहाँ न्याय नहीं है। भले ही यहाँका 'शूद्र' शब्द केवल एक संवर्गविद्यामें ही शूद्रको अधिकार दे दे; क्योंकि-यह उसी विषयमें है, पर इससे शूद्रका सब विद्याओंमें अधिकार कैसे हो जावेगा ? यह तो भूतार्थवादका वाक्य है; विधिवाक्य नहीं; अतः यह शूद्रको कहीं अधिकृत नहीं कर सकता। यह 'शूद्र' शब्द अधिकृतविषयमें जोड़ा जा सकता है।

हंसके वाक्य सुननेसे अपने अनादरको सुनते हुए जानश्रुतिको शोक पैदा हो गया। 'उस शोकको मैं जान गया हूँ' इस प्रकार ऋषि रैक्वने अपनी परोक्षज्ञानमें शक्ति बताते हुए यौगिक 'शूद्र' शब्दसे सूचित कर दिया-यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। क्योंकि विधिशास्त्रके अनुसार जाति-(जन्मके) शूद्रका अधिकार नहीं माना गया है। [हंसके वचनसे जानश्रुति] शोकको (अभिदुद्राव) प्राप्त हुआ, अथवा शोकसे अभिद्रुत हुआ; अथवा शोकसे रैक्वके पास (अभिदुद्राव) गया; इस प्रकार वह शाब्दिक-शूद्र है। क्योंकि-यहाँ प्रकरणके बलसे शूद्रका यौगिक अर्थ तो हो सकता है; पर विधिशास्त्रसे विरुद्ध होनेसे यहाँ 'शूद्र' शब्दका रूढि अर्थ (जातिशूद्र) तो असम्भव है। यह बात इसी आख्यायिकामें स्पष्ट

हो भी रही है)।

१।३।३५ सूत्रका शाङ्करभाष्य इस प्रकार है-'इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुतिः। यत्कारणं-प्रकरणनिरूपणेन क्षत्रियत्वमस्य उत्तरत्र चैत्ररथेन अभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहाराद् लिङ्गाद् गम्यते। 'तस्मात् चैत्ररथिर्नाम एकः क्षत्रपतिरजायत' इति च क्षत्रपतित्वावगमात् क्षत्रियत्वमस्यावगन्तव्यम्। तेन क्षत्रियेण अभिप्रतारिणा सह समानायां विद्यायां संकीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति। क्षत्तृ (सूत) प्रेषणाद्यैश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः, अतो न शूद्रस्याधिकारः।'

इसका अर्थ इस प्रकार है (जानश्रुति शूद्र नहीं है; क्योंकि प्रकरण देखनेसे यह क्षत्रिय सिद्ध हो रहा है। यह आगे चित्ररथके लड़के अभिप्रतारीके साथ जोकि क्षत्रिय है-कहा गया है। (हमारे पूर्वके महानुभाव साहचर्य-नियमका बड़ा खयाल रखते थे, यह महाभाष्यकारने 'प्रत्याहारेऽनुबन्धानां' वार्तिकमें सूचित किया है) यह लिङ्ग (हमारे पक्षका पोषक प्रमाण) है। 'चैत्ररथि नामक एक क्षत्रिय राजा हुआ'। यहांपर चित्ररथके लडकेको क्षत्रपति कहा गया है। उस क्षत्रिय चित्ररथके लड़के अभिप्रतारीके साथ समानविद्यामें जानश्रुतिका नाम भी लेना जानश्रुतिको क्षत्रिय बता रहा है। और फिर रथके सारथिको रैक्वके ढूंढ़नेका हुक्म देना-इस ईश्वरता (राजत्व) से भी जानश्रुति स्पष्ट क्षत्रिय सिद्ध हो रहा है। शूद्रमें यह ऐश्वर्य नहीं होता कि-अपने रथके चलानेकेलिए नौकर-चाकर रखे; और उनको किसीके ढूंढ़ लानेका हुकम दे। अतः स्पष्ट है कि-शूद्रका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं होता)।

इस प्रकार श्रीवेदव्यासद्वारा जानश्रुतिकी शाब्दिक-शूद्रता एवं वास्तविक-क्षत्रियता बतानेसे जानश्रुति भी शूद्र नहीं थे-यह सिद्ध हो गया। अशूद्रका विद्याग्रहणार्थ जाना सिद्ध हो जानेसे श्रीव्यासजीके मतमें भी शूद्रका विद्याग्रहणमें अनधिकार सिद्ध हुआ-इसी कारण ही उन्होंने वेदान्तदर्शनमें यह अपशूद्राधिकरण रखा है। इस भाष्यका हिन्दी अनुवाद

आगे 'अपशूद्राधिकरण' में भी देखिये। 'जातिनिर्णय' में पृ. २८८में श्रीशिवशंकर-काव्यतीर्थने भी यही माना है-'यद्यपि यह (जानश्रुति) क्षत्रिय था, परन्तु इनको शोक उपस्थित हुआ, उससे द्रवीभूत हुआ, इस हेतु इसको ऋषिने 'शूद्र' कहा, यह कथन ठीक है'।

रामानन्दी आचार्य श्रीभगवदाचार्यजी शूद्रोंको वेदाधिकारी मानते हैं; पर उनने अपने 'वेदान्तदर्शन' के 'वैदिकभाष्य' में जानश्रुतिको वास्तविक शूद्र न मानकर उसे क्षत्रिय ही माना है। हम उसका अनुवाद देते हैं—

१।३।४४ 'शुगस्य' के भाष्यमें वे लिखते हैं।...यह प्रसङ्ग ताण्ड्य-महाब्राह्मण 'छान्दोग्योपनिषद्' में लिखा गया है-'पौत्रायण जानश्रुति कोई उदार-जो धन, स्त्री, घर आदिकी अपेक्षा नहीं करता था, एक दानी क्षत्रिय था। किसी रातको महल पर किसी अदृश्य स्थानपर वह सो रहा था। वहांपर उसने विश्राम करनेकी इच्छासे आये हुए हंसोंमें एक हंससे कही जाती हुई अपनी कीर्ति सुनी।

दूसरे किसी हंसने-जिसे जानश्रुतिका माहात्म्य पता नहीं था, पर जिसे रैक्व मुनिका माहात्म्य पता था-जानश्रुतिका अनादर किया। जानश्रुति धर्मका आदर करनेवाला था, उसे अपना अनादर सुननेसे शोक हुआ। वह उस शोकके दूर करनेकी इच्छासे सूत द्वारा ढूंढे हुए रैक्वमुनिके पास गया-—यह उपनिषद्की गाथा है। उसीको आश्रित करके बादरायण समाधान करता है कि-उस अपने अनादर सुननेसे जानश्रुतिको शोक हुआ। उस शोकसे रैक्वके पास दौड़-धूप करनेसे यह निश्चित प्रतीत होता है कि-विद्वानोंको भी जो शोकसे सन्तप्त मन वाले होते हैं-शोक हटानेकेलिए किसी सार्थक-विद्याको ग्रहण करने उस विद्याके जाननेवालेके पास जाता देखा गया है।

'क्षत्रियत्वावगतेश्च' (१।३।३५) (वैदिकभाष्य) 'जानश्रुतिकी क्षत्रियता उपनिषद्से प्रतीत हो भी रही है। विद्यार्थ जाना यह वर्ण एवं आश्रमके

अभिमानमें विद्याका फल हुआ करता है। उसको 'मैं क्षत्रिय हूं, मैं राजा हूं' यह बड़ा अभिमान हुआ था।...

जानश्रुति क्षत्रिय था, यह कैसे मालूम हुआ? सूत्रकार कहते हैं-'उत्तरत्र' (१।३।३६) पर वैदिक-भाष्य—

'आगे इसी ही प्रकरणमें कापेयकी गाथा कही गई है। उसमें चैत्ररथ क्षत्रिय है-(ताण्ड्य २०।१२) इसी ब्राह्मणके प्रमाणसे चैत्ररथ क्षत्रिय होनेसे ही कर्माधिकारी था। समान प्रकरण होनेसे धन-कन्यादिके दानके साथ विद्याग्रहणरूप क्षत्रियके लिङ्गसे जानश्रुति क्षत्रिय ही था'। (अत: जानश्रुति पौत्रायण भी क्षत्रिय ही था-यह स्पष्ट है' (पृ. ५०)।

छान्दोग्योपनिषत्-संस्कारभाष्यमें भी उक्त महोदयने 'अह हारेत्वा शूद्र !' (४।२।३) में लिखा है—'थोडा ही धन लेकर जानश्रुति मेरी विद्या चाहता है, उससे कुपित हए रैक्वने जानश्रुतिका अनादर करना चाहते हुए उसे 'अह ह अरे शूद्र' इन अपशब्दोंसे गाली दी। (पृ. १८)।

इससे सिद्ध हुआ कि-यह 'शूद्र'-शब्द जानश्रुतिकेलिए केवल गालीरूप ही है, वास्तविक नहीं। यदि वह वस्तुत: शूद्र होता; तब यह 'शूद्र' शब्द गालीरूप न होता; तब तो वैसी वस्तुस्थिति होती। जैसे कि—ऐलूष-कवषको 'दास्या पुत्र और अब्राह्मण' शब्द अधिक्षेप (गाली) केलिए कहा गया था, वह वहाँ ब्राह्मण था, शूद्र नहीं।' इसपर पीछे देखो (पृ. ३०१, ३०६-३११)।

इस प्रकार हमने इस कालकी सुधारकोंकी बारह ऐतिहासिक-भूलें दिखलाई हैं। 'आलोक' पाठकोंने उनपर सम्यक्तया विचार कर लिया होगा।

इन वर्तमान सुधारकोंकी भूलोंको समाप्त करके फिर हम पूर्वानुसृत स्त्री-शूद्रके वेदानधिकार-सम्बन्धी प्रकरण पर चलते है।

—

(३५) उवट-महीधरके मतमें शूद्रोंको यज्ञाधिकार (?)

पूर्वपक्ष—(क) 'अग्निर्ऋषि: पाञ्चजन्य:' (यजु: २६।६) में 'पञ्चजनेभ्यो हित:, चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमा: पञ्चजना:, तेषां हि यज्ञेधिकारोस्ति' यह उवटने, 'विप्राद्यश्चत्वारो वर्णा निषादश्चेति पञ्चजना:, तेषां यज्ञाधिकारात्' यह महीधरने अर्थ किया है। तब शूद्रान्त्यजोंका यज्ञविषय वाले वेदमें भी अधिकार सिद्ध है। (ख) मी.द.के 'चातुर्वर्ण्यमविशेषात्' (६।१।२५-२७-२६-३१-३५) आदि सूत्रोंसे जैमिनिजी भी शूद्रको यज्ञाधिकारी मानते हैं' (श्रीतर्करत्नजी 'अछूतो. पृ. १५-२६ में, एक सिद्धान्तालङ्कार 'उदारतम आचार्य दयानन्द' में, श्रीशाण्डिल्यजी भा.ध.शा.में)।

उत्तरपक्ष—(क) मन्त्रसंस्कृत और असंस्कृत दो प्रकारकी मूर्तिकी तरह अग्नि भी दो प्रकारकी होती है। संस्कृत-मूर्ति एवं अग्निमें संस्कृत [उपनयनादि-संस्कार-सम्पन्न] त्रैवर्णिकोंका ही अधिकार होता है, असंस्कृत-शूद्रादिका नहीं, पर असंस्कृत मूर्ति एवं अग्निमें शूद्रादिका भी अधिकार हो सकता है। यह बात निर्मूल भी नहीं है, जैसे कि–'भा.ध.शा.' ८०-८१ पृष्ठमें श्रीशाण्डिल्यजीने 'अदूरदर्शी प्रभुपूजक' आदि शब्दोंसे लिखा है, किन्तु यह समूल है।

'प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्' (६।३१७) यहाँ मनुजीने दो अग्नियाँ मानी हैं, १ प्रणीत—मन्त्रसंस्कृत, आहित, २ अप्रणीत—असंस्कृत, अनाहित। श्रीमद्भाग.में भी कहा है—'वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मख:' (११।२७।७) यहाँ यज्ञ वैदिक तथा तद्भिन्न भी माना गया है। वेदमें शास्त्रानुसार त्रैवर्णिक अधिकृत होनेसे वैदिकयज्ञका अधिकारी भी त्रैवर्णिक ही होता है, तन्त्र-पुराण-विशेषोंमें शूद्रादि भी अधिकृत होनेसे तान्त्रिकयज्ञमें पञ्चजन अधिकृत हो सकते हैं। सो उवट-महीधर-भाष्यमें भी उसी **असंस्कृत-अग्निका** उद्देश्य है–जिसके द्वारा पञ्चयज्ञ किये जाते हैं।

उदाहरणत: 'कात्या.श्रौ.सू.'में अत्रैवर्णिक रथकारस्थपतिकी इष्टि कही है–यह उसके कर्कभाष्यमें स्पष्ट है। वहां प्रश्न है–'तत्रैतद् विचायते-स्थपतीष्ट्यां किमाधानसंस्कृतोग्नि:, उत लौकिक: ?' वहां उत्तर है–'लौकिके' (१।१।१४) लौकिकेग्नौ एतत् स्यात् [न तु संस्कृते]'। मीमां. शाबरभाष्यमें भी कहा है–'तस्माल्लौकिकेषु अग्निषु स्थपतीष्टि: [न संस्कृतेषु]' (६।८।२१)। इस प्रकार उवट-महीधरके भाष्यमें भी निषाद-पञ्चम चार वर्णोंका यज्ञाधिकार भी **लौकिक-असंस्कृत** अग्निमें होनेवाले **पञ्चयज्ञोंकेलिए ही है,** क्योंकि–वैदिक-यज्ञमें अत्रैवर्णिकका अधिकार नहीं, यह पूर्वमीमांसाके 'यागे **'शूद्रानधिकाराधिकरण'** तथा उत्तरमीमांसाके **'अपशूद्राधिकरण'** में स्पष्ट है।

आर्यसमाजी-विद्वान् श्रीतुलसीरामस्वामीने मनु (६।३१६)-पद्यकी व्याख्यामें 'यज्ञमें शूद्रके घरका अग्नि वर्जित' माना है। स्वा.द.जीने भी 'संस्कारविधि' के सामा.प्र.में लिखा है–'ओं भूर्भुव:–मन्त्रका उच्चारण करके **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके** घरसे अग्नि ला' (पृ. २३)। 'आगाराद् **ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा वैश्यस्य वा'** (गोभिल. १।१।१६) में भी यह स्पष्ट है। इसमें शूद्रका नाम नहीं रखा गया। इनसे स्पष्ट हो रहा है कि–वैदिकयज्ञाधिकारी न होनेसे वैदिकयज्ञार्थ शूद्रकी **असंस्कृत** अग्नि नहीं लाई जाती।

मन्त्रके विनियोजक ब्राह्मणमें कहा है—'न वै देवा: सर्वेणेव संवदन्ते-ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा, ते हि **यज्ञिया:'** (यहाँ आदिम-**त्रैवर्णिकोंको ही** यज्ञिय माना है। बल्कि–वैदिकयज्ञमें दीक्षितका शूद्रसे साक्षात् बोलना भी **निषिद्ध** माना है, जैसे कि–'तस्माद् यदि एनं शूद्रेण संवादो विन्देत्, एतेषामेव [त्रयाणां] एकं ब्रूयाद् इममिति विचक्ष्व, इममिति विचक्ष्व' (शतपथ. ३।१।१।१०)। इसी प्रकार 'ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा वैश्यो वा—ते हि **यज्ञिया:'** (शत. ३।१।१।६) यहाँ भी त्रैवर्णिकोंको ही वैदिकयज्ञका अधिकारी बताया है, शतपथमें वैदिकयज्ञ

ही निरूपित हैं।

मन्त्रभागमें भी इसीलिए 'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋ. १।१४९।५) द्विजको ही यज्ञाधिकारी कहा है। इसी वैदिकयज्ञके अधिकारी द्विजको ही वैदिकयज्ञका वस्त्र यज्ञोपवीत पहननेका अधिकार होता है, शूद्रको नहीं। इसलिए कृष्णयजुर्वेदमें शूद्रका यज्ञमें अनधिकार बताते हुए कहा है—'तस्मात् शूद्रो यज्ञेनवक्लृप्तः' (तै.सं. ७।१।४।६)।

त्रैवर्णिकोंके ही यज्ञ-संयोग होनेसे उनकी ही स्त्रीको वेदाङ्गपाणिनीय-(४।१।३३) सूत्रसे वास्तविक 'पत्नी' माना है, शूद्र-स्त्रीको नहीं। 'एवमपि तुषजकस्य (शूद्रस्य) पत्नी न सिध्यति' (इस प्रकार तुषजक-शूद्रकी 'पत्नी' सिद्ध नहीं हो सकती) महाभाष्यके इस पूर्वपक्षपर श्रीकैयटने लिखा है—'त्रैवर्णिकानामेव सभार्याणां यज्ञेधिकारो न तु शूद्रस्य।' (क्योंकि-स्त्रियों-सहित त्रैवर्णिकोंका ही यज्ञमें अधिकार है, शूद्रका नहीं) उसके उत्तरपक्षमें—'उपमानात्सिद्धं पत्नीव पत्नी' उसे औपचारिक प्रयोग माना गया है कि 'पत्नी'-की तरह अङ्गसमानतासे वह 'पत्नी' की तरह होती है, वास्तविक (शास्त्रानुसार) 'पत्नी' नहीं होती।

'उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञः' (महा.शान्ति. ३०।३७) में भी शूद्रका यज्ञमें अनधिकार कहा है। तब शतपथानुसार भाष्य करनेवाले उवट-महीधर मत के विरुद्ध शूद्र-निषादको यज्ञाधिकारी कैसे लिख सकते हैं? जब उन्होंने लिखा है—तो स्पष्ट है कि—वह आधानसंस्कृत नहीं, किन्तु असंस्कृत पञ्च-महायज्ञोंवाली लौकिक-अग्निकेलिए है। यज्ञ भी वैदिक नहीं; किन्तु नमोन्त (नमस्कारान्त) मन्त्रवाले पञ्चयज्ञ ही वहां इष्ट हैं। पञ्चमहायज्ञ भी वैदिक-परम्परासे ही सब प्रकारके पुरुषोंकेलिए आ रहे हैं।

महाभाष्य (२।४।१।१०) के प्रदीपमें श्रीकैयटने लिखा है—'शूद्राणां पञ्चयज्ञानुष्ठानेधिकारोस्ति।' (शूद्रोंका भी पञ्चयज्ञोंके अनुष्ठानमें अधिकार है)। वहीं उद्योतमें श्रीनागेशने लिखा है—'तस्मात् शूद्रो यज्ञेनवक्लृप्तः' इति श्रुतिस्तु अग्निहोत्रादि [वैदिकयज्ञ]-विषया [न तु शूद्राद्यधिकृतपञ्चयज्ञादि-विषया]' (शूद्र यज्ञमें अनधिकृत है, यह शूद्रकेलिए निषेधश्रुति वैदिक-यज्ञ अग्निहोत्रादिविषयक है, शूद्रोंकेलिए पञ्चयज्ञादिके निषेधकेलिए नहीं।) व्यासस्मृतिमें भी कहा है—'शूद्रो वर्णश्चतुर्थोपि वर्णत्वाद् धर्ममर्हति। वेदमन्त्र-स्वधास्वाहावषट्कारादि-भिर्विना' (१।६) 'मन्त्रः शूद्रे न विद्यते। तस्मात् शूद्रः पाकयज्ञैर्यजेत' (महा. शान्ति. ६०।३७-३८)। (शूद्र चतुर्थ होता हुआ भी वर्ण होनेसे कई धर्मोंमें अधिकृत है; पर वह वेदमन्त्रोंसे स्वधा, स्वाहा, वषट् आदिके बिना ही पञ्चयज्ञोंमें अधिकृत है। शूद्रमें मन्त्र अधिकृत नहीं होता। अतः शूद्र मन्त्रहीन पञ्चयज्ञरूप पाकयज्ञोंसे यजन करे)। विष्णुस्मृतिमें भी कहा है—'पञ्चयज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते। तस्य प्रोक्तो नमस्कारः' (१०८]५।१।९)। अर्थात् शूद्रकेलिए नमः-अन्तवाले 'अग्नये नमः' यह लौकिक मन्त्र ही इष्ट हैं। उन्हींसे पञ्चयज्ञ करनेका उसका अधिकार है)।

इसका श्रीतर्करत्नजीने 'अछू.' पृ. २४ में ठीक अर्थ नहीं किया, 'नमस्कारः' का अर्थ ही नहीं किया। इससे शूद्र वेदानधिकारी सिद्ध होता है। इसी तरह 'नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्' (याज्ञ. १।१२१) 'पुराणाद्युक्तमन्त्रैश्च नमोन्तैः कर्म केवलम्' शुक्रनीति (४।३६८-३६९) इसका अर्थ श्रीपं. गंगाप्रसादजी लिखते हैं—'शूद्रको वेदमन्त्रका अधिकार नहीं है। पुराणोंके 'शिवाय नमः' आदि मन्त्रोंसे अपने सारे कर्म कर सकते हैं (पृ. ३८२) यह तर्करत्नजीका किया हुआ अर्थ ठीक है। 'नमस्कार-परायास्तु शूद्राया मन्त्रवर्जितम् ('अष्टाङ्गहृदय' शारीर. १।२९) 'अनुज्ञातोस्य नमस्कारो मन्त्रः' (गौतमधर्म. २।१।६६) श्रीहरदत्तने यहां लिखा है—'शूद्रस्य वैश्वदेवादिषु तत्तद्देवतापदं चतुर्थ्यन्तं मनसा ध्यात्वा नमो नमः' इत्येवंरूपो मन्त्रोनुज्ञातो धर्मज्ञैः।' (शूद्रको वैश्वदेवादि एवं पञ्चयज्ञोंमें उस-उस देवता पदको—जो चतुर्थ्यन्त हो,

मनसे ध्यान करके 'नमो-नम:' इस प्रकारका लौकिक मन्त्र धर्मज्ञोंने अनुज्ञात किया है) । पूर्व-पद्योंका भी यही अर्थ है ।

शूद्रके ब्रह्मयज्ञमें पुराण-वेदका ग्रहण, वा 'ब्रह्मणे नम:' यह मन्त्र जानना चाहिये । उसमें अध्यापन नहीं घटता; जबकि वह क्षत्रिय-वैश्यको भी विहित नहीं । अथवा (मनु. ३।७४) ब्राह्मणकी पूजा ही उसका ब्रह्मयज्ञ है । आशा है-'आलोक' पाठकोंने श्रीउवट-महीधरके वचनका रहस्य समझ लिया होगा कि यह स्मार्त-पञ्चयज्ञकेलिए है, वैदिकयज्ञार्थ नहीं । इसके अतिरिक्त यज्ञमें 'पञ्चजन'का भिन्न अर्थ भी होता है, भिन्न तात्पर्य भी-यह १५९-१६४ पृष्ठमें 'पञ्चजना मम होत्रं' में पाठक देखें । वैदिकयज्ञका शूद्रादिको अधिकार नहीं । पं० गं.जीने वैश्यसे शूद्रका ग्रहण मानकर जो कि-शूद्रको यज्ञाधिकारी माना है; यह कल्पना आपातमनोहर दीखती हुई भी शास्त्रानुगृहीत नहीं । इसपर 'आलोक' (६) पृ. ३६४-३६५) में देखें ।

(ख) मीमांसादर्शनमें 'अपि वा वेदनिर्देशाद् अपशूद्राणां प्रतीयेत' (६।१।३३) यह उत्तरपक्षका सूत्र है 'अवैद्यत्वाद् अभाव: कर्मणि स्यात्' (३७) भी । 'तथाचान्यार्थदर्शनम्' (६।१।३८) यह सिद्धान्त है-'शूद्रस्य नाध्ययनम् । यद्यु वा एतत् श्मशानं यत् शूद्र: ।' 'न शूद्रजनसन्निधौ' (मनु. ४।९९, १०८) 'नाधीयीत श्मशानान्ते' (मनु. ४।११६) 'श्मशाने नाध्येयम्' (महाभाष्य ५।२।१।५९) इस प्रकार जङ्गम श्मशान शूद्रका वेदाध्ययन निषिद्ध होनेसे उसे वैदिक यज्ञका भी निषेध हो गया ।

श्रीतर्करत्नजीने मीमांसाके पूर्वपक्षके सूत्रोंको उत्तरपक्ष और उत्तरपक्षके सूत्रोंको पूर्वपक्ष कर दिया है । यह उनका छलका कार्य है । इस प्रकरणमें कुल १४ सूत्र हैं, उनमें २५वां सूत्र पूर्वपक्ष है, २६ उत्तरपक्ष, २७ पूर्व, २८ उत्तर, २९ पूर्व, ३० तटस्थ, ३१ पूर्व., ३२ युक्ति, ३३ उत्तरपक्ष, ३४ पूर्व, ३५ उत्तर, ३६ पूर्व, ३७ सिद्धान्त, ३८ सिद्धान्तीका युक्ति-सूत्र है । यह पूर्वपक्ष-उत्तरपक्षका क्रम है, स्थानाभावसे हम इस पर स्पष्टता नहीं

कर सकते । इस प्रकार श्रीआर्यमुनिजीने भी इन सूत्रोंमें स्वपक्षसिद्ध्यर्थ बहुत खींचातानी की है; पर वह मीमांसाकारके हृदयसे विरुद्ध है ।

वेदमें शूद्रका अधिकार मानने वाले रामानन्दी श्रीभगवदा.जीने भी अपने ब्रह्मसूत्रके वैदिकभाष्य' में स्पष्ट लिखा है कि-'शूद्रका वैदिककर्ममें अधिकार नहीं । अत: उन्होंने 'मीमांसादर्शन' के सूत्रोंको भी शूद्रानधिकार-परक ही माना है । उनके यह स्पष्ट शब्द हैं-'मीमांसादर्शने षष्ठाध्याये प्रथमेपादे सप्तमम् अपशूद्राधिकरणं प्रस्तुवता जैमिनिना तु नाऽन्याय्यमा-चरितम् । अवश्यं कर्माणि नियताधिकाराण्येव' (पृ. १६४) 'ब्राह्मणानि तद (शूद्राऽ)धिकारं निवारयन्ति चेद् निवारयन्तु नाम । किं तेन ? कर्ममार्गप्रवर्तकान्येव तानि । कर्ममार्गे हि तेषां शासनं नान्यत्र । कात्यायने-नापि 'फलयुक्तानि कर्माणि' । (२) अङ्गहीनाऽश्रोत्रिय-षण्ढ-शूद्रवर्जम्' (५) इत्यादि सूत्रयता परिभाषाध्याये कर्मण्येव नाधिकारस्तेषाम् (शूद्राणाम्) इति स्पष्टमुद्घोष्यते' (पृ. १६४) ।

('कर्मके अनेक प्रकार हैं । सभी कर्म वैदिक हैं ।...कोई यज्ञ करता है, यह सभी वैदिक कर्म हैं । इनमें से सभी कर्मोंको सभी नहीं कर सकते । अत: कात्यायनने अपने सूत्रोंमें शूद्रोंको कर्मका अनधिकारी बताया । जैमिनिने मीमांसादर्शनमें अपशूद्राधिकरण बनाया, यह सब उचित हो सकते हैं' (हिन्दी वैदिकभाष्य पृ. ५३) ।

जब शूद्रकेलिए अधिकरण ही 'यागे शूद्रस्य अनधिकाराधिकरणं' है, तो उस अधिकरणके सूत्रोंका विपरीत अर्थ किया ही कैसे जा सकता है ? बिना यज्ञोपवीतका यज्ञ भी कभी वैदिक नहीं हो सकता—यह तो अत्यन्त स्पष्ट है । तब स्त्री-शूद्रादिका वेदाधिकार भी सिद्ध न हुआ । उनको सेवाकार्य तथा शिल्पादिकी तथा माता-पिता आदि द्वारा आचारकी शिक्षा देना ही लोकवेदानुगृहीत पक्ष है; जिसमें यज्ञोपवीत तथा वेदकी कुछ भी आवश्यकता नहीं ।

---

(३६) वेद-विदुषी भारती आदि स्त्रियाँ (?)

पूर्वपक्ष—(क) मण्डनमिश्रकी पत्नी भारतीदेवीके विषयमें 'शङ्कर-दिग्विजय' में कहा है—'सर्वाणि शास्त्राणि षडङ्गवेदान् काव्यादिकान् वेत्ति परं च सर्वम्। तन्नास्ति नो वेत्ति यदत्र बाला, तस्मादभूच्चित्रपदं जनानाम्' ३।१६) इस प्रकार वेदविदुषी वेदवती, वयुना और धारिणी आदि ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंका भी पुराणोंमें वर्णन आया है। क्या इन महिलाओंने वेदाध्ययन वेदकी आज्ञाका उल्लंघन करके किया था ? स्पष्ट है कि स्त्रियोंको वेदाध्ययनका अधिकार है (एक सिद्धान्तालंकार 'सार्वदेशिक' जून ४६) में।

उत्तरपक्ष—वैयक्तिक-इतिहाससे विधिनिर्णय नहीं होता। इतिहासमें विधिविरुद्ध बातें भी होती हैं। युधिष्ठिरका द्यूत और द्रौपदीके पाँच पति ऐतिहासिक होनेपर भी विधि-शास्त्र नहीं। ऐसे सैंकड़ों भी इतिहासोंको एक भी विधि वा निषेध वचन बाँध दिया करता है। भारती, सरस्वतीदेवीका अवतार थी, दुर्वासामुनिके शापसे स्वर्गसे यहाँ आई थी—यह श.दि.वि.में स्पष्ट है। उसने विद्या किसी गुरुसे नहीं सीखी, किन्तु जन्मकालसे ही उसे सब ज्ञान था, 'देवा: स्वयंभातवेदा:' इस विषयमें हम पूर्व कह चुके हैं। इसलिए शत.में कहा है—'विद्वां ँसो हि देवा:' (३।७।३।१०) (देवता जन्मसे ही विद्वान् होते हैं' इस विषयमें 'आलोक' (४) देखिये।

जैसे नाटकमें पुरुष स्त्रीवेष धारण करके भी अपना पुरुषत्व खो नहीं बैठते; वैसे ही देवता मनुष्यत्वमें भी अपनी देवत्व खो नहीं बैठते। परन्तु लोगोंको इसका ज्ञान न होनेसे तदर्थ 'आश्चर्य' होता है। वादीने उक्त पद्यसे पूर्वका पद्य छिपा लिया है, 'सा [दुर्वास:-शप्ता भारती] शोणतीरेऽजनि विप्रकन्या, सर्वार्थवित् सर्वगुणोपपन्ना। यस्या बभूवु: सहजाश्च विद्या:, शिरोगतं के परिहर्तुमीशा:' (३।१५) यहाँ 'सहजा:'का अर्थ है—'सहोत्पन्ना:' कि—जन्मसे ही—बिना गुरुके—उसे विद्याएं स्वत: आ गईं। इसमें 'सुप्त-प्रबुद्ध' न्याय प्रसिद्ध है। उसका किसी गुरुके पास पढ़ना नहीं आया। बल्कि 'शिरोगतं' इससे सिरके बालोंकी भाँति उसकी स्वत: विद्या कही गई है।

इसपर अच्युतराय-टीकाकारने लिखा है—'शिरोगतं-शिरोरुहजातं परित्यक्तुं के ईशा:-शक्तिमन्तो भवन्तीति योजना। अयम्भाव:-यथा शिरोरुहादिकं शरीरस्य अवयवजात सहजमेव, तथा तस्या: सर्वविद्या-द्युपलक्षितयावच्छब्दब्रह्मरूपमङ्गजातं स्वभावसिद्धमेवेति।' अर्थात् जैसे शिरके बाल आदि जन्मसे स्वत: उत्पन्न होते हैं, तदर्थ प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं रहती; वैसे ही भारतीको भी विद्या, बिना गुर्वध्ययनके बाल्यसे ही प्राप्त थी। वादीके दिये पद्यमें भारतीकेलिए 'बाला' लिखा है। साङ्ग सब वेद बाल्यमें नहीं आ जाते, अत: वह जनोंका आश्चर्यविषय थी। स्पष्ट है कि—भारती 'आरूढ-पतित' होनेसे बिना पढ़े ही जन्मसे शास्त्रज्ञ थी। वादी भी भारतीकी भाँति स्त्रियोंको पढ़ाना बन्द कर दें; वे स्त्रियाँ भी बिना ही गुरुके शास्त्रज्ञ हो जाएंगी।

(ख) वेदवती भी एक देवता थी—यह वाल्मी. की 'रामाभिराम टीका' (७।१७।६) में स्पष्ट है। वह तो उत्पन्न होते ही वेदमन्त्र बोलने लग गई थी, यह उसके इतिहासमें स्पष्ट है। इस विषयमें हम पूर्व लिख चुके हैं। देवता 'विद्वां ँसो हि देवा:' (शत. ३।७।३।१०) जन्मसे ही विद्वान् होते हैं, उन्हें मनुष्योंकी तरह गुरुसे पढ़नेकी अपेक्षा ही नहीं होती। वयुना आदि ब्रह्मवादिनियोंके विषयमें हम 'वेदकी ऋषिकाएं' तथा 'हारीत-वचन' में उत्तर दे ही चुके हैं, तब देवताओं तथा ब्रह्मवादिनी वा ऋषिकाओंके दृष्टान्तसे मानुषी सद्योवधुओंका वेदाधिकार कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। दोनोंके अधिकार पृथक्-पृथक् होते हैं।

(३७) पूर्वपक्ष—पुरुषोंकी तरह कन्याओंको भी ब्रह्मचर्य [वेदाध्ययन] के व्रतका पालन करना चाहिये, यह 'समानं ब्रह्मचर्यम्' (आश्व.श्रौ. १५।

२४) सूत्र द्वारा बताया गया है। (एक सिद्धान्तालङ्कार सार्व. अगस्त ४६) में।

उत्तरपक्ष—यह 'आश्वलायन-श्रौतसूत्र' का नहीं; जैसाकि वादीने लिखा है, किन्तु 'आपस्तम्ब श्रौतसूत्र' का सूत्र है। अत: वादीने इसका पूर्वापर नहीं देखा, यह स्पष्ट है। इन लोगोंकी यह प्रवृत्ति देखी गई है, कि–कई प्राचीन-वचनोंको उसका पूर्वापर छिपाकर साधारण-जनताके सामने उपस्थित कर देते हैं; इससे बेचारी अनुसन्धान-विरहित जनता इनके पक्षको 'दूधका धुला' समझ लिया करती है, अत: उसमें झुक जाती है, पर पूर्वापर दिखलानेसे तब इनकी वह भद्द उठती है कि फिर इन लोगोंके पास मुंह छिपानेको भी स्थान नहीं रहता। यही दशा यहांपर भी है।

यदि वादी 'समानं ब्रह्मचर्यम्' इस आक्षिप्त सूत्रसे स्त्री-पुरुष दोनोंका समान ब्रह्मचर्य-वेदाध्ययनादि मानता है, तो फिर ४८ वर्षके ब्रह्मचारीके साथ ४८ वर्षीया ब्रह्मचारिणीका, तथा २५ वर्षके ब्रह्मचारीके साथ २५ वर्षीया ब्रह्मचारिणीका विवाह करावें। यदि वे ऐसा नहीं करते; तब दोनों स्त्री-पुरुषोंका न तो समान-वेदाध्ययन होगा, और न समान ब्रह्मचर्यव्रत ही। तब वादी इस सूत्रको प्रमाणित कैसे करते हैं?

वस्तुत: यहां श्रौतयज्ञोंमें, जिनका वहाँ प्रकरण है—पत्नी भी पति-की तरह ब्रह्मचर्यसे रहे–यह अर्थ है। अर्थात्–पत्नी भी पतिकी भाँति मधु-मांसादि वर्णन, अध:शयन, तथा संयम करे–यही वहाँ 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ इष्ट है, वेदाध्ययन नहीं। देखिये उक्त श्रौतसूत्रकी भट्ट रुद्रदत्त-प्रणीत सूत्रदीपिका वृत्ति।

जैसेकि–संवत्सर-दीक्षामें 'तैत्तिरीयारण्यक' में आता है, 'न उपरि आसीत' (२।८) (खाटपर न सोवे) अथवा आश्वलायन श्रौतसूत्रमें आता है–'अध: शयीत' (नीचे भूमिपर सोवे) (१।२।१६) आदि) वैसे ही 'समानं ब्रह्मचर्यन्' में भी वही तात्पर्य इष्ट है। वादियोंको यह गलत अर्थ करके साधारण-जनताको भ्रममें नहीं डालना चाहिये।

(३८) प्रमाण-संग्रह।

स्त्रियों वा लड़कियोंको वैध वेदाधिकार नहीं, इस विषयमें बहुतसे वचन मिलते हैं। हम उनका यहाँ संग्रह करते हैं—

(१) मन्त्रभागके प्रमाण तो इस विषयमें 'आलोक' के इस पुष्पमें लिख चुके हैं। इसपर 'दीर्घश्मश्रु' के विषयमें स्पष्टता, देखें—पृ. ५९-६५, ६५-७२।

(२) अब ब्राह्मणभागकी सम्मति देखें—शतपथब्रा.ने पुत्रकेलिए तो वेदाध्ययन लिखा है, पर दुहिता (लड़की) केलिए नहीं। जैसेकि–'अथ य इच्छोत् पुत्रो मे वेदमनुब्रवीत' (१४।९।४।१३) 'पुत्रो मे वेदौ अनुब्रुवीत' (१४) 'पुत्रो मे त्रीन् वेदान् अनुब्रुवीत' (१५) यहांपर 'शतपथ' ने पुत्रकेलिए १,२,३ वेदोंका पढ़ना लिखा है, पर लड़कीकेलिए वैसा नहीं लिखा है।

फिर अग्रिम-कण्डिकामें अन्य स्पष्टता की है—'पुत्रो मे पण्डितो विजिगीथ:, समितिङ्गम:, भाषिता जायेत, सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' (१४।९।४।१७) इस वचनमें पुत्रकेलिए पण्डित होना, शास्त्रार्थप्रवीण, सभाओंमें भाग लेनेवाला तथा वक्ता होना पृथक् माना है; फिर पुत्रको सब वेदोंका अनुवचन करनेवाला पृथक् माँगा है, इसमें भी लड़कीका नाम सर्वथा नहीं रखा गया।

यदि कहा जावे कि–पुत्रसे पुत्रीका ग्रहण भी हो जावेगा; यह भी वादियोंकी आशाको-निराशा रूपमें परिणत कर देनेवाला शतपथका वचन आगे देखिये–

'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता मे जायेत' (१४।९।४।१६) (जो चाहे–मेरी लड़की पण्डिता (सयानी) हो जावे) यहाँ एक तो ब्राह्मण-भागात्मक वेदने 'पुत्र' से कहीं पुत्रीका ग्रहण नहीं किया है। यदि उसे यह इष्ट होता, तो आगे अलग दुहिता वाला वचन न लिखते। इससे

वेदके मतमें 'जातिपक्ष' का खण्डन हो गया। फिर लड़कीको पृथक् रखकर भी उससे सारे वेद वा तीन वेद, दो वेद, एक वेदका पढ़ना तो दूर रहा; १/४ वेदके पढ़नेका भी अधिकार नहीं दिया गया है।

यदि कहा जावे कि-लड़कीको 'पण्डिता' कहनेसे शतपथके मतमें लड़कीका वेदाध्ययन भी गृहीत हो जावेगा; सो यह बात भी वादियोंकी शतपथने काट दी। शतपथने 'पुत्रो मे पण्डितः सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' यहां पण्डित अलग रखा है और वेदाध्ययन अलग रखा है; इससे स्पष्ट है कि-वेदको 'पण्डित' शब्दसे वेदोंका अनुवचन इष्ट नहीं। इसलिए इस वचनका हृदय देखकर स्वा. श्रीशङ्कराचार्यजीको भी इसकी व्याख्यामें औचित्यवश यही लिखना पड़ा-'दुहितुः पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयकम्, तु वेदविषयकम्, वेदेऽनधिकारात्'।

यहां श्रीस्वा.शं.जीकी अपनी कोई भी कल्पना नहीं; उनने श्रुतिका हृदय लिख दिया, यह अत्यन्त स्पष्ट है, क्योंकि पुत्रवाले चार वाक्योंमें उसकेलिए बार-बार वेदोंका अनुवचन कहा है, पर दुहितावाले वाक्यमें वेदके थोड़े अंशका भी अनुवचन नहीं कहा। यह सूक्ष्मदर्शी पाठकोंने देख लिया होगा। हम चैलेञ्ज देकर कहते हैं कि-इससे कोई भी बड़ेसे बड़ा भी तर्कमनीषी एवं प्रतिपक्षी दुहिताका वेदानुवचन कभी भी, किसी भी प्रकारसे सिद्ध नहीं कर सकता—यह हमारी शतमुखसे घोषणा है।

(३) अब स्मृति एवं गृह्यसूत्रोंकी साक्षी भी देखिये-'आवृतश्च आ स्त्रीभ्यः' (आपस्तम्बगृ. १।२।१५) यहाँपर लड़कियोंका कर्म, विना मन्त्रके करना कहा है। वादीके परममान्य श्रीहरदत्ताचार्य 'आवृतः' का अर्थ करते हैं-'मन्त्ररहिताः क्रिया आवृत उच्यन्ते' (मन्त्ररहित क्रियाओंको गृह्यसूत्रोंमें आवृतः' कहा जाता है।

(४) 'उपनयनं विद्यार्थस्य' (१।१।९) इस आपस्तम्बध.में श्री-हरदत्ताचार्य लिखते हैं-'लिङ्गस्य विवक्षितत्वात् स्त्रिया अपि न भवति' अर्थात् यहाँ पुंलिङ्ग विवक्षित है; अतः स्त्रीका उपनयन नहीं होता।)

(५) सकलस्मृतिमूर्धन्य मनुस्मृतिमें तो कहा ही है-'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः' (२।६६) 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्नि-परिक्रिया' (२।६७) इस विषयमें स्पष्टता इसी तृतीय-पुष्पके १७४ पृ. से १८३ पृष्ठ तक देखिये। 'नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मो व्यवस्थितः। निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः' (९।१८) यहां भी स्त्रियोंकी क्रिया मन्त्र-रहित कही गई है।

---

(३९) 'न वै कन्या न युवतिः' का अर्थ

आक्षेप—उक्त मनुवचन 'न वै कन्या न युवतिः' इस मनुपद्यसे विरुद्ध होनेसे प्रक्षिप्त है; क्योंकि-'न वै कन्या न युवतिः' इस पद्यसे मनुजी कन्या और युवतिसे भिन्न वृद्धा स्त्रीका अनुभवी होनेसे होतृकर्म बता रहे हैं।

(परिहार) जब यह सृष्ट्यादिमें निर्मित मनुस्मृति (जैसे कि स्वा.द. जी स.प्र.के ११वें समुल्लासके आरम्भमें कह गये हैं) का स्पष्ट मत है, कि-स्त्रीका वेदाधिकार नहीं; और तात्पर्य-निर्णायक लिङ्ग-अभ्यास-द्वारा उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया है, तब 'न वै कन्या न युवतिः...होता स्याद् अग्निहोत्रस्य' (११।३६) इस वचनमें वृद्धा स्त्रीका होतृकर्म मनुजीको कैसे विवक्षित हो सकता है; जैसेकि प्रतिपक्षी लोग तदर्थ भारी परिश्रम करते हैं कि-मनुजी युवति तथा कन्याका हवन निषिद्ध करते हैं, वृद्धाका नहीं; क्योंकि-वह अनुभवी हो जाती है, यह मनुजीको कैसे विवक्षित हो सकता है? जबकि मनुजीके मतमें स्त्रीमात्रको वेदका निषेध है।

यहाँ 'युवति' का तात्पर्य 'विवाहित' तथा कन्या' का तात्पर्य अविवाहिताका इष्ट है; तब मनुजीके मतमें सभी प्रकारकी स्त्रियोंको होतृकर्मका निषेध सिद्ध हो गया। श्रीकुल्लूकभट्टने भी इसका यही अर्थ

लिखा है–'कन्याऽनूढा, ऊढा तरुणी [युवति:] इससे स्त्रीमात्रके होतृत्वका निषेध हो गया।

एक आर्यसमाजी मनुस्मृतिके टीकाकार (तु.रा.) की यह असफल चाल है। तो क्या प्रतिपक्षी वृद्धा स्त्रियोंका उपनयन तथा वेदाध्ययन मानेंगे? क्योंकि मनुजीने कन्या और युवतिका तो निषेध कर दिया है; और 'नरके हि पतन्त्येते [युवतिकन्यादय:] जुह्वत: स च यस्य तत्' (११।३७) होतृकर्मसे उन्हें नियुक्त करने तथा करानेवालोंका नरकपात कहा है। अथवा यदि वादी यहाँ 'वृद्धा' का 'ज्ञानवृद्धा' अर्थ करता है; तब भी ठीक नहीं। वह विवाहिता वा विवाहिता इन दोनोंमें एक तो होगी ही।

यदि वादीके मतमें उक्त मनुपद्यस्थित 'कन्या' और 'युवति' शब्द अविवाहिता-विवाहितावाचक नहीं; किन्तु यह दोनों शब्द अवस्था-वाचक हैं; तब वादीका 'ज्ञानवृद्धा' अर्थ तो कपूरकी भान्ति उड ही गया, क्योंकि– 'ज्ञान-वृद्ध' अर्थ अवस्थावाचक नहीं रहता। नहीं तो यदि मनुजीको यहाँ 'ज्ञानवृद्धा' अर्थ इष्ट होता; तो फिर 'न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिश:। होता स्याद् अग्निहोत्रस्य' (११।३६) इस पद्यमें मनुजी 'अल्प-विद्य तथा बालिश' शब्दका पृथक् निषेध न करते; उनकी उसी 'ज्ञान-वृद्धा' इस अर्थापत्तिसे स्वयं ही निवृत्ति हो जाती।

यदि 'अल्पविद्य:' तथा 'बालिश:' शब्द वैसे पुरुषके निषेधकेलिए हैं, वैसी स्त्रीकेलिए नहीं; इसलिए 'कन्या-युवति' का पृथक् उल्लेख है, तब फिर वादीका प्रिय 'जातिपक्ष' कट गया।

अन्य बात यह है कि–'न तेन वृद्धो भवति, यो वै युवाऽप्यधीयान: तं देवा: स्थविरं विदु:' (मनु. २।१५६) 'बालोपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मत:' (मनु. २।१५०) इत्यादि पद्योंसे जब बच्चे तथा जवानको भी 'ज्ञानवृद्ध' होनेसे वृद्ध कहा जा सकता है, तब कन्या तथा युवतिका भी पृथक् निषेध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि–फिर तो

'कन्या' तथा 'युवति' भी वादीके अनुसार 'ज्ञानवृद्ध' हो सकती हैं; तब वादीका 'ज्ञानवृद्ध' अर्थ स्वयं ही कट गया; अन्यथा एतदादि आपत्तियां आती हैं, तब आर्यसमाजिन लड़कियों वा युवतियोंके अभी न ज्ञानवृद्ध होनेसे, और न ही आयु-वृद्ध होनेसे, उनको यज्ञविषयक वेदकी आज्ञा देकर 'नरके हि पतन्त्येते' (कन्यादय:) (मनु. ११।३७) इस अपने मान्य पूर्वपद्य-सहचारी मनुपद्यसे वादी उन्हें नरकमें ही गिरानेवाले बने। यदि प्रतिपक्षी इसपर तिलमिलाएं; तव 'न वै कन्या न युवति:' इसका 'वृद्धा-स्त्री' यह अशुद्ध अर्थ स्वयं काट दें, और यहाँ भी मनुके अन्य पद्योंकी भान्ति स्त्रीमात्रकेलिए यज्ञ-होतृत्वका निषेध मान लें, तव मनुप्रोक्त नरक भी उन्हें न मिलेगा।

वस्तुत: मनुजीको उक्त पद्यमें 'कन्या' से कुमारी अर्थात् 'अविवाहिता' लड़की इष्ट है, तथा स्त्रीपर्याय 'युवति' शब्दसे 'विवाहिता स्त्री' इष्ट है। मनुजी लड़कीका ८वें वा १२वें वर्षमें विवाह मानते हैं (९।९४) और कहते हैं—'पिता रक्षति कौमारे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (९।३) यहाँ मनुजी पिताकी रक्षणीयावस्था ७ वा ११ तककी अवस्थाको कौमार–कुमारावस्था अर्थात् कन्यात्व कहते हैं। उस लड़कीकी भर्ताकी रक्षणीयावस्था ८-१२ वर्षकी अवस्थाको मनुजी युवावस्था मानते हैं, तभी ८ वर्षके उपनेय लड़केको भी स्वा.द.जी 'युवा सुवासा:' मन्त्रमें उपनयनमें युवा कहते हैं।

तव उक्त-मनुपद्यमें 'कन्या' शब्दसे मनुको कुमारी अर्थात् अविवाहिता ७ वा ११ वर्ष तककी लड़की, तथा 'युवति' शब्दसे स्त्री अर्थात् विवाहिता ११ वर्षके वादकी स्त्री इष्ट है। तभी श्रीकुल्लूकभट्टने उसकी टीकामें कहा है—'कन्या-अनूढा, ऊढा-तरुणी (युवति:)। इसी प्रकार अन्य टीकाकारोंका भी अभिप्राय है। जैसाकि–श्रीराघवानन्दने लिखा है– 'कन्या युवतिश्च ऊढाऽनूढे'। श्रीमेधातिथिने–'न च श्रौतेषु अग्निषु स्त्र्यादीनां प्राप्तिर्न तु अविदुषाम्; विशिष्टानामेव पुंसामार्त्विज्य विधानात्।'

इसी तरहके 'महाभारत' के 'न वै कन्या न युवतिः' (शान्तिपर्व १६५।२१) इस पद्यकी टीकामें श्रीनीलकण्ठने भी लिखा है—'परिवेष्टा-आहुतिप्रक्षेप्ता। कन्या-युवत्योः स्मार्ताग्निहोत्रे 'स्वयं, पत्नी, अपि वा पुत्रः, कुमारी, अन्तेवासी वा' इति आश्वलायनवचनाद् अधिकृतयोरत्रापि प्रसक्तौ निषेध उक्तः' यहाँ भी वही हमारा किया हुआ अर्थ है। वादीके मान्य मैलापुर (मद्रास) के 'विवाहकालविमर्श' में भी यही हमारा किया हुआ ही अर्थ रखा गया है। कोई वृद्धा स्त्रीके गीत नहीं गाये गये हैं। यहांपर तभी कुमारी तथा विवाहिता स्त्रीका वैदिक-यज्ञमें निषेध किया है।

श्रीनीलकण्ठका यह भाव है कि—आश्वलायनने कुमारी तथा पत्नीको स्मार्त-अग्निहोत्रकी रक्षाका भार सौंपा है। कहीं वैदिक-अग्निहोत्रमें भी उनकी प्रसक्ति न हो जावे; इसलिए महाभारतने उनका निषेध कर दिया है। इस प्रकार हमारा किया अर्थ ही सिद्ध हुआ, और कन्या और युवति विवाहिता-अविवाहिता वाचक इष्ट हुए। तब स्त्रीमात्रका श्रौतयज्ञमें निषेध सिद्ध हुआ।

तभी मनुजीने अन्यत्र भी तात्पर्य-निर्णायक लिङ्ग 'अभ्यास' से स्त्रीमात्रका यज्ञहोतृत्वमें निषेध किया है। देखिये—'स्त्रिया क्लीवेन च हुते न [यहां 'न' की गतपद्यसे अनुवृत्ति आ रही है] भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित्। अश्रीकमेतत् साधूनां यत्र जुह्वत्यमी (स्त्रीप्रभृतयः) हविः। प्रतीपमेतद् देवानां तस्मात् तत् परिवर्जयेत्' (४।२०५-२०६) (जहाँ स्त्री आदि होता हुआ करें; वहाँ ब्राह्मण भोजन न करे। क्योंकि—यह सत्पुरुषोंकेलिए अशोभावह कार्य बताया गया है; तथा जिन देवताओंका हम यज्ञ कर रहे होते हैं; स्त्री आदिका होता होना उन देवताओंसे भी प्रतिकूल है। अब प्रतिपक्षके पक्षका पूरा सफाया हो गया।

आर्यसमाजी श्रीतुलसीरामस्वामी भी इस पद्यका यही अर्थ करते हैं। देखिये—'जिस यज्ञमें...स्त्री या नपुंसक 'होता' होते हैं, ऐसे यज्ञमें ब्राह्मण कभी भोजन न करें। जिस यज्ञमें पूर्वोक्त [स्त्री आदि] होता

(हवन करनेवाले) होते हैं; यह सज्जनोंको बुरा लगनेवाला और विद्वानों [देवताओं] को अप्रिय है, इससे उसमें भोजन न करे'।

यहाँ तु.रा. स्वामीने 'देवानां' का 'विद्वानों' यह अर्थ गलत किया है, यह हम 'आलोक' (४) में बतावेंगे। जिन देवताओंका हम यज्ञ-यजन कर रहे होते हैं, उनको स्त्री-शूद्रादिका 'होता' होना पसन्द नहीं।

फलतः मनुजीको 'न वै कन्या न युवतिः' इस पद्यमें 'कुमारी' का तो निषेध करना ही था; पर 'हावयेत्' इस आश्वलायनके स्मार्ताग्निहोत्र-में प्रतीत हो रहा विवाहिताका होम भी उन्हें श्रौताग्निहोत्रमें निषिद्ध हो गया। यही बात मनुजीने 'गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया' (२।६७) में भी कही है। 'नास्ति स्त्रीणां पृथक् यज्ञः' (५।१५५) यहांपर भी मनुजीने स्त्रीमात्रको स्वतन्त्रतासे यज्ञ करनेका भी निषेध कर दिया। सो जो 'गायत्री तपोभूमि' मथुरामें यह काम हुआ करता है, यह अशास्त्रीय है।

'वैतानकुशलः' (मनु. ११।३७) से मनुजीको समस्त वेदाध्यायी, श्रौतकर्म-प्रवीण पुरुष इष्ट है। स्त्री कोई भी नहीं। क्योंकि वादिसम्मत वृद्धा स्त्री भी, चाहे वह आयुमें वृद्धा हो, वा ज्ञान वा अनुभवमें वृद्धा हो; विवाहिता या अविवाहिता ही होगी। पर मनुजी दोनों ही प्रकारकी स्त्रीका निषेध करते हैं। तब मनुजीके मतमें स्त्रीमात्रके होतृत्वका निषेध सिद्ध होनेसे प्रतिपक्षीका बताया गया। 'मनुमहाराजका तात्पर्य' कट गया, तब 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' 'वैवाहिक विधिः स्त्रीणां' की वादीसे इष्ट प्रक्षिप्तता भी कट गई।

इसी प्रकारका पद्य 'महाभारत' में भी मिलता है—'न वै कन्या न युवतिः' यह कहा जा चुका है, इसका अर्थ आर्यसमाजी वा सुधारक श्रीसातवलेकर-जीने यही किया है-कन्या, स्त्री, मन्त्र-ज्ञानसे हीन, मूर्ख और यज्ञोपवीत-रहित पुरुष अग्निहोत्रमें आहुति न दें। ये लोग जिसके होमकी अग्निमें आहुति देते हैं, उसके सहित अपनेको नरकमें डालते हैं, इसलिए वेद-जाननेवाले याज्ञिक-पुरुषको होता होना उचित है'। यहांपर उन्होंने

'कन्या तथा स्त्री' लिखकर यहाँ वृद्धा-स्त्रीकी जड काट डाली। क्योंकि–'न क्वारी, न ब्याही' इस प्रकार दोनों प्रकारकी स्त्रियोंका निषेध होनेसे स्त्रीमात्रका निषेध हो गया। तब प्रतिपक्षीकी वृद्धा भी गई। 'वृद्धा-कुमारीवर' महाभाष्यमें प्रसिद्ध है; तब बुढिया-कुमारी भी गई, और बुढिया ब्याही भी गई।

वस्तुत: जहांपर 'कन्या' तथा 'स्त्री' अथवा स्त्रीका पर्यायवाचक-'युवति' शब्द आ जाय, वहांपर क्वारी तथा ब्याही–इस अर्थका बोध होता है; वहाँपर वृद्धाकी अर्थापत्ति नहीं आती। जैसे कि–'क्वाथप्रमाणं प्रसृतं स्त्रिया द्विप्रसृतं भवेत्। कन्येतरस्या:, कन्याया: तद्वद् वस्ति-प्रमाणकम्' (सुश्रुत. चिकित्सितस्थान ३७।११६) यह यहाँपर कन्या तथा कन्येतरा (विवाहिता) कहनेसे बोध हो जाता है।

(४०) (आक्षेप)–वृद्धा स्त्रीका ही होतृत्व होता है, इसमें 'जिव्री विदथमावदासि' इस मन्त्रकी साक्षी होनेसे ठीक है। इसका श्रीहरदत्तने यहाँ अर्थ किया है कि–'जीर्णौ सन्तौ वृद्धौ सन्तौ श्रौतस्मार्तविषयिकां चर्चां करिष्याव:' तब यह कैसे कहा जा सकता है कि–मनुजीके 'न वै कन्या न युवति:' इस पद्यमें वृद्धाका होतृत्व इष्ट नहीं। 'वृद्धा' से ज्ञानवृद्धा अर्थ भी लिया जा सकता है।

(परिहार)—वृद्धा स्त्रीकी सिद्धिमें प्रतिपक्षीसे दिया हुआ प्रतिपक्षी-का अस्त्र तो अब पुराना वा कुण्ठित हो चुका है। उसका उत्तर दिया जा चुका है। यहाँ कोई स्त्रीके वेदाध्ययन की बात नहीं। यजन तो उपनयन तथा वेदके अधिकारसे वहिर्भूत निषादस्थपतिका भी वचन-विशेषके बलसे कहा गया है। यज्ञमें बैठना शूद्रको छोड़कर अपने अनुपनीत बच्चोंका भी हो सकता है; पर इससे उन्हें यज्ञका अधिकार नहीं हो जाता। 'जिव्री' में वादीको द्विवचनान्त वृद्ध दम्पती इष्ट होने से पति भी साथ शामिल है। तब वह पति भी जवानीमें वयोवृद्ध न होनेसे वादीके अनुसार युवावस्थामें यत्र न कर सकेगा। वादीका 'ज्ञानवृद्ध' अर्थ

तो पहले ही काटा जा चुका है।

'जिव्री' का 'जीर्णौ' अर्थ श्रीहरदत्तने किया है, तब उसे यहाँ क्षीण आयु वाले अर्थात् आयुका वृद्ध इष्ट है, ज्ञानवृद्ध इष्ट नहीं; तब वादी ज्ञान तथा आयुमें न वृद्धा लड़कियोंको अपने इष्ट मनुपद्यसे यज्ञविषयक वेदमें प्रवेशकी आज्ञा देकर वह स्वयं उन्हें नरकगामिनी बना रहा है। तब 'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृद्' 'वैवाहिको विधि: स्त्रीणां' यह पद्य 'न वै कन्या न युवति:' इस मनुपद्यसे विरुद्ध न होनेसे प्रक्षिप्त सिद्ध न हुए। प्रत्युत तदनुकूल होनेसे; क्योंकि वहाँ स्त्रीमात्रका निषेध होनेसे उक्त पद्य मनुजीके ही सिद्ध हुए; जिससे वादीके प्रयासपर पानी फिर गया।

(४१) अब अन्य सूत्रग्रन्थोंकी सम्मति भी देखिये—बोधायनधर्मसूत्र-'यद् अमन्त्रा: स्त्रियो मता:' (१।११।५) यहाँ स्त्रियोंका मन्त्रभागात्मक-वेदमें अनधिकार बताया गया है। (ख) 'न स्त्री जुहुयात्' (आपस्तम्ब-धर्म. २।१५।१७) यहाँ स्त्रीमात्रको हवनका निषेध किया गया है। (ग) 'अथास्य [पुत्रस्य] मूर्धानमवजिघ्रति 'प्रजायतेष्ट्वा इत्यादि-मन्त्रै:। स्त्रियै मूर्धानमेव अवजिघ्रति तूष्णीम्' (पारस्करगृ. १।१८।३-६) यहाँ पुत्रके संस्कारमें तो मन्त्र पढ़ना बताया गया है, पुत्रीके संस्कारमें मन्त्र-पढ़ना नहीं बताया गया है। चुपचाप ही माथा सूंघना कहा है।

(घ) गोभिलगृ. में देखिये–'एतयैव आवृता स्त्रियास्तूष्णीम्' (२।८। २३) यहाँ भी लड़कीका संस्कार विना मन्त्रके कहा है। (ङ) जैमिनिगृ. में—'आवृतैव स्त्रिया: कुर्याद् अमन्त्रम्' (१।११) यहाँ भी लड़कीका संस्कार मन्त्रके विना ही कहा है। (च) आश्वलायनगृ. में–'आवृतं कुमार्यै' (१।१५।१२) यहाँपर 'आवृता' का अर्थ करते हुए गार्ग्यनारायण-की वृत्तिमें लिखा है–'कुमार्यास्तु अमन्त्रकं कुर्यात्' अर्थात् कुमारीका संस्कार बिना मन्त्रके करे।

(छ) आपस्तम्बगृ. में भी यही कहा है—'आवृतश्च आस्त्रीभ्य:'

(१।२।१५) इसकी व्याख्यामें वादीसे बहुत मान्य प्रसिद्ध टीकाकार श्रीहरदत्तने लिखा है—'मन्त्ररहिता: क्रिया आवृत उच्यन्ते' (मन्त्ररहित क्रियाको आवृत कहा जाता है) (ज) इसी प्रकार बोधायनगृह्यशेषसूत्रमें भी कहा है—'पुत्राय च दुहित्रे च समानी ब्राह्मण-क्रिया। मन्त्रवद् गर्भ आजन्म जन्माद्या आवृतं स्त्रियै' (१।१२।१०) यहां भी कुमार तथा कुमारीकी क्रिया समान मानी गई है, पर कुमारीके कृत्यमें मन्त्ररहित-क्रिया बताई गई है। इस प्रमाणराशिसे स्पष्ट हो रहा है कि—स्त्रीका मन्त्ररूप-वेदमें अधिकार नहीं है।

(झ) 'द्राह्यायणगृ.' (२।१।१३) 'तूष्णीं स्त्रिया:' इस सूत्रपर रुद्र-स्कन्दकी वृत्ति देखिये—'मन्त्रवर्जं स्त्रिया: कुर्यात्। उपनयनं तु नास्ति, तत् श्रुतिवचनात्'। यहां भी स्त्रीका कृत्य मन्त्ररहित लिखा है, और उसका उपनयन नहीं माना गया है। (ञ) अब 'खादिरगृ.' के 'तूष्णीं स्त्रिया:' (२।३।१५) सूत्रपर रुद्रस्कन्दने लिखा है —'जातकर्मादि-चौलान्तं मन्त्रवर्जं स्त्रिया: कुर्यात्।...मानवेऽप्युक्तम् 'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणा-मावृदशेषत:'। उपनयन तु नास्ति, तत्स्थानापन्नतया विवाहस्य स्मरणात्। अतो विवाहात् प्राग् अनुपनीततुल्यमाचरेत्। ऊर्ध्वं तु भर्तृतुल्यं 'सह धर्म: चर्यताम्' इति वचनात्। उपनयनाऽभावादध्ययनम्, तदभावात् तदर्था जपा नियमाश्च न सन्ति। आहत्य विहितास्तु वचन-बलाद् भवन्त्येव'। यहां तो स्पष्टताकी सीमातीतता कर दी गई है। इससे प्रतिपक्षीके सारे प्रयासपर पानी फेर दिया गया है।

इसका यह आशय है कि—विवाहसे पूर्व स्त्रियां अनुपनीतके समान होती हैं। विवाहके बाद स्त्रियां उपनीतके 'कुछ' सदृश हो जाती हैं। तब वे पतिके साथ मिलकर धर्माचरण कर सकती हैं। परन्तु उपनयन न होनेसे उनका वेदाध्ययन नहीं होता। हाँ, यदि स्त्रीकेलिए क्वाचित्क विशेष वचन मिल जाय, तो वचन-बलसे कोई मन्त्रविशेष उससे ऋत्विग्-आदिके आश्रयसे बुलवाया जा सकता है।

इससे स्त्रियोंका वैध तथा क्रमिक (मनु. २।१७३) वेदाध्ययन सब-वेदाङ्ग-उपाङ्गरूप गृह्यसूत्रों तथा स्मृतियोंसे विरुद्ध सिद्ध हुआ। 'बृहत्पराशरस्मृति' में भी कहा है—'सर्वं स्त्रिया विमन्त्रं तु कार्यं काय-विशुद्धये' (४।१४७) (स्त्रियोंके शरीरकी शुद्धिकेलिए सभी क्रियाएं करो, पर बिना मन्त्रके) बृहत्पराशर-स्मृतिको प्रतिपक्षी बहुत प्रमाणित मानता है। देखिये श्रीनगरकी 'श्री' पत्रिकामें उसका लेख।

(४२) प्रश्न—'अर्यमणं नु देवं' मन्त्र पढ़कर लड़की लाजा-होम करती है; इससे लड़कियोंका वेदाधिकार सिद्ध होता है।

(उत्तर)—अब 'अर्यमणं नु देवं कन्या' इस अपने दिये मन्त्रपर जो विवाहमें कन्याओंद्वारा वादीके अनुसार बोला जाता है—प्रतिपक्षी आश्वलायनगृ.के टीकाकार श्रीगार्ग्यनारायणकी व्यवस्था सुने। श्रीगार्ग्य यहाँ प्रश्नोत्तर-प्रक्रियासे लिखते हैं—

(प्र.) 'को जुहोति ?' (यहाँ लाजा-होम कौन करता है ?) (उ.) वधू: (विवाहित हो रही लड़की) (प्र.) 'कस्य एते मन्त्रा: ? (यह मन्त्र किसके हैं ?) (उ.) वध्वा: (वधूके मन्त्र हैं यह)। (प्र.) कुत: ? (क्यों) (उ.) 'सा हि जुहोति मन्त्रलिङ्गात् कन्या अग्निमयक्षत इति' (क्योंकि—वह लड़की ही हवन करती है। इसमें मन्त्रका लिङ्ग भी है। 'कन्या अग्निमयक्षत')।

(सिद्धान्त) तद् असत्। नहि स्त्रीणां मन्त्रेऽधिकारोऽस्ति। (यह बात गलत है। स्त्रियोंका मन्त्रमें अधिकार नहीं होता) कितने स्पष्ट शब्द हैं)। (प्र.) ननु कथं पत्नी-वाचनम् ? (फिर यह मन्त्र पत्नीसे कैसे बोले जाते हैं ?) (उ.) तत्र वचनमस्ति; अत्र तु सन्दिग्धम्। तस्माद् वरस्य मन्त्रा:। (जहाँ स्त्रीसे कोई मन्त्र बुलवाया जाता है; वहाँ विशेष (अपवाद)-वचन होता है, यह तो सन्दिग्ध वचन है। इसलिए 'अर्यमणं नु देवं' इत्यादि तीन मन्त्र वरके ही हैं।) मन्त्रलिङ्गाच्च—'स इमां देव:' इति परोक्षनिर्देश:। यदि हि वध्वा: स्यु: 'स इमां देव:' इति न स्यात् ['स मां

देवः' इति हि स्यात्] (इसमें मन्त्रका लिङ्ग भी है कि—यह मन्त्र वरके हैं, कन्याके नहीं। यदि यह मन्त्र वधूके ही हों; तो 'स इमां देवः' यह परोक्षरूपसे न कहा जाता। 'स मां देवः सविता' (वह देव सविता मुझ लड़कीको,) यह कहा जाता।

यत्तु उक्तम्—सा हि जुहोतीति, तत्र ब्रूमः—अन्यस्यापि मन्त्रो दृश्यते। अध्वयुर्जुहोति, होता वषट्करोति। (जोकि कहा गया था कि लड़की लाजाका होम करती है, इसपर यह उत्तर है कि दूसरेका मन्त्र भी दीखता है। अध्वर्यु हवन करता है, और होता मन्त्र पढ़ता है)।

'यत्तु उक्तं मन्त्रलिङ्गादिति, तत्र ब्रूमः, नह्यत्र इयं कन्याभिधीयते। अन्या एव कन्याः [पूर्वकल्पस्थाः] यदि इयमभिधीयते, बहुवचनं नोपपद्यते, तथाभूतश्च [भूतार्थको लुङ्घटितः] प्रत्ययः [अपि नोपपद्यते], तस्माद् वरस्य [इमे मन्त्राः]।

(जोकि कहा गया था कि—मन्त्रके लिङ्गसे यह मन्त्र कन्यासे पठनीय है—इसमें हमारा उत्तर यह है कि—इस मन्त्रमें विवाही जा रही इस कन्याको नहीं कहा जा रहा, किन्तु अन्य कन्याओंको [जोकि पूर्वकल्पकी थीं]। यदि इस विवाही जा रही लड़कीको कहा जा रहा होता, तो यहाँ कन्यामें 'कन्याः' यह बहुवचन न होता, किन्तु एकवचन ही होता, और इस मन्त्रमें वर्तमानकालका प्रत्यय होता; यह लुङ्लकारका भूतकाल न होता। इस कारण यह मन्त्र वरके ही बोलनेके हैं, लड़कीके बोलनेके नहीं)।

अब वादी बोले, इससे बढ़कर अन्य क्या स्पष्टता हो सकती है? 'इयं नारी उपब्रूते' यह प्रथमपुरुष है उत्तम पुरुष नहीं; तब यह वरके मन्त्र हैं, लड़कीके नहीं।

प्रतिपक्षीसे यह भी प्रष्टव्य है कि—'अर्यमणं नु देवं' यह मन्त्र तथा 'इयं नारी उपब्रूते लाजान् आवपन्तिका' यह दूसरा मन्त्र तथा 'इमान् लाजान् आवपामि' यह तीसरा मन्त्र उसके माने हुए वेदमें है कि—इनसे

स्त्रियोंका वेदाध्ययव सिद्ध कर रहे हो? यदि नहीं; तब इन मन्त्रोंसे कन्याओंका वेदाध्ययन कैसे सिद्ध किया?

यदि कहो कि—अन्य वेद-शाखाओंमें है; तब क्या वादी वेदशाखाओंको वेद मानता है? यदि मानता है; तो उसका सैद्धान्तिक-पराजय हो गया। क्योंकि—आर्यसमाज वेदशाखाओंको वेद नहीं मानता है? यदि कहो कि-'सनातनधर्म तो वेद-शाखाओंको वेद मानता है; तो इससे स्त्रियोंका वेदाध्ययन सिद्ध हो गया', इसपर उत्तर यह है कि—सनातनधर्मकी शास्त्रीय-व्यवस्था तो हम पहले लिख ही चुके हैं, 'तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' पर इससे स्त्रियोंका वैध तथा क्रमिक वेदमें अधिकार नहीं हो जाता। अतः इससे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं।

यदि कहो कि—'वेदमें 'पूल्यानि' है, और सौत्रमन्त्रमें 'लाजान्' है; तो इस थोड़ेसे भेदसे 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' (जिसका एकदेश विकृत हो; वह अन्य नहीं हो जाता) इस न्यायसे यह 'लाजानावपन्तिका' मन्त्र भी वेदभिन्न न रहा; और इससे स्त्रियोंका वेदाधिकार सिद्ध हो गया'। इसपर उत्तर यह है कि—व्याकरणकी यह एकदेशीय-परिभाषा वेदके विषयमें लागू नहीं हो सकती। वेदमन्त्रसे एक मात्राका भेद होनेपर भी वह 'अनाम्नातेषु अमन्त्रत्वम्' (२।१।३४) 'वाक्यनियमात्' (१।२।३२) 'इस मीमांसासूत्रानुसार वेदमन्त्र नहीं रहता'। इसके अतिरिक्त इसके आगेके 'इयं नारी उपब्रूते' 'इमान् लाजान् आवपामि' यह दो मन्त्र भी 'वेदमें नहीं' मिलते, यह 'त्रिक' (तिजोडी) है, इस भारी वैषम्यसे सिद्ध हुआ कि—यह सौत्रमन्त्र हैं, वेदमन्त्र नहीं। इनके पढ़नेसे स्त्रीको वेदाधिकार सिद्ध नहीं हो जाता। स्त्रीको सौत्रमन्त्र निषिद्ध नहीं है। वादी जो वृद्धा स्त्रीका होतृत्व मनुके पद्यसे बताता था, वह भी अर्थ उसका कट गया, क्योंकि—वह विवाह्यमाना लड़की कन्या भी थी, प्रतिपक्षीके अनुसार युवति भी थी।

(४३) अब गृह्यसूत्रादिके इस विषयमें अन्य प्रमाण भी दिये जाते

है—'अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत' (आश्व.गृ. १।१९।१) यहाँ भी गार्ग्यनारायणकी वृत्ति देखिये—'जन्मप्रभृति अष्टमवर्षे ब्राह्मणमुपनयेत। कुमारमिति वर्तते, **कुमारी-निवृत्त्यर्थं** मित्युक्तम्' (१।१५।१) (अष्टम वर्ष में ब्राह्मणका उपनयन होता है। यहाँ कुमारकी अनुवृत्ति आ रही है, इससे **कुमारीकी निवृत्ति** हो जाती है।) वहीं अन्य भी स्पष्टता की गई है—(प्र.) कुमार-ग्रहणं किमर्थम् ? (उ.) अधिकारार्थम्। अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत इत्युपनयनं कुमारस्यैव यथा स्याद्, न कुमार्याः' इति ('कुमार' ग्रहण यहाँ किसलिए है ? वह अधिकार (अनुवृत्ति) केलिए है कि—वह उपनयन लड़केका ही हो, लड़कीका नहीं।

इसपर प्रतिपक्षीके **बहुत-मान्य** टीकाकार श्रीहरदत्तने भी कहा है—'ब्राह्मणग्रहणं त्वत्र स्त्री-शूद्रादि-निवृत्तये' (यहाँपर ब्राह्मणका ग्रहण इसलिए है कि—स्त्री एवं शूद्रोंका उपनयन नहीं होता) यहाँपर भारद्वाजका वचन भी है—'जाताधिकारजननाद् अष्टमेऽब्दे भवेदिदम्। **कुमाराधिकृते-श्चापि न स्त्रीणा** मिदमुच्यते' (यहाँ 'जात' का अधिकार चला हुआ है, अतः जन्मसे उपनयन अष्टम वर्षमें होता है; पर साथ ही 'कुमार' का अधिकार भी चला हुआ है, इसलिए यह उपनयन **स्त्रियोंका नहीं होता**।) इससे अन्य स्पष्टता क्या हो ? इस प्रकार **स्त्रियोंका उपनयन गृह्यसूत्रोंसे** भी विरुद्ध सिद्ध हुआ। गृह्यसूत्र वेदका 'कल्प' नामक अङ्ग है; जब वेदाङ्ग स्त्रियोंका वेदाध्ययन नहीं बताता, तब वेदमें उसकी व्यवस्था कैसे हो सकती है ? कल्प उसी वेदोक्तको ही बताता है।

(४४) स्मृतियोंमें भी यह विषय स्पष्ट है ही। 'तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' (१।२।१३) 'याज्ञवल्क्यस्मृतिके इस वचनसे स्त्रियोंकी क्रियाएं **मन्त्ररहित** कही गई हैं; पर विवाह उसका समन्त्रक-कहा है। 'व्यासस्मृति' में भी कहा है—'मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः' (१।१५) 'विवाहो मन्त्रतस्तस्या शूद्रस्याऽमन्त्रतो दश' (१।१६) इसी प्रकार 'अग्निपुराण' में भी कहा है—'स्त्रीणाममन्त्रतस्तानि विवाहस्तु

समन्त्रकः' (१५३।११) 'वृहद्विष्णुस्मृति'में भी कहा है—'एताः क्रियाः **स्त्रीणाम् अमन्त्रकाः**, तासां समन्त्रको विवाहः' (२६।१३-१४) यहाँ स्पष्ट ही स्त्रियोंकी क्रियाएं मन्त्र-रहित कही गई हैं, केवल विवाह ही समन्त्रक कहा है—जो स्पष्ट अपवाद है। यह क्यों ? यह इस तृतीय पुष्पके पृष्ठ २१०-२११ में देखा जा सकता है।

स्त्रीके विवाहकी समन्त्रकतामें उपपत्ति वादिमान्य **'हारीत'** के वचनमें देखिये—'नहि शूद्रसमाः स्त्रियः। नहि शूद्रासु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्या जायन्ते, तस्मात् स्त्रियो मन्त्रतः संस्कार्याः' (२१ अ.) यह वचन 'शूद्रासु न जायन्ते' इस लिङ्गसे तथा 'मन्त्रैर्यदि न संस्कृता' (वसिष्ठ १७।६५) इत्यादि वचनोंसे स्त्रीके विवाह-संस्कार विषयक है, उपनयनविषयक नहीं। **'पत्नी अमन्त्र बलि हरेत्'** (मनु. ३।१२१) यहाँ स्त्रीको बलि करना भी **बिना मन्त्रके** कहा है। अन्य मनुके प्रमाण पूर्व लिखे ही जा चुके हैं।

(४५) प्रश्न—वेदमें **'सरस्वती'** एक उत्तम स्त्रीका नाम है। उसके-लिए मन्त्र आता है—'सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते: सरस्वतीमध्वरे तायमाने। सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्' (ऋ. १०।१७।७) इसमें उत्तम-स्त्रीको यज्ञकार्यमें बुलानेकेलिए कहा गया है। उत्तम स्त्री तो यज्ञमें ब्रह्मा तक बन सकती है। देखिये वेदमें 'अधः पश्यस्व मोपरि, सन्तरां पादकौ हर। मा ते कशप्लकौ दृशन् **स्त्री हि ब्रह्मा** बभूविथ' (ऋ. ८।३३।१९) (जो स्त्रियां विद्याभ्यास करके उद्धत नहीं होतीं, नीचे देखकर चलती हैं, और अपने पैर नीचा-ऊँचा देख-देखकर रखती हैं, जो अपने घुटनोंको ढककर चलती हैं कि कोई देख न सके। इस प्रकार अतीव विदुषी, योग्य आचरणवाली ब्रह्मा तक बन सकती है'। (आचार्य गुरुकुल होशङ्गाबाद)

उत्तर—प्रतिपक्षी लोग वेदोंके **पूर्वापर-प्रकरणको** छिपाकर कृत्रिम अर्थ किया करते हैं—ऊपर कहे हुए अर्थ इसके उदाहरण हैं। यह उन

प्रतिपक्षियोंका छल है जो कि–यज्ञमें सरस्वतीका मानुषी-स्त्री–यह अर्थ कर दिया करते हैं। वस्तुतः सरस्वती एक देवताविशेष है, मानुषी स्त्रीका नाम नहीं।

'यज्ञ'-शब्द 'यजधातुसे नङ् प्रत्यय करनेपर बनता है। यज धातुका अर्थ होता है—देवपूजा, मनुष्यपूजा नहीं। सो यज्ञमें द्यु लोकमें रहनेवाले देवताओंका आह्वान करके उन्हें हवि देकर उनकी पूजा की जाती है। 'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा' आदि मन्त्रोंसे उन-उन देवताओंको हवि दी जाती है। और वह हवि अग्निमें डाली जाती है। यह अग्नि, सोम आदि कोई मनुष्य नहीं है। यदि परमात्माका नाम मानोगे; तो वादीके अनुसार मूर्तिपूजा आ पड़ेगी कि–परमात्माका नाम लेकर उसको अग्नि-मूर्ति-द्वारा हवि दी गई। देवताकी हविको अग्निमें डालनेका कारण यह है—

'अग्निर्वै देवानां मुखम्' (गोपथब्रा. २।१।२३) 'अग्निर्वै देवानां जठरम्' (तै.ब्रा. २।७।१२) 'अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति' (शतपथ. ३।१।२।१) यह वेदके ब्राह्मणभागके प्रमाण हैं। इनमें कहा गया है कि–देवताओंका पेट वा मुख अग्नि हैं। सो सब देवताओंकी हवि जो अग्निमें डाली जाती है; यह देवताओंकी तृप्तिकेलिए होती है। यदि मानुषी स्त्रीका अर्थ होता; तो उनके पेटकी अग्निमें वह हवि न डालकर अर्थात् उनको भोजन न खिलाकर उसकी हवि भला अग्निमें क्यों डाली जाती? क्या इससे उनका पेट भर जावेगा?

अब इस विषयमें मन्त्रभागके प्रमाण देखिये–'अग्ने! वह हविः अद्याय देवान्...इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि' (ऋशा.सं. ७।११।५) (हे अग्नि, द्यु लोकवासी देवताओंके खिलानेकेलिए यह हवि तू (अग्नि) धारण कर।) 'इमं यज्ञं नो वह [अग्ने!] स्वर्देवेषु गन्तवे' (ऋ. ६।५।१७) (हे अग्नि! यह हमारा यज्ञ स्वर्गके देवताओंको पहुंचानेकेलिए तू धारण कर) इसमें अग्निमें हवन करनेसे देवता-पूजा तथा तृप्ति बताई

गई है। यह बातें मानुषी स्त्रियोंमें नहीं घट सकतीं।

उन्हींमें एक देवता सरस्वती भी है; वह कोई मानुषी स्त्री नहीं। सो उस सरस्वती-देवताका आह्वान करके उसके नामकी हवि अग्निमें डाली जाती है। कोई मानुषी स्त्री यहाँ 'सरस्वती' विवक्षित नहीं, न ही उस मानुषीका हविसे वा द्यु लोकसे कोई सम्बन्ध है।

'मह्यं देवी सरस्वती' (अथर्व.शौसं. ६।८९।३) यहाँपर भी सरस्वती एक देवताका नाम है। 'शिवा नः शन्तमा भव सुमृडीका सरस्वति! मा ते युयोम संदृशः' (अथर्व. ७।७१(६८)।३) यहाँपर भी उसी सरस्वती देवीसे प्रार्थना की गई है कि—हे सरस्वती, तू हमें सुख देने-वाली बन। हम तेरी दृष्टिसे पृथक् न होवें। क्या ऐसी बातें पराई स्त्रीसे कही जा सकती हैं? यह तो असभ्यता हो जावेगी।

सरस्वती देवी विद्या एवं बुद्धिकी अधिष्ठात्री देवता-विशेष है। कोई मानुषी स्त्री नहीं। तभी 'शं सरस्वती सह धीभिरस्तु' (अथर्व. १९।११।२) यह उस सरस्वती-देवतासे बुद्धि तथा कल्याणकी प्रार्थना की जाती है। पराई-स्त्री भला हमें बुद्धि तथा कल्याण कैसे दे सकती है? 'सरस्वती वीर-पत्नी धियं धात्' (६।४९।७) इस ऋस.के मन्त्रमें भी सरस्वती-देवताको बुद्धिदात्री कहा गया है। क्या गुरुकुलके आचार्य, तथा विद्या-स्नान कर चुके हुए स्नातक कभी किसी पराई स्त्रीको बुद्धि देनेकेलिए बुलाने जाएंगे?

इसी प्रकार 'प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। धीनामवित्री अवतु' (ऋ. ६।६१।४) यहाँपर भी सरस्वती देवीको बुद्धिकी रक्षिका होकर जीवनकी रक्षणकर्त्री कहा है। वेदमें या तो सरस्वती नदीका वर्णन आता है, जिसके किनारे तपस्या करनेसे बुद्धिकी प्राप्ति होती है, (देखो यजुः(२६।१५); या फिर सरस्वती-देवताका वर्णन आता है, किसी मानुषी स्त्रीका नहीं। तभी निरुक्तकारने भी कहा है —'सरस्वती-इत्येतस्य नदीव

देवतावच्च निगमा भवन्ति' (२।२३।३)।

'मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु' (पारस्करगृ. २।४।७) में भी सरस्वती-देवताका बुद्धिदातृत्व स्पष्ट बताया गया है। स्वा.द.जीने भी इस मन्त्रको अपनी 'संस्कारविधि' के वेदारम्भके ८९ पृ. में उद्धृत किया है; और इसे अग्निके आगे पढ़वाया है; किसी मानुषी स्त्रीको निमन्त्रित करके प्रार्थित नहीं किया है। अग्नि, देवताओंका प्रतिनिधि है, यह पूर्व कहा जा चुका है। इसीलिए वेदमें कहा है—'यथा हव्यं वहसि जातवेदः! यथा यज्ञं कल्पयसि प्रजानन्। एवा देवेभ्यः सुमतिं न आ वह' (अ. ४।२३।२) यहां देवताओंकी सुमति चाहते हुए हवि अग्निमें डाली जाती है।

सो मानुषी स्त्रीका अग्निके आगे कहनेका तथा उसमें उसकी हवि डालनेका क्या सम्बन्ध हो सकता हैं? और न स्वामीने वहाँ किसी मानुषी स्त्रीको बुलवाकर यह प्रार्थना कहीं कराई है। देवताओंका तो अग्निसे सम्बन्ध होता है। जैसे कि–निरुक्तमें भी कहा है—'अथापि ब्राह्मणं भवति–'अग्निः सर्वा देवताः' (७।१७।४) अर्थात् अग्नि सर्व-देवतात्मक होता है; सो उसके आगे सभी देवताओंसे प्रार्थना की जा सकती है, और उस देवताकी हवि उस अग्निमें डाली जा सकती है। इस प्रकार आश्वलायनगृ. (१।१५।२) में भी सरस्वती देवीको बुद्धि देनेवाली सूचित किया है।

इस बातको जान लेनेसे 'सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते' (अ. १८।१।४१) इस मन्त्रका अभिप्राय समझमें आजाता है कि–देवताओंको बुलाना चाहते हुए लोग सरस्वती देवताका भी आह्वान करते हैं। जब यज्ञ हो रहा है; तब भी सरस्वती-देवीको पुकारते हैं। पुण्यात्मा लोग सरस्वती देवीको बुलाया करते हैं—हवि देनेवालेको सरस्वती वर दे। उसी सरस्वती-देवताको 'अवा सरस्वत्यै नारि! पितृभ्यश्च नमस्कुरु' (अ. १४।२।२०) विवाह्यमान नारीके द्वारा नमस्कार भी कराई गई है।

वही सरस्वती देवता 'प्र वाग्देवी ददातु नः' (यजुः ६।२९) वाणीकी अधिष्ठात्री देवता मानी गई है। उससे वरदान मांगा गया है। इस कारण शतपथब्रा.में 'वाग् वै सरस्वती' (५।२।५।१३) में सरस्वतीको वाणीकी अधिष्ठात्री देवताका नाम बताया है। 'निघण्टु' (२।११) में 'सरस्वती' शब्द 'वाक्' के नामोंमें आया है। तब उसका 'मानुषी-स्त्री' अर्थ करना वेदादिशास्त्रोंसे विरुद्ध अत्यन्त दुस्साहस है।

'सरस्वती दाशुषे वार्यं धात्' (ऋ.) इस पूर्वके कहे मन्त्रका श्री-सायणाचार्यने यह अर्थ किया है–'हवींषि दत्तवते यजमानाय वार्यं—वरणीयं कर्मफलं दात्-प्रयच्छत्' (हवि देनेवाले यजमानको सरस्वती वरणीय-कर्मका फल दे। इस अर्थका मानुषी-स्त्रीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। हवि (आहुति) देवताको दी जाती है, मानुषी स्त्रीको नहीं। नहीं तो उसके मुखमें डाली जाती।

निरुक्त लिखता है–'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्; तां मनसा ध्यायेत्' (८।२२।११) (जिस देवताको देनेकेलिए हवि उठाई हो; उसका पहले मनसे ध्यान करे)। इस प्रकार सरस्वती देवताका भी मनसे ध्यान कर उसके नामकी आहुति अग्निमें डाली जाती है। अग्निमें आहुति देते हुए किसी पराई मानुषी स्त्रीका मनसे ध्यान नहीं किया जाता; अन्यथा यह मानसिक व्यभिचार हो जावे? इस प्रकार 'सरस्वती' शब्दसे वादीको कुछ भी मानुषी स्त्रीविषयक इष्टसिद्धि नहीं; क्योंकि मानुषी स्त्रीके नाम अग्निमें हवि नहीं दी जाती। सरस्वती यदि किसी मानुषीका नाम होता; तो वहां हवि उस स्त्रीको खिलाई जाती। पर ऐसा नहीं होता।

(आक्षेप)—आपने 'शिवा नः शन्तमा भव सुमृडीका सरस्वति! मा ते युयोम सन्दृशः' (अ. ७।७१(६८)।२) यह मन्त्र जो गत उत्तरमें उद्धृत किया है, वह तो स्पष्टतया 'सरस्वती' को मानुषी-स्त्रीवाच प्रमाणित करता है कि–हे विदुषी स्त्री, तू हमें सुख और शान्ति देनेवाली बन; यह तो पति, पत्नीको सम्बोधित करके कहता है—इसलिए 'वाग् वै सरस्वती' (शत. २।५।१।११) इस ब्राह्मणके वचनमें 'सरस्व- शब्द.

'विदुषी' स्त्रीकेलिए आता है।

इसमें यदि आपको सन्देह हो; तो मानव-गृह्यसूत्र' के 'सखा सप्तपदी भव, सुमृडीका सरस्वती। मा ते वियोम सन्दृशि' (१।११।१८) में सप्तपदीके अवसरपर वर, वधूको सम्बोधित करता है, यह वही आपसे उद्धृत किये गये अथर्ववेदके मन्त्रका अनुसारी मन्त्र है। इसमें किसी निष्पक्षपात-विद्वान्को अणुमात्र भी सन्देह नहीं रह सकता, कि-स्त्रीको ही सरस्वतीके नामसे पुकारा गया है। पक्षपात-ग्रस्तोंकी तो बात पृथक् है।

(परिहार)—हम इस विषयमें पूर्व कह ही चुके हैं कि-उक्त अथर्व-का मन्त्र सरस्वती-देवताके विषयमें है, किसी मानुषी स्त्रीकेलिए नहीं। उक्त अथर्व मन्त्रका विनियोग किसी पतिका पत्नीसे प्रार्थना करनेमें नहीं, किन्तु द्विजपुरुषोंकी, सरस्वती देवीसे-जिसका हम वेदादिशास्त्रों-द्वारा पूर्व-निरूपण कर चुके हैं, उस विद्याधिष्ठात्री देवीसे प्रार्थना है। जिसकी आहुति वादीके स्वामी भी अपनी सं.वि.में अग्निमें डलवा गये हैं; नहीं तो उनको वह आहुति उस विदुषी-स्त्रीके मुखमें डलवानी चाहिये थी।

आगे जो वादीने मानवगृह्यसूत्रका अथर्ववेदसदृश सप्तपदीके अवसरका मन्त्र दिया है; उसमें सरस्वती शब्दके आनेसे उसे विदुषी-स्त्रीका वाचक वादीने सिद्ध किया है—इसपर जानना चाहिये कि-क्या अथर्ववेदके 'सरस्वती' शब्द वाले उक्तसूक्त (७।७१।२) में सप्तपदीका प्रकरण वा विनियोग है कि-वादीने पतिद्वारा पत्नीको प्रार्थना कराई?

यदि ऐसा है, तो सप्तपदीसे पूर्वके छः मन्त्र अथर्ववेदके उसी (७।७१) सूक्तमें वादी दिखलावे? यह उसकी छलकी दुष्प्रकृति है। अथर्व.के मन्त्रमें जबकि-'सरस्वति' विशेष्य तथा सम्बोध्यमान है; तब यहाँ वादीने 'पत्नी' का अर्थ कैसे कर डाला?

शेष रहा मानवगृह्यका 'सखा सप्तपदी' मन्त्र; यह अवश्य वहाँपर सप्तपदीमें है। पत्नीके छः कदम मन्त्रोंके साथ चलानेके बाद सातवां मन्त्र है। तब यहाँपर सम्बोध्यमान तथा विशेष्य पत्नी है, सरस्वती नहीं।

दोनों मन्त्रोंमें भी भारी वैषम्य है। इसलिए गृह्यके मन्त्रमें अथर्वके मन्त्रकी भान्ति 'सरस्वती' यह सम्बुद्धिपद नहीं, किन्तु पत्नीका यह विधेय-विशेषण है।

वादीने यह बात लोकदृष्टिसे छिपाई है, हम उसे प्रकट करते हैं कि हमसे दिये अथर्ववेदके मन्त्रमें 'सरस्वति'! सम्बुद्धिपद है; तभी 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (पा. ७।३।१०७) से उसे ह्रस्व हुआ है। परन्तु वादीके दिये गृह्यके मन्त्रमें उसने देखा होगा कि-वहांपर 'सरस्वती' में ह्रस्व नहीं है, अतः वह सम्बुद्धिपद भी नहीं है।

जब वह सम्बोधन नहीं; तब वह वहाँपर विशेष्य भी नहीं, किन्तु विधेय-विशेषण है। सप्तपदीमें सम्बोध्यमान 'पत्नी' है-यह तो स्पष्ट ही है। तब अर्थ हुआ कि—

'हे पत्नि! त्वं सखा (यहाँ दीख रहा हुआ पुंस्त्व आर्ष है, क्योंकि-'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' (पा. ४।१।६२) इस सूत्रमें 'सखि' शब्द को वेदमें स्त्रीत्वमें भी ङीष् नहीं होता, अतः वहाँ स्त्रीत्वमें भी 'सखा' ही बनता है) भव, सप्तपदी भव, सुमृडीका भव, सरस्वती भव' यह पतिकी पत्नीको ऐसा बननेकी प्रेरणा है। अब यहां 'सरस्वती' यह पत्नी: का विधेय-विशेषण सिद्ध हुआ।

उसका अर्थ यह है-तू 'सरस्वतीवद् भव' अर्थात् तू 'सरस्वती-देवता-की तरह' बन। यदि वादी यहां यह प्रश्न करे कि-यहां 'वति' प्रत्यय तो है नहीं; तब 'सरस्वतीवद् भव' यह अर्थ कैसे किया गया?' इस पर वादी ध्यान देकर सुने—

वेदाङ्ग-व्याकरणके महाभाष्यमें लिखा हैं—'अन्तरेणापि वतिम् अतिदेशो गम्यते। अब्रह्मदत्त ब्रह्मदत्त इत्याह, तेन मन्यामहे-ब्रह्मदत्तवद् अयं भवति' (१।१।२३) अर्थात् जब अब्रह्मदत्त (जो ब्रह्मदत्त न हो) को 'ब्रह्मदत्त' कहा जावे, तब उसका भाव होता है-ब्रह्मदत्तकी तरह, तब मानुषीको, जो सरस्वती-देवता नहीं, उसे 'सरस्वती' कहनेका यह

तात्पर्य होता है कि—तू सरस्वतीकी तरह बन' उसके कई गुण (सब नहीं; क्योंकि—'वति' प्रत्ययके अर्थमें सर्वसादृश्य कभी नहीं होता) लेनेमें उस शब्दका पर्यवसान हो जाता है।

इसी प्रकार "न्यायदर्शन' में भी कहा है—'प्रधानशब्दानुपपत्तेः, गुणशब्देन अनुवादः, निन्दा-प्रशंसोपपत्तेः' (४।१।६०) (जहां प्रधानशब्द उपपन्न (संगत) न हो सके, तो उसको वहां 'प्रधान-शब्द' न मानकर 'गुण-शब्द' ही समझना चाहिये 'गौणशब्द'। उस शब्दसे केवल निन्दा-वा प्रशंसा ही अभिप्रेत होती है; वह शब्द वास्तविक उस अर्थवाला नहीं हो जाता)।

तव यह 'सरस्वती' शब्द' वहां उसकी प्रशंसाकेलिए हुआ कि—तू समझदार बन; क्योंकि—सरस्वतीका व्युत्पत्त्यर्थ 'ज्ञानवती' होता है। विशेषण होनेसे वहां 'सरस्वती' शब्द यौगिक ही होगा; क्योंकि—'विशेषण सदा यौगिक ही हुआ करता हैं'। परन्तु विशेष्यमें सदा रूढिता वा योगरूढिता ही हुआ करती है, यह बात बहुत ही स्पष्ट है।

यहांपर यह भी जानना चाहिये कि—मानवगृह्यके उक्त स्थलमें उक्त अथर्ववेदका मन्त्र गृहीत भी नहीं। दोनों स्वतन्त्र एक-दूसरेसे सम्बन्ध न रखनेवाले भिन्न-भिन्न मन्त्र हैं। वेदके मन्त्र नियतानुपूर्वी तथा नियत-पदक्रम वाले होते हैं। परन्तु वादी स्वयं देखे कि—वेद और गृह्यके मन्त्रों-में आपसमें बहुत भेद है। 'शिवा नः शन्तमा भव सुमृडीका सरस्वति!' (७।७१।२) यह अथर्वका मन्त्र है, 'सखा सप्तपदी भव, सुमृडीका सरस्वती' यह मानवगृह्यका सूत्र है। क्या वादी वेदमें पाठभेद भी मानता है? मानवगृह्यका उक्त मन्त्र सप्तपदीमें विनियुक्त है, अतः अथर्ववेदसे स्वतन्त्र मन्त्र है, जो कृष्ण-यजुर्वेदकी मैत्रायणी-संहिताकी किसी सौत्र-शाखासे गृहीत हो सकता है, जिसमें सप्तपदीके उक्त सातों मन्त्र इकट्ठे होंगे, पर अथर्ववेदमें ऐसा नहीं।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि—विशेषण सदा यौगिक वा

उपमागर्भित होता है, विशेष्य वैसा नहीं हुआ करता। अथर्वके मन्त्रमें 'सरस्वति!' यह सम्बोध्यमान होनेसे विशेष्य है, पर मानवगृह्यमें 'सरस्वती' यह विधेय-विशेषण है, इसलिए वहां सम्बुद्धि नहीं है; पत्नी वहांपर विशेष्य है। पत्नीको 'सरस्वति!' इस प्रकार सम्बोधित भी नहीं किया गया है। अथर्वके उक्त मन्त्रमें 'सप्तपदी' का कोई प्रकरण नहीं; अतः वहां 'पत्नी' अर्थ भी नहीं, अतः वहां 'सरस्वती-देवता' ही सम्बोधित हो रही है; पर मानवगृह्यके मन्त्रमें सप्तपदीका प्रकरण है; अतः वहां स्त्री ही सम्बोधित हो रही है; सरस्वती नहीं, अतः वहां 'सरस्वती' यह सम्बुद्धि-पद भी नहीं। तब वेद तथा गृह्यके भिन्न-भिन्न मन्त्रोंका एक अर्थ करनेवाले वादीको कहा जा सकता है कि—'अहो! साहसम्!!!

तब फिर वेदमें विशेष्य 'सरस्वती' सदा एक देवता ही रही। तो फिर 'यज्ञं दधे सरस्वती' में विशेष्य 'सरस्वती' पदवाले मन्त्रमें स्त्रीमात्रका अर्थ करना वादीका भयङ्कर-छल है। सरस्वती वेदमें एक देवता ही सिद्ध रही। मानुषीको कहीं 'सरस्वती' कहा जावेगा, तो वह विशेषण होगा; और यौगिक होगा।

'योषा वै सरस्वती' में भी सरस्वती सर्वसाधारण स्त्री नहीं बताई गई हैं; किन्तु वह विशेष-देवता स्त्री है। इसलिए वहां ब्राह्मणके वचनमें कहा है—'योषा वै सरस्वती, वृषा पूषा' (शत. २।५।१।११) अर्थात् पूषा देवता पति है, और सरस्वती-देवता उसकी स्त्री है।

यहां वादी इस प्रकार समझे। यह कहीं आजाए कि—'अरुन्धती वसिष्ठे च वसुदेवे च देवकी। लोपामुद्रा यथाऽगस्त्ये तथा त्वं भव भर्तरि' (विवाहपद्धतिः) इसकी यह व्याख्या की जावे कि—'योषा वै अरुन्धती, वृषा वसिष्ठः'। 'योषा वै देवकी, वृषा वसुदेवः। योषा लोपामुद्रा, वृषा अगस्त्यः' तब क्या अरुन्धती आदिको वादी स्त्रीका पर्यायवाचक सिद्ध करने लग जायगा?

यदि नहीं, तब 'सारस्वतः चरुर्भवति, पौष्णः चरुः' अर्थात् एक सरस्वती देवताका चरु होता है, तथा दूसरा पूषा देवताका, उन

दोनोंका परिचय देनेकेलिए ब्राह्मणमें कहा गया—'योषा वै सरस्वती, वृषा पूषा' (शत. २।५।१।११) सो 'सरस्वती' शब्द सर्वसाधारण-स्त्रीमात्रका पर्यायवाची यहां नहीं बन सकेगा। जब यह बात है; तब 'सरस्वती' शब्द स्त्रीमात्रका पर्यायवाची सिद्ध न हुआ, किन्तु एक विशेष-देवताका योगरूढ संज्ञा-शब्द सिद्ध हुआ। योगरूढ इसलिए कि-ज्ञानयुक्त अन्य भी देवी-देव होते हैं, क्योंकि-'विद्वांसो हि देवाः' (शत.) पर 'सरस्वती' एक ज्ञानाधिष्ठात्री देवताका नाम सिद्ध हुआ, तब वादीका पक्ष गिर गया।

यदि 'योषा वै सरस्वती, वृषा पूषा' इस ब्राह्मणके प्रमाणसे वादी सरस्वतीको स्त्री-पर्यायवाचक सिद्ध करे, तो यह बात गलत होगी। 'वै' शब्दसे पर्यायवाचकता नहीं हो जाती; नहीं तो 'आयुर्वै घृतम्' (कृ.य.तै. सं. २।३।२।१२) में 'आयु'शब्द घृतका वा 'घृत' शब्द आयुका पर्यायवाचक-बन जावे; पर ऐसा कोई भी नहीं मानता, वैसे प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये।

ब्राह्मणभागके इस प्रकारके अन्य वचन भी वादी देखे—'योषा वै वेदिः, वृषा वेदः (कुशका बण्डल) मिथुनमेव एतत् प्रजनन क्रियते' (वेदि-स्त्री है, और वेद (कुशबण्डल) उसका पति है। यह दोनोंका प्रजनन-सा हो जाता है। 'वेदि' वेद (कुशा) के रखनेसे यह नाम होता है। (शत. १।९।२।२१) 'योषा वै आपः, वृषा अग्निः, मिथुनमेव एतत् प्रजनेन समर्धयति' (शत. २।१।१।४) 'योषा वै वेदिः, वृषा अग्निः' (१।२।३।१५) 'वृषा वै प्राणः, योषा पत्नी' (४।४।२।१), 'वृषा वै प्रवर्ग्यो, योषा पत्नी' (शत १४।१।४।१६) इत्यादि बहुतसे उद्धरण दिये जा सकते हैं; परन्तु इससे वेदिः, आपः आदि स्त्रीके पर्यायवाचक नहीं बन जाते।

ब्राह्मणभागकी अर्थवादसे ऐसा कहनेकी शैली है, जैसेकि निरुक्तमें कहा है—'बहुभक्ति-वादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति' (७।२४।६) अर्थात् ब्राह्मण, भक्तिवाद (अर्थवाद) से उस-उसको वह-वह न होते हुए भी वह-

वह कह दिया करते हैं। उससे उन-उन शब्दोंकी पर्यायवाचकता नहीं हो जाती। हम कह दें—'अयं वै प्रतिपक्षी स्वा.दयानन्दः' इससे प्रतिपक्षी दयानन्दका पर्यायवाचक नहीं बन जाता। आशा है-अब वादी जनताकी आंखोंमें धूल नहीं झोंक सकेगा। इससे 'सरस्वती' देवता सिद्ध हुई, कोई मानुषी स्त्री नहीं। तब उसका पक्ष गिर गया।

(दक्षस्मृतिका वचन)

(४६) (आक्षेप)—विदुषी मानुषी स्त्रीको भी देवताके नामसे कहा जाता है। देखिये-आपकी अभिमत 'दक्षस्मृति' में—'अनुकूला त्ववागुदुष्टा दक्षा साध्वी प्रियंवदा। आत्मगुप्ता स्वामिभक्ता देवता सा न मानुषी' (४।१४) के अनुसार भी विदुषी-स्त्रीको देवता मानना सर्वथा उचित है। इसी प्रकार 'जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः। नास्ति येषां यशः-काये जरामरणजं भयम्' यह हितोपदेशका पद्य भी याद रख लेना चाहिये, जिनमें कालिदासादि कवियोंको अमर बताया गया है।

(परिहार)—यहां वादीने स्वामीजीसे अनभिमत (क्योंकि-वे मनुस्मृतिके सिवाय अन्य किसी भी स्मृतिको शास्त्रानुकूल नहीं मानते-प्रमाण मान लिया है। पहले तो यह प्रमाण सब दक्षस्मृतियोंमें नहीं है। देखिये इसपर 'पूने' की 'स्मृतीनां समुच्चयः' की इस स्मृतिकी टिप्पणी। यहांपर वादीसे उद्धृत पद्यकेलिए लिखा है—'ग' पुस्तके एव' अर्थात् 'अनुकूला त्ववाग्-' यह पद्य 'ग' संज्ञावाली 'दक्ष-स्मृति' (कदाचित् श्रीवेङ्कटेश्वर-प्रेसमें मुद्रित उक्त स्मृतिकेलिए संकेत हो) पुस्तकमें ही है, शेष किसी भी 'दक्षस्मृति' की पुस्तकोंमें नहीं है। तभी 'अनुकूला त्ववाग्' इस वचनको यहाँ ब्रेकेटमें रखा है, जो स्पष्ट प्रक्षिप्तताका चिन्ह है।

इन लोगोंकी प्रकृति यह है कि-स्पष्ट प्रक्षिप्त-पद्यको तो अप्रक्षिप्त एवं वेदानुकूल मान लेते हैं, और अप्रक्षिप्त भी पद्य को अपने पक्षसे विरुद्ध होनेसे उसे प्रक्षिप्त एवं वेद-विरुद्ध कह दिया करते हैं। अर्थात् यह अपने विचारानुकूल वचनको ही अप्रक्षिप्त और वेदानुकूल मानने लग जाते हैं।

मेरे पासकी इटावेकी छपी 'अष्टादशस्मृति' में भी उक्त पद्य नहीं है। तो यह पाठ क्वाचित्क होनेसे प्रमाणभूत नहीं। और फिर 'विदुषी स्त्री देवता होती है और अविदुषी स्त्री मानुषी होती है'। यह भी उस पद्यमें कहीं नहीं लिखा। उक्त पद्यमें 'विदुषी' का तो नाममात्र भी नहीं है; तब इससे वादीके पक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती।

'वादितोष' न्यायसे इस पद्यको मान भी लिया जाय; तो भी यह जानना चाहिये कि—देवयोनि तथा मनुष्ययोनि वेदादि-शास्त्रोंके अनुसार भिन्न-भिन्न मानी जाती है। इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक' ग्रन्थमालाके ४र्थ पुष्पमें देखिये।

'देवो न मर्त्यः' (ऋ. ८।१४।४) 'नाऽमर्त्यो विद्यते मर्त्यः' (मह.भा. वनपर्व १३५।४७) इत्यादि प्रमाणोंसे देवता मनुष्य नहीं होते; तब वादी बतलावे कि—'देवता सा न मानुषी' यह पद्यांश मनुष्ययोनिकी स्त्रीकेलिए लिखा गया है, या देवयोनिकी स्त्रीकेलिए ?

यदि मानुषीकेलिए; तो उसे फिर 'न मानुषी' क्यों कहा ? 'दिवि देवाः' (अ. ११।७।२७) के अनुसार देवता द्युलोकमें रहते हैं। 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ. १०।१९०।३) इस मन्त्रके अनुसार द्युलोक, पृथिवीलोकसे भिन्न होता है, पर इस पृथिवीलोक (मनुष्यलोक) में रहनेवालीको 'देवता' क्यों कहा ?

इससे स्पष्ट है कि—वैसी स्त्रीकी देवतात्वकी विधि तथा मानुषीत्वका निषेध अर्थवाद अर्थात् गौणीवृत्तिसे केवल वैसी स्त्रीके प्रशंसार्थ है, वास्तविक नहीं। जैसेकि 'न्यायदर्शन' में कहा है—'प्रधान-शब्दानुपपत्तेः, गुणशब्देन अनुवादः, निन्दा-प्रशंसोपपत्तेः' (४।१।६०) (जहाँ प्रधान-शब्द सङ्गत न हो सके, वहाँ उसका गौण-शब्दसे अनुवाद होता है; उसमें निन्दा वा प्रशंसा ही लक्ष्य होती है।

उसी स्थलमें 'भर्तुः प्रीतिकरी या तु भार्या स्यात् सेतरा जरा' (दक्ष. ४।११) भर्ताकी अप्रीति करनेवाली स्त्रीको जरा (बुढ़ापा) कहा गया है। क्या सचमुच वैसी स्त्री 'वृद्धावस्था' हो जायगी ? द्रव्य भी न होकर गुण हो जावेगी ? 'साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः, साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः' (नीतिशतक) इससे क्या असाहित्यिक-मनुष्यको 'साक्षात् पशु' मानकर उसे खली-भूसा खिलाना शुरू कर दिया जावेगा ?

वस्तुतः जैसे यहाँ निन्दार्थवादसे असाहित्यिकको साक्षात् 'पशु' कहा गया है; पर वह वस्तुतः 'पशु' नहीं हो जाता, वैसे ही उक्त स्थलपर प्रशंसार्थवादसे 'मानुषी' को गुणवादसे 'देवता' कहा गया है। वास्तविकता-से नहीं। वास्तवमें वहाँ 'देवतावत्' अर्थ अभीष्ट होता है। जैसा कि महाभाष्यमें कहा है—'अन्तरेणापि वतिम् अतिदेशो (सादृश्यं) गम्यते। यथा—अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह; तेन मन्यामहे—ब्रह्मदत्तवद् अय भवतीति' ('मिदचोन्त्यात्' सूत्रमें)। (जो ब्रह्मदत्त नहीं है, उसे ब्रह्मदत्त कहनेका तात्पर्य 'ब्रह्मदत्तकी तरह' यह हो जाता है, वैसे मानुषीको देवता न होने-पर भी उसे 'देवता' कहनेसे 'देवतावत्' अर्थ हो जाता है।

इस प्रकारके स्थलोंमें ऐसी ही अर्थवादात्मक व्यवस्था होती है। इसमें ऋसं.की साक्षी भी देखें—'स्त्रियः सतीः ता उ मे पुंस आहुः, पश्यद् अक्षण्वान् न विचेतद् अन्धः' (शा सं. १।१६४।१६) यहाँ सती स्त्रियोंको पुरुष कहा है, आंखोंवालोंको भी समझदारी न करनेपर 'अन्धा' कहा गया है। जैसे यहां स्त्रियोंको पुरुष कहना, और आंखों वालोंको 'अन्धा' कहना अर्थवादसे है, वास्तविकतासे नहीं, केवल एतदादि-स्थलोंपर स्तुति-आदिमें ही तात्पर्य माना जाता है, वैसे ही दक्षस्मृतिके पद्यमें भी जान लेना चाहिये।

इधर 'दक्षस्मृति' के पद्यमें 'विदुषी' शब्द ही नहीं है; वादीने ही उसे उसमें छलसे प्रक्षिप्त किया है। तब 'विदुषी' को 'देवता' सिद्ध करनेकेलिए वादीका यह प्रमाण निकम्मा सिद्ध हुआ। वेदमें 'सरस्वती' मुख्य देवता इष्ट है; तब वहां भार्या-सम्बन्धी 'दक्षस्मृति' का औपचारिक-पद्य लागू हो ही नहीं सकता; तब वादीका परिश्रम व्यर्थ है।

'वसिष्ठस्मृति' में 'अस्वतन्त्रा स्त्री......अनृतमिति विज्ञायते' (५।१) यहां स्त्रीको 'अनृत' कहा है। 'अनृतं साहसं माया...स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः' (२।१) स्वा.द. मान्य चाणक्यनीतिमें 'अनृत' स्त्रियोंका स्वाभाविक दोष बताया गया है। 'शुक्रनीति' में भी कहा है—'अनृतं साहसं मौर्ख्यं कामाधिक्यं स्त्रियाँ यतः' (३।१६४) यहां भी वही है।

शुक्रनीति स्वा.द.से भी मान्य है। 'भारतीय समाज-शास्त्र' के १७६ पृष्ठमें उसके प्रणेता कट्टर आर्यसमाजी श्रीधर्मदेवजी कहते हैं- शुक्रनीति-सार' समाजशास्त्रकी दृष्टिसे एक अत्युत्तम और प्रसिद्ध ग्रन्थ है'।

एतदादि-स्थलोंमें स्त्रियोंको 'अनृत-प्रकृतिक' कहा है। तब 'सत्य-संहिता' वै देवाः' (ऐत. ११६) 'सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः' (शत. १।१।१।४) वादीसे 'श्री' पत्रिकामें उद्धृत इस वचनके अनुसार 'अमेध्यो वै पुरुषो यद् अनृतं वदति' (शत. १।१।१।१) इस प्रमाणके अनुसार स्त्री कभी 'देवता' बन ही नहीं सकती, सदा वह मानुषी ही रहेगी। तब वह वादीके पक्षके काटनेका निमित्त बन गई।

यदि वादीको श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस वाली 'अष्टादशस्मृति' के अन्तर्गत 'दक्षस्मृति' सम्यक् मान्य है; जैसाकि वादीने 'श्रीः' (७।४ पृ. ४६) में लिखा था, उसीमें वादीको उक्त पद्य मिला है, तो उसी प्रेसवाली 'दक्ष-स्मृति' की भाषाटीका पृ. ४०७ में छपे हुए 'देवता सा न मानुषी' इस ४र्थ पादका 'वह स्त्री मनुष्य नहीं, किन्तु देवताके समान' है। इस अर्थको भी मानकर वादी अपने पक्षको खण्डित हुआ मान ले।

तब 'विदुषी' स्त्री भी वास्तविक 'देवता' सिद्ध न हुई। परन्तु 'सरस्वती' तो एक वास्तविक देवता है, जिसका वेदादि-शास्त्रोंमें स्पष्ट वर्णन है। मानुषी-स्त्रीका नाम किसी भी शास्त्रमें 'सरस्वती देवता' नहीं आया।

हां, कहीं मानुषी-स्त्रीको औपचारिक 'सरस्वती' कहा जावे, तो वहां 'सरस्वतीवत्' अर्थ होगा। जैसे कि-'अनुकूला त्ववाग्दुष्टा दक्षा साध्वी

पतिव्रता। एभिरेव गुणैर्युक्ता श्रीरिव स्त्री न संशयः' (दक्षस्मृति ४।१०) यहां उक्त गुणोंवाली स्त्रीको 'श्रीरिव' (श्रीकी तरह) कहा है, वैसे ही वादिदत्त दक्ष-पद्यमें भी 'देवतेव, सरस्वतीव, न मानुषीव' यह 'इव' का अर्थ है। केवल यह अन्तर है कि-यहां 'इव' शब्द (प्रत्यक्ष) है; और वहां 'इव' आर्थ (लुप्त) है। इस प्रकार देवयोनि मनुष्ययोनिसे भिन्न सिद्ध हो गई, जैसा कि सब शास्त्रोंको अभिमत है।

सरस्वती-देवता विद्याधिष्ठात्री स्वभावतः है। देवता जन्मसे ही विद्वान् तथा दिव्यदृक् होते हैं, पर मानुषियोंमें यह बात विषम है। नहीं तो वादी लोग उन्हें भी सरस्वतीकी भांति बिना पढ़े विदुषी बनने दें, तब वे स्वतः 'सरस्वती' हो जाएगी। वादीको तदर्थ बोतलकी स्याही खर्चनेकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी। इधर वेदमें देवता वह विवक्षित होता है, जिसको हवि दी जाय। यह हम पहले निरुक्तके प्रमाणसे कह चुके हैं। सरस्वती-देवताके प्रसङ्गमें मानुषी स्त्रीको कहीं हवि नहीं दी जाती। तब वादीका सम्पूर्ण कथन निर्मूल सिद्ध हुआ। स्त्रियोंका वेदाधिकार सिद्ध न हुआ। इस प्रकारके वादियोंसे दिये जाते हुए अन्य सरस्वती आदि विषयक मन्त्रोंका भी समाधान हो गया। उनमें कुछ विशेषता भी तो नहीं।

(४७) (प्र.) 'सं होत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति' (ऋ.) इस मन्त्रके अनुसार नारीका यज्ञमें जाना कहा है। 'अधः पश्यस्व मोपरि...स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ' यहाँ स्त्रीका यज्ञमें ब्रह्मा तक बनना सूचित किया है।

(उ.) यह मन्त्र इन्द्रदेवताकी स्त्री इन्द्राणीकेलिए है, मानुषीकेलिए नहीं। यहां 'नृ' शब्द 'नेता' अर्थमें है। इसलिए प्रतिपक्षीने इस मन्त्रके उत्तरार्धको छिपा दिया है। अपने गलतपक्षको सिद्ध करनेकेलिए दिये जाते हुए प्रमाणोंका पूर्वापर छिपा लेना-यह उसकी भारी दुष्प्रकृति है। उससे छिपाया हुआ वह अंश यह है—'वेधा ऋतस्य वीरिणी इन्द्रपत्नी महीयते

विश्वस्माद् इन्द्र उत्तरः' (१०।८६।१०) इसीलिए श्रीसायणाचार्यने इस मन्त्रका अर्थ इस प्रकार किया है—

'नारी-स्त्री, ऋतस्य-सत्यस्य विधात्री, वीरिणी-पुत्रवती, इन्द्र-पत्नी इन्द्रस्य भार्या इन्द्राणी सं होत्रं स्म-समीचीनं यज्ञं खलु समनं वा सग्राम वा, पुरा गच्छति, स्तोतृभिः स्तूयते च। तस्या मम पतिरिन्द्रो विश्वस्माद् उत्तरः' श्रीसायणाचार्यने यहां लिखा है—'सर्वं सूक्तमैन्द्रम्' (यह सारा सूक्त इन्द्र-देवतापरक है) तव देवपत्नीका वर्णन होनेसे यहांपर मानुषीका वर्णन सिद्ध न हुआ। तब इसमें वादीका प्रयास विफल है। 'समन वाव गच्छति' का 'स्त्रियां पुरुषके समान यज्ञमें जाती हैं' यह अर्थ कपोल-कल्पित है, निघण्टु-विरुद्ध है। द्विज स्त्रियाँ यज्ञोंमें उन्हें देखने जावें; इससे वादीके पक्षकी कुछ भी सिद्धि नहीं। यहां 'यज्ञ कराने मानुषी स्त्री जाती हैं'-यह यहां कहीं नहीं लिखा।

शेष है 'अधः पश्यस्व मोपरि...स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ, मन्त्र, कि-विद्याभ्याससे अतीव विदुषी, सुसभ्य, योग्य आचरण वाली स्त्री ब्रह्मा तक वन सकती है' यह वादीका अर्थ बनावटी है, 'विद्याभ्याससे अतीव विदुषी' आदि शब्द वादीने मन्त्रार्थमें प्रक्षिप्त किये हैं; जिनके पद मन्त्रमें नहीं हैं। खेद! उक्त मन्त्र तो स्त्रीको उपदेश दे रहा है कि—नीचे देख, ऊपर न देख। पैरोंको ठीक-ठीक रख। तेरे अद्रष्टव्य दो अङ्ग न दीखें'। यहांपर मध्यम-पुरुष इस अर्थका साक्षी है।

जब स्त्रीको उपदेशका प्रकरण चला हुआ है; तब 'विदुषी स्त्री ब्रह्मा-तक वन सकती है' यह अर्थ यहां असम्बद्ध हो जाता है। क्योंकि—'तू नीचे देखकर चल, ऊपर न देख' इससे तू ब्रह्मा बन जावेगी; क्या इसमें कोई उपपत्ति है? सर्वथा नहीं। प्रतिपक्षी लोग यह अर्थ करते हैं, वा घास काटते हैं? 'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ' का अर्थ आर्यसमाजी पण्डित श्रीपाददामोदर-सातवलेकरजीने 'आर्यप्रतिनिधि-सभा पञ्जाब' द्वारा दयानन्द-शताब्दीके समय 'ऋषितर्पणार्थं' प्रकाशित 'वेदामृत' पुस्तक

(प्रथम संस्करण) जिसे उस समय 'आर्य प्रतिनिधि सभा' ने स्वीकृत भी किया था, देखिये उसमें 'प्रकाशकका निवेदन') में इस प्रकार किया है—

'ब्रह्मा (आत्मा ही स्त्रीरूपसे तेरे अन्दर) प्रकट हुआ है' यह लिखकर वे बताते हैं कि—'वस्त्रसे अपने अवयव अच्छी प्रकार आच्छादित रखे, ताकि—कोई अवयव दूसरेको दिखाई न दे। यह समझे कि—अपने अन्दर आत्मा ही स्त्रीका रूप धारण करके अवतीर्ण हुआ है'।

'आलोक'-पाठकोंने प्रतिपक्षीका छल देख लिया। उक्त मन्त्रमें न यज्ञका प्रकरण है, न यज्ञ-शब्द ही हैं; स्त्रीको 'नीचे देखकर चल, ऊपर देखके नहीं, इससे स्त्री ब्रह्मा बन जाती है' इसमें उपक्रम एवं उपसंहारकी एकता भी नहीं है? तब वादियोंका अपना इष्ट अर्थ करना श्रुतिसे बलात्कार करना है। तब प्रतिपक्षीने स्त्रीके यज्ञका ब्रह्मा अर्थ ही कैसे कर लिया? जब स्त्रीको नीची निगाहसे देखनेका आदेश दिया गया है; और उसके विशेष अङ्ग न दीखें, यह आदेश दिया गया है। तब स्त्री यज्ञका ब्रह्मा भी बन सकती है—यह स्त्री यहां सङ्गत ही कैसे हो सकता है? आश्चर्य है कि—वादी अपने पक्षकी सिद्धिमें गलत अर्थ लिखनेमें भी परमात्मासे नहीं डरते।

वास्तवमें यहां प्राकरणिक अर्थ अन्य है, जिसे श्रीसायणाचार्यने स्पष्ट किया है। प्लायोगि-आसङ्ग नामक एक पुरुष जो इस सूक्तके ऋषि (द्रष्टा) मेधातिथिको धन देनेवाला था, आन्तरिक-कारणवश स्त्री बन गया था, उसे इन्द्रकी ओरसे यह उपदेश दिया गया है, निमित्त उसीका है, पर उससे अन्य स्त्रियोंको उपदेश दिया जा रहा है।

देखिये इसपर श्रीसायणाचार्यके शब्द—'मेधातिथेर्धनदाता प्लायोगि-रासङ्गः स पुमान् भूत्वा स्त्री अभवत्' (ऋ. ८।३३।१७) इसका भाव पहले लिखा जा चुका है। इस बातको प्रतिपक्षी 'गप्प' भी नहीं कह सकते। ऐसी घटनाएं प्रत्यक्षमें भी घट रही हैं। हम इनमें कुछ घटनाओं-का निरूपण करते हैं—

अयोध्याके 'संस्कृतम्' पत्र (के २।४।१९४६ के अङ्क) में यह घटना प्रकाशित हुई थी —'बङ्गस्य मेमनसिंह-मण्डलस्य २६ मार्चस्य समाचारोऽस्ति यद् जमालपुर-स्थानवर्ति-श्रीकुमारियाग्रामस्य एकः १८ वर्षीयो-युवकः सन्निपातेन आक्रान्तः। ततो मुक्तश्च स्वशरीरे विचित्रं परिवर्तनं ददर्श। तस्य पुरुषाङ्गानि विलीयन्ते। अयं स्त्रीत्वे परिणतो भवति। अयं नन्दिया औषधालये डाक्टरैर्निरीक्ष्यते'।

(बङ्गालके मेमनसिंह जिलेके कुमारिया-ग्रामके एक १८ वर्षके युवकको सन्निपात (डबल निमोनिया, वा सिरसाम) हो गया। उससे छूटा; तो उसने अपने शरीरमें विचित्र परिवर्तन होता हुआ देखा कि उसके पुरुषों वाले अङ्ग क्रमशः विलीन हो रहे हैं; और वह स्त्री बन रहा है। उसका नन्दिया हस्पतालमें डाक्टर लोग निरीक्षण कर रहे हैं।)

एक घटना दैनिक 'विश्वबन्धु' लाहौरमें भी छपी थी। कलकत्ता मेडिकल हस्पतालमें १९ वर्षीय लड़केके लड़की बन जानेकी सूचना मिली है। गत १०० वर्षमें इस अस्पतालमें ऐसे पांच केस हो चुके हैं (१२।२।४६)।

उक्त मन्त्रकी व्याख्यामें श्रीपाद दामोदर सातवलेकरने भी अपने यहाँ की एक घटना भी लिखी है, हम उसे उद्धृत भी कर देते हैं—ऋग्वेदके सुबोधभाष्यमें 'मेधातिथि ऋषिके दर्शन' (पृ. ७२) में सातवलेकरजीने लिखा है —

'इस अन्तिम मन्त्रमें 'ब्रह्मा स्त्री बभूविथ' में ब्रह्माका कार्य करनेवाला पुरुष स्त्री बनी थी—ऐसा कहा है। इस 'औंध' नगरीमें 'कुमारी गोदावरी' नामकी एक कुमारी थी। उसकी तरुणके साथ शादी हो चुकी। स्त्री-पुरुषोंका मेल होनेसे पता लगा कि—श्रोमती 'गोदावरी' के अवयव ठीक-स्त्रीके समान नहीं हैं। अन्तमें डाक्टरोंने शस्त्र-प्रयोगसे ऊपरका भाग काटकर फेंक दिया। तब पता लगा कि—वह अन्दरसे एक उत्तम पुरुष। तब उस पुरुषकी शादी किसी दूसरी कुमारीसे हुई। प्रथम-विवाह

रद्द हुआ। वह परिवार अब तक जीवित है। और बाल-बच्चोंके साथ आनन्दमें है। जन्मके १८ वर्ष स्त्री रही हुई इस तरहसे पुरुष हुआ।

उक्त मन्त्रमें पहले पुरुष था, उसकी स्त्री बनी, और पश्चात् वह पुरुष बना होगा। वह कैसे हुआ, इसका पता लगाना चाहिये। ऋ. ८।१।३४ मन्त्र देखो, वहां पुनः पुरुषत्वकी प्राप्ति होनेका विधान है'।

श्रीसातवलेकरजीकी यह प्रत्यक्ष घटना काटी नहीं जा सकती—'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण' 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नम्' इस विषयमें पूरी स्पष्टता 'आलोक' (६) में 'स्त्रीसे पुरुष' और 'पुरुषसे स्त्री हो जाना' पृ. ७१३-७३४ में 'आलोक' पाठकगण देखें।

उसी प्लायोगिको इन्द्र उपदेश देता है। इसको श्रीसायणाचार्यके शब्दोंमें सुनिये—

'अन्तरिक्षाद् आगच्छन् रथस्थ इन्द्रः स्त्रियं सन्तं स्वस्मात् पुंस्त्व-मिच्छन्तं प्लायोगिं यदुवाच, तदाह अस्मिन् मन्त्रे—हे प्लायोगे! त्वं स्त्री सती अधः पश्यस्व, एष स्त्रीणां धर्मः। उपरि मा पश्य, उपरिदर्शनं स्त्रीणां धर्मो न भवति हि। पादावपि संश्लिष्टौ यथा भवतः, तथा हर। यथा पुरुषो विश्लिष्टपादनिधानो भवति, तथा त्वया स्त्रिया न कर्तव्यम्। अथ च ते उभे अङ्गे पुरुषा न पश्यन्तु। तयोरदर्शनं वाससः सुष्ठु परिधानेन भवति। अतः सुष्ठु वाससः परिधानं कुरु। स्त्रियो हि आ गुल्फात् अभिसंवीता भवन्तीत्यर्थः। हि—यस्मात् कारणात् ब्रह्मा [ज्ञानी पुरुषः सन्] त्वं स्त्री बभूविथ'। अर्थात् तुम समझदार पुरुष होते हुए भी स्त्री बन गई हो; अतः कपड़े ठीक-ठीक पहरो, जिससे तुम्हारा पर्दा बना रहे'।

अब मध्यम-पुरुषका अर्थ ठीक घट गया। मन्त्रार्थ समन्वित भी हो गया। प्रतिपक्षीका किया हुआ मन्त्रार्थ सर्वथा असम्बद्ध ही है। कहां तो मन्त्रके उपक्रममें स्त्रीकेलिए पर्देका उपदेश चला हुआ था; और कहां

उपसंहारमें प्रतिपक्षीका किया हुआ यह असम्बद्ध अर्थ आ पड़ा कि—'ऐसा आवरण (पर्दा) करनेवाली स्त्री यज्ञका ब्रह्मा तक बन जाती है'। क्या यहां मन्त्रके उपक्रम तथा उपसंहारमें कोई एकवाक्यता दीख रही है? यह है इन लोगोंका हाल कि—अपने गलत-पक्षको सिद्ध करनेकेलिए 'स्त्री हि ब्रह्मा' शब्द देखते ही स्त्रीको यज्ञके ब्रह्मा बनानेके स्वप्न देखने लगे। आशा है विद्वान् पाठकोंने उनके मन्त्रार्थकी असम्बद्धता समझ ली होगी। व्यापारमें 'ब्लैक-मार्कीट' सुनी जाती थी, पर यह लोग वेदके अर्थोंमें भी 'ब्लैक-मार्कीट' करने लगे!!!

इसके साथ वाले मन्त्रमें 'स्त्रिया अशास्यं मन:। उतो अह क्रतुं [स्त्री-बुद्धि] रघुम् [लघुम्] अह [आह]' (ऋ. ८।३३।१७) यहांपर स्त्रीके मनका काबू होना कठिन तथा उसकी बुद्धिको लघु-छोटा बताया है। यहां 'लघु'के 'ल' को 'र' हो गया है—यह हमने इसी पुष्पमें अन्यत्र स्पष्ट किया है। यहां प्रतिपक्षीका 'रघु' की तरह 'श्रुतस्य यायाद्-ग्रयमर्भकोऽन्तं' यह अर्थ करना भी ठीक नहीं; क्योंकि—मन्त्रमें 'रघु' कोई नाम नहीं, किन्तु बुद्धिका विशेषण है; तब अर्थ होगा कि—स्त्रीकी बुद्धि चञ्चल होती है। इससे स्त्रीकी निन्दा ही प्रतिफलित होगी।

जैसाकि इस अर्थमें 'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयानि एता' (ऋ. १०।९५।१५) इस अन्य मन्त्रकी भी साक्षी है। इसीको अनुसृत करके 'कौटल्यार्थ-शास्त्र' के चाणक्य-सूत्रमें भी लिखा है—'स्त्रीणां मन: क्षणिकम्' (४७६) 'न समाधि: (चित्तस्थिरता) स्त्रीषु लोकज्ञता च' (३६०) अर्थात् स्त्रियोंका मन क्षणिक (अस्थिर, चञ्चल) होता है। इस विषयमें 'आलोक' (६) (पृ. २९०-२९३) में हमने स्पष्टता की है। यह वेदकी विचारधारा है। इसे 'मध्यकालकी विचार-धारा' कहना स्त्रियोंके भक्त वादियोंका व्याजमात्र है।

यहां स्त्रीकी बुद्धिको छोटा वा चञ्चल बताकर उल्टा वेदने उसे ब्रह्मा होनेके अयोग्य सिद्ध कर दिया है। आशा है प्रतिपक्षीगण श्रुतिके

अर्थोंमें बनावट करके श्रुतिसे बलात्कार करनेके पापभागी न बनेंगे।

वेदमें इतिहासका विचार।

(प्र.) वेदमें इतिहास नहीं होता; तब सायणाचार्यका उक्त मन्त्रका प्लायोगि-आसङ्गका अर्थ करना वेदविरुद्ध है। (एक सिद्धान्तालङ्कार)

(उ.) यह ठीक नहीं। इसका निरूपण वेदको स्वयम् इष्ट है। 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:' (शब्द जिस अभिप्रायसे रखा गया होता है, वही शब्दार्थ हुआ करता है) यह एक प्रसिद्ध न्याय है। उक्त मन्त्रमें 'मध्यमपुरुष' प्रत्यक्ष है, तथा अन्य मन्त्रोंमें भी यह बात वेदको इष्ट है। आप लोग वेदमें नित्य इतिहास मानते ही हैं। देखिये स्नातक चन्द्रमणि-पालीरत्नसे व्याख्यात 'निरुक्त' तथा यजुर्वेद-भाष्यविवरणभूमिका' में जिज्ञासुजीका मत।

वादीको चाहिये कि—वह प्लायोगिको एक पुरुषविशेष न मानकर उसे पुरुष-सामान्य मान ले, जो पुरुषसे स्त्री बन गया हो। इसीको भूतार्थवाद नामक अर्थवाद माना जाता है, यह वेदका विषय है। उसीको ब्राह्मणभाग स्पष्ट करता है। सो वैसी स्त्रीका क्या कर्तव्य है, वही यहाँ उक्त मन्त्रमें बताया हुआ मान लीजिये।

पुरुषसे स्त्री होना—ऐसी घटनाएं पहले बताई जा चुकी हैं। प्रत्यक्ष बातें कभी कट नहीं सकतीं। 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम'। यह बात वेदको भी इष्ट है। जैसे कि—'जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्' (अथ. ८।६।२५) (पैदा हो रहा हुआ पुरुष कहीं स्त्री न बन जावे?) इस मन्त्रमें बताया गया है—कई भूत-प्रेतादि भी गर्भमें ऐसा परिवर्तन कर दिया करते हैं, उसके उपचारकेलिए गर्भवतीको पीली-सरसोंकी माला पहरानी पड़ती है। इस विषयमें 'आलोक' (११) के 'भूत-प्रेत' विषयमें पाठकगण देखें। इससे स्पष्ट है कि—यह बात सम्भव है। शिखण्डीकी महाभारत-प्रसिद्ध घटना याद रखें। वह पहले लड़की उत्पन्न हुआ था; फिर लड़का हो

गया था। इसी कारण भीष्मजी उससे नहीं लड़े थे; मुंह फेर कर ठहर गये थे। तब अर्जुनने भी बाण चलाये; और भीष्मजी बाणशय्यापर पड़ गये। यह महाभारतकी प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना कभी अन्यथा नहीं हो सकती।

वेदमें इतिहास।

(प्र.) सायणाचार्यका मीमांसाके 'आख्या प्रवचनात्, परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (१।१।३०-३१) इत्यादि सूत्रोंके आधारपर अपने ऋग्भाष्यके उपोद्घातमें इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करके जो कि वेदोंके नित्य और अपौरुषेय होनेके कारण उनमें अनित्य पुरुषोंके इतिहासादि नहीं हो सकते—'न तु तत्र अनित्यो बबराख्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः; किन्तु बबर इति शब्दानुकृतिः, तथा सति बबर इति शब्दं कुर्वन् वायुरभिधीयते'। फिर अनेक स्थानोंपर इतिहासोंकी व्याख्या बतलाना विद्वानोंके-लिए सर्वथा अमान्य हैं।

(उ) यह वादीका कथन सर्वथा निस्सार है। मीमांसाका 'बबर' शब्दसे यह अभिप्राय है कि—वहां 'बबर' जैसे साधारण, अप्रसिद्ध अनृषि अनित्य-पुरुषका वर्णन नहीं, किन्तु जो मेधातिथि आदि ऋषि प्रवाहरूपसे नित्य हैं; उनका तो वेदमें वर्णन स्वयं इष्ट है। तभी तो ऋ. ८।१।३३ में भी उसी 'प्लायोगि-आसङ्ग' का वर्णन है। देखिये—'अध: प्लायोगिरति दासद् अन्यान् आसङ्गो' इसमें यह नाम स्पष्ट है। तभी ८।१।३०-३३ मन्त्रका आसङ्ग-प्लायोगि ऋषि है। ऋ. ८।१।३४ का 'आसङ्गकी पत्नी' ऋषि है। फिर ऋ. ८।१।३०-३३ 'आसङ्गकी दानस्तुति' देवता है। ८।१।३४ का 'आसङ्ग देवता है' यह आर्यसमाजकी ऋसं.में देखा जा सकता है।

ऋषि तथा देवताका वेदके साथ नित्य-सम्बन्ध होता है। तब 'आसङ्ग' 'बबर' की तरह अनित्य सिद्ध नहीं। बबर किसी मन्त्रका ऋषि न होनेसे नित्य नहीं।

तब वेदमें जो 'आसङ्ग' ऋषि है; वही आसङ्ग वहां 'देवता' है। तो देवता (वर्णनीय विषय) होनेसे वेदको उसका वर्णन इष्ट सिद्ध हुआ। 'अध प्लायोगिरतिदासद् अन्यान् आसङ्गो' (ऋ. ८।१।३३) इस वेदमन्त्रमें 'प्लायोगि' का नाम साक्षात् आ भी गया है। फिर वादी वेदमें माने हुए नित्येतिहासका विरोधी बनकर अवैदिक क्यों बनना चाहता है?

वादी पाणिनिको प्रमाण मानता है। वेदाङ्गकार पाणिनि कई शब्द अव्युत्पन्न मान गये हैं, जो वेदमें भी सुलभ है, पर यास्कने समस्त नामोंको धातुज माना है। किन्तु वादी इस अवसरपर पाणिनिको प्रमाण न मानकर यास्कको प्रमाण मानता है। जैसे वार्तिककार तथा भाष्यकारकी बाधक बात होनेपर पाणिनिकी बात नहीं मानी जाती, वैसे ही यहांपर भी वेद तथा यास्क एवं जैमिनिके गुरु वेदव्यासका कथन (क्योंकि-पूर्व-मीमांसासे उत्तरमीमांसाको अभ्यर्हित माना गया है) जैमिनिकी अपेक्षा अधिक प्रमाण होगा।

श्रीयास्कने स्पष्ट लिखा है-'तत्र ब्रह्म (वेदः) इतिहासमिश्रम् ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति' (निरु. ४।६।१) यहांपर यास्कको वेद इतिहासमिश्रित भी अभीष्ट है। तभी तो श्रीयास्क बहुत स्थलोंपर बिना ही ऐतिहासिकोंका नाम दिये अपने मतमें केवल ऐतिहासिक अर्थ भी देता है।

वेदको स्वयं भी अपनेमें इतिहास इष्ट है; तभी तो वेदने कहा है-'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च अनुव्यचलन्' (अथर्व. १५।६।१०-११) 'स मन्येत पुराणवित्' (अथर्व ११।८।७) 'तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत' (ऋ. ९।९९।४) इन मन्त्रोंमें वेद अपनेमें पौराणिक-इतिहास स्पष्ट बता रहा है। तभी तो महाभारतमें प्रसिद्ध है—'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ पुराण भी वेदके साथ ही थे। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ३७७-३८८ देखिये।

'इति हास' शब्दका निर्वचन ही स्पष्ट है-'इति ह आस' (ऐसा प्रसिद्ध

है, या था वा होगा)। वेदमें 'छन्दसि लुङ्लुङ्लिट:' इस पाणिनिसूत्रसे लिट् आदि लकार तीनों कालोंमें प्रयुक्त होते हैं। श्रीमनुने भी वेदमें त्रैकालिकता मानी है—'भूत भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' (१२।९७) इस प्रकार वेदमें वर्तमान या पूर्व या भविष्यत् कालका वर्णन सिद्ध हो गया। अथर्ववेद-गोपथब्राह्मणमें भी कहा है—'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिता: सपुराणा: सेतिहासा:' (१।२।१०) इसमें वेदको इतिहासयुक्त बताया है। इसी कारण निरुक्त भी स्थान-स्थानपर इतिहास अपने पक्षमें भी दिखलाता है, भले ही उसे वैयक्तिक-इतिहास न मानकर नित्य इतिहास मान लो। क्या वादी श्रीयास्कको अज्ञानी मानता है?

और देखिये—वादी लोग ब्राह्मणभागको वेदका भाष्य या वेदका उपबृंहक बताते हैं। जब ब्राह्मणभाग स्वयं मन्त्रभागमें इतिहास बताता है; बल्कि मन्त्रभागमें इतिहास बतलाकर फिर ब्राह्मणभाग कहता है—'तस्माद् एतद् ऋषिणा (मन्त्रभागात्मक-वेदेन) अभ्यनूक्तम्—'दध्यङ् ह यन्मधु आथर्वणो' (ऋ. १।११६।१२) इत्ययतं तद् उवाच-इति हैव वाह्वृचा:' (ऋग्वेद-ऋच.) प्राहु:' (यजुर्वेद शत. १४।५।१।१०) इत्यादि।

तब वादी मन्त्रभागके भाष्य ब्राह्मणभागसे समर्थित इतिहासको वेदमें क्यों नहीं मानते? बल्कि स्वयं मीमांसादर्शन (३।३।१४ सूत्र) के शावर-भाष्यमें शुन:शेपका इतिहास माना है; जो ऋग्वेदके प्रथम-मण्डलके २७ सूक्तोंमें है, जिसका विवरण 'ऐतरेय-ब्राह्मण' में 'हरिश्चन्द्रोपाख्यान' (७।३।१६) में है। तब वादी लोग इस समय ब्राह्मणभाग तथा निरुक्त-आदिको क्यों नहीं मानते? ये इतने व्यक्ति पागल नहीं हो सकते।

इससे स्पष्ट है कि—बबर जैसे साधारण अनित्य-व्यक्तियोंके इतिहास वेदमें इष्ट नहीं। कहीं वेदमें 'भोज' आदि शब्द आ जावें; तो वे वेदके ऋषि वा देवता न होनेसे वेदमें आजकलके अनित्य-व्यक्ति राजा भोज इष्ट नहीं हो जाते।

जैसेकि-दक्षस्मृतिमें 'मूलत्राणे भवेत् स्कन्ध:' (२।६२) में आये 'मूलत्राण' शब्दसे दक्षको मूलत्राण (मुलतान) नगर इष्ट नहीं होता; परन्तु प्रवाहरूपसे नित्य रहनेवालोंका वेदमें प्रासङ्गिक इतिहास है ही। ऋषियोंका वेदसे नित्य सम्बन्ध होता है। इसलिए मन्त्रोंमें उन-उनका नाम भी प्राय: मिलता है। इसलिए प्रत्येक कल्पके वेद-प्राकट्यमें ऋषि भी वही प्रकट होते हैं; उनके सम्बन्धी जन भी वैसे ही प्रकट होते हैं। हाँ, कल्पभेदसे कुछ थोड़ा नामभेदादि हो जावे—यह सम्भव है। पर वेदमें जिनका नाम ऋषि-देवतात्वेन गृहीत हैं, उनमें भेद नहीं होता।

वादियोंसे प्रष्टव्य है कि—आप लोग क्या वेदमें इतिहास हटानेके समय 'बबर: प्रावाहणिरकामयत' शबराचार्यसे दिये इस वचनको मानते हैं? क्या यह आपके अनुसार वेदका वचन है? यदि ऐसा हो; तो अपने वेदोंमें उक्त मन्त्र दिखलाइये। यह कृष्णयजुर्वेद तै.सं.का है, उसे भी फिर वादी वेद माने। यदि नहीं तो उसने 'मीमांसादर्शन' का प्रामाण्य क्या किया?

वादी ब्राह्मणभागमें इतिहास मानता है, या नहीं? तथा उसे वेद मानता है—या नहीं? यदि उसमें इतिहास मानता है; और उसे वेद नहीं मानता; यह क्यों? वादीको मालूम हो कि—पूर्व-मीमांसा ब्राह्मणों-को वेद मानती है, उसमें इतिहास नहीं मानती; उस इतिहासको भूतार्थ-वाद मानती है; तब वादीने मीमांसाको क्या माना? क्या केवल दिखलावेकेलिए वह ऐसा मानता है? अवसरपर आपके मतमें मीमांसाकार वेदके पण्डित और अवसरपर वेदानभिज्ञ बन जाते हैं। यह है आप लोगोंका दशा।

'बबर: प्रावाहणिरकामयत' में मीमांसाने 'बबर' का अर्थ 'वायु' माना है, और 'प्रावाहणि' का अपत्य-प्रत्ययका अर्थ न करके उसका 'प्रवहणशील' अर्थ किया है; तब वादी भी क्या ऐसा मानता है; उक्त-मन्त्रमें बबरकी 'अकामयत' से कामना बताई है, तब क्या आप 'वायु' की 'कामना' मानते हैं? क्या वायु आपके मतमें जड नहीं है? क्य-

जडकी भी आप कामना मानते हैं ? वैसे तो 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (१।१।३१) इस मीमांसासूत्रका यह भी अर्थ हो सकता है कि— पूर्वकल्पोत्पन्नातामिदानीन्तनानां च श्रुतिसाम्यम् नामसादृश्यम्। तेन पूर्व-कल्पसम्बन्धीनि तानि वृत्तानि वेदेषु उपात्तानि। ईश्वरज्ञाननिष्ठानां वा पदार्थानामुपलभ्यमानै: पदार्थै: सह श्रुतिसामान्यम् नाम-सादृश्यम्। तेन च अनित्यसंयोग: परिहृत:'। इत्यादि पूर्व-कल्पके जो पदार्थ हैं; वे भी इस कल्पके समान हैं; अर्थात् वेदमें लिखे हुए ववर आदि सब कल्पोंमें समान-रूपसे हुआ करते हैं। अत: प्रवाहरूपसे नित्य हैं'। तव अनित्य-संयोग हट गया।

वस्तुत: वेदमें इतिहास न माननेमें वादीके तथा मीमांसाके दृष्टिकोण-में भारी भेद है। मीमांसा तो वेदमें आदिमत्ता दोषकी आशङ्कासे उसमें इतिहास नहीं मानती, पर आप लोग पुराणवर्णित होनेसे उसके माननेपर पुराणोंकी विजय मानकर वेदमें इतिहास नहीं मानते; क्योंकि—इससे 'वेदों और पुराणोंकी एकवाक्यता' हो जाती है; पर आपको यह अनिष्ट है। पुराणोंसे तो ठहरा आपका 'अहिनकुल-सम्बन्ध', परन्तु प्राचीन लोग वेदमें इतिहास मान गये हैं।

उनका तात्पर्य यह है कि—'भूतं भव्यं भविष्यच्च-सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' (१२।९७) इत्यादि मनुवचनके अनुसार उसमें भविष्यद्-दृष्टि मानकर आदिमत्ता दोषका निराकरण हो जाता है। इससे वेदकी अपौरुषेयता अक्षुण्ण रहती है।

वृहद्-देवतामें भी कहा है— 'भूतं, भव्यं, भविष्यच्च...एवं-प्रकृतयो मन्त्रा: सर्ववेदेष्विति स्थिति:' (१।४०) इस प्रकार वृहद्देवताकार भी मनुजीकी भान्ति वेदमन्त्रोंमें भूत-भविष्यत्, वर्तमान इन सभी कालोंको मानते हैं।

इसलिए वादिमान्य 'वृहदेवता' ग्रन्थमें भी वेदमें स्थल-स्थल पर इतिहास दिखलाया है।

जैसे कि—दिङ्मात्र देखिये—'द्वन्द्वं तस्यास्तु तज्जज्ञे मित्रस्य वरुणस्य च। तयोरादित्ययो: सत्त्रे-दृष्ट्वाऽप्सरसयुर्वशीम्' (५।१३१) रेत: चस्कन्द कुम्भे तु चस्कन्द वासतीतरे। तेनैव तु मुहूर्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ (१३२) अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी सम्वभूवतु:। वहुधा पतिते शुक्रे कलशेऽथ जले स्थले (१३३) स्थले वसिष्ठस्तु मुनि: सम्भूत ऋषिसत्तम:। कुम्भे त्वगस्त्य: सम्भूतो जले मत्स्यो महाद्युति:' १३४-१३५-१३६-१३७)।

यही वात निरुक्तमें भी लिखी है—'उर्वशी अप्सरा:,...तस्या दर्शनात् मित्रावरुणयो रेत: चस्कन्द। अपि असि मैत्रावरुणो वसिष्ठ! उर्वश्या मनसोऽधिजात:' (५।१३।१, १४।१) यही वात वेदमें है—

'उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ! उर्वश्या ब्रह्मन्! मनसोऽधिजात:' (ऋ. ५।३।२३।५ अष्टकादि)।

यदि वादी कहे कि-वसिष्ठ आदि अनित्य हैं; तो उनके वर्णनसे वेद भी अनित्य होगा। पर ऐसी वात नहीं। इस प्रकार तो सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, सोना आदि, स्वा.द. सम्मत रेल, तार, विमान आदि भी अनित्य हैं; फिर वेदमें इनके वर्णन आ जानेसे भी वेद अनित्य हो जावेगा। देखिये-रेल, विमान, तार आदि महाभारतके वादसे लेकर अंग्रेजोंके समयसे पूर्व तक नष्ट रहे, अत: अनित्य हुए। फिर वहुत पीछे वने।

यदि कहा जावे कि—यह सव वस्तुएं प्रवाहरूपसे नित्य हैं; तो इसी प्रकार वसिष्ठ आदि ऋषि भी प्रवाहरूपसे नित्य हैं। वेद जव-जव प्रकट होंगे; तव तव उसके द्रष्टा वसिष्ठ आदि तथा नियत राजर्षि भी तव-तव अपने समय पर प्रकट होंगे।

'सप्त ऋषय: प्रतिहिता: शरीरे' (यजु: ३४।५५) यहाँ वसिष्ठ आदि सात अध्यात्म-ऋषि शरीरमें प्राणरूपसे कहे गये हैं। आकाशमें यही सप्तर्षि-मण्डलमें भी वे ही वसिष्ठादि आधिदैविक-रूपमें रहते हैं। इतिहासस्थित सात वेदके वसिष्ठादि वेदद्रष्टा आधिभौतिकरूपमें पृथिवी-लोकमें रहे।

इस प्रकार आग्नेय-प्राणरूप देव तारा-मण्डलमें इन्द्रादि-देवरूपसे मनुष्यादि शरीरस्थ देव, दिव्यलोक स्वर्गादिमें रहनेवाले शरीरी चेतन-देव रहते हैं। विजली आदिरूपमें वे आधिभौतिकरूपसे रहते हैं।

इसी तरह सोम्यप्राण पितर, उनके आधारसे होनेवाले ऋतु भी पितर, प्रति-शरीरमें रहते हुए सन्तत्युत्पादक भाव भी पितर, शरीर त्यागके बाद सूक्ष्म-शरीरसे चन्द्रादिलोकमें आनेवाले जीव भी पितर होते हैं। फिर इन सबके आपसमें सम्बन्ध हुआ करते हैं। प्रलयकालमें इनके नष्ट होनेपर भी फिर अन्य कल्पमें इनकी उत्पत्ति होनेसे पृथिवी आदिकी तरह प्रवाह-नित्यताके कारण इनके इतिहासोंके प्रसङ्गतः वेदमें आ जानेसे वेदोंकी अनित्यता वा पौरुषेयता कभी नहीं हो सकती।

इसीलिए ही महाभारतमें भी कहा है—'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः' (शान्तिपर्व २३२।२५-२६) (परमात्मा ऋषियोंके नाम तथा वेदोंके दर्शन आदि प्रलयकालकी रात्रिके अन्तमें प्रकट हुए इन सबको अज (ब्रह्मा) को दे दिया करता है।

इसलिए महाकवि भवभूतिने भी 'उत्तररामचरित' में कहा है— 'लौकिकानां तु साधूनामर्थं वागनुवर्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' (१।१०) (लौकिक लोगोंकी तो वाणी पदार्थके पीछे चलती है। पदार्थ पहले बनता है, उनकी वाणी पीछे चलती है कि—यह अमुक वस्तु उत्पन्न हो चुकी है। परन्तु आदिम-ऋषियों (वेदों) की वाणीके पीछे ही पदार्थ चलता है। वेदकी वाणीमें जिन वसिष्ठादि-ऋषियोंका नाम पहले आ गया; पर वे वसिष्ठादि अपने समयपर उससे पीछे प्रकट होते हैं)।

सूर्य-चन्द्रमाके नामकी वाणी वेदमें पहले हुई। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ. १०।१९०।१-३) और वे सूर्य-चन्द्रादि पदार्थ

उस वाणीके बाद ही ब्रह्मा-द्वारा वेदके शब्दोंको देखकर बनाये गये। वे ही सूर्यादिलोक हमारे शरीरमें भी रहते हैं।

फलतः वेदमें भविष्यत् दृष्टिसे इतिहासमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं आती। तब प्लायोगि-आसङ्गका इतिहास वेदमें अनुपपन्न न हुआ।

---

(४७) कुछ अन्य प्रमाण।

(प्र.) क्या स्त्री-शूद्रादिके वेदानधिकार-सूचक अन्य भी कुछ प्रमाण हैं ?

(उ) पूर्व इस विषयमें पर्याप्त प्रमाण वेदादिशास्त्रोंके दिये जा चुके हैं। अब कुछ अन्य भी दिये जा रहे हैं—

(क) 'न वेदे पत्नीं वाचयति' (सांख्यायन ब्रा. ७।३०) इसमें स्त्री-को वेदपठनका अधिकार नहीं दिया गया। ब्राह्मणभाग भी वेद है—यह छठे पुष्पमें सम्यक्तया सिद्ध किया जा चुका है।

(ख) 'श्रीमद्भागवत' का यह कथन तो बहुत ही प्रसिद्ध है—'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' (१।४।२५) (स्त्री तथा शूद्र और निम्न-जातिवालोंको वेद (त्रयी) सुनाये नहीं जाते; अतः उनकेलिए पञ्चम-वेद 'महाभारत' बनाया गया है)।

(ग) गृह्यसूत्रोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका ही उपनयन आता है। उसीसे वे द्विज होते हैं; उसीसे वे वेद पढ़नेके अधिकारी रहते हैं; पर शूद्रोंका नाम उन त्रैवर्णिकोंमें न आनेसे वे 'एकज' वा 'एकजन्मा' रहते हैं; तभी भगवद्गीतामें 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप !' (१८।४१) में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यको समस्त किया गया है, पर शूद्रको इस समाससे पृथक् किया गया है। इसमें कारण द्विजत्व तथा एकजत्व होनेका भेद है। अतः उनका उपनयन नहीं हो सकता; और उनका वेदाध्ययन

भी नहीं हो सकता।

(घ) 'तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त:' (७।१।१।६) यह कृष्णयजुर्वेद-(तै.सं.) का प्रसिद्ध वचन है। इसे हम इस पुष्पमें अन्यत्र लिख चुके हैं। इस प्रकार जब शूद्रका यज्ञमें अधिकार नहीं, जैसेकि-यजुर्वेद-शतपथ-ब्राह्मणमें भी कहा है—'ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा, वैश्यो वा, ते हि यज्ञिया:' (३।१।१।६) तब यज्ञ-विषयवाले वेदमें (देखो इसपर 'आलोक' (६) पृ. १४१-१४६) शूद्रका अधिकार कैसे हो सकता है? कृष्ण-यजुर्वेद भी वेद है, इस विषयमें 'आलोक' के भिन्न-भिन्न पुष्पोंमें 'वेदस्वरूपनिरूपण' निबन्धोंमें स्पष्टता देखिये।

(ङ) 'सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्री-शूद्राय नेच्छन्ति।...सावित्रीं लक्ष्मीं यजु: प्रणवं चापि यदि जानीयात् स्त्री-शूद्र:; स मृतोऽधो गच्छति। तस्मात् सर्वदा नाचष्टे। यदि आचष्टे, स आचार्यस्तेनैव मृतोऽधो गच्छति' (अथर्ववेद-नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद्) में स्त्री एवं शूद्रकेलिए गायत्री-मन्त्र, ओङ्कार, तथा यजु: (यजु: यहां सब वेदोंका उपलक्षण है) का स्त्री-शूद्रादिको देना आचार्यको निषिद्ध किया गया है। देनेसे शूद्र तथा आचार्य दोनोंकी अधोगति बताई गई है।

उपनिषदें भी वेदके ब्राह्मणभागान्तर्गत होनेसे वेद हैं—यह हम 'वेदस्वरूपनिरूपण' निबन्धोंमें तथा 'वेदविषयमें भारी भूल' निबन्धमें 'आलोक' (४) पृ. १०५-१२० में सिद्ध कर चुके हैं।

अद्वैतवादके प्रतिष्ठापक आदि-शङ्कराचार्यने इस वचनको प्रमाणित करते हुए इसकी इस प्रकार व्याख्या की है—

'सावित्रीं प्रणवं [ओङ्कारं] यजुर्लक्ष्मीं स्त्री-शूद्राय स्त्री च शूद्रश्च स्त्री-शूद्रम् [समाहारद्वन्द्व:] तस्मै स्त्री-शूद्राय नेच्छन्तीति निषेधं...... कुर्वन् प्रधान-(प्रकृति) उपासनायां स्त्री-शूद्रस्यापि अधिकारं दर्शयति।... सावित्रीं लक्ष्मीं यजु: प्रणवं यदि जानीयात् स्त्री-शूद्र:; स मृत: अधो नरकं गच्छतीति प्रत्यवायदर्शनेन निषेधमेव द्रढयति।

तस्मात् सर्वदा नाचष्टे—इति कदाचिदपि नाचष्टे—इत्याचार्यस्य निषेधं दर्शयति। यदि आचष्टे आचार्य:, तेनैव कथनेन मृतोऽधो गच्छतीति प्रत्यवायदर्शनेन निषेध एव'।

इसमें स्पष्ट किया गया है कि—स्त्री एवं शूद्रको वेदादिका अधिकार नहीं। वे स्त्री-शूद्रादि प्रकृतिकी उपासनामें अधिकृत हैं।

---

(४८) ब्रह्मसूत्रका 'अपशूद्राधिकरण'।

'ब्रह्मसूत्र' का दूसरा नाम 'वेदान्त-दर्शन' है—यह प्राय: उपनिषदोंके आधारपर श्रीमान् महामुनि-वेदव्यास महाराजने बनाया है। उपनिषदें भी ब्राह्मणभागान्तर्गत होनेसे 'वेद' हुआ करती हैं—इस विषयमें हम 'वेदस्वरूप-निरूपण' में 'आलोक' ग्रन्थमालाके ४र्थ' ६ठे, ७म, ६म, १०म, ११वें पुष्पोंमें विवेचना दे चुके हैं। इसलिए उपनिषदोंको 'वेदान्त' अथवा 'निगमान्तविद्या' (भवभूति) कहा जाता है, उनके दर्शन-को 'वेदान्तदर्शन' कहा जाता है। इनमें ब्रह्मविद्या होनेसे इसे 'ब्रह्मसूत्र' कहा जाता है। प्राचीन विद्वान् इसपर भाष्य करना बड़ा गौरवका कार्य समझते थे। यह दर्शन वादिप्रतिवादिमान्य है, अत: इसके 'अपशूद्राधिकरण' को उद्धृत करनेसे भी शूद्रके वेदानधिकारपर प्रकाश पड़ेगा।

आजकलका युग स्त्री-समाज एवं शूद्र-समाजसे पूरी सहानुभूति रखता है; अत: इन शूद्रानधिकार बताने वाले प्राचीन सूत्रोंसे विरोध करता है। बहुत प्रतिष्ठित होनेसे ऐदंयुगीन-व्यक्ति खुलकर तो इन सूत्रोंका विरोध नहीं कर सकते; अत: उनका अर्थ बदलनेकी विशेष चेष्टा करते रहते हैं। हम भी इस पुष्पमें उसपर कुछ विचार करते हैं।

'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम अध्यायके तृतीय पादमें ३४ सूत्रसे ३८ सूत्र तक पांच सूत्रोंमें 'अपशूद्राधिकरण' बहुत प्रसिद्ध है। इसका भाष्य स्वामी-

श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीयति-पण्डित-भगवत्पादाचार्य आदि प्राचीन आचार्योंने तथा 'वैयासिकन्यायमाला' में श्रीसायणाचार्यने किया हैं। इस प्रकार श्रीजैमिनि-मुनिने भी 'मीमांसा-दर्शन' में 'अपशूद्राधिकरण' रखा है।

इनके भाष्योंको हम उद्धृत करेंगे; क्योंकि—'आलोक' के तृतीय-पुष्पका विषय भी यही है कि—'क्या स्त्री-शूद्रादिको वेदादिका अधिकार है?' इसे हमने दिल्लीके 'सन्मार्ग' (दैनिक) में दिया था; अब वह सुलभ न होनेसे हम इस निबन्धको यहाँ फिरसे 'आलोक' में देते हैं। सो 'आलोक'-पाठक इधर अवधान दें; इनपर जहाँ वर्तमान-प्रतिपक्षियों-द्वारा आक्षेप किये जाते हैं; उनका परिहार भी यथासम्भव किया जावेगा।

'ब्रह्मसूत्र' पर एक पूरा तो नहीं, पर प्रथम अध्यायपर एक वर्तमान रामानन्दी-महाशयने भी अपना 'वैदिक-भाष्य' बनाया है, वह सर्वथा कृत्रिम है। उसमें कहनेको तो केवल वेदमन्त्र प्रमाणित किये हैं, पर वहाँ अर्थका अनर्थ किया गया है। वे रामानन्दी आधे-आर्यसमाजी विचारवाले हैं। कुछ कट्टर साम्प्रदायिक भी हैं। श्रीरामायणमें 'अत्र पूर्वं महादेव: प्रसादमकरोद् विभु:' में रामेश्वरलिङ्गकी स्थापनाका तथा श्रीरामद्वारा महादेवका पूजन भी संकेतित होता है; पर उक्त महाशयको यह सह्य नहीं था, क्योंकि वे रामानन्दी हैं, और श्रीरामको ही सबसे बड़ा बनाया चाहते हैं।

उस रामायणीय-पद्यका अर्थ यह था कि—श्रीराम सूचित करते हैं कि—यहाँ पहले रामेश्वर-लिङ्गके स्थापन तथा पूजनके अवसरपर श्रीमहादेवने मुझपर कृपा की थी, पर उक्त महाशय यहाँ 'महादेव' का अर्थ 'समुद्र' करते हैं कि—समुद्रने मुझपर यहाँ कृपा की थी। ऐसे लोग अपनेको सत्याग्रही कहते हैं; पर यह स्वैराचार-वृत्तिवाले होनेसे 'ऊँटका अर्थ खरबूजा और खरबूजेका अर्थ बिल्ली' करते हैं। अत: उनके वे अर्थ नहीं हैं, किन्तु 'अर्थका अनर्थ' ही है। जो अपने घोड़ेकी चार टाँगें होनेपर

भी 'तीन टाँगों' का आग्रह करें; उन्हें क्या मनवाया जा सकता है? श्रीभर्तृहरिने ठीक ही कहा है— 'अज्ञ: सुखमाराध्य: सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञ:। ज्ञानलव-दुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति'।

(अज्ञ—जो कुछ नहीं जानता; उसे तो सुखपूर्वक समझाया जा सकता है, और वह शीघ्र मान भी जाता है। विशेषज्ञ तो बहुत सुख-पूर्वक आराधित किया जा सकता है। पर जो 'ज्ञानलव-दुर्विदग्ध' है, थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त करके 'कुचतुर' बना हुआ है, उसकेलिए श्रीभर्तृहरि कहते हैं कि—'ब्रह्मापि (तं) नरं न रञ्जयति' उस ज्ञानलव-दुर्विदग्ध पुरुषको ब्रह्माजी भी समझा नहीं सकते'।)

यह बात ठीक है। सो उन लोगोंका कुछ भी मूल्य नहीं है। 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ! बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्य-वसायिनाम्' (गीता २।४१) व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि एक ही होती है; पर अव्यवसायी-सन्देहके झूलेमें झूल रहे हुए पुरुषोंकी बुद्धियाँ अनेक प्रकारकी तथा अनन्त होती हैं, कभी कुछ कह रही होती हैं; कभी कुछ।

इतने प्राचीन-आचार्य महान् विद्वान् थे; उनका 'अपशूद्राधिकरण' पर ऐकमत्य ही सिद्ध करता है कि—यही अर्थ ठीक है; पर आजकलके शूद्र-सेवकों-सुधारकोंको यह सह्य नहीं है। वे लोग उनका स्वाभाविक सेवाका कार्य तथा देशरक्षाकेलिए अस्त्र-शस्त्र विमान-निर्माणादि कार्य उनसे छुड़वाकर उन्हें बलात् वेदकी ओर घसीटते हैं; सो यह उन लोगोंका देशविघातक बड़ा भारी षड्यन्त्र है। मर्यादा-पुरुषोत्तम तथा भारतके संरक्षक भगवान्-रामने शूद्रोंका यह देशविघातक षड्यन्त्र जानकर-जिनसे ब्राह्मणकुमार मरने लगे थे, उनके अगुवाको दण्डित किया था; उससे देशमें अव्यवस्था होनी बन्द हो गई थी।

फिर किसी शूद्रने वैसा दुस्साहस करनेका अकाण्ड-ताण्डव नहीं

किया। देशने सुखकी साँस ली थी। देश-शत्रु छिन्न-भिन्न हो गये थे, पर यह देशके छिपे शत्रु पण्डितम्मन्य सुधारकाभास लोग शूद्रोंका जो देश-रक्षार्थ अनिवार्य अस्त्र-शस्त्रादि-निर्माणका कार्य था; उससे उनको अरुचि दिलवाकर ब्राह्मणोंका वेदाध्ययन, तथा यज्ञ-जप-तप आदि कार्य उनसे कराना चाहते हैं; सो यह उन पण्डितम्मन्य ऐदयुगीन व्यक्तियोंका देशविघातक षड्यन्त्र है। 'आलोक' पाठकोंको उनका यह षड्यन्त्र विफल कर देना चाहिये। इसलिए हम उसे दिखलाते हैं।

अब हम उक्त-विषयका प्रारम्भ करते हैं। 'आलोक'-पाठक इधर अवधान दें।

'अपशूद्राधिकरण' का अर्थ है कि-शूद्र इस वेदाध्ययनादि-विषयसे अपगत है, बहिर्गत है। अर्थात् वेदादिमें उसका अधिकार नहीं है। पर एक रामानन्दी-महाशयने इस बातमें अपने पक्षकी हानि देखकर उसको बदलकर बलात् उसे 'मध्वाद्यधिकरण' कर डाला।

अस्तु ! पहले प्राचीन आचार्योंका मत उद्धृत करके फिर उनके न माननेवाले वादीका मत प्रत्यालोचित किया जायगा।

(स्वामी श्रीशङ्कराचार्यका ब्रह्मसूत्रका भाष्य)

'शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि' (वेदान्तदर्शन. १।३।३४)।

अपशूद्राधिकरणके आरम्भिक इस सूत्रमें छान्दोग्योपनिषद्के जान-श्रुतिका इतिहास अन्तर्गर्भित किया गया है। इसीसे पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष निकाले गये हैं। उक्त सूत्रके-पदोंका अर्थ इस प्रकार है—

अस्य—इस जानश्रुतिके, **तदनादरश्रवणात्**—हंससे अपना अनादर सुननेसे (जैसा कि—उसका औपनिषदिक इतिहास है) **शुक्** (जो शोक हुआ; **सूच्यते हि**—उससे जानश्रुतिका यौगिक 'शूद्र' होना सूचित किया गया, वस्तुतः वह शूद्र नहीं था।

पूर्व-अधिकरणके साथ—इस अधिकरणकी सङ्गति बताते हुए श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं-'यथा मनुष्याधिकार-नियममपोद्य देवादीनामपि विद्यासु अधिकार उक्त, तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्यापि अधिकारः स्याद्-इत्येतामाशङ्का निवर्तयितुम् इदम् अधिकरणमारभ्यते।

(जैसे पूर्वके अष्टम देवताधिकरणमें केवल द्विज-मनुष्यका ही वेद-विद्यामें अधिकार है—इस नियमका बाध करके देवता आदिका अधिकार भी बताया गया था, इस प्रकार द्विज-मनुष्यके विद्याधिकार-विषयक नियमके बाधस्वरूप शूद्रका भी विद्यामें अधिकार प्राप्त होता है-इस पक्षके बाधनकेलिए इस नवम 'अपशूद्राधिकरण' का आरम्भ है) यह बात सर्वथा प्रासङ्गिक है, क्रम-प्राप्त है, और छान्दोग्य-श्रुतिके पूर्वापरके अनुकूल है।

तत्र शूद्रस्यापि अधिकारः स्याद्-इति तावत् प्राप्तम्, अर्थित्व-सामर्थ्ययोः सम्भवात्। 'तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (कृ.य.तै.स. ७।१।१६) इतिवत् 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' इति निषेधाऽश्रवणात्।

यहाँ आचार्यपाद पूर्व-अधिकरणसे इस अधिकरणकी सङ्गति बताते हुए कहते हैं-जैसे 'मनुष्यका ही विद्यामें [ब्रह्मविद्यामें, वा वेदविद्यामें] अधिकार है-इस विषयके अपवादमें उपनयनादिसे हीन देवता आदिका भी विद्यामें अधिकार स्थापित किया है, उसी प्रकार 'द्विजोंका ही विद्यामें अधिकार है'-इस नियमके अपवादमें अनुपनीत शूद्रका भी विद्यामें अधिकार होना चाहिये, इस आशङ्काकी निवृत्तिकेलिए यह अधिकरण शुरू किया जाता है।)

पूर्वपक्षीकी ओरसे आचार्य कहते हैं-ब्रह्मविद्यामें शूद्रका भी अधिकार है; क्योंकि--वह इस विषयका अर्थी (इच्छुक) भी हो सकता है; और उसमें बुद्धिमान् मनुष्यकी बुद्ध्यनुकूल सामर्थ्य भी सम्भव हो सकती है। और फिर कृष्णयजुर्वेदमें जैसे 'शूद्रकी वैदिक-यज्ञमें असमर्थता' बताई है,

वैसे उस शूद्रका विद्यामें असामर्थ्य वा निषेध कहीं नहीं बताया गया।)

श्रीशङ्कराचार्य पूर्वपक्ष देते हुए पूर्वपक्षीसे अन्याय नहीं करते, उसका पक्ष भी वे दृढ करते हैं; युक्तिसे भी, प्रमाणसे भी। अत: आगे कहते हैं—

'यच्च कर्मसु अनधिकारकारणं शूद्रस्य अनग्नित्वम्, न तद् विद्यासु अधिकारस्य अपवादकम्। नहि आहवनीयादि-रहितेन विद्या वेदितुं न शक्यते'। (जोकि शूद्रके अनधिकारका कारण अनग्नित्व है कि—वह वैदिक-अग्निहोत्रका अधिकारी नहीं; वह शूद्रके विद्यामें अधिकारका निषेध नहीं कर सकता। आहवनीय आदि वैदिक अग्निसे रहित भी पुरुष वेदविद्याका भी सम्पादन न कर सके—यह बात नहीं हो सकती।) यहां तक पूर्वपक्षमें आचार्य युक्ति देकर अब उसे श्रुतिसे भी दृढ करते हैं—

भवति च श्रौतं लिङ्गं शूद्राधिकारस्य उपोद्बलकम्—संवर्गविद्यायां हि जानश्रुतिं पौत्रायणं शुश्रूषुं 'शूद्र' शब्देन परामृशति—'अह हारे त्वा शूद्र! तवैव सह गोभिरस्तु' (छा. ४।२।३) इति। विदुर-प्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्रभवा अपि विज्ञानसम्पन्ना: स्मर्यन्ते। तस्माद् अधिक्रियते शूद्रो विद्यासु-इति।

(छान्दोग्य-श्रुति भी शूद्रके अधिकारका समर्थन करती है। संवर्ग-[ब्रह्म] विद्याको श्रवण करनेकी इच्छावाले जानश्रुतिका रैक्व-मुनिने 'अहहा रे त्वा (अरे शूद्र! जानश्रुति! रथ, हार, सुवर्ण-मुद्रा और गौएं तेरे ही पास रहें) इस प्रकार जानश्रुतिको 'शूद्र' कहा है। अब आचार्य इसमें ऐतिहासिक-प्रमाण भी देते हैं—'स्मृति (महाभारत) में विदुर-आदि शूद्र-योनि (दासी) में उत्पन्न होनेपर भी विशिष्ट-ज्ञानसे युक्त थे। इसलिए शूद्रका विद्यामें अधिकार है)।

पाठकोंने देखा होगा कि—आचार्यवर्यने पूर्वपक्षीसे अन्याय नहीं किया। तभी तो 'उदारतम आचार्य स्वा.द.' पुस्तिकामें उसके दयानन्दी लेखकने इस पूर्वपक्षको 'प्रबल और युक्तियुक्त' बताया; अत: उसे उद्धृत भी

किया। पर उसका जो उत्तरपक्ष उस पूर्वपक्षसे भी "प्रबलतम तथा अतिशयित-युक्तियुक्त" था; उसे छिपा दिया, उसको लिखा ही नहीं, और न ही उसकी कुछ अयुक्तता वा अनुपपन्नता बताई, वा दिखलाई? यह क्या? क्या प्रतिपक्षी केवल यों ही पूर्वपक्षको 'प्रबल तथा युक्तियुक्त' बताता जा रहा है? कदाचित् वह आचार्यके दिये उत्तरपक्षको जनदृष्टिसे छिपाकर ही—क्योंकि यह उसकी दुष्प्रकृति रही है कि—ग्रन्थोंके स्वविरुद्ध पूर्वापर छिपा देता है। जनदृष्टिमें उत्तरको छिपाकर पूर्वपक्षको प्रतिपक्षी प्रभावशाली बनाया चाहता हो, तो यह भिन्न बात है, पर छिपानेसे तो वह उत्तरपक्ष शिथिल नहीं हो जाता है, बल्कि बहुत ही प्रबल हो उठता है।

अब हम उस छिपाये हुए उत्तरपक्षको जनदृष्टिमें रखते हैं—

'न शूद्रस्य अधिकार:; वेदाध्ययनाऽभावात्। अधीत-वेदो हि विदित-वेदार्थो वेदार्थेषु अधिक्रियते। न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयन-पूर्वकत्वाद् वेदाध्ययनस्य। उपनयनस्य च वर्णत्रयविषयत्वात्। (वेदाध्ययन न होनेके कारण ब्रह्मविद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है। जिसने वेदका भली-भाँति अध्ययन किया हो, और वेदार्थको जाना हो; उसीका वेदार्थ-विचारमें अधिकार है। पर शूद्र तो वेदका अध्ययन कर ही नहीं सकता; क्योंकि—वेदाध्ययन उपनयन होनेपर ही किया जा सकता है। और उपनयन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंका ही होता है) कितना यह प्रबल उत्तर है। 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्' जब मूल ही कट गया हो; तब शाखा एवं पत्ते कैसे हो सकते हैं? त्रिवर्णाधिकृत उपनयनको चतुर्थ-वर्ण आदेश न होनेसे कर ही नहीं सकता, तब वह वेदमें चञ्चु-प्रवेश ही कैसे कर सकेगा? प्रतिपक्षीकी संस्कारविधिमें भी उपनयनके अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णके बालक ही बताये हैं। तब इनमें स्त्री-शूद्रका नाम न आनेसे वे शूद्रादि वेदमें चञ्चु-प्रवेश ही भला कैसे कर सकते हैं?)

यत्तु अर्थित्वम्, न तद् असति सामर्थ्ये अधिकारकारणं भवति। सामर्थ्य-

मपि न लौकिकं केवलमधिकारकारणं भवति । शास्त्रीये अर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्य अपेक्षितत्वात् । शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्य अध्ययन-निराकरणेन निराकृतत्वात् । (जो कि कहा जावे कि–स्त्री एवं शूद्र वेदको चाह सकते हैं, वा समझ सकते हैं; अतः वे वेदके अधिकारी हो जाएंगे–यह बात ठीक नहीं । केवल इच्छामात्र तो हो, पर यदि सामर्थ्य न हो; तो अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता । केवल लौकिक-सामर्थ्य भी अधिकारका कारण नहीं बन पाती । क्योंकि–शास्त्रीय-अर्थमें शास्त्रीय-सामर्थ्यकी ही अपेक्षा हुआ करती है । पर शास्त्र-द्वारा शूद्रके अध्ययनके निराकरणसे शास्त्रीय-सामर्थ्य भी नहीं हो सकती । जिनको सर्विसमें कोई अफसर सबमिट कर दे; वह तो उस सर्विसका अधिकारी हो ही जाता है; पर जिसको उसमें अध्यक्ष-द्वारा न चुना गया हो; वह वैसी योग्यता होनेपर भी भला बलात् उस कार्यमें अधिकृत कैसे हो सकता है ? यदि वैसा करने लगे; तो उसे बलात् गलहत्था देकर बाहर निकाला जाता है; वा उसे गिरफ्तार किया जाता है ।

कैसा प्रबल उत्तर है; तभी तो प्रतिपक्षीने अपने ट्रैक्टमें लज्जावश उसे उद्धृत करनेकी धृष्टता नहीं की । बतावे वह कि–जब उसीकी **संस्कारविधिमें उपनयन एवं वेदाध्ययनमें त्रैवर्णिकोंके अतिरिक्त शूद्रवर्णका तथा अवर्ण-अन्त्यजादिका नाम भी नहीं है**; तब वह अध्ययन कैसे कर सकेगा ? तब 'यथेमां वाचं' में बिना उपनयन शूद्रान्त्यजादिका प्रतिपक्षीके स्वामीने जो कि वेदाध्ययन बताया है; यह तो स्वयं ही 'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मे पिता । माता तु मम वन्ध्याऽऽसीद् अपुत्रश्च पितामहः' (जैसे कि–ऐसे ही किसी ऐरे-गैरेने कह दिया कि–मैंने प्रतिज्ञा की हुई है कि–जब तक कि मैं जीता रहूँगा, नहीं बोलूंगा । इसलिए मैं बोल नहीं रहा हूँ । फिर उसीने कहा कि–मेरे पिता ब्रह्मचारी रहे थे; उन्होंने ब्याह ही नहीं किया था । फिर वही कहने लगा कि–मेरी माता तो बांझ थी, उसे कोई लड़का ही पैदा नहीं हुआ । फिर वही कहने लगा

कि–मेरे दादाका कोई पुत्र ही नहीं था । की तरह) विरुद्ध सिद्ध हुआ ।)

यच्चेदम्–'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः [विद्यायां तु नाऽनवक्लृप्तः] इति; तद् न्यायपूर्वकत्वात् [तस्य] विद्यायामपि अनवक्लृप्तत्वं द्योतयति, न्यायस्य साधारणत्वात् । (यह जो कहा गया है कि–'शूद्र यज्ञमें अनधिकृत है'; पर इससे उसका विद्या (वेद) में भला अनधिकार कैसे हो सकता है' ? यह भी ठीक नहीं । यह निषेध न्यायानुसार उसको विद्या (वेद) में भी अनधिकारी बता रहा है; क्योंकि–न्याय बराबर हुआ करता है । यज्ञमें उसके अनधिकारी होनेसे यज्ञविषयवाले वेदमें भी भला उसका अधिकार कैसे हो सकता है ?)

'यत् पुनः संवर्गविद्यायां शूद्र-शब्द-श्रवणं लिङ्गं मन्यसे, न तद् लिङ्गम्. न्यायाऽभावात् । न्यायोक्ते हि लिङ्गदर्शनं द्योतकं भवति । नचाऽत्र न्यायोस्ति । कामं चाऽयं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेव एकस्यां शूद्रमधिकुर्यात्; तद्विषयत्वात्; न सर्वासु विद्यासु । अर्थवादस्थत्वात् तु न क्वचिदयं शूद्रमधिकर्तुमुत्सहते' । (जो कि ऐ वादी ! तुम संवर्गविद्याके शुश्रूषु जानश्रुतिको शूद्रशब्दसे संबोधित देखकर शूद्रको उस विद्यामें अधिकृत मानते हो, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि–उसमें न्याय नहीं । लिङ्ग न्यायसङ्गत विषयका ही सूचक हो सकता है; पर यहाँ तो न्याय ही नहीं ।

भले ही तुम्हारे अनुसार ऐ वादी ! शूद्रको केवल-संवर्गविद्यामें अधिकृत मान लें; परन्तु सब विद्याओंमें इससे शूद्र भला अधिकृत कैसे हो जावेगा ? वहां वस्तुतः 'शूद्र' शब्द अर्थवाद (भूतार्थवाद)-वाक्यमें पढ़ा हुआ होनेसे किसी भी विद्यामें शूद्रके अधिकारका प्रतिपादन नहीं करा सकता ।)

शक्यते चाऽयं 'शूद्र' शब्दोऽधिकृतविषये योजयितुम् । कथमित्युच्यते- 'कम्वर एनमेतत् सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ ?' (छा. ४।१।३) इत्यस्माद् हंसवाक्याद् आत्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुग्

उत्पेदे। ताम् ऋषी रैक्व: 'शूद्र' शब्देनाऽनेन सूचयाम्बभूव आत्मन: परोक्षज्ञता-ख्यापनाय-इति गम्यते, जातिशूद्रस्य अनधिकारात्। (सिद्धान्ती कहता है कि-यह 'शूद्र'-शब्द अधिकृत (द्विज) के विषयमें अन्वित हो जाता है। क्योंकि-हंसके 'कम्वर एनमेतत् सन्तं' (रैक्वके विषयमें जो कहना चाहिये, उसे इस साधारण मनुष्य (जानश्रुति) के विषयमें कैसे कहते हो?) इस हंसके वाक्यसे अपना अनादर सुननेसे जानश्रुतिको शुक् (शोक) हुआ। इससे प्रतीत हुआ कि-रैक्व-मुनिने अपने परोक्ष-ज्ञानको सूचित करनेकेलिए 'शूद्र' इस यौगिक शब्दसे उसके शोकका संकेत किया है। जाति शूद्रको तो विद्याका अधिकार ही नहीं।)

'कथं पुन: 'शूद्र' शब्देन शुग् उत्पन्ना सूच्यते-इति? उच्यते-तदाद्रवणात्, शुचमभिदुद्राव, शुचा वा अभिदुद्रुवे; शुचा वा रैक्वमभिदुद्राव-इति शूद्र: [इति] अवयवार्थ-सम्भवात्, रूढ्यर्थस्य च असम्भवात्। दृश्यते चाऽयमर्थोऽस्याम् आख्यायिकायाम्'। (प्रश्न—जानश्रुतिको शोक हुआ, यह 'शूद्र' शब्दसे भला कैसे सूचित होता है? (उत्तर) जाति-शूद्रको अधिकार नहीं होता। सो उसके आद्रवणसे उसे 'शूद्र' कहा गया। वह शोककी ओर अग्रसर हुआ, शोकाक्रान्त हुआ, अथवा शोकने उसपर आक्रमण किया, अथवा वह जानश्रुति शोकसे रैक्वके पास दौड़ा गया; सो उसे 'शुचाऽभिदुद्रुवे' इस व्युत्पत्त्यर्थसे 'शाब्दिक-शूद्र' कहा गया। चूंकि यहांपर 'शूद्र' का यौगिक ही अर्थ सम्भव है, रूढि-अर्थ सम्भव नहीं है। छान्दोग्यकी उक्त आख्यायिकामें यही अर्थ स्पष्ट प्रतीत हो भी रहा है। (१।३।३४)

आगे मूलकार-श्रीव्यासमुनि जानश्रुतिकी क्षत्रियता बताकर उसको शूद्र कहनेमें स्पष्ट शाब्दिकता है, वास्तविकता नहीं-यह ३५वें सूत्रसे बताते हैं—

'क्षत्रियत्वगतेश्च उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्' (१।३।३५) (जानश्रुति क्षत्रिय है, ऐसा छान्दोग्यकी श्रुतिसे प्रतीत होता है। इसलिए वह

वास्तविक शूद्र नहीं है। इसमें प्रमाण यही है कि-आगे संवर्गविद्याके वाक्यशेषमें चित्ररथ क्षत्रियके वंशसे उत्पन्न हुए अभिप्रतारी नामक-क्षत्रियके साथ उसका साहचर्य है)।

इसपर शाङ्करभाष्य इस प्रकार है—

'इतश्च न जातिशूद्रो जानश्रुति:' (इसमें अन्य प्रमाण है कि-जानश्रुति जाति-शूद्र नहीं है, केवल उसे शाब्दिकतासे, उपचारसे, उसकी-निन्दार्थ निन्दार्थवादसे वैसे कहा गया।

'यत्कारणं प्रकरणानिरूपणेन क्षत्रियत्वम् अस्य उत्तरत्र चैत्ररथेन अभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहाराद् लिङ्गाद् गम्यते'। (क्योंकि-प्रकरणके निरूपणसे आगे चित्ररथ क्षत्रियके लड़के अभिप्रतारी क्षत्रियके साथ उसका कथन किया गया है। इस लिङ्गसे जानश्रुतिका क्षत्रिय होना स्पष्ट है।) इसीको आगे स्पष्ट करते हैं।—

'उत्तरत्र हि संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथि:-अभिप्रतारी क्षत्रिय: संकीर्त्यते-'अथ ह शौनकं च कापेयम् अभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं सूदेन परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारो बिभिक्षे' (छा. ४।३।५) इति। (आगे संवर्ग-विद्याके वाक्यशेषमें राजा चित्ररथके लड़के अभिप्रतारी नामक क्षत्रियका निरूपण है-'अथ ह शौनकम्' (जबकि शुनकके पुत्र कापेय और कक्षसेनके लड़के अभिप्रतारीकेलिए रसोइया भोजन परोस रहा था। तब उनसे एक ब्रह्मचारीने भिक्षा मांगी) [आचार्यकुलका ब्रह्मचारी द्विजोंसे भिक्षा मांगता हैं, शूद्रोंसे नहीं]।

चैत्ररथित्वं च अभिप्रतारिण: कापेययोगाद् अवगन्तव्यम्। कापेययोगो हि चित्ररथस्य अवमत:-'एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्' (ताण्ड्यब्रा. २०।१२।५) इति। (अभिप्रतारी चित्ररथके वंशका था, यह कापेयके सम्बन्धसे मालूम पड़ता है। 'एतेन चित्ररथं' (इस द्विरात्रयज्ञसे कापेयोंने चित्ररथके लड़केको यज्ञ कराया) इससे चित्ररथका कापेयके साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है।)

समानान्वयानां च प्रायेण समानान्वया याजका भवन्ति । 'तस्मात् चैत्ररथिर्नाम एकः क्षत्रपतिरजायत' इति च क्षत्रपतित्वावगमात् क्षत्रियत्वम् अस्य अवगन्तव्यम्' (प्रायः समानकुल वाले समानकुलवालोंके याजक (यज्ञ कराने वाले) होते हैं । 'तस्मात् चैत्ररथिर्नाम' (उस यज्ञके बाद चैत्ररथि नामका क्षत्रपति चित्ररथसे उत्पन्न हुआ) इस प्रकार उसके क्षत्रपति (क्षत्रिय) प्रतीत होनेसे निश्चय होता है कि-वह क्षत्रिय था) ।

तेन क्षत्रियेण अभिप्रतारिणा सह समानायां संवर्गविद्यायां संकीर्तनं जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं सूचयति । समानानामेव हि प्रायेण समभिव्य हारा भवन्ति । (उस क्षत्रिय अभिप्रतारीके समान-विद्यामें जानश्रुतिका संकीर्तन (नामग्रहण) भी वह क्षत्रिय है—इस बातको सूचित कर रहा है; क्योंकि-प्रायः समानोंका एक साथ निर्देश किया जाता है [यह प्राचीन-शैली है]

क्षत्तृप्रेषणादि-ऐश्वर्ययोगाच्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः । अतो न शूद्रस्य अधिकारः (सारथि भेजना, धन कन्या आदि दानके साथ जानश्रुतिकी विद्या लेनेकी चेष्टा-यह जानश्रुतिका ईश्वरत्व (ऐश्वर्य) उसको क्षत्रिय-राजा बता रहा है । [किसीका दास होनेके कारण निर्धन होनेसे शूद्रमें ऐसा ऐश्वर्य नहीं होता] अतः जानश्रुतिके 'शूद्र' कहनेमें प्रयुक्त 'शूद्र' शब्द यौगिक ही सिद्ध हुआ, जाति-शूद्रता उसकी इससे नहीं सिद्ध हो रही । इससे सिद्ध हुआ कि-श्रौतविद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं होता) (३५) । आगेके सूत्रमें इससे भी बढ़कर सूत्रकार स्पष्टता करते हैं ।—

'संस्कार-परामर्शात् तदभावाऽभिलापाच्च' (१।३।३६) (तं ह उपनिन्ये' (उसका उपनयन किया) इत्यादि विद्याप्रकरणमें उपनयनादि-संस्कारका वर्णन किया गया है; 'न शूद्रे पातकं किञ्चिद् न च संस्कारमर्हति' (शूद्रमें कोई पाप नहीं है); क्योंकि-'न शयानः पतत्यधः' जो पहलेसे ही नीचे सो रहा है, वह नीचे नहीं गिरता; पर वह संस्कार-

उपनयनादिके योग्य नहीं होता है, इत्यादिसे शूद्रकेलिए उपनयनादि-संस्कारोंका निषेध किया गया है । इस कारण शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है; इसका कारण स्पष्ट है कि-उस विद्याको ग्रहण करनेवाला जानश्रुति जातिशूद्र नहीं था; उसे शाब्दिक 'शूद्र' ही बताया गया है पर वह क्षत्रिय है ।)

इसपर शाङ्करभाष्य इस प्रकार है—

'इतश्च न शूद्रस्याधिकारः, यद् विद्याप्रदेशेषु उपनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते-'तं ह उपनिन्ये' (शत. ११।५।३।१३) 'अधीहि भगवः! इति ह उपससाद' (छा. ७।१।१) इत्यादि प्रदर्शितैव उपनयन-प्राप्तिर्भवति । शूद्रस्य च संस्काराऽभावोभिलप्यते; 'शूद्रः चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (मनु. १०।४) इति एक-जातित्वस्मरणात् 'न च संस्कारमर्हति' (मनु. १०।६) इत्यादिभिश्च ।

(शूद्रको विद्यामें अधिकार नहीं है—इसमें सूत्रकार कुछ और भी कहते हैं । चूंकि-'त ह उपनिन्ये' (उसका उपनयन किया) 'अधीहि भगवः' (हे भगवन् ! मुझे उपदेश दीजिये-यह नारदका सनत्कुमारके प्रति वचन है)...इस प्रकार विद्याओंके प्रकरणमें उपनयन-संस्कारका वर्णन है । शूद्रके संस्कार नहीं होते, शूद्र एकजाति होता है, द्विज नहीं (मनु.); इससे शूद्रका उपनयन संस्कार न होनेसे वह विद्यामें अधिकारी नहीं । (३६)

यह सूत्र तथा उसका शाङ्करभाष्य जो पूर्वपक्षपर गहरी चोट करता था, उसे भी प्रतिपक्षीने जनदृष्टिसे चुरा लिया । मनुके उन वचनोंके साथ 'मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति' [शूद्राः] (१०।११७) यह वचन भी शूद्रका वेदमें अनधिकार बता रहा है ।

'तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः' (१।३।३७) यह ब्रह्मसूत्रका सूत्र छान्दोग्यादि-उपनिषदोंके आधारसे बना हुआ है; अतः सूत्रकार फिर छान्दोग्यके उपाख्यानको उसमें प्रमाणित करते हैं । (यह निश्चय होनेपर कि-जाबाल

शूद्र नहीं है, किन्तु ब्राह्मणकी सन्तान है, तभी आचार्य-गौतम जबालको विद्या देनेमें प्रवृत्त हुए—इससे भी सिद्ध होता है कि-विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है)। अपशूद्राधिकरण होनेसे यह अर्थ स्वाभाविक है—इससे यह भी सिद्ध होता है कि—सूत्रकार महामुनि-श्रीवेदव्यास भी छान्दोग्यके जाबालको शूद्र नहीं मानते थे, जैसे कि—आजकलके प्रतिपक्षी उस बेचारेको बलात् वेश्यापुत्र तथा उसकी माता बेचारी जबालाको व्यभिचारिणी बताते हैं। अपने गलत-पक्षको सिद्ध करनेकेलिए एक भद्र-महिलाको अपमानित करना—यह प्रतिपक्षियोंका अक्षम्य घोर अपराध है।

अब इसपर शाङ्करभाष्य देखिये—

'इतश्च न शूद्रस्य अधिकारः, यत्-सत्यवचनेन [जाबालस्य] शूद्रत्वाऽभावे निर्धारिते जाबालं गौतम उपनेतुमनुशासितुं च प्रववृते—'नैतद् अब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्य! आहर, उप त्वा नेष्ये, न सत्याद् अगाः' (छा. ४।४।५) इति श्रुतिलिङ्गात्' (३७)

(शूद्रका विद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि—सत्य बोलनेसे कि-मुझे गोत्रका पता नहीं है—जाबालके शूद्रत्वका अभाव निश्चित होनेपर [नहीं तो वह कोई चालाकीसे बनावटी गोत्र बता देता] आचार्य गौतम जाबालका उपनयन करने और उसे विद्याका उपदेश करनेमें प्रवृत्त हुए; क्योंकि—'नैतद् अब्राह्मणो'-(ब्राह्मणेतर इस प्रकार सरलतासे सत्य-वचन नहीं कह सकता है, वह तो कुटिलतासे—धूर्तता एवं चालाकीसे कोई न कोई बात बना देता है। ऐ भले, समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन करूंगा, तू सत्यसे विचलित नहीं हुआ।) ऐसा श्रुतिका लिङ्ग मिलता है)।

इससे जो लोग जाबालको शूद्र बताते हैं—सूत्रकारने उनके पक्षको चकनाचूर कर दिया। अब इस अधिकरणका अन्तिम सूत्र उद्धृत किया जाता है—

'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च' (१।३।३८) ('अथास्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम्' (समीपसे वेदको सुनते हुए शूद्रके कान सीसे वा लाखसे भर देने चाहियें) 'तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' (इस कारण शूद्रके पास वेद नहीं पढ़ना चाहिये) 'द्विजातीनामध्ययन-मिज्या च' (द्विज ही वेदाध्ययन तथा यज्ञ कर सकते हैं) इत्यादि स्मृति-वचनोंसे शूद्रकेलिए वेदोंके सुनने, पढ़ने तथा उसके अर्थ-ज्ञान एवं अनुष्ठान-आदिका निषेध किया गया है, इससे भी सिद्ध होता है कि—विद्यामें शूद्र-का अधिकार नहीं है)।

यह अपशूद्राधिकरणका अन्तिम सूत्र है। इसपर शांकरभाष्य इस प्रकार है—

'इतश्च न शूद्रस्य अधिकारः, यद् अस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थं प्रतिषेधो भवति। वेद-श्रवणप्रतिषेधः वेदाध्ययन-प्रतिषेधः, तदर्थज्ञाना-नुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। (शूद्रका वेदविद्यामें अधिकार नहीं है; क्योंकि—स्मृति शूद्रकेलिए वेद सुनने, पढ़ने और अर्थ जाननेका निषेध करती है। स्मृतिमें शूद्रका वेद सुनना, वेदमन्त्रको बोलना और वेदार्थके ज्ञान एवं अनुष्ठानका निषेध है।)

श्रवणप्रतिषेधस्तावत्—'अथास्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-प्रतिपूरणम्' इति। 'पद्यु ह वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रः, तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत ? भवति च वेदोच्चारणे जिह्वा-च्छेदः, धारणे शरीरभेदः' इति। अतएव च अर्थात् अर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति—'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति। 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्, इति च'

(स्मृति शूद्रको वेद सुननेका निषेध बताती है। जैसे कि—'अथास्य वेदमुप. (समीपसे वेदका श्रवण करनेवाले शूद्रके कानोंको सीसे और लाखसे भर दे) [यह गौतमधर्मसूत्र' का सूत्र है। इसमें अर्थवादसे शूद्रको कड़ा दण्ड लिखा है; उसका तात्पर्य केवल इतना है कि—शूद्र वेदको न सुने, न बोले।]

प्रतिपक्षी-एक अर्वाचीन भाष्यकार इस वचनको नहीं मानता। पर मूलसूत्रकारको यह वचन इष्ट है। पर उस प्रतिपक्षी-भाष्यकारको कोई ऐसा स्मृति-वचन नहीं मिला, जिसमें शूद्रका वेद-श्रवणनिषेध लिखा हो। तब उसने 'यमेव विद्या:...तस्मै मा ब्रूया:' यह वचन देकर उसे 'श्रवण-निषेध' मानकर अपनी कृतकृत्यता मान ली। पर इसमें श्रवणनिषेध कहाँ कहा है—यह वह बतावे? इसी प्रकार वादीको शूद्रके अध्ययननिषेध तथा अर्थनिषेधका स्मृतिवचन भी नहीं मिल सका। यदि वह उस स्मृति-प्रमाणको प्राप्त करना चाहे; तो वह उक्त गौतमस्मृतिका ही वचन होगा; जो वेदान्तसूत्रके अक्षरोंसे पूरा समन्वित होता है। तब उनसे विरुद्ध वेदान्तसूत्रका भाष्य करते हुए प्रतिपक्षीका उक्त भाष्य वेदान्तके मूलसूत्रसे विरुद्ध ही है। अतः प्रतिपक्षीके वेदान्तदर्शनका 'वैदिक-भाष्य' बलात् गढ़ा गया है—सो वह सूत्राक्षरानुसारी न होनेसे विद्वानोंसे माननीय नहीं। अब आगे क्रमागत ब्रह्मसूत्रके सूत्रका अनुवाद देखिये।

(यद्वा ह वा—शूद्र निःसन्देह जङ्गम-श्मशान है; इसलिए शूद्रके समीप वेद नहीं पढ़ना चाहिये, क्योंकि श्मशानमें वा उसके पास वेदपाठ-का निषेध होता है। जिसके पास भी वेदका अध्ययन युक्त नहीं; वह न सुने हुएका अध्ययन किस प्रकार कर सकता है? यदि शूद्र वेदका उच्चारण करे; तो उसकी जिह्वा काट देनेकेलिए कहा है। यदि वेदको हृदयमें रखे; तो उसके शरीरका भेद कहा है। यह पूर्वोक्त गौतमसूत्रका शेष वाक्य है। यह अर्थवादात्मक है—इसे हम पहले कह चुके हैं। इसी हेतुसे शूद्रकेलिए अर्थज्ञान और अनुष्ठानका भी निषेध होता है—'न शूद्राय मतिं' (शूद्रको वेदार्थज्ञान न दे)। 'द्विजातीनां' (केवल द्विजोंकेलिए ही अध्ययन, यज्ञ तथा दानका विधान है)।

'येषां पुनः पूर्वकृत-संस्कारवशाद् विदुरधर्मव्याध-प्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिः, तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुम्, ज्ञानस्य ऐकान्तिक-फलत्वात्। 'श्रावयेत् चतुरो वर्णान्' इति च इतिहास-पुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्य

अधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्ति अधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्' (३८) यह पहलेके किये पूर्वका उत्तरपक्ष दिया गया है।

(परन्तु विदुर, धर्मव्याध आदि जिनको आरूढपतित होनेसे गत-जन्मके संस्कारवश ज्ञान उत्पन्न हुआ-हुआ था, उनकेलिए फल-प्राप्तिका निषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि—स्वतः उत्पन्न हुआ ज्ञान अव्यभि-चरित फल उत्पन्न करता है। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' (चारों वर्णोंको सुनावे) इस स्मृतिवचनमें इतिहास एवं पुराणमें चारों वर्णोंका अधिकार बताया गया है, इससे सिद्ध हुआ कि—वेदाध्ययनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेका शूद्रको अधिकार नहीं है)।

यह अपशूद्राधिकरणके शाङ्करभाष्यका अनुवाद समाप्त हुआ।

यह पूर्वपक्षका उत्तरपक्ष भी प्रबल तथा युक्तियुक्त है। बल्कि यह कहना चाहिये कि—दर्शनकारका यह हृदय है। 'श्रवणाध्ययनार्थ-प्रतिषेधात्' यह सूत्रकारके अक्षर हैं। सो ऐसा स्मृतिवाक्य 'गोतमधर्मसूत्र' का सूत्र ही है। इससे स्पष्ट है कि—उक्त गौतमसूत्र श्रीव्याससे अनुमत ही है। तब इससे आचार्य-शङ्करपर आक्षेप क्यों? सूत्रकारपर आक्षेप करते; तो कुछ बात भी थी। क्योंकि—भाष्यकारने अपनी स्वतन्त्र बात कोई नहीं रखी। केवल सूत्रकारका हृदय समर्पित कर दिया है।

केवल 'गौतमधर्मसूत्र' ही क्या; वादीकी महामान्य मनुस्मृतिमें भी इसका मूल मिलता है—'एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्। जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्य-प्रभवो हि सः' (८।२७०) 'नामजातिग्रहं तेषामभिद्रोहेण कुर्वतः। निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन् आस्ये दशाङ्गुलः' (८।२७१) 'धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः। तप्तमासेचयेत् तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः' (८।२७२) इन पद्योंमें जो दण्ड-विधान किया है-यह भी कोई कम कठोर नहीं है? तब इसमें श्रीगौतमका दोष कैसे बताया जाता है?

केवल इतना ही नहीं, बल्कि रामराज्यमें शम्बूक-शूद्र अपने अधिकार-

से बहिर्भूत तपस्या करके मृत्युदण्ड प्राप्त कर चुका है—यह ऐतिहासिक घटना भी इसमें साक्षी है, जिसका उल्लेख रामायण (उत्तर ७३-७४-७५-७६ सर्गोंमें) तथा महाभारत (शान्तिपर्व १५३।६७) में भी है। राजाके विशेष कानून तोड़नेवाला आज भी फांसी पाता है।

श्रीराम-द्वारा शम्बूक-वधपर विचार।

श्रीरामद्वारा सुबहुचर्चित शम्बूक-शूद्रके वधपर* यहां प्रासङ्गिक कुछ विचार भी किया जाता है। इसपर 'क्या शबरी शूद्रा थी?' यह विषय भी पृ. ३७९-३९१ में देखें।

'अछूतोद्धारनिर्णय' में उसके प्रणेता श्रीतर्करत्नजीने इस विषयमें कुछ आक्षेप किये हैं। लगे-हाथ उनपर भी कुछ विचार रखा जाता है। उसके प्रणेता श्रीतर्करत्नजीने पृ. ११५ में लिखा है—

(आक्षेप)—'अब इसपर सर्वप्रथम यह विचारना है कि—तप करना शूद्रकेलिए धर्मका हेतु है, या अधर्म का?

---

*जब ब्राह्मणने अपना मरा बच्चा श्रीरामके सामने लाकर रखा; जो शूद्रकी अनधिकृत तपस्याके पापसे मरा था; तो वहां यह पद्य है—'किं नु मे दुष्कृतं कर्म पुरा देहान्तरे कृतम्। यदहं पुत्रमेकं तु पश्यामि निधनं गतम्। अप्राप्तयौवनं बालं पञ्चवर्ष-सहस्रकम्। अकाले कालमापन्नं मम दुःखाय पुत्रक' (वाल्मी. ७।७३।४-५) (ब्राह्मण कहता है कि—मैं पांच हजार वर्ष वाले इस बच्चेको जिसे अभी यौवन प्राप्त नहीं हुआ—मरा हुआ देख रहा हूं) यहां जनसाधारणको भ्रम हो जाता है कि—जब वह लड़का पांच सहस्र वर्षका था; तब वह बच्चा कैसे था; और यौवनसे रहित कैसे था?

इसपर जानना चाहिये कि—रामायणमें 'रामराज्य' केलिए कहा गया है—'आसन् वर्ष सहस्राणि' (६।१३०।१०१) अर्थात् उस समय पुरुषोंकी

(परिहार)—अधर्मका। क्योंकि—शूद्र आदिकेलिए केवल चातुर्वर्ण्य तथा उससे शृङ्खलित राष्ट्रकी सेवा ही शास्त्रानुसार धर्म अनुमत है; उससे विरुद्ध तपस्या आदि धर्मरूपसे अनुमत नहीं। पृ. ११६ में तर्करत्नजीने स्वयं यह अत्रिका पद्य लिखा है—'आत्मीये संस्थितो धर्मे शूद्रोपि स्वर्गमश्नुते'।

(शूद्र अपने धर्ममें स्थित हुआ भी स्वर्गको प्राप्त होता है।) इससे

आयु हजारों वर्षकी होती थी; और यह लड़का अभी केवल ५ हजार वर्षोंका है; अतः बच्चा है, टीकाकारोंने यहां बच्चेकी आयुके विषयमें 'वर्ष' शब्दका अर्थ 'दिन' किया है। सो यह लड़का पांच हजार दिनका है। अर्थात् यह तेरह साल कुछ महीनोंका लड़का है। इसीलिए कहा है कि—'अप्राप्तयौवनं' (इसे युवावस्था प्राप्त नहीं हुई है। सोलह वर्षसे लड़केको युवावस्था मानी जाती है; अतः यह बच्चा है।

वस्तुतः हमारे विचारानुसार यहांपर 'अप्राप्त-यौवनं बालं पञ्चवर्ष-सहस्रकम्' यह पाठ गलत चला आ रहा है। यहांपर वास्तविक पाठ 'पञ्चवर्ष-सहस्रकः' है। यह 'अहं-ब्राह्मणः' का विशेषण है कि—मैं पांच सहस्र वर्षका हूं। पर यह बच्चा अभी बिना यौवन प्राप्त किये मर गया है। सो पूर्वोक्त रामायण-वचनानुसार पुरुषोंकी आयु सहस्रवर्षकी हुआ करती थी—सो ब्राह्मण तो कई सहस्र वर्षका था। पर मैं अप्राप्त-यौवन अपने बच्चेको मरा हुआ देख रहा हूं। यहां अन्वय इस प्रकार है—

'पञ्चवर्ष-सहस्रकः अहम् अप्राप्त-यौवनम् एकं पुत्रं मृतं पश्यामि' अर्थ पूर्व इसका लिखा ही जा चुका है।

अथवा 'सहस्र' शब्द अनेकवाचक माननेपर उसका अर्थ कुछ भी नहीं होता। उसे द्वितीयान्त मानकर यह अर्थ निकल रहा है कि—मैं पांच वर्षके इस बच्चेको मरा हुआ देख रहा हूं, जिसे यौवन प्राप्त नहीं हुआ। अर्थात् जवानी आनेसे पूर्व ही यह बेचारा मर गया है। इससे भ्रान्तोंका भ्रम हट जाना चाहिये।

यह सिद्ध होता है–अपनेलिए शास्त्रसे असमर्थित तपस्या आदि करनेसे शूद्र नरकमें गिरता है। इस बातको स्पष्ट करनेवाला अत्रिके पूर्वपद्यका अवशिष्ट भाग यह है–जिसे तर्करत्नजीने यहाँ जन दृष्टिसे छिपा दिया। वह यह है–

'परधर्मो भवेत् त्याज्यः सुरूप-परदारवत्' (अत्रि. १८) अर्थात् दूसरेका धर्म त्याज्य ही है। जैसे कि–सुन्दरी भी दूसरेकी स्त्री त्याज्य ही होती है। सो तपस्या शूद्रका स्वधर्म नहीं।

'शमो दमः तपः शौचं...ब्रह्मकर्म स्वभावजम्' (गीता १८।४२) तपस्या ब्राह्मणका धर्म है।

अयोध्या-राज्यका नियम भी यही था—'शूद्राः स्वधर्मनिरताः त्रीन् वर्णान् उपचारिणः' (१।६।१९) (शूद्र अयोध्यामें अपने धर्ममें लगे हुए थे, वे सभी वर्णोंकी सेवा किया करते थे)। क्योंकि–अयोध्या-नगरी मनुजीसे बनाई गई थी। उसमें मनुजीके ही नियम चलते थे'। (वाल्मी. १।५।६)। श्रीराम भी उन्हीं मनुजीके नियमोंका अनुसरण करते थे (वाल्मी. ४।८।३०)।

मनुस्मृतिमें लिखा है—'तान् सर्वान् घातयेद् राजा शूद्रांश्च द्विज-लिङ्गिनः' (९।२२४) (द्विजोंका लिङ्ग वा द्विजोंका धर्म धारण करनेवाले शूद्रोंको राजा मरवा दे।)

'नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति' (मनु. ८।३३५) (जो अपने धर्ममें स्थित नहीं रहता; ऐसा कोई भी शूद्रादि वर्ण हो, राजा उसे दण्ड दे ही सकता है। रामायणमें श्रीरामकेलिए लिखा है—

'हन्त्येष नियमाद् वध्यान् अवध्येषु न कुप्यति' (२।२।४६). (श्रीराम वधके योग्यको कानूनके अनुसार मार देते हैं; पर जो वधके योग्य न हो, उसपर क्रोध तक नहीं करते।

अयोध्या-राज्यका मन्वनुसारी नियम भी यही था—'शूद्राः स्वधर्म-

निरताः त्रीन् वर्णान् उपचारिणः' (वाल्मी. १।६।१९)। (शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा करते थे) उसका कारण यह था कि–'अयोध्या नगरी भी मनुजीसे बनाई गई थी। उसमें कानून भी मनुजीके ही चलते थे (वाल्मी. १।५।६) यह पहले हम कई बार कह चुके हैं। श्रीराम उन्हीं कानूनोंका पालन करते थे (वाल्मी. ४।८।३०) (रामायणमें भी लिखा गया है—'पूजां च सर्ववर्णानां शूद्राः चक्रुर्विशेषतः' (७।४।२१) (शूद्रोंका चारों वर्णोंकी सेवा करना ही स्वधर्म था।)

मनुजीने भी लिखा है—'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः' (१०।९७) (अपना धर्म खराब भी अच्छा होता है, दूसरे वर्णका धर्म अच्छा होता हुआ भी ठीक नहीं होता। भगवद्गीताका भी यह वचन सुप्रसिद्ध है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (३।३५) (दूसरेका अच्छा धर्म भी श्रेष्ठ नहीं होता।) 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता १८।४६) (अपने कर्म करनेसे ही भगवान्‌की पूजा हुआ करती है, अपने वर्णसे भिन्न कर्मसे भगवान्‌की पूजा कभी नहीं होती।) 'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया' (मनु. १।९१) (प्रभुने शूद्रोंकेलिए केवल एक ही कर्मकी आज्ञा दी हुई है कि–वह सभी वर्णोंसे कवचित-राष्ट्रकी सेवा द्वारा रक्षा करे)।

आगे वादी लिखता है—'यदि तप करनेसे शूद्रको स्वर्गप्राप्ति होगी; तो इससे तुम्हारी क्या हानि है'? इसपर उत्तर यह है कि–इससे राष्ट्रकी बड़ी हानि है। यदि वह ऐसा करने लगे; तो राष्ट्रमें उपप्लव हो जाता है–इसे हम अन्यत्र शम्बूक-वधके विवरणमें स्पष्ट कर चुके हैं। इससे राष्ट्रके विनाश-तककी, अकालमृत्युकी आशङ्का हो जाती है। जो अत्रिस्मृतिका पद्य वादीने दिया है उसीके पूर्वका यह पद्य भी जनदृष्टिसे उनने छिपा दिया है—'ये व्यपेताः स्वधर्माच्च परकर्मण्यवस्थिताः। तेषां शास्तिकरो राजा

स्वर्गलोके महीयते' (अत्रि १७) (जो शूद्रादि अपने धर्मको छोड़कर दूसरेके कर्मका आचरण करते हैं, उन्हें दण्ड देनेवाला राजा स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है।

आगे वादी लिखता है—'तप करनेसे शूद्रको नरक प्राप्ति ही होगी; तो ऐसा कह नहीं सकते। क्योंकि—उस समय देवताओंने श्रीरामको कहा है—'स्वर्गभाङ् नहि शूद्रोऽयं त्वत्कृते रघुनन्दन' (हे रघुनन्दन! तुम्हारे ही कारणसे हमारे स्वर्गमें यह शूद्र नहीं आ सका'। इस कथनका भाव स्पष्ट है कि—यदि भगवान् राम उस शूद्रको नहीं मारते; तो वह अवश्य स्वर्ग जाता'।

यह भी तर्करत्नजीका 'तर्क' थोथा ही है। वस्तुतः स्वधर्मविरुद्ध चलनेवाले शूद्रको देवता स्वर्गमें नहीं आने देते। देखो इसपर त्रिशंकुकी कथा। त्रिशंकु जन्मसे चाण्डाल नहीं था, वसिष्ठ वा उसके पुत्रोंके शापसे (क्योंकि—वह पिता-पुत्रमें कलह कराना चाहता था) शापवश 'चाण्डाल' बन गया था, विश्वामित्रने उसे स्वर्गमें भेजनेकेलिए उससे यज्ञ करवाया, पर वह यज्ञ शूद्रादिके धर्मसे विरुद्ध होनेसे देवताओंको मान्य नहीं था। अतः जब श्रीविश्वामित्रने यज्ञके बलसे त्रिशंकुको स्वर्गमें भेजा; तब इन्द्र देवता तथा अन्य देवताओंसे यह विरुद्ध होनेसे उन्होंने उसे नीचे ढकेल दिया। वह अधरमें लटका रह गया। यह इतिहासकी सुप्रसिद्ध घटना है। वादीने ब्राह्मणपुत्र मरनेकी कथा भी गलत ढंगसे लिखी है।

वाल्मीकि में तो सूचित किया गया है कि जब धर्मविरुद्ध चलनेवाले शम्बूक-शूद्रको श्रीरामने खड्गसे मारा; तो देवताओंने 'ठीक है, ठीक है' कहकर 'श्रीरामकी प्रशंसा की। देखिये वहांका पद्य—'भाषतस्तस्य-शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम्। निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरः चिच्छेद राघवः' (७।७४।४) तस्मिन् शूद्रे हते देवाः सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः। साधु साध्विति काकुत्स्थं ते शशंसुर्मुहुर्मुहुः' (५) इससे स्पष्ट है कि देवताओंको शूद्रकी तपस्या इष्ट नहीं थी। अतः स्वधर्मविरुद्ध शूद्रको

स्वर्गमें जाने देना भी देवोंको इष्ट नहीं था। तभी देवता श्रीरामको कहने लगे—

सुरकार्यमिदं देव! सुकृतं ते महामते! (७) अर्थात् आपने ऐसे शूद्रको मारकर यह देवकार्य ही किया है। फिर कहा कि—स्वर्गभाङ् नहि शूद्रोऽयं त्वत्कृते रघुनन्दन' (७।७४।८) इसपर रामाभिराम-टीकामें कहा है—'हि यतः शूद्रः तपसा स्वर्गानर्हः; सोऽसौ त्वत्कृत तत्-तपोनिवर्तनेन स्वर्गभाक् न जातः; अतो देवकार्यं कृतमिति भावः' (तपस्यासे शूद्र स्वर्गक-योग्य नहीं होता। अतः इसे मारकर उसे तपस्यासे हटवाकर आपने यह देवकार्य ही किया है।) यदि श्रीरामद्वारा उसे न मारा जाता, तब भी इन्द्र देवता उसे स्वर्गसे त्रिशङ्कुकी तरह गिरा देते, पर मृतक ब्राह्मणकुमार न जी सकता। अतः वादीका पक्ष सिद्ध न हुआ। देवताओंको शूद्रका यज्ञ-याग वा तपस्या करना इष्ट नहीं।

इसपर 'भविष्य-पुराण' (प्रतिसर्गपर्व ४र्थ खण्डके २०वें अध्यायके ६७ आदि पद्य भी देखिये—इस प्रकरणको प्रतिपक्षी वहांसे दिया करते हैं'। वहां शूद्रोंने स्वैर च गनुसार वेदमन्त्रोंसे यज्ञ करना शुरू किया था, जिससे यज्ञके देव इन्द्र प्रसन्न हो जावें; पर इन्द्रदेव वह बात 'देवमत' न मानकर उसे 'दैत्यमत' मानते थे, जोकि—बलिदैत्य-द्वारा देवताओंके निस्तेज करनेका प्रकार था, क्योंकि देवता भी शूद्रका भोजन नहीं स्वीकृत करते; अतः तृप्ति न होनेसे देवता निस्तेज हो जाया करते हैं। सो यह देवद्रोह तथा देशद्रोह था। जैसेकि भविष्यमें कहा है—इन्द्र कह रहे हैं—'तथा च शूद्रजनितैर्यज्ञैः तृप्तिं न चाप्नुयाम। मम शत्रुर्बलिर्दैत्यः कलिरक्ष-मुपागतः। निस्तेजाश्च यथाऽहं स्यां तथा वै कर्तुमुद्यतः' (भवि. ३।२०।७४-७७) (मेरा शत्रु बलि दैत्य जिस प्रकार मैं अतृप्त और निस्तेज हो जाऊं, क्योंकि—मैं शूद्रोंके यज्ञसे तृप्त नहीं होता, अतः शूद्रों द्वारा यज्ञ करवा रहा है। सो शूद्रों-द्वारा 'यज्ञ' वा तपस्या 'दैत्यमत' था, 'देवमत' नहीं)।

वादिप्रतिवादिमान्य मनु भी कहते हैं--'दैवपित्र्यातिथेयानि तत्-(शूद्रा) प्रधानानि यस्य तु । नाश्नन्ति पितृदेवास्तद् न च स्वर्गं स गच्छति' (३।१८) (जिसके देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, आदि यज्ञ शूद्र-प्रधान होते हैं; देवता आदि उस यज्ञका भोग नहीं करते; उन्हें करनेवाला भी स्वर्गमें नहीं जाता।) सो सिद्ध हुआ कि-देवता शूद्रके स्वधर्म सेवासे भिन्न यज्ञ-याग जप-तप आदि सर्वथा नहीं चाहते। हाँ, स्वधर्म-सेवा करते हुए शूद्रकेलिए वे उसके मरनेपर स्वर्गका रास्ता बन्द नहीं करते।

यह जो वादी कहता है कि-'तप करे, पाप करे शूद्र, फल मिले एक ब्राह्मण-बालकको-अद्भुत कर्म फिलास्फी है' ! यह अद्भुत नहीं है, किन्तु ठीक है। श्राद्ध तो आप भी मानते ही हो न ? कर्म अन्य करता है, फल भिन्नको मिलता है। यह तो वादी जानता ही होगा कि-प्रजाके पापका फल राजाको वा उसकी प्रजाको मिलता है; यह मनु आदि तथा स्वा.द. से भी स्वीकृत है। देखो मनुजी (८।१८ में) तथा स.प्र. (पृ. ६।१०२) भी मानते हैं। तब राजाके पापके परिणामसे प्रजाका ब्राह्मण-बालक मरा। इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं आती। आगे वादी लिखता है—वेदमें स्पष्ट लिखा है-'तपसे शूद्रम्' (यजुः ३०।५) तपकेलिए शूद्रको"।

महाशय ! यहाँ तपस्याका अर्थ कृच्छ्रकर्म-सेवा है, यह सभी वादी-प्रतिवादी मानते हैं, इसपर देखो 'आलोक' (६) (पृ. ८१९-८२०) और मनुजी भी कहते हैं—'तप: शूद्रस्य सेवनम्' (११।२३५) शूद्रकी तपस्या सेवा है, भिन्न तपस्या उसकी नहीं होती। स्वामी-श्रीरामानुजाचार्य आदिके अनुसार भी जातिशूद्रका विद्या आदिमें अनधिकार ही होता है। यह स्वयं तर्करत्नजीने 'अछूतो.' (पृ. ९३) में लिखा है—'अत: शोचितृत्वमेव अस्य शूद्रशब्द-प्रयोगेण सूच्यते, न जातियोग:। शूद्र-शब्देन विद्योपदेशयोग्यता-ख्यापनार्थं शोक एव अस्य सूचित:, न तु चतुर्थवर्णत्वम्' (ब्र. १।३।३४) (अर्थात् जानश्रुति कोई जातिशूद्र नहीं है, किन्तु शोक करके रैक्वमुनिके पास जानेके कारण

इसको [शाब्दिक-] 'शूद्र' कहा है। इस तरह यह [जानश्रुति] चतुर्थ वर्ण [जातिशूद्र] नहीं माना जा सकता'।

फलत: 'तर्करत्नजी' के तर्क कीटानुविद्ध होनेसे थोथे ही सिद्ध हुए।

अन्त में एक बात तर्करत्नजीकी विचारणीय है कि—'यदि शूद्रका तप करना वधके योग्य होता, तो तप करते हुए मतङ्ग चाण्डालको इन्द्र भी कत्ल कर देता; परन्तु उसके पास जाकर इन्द्रने कहा-'वरं ददामि ते हन्त ! वृणीष्व त्वं यदीच्छसि' (महा. अनु. २७।२९) (हे मतङ्ग चाण्डाल ! तुझे वर चाहिये, तो तू वर माँग, देरी न कर)।"

इसपर उत्तर यह है कि-जिस रामायणसे शूद्रकी तपस्या वधयोग्य मानी गई, इनपर उस रामायणका ही उत्तरपक्ष माननीय होगा। रामायणमें श्रीनारदने कहा है—

'पुरा कृतयुगे राजन् ! ब्राह्मणा वै तपस्विन:। अब्राह्मणस्तदा राजन् ! न तपस्वी कथंचन' (७।७४।९) यहां कृतयुगमें तपस्या ब्राह्मणोंकेलिए विहित की गई है; अब्राह्मणकेलिए नहीं। 'ततस्त्रेतायुगं नाम...क्षत्रिया यत्र जायन्ते पूर्वेण तपसान्विता:' (११-१२) यहांपर त्रेतायुगमें ब्राह्मण-क्षत्रियकी तपस्या मानी गई है। शेषोंकी सेवा बताई गई है।

त्रेतायुगे च वर्तन्ते ब्राह्मणा: क्षत्रियाश्च ये। तपोऽतप्यन्त ते सर्वे, शुश्रूषामपरे जना:' (२०) (उनके अतिरिक्त शेष वैश्य-शूद्रादिने सेवा सम्भाली। पर वह सेवाकर्म शूद्रोंका विशेष रूपसे रहा)।

'अस्मिन् द्वापर-संख्याने तपो वैश्यान् समागमत्' (२५) द्वापरमें तपस्या वैश्यमें रही। पर इस त्रेतायुगमें शूद्र तद्विरुद्ध तपस्या कर रहा है-'हीनवर्णो (शूद्रों) नृपश्रेष्ठ ! तप्यते सुमहत्तप:। भविष्यत् शूद्रयोन्यां हि तपश्चर्या कलौ युगे' (२७) यहाँ शूद्रकेलिए तपस्या कलियुगकेलिए तो बताई है। सो द्वापरान्त एवं कलियुगके आदिमें महाभारतकालमें यदि

मतङ्गकी तपस्या बताई गई है; तब इसमें कुछ भी विरुद्धता नहीं है; और फिर वह देवता नहीं बनना चाहता था? स्वर्ग नहीं चाहता था। अतः उसे इन्द्रने वध्य नहीं माना। हां, वह ब्राह्मण बनना चाहता था; पर वह ब्राह्मणत्व भी इन्द्रने मतङ्गको नहीं दिया। यह समाधान हो चुका। अब आगे हम प्रकरणपर चलते हैं।

आगे प्रतिपक्षी लिखता है—'इन स्मृतिवचनोंपर आज कोई आचरण करने लगे; तो निस्सन्देह वह मृत्युदण्ड पाएगा'। यह बात वादीकी ठीक है; क्योंकि-यह 'रामराज्य' थोड़े ही है। ऐसे दण्ड तो आज आदिम-वर्णको मिलेंगे, अन्तिमको थोड़े मिलने हैं, वह तो 'हरिजन' हैं!!! और फिर शूद्रको उक्त दण्डविधान करना सर्वसाधारणकेलिए नहीं है; जोकि यह आक्षिप्त किया जाता है। यह तो राजाकेलिए है; तब क्या प्रशासक-राजाको भी फांसी दी जावेगी?

आगे वादी लिखता है—'वेदमन्त्रोंको याद करनेवाले अब हजारों व्यक्ति स्वा.द. जैसे उदारतम आचार्यकी कृपासे विद्यमान हैं, जिनको वेदाध्ययनसे रोकनेका अब कोई साहस नहीं कर सकता। उनकी जीभ काटने वा शरीरके टुकड़े-टुकड़े करनेका तो कहना ही क्या है' ? यह कथन तो व्यर्थ है। आजके धर्मनिरपेक्ष-राज्यमें 'मनुस्मृति' के जलाने वाले, श्रीरामको जूतोंका हार पहराने वाले भी तो उच्चपदासीन थे, वा हैं। बल्कि प्रशासक वा उनके कृपापात्र हैं!! वेदोंकी स्पष्ट निन्दा करनेवाले भी तो यहांके सम्मेलनोंके 'सभापति' बनते हैं। आज मद्यका प्रयोग करनेवाले ब्राह्मण भी भारतके भाग्यविधाता हैं। वेदप्रोक्त-धर्मका स्वप्नमें भी प्रयोग न करनेवाले भी आज 'नेता' हैं। आजकी क्या बात है? आज जो धार्मिक-अव्यवस्था है, धर्मका जो अतिक्रमण वा उल्लंघन है, तथा स्वैरा-चारिता है, इसका श्रेय भी आपके 'उदारतम-आचार्य' पर हम भी वादीके अनुसार मान लेते हैं।

अभी तो आगे देखियेगा कि—क्या होता है, 'ऊंट किस करवट बैठता

है' पर वादीकी भी प्रशंसा अवश्य करनी पड़ती है। आज जो भी धार्मिक-उच्छृंखलता जारी हो जाती है, आप उसको झट 'वैदिकताका जामा' पहराकर उसकी 'वैदिकताका फतवा' दे डालते हैं।

आप लोग 'तं त्वा सीसेन विध्यामः' गोवध करनेवालेको गोली मार देना वैदिक मानते हैं न? यह तो स्मार्त वचन नहीं है; सो आप गोवधकर्ता भिन्नधर्मीको गोली मार तो दिखावें; तो क्या आपको वर्तमान-शासन मृत्यु-दण्ड न देगा? फिर यह आपका क्या उपालम्भ रहा? 'वधीहिं दस्युं धनिनं घनेन' (ऋ. १।३३।४) धनी दासको मूसलसे मारना वैदिक ही समझते हैं न; 'दस्यु' यह स्वा.द.के अनुसार वेदोंमें दास एवं शूद्रादिका नाम है; आप मार देखिये उनको मूसल? तब आपको क्या मृत्यु-दण्ड न मिलेगा? फिर यह उपालम्भ कैसा? यहाँ तो चाहे वैदिक-दण्ड हो, चाहे स्मार्त; 'सब धान बाईस पसेरी' हैं।

दण्डकी कड़ाई तो वादीके 'महर्षि' भी मानते हैं। देखिये उनके शब्द—'जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं, वे राजनीतिको नहीं समझते। क्योंकि एक पुरुषको इस प्रकार दण्ड होनेसे सब लोग बुरे [शास्त्रविरुद्ध] काम करनेसे अलग रहेंगे; और बुरे [धर्म-विरुद्ध] कामको छोड़कर धर्म-मार्गमें स्थित रहेंगे' (स.प्र. ६ समुल्लासकी समाप्ति पृ. १०६ में)

वादीने इस सन्दर्भमें 'लाखों व्यक्ति' तो लिख डाले, पर इनमें शूद्र-अन्त्यजोंका नाम लिखा ही नहीं कि वे कितने हैं? बात तो शूद्रादिकी थी।

आगे प्रतिपक्षीने आचार्य-शङ्करका 'विदुर'-विषयक पूर्वपक्ष दिया है, उसका उन्हींसे किया हुआ उत्तरपक्ष भी लिखा; पर उसपर वादीने कोई आलोचना नहीं दी; तब इस विषयक पूर्वपक्ष स्वतः बाधित हो गया। यदि स्वा. शङ्क. के उत्तरपक्षमें कुछ भी शिथिलता होती, तो प्रतिपक्षी उसे सहजमें छोड़नेवाला जीव नहीं था। स्पष्ट हो गया कि—विदुर आदिने कहीं भी विद्या नहीं पढ़ी। वह आरूढ-पतन होनेसे उसे स्वतः ही प्राप्त थी। उससे व्यवस्था क्या हो सकती है?

इसकी अत्यन्त संक्षिप्त, परन्तु बहुत महत्त्वपूर्ण स्पष्टता 'अणुभाष्य' में श्रीमध्वाचार्य स्वामीने की है—'विदुरादीनां तु उत्पन्नज्ञानत्वाद् न कश्चिद् विशेषः' (पृ. ९७) 'सार्वदेशिक' में इसे ५६३ पृष्ठमें उद्धृत किया गया है। बात भी ठीक है। जन्मसिद्ध-ज्ञानवाले आरूढपतितका ज्ञान इस अनधिकारका विषय नहीं।

तथापि विदुर आदिने भी मर्यादाका पूरा-पूरा ध्यान रखा। जब उनसे वैदिक-विषय पूछा गया; तो उनने वहाँ स्पष्ट निषेध कर दिया कि—'मैं शूद्रयोनि [दासी] में उत्पन्न हूं; उसे कह सकनेमें समर्थ नहीं हूं। आप तदर्थ ब्राह्मणको बुलाइये। तब सनत्सुजात ब्राह्मणको बुलाया गया।

देखिये विदुरके वे शब्द—'शूद्र-योनौ अहं जातो नाऽतो वक्तुमिहोत्सहे'। (उद्योगपर्व ४१।५) ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि [वेदोक्त] यो वदेत्' (४१।६) इससे ज्ञानी भी शूद्रका वेदमें अनधिकार ही सिद्ध रहा।

आगे प्रतिपक्षीने 'श्रीशङ्कराचार्यके स्त्रियोंके विषयमें अनुदार-विचार दिखलाते हुए 'विश्वासपात्रं न किमस्ति? नारी'। 'द्वारं किमेकं नरकस्य? नारी'। 'किं तद् विषं भाति सुधोपमं यद्? नारी'। 'विज्ञान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा? नार्या पिशाच्या न च वञ्चितो यः' यह उनके वचन वादीने आचार्य-शङ्करकी 'प्रश्नोत्तरमणिमाला' से दिये; और उन्हें 'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः' इत्यादि वेदवचनोंसे विरुद्ध बताया'।

इस विषयमें इसी पुष्पके २२७-२२८ पृष्ठमें हम प्रत्युत्तर दे चुके हैं कि—वे संन्यासी थे; संन्यासियोंकेलिए 'नारी' स्पष्टतया 'नरकका द्वार' है। संन्यासी तो दूर, यदि गृहस्थी भी 'नारीकीट' बना रहे; तो वह भी परलोककेलिए नरक ही को उपार्जित कर रहा होता है। गो. तुलसीदास-जी जब तक स्त्रीलम्पट रहे, तब तक वे भी नरकको उपार्जित कर रहे थे, पर जब उन्होंने स्त्रीको उसीके कहे अनुसार उसे 'अस्थिचर्ममय-देह'

समझा, तब उनका उद्धार हुआ। इस विषयमें २२४-२२७ पृष्ठ भी वादी देखे।

तब नारी संन्यासीकेलिए न्यायानुसार 'नरकका द्वार' सिद्ध हुई। तभी स्वा. शङ्कराचार्यने श्रीमण्डनमिश्रको हराकर जब उसे अपना शिष्य सन्यासी बना लिया; तब उनका स्त्रीसे सम्बन्ध भी हटवा दिया; क्योंकि-वह सन्यासीकेलिए नरकका द्वार' तथा अविश्वसनीय, और विषसम्पृक्त-अमृत एवं पिशाची है; तभी इस विषयकी स्वा.द.की घटना भी वादी देखे (पृ. २२८) तब इसमें आचार्य-शङ्करकी 'अनुदारता' क्या हुई?

उस अवस्थामें उसपर थोड़ा विश्राम किया कि—'नरकका द्वार' खुला, वादीके स्वा.द.ने भी लिखा है—'स्त्रियोंको प्रिय वह होता है, जो स्त्री भोगमें फसा हो, (स.प्र. ११ समु. पृ. २३४)। 'पुरुषसे स्त्रीकी [काम-चेष्टा] अधिक होती है' (स.प्र. ११·पृ. २३६)। स्त्रीपर अविश्वासका कारण उसकी बुद्धिकी अस्थिरता भी है—। इसी कारण वादीके स्वामीकी मान्य 'मनुस्मृति' में भी स्त्रीकी साक्षीको अप्रशस्त बताया है। जैसे कि-'एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद् बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः। स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्' (मनु. ८।५)। इसपर श्रीतुलसीराम-स्वामीने लिखा है-स्त्रीकी बुद्धि स्थिर नहीं हुआ करती। और यह वेदानुकूल है—देखो 'उतो अह क्रतुं रघुं' (पृ.१९७-१९९) में। जब ऐसा है; तो वह स्त्री 'विश्वासपात्र' सिद्ध न हुई। तभी वादीके स्वामीने भी स्त्री-सम्पर्क नहीं रखा।

जो कि प्रतिपक्षीने 'शुद्धाः पूताः' यह वेदका वचन दिया है, इसमें 'स्त्रियोंका वर्णन' नहीं है, किन्तु 'जलों' का है। इस मन्त्रको वादीने अपूर्ण लिखा है। 'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः' के आगे 'आपः' यह पाठ था; उसे वादीने छिपा दिया, जनदृष्टिमें नहीं आने दिया, कि—कहीं उसका मत गलत सिद्ध न हो जावे।

इस मन्त्रमें 'जलोंका वर्णन' है, स्त्रियोंका नहीं। 'आपः' यह स्त्री-लिङ्गान्त शब्द है, 'योषितः' उसीका विशेषण है। विशेषण सदा यौगिक

हुआ करता है। 'युष्यन्ते-सेव्यन्ते इति' इस मन्त्रका विनियोग चावलोंका जलमें डालना कहा है, स्त्रियोंका जलमें डालना नहीं। यह प्रतिपक्षी लोग जहाँ स्त्रीलिङ्ग देखते हैं; चाहे वहाँ जलोंका वर्णन हो, जैसे प्रस्तुत मन्त्रमें, चाहे इष्टकाओंका हो, जैसे देखो—इसी पुष्पके २११-२१८ पृष्ठमें, चाहे गौओंका। जैसे कि—'इडे रन्ते' मन्त्रमें। उनका यह लोग बनावटसे श्रुतिसे बलात्कार करके स्त्रीपरक-अर्थ कर दिया करते हैं, पर यह बात वेदादि-शास्त्रोंसे विरुद्ध है।

इसमें जलोंका वर्णन बतानेवाला मन्त्र जिसे वादी स्त्रीपरक बताता है, उसका समाधान तो हम कर चुके। 'इष्टका' का मन्त्र जिसे वादीने स्त्रीपरक लगाया था; उसका भी हम समाधान पहले (पृ. २११-२१८ में) कर चुके। अब हम गायका मन्त्र जिसे वादीने स्त्रीपरक लगाया था; उसका भी निर्देश कर देते हैं—

वादी 'इडे! रन्ते! सरस्वति! महि! विश्रुति!' (यजु. ८।४३) इस मन्त्रमें 'पत्नी देवता' दिखलाकर 'सरस्वती' का 'विदुषी स्त्री'-वाचक अर्थ लिखता है। पर वादीको मालूम होना चाहिये कि—अजमेर वैदिक-यन्त्रालयके छपे हुए मूल-वेदोंमें बहुत स्थानोंपर 'देवता' आदि अशुद्ध छपे हुए हैं। सर्वानुक्रमणिका, बृहद्देवता आदिसे विरुद्ध हैं। इस-प्रकार यजुर्वेदमें तो विशेषकर। स्वा.द.की यजुर्वेदसं.में तो देवता आदिकी बहुत गड़बड़ी है। प्रकृतमें यजु: ८।४२-४३ मन्त्रोंका देवता पत्नी' उसमें गलत छपा है, अत: तदनुसारी स्वा.द.का किया हुआ अर्थ भी गलत है। तब दयानन्दी-वादीका अर्थ भी गलत है। उसीसे बचनेकेलिए वादीने 'इडे रन्ते' मन्त्रका उत्तरार्ध छिपा लिया, उसे जान-बूझकर नहीं लिखा। जैसेकि उसकी सदाकी दुष्प्रकृति रही है। इस प्रकारके उसके बीसों उदाहरण हम अपने निबन्धोंमें दिखला चुके हैं। देखिये वह वादीसे छिपाया हुआ उत्तरार्ध—

'एता ते अघ्न्ये! नामानि'।

यहाँ 'अघ्न्या' विशेष्य है। सो 'अघ्न्या' को कहा जा रहा है कि—हे अघ्न्या! तेरे इडा, रन्ता, अदिति, सरस्वती, मही आदि नाम प्रसिद्ध हैं। 'अघ्न्या' से वेदमें गाय ली जाती है। इसीलिए 'वैदिकनिघण्टु' (२।११) में 'अघ्न्या, उस्रा, उस्रिया, अही, मही, अदिति, इडा, जगती, शक्वरी' यह नौ गायके नाम हैं। तब उक्त मन्त्रमें 'गाय' का वर्णन सिद्ध हुआ, 'पत्नी' का नहीं? पत्नीके यह नाम कहीं नहीं आये?

उक्त मन्त्रमें गायके निघण्टुसे रन्ता, सरस्वती, विश्रुती ये नाम नये आये हैं। इनमें विशेष्य 'अघ्न्या' है। 'सरस्वती' आदि विशेषण हैं। विशेषण सदा यौगिक हुआ करता है। सो 'सरस्वती' भी यहाँ 'विशेषण' होनेसे 'यौगिक' हुआ। 'सर:' (निघण्टु १।१२) यह जलका नाम है। तद्वती। यहां 'तसौ मत्वर्थे' (पा. १।४।१९) से 'भ' संज्ञा होनेसे 'स' को 'रु' न हुआ। सो वहाँपर 'सरस्वती' का 'क्षीरवती' का भाव है। तब वादीका अर्थ निघण्टु तथा वेदानुसार भी खण्डित हो गया।

'सर्वानुक्रमसूत्र' में भी स्पष्ट लिखा है—'आजिघ्र' (यजु: ८।४२) 'इडे' (यजु: ८।४३) कुसुरुविन्द:, गव्ये, महापङ्क्ति-प्रस्तारपङ्क्ती' (१।३२) अर्थात् 'आजिघ्र', और 'इडे रन्ते' इन दो मन्त्रोंका ऋषि 'कुसुरुविन्द' है, देवता 'गौ' है। 'गव्ये' शब्द यहाँ स्पष्ट है—'गोपय-सोर्यत्' (पा. ४।३।१६०) यह द्विवचनान्त उक्त दो मन्त्रोंकेलिए है। पङ्क्ति-विशेष छन्द है। तब यहां वादीकी 'पत्नी' कहाँ गई? यहां तो 'गौ देवता' आ उपस्थित हुई। इधर वेदमें गायको सर्वदेवात्मक माना गया है। इसपर 'आलोक' का ११वाँ पुष्प देखो। (पृ. ७४-९२) 'वैश्वदेवी वै गौ:, यद् गां ददाति, विश्वेषामेतद् देवानां तेन प्रियं धाम उपैति' (अथर्व. गोपथब्रा. २।३।१९) (गाय सर्वदेवतात्मक है। जो गायका दान करता है, उससे पुरुष सब देवताओंके प्रिय धामको प्राप्त करता है) 'एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्' (अथर्व.शौ.सं. ९।७, १। २५) (गाय सब देवताओंका रूप है) तब गायका नाम 'सरस्वती'-

देवताके नामसे भी बोला जा सकता है, तब उक्त मन्त्रमें मनुष्य-स्त्रीका वर्णन सिद्ध न हुआ।

विज्ञ पाठकोंने भांपा होगा कि—वादी अपनी मर्जीका व्यक्ति है। समय आनेपर वह निघण्टु तथा श्रीयास्कको ही नहीं, प्रत्युत साक्षात् वेदको भी प्रमाणित नहीं करता। उदाहरण आपके समक्ष है। समय' र एक अप्रसिद्ध-टीकाकारको भी अपना बुजुर्ग बना लेता है। वस्तुतः इनके विषयमें हमारी यह बात 'पत्थरकी लकीर' है कि—इन लोगोंमें प्रकरणको छिपा देना, कभी किसी पदको छिपा देना इत्यादि बहुत छल हैं। पर यदि सच्ची बात इन्हें बत.ई जावे, तो जनताकी दुहाई देने लग पड़ते हैं। इनकी इस प्रकृतिको न जानने वाले और स्वयं अनुसन्धान न करनेवाले लोग ही इनको सच्चा मानकर इनके पक्षमें 'वोट' दे दिया करते हैं। फलतः इससे वादीका पक्ष सर्वथा सिद्ध न हुआ। इधर वादी इस मन्त्रमें 'पत्नी' देवता मानता है, तब उसके अनुसार 'सरस्वती' का 'पत्नी' अर्थ हुआ, फिर 'विदुषी' शब्द उसने कैसे प्रक्षिप्त कर दिया? वस्तुतः यह सब उसकी कृत्रिमताएं हैं।

यह हमारा लेख चैत्र शुक्ला ३ सं. २००३ में 'सिद्धान्त' काशीमें छपा था। फिर वादीने 'स्त्रियोंका वेदाध्ययनाधिकार' पुस्तक छपवाई। हर्षकी बात है कि—वादीने उसमें 'इडे रन्ते' यह मन्त्र नहीं रखा; इससे स्पष्ट है कि—उसे स्वयं भी उक्त मन्त्र रखनेमें कृत्रिमता अनुभूत हुई। सत्यके सामने झुकना पड़ा। इससे स्वा.द.जीने यह तो सिद्ध कर दिया कि—वेदमन्त्रका उसके देवताके अनुसार अर्थ करना चाहिये। यह ठीक है। पर जब मन्त्रका देवता ही गलत लिखा गया हो; तब मन्त्रका अर्थ भी स्वतः अशुद्ध सिद्ध होगा।

फलतः चार आश्रमोंमें जब तीन आश्रमोंकेलिए स्त्री 'कण्टक' है, गृहस्थाश्रमीकेलिए भी ऋतुकालके अतिरिक्त उसमें भी अधिक-सेवनीय नहीं; तब प्रश्नोत्तरीमें वैसा कहते हुए आचार्य एवं संन्यासी शंकराचार्य-

का कोई दोष सिद्ध न हुआ। इसीलिए यह कथन प्रसिद्ध है, जो 'काव्यप्रकाश' के ४र्थ उल्लासमें उद्धृत है—'एषा [स्त्री] कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ' (वह स्त्री संसाररूप समुद्रमें स्नानकेलिए गये हुएकेलिए कण्ठमें बान्धी हुई एक मणकी शिलाके समान पुरुषको डुबोने वाली है)।

वादी आगे लिखता है—'स्त्रियोंके वेदाधिकार सम्बन्धमें भी स्वा. शं आ के ऐसे ही 'अनुदार' विचार थे, 'बृहदारण्यक' उपनिषद्के उनके भाष्यसे यह ज्ञात होता है, जहाँ 'अथ य इच्छेद्-दुहिता मे पण्डिता जायेत' (६।४।१७) इसके 'पाण्डित्य' का अर्थ करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं—'दुहितुः पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव, न तु वेदविषयकम्, वेदे अनधिकारात्' (इस उपनिषद्की श्रुतिमें कन्याओंके पाण्डित्यका जो प्रतिपादन है, वह गृहकार्य-विषयक ही समझना चाहिये, क्योंकि—वेदमें इनका अधिकार नहीं'।

इस वचनमें जबकि मूल-उपनिषद्को ही स्त्रीका वेदाधिकार इष्ट नहीं, त– व्याख्याकार आचार्य-शंकर उससे विरुद्ध क्या लिखते? क्या वे मूलकारसे विरुद्ध लिखते? क्या मूलसे विरुद्ध लिखना ही व्याख्या वा भाष्य हुआ करता है? जैसेकि वादी लोग वैसा करते हैं। इससे आचार्य शंकरकी 'अनुदारता' सूचित नहीं होती। इस विषयमें इसी पुष्पके पृ. १२०-१२२ में तथा ४१७-४१८ पृ. में देखें।

६।४।१८ कण्डिकामें पुत्रकेलिए पण्डित होना और सारे वेदोंका पढ़ना पृथक्-पृथक् कहा है, पर लड़कीकेलिए उपनिषद्ने केवल ६।४।१७ में पाण्डित्य ही माँगा है। उसकेलिए वेदका नाम तक भी नहीं लिया; इससे जहाँ वादीसे सम्मत जातिपक्षको उपनिषद्ने खण्डित कर दिया है; वहांपर स्त्रीकेलिए वेदाध्ययन भी निषिद्ध सूचित कर दिया है। कारण यह है कि—लड़केकेलिए पण्डिताई, तथा व्याख्यानकुशलता, एवं सर्ववेदाध्ययन पृथक्-पृथक् रखे हैं; पर उपनिषद्ने लड़कीकेलिए

व्याख्यान कुशलता, सभा-सोसाइटियोंमें जाना, सबंवेदाध्ययन न कहकर केवल उसका पाण्डित्य (बुद्धिमती होना) मांगा है, जोकि गृहकार्यकेलिए स्पष्ट है। इससे पण्डितत्वसे वेदाध्ययन गृहीत नहीं हो सकता—यह भी उपनिषद्ने सूचित कर दिया है।

'पण्डिता' कहते हैं बुद्धिमतीको। 'पण्डा-बुद्धिः सञ्जाता अस्या इति पण्डिता'। उसकेलिए वेदानुवचन न कहनेसे वह बुद्धि घरके काम-काजकेलिए स्वतः-सिद्ध हो गई। तब 'दुहितुः पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव' यह आचार्यपादकी व्याख्या न तो निर्मूल हुई, और न ही अनुदारता-सूचक हुई; किन्तु मूल-उपनिषद्की हृदयप्रकाशिका सिद्ध हुई। तब क्या वादीकी शक्ति है कि—उक्त उपनिषद्-वचनका इससे कुछ भिन्न अर्थ अपने पक्षका सिद्ध कर दे? वादी 'पण्डिता' का अर्थ चाहे जो भी करे, वहाँपर 'वेदाध्ययन' अर्थ उक्त उपनिषद्में कभी त्रिकालमें भी नहीं कर सकता। यह हमारी सडिण्डिमनाद घोषणा है। नहीं तो फिर पुत्रवाले वाक्यमें 'पाण्डित्य' से भिन्न 'वेदानुवचन' का कथन व्यर्थ हो जावे। वादी इस विषयमें कितना ही बल क्यों न लगावे; पर उसका पक्ष तो उक्त उपनिषद्-वचनसे कभी भी सिद्ध हो ही नहीं सकता। तब वादीसे अभिमत श्रीशंकराचार्य-स्वामीकी 'अनुदारता' यहां सिद्ध न हो सकी।

आगे वादी लिखता है—'इसी उपनिषद्में 'ब्रह्मवादिनी गार्गी-वाचक्नवी, मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी' (४।५।१) का वर्णन आ चुका है, जहां शंकराचार्यजीने भी 'ब्रह्मवादिनी' का अर्थ 'ब्रह्मवदनशीला' अर्थात् वेद और ब्रह्मविषयक उपदेश करनेवाली किया है'। तथा 'पाण्डित्य' का अर्थ 'बाल्यं पाण्डित्यं च निर्विद्य' (बृ. ३।५।१) का अर्थ 'आत्मज्ञान' किया है। आनन्दगिरिने 'आचार्यपरिचर्यापूर्वकं वेदान्तानां तात्पर्यावधारणं पाण्डित्यम्' यह अर्थ किया है, किन्तु अनुदारतावश यहाँ स्त्रियोंका वेदाध्ययनमें अनधिकार बता दिया है, जो 'ब्रह्मचर्येण कन्या' (अ. ११।६।१८) इत्यादि वैदिक-आदेशसे विरुद्ध है'।

यहांपर वादीने आचार्य-शंकरके 'ब्रह्मवदनशीला' का 'वेद और ब्रह्मविषयक उपदेश करनेवाली' यह अर्थ ही कैसे कर दिया? 'ब्रह्मविषयक संवाद करनेवाली' यह अर्थ तो प्राकरणिक एवं ठीक है; यहांपर 'वेद'-अर्थका कोई प्रकरण ही नहीं। जबकि—बृहदारण्यक लड़कीकेलिए पाण्डित्य तो बताता है, पर वेदानुवचन नहीं, यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं; तब वादीकी क्या शक्ति है कि—इस उपनि.में उस 'पाण्डित्य' का 'वेदानुवचन' लड़कियोंकेलिए कर सके। और फिर उक्त उपनिषद्ने वादीसे इष्ट जातिपक्षका ही खण्डन कर दिया है; यह हम पहले बता चुके हैं; तब ब्रह्मविषयक-ज्ञान वेदातिरिक्त वेदान्तके ग्रन्थोंसे अथवा पतिसे अथवा अनादिसे सृष्ट्यादिसे चालू पुराणके ज्ञानके श्रवणसे भी स्त्री कर सकती है; जैसा कि आचार्य-शंकरने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें लिखा है—'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति च इतिहास-पुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्य अधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणाम् [एवं स्त्रीणाम्] (१।३।३८)।

और फिर इसके अतिरिक्त शतपथ एवं बृहदारण्यक-उपनिषद्के वचनमें तथा 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं' (अ. ११।५।६) में वेदको भी जातिपक्ष इष्ट नहीं; तभी 'ब्रह्मचर्येण कन्या' (अ. ११।५।१८) में कन्याको पृथक् रखा; इससे स्पष्ट है कि—कन्याका ब्रह्मचर्य भी भिन्नार्थक-उपस्थसंयमार्थक ही है। पुत्रसे पुत्रीका पृथक्-ग्रहण करनेसे जातिपक्ष भी बाधित हो जाता है; जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, वादीसे उद्धृत आचार्य-शंकरके वचन स्त्रीकेलिए नहीं हैं; क्योंकि—स्त्रीका पाण्डित्य इस उपनिषद्में वेदातिरिक्त गृहकार्योंकेलिए विवक्षित है—इसपर हम पहले विवेचना दे ही चुके हैं। वादी शंकराचार्यके पुरुषविषयक वचनको उनके अभिप्रायसे विरुद्ध स्त्रीमें कैसे लगाता है?

शेष रहा 'ब्रह्मचर्येण कन्या' इस मन्त्रसे विरोध तथा गार्गी आदिका उदाहरण, इसपर उत्तर यह है कि—उक्त मन्त्रमें कन्याका 'ब्रह्मचर्य' 'उपस्थसंयम' ही है, वेदाध्ययन नहीं; क्योंकि—युवा पतिके वेदनमें हेतु

कन्याका उपस्थसंयमात्मक 'ब्रह्मचर्य' ही होता है; क्योंकि उपस्थसयम न करनेसे वह लडकी युवा-पतिके योग्य नहीं रह जाती—इस विषयमें 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण' यह उक्त मन्त्रका दृष्टान्तभूत उत्तरार्ध भी साक्षी है। बैल-घोड़े ब्रह्मचर्य अर्थात् उपस्थसंयम न करनेसे घासको नहीं पचा सकते, यहां वेदाध्ययनकी कोई बात ही नहीं। इस विषयमें विस्तारपूर्वक हम इसी पुष्पके पृ. ५५-७२ में लिख चुके हैं। पहले 'सिद्धान्त' (७।३९) में भी लिख चुके हैं, जिसका प्रत्युत्तर प्रतिपक्षीने कभी भी नहीं दिया। ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके विषयमें भी हम पहले पृ ८०-८९ में लिख चुके हैं कि—हारीतके अनुसार ब्रह्मवादिनी यावज्जीवन-कुमारी रहती है; परन्तु अथर्ववेदके 'ब्रह्मचर्येण कन्या' में लड़कीके विवाहका वर्णन है, कौमार्यका नहीं, अतः वादीका पक्ष स्वयं ही खण्डित हो गया।

अन्य यह बात है कि—इसी वादीके अनुसार हारीतकी सद्योवधूको विवाह होनेपर वेदका कोई अधिकार नहीं दिया गया; तब उक्त ('ब्रह्मचर्येण कन्या') वेदमन्त्रमें भी जब 'सद्योवधू' का ही वर्णन है, ब्रह्मवादिनीका नहीं, तब उसका वेदाध्ययन कैसे हो सकता है?

एक बात अन्य यह है कि—'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः' (अ. ११।५।३) इस 'ब्रह्मचारी' शब्दसे पुंलिङ्गतावश पुरुषका वेदाध्ययन इष्ट है। यदि कहा जाय कि—यहां जातिपक्षवश लडकीका भी ग्रहण इष्ट हो जायगा; तो यह ठीक नहीं। यदि वेदको भी जातिपक्ष इष्ट होता; तो 'ब्रह्मचर्येण कन्या' (११।५।१८) इस मन्त्रको वेद पृथक् न कहता। 'मम पुत्राः शत्रुहणो अथो मे दुहिता विराट्' (ऋसं. १०।१५९।३) 'त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि, त्वं कुमार उत वा कुमारी' (अ. १०।२८।२७) इस मन्त्रमें तथा इस प्रकारके बहुतसे मन्त्रोंमें लड़केसे लड़कीका ग्रहण न करके, लड़कीको लड़केसे पृथक् रखकर 'जातिपक्ष' की कमर ही तोड़ कर रख दी। इससे जातिपक्षका बाध हो गया; तब फिर पुरुषसे कन्याके पृथक्-ग्रहणसे यहां लड़कीका ब्रह्मचर्य

वेदाध्ययन न होकर वह केवल उपस्थ-संयम अर्थमें संक्रान्त हो गया।

अपशूद्राधिकरणके शंकराचार्यभाष्यका उपसंहार करते हुए वादी लिखता है—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' इस 'कठोपनिषद्' में स्थित 'ब्रह्मचर्य' की व्याख्या श्रीशंकराचार्यजीके 'गुरुकुलवासलक्षणम् अन्यद् वा ब्रह्म-प्राप्त्यर्थं' यह की है; ऐसी अवस्थामें उनका 'स्त्रीणां वेदेऽनधिकारात्' यह लेख न केवल 'अनुदारतापूर्ण' है; अपितु वेदविरुद्ध भी है'।

इसपर यह जानना चाहिये कि—एक शब्दका सब स्थान पुंलिङ्ग-स्त्रीलिङ्गादिमें समान-अर्थ नहीं हुआ करता, क्या 'रजस्वला स्त्री, रजस्वलः पुरुषः' दोनोंका समान अर्थं वादी कभी कर सकता है? 'रजस्वलमनित्यं च भूतावासम्' (६।७७) इस मनुके पद्यमें पुंलिङ्गान्त 'रजस्वल' शब्दका 'रजस्वला स्त्री'-वाला अर्थ क्या प्रतिपक्षी कभी कर सकता है? 'असंस्कृतः पुरुषः, असंस्कृता स्त्रीका भी समान अर्थ नहीं हो सकता। जबकि—'असंस्कृतः पुरुषः' का अर्थ है 'अनुपनीतः', और 'असंस्कृता स्त्री' का अर्थ है 'अविवाहिता'। 'पुरुषः कान्तो भवति, स्त्री कान्ता भवति' यहां भी दोनों शब्दोंका समान अर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार पुरुष एवं स्त्रीका भी 'ब्रह्मचर्य' समानार्थक कभी नहीं हो सकता।

'शुक्रसंयम' में 'ब्रह्मचर्य' शब्द प्रचलित है। पुरुषका तो वह कहा जा सकता है, स्त्रीका नहीं। क्योंकि—स्त्रीका तो शुक्र ही नहीं होता। उसके 'रज' को ही 'शुक्र' माना जावे; तो उसका संयम भी नहीं हो सकता; प्रतिमास वह स्रुत होता रहता है। यदि स्त्री उसे रोके; तो बीमार पड़ जावे, फिर तो 'गर्भिणी' का नाम ही 'ब्रह्मचारिणी' रहेगा। अतः स्त्रीका 'ब्रह्मचर्य' 'उपस्थसंयम' ही माना जाता है.

पुरुषोंका तो गुरुकुलवास, शुक्रसंयमादि ब्रह्मचर्य सम्भव है, पर स्त्रीका शुक्र न होनेसे 'कठोपनिषद्' के 'ब्रह्मचर्य' की आचार्य-

शङ्करकी व्याख्या स्त्रीके उसमें अनधिकृत होनेसे उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकती। शुक्र होनेसे ही पुरुषकी मूछें होती हैं, इसलिए ब्रह्मचर्य-सूक्तमें पुरुषको 'दीर्घश्मश्रुः' (११।५।६) कहा जाता है, परन्तु स्त्रीमें शुक्र न होनेसे वह 'दीर्घश्मश्रु' भी नहीं हो सकती। इसकी स्पष्टता हम ६५-७२ पृष्ठमें कर चुके हैं; अतः स्त्रीका मुख्य-ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन न हो सकनेसे वहाँ पतिवेदनसे पूर्व उसका 'उपस्थसंयम' ही मुख्य 'ब्रह्मचर्य' होता है। 'कुमारी ब्रह्मचारिणी' आदि शब्द भी गौण हैं, अतः वहाँ 'उपस्थसंयम-वाली' यही अर्थ होता है। 'पतिसेवा गुरौ वासः' (२।६७) वादिप्रति-वादिमान्य मनुके अनुसार स्त्रीका पतिकी सेवा करनी तथा उसके पास निवास करना ही 'गुरुकुलवास' होता है। उसमें उसका उपस्थसंयम भी नहीं हो सकता। सो उसका ऋतुकालमें पत्युपगमन ही 'ब्रह्मचर्य' माना जाता है। (मनु. ३।५०)।

इस कारण आचार्य-शंकरसे प्रोक्त वादीसे उद्धृत अर्थ पुरुषोंकेलिए है, स्त्रीकेलिए नहीं। जातिपक्ष भी यहाँ बाधित है; यह हम पहले कह ही चुके हैं; अतः वहां स्त्रीका ग्रहण कभी सम्भव ही नहीं। इस कारण स्त्रीका श्रीशंकराचार्यसे प्रोक्त वेदाऽनधिकार न तो 'अनुदारता'-पूर्ण है, और न वेदविरुद्ध ही है; अपितु बृहदारण्यक-उपनिषद्से अनुमोदित है—यह हम पूर्व कह ही चुके हैं। इसपर प्रतिपक्षी कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दे सका, वा दे सकता।

प्रत्युत उन स्त्रियोंको बड़े कठिन वेदोंकेलिए बाधित करना उनपर अत्याचार करना है। क्योंकि—शुक्रकी अल्पता तथा रजकी प्रधानतासे उत्पत्ति होनेके कारण लड़की स्वभावसे निर्बल उत्पन्न होती है। इसलिए स्त्रियोंका पर्यायवाचक भी 'अबला' शब्द आता है।

कारण यह है कि—रज तीसरी धातु है; और शुक्र सातवीं। इसलिए शुक्रकी सबलता और रजकी निर्बलता स्पष्ट है। इससे शुक्रकी अल्पतासे उत्पत्तिवश स्त्रियोंमें प्रायः कोमलता होती है; और पुरुषोंमें

सप्तम धातुकी प्रबलता होनेसे प्रायः कठोरता होती है। फिर उस निर्बल (स्त्री) पर वेदका भारी भार रखना—जिसकेलिए पुरुष भी घबराता है, उस स्त्रीपर अत्याचार करना है। क्योंकि—वेद-वेदाङ्गका भारी भार पुरुष ही धारण कर सकता है।

पहले लड़कीका शरीर ही जन्मसे निर्बल है, फिर उनपर वेद-वेदाङ्ग-आदि सारे वैदिक-साहित्यका भारी भार रखना उसके मस्तिष्ककी निर्बलता करनी है। भावी सन्तानोंको कमजोर करना है। फिर उसका उपस्थसंयम हटानेसे अन्य निर्बलता बढ़ेगी, फिर गर्भादि तथा प्रसव-आदिसे उसकी अन्य निर्बलता बढ़ेगी। तब उसके सन्तानके मस्तिष्ककी निर्बलता भी स्वतः होगी। फिर बच्चेको दूध पिलाते रहनेसे स्त्रीकी निर्बलता और बढ़ेगी। इस प्रकार निर्बलता बढ़ते-बढ़ते बहुत दुष्परिणाम सम्भव हैं। 'कुले च कामिनीमूले' इस प्रकार स्त्रीकी निर्बलतामें उसके बच्चोंकी निर्बलता भी स्वाभाविक ही है।

रजस्वलात्वमें एकान्तमें बैठना पड़ता है। इससे प्रतिमास चार दिन की स्त्रीकी पढ़ाई छूटेगी। अध्यापिका हो, तो प्रतिमास घरमें बैठनेसे चार दिनका वेतन कटेगा। इस डरसे वे स्त्रियाँ उन दिनोंमें भी फट-फट करती हुई विद्यालयोंमें जा रही होती हैं। इससे घरमें नौकर आदिके जिम्मे दिये हुए बच्चोंकी भी दुर्दशा हो रही होती है। आयुर्वेद इसके परिणाममें हानि बताता है। फिर प्रसव आदिमें होती हैं हानियाँ, पर फिर दोष दिये जाते हैं बाल्यविवाहपर। आशा है वादी दूरदृष्टि रखकर इस विषयका आग्रहवाद छोड़ देगा।

पुरुषको तो आज वेदका अवसर मिलता नहीं; आप लोग स्त्रीको भी बलात् इस रास्तेमें लाना चाहते हैं। स्त्री आपकी सभी प्रकारकी रोटी बनाना, कपड़े धोना, आपकी वासनापूर्ति करनी, आपके बच्चोंको पालना—आदि सेवाएं भी करे, और फिर वेद भी पढ़े—कितना भयकर अत्याचार है—यह उसपर।

यदि श्रीशंकराचार्यस्वामीका अपशूद्राधिकरणका भाष्य वेदविरोधी होता; तो श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीयति-पण्डित श्रीभगवत्पादाचार्य, श्रीसायणाचार्य आदि उनका विरोध करते; शंकराचार्यकी अनुदारता बताते; पर नहीं; उन्होंने भी इस अपशूद्राधिकरणका उन्हींके अनुकूल भाष्य किया है—यह हम आगे दिखलावेंगे। उससे पूर्व हम पहले ब्रह्मसूत्रके तथाकथित 'वैदिकभाष्य'पर-जिसमें शंकराचार्यसे विरुद्धता प्रकट की गई है-पर भी कुछ विचार रखना उचित समझते हैं।

---

(४९) ब्रह्मसूत्रके 'वैदिकभाष्य'पर विचार।

यह हम पूर्व सूचित कर चुके हैं कि-'वेदान्तदर्शन' के 'आधुनिक-वैदिक भाष्य' में 'अपशूद्राधिकरण' को जो प्राचीन आचार्योंकी परम्परानुसार चला आया था; उसको एक वादीने हटा दिया है, नहीं तो शूद्रको उसके प्रणेता वेदाधिकारी कैसे सिद्ध करते; अतः उसे 'मध्वाद्यधिकरण' बनावटसे बनाकर उन अपशूद्राधिकरणके सूत्रोंमें तोड़-मोड़ की है, पर यह ग्रन्थोंके इष्टपक्षको हटाकर स्वेष्टपक्ष रखना, सूत्रोंके अर्थमें अपनी इच्छानुसार तोड़-मोड़ करनी-यह प्राचीनताकी हिंसा है; और यह 'असत्य'-व्यवहार है। यह साहित्यकी 'ब्लैकमार्कीटिङ्ग' है, साहित्यकी 'चोरी वा डकैती' है।

एक वादीने 'अपशूद्राधिकरण' के उक्त-सूत्रोंके अर्थोंको बलात् उस अधिकरणसे हटाकर अपनी इच्छानुसार सूत्रोंके अर्थ किये हैं। उनपर कुछ न कहकर इसके बाद जो वादीने उसके साररूपसे 'चर्चा' चर्चित की है; हम भी उस चर्चापर विचार करते हैं। उनकी यह चर्चा संस्कृतमें है, हम उसका हिन्दी रूपान्तर देंगे।

'तदुपर्यपि' (१।३।२६) सूत्रमें 'तदुपर्यपि' इस शब्दसे 'मनुष्याद्

उपरिष्टाद् ये देवादयः' यह अर्थ है कि-मनुष्यसे ऊपरके अर्थात् देवादियों-को भी ब्रह्मविद्याका अधिकार है। पर इसपर पूर्वपक्षी-महाशय कहते हैं कि-'मनुष्योंसे श्रेष्ठ कोई देवादि ब्रह्मध्यानका अधिकारी है-या नहीं, यह विवादका विषय है। किसी देवको ब्रह्मका ध्यान करते नहीं देखा गया है'। पर यह गलत है। ब्रह्मा आदि देव तपस्या करते हुए तथा ध्यान करते हुए देखे गये हैं, चाहे वे अपने ही ब्रह्मस्वरूपका ध्यान क्यों न करें?

आगे वे महाशय लिखते हैं- यदि वैसे कहा जाता है, तब यह कहना पड़ेगा कि—शूद्रकी भांति देवताका भी वेदाध्ययन नहीं हो सकता, क्योंकि उनका भी उपनयन-संस्कार नहीं होता। तब फिर ब्रह्मध्यानके अधिकारमें देवोंकी प्रवृत्ति कैसे है? यदि उपनयनसे रहित भी देव वेद पढ़ सकता है, तब बेचारे शूद्रने क्या अपराध किया कि-उपनयनरहित उसे वेदाधिकार नहीं दिया जाता'।

पाठकोंने देख लिया कि-कैसी तुच्छयुक्ति है। ब्रह्मदेवकेलिए तो कहा है—'प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्' (पारस्कर) (यज्ञोपवीत संस्कार ब्रह्माका पृथक् नहीं होता; किन्तु उनका वह उपवीत सहज-सहोत्पन्न-स्वाभाविक होता है।) इससे देवोंका भी उपवीत स्वाभाविक सिद्ध होता है, पृथक् नहीं। और देवोंका गुरुमुखादिद्वारा वेदाध्ययन भी नहीं होता; उनको तो वेद स्वयं प्रतिभात हो जाते हैं। यह युक्ति वादीकी नई नहीं है, और उसका प्रत्युत्तर भी नया नहीं है। 'वैयासिक-न्यायमाला' में वहीका वही खिये—-

'शूद्रोधिक्रियते वेदविद्यायामथवा नहि? अत्रैवर्णिक-देवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान्' देखिये वहीका वही पूर्वपक्ष ही तो है कि-शूद्र वेदविद्यामें अधिकृत है; या नहीं? जैसे त्रैवर्णिकेतर-देवताओंका वेदविद्यामें अधिकार है, उसी प्रकार त्रैवर्णिकेतर शूद्रका भी वेदविद्यामें अधिकार होना चाहिये?

अब सुनिये इसका उत्तरपक्ष वादीके मुखमुद्रण करनेवाला—

'देवाः स्वयंभात-वेदाः शूद्रोऽध्ययनवर्जनात् । नाधिकारी श्रुतौ स्मार्ते त्वधिकारो न वार्यते' इसमें यह बताया गया है कि–देवताओंको गुरुमुखादिसे वेदाध्ययन नहीं करना पड़ता; क्योंकि–'विद्वांसो हि देवाः' (शत. ३।७।३।१०) देवता जन्मसे ही विद्वान् होते हैं। उन्हें वेद स्वयं प्रतिभात हो जाते हैं, जैसे कि–मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंको। परन्तु शूद्रका वेदमें अध्ययन विहित नहीं, अतः वह वेदमें भी अधिकारी नहीं हो सकता, कैसा मुंहतोड़ उत्तर है !!!

आगे वादी बलात् छूआछूत पक्ष लाता है—हम उसका प्रश्नोत्तर-रूपसे उल्लेख करते हैं—(प्र.) 'ब्रह्माके पांवसे पैदा होना ही यदि शूद्रका अपराध है; तो ठीक नहीं, सुर, नर आदि सभी ब्रह्मके पांवोंको अर्चित करते हैं। वह ब्रह्मका पांव निरपराध है, तब उससे पैदा हुएकी भी निरपराधता निर्बाध है। (उत्तर) यह युक्ति ठीक नहीं। ब्रह्मका दिव्यपाद तो पूजनीय है—यह ठीक है; पर उस पांवसे निकले हुए सभी पूजनीय कैसे हो जाएंगे ? ब्रह्मपादसे निर्गत गंगा तो पूजनीय है, पर पादसे निर्गत शूद्र पूजनीय नहीं। 'पतितोपि द्विजः श्रेष्ठो न शूद्रोपि जितेन्द्रियः। निर्दुग्धापि च गौः श्रेष्ठा न च दुग्धवती खरी। (सत्यार्थप्रकाश पाठान्तरम्) कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम्' (इति पूर्वपद्य-पाठान्तरम्) (पराशर. ८।३३) मुख पूजनीय है, पर उससे उत्पन्न थूक, लार, बलगम आदि पूजनीय नहीं। सिर पूजनीय है, पर उससे निर्गत मैल, जूं, फोड़ा आदि पूजनीय नहीं; समुद्र पवित्र है, उससे निर्गत अमृत तो सेवनीय है; पर विष नहीं, मद्य सेवनीय नहीं। अतः ब्रह्मका पाद तो पूजनीय है; उससे निर्गत गङ्गा तो पूजनीय हैं, पर पादसे निर्गत शूद्र नहीं। अतः वादीका यह 'विषम उपन्यास' है।

(प्र.) 'शूद्र यज्ञमें अनवक्लृप्त (अनधिकारी) है, इस कृष्णयजुर्वेदके वचनसे शूद्रका यज्ञमें अधिकार भले ही न हो; पर ब्रह्मध्यानमें उसका

अधिकार क्यों नहीं ?' (उ.) जब वादी यज्ञमें शूद्रका अनधिकार मान चुका, तब यज्ञोपास्य तथा वेदोपास्य ब्रह्ममें भी अनुपनीत शूद्रका वैध अधिकार नहीं। इस बातको वादी स्वयं भी स्पष्ट करता है—

(पूर्वपक्ष)—'ब्रह्मध्यान वेदाध्ययनपूर्वक होता है, और वेदाध्ययन उपनयनपूर्वक होता है; और शूद्रका उपनयन होता नहीं, अतः उसका ब्रह्मध्यान वा ज्ञानमें अधिकार नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता, अनुपनीत देवताका जैसे वेदाध्ययन है, वैसे ही शूद्रका भी हो सकता है (उत्तरपक्ष) इसका हम समाधान वैयासिक-न्यायमालाके वचनसे पूर्व कर ही चुके हैं।

(पूर्व.) जोकि–'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' यज्ञमें शूद्र अनधिकृत माना गया है, वैसे न्यायानुसार विद्यामें भी शूद्र अनधिकृत है, यह ठीक नहीं। यज्ञ 'कर्म' है। वह संसारसागरसे पार ले जानेमें कच्ची नाव है, परन्तु ज्ञान तो उदय होते ही सारे अविद्यान्धकारको दूर कर देता है। ज्ञान और कर्मका बड़ा अन्तर है। ज्ञान-मार्गका आचार्य कर्मप्रयुक्त-अनधिकारको ज्ञानमें कैसे लागू कर सकता है ? इसके अतिरिक्त इस प्रकरणमें 'शूद्र' शब्द कहीं भी नहीं सुनाई पड़ रहा। तब इस प्रकार हास्यास्पद और सबसे तिरस्कर्तव्य अधिकरणको ग्रन्थकार कैसे उपनिबद्ध करनेको तैयार हो गया ?

(उत्तरपक्ष)–यह आक्षेप भी व्यर्थ है। कर्म जो पहली संशोधक सीढ़ी है–उसमें जो अनधिकृत है; वह सबसे उच्च ज्ञानमें भला अधिकृत कैसे किया जा सकता है ? पहली सीढ़ीमें चढ़नेकी जिसे रोक है; वह अन्तिम-सीढ़ीमें भला कैसे पहुंच सकता है ? वेदके तीन काण्ड प्रसिद्ध हैं—१ कर्मकाण्ड, २ उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। उसमें ज्ञानकाण्ड अन्तिम सीढ़ी है। जो पहली सीढ़ियोंमें अधिकृत नहीं; वह अन्तिम सीढ़ीमें भला कैसे अधिकृत किया जा सकता है ? वादीने कर्मकाण्डमें तो शूद्रका अनधिकारी होना मान लिया। तब अन्तिमकाण्ड-ज्ञानमें भला शूद्र अधिकृत कैसे हो

सकता है ? संन्यासाश्रम ज्ञानकाण्डका भाग माना जाता है; वादीके अनुसार तो उसमें उपनयनसे हीन शूद्र भी अधिकारी होना चाहिये; पर शूद्र तो दूर, उसमें ब्राह्मणसे अतिरिक्त **क्षत्रिय-वैश्यको भी अधिकारी नहीं** माना जाता। देखो मनुस्मृति-सन्यासप्रकरण। तब ज्ञानकाण्डमें भला शूद्र अधिकारी कैसे हो जा सकेगा ? स्पष्ट है कि—यहाँ प्रतिपक्षीका यह 'विषम-उपन्यास' है, 'चिन्त्य' है, 'निरवद्य' नहीं। ज्ञानका दर्जा परमात्माने भी उच्च माना है, हमारे शरीरमें भी ज्ञानभाग है—सिर, परमात्माने उसे ऊंचा पद दिया है, पांवको नीचेका पद दिया है, इसलिए वेदमें भी 'यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः' (ऋ. २।१३।८) (जिसने निचले वर्ण-शूद्रको नीचे रखा); इसलिए उसे सबसे नीचे रखा। उसका दर्जा रखा पां; पांव कुछ क्रियाओंको तो कर सकता है, पर ज्ञानमें उसका प्रवेश सर्वथा नहीं हो सकता। दिमाग उसकेलिए जो कर्म अधिकृत करेगा; वही वह करेगा। ज्ञानमें उसका प्रवेश नहीं हो सकता।

(पूर्व.) मीमांसादर्शनमें छठे अध्याय प्रथमपादमें सप्तम अपशूद्राधिकरणको प्रस्तुत करते हुए जैमिनिने अन्याय्य-व्यवहार नहीं किया। क्योंकि—वह तो कर्ममीमांसा है। अवश्य कर्म नियत-अधिकार वाले होते हैं। सब सभी कर्मोंको नहीं कर सकते। ज्ञानमें तो बन्धन नहीं हो सकता। जिसका अज्ञानका लव जिस ही समयमें शान्त हो जावे; उसी समयमें उसकी ज्ञानप्रभा उदित हो सकती है। उसको कौन शान्त कर सके ?

(उ.) इसका उत्तर पूर्व दिया जा चुका है। कर्म पहली सीढ़ी होती है; और ज्ञान अन्तिम सीढ़ी। जो पहली सीढ़ीमें अधिकृत हो नहीं, वह अन्तिम-सीढ़ीपर कैसे पहुंचेगा ? तब उस अन्तिम-सीढ़ीमें ब्राह्मण ही अधिकृत हो सकता है; पूर्व सीढीमें भी अनधिकृत शूद्र उसमें कभी भी अधिकृत नहीं हो सकता। वेदका अध्ययन 'कर्म' है, यह तो वादी भी मानेगा ही; जब शूद्र उसमें भी अधिकृत नहीं; यह वादी भी स्वयं

मानेगा ही; तब वह शूद्र उसका अन्तिम फल ज्ञान ही कैसे प्राप्त कर सकेगा ? जिस मुण्डकके (१।२।७) वचनसे कर्मको 'अदृढा नौः' वादी कहता है, वही मुण्डक यज्ञ-विषयवाले ऋग्वेदादिको भी कर्मकाण्डरूप और 'अपरा विद्या' 'अदृढा नौः' कहता है। देखिये—'द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैव अपरा च' (१।१।४) तत्र अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः......अथ परा यया तदक्षरमधि-धिगम्यते' (५)।

तब वादीके अनुसार उस कर्मकाण्डात्मक-वेदमें भी शूद्रका अनधिकार ही सिद्ध हुआ। यदि ऋग्वेदादि मुण्डकानुसार ज्ञान होते, तो उन्हें भी परा-विद्यामें शामिल किया जाता, पर अपरामें किया गया है। यदि वादी यह नहीं मानता; और वेदोंको ज्ञानकाण्ड कहता है; तब भी पूर्वोक्त-रीतिसे उसमें भी शूद्रका अधिकार किसी भी शास्त्रसे सिद्ध नहीं।

(पूर्व.) वेदका अधिकारी कौन है—यह वेदको ही कहना चाहिये। यहाँ तो कहीं भी संकेतसे भी शूद्रोंका अधिकार नहीं रोका गया है। बल्कि—'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' इस मन्त्रमें परम-आप्त परमात्माकी वाणी 'सर्वाधिकारा' है—यही उपदेश दिया गया है। ब्राह्मणभाग यदि शूद्रका वेदाधिकार हटाते हैं; तो भले ही हटावें; इससे क्या ? वे तो **कर्ममार्गके ही प्रवर्तक** हैं। उनका शासन कर्ममार्ग पर ही है, अन्यत्र नहीं।—

कात्यायनने भी 'फलयुक्तानि कर्माणि' (२) सर्वेषामविशेषात् (३) मनुष्याणां वाऽऽरम्भ-सामर्थ्यात् (४) 'अङ्गहीनाऽश्रोत्रियषण्ढ-शूद्रवर्जम्' इत्यादि सूत्र बनाते हुए परिभाषाध्यायमें **कर्ममें ही शूद्रोंका अनधिकार** स्पष्ट उद्घुष्ट किया है।

(उ.) इसका प्रत्युत्तर भी पूर्व-जैसा है। कुछ पूर्व पृष्ठोंमें भी दिया जा चुका है। जब पूर्वकी सीढी कर्ममें उन लोगोंने शूद्रका अधिकार नहीं बताया; तब अन्तिम-सीढी ज्ञानमें भला शूद्रका प्रवेश ही कैसे होगा ?

'यथेमां वाचं' में 'वाचं' से 'परमात्माकी वाणी' अर्थ नहीं; इस विषयमें २से ५५ पृष्ठ तक देखिये। क्या वादी इस अर्थको मानता है? वह तो वेदको पौरुषेय मानता है; उस वाणीसे किसी पुरुषकी वाणी सिद्ध हुई, परमात्माकी वाणी नहीं। सो पुरुषकी वाणीमें यदि शूद्रका अधिकार भी सिद्ध हो जावे; तो इससे 'वेद-वाणी सर्वाधिकारा' सिद्ध नहीं हो सकती। कहीं वादीने—यदि मैं भूलता नहीं हूँ; अपनी किसी पुस्तकमें 'यथेमां वाचं' को 'खिल' मन्त्र माना है; 'खिल' वह परिशिष्टको मानता है; तब यह प्रमाण वेदका न हुआ, किन्तु 'खिल' (परिशिष्ट) होनेसे, किसी पुरुषसे प्रक्षिप्त होनेसे यह भगवान्‌की वाणी न होनेसे मान्य भी न हुआ। तब उक्त मन्त्रमें शूद्रादिको वेदाधिकार देनेकी शक्ति सिद्ध न हुई। सो यह प्रमाण इसके मतमें भी ठीक न हुआ।

'वेदका अधिकारी कौन है—यह वेदको कहना चाहिये' यह भी आवश्यक नहीं; वैसे वेदोंने 'वेदमाता...द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) में वेदमें द्विजका अधिकार बताया है। 'यथेमां वाचं' में यदि सभी वर्णोंका नाम है; तो वहाँ 'वाच' लिखा हैं, 'वेदवाचं' नहीं। अत: वादीका पक्ष गलत हो गया। स्वा.द.के सिवाय किसी भी प्राचीन ऋषि-मुनि तथा भाष्यकारने उक्त मन्त्रको वेदाधिकारि-विषयमें व्याख्यात नहीं किया; बल्कि इस वादीने भी नहीं किया; अत: यह अर्थ माननीय नहीं। यह मन्त्र कर्मकाण्डमें 'दीयतां भुज्यताम्' इस वाणीकेलिए माना गया है, वेदाधिकारमें नहीं। सो यह 'दीयतां-भुज्यंताम्' वाणी सभी मनुष्योंको यज्ञान्तमें यज्ञका प्रसाद देनेकेलिए है; इसमें शूद्र भी अनधिकृत नहीं। इस विषयमें इस पुष्पमें पृ. २-५५ तथा १५९-१६४ पृ. में हमने ऊहापोहपूर्वक स्पष्टता की है।

अब वादी 'गौतमसूत्र'के कर्तापर कहता है—'शेष है गौतमका सूत्र; सो वह गौतम कब हुआ—यह निश्चित नहीं।' (उ.) वह जबका भी हो; पर श्रीव्याससे पूर्व है; और श्रीव्यासको वह 'गौतम'सूत्र अभिमत

भी है। उसीने शूद्रको वेदश्रवणका निषेध किया है; पर 'श्रवणाध्ययनार्थ-प्रतिषेधात्' सूत्रके अपने भाष्यमें भी वादी कोई गौतम-जैसा प्रमाण ही नहीं दे सका, जो ब्रह्मसूत्रके सूत्रसे मेल खाता हो; और जहाँ शूद्रको वेदके श्रवण तथा अध्ययनका अधिकार निषिद्ध हो। अत: उसका पक्ष ही असिद्ध है।

यह जो वादी कहता है कि—गौतम मीमांसादर्शनके भाष्यकार शबरस्वामीके समय नहीं था, यह भी ठीक नहीं। शबरस्वामीने शूद्रके वेदाधिकार-निषेधक अन्य प्रमाण तो दिये ही हैं; यदि गौतमका सूत्र नहीं दिया; क्योंकि—साक्षात् जैमिनिकी पुस्तकमें सूत्रानुसारी न होनेसे उसे नहीं दिया; इससे यह आवश्यक नहीं कि—वह शबरस्वामीसे पीछेका है। कोई पुरुष एक-दो प्रमाण प्राप्त होनेपर शेष प्रमाणोंको नहीं भी देता। शूद्रको श्मशानकी उपमाका शबरस्वामीका उद्धृत वचन ही पर्याप्त था; क्योंकि—श्मशानमें वेदके अध्ययन, श्रवण तथा उसके अर्थ-चिन्तनादिका निषेध है, फिर वहाँ गौतमसूत्रकी पृथक् आवश्यकता नहीं थी।

आगे शूद्रके वेदाधिकारकी सिद्धिकेलिए वादीने कक्षीवान् तथा उसके पुत्र शबर तथा पुत्री घोषाकी शूद्रता लिखी है, और सायणाचार्यकी भी उसमें सहमति बताई है, यह वादीकी बात सर्वथा असत्य है। इस विषयमें इस पुष्पके पृ. ३५३-३६३ में देखें। सायणाचार्य पूर्वपक्षमें तो कक्षीवान्‌को क्षत्रिय बताते हैं; पर उत्तरपक्षमें उसे ब्राह्मण बताते हैं। श्रीसायणाचार्यने कक्षीवान्‌को कहीं शूद्र नहीं बताया। जब कक्षीवान्‌का उत्पादक दीर्घतमा ब्राह्मण है; तब उसका पुत्र कक्षीवान् शूद्र कैसे हो गया? शेष रहा दासीमें जन्म, उसका भी समाधान हम पूर्वोक्त पृष्ठोंमें कर ही चुके हैं। वेद भी उसे ब्राह्मण बताता है; अत: वादीका मूल ही निर्मूल हो गया।

आगे वादीने अगस्त्यकी बहिन, अदिति आदि स्त्रियोंको ऋषिका बताकर स्त्रियोंका भी वेदाधिकार सिद्ध करना चाहा है—यह भी कथन

व्यर्थ है। ऋषि-ऋषिकाओंको, बिना ही अध्ययन किये कई एक-दो मन्त्र (सारे नहीं) समाधिमें स्वयं प्रतिभात हो जाते हैं। इस विषयमें 'वेदकी ऋषिकाएं' निबन्ध इसी पुष्प (पृ. ७२-७९) में देखें।

आगे वादी कहता है—'स्त्री-शूद्रौ नाधीयीयाताम्' यह वचन भी समाहित हो जाता है'। वादीने इसका कुछ भी समाधान नहीं दिया। यह कोई श्रुति-वचन है—अत: अमान्य नहीं। यदि वादी इस श्रुतिवचनसे स्त्री-शूद्रोंका कर्ममें ही अनधिकार बताता है; तो वेदका अध्ययन 'कर्म' है, वादीके अनुसार भी शूद्र उसमें अनधिकृत रहेगा। शम्बूक-शूद्रकी तपस्या भी 'कर्म' है। उसके भी वादीके अनुसार अनधिकारी शूद्र की तपस्यामें प्रवृत्ति करनेसे राजा श्रीरामद्वारा दण्डविधानको भी वादी आलोचित नहीं कर सकता; क्योंकि—वादी भी तो शूद्रको कर्ममें कात्यायन तथा जैमिनि आदि विद्वानोंके अनुसार अनधिकृत मानता ही है, और उसे अनुमोदित भी करता है।

आगे वादी लिखता है—'नहुष आदि क्षत्रिय भी वेदके ऋषि हैं; कई वैश्य भी होंगे, इससे वादीके पक्षकी कुछ भी सिद्धि नहीं; वैश्य भी द्विज हैं। पर शूद्र तो कोई भी वेदका ऋषि नहीं। ऋषि भी तो ज्ञानसे ऋषि नहीं बनता, किन्तु उसे विना ही प्रयत्न वा अध्ययनकी चेष्टाके वेदमन्त्र स्वत: ही प्रतिभात हो जाते हैं।

फिर वादी लिखता है—'वेद एककी सञ्चित सम्पत्ति नहीं हैं, वे सभीके ही हैं। फिर एक ही उनका उपभोग क्यों करे ?" इसपर उत्तर यह है कि—वेदका अधिकारी 'द्विज' है; वह एक नहीं है, तीन हैं। वेद उन्हीं तीनोंकी अधिकृत सम्पत्ति है। उसका द्विजेतर उपभोग नहीं कर सकते, क्योंकि—शूद्रादि वादीके अनुसार भी कर्ममें अनधिकृत हैं। वेदका अध्ययन भी कर्म ही है। यदि वे शूद्रादि वेदादिका उपभोग करें; तो यह वेदादिशास्त्रोंसे विरुद्ध है। वे 'अद्विज' हैं। वेदका अध्ययन यह एक 'कर्म' है। वादी स्वयं भी शूद्रको कर्ममें अनधिकृत मानता ही है; तब शूद्र भला

तद्विरुद्ध वेदका अध्ययन कैसे करेगा ? न वह वेद पढ़ सकेगा, और न ही उसका अर्थ-विचार कर सकेगा। अत: उसकेलिए ज्ञान भी निरर्थक-दुरर्थक ही है।

"कर्ममें कौन अधिकारी है' यह विचार कर्मियोंके घरमें रहा करे, परन्तु ब्रह्माध्या(ज्ञा)नमें सबका अधिकार है" यह वादीका कथन निर्मूल है। ज्ञान कर्मसे उच्च होता है; उसमें उच्च हंस-परमहंसादिका अधिकार होता है, सर्वसाधारणका नहीं। वेद भी कर्मकाण्ड हैं; हाँ, कहीं-कहीं उनमें ज्ञान भी है; उसमें अधिकार चतुर्थाश्रमी ज्ञानीका है; सभीका नहीं। तब भला कर्मके अधिकारसे हीन त्रिविध-शुद्धिरहित शूद्रादिका तो उसमें अधिकार सर्वथा नहीं होगा। जब शूद्र, अध्ययनादि-कर्ममें प्रवृत्त नहीं हो सकता; तब उसका ज्ञान ही कैसे कर सकेगा ?

'वेदाध्ययनमें भी सभीका अधिकार है' यह वादीका कथन अपने कथनसे भी व्याहत है. क्योंकि—वादी कर्ममें स्वत: शूद्रको पर्युदस्त (निषिद्ध) करता है; वेदाध्ययन भी एक कर्म है; और फिर वेद भी कर्मके ८० प्रतिशत तथा उपासनाके १६ प्रतिशत मन्त्र मिलाकर ९६ प्रतिशत कर्मकाण्ड ही है, उसमें अकर्मी शूद्रका वादीके अनुसार भी भला अधिकार कैसे हो ? इसलिए ९६ चप्पे वाले उपनयन तथा उसके फल वाले वेदमें तथा वैदिक-उपासनामें भी वह अधिकृत नहीं होता। इसलिए उसका उपनयन भी नहीं होता।

फिर आता है ज्ञानकाण्ड, उसमें यद्यपि उपनयनकी आवश्यकता नहीं होती, तथापि उसमें भी अधिकार शूद्रोंका शास्त्रानुसार नहीं हो सकता। जो संन्यासी तथा ज्ञानी, कर्मियोंसे भी उच्च माना जाता है; वहाँ भला अकर्मा-शूद्रका अधिकार कैसे हो ? ज्ञानियोंको तो वह कर्मकाण्डवाला जनेऊ भी छोड़ना पड़ता है। शूद्रकेलिए वेदमें कहा है—'अकर्मा' (ऋ. १०।२२।८) 'अदेवयु:' (ऋ. ८।७०।११) अत: उसका देवपूजात्मक यज्ञ एवं उपासनामें तथा यज्ञविषयवाले वेदमें और वेदमन्त्र-प्रतिष्ठापित

मूर्तिमें भी अधिकार नहीं होता।

आगे वादी लिखता है—'गौतमवचन तो अवैदिक है-यह हम ऊपर बता चुके हैं'।

गौतमवचनकी अवैदिकतामें वादीने कुछ भी हेतु नहीं लिखा। वह तो शूद्रको वेदाधिकारका प्रबल-निषेध करनेवाला एक अर्थवाद-वाक्य है। अर्थवादके रोचक-भयानक आदि कई प्रकार होते हैं; जिनमें विधि तथा निषेधका मुख्य तात्पर्य रहा करता है।

एक अर्थवादका आदर्श हम भी दिखलाते हैं। एक पहुंचे हुए साधु थे; उनकी एक पुरुषने समुचित सेवा-शुश्रूषा की; जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने उसे वर दिया कि—तुम्हें टट्टी-पेशाब खुला आ जाया करे। वैसा ही हुआ; और उसका स्वास्थ्य भी बहुत अच्छा हो गया। वरके बलसे उसे भूख भी खूब लगती थी; और भोजन भी स्वत: प्राप्त हो जाया करता था।

उसकी स्त्रीने कहा कि—यह भी क्या कोई वर है? टट्टी-पेशाब सभीको खुला आ जाया करता है, आप यह वर माँगिये कि—हमें हर-रोज मलाई, रबड़ी, बर्फी, गुलाब-जामुन, खीर आदि मिला करे। वह उस साधुके पास गया, और १५ दिन तक उसकी खूब सेवा की। साधु ने कहा कि—फिर कैसे आये हो? उसने कहा कि—वरमें परिवर्तन कराना है। उसने अपना मनोरथ कह दिया। साधुने कहा—तथास्तु।

प्रतिदिन रबड़ी-मलाई आदि गरिष्ठ पदार्थ मिलने लगे। इससे उसे कभी अनपच हो जाती थी, और कभी कब्ज हो जाती थी। उससे वह पुरुष बीमार रहने लगा। कभी कहीं उसे वायुका दर्द होता; कभी कोई अन्य रोगकी शाखा निकल पड़ती।

घरवालीको वह कहने लगा कि—मुझे तुमने यह वर मंगवाकर बड़ी तकलीफ दी है। अब मैं प्राय: अस्वस्थ रहने लगा हूं। पहला वर ठीक

था, उसमें मुझे अस्वस्थता तो कभी होती ही नहीं थी। यह कहकर वह फिर उस साधुके पास गया। उसकी १५ दिन फिर सेवा-शुश्रूषा की। साधुने कहा कि—फिर कैसे आये?

उत्तर दिया—इस वरसे तो मैं घबड़ा गया हूँ। रोज मीठा खानेसे मैं उकता गया हूं, और अस्वस्थ भी रहने लगा हूँ। आप फिर वही वर दीजिये कि—टट्टी-पेशाब खुला आ जाया करे। साधुने 'तथास्तु' कह दिया। अब वह पूरा स्वस्थ हो गया। उस वरकी शक्तिसे उसे योग्य भोजन भी स्वत: प्राप्त हो जाता था।

इस कहानीको नहीं देखना है। यह तो अर्थवाद है—इसका तात्पर्य देखा जाता है कि—टट्टी-पेशाब खुला आ जाया करे; तो पुरुष कभी अस्वस्थ नहीं होता। उसकी आयु बढ़ती है। इस प्रकार शूद्रका वेदाध्ययन हटवाना था; तब उस गौतमसूत्रमें अर्थवादसे बड़ा कठोर दण्ड लिखा गया। सो उसका वहाँ वेदाध्ययनका प्रबल निषेध करना ही तात्पर्य-विषय है। तब इसमें अवैदिकता क्या? वेदाध्ययनके निषेधसे ही वेदके तीन काण्डों-वैदिक कर्म तथा वैदिक-उपासना और वैदिक-ज्ञानका स्वत: निषेध हो जाता है। सृष्टिकी आदिसे लेकर स्वा.द.से पूर्व तक किसीने भी शूद्रका वेदमें तथा उसके तीनों वैदिक-काण्डोंमें अधिकार नहीं माना। इसीके फलस्वरूप श्रीरामने वैदिक-द्विजोंवाली उपासना-तपस्या करनेवाले शूद्रको दण्डित किया। उसका परिणाम यह हुआ कि—फिर इतिहासमें शूद्र-द्वारा इस काण्डकी आवृत्ति नहीं आई।

पूर्वपक्ष—'समानो मन्त्र: समिति: समानी...समानं मन्त्रमभिमन्त्रये व:' (ऋ. १०।१९१।३) इस मन्त्रसे सभी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंका समान-मन्त्र कहना भी वेदोंके सर्वाधिकारको समर्थित करता है' (उत्तरपक्ष) यह भी ठीक नहीं। यह ऋत्विजोंकेलिए कथन है—चातुर्वर्ण्य-केलिए नहीं। इस विषयमें पृ. ३५९-३६१ देखिये।

पूर्व.—इससे सिद्ध हुआ कि–सभी शूद्रविषयक निषेध कर्मकाण्डके, यज्ञादिकेलिए है; गौतमका वचन तो अवैदिक होनेसे आदर्तव्य नहीं है। इस व्यासदर्शनमें अपशूद्राधिकरण भी नहीं है, उस अधिकरणके गौतम-वचनके आश्रित होनेसे और गौतमके व्यासकालसे भिन्नकालीन होनेसे उस सूत्रका आशय इसमें किसी प्रकार भी नहीं घटता।

उत्तरपक्ष—जब वादीके अनुसार सभी शूद्र-विषयक निषेध कर्म-काण्डपरक ही हैं; उनका अध्ययन भी कर्म है। कर्ममें वादी शूद्रको स्वयं अनधिकृत मानता ही है। वेदमें ज्ञानकाण्ड तो क्वाचित्क ही है। तब इनमें शूद्रका अनधिकार तदवस्थ ही रहा। गौतमवचनकी अवैदिकतामें कुछ भी प्रमाण वादिद्वारा नहीं दिया गया है। दण्डकी कठोरतासे अवैदिकता नहीं हो जाती। बल्कि शूद्रकी वेदानधिकारिता ही इस दण्डपारुष्यसे सिद्ध हो जाती है।

गौतम व्यासकालसे भिन्न भले ही हों; पर श्रीव्याससे पूर्वके हैं; और गौतमवचन वैयासिक-सूत्रके अक्षरोंसे भी निकल रहा है, अतः श्रीव्यासको वह सम्मत ही है। वादीको 'श्रवणाध्ययन' सूत्रके अपने भाष्यमें बलात्कार करनेपर भी ऐसा कोई स्मृतिवचन नहीं मिल सका, जिससे अध्यात्मविद्याके श्रवण, अध्ययन तथा अर्थ जाननेका शूद्रको साक्षात् निषेध किया गया हो; ऐसा तो गौतमधर्मसूत्रमें उद्धृत उक्त-वचन ही है, या श्मशानवाला वचन है। जो ब्रह्मसूत्रके सूत्रसे पूरा मेल खाता है। अन्य सभी भाष्यकार-आचार्योंने भी उसीको उद्धृत किया है, यह आगे बताया जावेगा; यह वादीकी संस्कृतभाष्यकी आपत्तियोंका निरसन हमने कर दिया, अतः वादीका पक्ष असिद्ध हो गया। कई लोग जानश्रुतिको निर्मूलतासे शूद्र मानते हैं; पर वादीने उसे इस भाष्यमें क्षत्रिय माना है–यह अन्य प्रतिपक्षियोंको जान लेना चाहिये।

(ख) अब वादीने इस विषयमें हिन्दीमें भी कुछ लिखा है, हम उसके अपेक्षित अंशपर भी कुछ विचार रखेंगे। वादीके यह शब्द हैं—'समाधि-

द्वारा भी मैंने इसका पूर्ण विचार किया, परन्तु मुझे यहां अपशूद्राधिकरण प्रतीत नहीं हुआ' (पृ. ५१)।

(विचार) समाधिमें श्रीगान्धिजीकी 'हरिजन-मन्दिर' की छायाका आवरण पड़ा हुआ होगा; अतः परम्परासे आया हुआ 'अपशूद्राधिकरण' भी वादीको प्रतीत नहीं हुआ। आश्चर्य है कि–फिर श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्ल गाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, यति-पण्डितभगवत्पादाचार्य यह सब क्या अविद्वान् थे; वा उनकी ग्रहणशक्तिमें कुछ न्यूनता थी, जोकि–सभीने यहाँ 'अपशूद्राधिकरण' स्वीकृत किया?

"इस प्रकरणमें शूद्रका नाम भी नहीं है" यह कथन गलत है–'शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि' (१।३।३४) इस सूत्रमें 'शूद्र' शब्द दहीमें माखनके समान विद्वज्ज्ञेय है, और वह ताण्ड्यमहाब्राह्मणकी छान्दोग्योपनिषद्के 'जानश्रुति' के शाब्दिक-शूद्रत्वमें वास्तविक शूद्रत्वकी आशङ्का दूर करनेकेलिए प्रतीत हो रहा है कि यह 'अपशूद्राधिकरण' ही है।

"व्यासके समय तक समाजमें शूद्रकी कोई नियत परिभाषा नहीं थी"। (वि.) यह भी बात ठीक नहीं। 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' यह वेद-कालसे ही शूद्रकी जन्मसिद्धता स्पष्ट हो रही है। 'तपसे (कृच्छ्रकर्मणे) शूद्र" (यजुःमाध्यं. ३०।५) में भी।

"चाहे जो शूद्र हो सकता था; और चाहे जो ब्राह्मण बन सकता था" (वि.) यह बात भी वादीकी गलत है। शूद्र तो एक निन्दित वर्ण है; तब वादीके अनुसार 'शूद्र' बनना भला कौन पसन्द कर सकता था? युधिष्ठिर-भीमसेन दोनोंके परस्पर-विरुद्ध गुणकर्मा होनेपर भी उन्हें जन्मसे क्षत्रिय कहा गया है। अश्वत्थामाके, ब्राह्मण-विरुद्ध गुणकर्म होनेपर भी उसे महाभारतमें ब्राह्मण कहा गया है शूद्र नहीं; धर्मव्याध तथा विदुर

आदिके ज्ञानी होनेपर भी उन्हें 'शूद्र-योनि' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि-वर्णव्यवस्था उस समय भी थी; और जन्मसे थी। गुणकर्मानुसार नहीं थी।

'जो, जो बनना चाहे, सो बन सकता था' यह बात जैसा कि वादी कहता है-नहीं थी। उपनिषद् श्रीवेदव्याससे पहले थे। उपनिषद्के क्षत्रिय ब्रह्मविद्याभिज्ञ होते हुए भी क्षत्रिय ही कहे गये, ब्राह्मण नहीं। वे ब्रह्मविद्याऽनभिज्ञ भी जन्म-ब्राह्मणोंको ब्राह्मण ही मानते थे; और उनका सम्मान भी वही ब्राह्मणों वाला करते थे, उनसे घृणा नहीं करते थे। उपदेष्टा एवं गुरु होनेपर भी क्षत्रिय उन ब्राह्मणोंका उपनयन नहीं करते थे; अर्थात् उनमें शिष्यभाव आसञ्जित नहीं करते थे। उन्हें अपने गुरु-जैसा मानते थे। महाशय, यह कहनेवाले आपके मस्तिष्कपर दयानन्दियोंका कुप्रभाव पड़ा हुआ प्रतीत होता है। आपने आवेशमें आकर यह अनर्गल बातें लिख दी हैं। आप गम्भीर होकर आलोचना किया करें। क्रोधमें, आवेशमें, तैशमें न आ-जाया करें। अपने पुराने सनातनधर्मसे घृणा करना छोड दें।

"यदि महाभारतके यही व्यास हैं, तो उसमें यही लिखा है, जो मैं कह रहा हूं"। (वि) वादीपर विद्वत्ताकी अन्तिम अवधि नहीं है। यह कथन वादीका भ्रमपूर्ण है, पहले हम इसका संकेत दे चुके हैं।

"जहां-तहां पुराणोंमें भी ऐसा लिखा है, जैसा मैं कह रहा हूं" यह बात ठीक नहीं। ऐसे जो महाभारत वा पुराणके वचन प्रतीत होते हैं; उन सबका समाधान हम 'आलोक' (८) में कर चुके हैं। वैसे प्रमाण केवल कर्मके प्रशंसार्थवाद हैं; वैसी वर्णव्यवस्था बताने वाले नहीं हैं।

"उपनिषदोंमेंभी यही लिखा है, जो मैं कह रहा हूं" यह बात भी वादीकी ठीक नहीं। जो आप कह रहे हैं; वह निर्भ्रान्त सत्य ही हो, यह भी ठीक नहीं। उपनिषदोंमें ही कई ब्राह्मण, क्षत्रियोंके पास ब्रह्म-विद्याध्ययनार्थं गये; वे उपदेशक क्षत्रिय भी क्षत्रिय ही माने गये हैं,

उपदिश्यमान-ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही रहे हैं। अत: वादीका आत्म-विश्वास भ्रान्तिमात्रका ही दुर्विलास है।

"तब व्यास यहाँ 'अपशूद्राधिकरण' कैसे लिखते? तब तक शूद्र कोई नियत प्राणी नहीं था, तो भी, नियत था, तो भी अपशूद्राधिकरण कैसे लिखा जा सकता था?"

यह बात भी ठीक नहीं। चार वर्ण वेदकालसे ही चले आये हैं। प्रासङ्गिक अधिकारिनिरूपणके अवसरपर शूद्र उसमें अनधिकारी ही है-यह सूचित करना ही 'अपशूद्राधिकरण' का लक्ष्य है। नहीं तो उक्त प्रकरणमें प्रतीत हो रही हुई जानश्रुतिकी शूद्रताका खण्डन न किया जाता। इस खण्डनसे ही इस प्रकरणकी 'अपशूद्राधिकरणता' सिद्ध हो रही है।

'मैं नहीं मानता, परन्तु लोग कहते हैं कि-व्यासने ही एकके चार वेद किये। वैदिकभाष्यमें मैं एक प्रमाण भी महाभारतका लिख आया हूं' जब आप भी एक प्रमाण ऐसा लिख आये हैं; तब 'लोगोंका कथन' यह कैसे मानते हैं? और फिर उस प्रमाणको मानते भी क्यों नहीं? पहले मन्त्र-ब्राह्मण ऋचा, यजु:, साम विकीर्ण थे, श्रीव्यासने उनको मन्त्रक्रमसे ही विभक्त कर दिया, बनाया नहीं; अत: इसकेलिए उनका नाम 'वेदव्यास' प्रसिद्ध हो गया; निर्माणसे नहीं। श्रीपाददामोदर-सातवलेकरने 'दैवत-संहिता' प्रकाशित की है। जिसमें वर्तमान चार वेद-संहिताओंके प्रत्येक देवताके मन्त्रोंका सङ्कलन है। सो यह सातवलेकर-जीका निर्माण नहीं है; किन्तु एक-एक देवताके पृथक्-पृथक् मन्त्र एक स्थान संगृहीत कर दिये हैं।

"यदि व्यासजी वेदके व्यसिता थे; तो चारों वेदोंके अक्षर एक बार उनकी दृष्टिमें अवश्य आ चुके होंगे। एक भी मन्त्र, आधा भी मन्त्र, मन्त्रका कोई भी भाग वह बता सकते थे कि-जहाँ वेदोंका अध्ययन शूद्रोंकेलिए निषिद्ध हो'।

वादीका यह आक्षेप स्वयं उसके अपने कथनसे भी व्याहत है। क्योंकि—शूद्रोंको वादी भी कर्ममें अन्य आचार्योंकी भाँति अनधिकृत मानता है। अध्ययन भी कर्म है, सो शूद्र उसमें अधिकृत कैसे हो सकता है? और यह भी बताया जावे कि—वादी क्या इन्हीं चार पोथियों-को चार वेद मानता है? वस्तुतः यह अज्ञान है। ११३१ संहिता, उतने ही ब्राह्मण, उतने ही आरण्यक, उतनी ही उपनिषदें यह सारा साहित्य 'चार वेद' है।

वादी यह बात यदि नहीं मानता; तो वह बतावे कि—सामवेदकी कौथुमीसंहिता सामवेद है, वा राणायनी संहिता?' स्वा.द. तथा उनके अनुयायी 'कौथुमसंहिता' को सामवेद मानते हैं, और वादी यदि वेद-विषयमें आर्यसमाजको मान्य करता है; तब राणायनी-संहिता सामवेद न रही; तब वादीने उस राणायनी-संहितापर भाष्य कैसे किया? तब वैसा लिखना चाहिये था। आपने उसपर 'सामवेद'-संहिता कैसे लिख दिया? वादीका मत भ्रान्त है।

यदि वेदकी सभी संहिता 'वेद' सिद्ध हुई; तो ११३१ सभी संहिताएं ही ब्राह्मण-सहित 'चार-वेद' सिद्ध हुई; तब केवल 'वर्तमान चार संहिता ही वेद हैं, अन्य नहीं' यह आजकलका मत भी भ्रान्त सिद्ध हुआ; क्या यह वादी मानता है? यदि हाँ; तो इसी प्रकार उतनी ही मन्त्र-संहिता (११३१), उतने ही ब्राह्मण, उपनिषदें और आरण्यक भी मिलकर 'चार वेद' निष्पन्न हुए; क्योंकि—'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्' यह 'प्राचीन-सिद्धान्त' है; 'समस्त' होनेसे इसमें केवल मन्त्र वा केवल ब्राह्मणको पृथक् नहीं किया जा सकता। वैसा करनेपर फिर '११३१ प्रकारका मन्त्र भी 'चार वेद' नहीं बनाया जा सकता। यदि वादी इस मतको मान लेता है; तो उसका वेद-सम्बन्धी आर्यसमाजियोंवाला मत भी कि—'यह वर्तमान च[illegible] संहिता ही वेद हैं' यह कट गया। और उसका 'राणानीय-संहिता' पर भाष्य भी 'सामवेद-संहिता' का भाष्य सिद्ध न हुआ।

इसी वादीके अभिमत वेदोंमें भी जिसे व्यासजीने पूर्वसे ही देख रखा था—"वेदमाता...द्विजानां' (अ. १९।७१।१) यह शब्द अद्विज-शूद्रोंकेलिए वेदको निरुद्ध कर रहे हैं। क्योंकि—अद्विज-शूद्रका कार्य है कि—प्रजाकी सेवा, प्रजाके राष्ट्रकी रक्षाकेलिए अस्त्र-शस्त्रादि निर्माण करे। यह बड़ा कृच्छ्र-कर्म है। 'तपसे शूद्र' (यजुः ३०।५) में आजके सभी सुधारकोंने 'तपः' का अर्थ 'कृच्छ्र-कर्म'-सेवा ही माना है; सो शूद्रको यदि वेदका रास्ता दिखा दिया जावे; तो यह उसे उन कृच्छ्र-कर्मोंसे विरत कर देगा; इससे भारी राष्ट्र-द्रोह हो जायगा। यह वेदविरुद्ध मार्ग होगा।

"इतनी मूर्खतापूर्ण बात वेदोंमें हो ही नहीं सकती। यदि हो सकती है; तो वह ईश्वरीय-ग्रन्थ ही नहीं है"।

देख लिया पाठकगण यह वादीकी वेदमें श्रद्धा है!!! तब क्या, आज तक जितने प्राचीन-आचार्य हो चुके हैं, जिन्होंने शूद्रका वेदमें अधिकार नहीं माना; वे ही मूर्ख थे! क्या विद्वत्ताकी सीमा वादीकी ही अपनी वुद्धि है; जिसमें उनके वैश्य-गुरुजीका शूद्रको ऊंचा चढानेका कलुषित जंग चढ़ा हुआ है। और वादीकी बुद्धि भी तो अस्थिर है। 'दास' से शुरू करके वे अब 'आचार्य' बन बैठे। इस ९३ वर्षकी अवधिमें उनके कितने विचार परिवर्तित हुए, विलीन हुए, नये निकले। अभी अन्य उनके नये स्वैरा-चारानुसार विचार निकलते रहेंगे। बहुतोंको मूर्ख बनानेके बजाय एकको ही 'मूर्ख' क्यों न मान लिया जाय?

न्यायदर्शनके ४।१।६२ सूत्रके वादिप्रतिवादिमान्य श्रीवात्स्यायन-भाष्यमें संन्यासाश्रमकी सिद्धि करते हुए कहा गया है—'अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहारलोपाद् लोकोच्छेद-प्रसङ्गः' (यदि धर्म-शास्त्रको अप्रमाण माना जावे; तो लोकव्यवहारका उच्छेद हो सकता है)। 'द्रष्टप्रवक्तृ-सामान्याच्च अप्रामाण्यानुपपत्तिः' (वेदादि तथा धर्म-शास्त्रादिके द्रष्टा एवं प्रवक्ता समान हैं; अतः धर्मशास्त्रोंको अप्रमाण भी नहीं माना जा सकता। इसीको 'स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो

विदु:' इस भाष्यकी परिभाषासे भाष्यकार स्वयं स्पष्ट करते हैं-) ये एव मन्त्र-ब्राह्मणस्य [वेदस्य] द्रष्टार: प्रवक्तारश्च; ते खलु इतिहास-पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च [द्रष्टार: प्रवक्तारश्च] (जिन्हीं ऋषि-मुनियोंने मन्त्र-ब्राह्मण (वेद) का समाधिमें दर्शन एवं मुखसे प्रवचन किया है; उन्हीं ऋषि-मुनियोंने [मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदके भाष्यभूत] इतिहास-पुराण तथा धर्मशास्त्रोंका दर्शन एवं प्रवचन किया है। 'विषयव्यवस्थानाच्च यथा-विषयं प्रामाण्यम्' (मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद तथा इतिहास-पुराण तथा धर्मशास्त्रोंकी विषयविभागानुसार अधिक-प्रमाणता है। इस अपने वार्तिकको भाष्यकार स्पष्ट करते हैं) 'अन्यो मन्त्र-ब्राह्मणस्य विषय:, अन्यश्च इतिहासपुराण-धर्मशास्त्राणामिति।

यज्ञो मन्त्र-ब्राह्मणस्य [विषय:], लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोक-व्यवहारव्यवस्थापनं च धर्मशास्त्रस्य विषय:। (मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदका प्रमुख विषय अन्य है, और इतिहास-पुराण तथा धर्मशास्त्रका प्रमुख-विषय अन्य है। मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदका प्रमुख विषय यज्ञ है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदके उदाहरण-प्रत्युदाहरणभूत भूतार्थवादरूप-इतिहास-पुराणका प्रमुख विषय लोकवृत्तका प्रतिपादन है, और धर्मशास्त्रोंका प्रमुख-विषय लोकव्यवहारकी व्यवस्था करना है।) 'तत्र एकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते-इति यथाविषयम् एतानि (मन्त्रब्राह्मण-इतिहासपुराण-धर्मशास्त्राणि) प्रमाणानि इन्द्रियादिवद् इति' (एकसे सारी व्यवस्थाए कभी नहीं हुआ करतीं; अत: यह मन्त्र-ब्राह्मण, इतिहास-पुराण तथा धर्मशास्त्र (स्मृतियाँ) अपने-अपने विषयमें इन्द्रियोंकी भांति अधिक प्रमाण हैं।

जैसे इन्द्रियां अपने-अपने प्रमुख-विषयमें अधिक-प्रधान होती हैं, जैसे नाक अपने प्रमुख-विषय-सूंघनेमें अधिक-प्रमाण है', आंख अपने प्रमुख-विषय-देखनेमें अधिक-प्रमाण है, जीभ अपने प्रमुख-विषय रस लेनेमें अधिक प्रमाण है; वैसे ही मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेद अपने प्रमुख-विषय यज्ञमें अधिक-प्रमाण हैं। इतिहास-पुराण अपने प्रमुख-विषय लोकवृत्त-

बतानेमें अधिक-प्रमाण हैं। धर्मशास्त्र (स्मृतियां) अपने प्रमुख-विषय लोकव्यवहारकी व्यवस्था करनेमें अधिक-प्रमाण है।

मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेद तो उन सब इतिहासपुराण तथा धर्मशास्त्रोंके मूल देखनेमें कारण होनेसे सबसे बड़े हैं कि-इतिहासपुराणादिमें उस मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदसे कहीं विरुद्धता न आ जावे। साक्षात् विरोध आने-पर वे इतिहास-पुराणादि उतने अंशमें अप्रमाण हैं। पर यदि साक्षात् विरुद्धता न हो; और न ही उसका मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदमें अनुमोदन हो; तब 'विरोधे त्वनपेक्षं स्याद् असति ह्यनुमानम्' (१।३।३) (यदि स्मृत्यादि वचनका वेदसे साक्षात् विरोध हो; तो वह उतने अंशमें अप्रमाण होनेसे उपेक्षणीय हैं; यदि वेदसे उनका साक्षात् विरोध न हो; तब उसे प्रमाण ही मानना चाहिये, और यदि उसका अनुमोदन वेदमें न मिले; तो अनुमान कर लेना चाहिये कि—यह किसी लुप्तसंहितामें होगा।)

यहां यह बात याद रख लेनी चाहिये कि—'मन्त्र' से ११३१ संहिताएं, तथा ब्राह्मणसे ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषदें एवं आरण्यक लेने चाहियें, क्योंकि-यह सारा साहित्य चार वेद हैं।

इस वात्स्यायनके वचनको आर्यसमाजके रिसर्च-स्कालर श्रीभगवद्दत्तजी बी.ए.ने भी प्रमाण माना है—यह हम 'आलोक' के किसी पुष्पमें उनके 'भारतवर्षका वृहद् इतिहास' से उद्धृत कर चुके हैं।

कभी आप वेदोंको अपौरुषेय मानते हैं, कभी पौरुषेय। कभी राम-सीता आदि वेदसे निकल पड़ते हैं, कभी वे अवैदिक बन जाते हैं। आपमें चित्तस्थैर्य न होनेसे 'समाधि' भी नहीं हो सकती। अत: आपका मत ही अमान्य है। आप वेदको ईश्वरीय-ग्रन्थ मानते ही कहां हैं? उसकी त्रुटियां निकालते रहते हैं, देखिये अपनी भाष्य-भूमिकाओंको।

"पारसियोंकी पवित्र किताबको, ख्रिस्तियोंकी पवित्र किताबको, मुसलमानोंकी पवित्र किताबको यदि मनुष्यमात्र पढ़ सकता है, तो हिन्दुओंकी पवित्र किताब [वेद] को कमसे कम प्रत्येक हिन्दु अवश्य

पढ़ सकता है ?" (उ.) वे लोग द्विजेतर हैं, 'न शयानः पतत्यधः' के अनुसार पहलेसे ही निम्न हैं, यदि उनमें अधिकारानधिकार-विचार नहीं है, वह ठीक है। पर उच्च-वेदमें अधिकारानधिकारचिन्ता तो स्वाभाविक है।

तभी तो वेदकेलिए उपनयन पहरा जाता है, और वह उपनयन त्रैवर्णिकोंका होता है, अत्रैवर्णिकोंका नहीं; तब क्या उन अत्रैवर्णिकोंको प्राचीन-आचार्योंका अधिकार न देना—यह 'जंगलीपन' है ? वादीके अपने विचार भी 'जंगली' हुए। क्योंकि जब वादी शूद्रको कर्ममें अनधिकृत मानता है; उसमें अन्य कात्यायन-जैमिनि आदिकी साक्षी भी बताता है; तब वेदाध्ययन भी तो 'कर्म' ही है, तब उसमें अनधिकृत-'शूद्रको अधिकृत करना' क्या वादीका अपना 'जगलीपन' नहीं ! व्याघात नहीं ?

अब 'आलोक'-पाठकगण वादीका 'नागरिकत्व' (?) भी देखें। वे लिखते हैं—

"परन्तु इससे बढ़कर दूसरी जड़ता और जंगलीपन नहीं हो सकता, कि—ईश्वरको जगत्स्वामी बनाना और वह जगत्के अमुक-लोगोंको ज्ञानोपदेश करे, और अमुकको मूर्ख रखे। **उस ईश्वरसे अधिक दुष्ट और अयोग्य कोई हो ही नहीं सकता,** जो हिन्दुओंको ज्ञान-गुटका दे, और १०० वर्ष पूर्ण होने तक मुसलमानों, पारसियों, ख्रिस्तियोंको अन्धेरेमें रखे। ऐसे रागी, द्वेषी, पक्षपाती और कलह करानेवाले ईश्वरकी जगत्को क्या आवश्यकता है ?"

देखा पाठकगण ! यह ईश्वरको कितनी 'भीषण उपाधियां' (?) दी गई हैं। जब तक आप भगवान्के 'दास' थे; तब तक तो ईश्वरको ज्ञान था; जब आप उस भगवान्के ही 'आचार्य' (भगवदाचार्य) बन बैठे; तब ईश्वर अज्ञानी हो गया; अब उसको गालियाँ क्यों न मिलें ? अरे ! भाई ! भगवान्की निष्पक्षता देखो, उसने केवल मुसलमानों आदिकेलिए अपने पवित्र ग्रन्थका द्वार बन्द नहीं रखा; बल्कि हिन्दुओंमें भी त्रैवर्णिकेतरकेलिए; बल्कि ब्रह्मबन्धुकेलिए भी वेदके द्वार बन्द रखे हैं।

राजाका भवन प्रत्येक नहीं देख सकता; वही देख सकता है जिसके प्रमाण-पत्र प्राप्त है, 'परमिट' मिला हुआ है। अन्य नहीं देख सकता। इसमें कोई विरुद्धता नहीं। कुछ भी जंगलीपन नहीं।

वह प्रमाण-पत्र (परमिट) है 'द्विजत्वापादक उपनयन'। तब आप वेद न चाहते हुए भी तद्भिन्नोंको वेद उनके गलेमें बलात् मढकर उन्हें भड़काकर अपने ही लोगोंको दूसरोंसे मरवाना चाहते हैं ? यही आपका 'ब्रह्मज्ञान' है, यही 'सहिष्णुता' है। अपने राग-द्वेष, कलहप्रियता, क्रोधनत्व तथा पक्षपातको ईश्वरमें संक्रान्त कर रहे हैं ? क्या यही 'ब्रह्मसूत्र' का वैदिक-भाष्य है ? यह तो आप उन ज्ञानलवदुर्विदग्धोंके कुतर्कोंको अपनाकर स्वयं 'हैतुकी' बनकर अपनी विद्वत्ताका दिवाला निकाल रहे हैं !!!

"ऐसा ही यदि ईश्वर होता है; तो हिन्दुस्तानमें आज १००-२०० या ४० करोड़ ईश्वर मौजूद हैं; जिनके सिरपर अग्रेजोंने दोसौ वर्षोंसे अचल और अकम्प पैर रख छोड़ा है" महाशय, अब वह पांव अचल और अकम्प नहीं रहा। अब अंग्रेज भी नहीं रहा। अब अंग्रेजोंके दूसरे सस्करण आप-जैसे पधारे हैं। पता नहीं—इन अप्रासङ्गिक बातोंसे दूसरोंके अमूल्य समयको खराब करना—क्या यही 'वैदिक-भाष्य' है ? यह तो अस्थिरचित्त-व्यक्तियोंका राग (?) है।

"वेदवक्ता जानते ही होंगे कि—'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि' इस यजुर्वेदके दयानन्दकालसे प्रसिद्ध मन्त्रके द्वारा आर्य और अनार्य सब प्रजाको वेदाधिकार दिया गया है।"

इससे सिद्ध हुआ कि—दयानन्दसे पूर्व एक अरब-सत्तानवे करोड़ वर्षोंसे पूर्व तक उक्त-वेदमन्त्रका यह अर्थ नहीं था; यह तो सं. १९३२ के बाद बलात् गढ़ा हुआ अर्थाभास है। तब दयानन्दका जो यह अर्थ है, क्या वह ईश्वरको भी सं. १९३२ से ही स्वीकार्य है ? जब वादीको ही यह अर्थ स्वीकार्य नहीं, नहीं तो वह दयानन्दका नाम न लेता; तब दूसरेको क्या स्वीकार्य होगा ? इस विषयमें इस पुष्पके २रे पृष्ठसे ५५ पृष्ठतक वादी...

सकता है। इस मन्त्रसे किसी भी प्राचीन-आचार्यने सभी अन्त्यजान्तको वेदाधिकार देना नहीं माना है; तब क्या यह कोई ज़ोर-ज़बर्दस्ती है कि-ईश्वरको भी वही अर्थ माननेकेलिए बाध्य किया जावे ?

"जिसे पढ़ना आता होगा, उसे वेद पढ़नेसे कौन रोकेगा ? आज प्रेसके जमानेमें तो वेदाध्ययन रोकनेवाला कोई पैदा ही नहीं हुआ है, ऐसा हो ही नहीं सकता" जिसका जिसे अधिकार नहीं होता; उसे यदि कोई प्रभुके कथनके खिलाफ हथिया लेता है; तो इसलिए क्या वह उसका अधिकार हो जायगा ? कोई आततायी किसीकी लड़कीको या धनादिको छीनकर भाग जावे; तब क्या उसका उसका अधिकार वैध हो जावेगा ? आजकल ही यह आपाधापी मची हुई है कि-प्राचीन आर्ष-साहित्यका अनुसरण न करके डेढ़ चावलोंकी अलग-अलग खिचड़ी पकाई जा रही है। आप ही शूद्रका कर्ममें अधिकार न मानकर भी उसे वेद-पठनका कर्म देकर व्याघात करते हैं !

'सिनेमाओंमें ज्ञानेश्वरके चित्रपटमें भैंसके मुँहसे वेदमन्त्र बोलाये जाते हैं, और ब्राह्मण, शूद्र, मुसलमान, खिस्ती सभी सुनते रहते हैं", महाशय ! इसका नाम वेदाध्ययन नहीं हो जाता। 'क्रमेण विधिपूर्वकम्' (मनु. २।१७३) क्रमसे विधिपूर्वक पढ़ने वा सुननेका नाम वेदाध्ययन होता है, अवैध तथा अक्रमसे वेदका पढ़ना वा सुनना वेदाध्ययन नहीं हो जाता। बाजारोंमें छोटे अनुपनीत बच्चे भी गायत्रीमन्त्रादि वेदमन्त्र बोल रहे होते हैं; इसका नाम वेदाध्ययन नहीं होता।

"अतः यह भ्रम टूट ही जाना चाहिये कि-वेदोंको अमुक ही पढ़ सकता है, सुन सकता है, अमुक नहीं"। यदि ऐसा होता; तब उसकेलिए त्रैवर्णिकोंके उपनयन-संस्कारकी क्या आवश्यकता थी; जिसे प्राचीनोंने वेदके अधिकार-प्राप्त्यर्थ द्विजोंकेलिए नियमित कर दिया था'। यजुर्वेद शतपथब्रा.ने लिखा है—'नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरो, न पशवः। मनुष्या एव एके अतिक्रामन्ति' (२।४।२।६) (देव, पितर पशु आदि तो अपने नियमोंको पूरा पालते हैं; पर कई मनुष्य ही अपनेलिए नियमित नियमोंका अतिक्रमण

कर जाते हैं। मनुष्योंका दो समय भोजन लिखा है, पर आजके मनुष्य पाँच बार खाते हैं) एक आप भी हैं; जो परमात्माको भी गालियाँ देते हैं; शायद उसे मानते भी न हों।

तब वैसे व्यक्तियोंसे तो यही हाल बनेगा कि-'मर्कटस्य सुरापानं तस्य वृश्चिकदंशनम्। तन्मध्ये भूतसञ्चारो यद्वा तद्वा भविष्यति'।

"गौतमने अपने धर्मसूत्रमें शूद्रोंका अध्ययन निषिद्ध किया है। परन्तु पहले यह बताना और विचारना चाहिये—वेदोंके विधिनिषेधका अधिकार गौतमको किसने दिया ?" (उ.) धर्मसूत्र, कल्पसूत्र, धर्मशास्त्र यह सब वेदके अङ्ग-उपाङ्ग होते हैं। वेदने जिसे संकेतसे लिखा है, उनको ऋषि-मुनियोंने उनमें स्पष्ट किया है; क्या वे आपसे आज्ञा लेने आते ? और लोकव्यवहारकी व्यवस्था भी धर्मशास्त्रोंके अधीन होती है, देखिये इसपर न्यायदर्शन ४।१।६२ सूत्रमें वात्स्यायनभाष्य। इसे हम ५१७-५१६ पृ.में स्पष्ट कर चुके हैं। तब क्या उनकी बात न मानकर अस्थिरमति-वादीकी ही बात मानी जावे ! जो वादी स्वयं तो शूद्रको कर्ममें अनधिकृत मानता है, पर फिर उसे वेदाध्ययनरूप-कर्ममें बलात् अधिकृत करता है। यही 'अस्थिरमति' हुआ करती है।

"आर्यावर्तमें एक अन्धाधुन्धीका समय था, जिसके मनमें जो आता था; उसे ही वह लिख देता था; और प्रचार किया करता था" यदि यह आक्रमण धर्मशास्त्रोंपर है; तो यह वादीकी धींगाधींगी है। क्या वे वादीकी इच्छा पूछकर ही लिखते ? यह ऋषियोंका उनके ऊपर आया हुआ उत्तरदायित्व था कि—वे समाधिद्वारा मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदको प्रकट करें; और फिर वेदके अङ्ग-उपाङ्गोंको वेदके संकेत देखकर धर्म-शास्त्र तथा इतिहास-पुराणका समाधिद्वारा सङ्कलन एवं सम्पादन करके लोकमें धार्मिक-व्यवहार चालू रखें, जिससे वेदसे आई हुई लौकिक-व्यवस्था बनी रहे, उसमें वेदसूत्रोंके अनुसार धर्मशास्त्रोंको तो उन्होंने शासनरूपमें रखा; तथा इतिहास-पुराणको उन सूत्रोंके उदाहरण-प्रत्युदाहरणरूपमें रखा। इसपर इतना याद रखना चाहिये कि—वेद चार

अवश्य हैं; पर उनके ग्रन्थ ११३१ संहिता; उतने ही ब्राह्मण, उतनी ही उपनिषदें, तथा उतने ही आरण्यकरूपमें हैं। उन्हींसे अङ्ग-उपाङ्ग धर्म-शास्त्र आदि दुहे गये। इसमें किसीसे पूछने-पुछानेकी बात ही नहीं थी। उन्होंने वेदका आधार रखा था—अन्धाधुन्ध नहीं; पर आजके आप जैसे व्यक्ति अपनी विद्वत्ताके मदमें मत्त होकर सब गुड-गोवर कर रहे हैं। आप भी अन्धाधुन्धीसे जो इच्छा होती है, लिख दिया करते हैं।

"लगभग आज भी वैसा ही है, अन्तर इतना है कि—आज विवेककी मात्रा बढ़ी हुई है" इसका तात्पर्य पहले अविवेकपूर्णता थी, अर्थात् आप विकासवादी हैं, ह्रास नहीं मानते। फिर वेद भी तो अविवेक-पूर्ण ही हुआ; जो द्विजोंको पवित्र करता है, 'वेदमाता...पावमानी द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) द्विजेतरों (शूद्रादि) को नहीं। तभी तो सभ्य (?) वादीकी ओरसे वेदके प्रवर्तकको भरपेट गालियां मिलीं (!)

"सब कथनका परीक्षण आज होने लग गया है, अत: निश्चित ही ज्ञानमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है। हां, कर्ममें प्रतिबन्ध होना आवश्यक हो सकता है। सब कर्म सब नहीं कर सकते" इसका भाव यह हुआ कि—सब ज्ञान सब कर सकते हैं, बलिहारी है!! अन्धेको रूपका ज्ञान, बहरेको शब्दका ज्ञान, उल्लूको प्रकाशका ज्ञान आप ही करा देंगे, धन्य! अरे! भाई! इससे प्रतीत होता है कि—आपको तो ज्ञान ही नहीं है।

पहले ज्ञानसे कर्मको अवर माना जाता था, अब आप कर्मसे ज्ञानको 'अवर' बना रहे हैं। ज्ञानको हलका बना रहे हैं। वस्तुत: कहा तो यह जाता है—'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय!' (ज्ञानसे कर्म अवर होता है) (गीता २।४९) छोटी आयुका छात्र हो; अपना पढ़ाईका कर्म सम्पन्न कर रहा हो; कहते हैं कि—अभी इसमें समझ (ज्ञान) की कमी है। इससे स्पष्ट है कि—ज्ञानका दर्जा कर्मसे ऊंचा है, इससे ज्ञानके दर्जे सिरको ऊंचा पद दिया गया है; शेष कर्मेन्द्रियोंको क्रम-क्रमसे नीचेका दर्जा दिया गया है। इसी कारण ज्ञानके आश्रम-संन्यासको सब आश्रमोंसे

ऊंचा रखा गया; उसमें अधिकार मन्वनुसार केवल ब्राह्मणको दिया गया, क्षत्रिय-वैश्यको भी नहीं; फिर शूद्र-अन्त्यजोंका उसमें अधिकार तो दूरकी बात रही; पर यह वादी महाशय कर्मपर तो प्रतिबन्ध लगाना श्रेयस्कर समझते हैं; पर ज्ञानपर नहीं। कर्म सीमित होता है, ज्ञान असीमित होता है; पर यह महाशय असीमित एवं अनन्त ज्ञानपर तो अधिकाराऽनधिकारकी आवश्यकता नहीं समझते।

असीमित ज्ञानपर यदि पात्रापात्रका विचार नहीं रखोगे; तो उससे फिर आप अनधिकृत-व्यक्तिको डुबोवेंगे ही; उससे भारतीय-राष्ट्रकी क्षति करोगे। फिर उससे श्रीगान्धिजीके शब्दोंमें कहलाओगे ही कि—हमने इस मार्गमें पांव रखकर 'हिमालयसदृश' भूल की। उसीके पीछे चलनेवालेकी भी आप कितनी हानि न करवा बैठोगे! यदि कर्ममें शूद्रोंका प्रतिबन्ध मानते हो; तो वेदाध्ययन भी तो कर्म है। उसपर आचार्योंने शूद्रका प्रतिबन्ध कर रखा है; तब उस पर वादी स्वयं 'यावज्जीवमहं मौनी' को क्या चरितार्थ नहीं कर रहा?

"कर्म इच्छा और आवश्यकतापर निर्भर होता है। जिन्हें इच्छा वा आवश्यकता होगी, वे वह कर्म करेंगे। जिन्हें यह दोनों न होंगी, वे उस झंझटसे अलग रहेंगे। ब्रह्मज्ञानी भी तो कर्मसे घृणा (?) करता है। उसे इच्छा नहीं है, आवश्यकता भी नहीं है, उसे कोई कर्मानधिकारी कहे भी, तो उसे क्या दु:ख है? कर्मके अनेक प्रकार हैं, सभी कर्म वैदिक हैं। कोई घट बनाता है, कोई पट बनाता है, कोई मठ बनाता है, कोई हवाम बनाता है, कोई यज्ञ करता है, यह सभी वैदिक (?) कर्म हैं। इनमें सभी कर्मोंको सभी नहीं कर सकते। अत: कात्यायनने अपने सूत्रोंमें शूद्रोंको कर्मोंका अनधिकारी बताया। जैमिनिने मीमांसादर्शनमें 'अपशूद्राधिकरण' बनाया—यह सब उचित हो सकते हैं, परन्तु ज्ञानमार्गमें, भक्तिमार्गमें अमुक को अधिकार देना और अमुकको न देना यह निर्लज्जताकी बात है"।

विद्वान् जन समझ सकते हैं कि—वादीने कितनी—कहना तो न

चाहिये—नासमझीकी बात लिखी है। ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग दोनों भिन्न-भिन्न हैं। भक्तिमार्ग तो 'कर्म' है। यदि शूद्र किसी कर्मको करना चाहे; और आप उसमें उसका नियन्त्रण करें; उसे दण्ड दें; तब क्या आपसे स्वातन्त्र्य पाया हुआ वह इसे अत्याचार न मानेगा ? यदि उसे नहीं मानना चाहिये; तब तपस्या-रूप कर्मको कर रहे हुए शम्बूक-शूद्रको यदि श्रीरामने दण्डित किया; क्योंकि—वह उस कर्मका अनधिकारी था; वह ब्राह्मणका कर्म था; उसका नहीं; और था भी कर्म, ज्ञान भी नहीं था। तब आप इसपर वायवेला क्यों मचाते हैं ? क्यों उसे दण्डित करनेवाले श्रीरामको दाशरथि-रामसे भिन्न कहते हैं ? क्यों श्रीरामको एक तरीकेसे आततायी प्रसिद्ध करते हैं ? शम्बूक-शूद्रके वधपर यदि आप आर्थिक दृष्टिसे देखें; तब भी आप श्रीरामद्वारा उसके वधको युक्त मानेंगे। देखिये- इसपर 'आलोक' (१०) पृ. (५८०-५८३)।

यदि कर्मपर अधिकारानधिकारका अस्त्र चलानेको तो आप 'निर्लज्जता' नहीं मानते,- तब ज्ञानपर भी पात्रापात्रका विचार करके उसपर अधिकारानधिकारका प्रतिबन्ध लगानेको 'निर्लज्जता' कहनेकी धृष्टता कैसे करते हैं ? 'अधिकार और अनधिकारकी बात 'सबलता और निर्बलतापर आधृत' माननेका क्या अर्थ है ? जबकि कर्ममें शूद्रका अनधिकार आप भी मानते हैं।

"एक बात और जाननी चाहिये। ऋग्वेदके १।११६वें सूक्तका ऋषि कक्षीवान् है, वह अङ्गराजकी दासी पटरानी (?) से उत्पन्न हुआ था। वह ब्राह्मण नहीं था, तथापि वेदऋषि बना"।

यह वादीकी बात सर्वथा निर्मूल है। दासीको वादीने पटरानी बना दिया। कक्षीवान्का उत्पादक एक ब्राह्मण-ऋषि था; तब कक्षीवान् शूद्र कैसे हो गया ? आप जिसपर इस विषयमें श्रद्धा कर रहे हैं, उस श्रीसायण-ने भी कक्षीवान्को ब्राह्मण बताया है। वेदने भी उसे ब्राह्मण बताया है। महाभारतने भी उसे ब्राह्मण बताया है। यह हम इस पुष्पमें सप्रमाण

पृ. ३५०-३६३ में लिख चुके हैं; तब इससे 'शूद्रको वेदाधिकार' कैसे सिद्ध हुआ ? यह शूद्रोंकी हिमायत करनेवाला वादी ही बतावे !

"उसी कक्षीवान्की पुत्री घोषा ऋग्वेदके १०म मण्डलके अनेक मन्त्रोंकी ऋषिका है। अगस्त्यस्वसा, अदिति, इन्द्रस्नुषा, गोधा, नदी, यमी, सरमा, सूर्या, उर्वशी, आत्रेयी, इन्द्राणी, शिखण्डिनी आदि अनेक स्त्रियां ऋग्वेदमें ऋषिकाएं हैं"।

यह मानुषी स्त्रियां नहीं हैं। ऋषि तथा ऋषिका वेदाध्ययन करनेवाले नहीं होते; उन्हें स्वत: कई एक-आध मन्त्र स्वत:, बिना अध्ययनके—जैसेकि निरुक्तभाष्यमें श्रीदुर्गाचार्यने भी लिखा है—'अनधीतमेव तत्त्वतो ददृशु: तपोविशेषेण' (२।११।१) प्रतिभातमात्र हो जाते हैं; इससे स्त्री-शूद्रादिका वेदाध्ययन कैसे सिद्ध हो सकता है ? यदि बिना अध्ययनके इन्हें ऋषिका मानो; तो बिना पढ़े ही स्त्रियोंको ऋषिका बनने दीजिये; उन्हें पढ़नेका अधिकार देनेकी आवश्यकता ही क्या है ? अपने आप ही वे मन्त्रद्रष्ट्रियां बन जावेंगी ! क्या आपमें ऐसी शक्ति है ? यदि नहीं; तब सर्वसाधारण-स्त्रियोंको वेदाधिकारकी निर्मूल चर्चा क्या ?

"नहुष आदि क्षत्रिय भी ऋग्वेदके ऋषि हैं। कोई वैश्य भी होंगे (?) जहाँ इस प्रकारका मिश्र-ऋषिमण्डल है; वहाँ वेदोंका अमुक ही अधिकारी है—यह कहना निरी जडता और अविवेक है"।

पर इसमें कोई शूद्र-ऋषि तो सिद्ध न हो सका। और फिर ऋषि-ऋषिकाओंके दृष्टान्तसे आप सर्वसाधारण स्त्री-शूद्रोंको वेदमें अधिकृत कैसे करना चाहते हैं ? यदि फिर भी आग्रह है; तो उनको प्राचीन ऋषिकाओं-की भाँति बिना वेदाध्ययन किये ऋषि-ऋषिका बनने दीजिये। यदि ऐसा सम्भव नहीं हो सकता; तो असम्भव—वस्तुमें किसी अनधिकृतको कैसे अधिकृत करते हो ? आकाशमें ईंटोंका महल कैसे बनाते हो ? क्या यह 'जड़ता' वा 'अविवेक' नहीं ? (क्षमा कीजियेगा। यह हमारे शब्द नहीं हैं। आपके ही शब्द आपको लौटाये गये हैं।

"वेदोंको अग्रेजोंने पढ़ा, जर्मनोंने पढ़ा, जैनियोंने पढ़ा, बौद्धोंने पढ़ा, डाक्टर अम्बेडकर-अन्त्यजने भी पढ़ा होगा; और तब भी यह कहते रहना कि–वेदोंका अधिकार अमुकको है; कितनी निर्लज्जताका सूचक है ?"

यह शब्द वादीको 'क्रोधी' सिद्ध कर रहे हैं। अधिकार-अनधिकारका नियम तो रखना ही पड़ता है। यदि उसमें वैदिक-राज्य न होनेसे उस नियमका कोई उल्लघन कर जाता है; पर विधानमें आ जानेसे फिर भी वह अनधिकृत ही रहता है। समयपर अनधिकारीको दण्ड मिलता ही है, रामराज्य इसका निदर्शन है; पर आप तो ऐसा 'रामराज्य' ही नहीं मानते। क्योंकि–आप भी अपनेको आचार्य मानते हैं ? आपकी बातसे विरुद्ध चलनेवालेको आप ईश्वर भी नहीं मानते। तब क्या इससे ईश्वरका अभाव हो जावेगा ? तब उस ईश्वरको वर्णित करना क्या निर्लज्जता हो जावेगी ?

"अहमदाबादकी कथाओंमें, संन्यासी और उदासियोंकी कथाओंमें स्त्री-शूद्र सभी वेदों-उपनिषदोंको सुनते-सुनाते हैं। कोई किसीके कानमें गोतमके कथनानुसार शीशा (सीसा ?) गर्म करके नहीं डालता। कोई किसीकी जीभ नहीं काटता। कोई किसीकी छाती नहीं तोड़ता। यदि कोई ऐसा करे; तो उसका रक्षण गोतम नहीं कर सकता। वह फांसीके तख्तेपर लटका दिया जायगा ?"

फांसीके तख्तेपर तो 'यदि नो गां हंसि...तं त्वा सीसेन विध्याम:' (अ. १।१६।१) इससे गोवध करनेवाले मुसलमानको गोली मारनेपर भी आपको लटका दिया जावेगा; क्योंकि–यह वैदिक-राज्य थोड़े ही है, राम राज्य तो नहीं है। वस्तुत: गोतमका वह आदेश सर्वसाधारणकेलिए नहीं, किन्तु राजाकेलिए है। पर राजा वैसा हो; तब न। वह कठोर दण्ड-विभीषिका भी निम्न लोगोंको डरानेकेलिए है, जिससे वे ऐसी अनधिकृत-हरकत न कर पावें। भला किस इतिहासमें शूद्रके कानमें सीसा घोलने तथा

जीभ काटने, वा छाती फोड़नेका वृत्तान्त आया है ? शम्बूकके दण्डित कर देनेसे सब व्यवहार स्वत: रुक गये हैं। पर कथाओंमें प्रसङ्गत: किसी वेदमन्त्रकी यदि व्याख्या आ जाती है; तो 'क्रमेण विधिपूर्वकम्' (मनु. २।१७३) न होनेसे उसका नाम वेदाध्ययन नहीं हो जाता। उसी वेदकी कथाको सर्वसाधारणको समझनेकेलिए ही वेदभाष्य-पुराण बनाये गये हैं। इसका कहीं भी किसीकेलिए भी निषेध नहीं है।

"ऐसी वाहियात बातोंसे वेदोंका महत्त्व बढ़नेकी अपेक्षा घटता है। संगठनका समय है। बहुमत-अल्पमतका प्रश्न उपस्थित हैं। जितना बने, उतना अपना पक्ष प्रबल करना प्रत्येक हिन्दुका धर्म है"।

पर आप-जैसे जहां 'विभीषण' हों; वहाँ हिन्दु अपना पक्ष क्या प्रबल करेगा ? लोहा वृक्षको नहीं काट सकता था; उस लोहेको जब वृक्षने डण्डा दिया; तब उस फरसेने सब वृक्ष काट डाले। सो महाराज ! आप भी तो वही हैं। यही है आपका "ब्रह्मसूत्रका प्रमिताधिकरणान्तर्गत-मध्वाद्यधिकरणका वैदिक-भाष्य" ! ! ! पाठकोंने उसके प्रणेताकी 'सभ्यता' तथा 'विद्वत्ता' देख ली। कौन मुसलमान, कौन शूद्र कह रहा है कि–हमें वेद पढ़ाओ; नहीं तो हम आपको काटते हैं। हिन्दु वेद पढ़ता नहीं है, अहिन्दु ही कौन वेद पढ़ता है ? जो मैक्समूलरादि वेद पढ़ते दीखते हैं; वह वेदाध्ययनके शौकसे नहीं, किन्तु वेदके छिद्र देखनेकेलिए ही।

अब हम पूर्व-क्रमागत ब्रह्मसूत्रके अपशूद्राधिकरणपर अन्य आचार्यों-का भाष्य संक्षेपसे उद्धृत करते हैं। उसपर 'उदारतम आचार्य स्वा.द.के' कर्ता एक दयानन्दीने उसकी आलोचना की है, हम उनकी भी प्रत्यालोचना करते हैं। 'आलोक'-पाठक उसपर दृष्टि डालें। पहले हम श्रीरामानुजा-चार्य-स्वामीका मत देते हैं।

---

(५०) श्रीरामानुजाचार्यका 'अपशूद्राधिकरण' का भाष्य।

आगे अपने ट्रैक्टमें वादी 'श्रीरामानुजाचार्य और शूद्र' शीर्षकसे उनका लेख उद्धृत करता है। श्रीशङ्कराचार्य-स्वामीपर वादीने बहुत बल लगाया; तब हमें भी उसपर विस्तार करना पड़ा। अब आगे यथा-सम्भव संक्षेपसे लिखा जायगा।

श्रीरामानुजाचार्य-स्वामीके विषयमें वादी लिखता है-'श्रीरामानुजाचार्य उदार-विचारोंके आचार्य माने जाते हैं, किन्तु उनके विचार भी शूद्रों और स्त्रियोंके वेदाध्ययनादि-विषयोंमें उदारतापूर्ण प्रतीत नहीं होते"।

जब वादी उनको उदार मानता है; तो स्पष्ट है कि-उन्हें भी स्त्री-शूद्रोंका वेदाधिकार बहुत देखभाल करनेपर भी शास्त्रीय प्रतीत नहीं हुआ। 'शास्त्रीय' बात लिख देना 'अनुदारता' नहीं हुआ करती। अस्तु !

वादी १।३।३८ वेदान्तसूत्रका श्रीरामानुजाचार्यका भाष्य उद्धृत करता है। हम उससे पूर्व-सूत्रोंका भी उनका अपेक्षित पाठ पाठकोंके समक्ष संग्रहार्थ उपस्थित करते हैं—

(पूर्वपक्षः)—'अनधीत-वेदस्य अश्रुत-वेदान्तवाक्यस्यापि, इतिहास-पुराणश्रवणेनापि ब्रह्मस्वरूप-तदुपासन-ज्ञानं सम्भवति। अस्ति च शूद्राणाम् इतिहास-पुराणश्रवणाभ्यनुज्ञा—'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः' (महा. शान्ति. ३०७।४६) दृश्यन्ते च इतिहास-पुराणेषु विदुरादयो ब्रह्मनिष्ठाः।

(जिसने वेद नहीं पढ़ा हुआ है, और वेदान्तका वाक्य भी नहीं सुन रखा, उसे इतिहास-पुराण सुननेसे भी ब्रह्मका स्वरूप, उसकी उपासना, उसका ज्ञान हो सकता है। उसे इतिहास-पुराणके सुननेकी अभ्यनुज्ञा है। जैसेकि-'ब्राह्मणको आगे करके सभी (शूद्र-सहित) वर्णोंको इतिहास-

पुराण सुनावे। इतिहास-पुराणोंमें विदुर आदि ब्रह्मज्ञानी भी मिलते हैं)।

(उत्तरपक्ष) 'न शूद्रस्य अधिकारः सम्भवति। कुतः? सामर्थ्याऽभावात्। नहि ब्रह्मस्वरूप-तदुपासन-प्रकारमजानतः तदङ्गभूत-वेदाध्ययन-ज्ञानादिषु अनधिकृतस्य उपासनोपसंहार-सामर्थ्यं सम्भवति। असमर्थस्य च अर्थित्वसद्भावेपि अधिकारो न सम्भवति।

असामर्थ्यं च वेदाध्ययनाऽभावात्।...इतिहासपुराणे अपि वेदोपबृंहणं कुर्वती एव उपायमनुभवतो न स्वातन्त्र्येण। शूद्रस्य इतिहासपुराण-श्रवणाभ्यनुज्ञानं पापक्षयादिफलार्थम्, न उपासनार्थम्। विदुरादयस्तु भवान्तराधिगत-ज्ञानाऽप्रमोषाद् ज्ञानवन्तः, प्रारब्धकर्मवशाच्च ईदृशजन्म-योगिनः इति तेषां ब्रह्मनिष्ठत्वम्' (१।३।३३) शूद्रस्य च उपनयनादि-संस्काराऽभावोऽभिलप्यते' (१।३।३६)

(शूद्रका अधिकार नहीं हो सकता। उसमें वैसी सामर्थ्य नहीं। जो ब्रह्मके स्वरूप तथा उसकी उपासनाका प्रकार नहीं जानता; उसके साधनभूत वेदके अध्ययन तथा ज्ञानमें अनधिकारी (अधिकाररहित) है; तब उसमें उपासनाकी सामर्थ्य कैसे हो सकती है? जो असमर्थ है, वह भले ही अर्थी (वैसा चाहता) हो, पर वह अधिकारी नहीं हो जाता।

असामर्थ्य उसकी यही है कि-उसका वेदाध्ययन अनधिकृत होनेसे नहीं होता।...इतिहास-पुराण भी वेदका उपबृंहण करते हुए उपायका अनुभव करते हैं, उपासनाकेलिए नहीं। विदुर आदि तो गतजन्मसे स्वतः-ज्ञान होनेसे [क्योंकि-वे यमदेवता थे, माण्डव्य मुनिके शापसे शूद्रयोनिमें आये] सो उनका ज्ञान क्षुण्ण नहीं हुआ, [पर उन्होंने भी लोकमर्यादा नहीं तोड़ी] प्रारब्धकर्मके कारण ही उनको ऐसा जन्म मिला। इसी आरूढ-पतनके कारण ब्रह्मनिष्ठ थे; उन्होंने शूद्रजन्ममें कोई वेदादि नहीं पढ़ा था (३३)। शूद्रको उपनयन-संस्कारका अभाव ही कहा जाता है (३६)। यह कहकर 'श्रवणाध्ययनार्थ-प्रतिषेधात् स्मृतेश्च' (३८) सूत्रका अर्थ करते हुए श्रीरामानुजाचार्य-स्वामी कहते हैं—

'शूद्रस्य वेदश्रवण-तदध्ययन-तदर्थानुष्ठानानि प्रतिषिध्यन्ते—'पद्यु ह वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रः, तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' (वसिष्ठ-१८।६) 'तस्मात् शूद्रो बहु-पशुः, अयज्ञियः' इति । बहुपशुः—पशुसदृशः । अनुपशृण्वतोऽध्ययन-तदर्थज्ञान-तदर्थानुष्ठानानि न सम्भवन्ति, अतः तानि अपि प्रतिषिद्धान्येव । स्मर्यते च श्रवणादि निषेधः—'अथ हास्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेद इति' । 'नचास्योपदिशेद् धर्मं नचास्य व्रतमादिशेत्' (मनु. ४।८०) इति च । अतः शूद्रस्य अनधिकार इति सिद्धम्' (१।३।३८)

(शूद्रका वेद सुनना, वेद पढ़ना, उसके अर्थ एवं अनुष्ठान निषिद्ध हैं । 'शूद्र जङ्गम-श्मशान है; अतः शूद्रके समीप भी वेद नहीं पढ़ना चाहिये' । इस कारण शूद्र पशुसदृश है । ['बहुपशुः' मे 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' (पा. ५।३।६८) इससे 'बहुच्' प्रत्यय सादृश्य-अर्थमें हुआ है । यह प्रत्यय अन्तमें न होकर प्रकृतिसे पूर्व ही होता है] जब शूद्र कभी वेद सुनेगा नहीं; तब उसका वेदाध्ययनादि निषिद्ध ही होगा । उसके वेदश्रवण-का भी निषेध स्मृत किया जाता है—'यदि शूद्र वेद सुन ले; तो उसके कान राजा सीसे वा लाखसे युक्त करे—इत्यादि पूर्वकी तरह) शूद्रको धर्म-वा व्रत न बताओ; उसका वह उपेक्षामूलक अनादर करता है]. अतः शूद्रोंका वेदमें अधिकार नहीं' ।

श्रीरामानुजाचार्य-स्वामीने भी वही गौतमसूत्र उद्धृत किया है; इससे प्रतीत होता है—यह स्मृतिने किसी श्रुतिका वचन किसी संहिता वा ब्राह्मणसे उद्धृत किया है; अतः यह वचन निर्मूल भी नहीं । श्रुतिका वचन स्मृतिमें अनूदित कर दिया जावे; तो वह भी स्मार्त हो जाता है । इस वचनमें आपाततः कड़ाई प्रतीत हो रही है; पर उसमें अर्थवाद समझकर उसका तात्पर्यमात्र लेना चाहिये । 'श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् स्मृतेश्च' इस सूत्रका स्मृतिवचन हो भी यही सकता है, जो कि—श्रीव्यासजीके सामने था; अपने भाष्यको 'वैदिक' कहते हुए एक रामानन्दी सम्प्रदायवाले

महाशयको भी इसके अतिरिक्त कोई स्मृतिवचन न मिल सका। जो उतने स्मृतिवचन लिखे हैं, वे इस सूत्रके अक्षरानुसारी नहीं हैं। अतः वे वादीने बलात् ही थोपे हैं। वास्तविकताको बदलकर कृत्रिमता की जावे; तो उसमें इस प्रकारके दोष होने स्वाभाविक हो जाते हैं।

सो उस वचनका 'शूद्र वेदको न सुने, न उसका अध्ययन करे, और न उसका स्मरण करे' इतने अर्थमें तात्पर्य समझना चाहिये, सीसा वा लाख कानमें भरनेमें नहीं। वेदके गलत उच्चारणमें 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या-प्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' (पाणिनीय-शिक्षा) यह वृत्रासुरकाण्डका वचन सुप्रसिद्ध है। पाणिनीय-शिक्षाका प्रमाण रामानन्दी-महाशयने भी अपने 'वैदिक-भाष्य' में दिया है। सो शूद्र वेद न सुने, और वेद सुनकर वेदके उच्चारणका प्रयत्न-अनुकरण न करे, जिससे उसे हानि उठानी पड़े, यही तात्पर्य उसे वेद श्रवण-अध्ययन-उदाहरण आदिके अधिकार न देनेमें है।

इसी कारण शूद्रोंमें वेदाध्ययनादिकी परम्परा भी नहीं रही। कभी किसी बातको सर्वथा निषिद्ध करनेकेलिए कड़े दण्ड भी विधानमें कह दिये जाते हैं; पर उनका अनुसरण किसी इतिहासमें भी नहीं सुना जाता। सो वहाँ निषेधमें ही तात्पर्य समझना चाहिये। अन्यथा निम्न-लोग कड़ाई न लिखे होनेपर उन निषेधोंको नहीं मानते। कड़ा दण्ड लिखे होनेपर तो उनका ध्यान उस निषेधपर पड़ जाता है। ढीला-ढाला निषेध होनेपर उसकी कोई परवाह नहीं करता। आगे श्रीमध्वाचार्य-स्वामीकी सुनिये।

---

(५१) श्रीमध्वाचार्य-स्वामीका अपशूद्राधिकरण पर भाष्य

आगे दयानन्दी-महाशय अपने उस ट्रैक्टमें 'श्रीमध्वाचार्य और शूद्र तथा स्त्रियां' शीर्षक रखकर लिखते हैं—

'द्वैतमत-प्रचारक श्रीमध्वाचार्य (स्वामी आनन्दतीर्थ) ने स्त्रियोंके

वेदाधिकारके विषयमें अन्य आचार्योंकी अपेक्षा कुछ उदारता दिखाई है, किन्तु शूद्रोंके वेदाध्ययन तथा ब्रह्मविद्यामें अधिकारका उन्होंने ब्रह्मसूत्र-भाष्यादिमें स्पष्ट प्रतिषेध किया हैं' यह लिखकर वादीने उनका १।३।३८ सूत्रका भाष्य उद्धृत किया है, १।३।३६ सूत्रका भाष्य उद्धृत नहीं किया। हम दोनोंको ही उद्धृत करते हैं—

'संस्कारपरामर्शात्' (१।३।३६) 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत इति अध्ययनार्थं संस्कार [उपनयन]-परामर्शात्। 'नाग्निर्न यज्ञो न क्रिया न संस्कारो [उपनयनं] न व्रतानि शूद्रस्य' इति पैङ्गिश्रुतौ संस्कारा-[उपनयना]-भावाभिलापाच्च। उत्तम-स्त्रीणां तु न शूद्रवत् 'सपत्नीं मे पराधम' इत्यादिषु अधिकारदर्शनात्। संस्कारभावेन (उपनयनेन) अभावस्तु सामान्येन। अस्ति च तासां संस्कारः—'स्त्रीणां प्रदानकर्मैव यथोपनयनं तथा' इति स्मृतेः'।

(आठ वर्ष वाले ब्राह्मणका उपनयन करे, उसे पढ़ावे, इस प्रकार ब्राह्मणको पढ़ानेकेलिए उपनयन कहा गया है। परन्तु 'शूद्रकी न तो अग्नि कही है, न वैदिक-यज्ञ, न कोई क्रिया, न उपनयन-संस्कार और न ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी कोई व्रत होते हैं। यह पिङ्गकी श्रुतिमें शूद्रका उपनयनादि निषिद्ध किया गया है। परन्तु उत्तम-स्त्रियोंका शूद्रवाला व्यवहार नहीं होता, क्योंकि—'सपत्नीं मे पराधम' इत्यादि सपत्नीबाधनके मन्त्रोंमें स्त्रियोंका अधिकार देखा जाता है। हां, उनका उपनयनाऽभाव तो शूद्रके समान है। उन स्त्रियोंका संस्कार होता है—'स्त्रियोंका विवाह-ही उनका उपनयन-जैसा होता है, ऐसा स्मृतिवचन मिलता है।)

यहांपर श्रीमध्वाचार्यने स्त्रियोंका उपनयन पृथक्-संस्कार नहीं माना। उपनयनाऽभावमें स्त्रियोंकी उन्होंने शूद्रसदृशता मानी है। उनने स्त्रियोंके विवाहको ही उनका उपनयन-संस्कार-जैसा माना है, इसलिए अपने विषयके 'सपत्नीं मे पराधम' आदि मन्त्रोंको पुरोहितादिके सहारे बोल देना उनका माना है। इसमें किसीका विरोध नहीं। क्योंकि—साक्षात्-

उपनयन न होनेसे वेदमें उनका वैध तथा क्रमिक अधिकार नहीं होता। जैसेकि—'मनुस्मृति' में लिखा है—

'कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते। ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्' (२।१७३) अर्थात् उपनयन होनेपर माणवकको क्रमसे तथा विधिसे वेदके ग्रहणका अधिकार है। बाजारोंमें उपनयनसे हीन भी बच्चे कई वेदमन्त्र उलटे-सीधे अंशतः बोलते दीख रहे होते हैं; इसका नाम स्वाध्याय-वेदाध्ययन होता भी नहीं है।

इसी प्रकार स्त्रियोंकेलिए भी कई स्वमात्रनियत आंशिक वेदमन्त्र आदि हैं भी, तो यह उनका क्रमिक एवं वैध वेदाध्ययन नहीं हो जाता। उक्त मनुके पद्यमें 'क्रमेण विधिपूर्वकम्' यह शब्द साभिप्राय हैं। यह उपनीतकेलिए कहे गये हैं—यह नहीं भूलना चाहिये।

श्रीमध्वाचार्यने स्त्रियोंका उपनयन नहीं माना, किन्तु उनके विवाह-को ही उपनयन-सदृश माना है, तत्फलस्वरूप कई स्वनियत 'सपत्नीं-प्रणुदन' आदि कर्मोंमें उनका प्रवेश माना है। ऐसा तो सभी सनातनधर्मी आचार्योंका मत है; तब वादी इसमें श्रीमध्वाचार्यकी कौनसी उदारता मानता है? आगे श्रीमध्वाचार्यका ब्रह्मसूत्रके १।३।३८ सूत्रका भाष्य उद्धृत किया जाता है, जिसे वादीने भी उद्धृत किया है।

'श्रवणाध्ययनाऽर्थ-प्रतिषेधात् स्मृतेश्च'। श्रवणे त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-प्रतिपूरणम्, अध्ययने जिह्वाच्छेदः, अर्थावधारणे हृदयविदारणम्' इति प्रतिषेधात्।

'नाऽग्निर्न यज्ञः शूद्रस्य तथैवाध्ययनं कुतः? केवलैव तु शुश्रूषा त्रिवर्णानां विधीयते' इति स्मृतेश्च। विदुरादीनां तु उत्पन्न-ज्ञानित्वाद् न कश्चिद् विशेषः'।

(शूद्रको वेद सुननेमें 'त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम्' आदि वचनके कारण निषेध किया गया है। स्मृतिमें भी लिखा है—'शूद्रकी अग्नि ही नहीं होती, न कोई यज्ञ ही है। केवल त्रैवर्णिकोंकी सेवा ही नियत

की गई है। विदुर ग्रादि उत्पन्न होते ही ज्ञानी थे, ग्रतः उनकी कुछ विशेषता नहीं मानी जाती।)

यहांपर श्रीमध्वाचार्यस्वामीने भी शूद्रको वेदके निषेधका प्रतिपादक वही गौतम-वचन उद्धृत किया है; जिसे ग्रन्य ग्राचार्योंने उद्धृत किया था। इससे उक्त वचन निर्मूल सिद्ध न होकर समूलक सिद्ध हो गया। विदुरकेलिए संक्षेपमें बहुत ही ग्रच्छा उत्तर दिया है कि—'वह पूर्वजन्मके संस्कारवश ग्रारूढ-पतित होनेसे जन्मसे ही ज्ञानी था; तब उसमें कोई विशेषता न रही। क्योंकि—उसने विद्या पढ़ी ही नहीं थी। तब शूद्रादिका वेदादि पढ़नेमें ग्रधिकार सिद्ध न हुग्रा।

श्रीमध्वाचार्यके उक्त-उद्धरणकेलिए वादीके यह शब्द हैं—'उन्हों (श्रीमध्वाचार्य) ने कुछ कल्पित वेदविरुद्ध स्मृतिवचनोंको उद्धृत करते हुए लिखा है'।

वादी श्रीमध्वाचार्यके उद्धरण बड़े गौरवसे ग्रपने पुस्तकोंमें दिया करता है; इससे वह उन्हें वेदका एक विद्वान् कहा करता है; पर जब उनके उद्धरणोंसे वादीका पक्ष कटता है, तब उन्हें वेदविरुद्ध ग्रौर कल्पित कहकर ग्रपनी जान छुड़ा लिया करता है।

जब वेद 'वेदमाता...द्विजानाम्' (ग्र. १९।७१।१) कहकर द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को ग्रपना ग्रधिकार देता है, तब शूद्रका ग्रधिकार स्पष्ट निषिद्ध हो गया, क्योंकि—ग्रद्विज-एकज ही होता है।

ग्रागे वादी श्रीमध्वाचार्यके ब्रह्मसूत्रभाष्यसे 'व्योमसंहिता' का प्रमाण देकर शूद्रकुलोत्पन्नोंका वेदके ग्रतिरिक्त ग्रन्य शास्त्रोंमें ग्रधिकार मानता है। इससे तो हमारे पक्षकी सिद्धि हुई। वादी 'व्योमसंहिता' का यह प्रमाण देता है—

'ग्रन्त्यजा ग्रपि ये भक्ता नामज्ञानाधिकारिणः। स्त्री-शूद्र-ब्रह्मबन्धूनां तन्त्रज्ञानेऽधिकारिता। ग्राहुरप्युत्तमस्त्रीणामधिकारं तु वैदिके। यथोर्वशी यमी चैव शच्याद्याश्च तथापराः।'

पहले वादी सदा ही उक्त ग्रन्थका 'ग्राहुरप्युत्तमस्त्रीणां' यही पद्य देकर उससे स्त्रियोंको वेदाधिकार सिद्ध कर दिया करता था; उससे पूर्वके पद्योंको जनदृष्टिमें नहीं ग्राने दिया करता था। पर जबसे हमने उसके लेखोंकी ग्रालोचना 'श्री:' तथा 'सिद्धान्त' ग्रादि पत्रोंमें शुरू की; जबसे उससे छिपाये पूर्व-पद्योंको जनताके सामने रखा; तबसे वादी कुछ सम्भल गया है। उस मेरे लेखसे लज्जित होकर उनके ग्रनुसार ग्रपने लेखोंमें वह परिवर्तन, परिवर्धन तथा संशोधनादि कर लिया करता है; एतदर्थं हम ग्रपने परिश्रमकी सफलता समझते हैं। तथा उसे ग्रपने लेखोंमें वैसे संशोधनोंकेलिए बधाई देते हैं; पर खेद है कि—वादी ग्रपनी पूरी शुद्धि ग्रब भी नहीं कर रहा। फिर भी बीचके कई पद्योंको छिपा दिया करता है।

उक्त-वचनानुसार ग्रन्त्यजोंको नामज्ञानका ग्रधिकार माना गया है, वेदादिशास्त्रके ज्ञानका नहीं। इस विषयमें स्पष्टता 'ग्रालोक' पाठकगण 'श्रीमध्वाचार्यस्वामीके स्पष्ट प्रमाण (?)' इस पुष्पके पृ. २४७ से २५२ पृष्ठ तक देखें।

'उत्तम स्त्रियां श्रीमध्वाचार्य-स्वामीने 'देव्यो मुनिस्त्रियश्चैव नरादिकुलजा ग्रपि' इस पद्यमें गिनी हैं, यहां ग्राचार्यने देवयोनि तथा ऋषियोनिकी स्त्रियोंको ही उत्तम बताया है। इनके नामके साथ ग्राचार्यने 'एव' पढ़ा है। 'नरादिकुलजा ग्रपि' में 'ग्रपि' शब्द पढ़ा है, 'एव' शब्द नहीं। यह पाठक न भूलें।

'ग्रपि' शब्दसे वे मानुषी-स्त्रियां विवक्षित हैं, जो पूर्वजन्ममें देवता वा ऋषिकाएं थीं, ग्रौर ग्रब मनुष्ययोनिमें ग्रवतीर्ण होकर ग्राई हैं, ग्रारूढपतित होकर ग्राई हैं, सो उनके देवयोनिके संस्कार इस जन्ममें भी बने रहते हैं। उन्हींको 'ग्रारूढ-पतित' कहते हैं, सर्वसाधारण मानुषी-स्त्रियोंको श्रीमध्वाचार्यने वेदाधिकार नहीं माना। जैसा कि—श्रीमध्वाचार्य-स्वामीने 'वेदा ग्रप्युत्तमस्त्रीभि:' इस पद्यसे पूर्व 'महाभारत-तात्पर्यनिर्णय'

में, क्योंकि-यह वहांका पद्य है, ब्रह्मसूत्रके माध्वभाष्यका नहीं-स्त्रियोंको वेदाधिकार निषिद्ध किया है। जैसे कि-'ज्ञेयं सर्वं त्रिवर्णस्थैः, स्त्रीभिर्वेदान् विनाऽखिलम्' (३९।३५) (त्रैवर्णिक वेदादि सभी शास्त्रोंका ज्ञान करें; परन्तु स्त्रियाँ वेदोंके सिवाय अन्य गृहतन्त्रोंका ज्ञान करें। यह श्रीमध्वाचार्यके स्पष्ट शब्द हैं। स्त्रियोंका वे वेदमें अनधिकार सिद्ध कर रहे हैं। वादीने इस वचनको छिपा लिया है-यह 'आलोक'-पाठकोंको याद रख लेना चाहिये।

सो 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णयकार' श्रीमध्वाचार्यको उत्तम-स्त्रियाँ देव वा ऋषि-योनिसे पतित होकर आई हुई इष्ट हैं। उनमें एक उदाहरण उन्होंने द्रौपदीका बताया है; वह शची (इन्द्राणी) का अवतार थी। 'भारती' (मण्डनमिश्र) की स्त्री, 'हर्षचरित' की सरस्वती आदि सरस्वती-देवताके अवतार हैं। महाश्वेता तो साक्षात् गन्धर्व (देवता) कन्या थी ही। सो यह मानुषी स्त्रियाँ नहीं है।

भाव यह है कि-'आरूढपतिता' ही यहां उत्तम-मानुषी स्त्रियां श्रीमध्वाचार्यको इष्ट है, सर्वसाधारण मानुषी-स्त्रियां नहीं। क्योंकि-उनकेलिए तो उन्होंने वेदका निषेध ही किया है—'स्त्रीभिर्वेदान् विनाऽखिलम्' आगे श्रीमध्वाचार्य-स्वामीने सत्-शूद्रोंको भी वेदका निषेध ही किया है—'सच्छूद्रैरप्य वैदिकम्'।

श्रीमध्वाचार्यका ब्रह्मसूत्रके 'अपशूद्राधिकरण' का भाष्य यहाँ समाप्त हो गया।

---

(५२) श्रीवल्लभाचार्य-गोस्वामीका अपशूद्राधिकरण-भाष्य।

आगे प्रतिपक्षीने 'श्रीवल्लभाचार्य और शूद्र' शीर्षकसे श्रीवल्लभाचार्य-गोस्वामीद्वारा शूद्रोंके वेदाधिकारका स्पष्ट शब्दोंमें निषेध माना है। हम भी वह पाठ 'आलोक'-पाठकोंकी जानकारी के लिए तथा उनके लाभार्थ

उद्धृत करते हैं—

'दूरे हि अधिकारचिन्ता, वेदस्य श्रवणमध्ययनम् अर्थज्ञानं त्रयमपि तस्य (शूद्रस्य) प्रतिषिद्धम्-तत्सन्निधौ अन्यस्य च। [यह बहुत महत्त्वपूर्ण वाक्य है] 'अथाऽस्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमिति। पद्यु ह वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रः; तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यमिति। उदाहरणे जिह्वाछेदो, धारणे शरीरभेदः' (गौतमधर्म. १२।४) दोहादौ शूद्रसम्बन्धे मन्त्राणामभाव एव (इस महत्त्वपूर्ण वाक्यको वादीने छिपा लिया)।

स्मृतियुक्त्यापि वेदार्थे न शूद्राधिकारः इत्याह। स्मृतेश्च। 'वेदाक्षर-विचारेण शूद्रः पतति तत्क्षणात्' (पराशरस्मृति १।७३) इति। स्मार्त-पौराणिक-ज्ञानादौ तु कारणविशेषेण शूद्रयोनौ गतानां [विदुरादीनां] महतामधिकारः। तत्रापि न कर्मजाति-शूद्राणाम्। तस्माद् नास्ति वैदिके क्वचिदपि शूद्राधिकार इति स्थितम्'।

(शूद्रकी अधिकारचिन्ता तो दूर; वेदका सुनना, अध्ययन और अर्थ-ज्ञान यह तीनों ही उस (शूद्र) को निषिद्ध हैं। उस शूद्रके पास ठहरे हुए दूसरेको भी वेद पढ़नेका निषेध है। शूद्र यदि वेद सुन रहा है; तो राजा उसके कान त्रपु-जतुसे बन्द कर दे; जिससे वह सुन न सके। शूद्र श्मशान हैं; अतः शूद्रके पास भी वेद नहीं पढ़ना चाहिये। वेद बोलनेपर जिह्वाछेद तथा धारणमें शरीरभेद होता है' (गौतमस्मृति १।४) यह ब्रह्मसूत्रको इष्ट इतना अतिदृढ प्रमाण है कि-इसे ही सभी भाष्यकारोंने उद्धृत किया है। दुहने आदिमें शूद्रके सम्बन्धमें मन्त्रोंका अभाव ही है।

स्मृतिके प्रयोगसे भी सीधे वेदके अर्थमें शूद्रका अधिकार नहीं है। स्मृति कहती है—'वेदके अक्षरपर विचार करनेसे शूद्रका उसी क्षण पतन हो जाता है'। (पराशर) स्मृति तथा पुराणके ज्ञान आदिमें विशेष-कारणवश शूद्रयोनिको प्राप्त हुए विदुर आदि बड़े (आरूढ-पतितों) लोगोंका अधिकार है। उसमें भी जातिशूद्रोंका अधिकार नहीं है। अतः

वेदादिमें कहीं भी शूद्रका अधिकार नहीं है'।

यह हमने प्रतिपक्षीसे लिखा हुआ उद्धरण लिखा है। १।३।३६ सूत्रका अणुभाष्य प्रतिपक्षीने नहीं दिया। उसका उद्धरण हम देते हैं—

'इदानीं शूद्रस्य क्वचिदपि ब्रह्मविद्यायामधिकारश्चेत्, अत्रापि कल्प्येत, तत्तु नास्ति; सर्वत्र संस्कारपरामर्शात्। उपनयन-संस्कार: सर्वत्र परामृश्यते। 'तं ह उपनिन्ये' अधीहि भगव:! इति ह उपससाद। तान् ह अनुपनीय' इत्यादि-प्रदेशेषु उपनयन-पूर्वकमेव विद्यादानं प्रतीयते। शूद्रस्य तदभावाभिलापात्। 'चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्र:' इति, 'न शूद्रे पातकं किञ्चिद् न च संस्कारमर्हति' इति शूद्रस्य सस्कारनिषेधात्। चकाराद् 'न शूद्राय मतिं दद्याद्' इति निषेध:'।

(शूद्रका कहीं भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार होता, तो यहाँ भी कल्पित होता। पर वह नहीं है। सर्वत्र वेदकेलिए उपनयन-संस्कार आवश्यक होता है। जैसे कि–'उस (जाबाल) का उपनयन किया'। (इससे यह भी स्पष्ट हो रहा है कि–जाबाल वेश्यापुत्र (अब्राह्मण) नहीं था, किन्तु ब्राह्मण ही था। किसी भी प्राचीन-आचार्यने उसे शूद्र नहीं माना। इस विषयमें हमने 'आलोक' (११) पृ. १८३-२३१ में विपक्षियोंके सभी आक्षेपोंको काटकर उसे ब्राह्मण सिद्ध किया है। पाठक इस विषयमें पूरी विचार-माला देखें।) 'भगवन्! मुझे पढाइये, यह कहकर आचार्यके पास गया'। 'क्षत्रियने अवर वर्ण होनेसे उन ब्रह्मविद्या पढ़ने आये हुए ब्राह्मणोंका उपनयन नहीं किया'। क्योंकि–वे ब्राह्मण थे' पढानेवाले क्षत्रिय थे; अत: उन्होंने उनका उपनयन शिष्यभाव) नहीं किया। इत्यादि स्थलोंमें उपनयनके बाद ही विद्या दी जाती है–यह प्रतीत हो रहा है। परन्तु शूद्रको तो उपनयनका अभाव ही कहा गया है—'चौथा वर्ण शूद्र एकज होता है, द्विज नहीं होता। 'शूद्र, संस्कार (उपनयन) के योग्य नहीं' इससे शूद्रको उपनयन संस्कारका निषेध किया गया है। 'शूद्रको बुद्धिमन्त्र (गायत्री) का उपदेश न दे'

यह स्मृति कहती है।)

१।३।३७ सूत्रका अणुभाष्य यह है—'इतश्च न शूद्रस्य सर्वथाऽधिकार:, शूद्रत्वाऽभावनिर्धारणे एव गुरुशिष्यभाव-प्रवृत्ते:। सत्यकामो ह जाबाल:, सत्यकाममुपनिन्ये' 'नैतद् अब्राह्मणो विवक्तुमर्हति' इति सत्यवचनेन शूद्रत्वाऽभावं ज्ञात्वैव। तस्माद् न शूद्रस्य अधिकार:'।

(शूद्रका अधिकार सर्वथा नहीं है; क्योंकि–'यह शूद्र नहीं है' ऐसा निश्चित होनेपर ही गुरु-शिष्यभावकी प्रवृत्ति देखी गई है। सत्यकाम-जाबालका गौतमने यह निश्चय करके कि–'यह शूद्र नहीं है' तभी उसका उपनयन किया। इस कारण शूद्रका अधिकार नहीं होता)।

श्रीवल्लभाचार्य-गोस्वामीने लिखा बहुत सुन्दर-प्रकारसे है; सोपपत्तिक तथा सप्रमाण लिखा है। इसपर प्रतिपक्षी लिखता है–"इस प्रकारके स्मृतिवचन 'यथेमां वाचं' (यजु:माध्य. २६।२) 'समानो मन्त्र: समिति: समानी' (ऋ. १०।१९१।३) इत्यादि वैदिक-आदेशोंके विरुद्ध होनेके कारण सर्वथा अमान्य हैं"।

ऐसी बात नहीं। ये वादीसे दिये हुए वचन इस विषयमें 'सिद्ध' प्रमाण नहीं, किन्तु 'साध्य' हैं। अत: अमान्य है। इसमें हम 'यथेमां वाचं' का आरम्भसे ५५ पृष्ठ तक तथा 'समानो मन्त्र:' का पृ. ३५९-३६१ में प्रत्युत्तर दे चुके हैं। तब उक्त-स्मृतिवचन वेदानुकूल होनेसे मान्य ही सिद्ध हुए।

श्रीमद्वल्लभाचार्य-महाराजके उक्त सूत्रोंके भाष्यकी स्पष्टता शास्त्रवित्तम श्रीकृष्णचन्द्रकृत 'भावप्रकाशिका' में सम्यक्तया की गई है। हम उसका अपेक्षित अंश उद्धृत करते हैं—

१।३।३६ सूत्रकी वृत्तिमें यह लिखा है—'शूद्रस्य क्वचिदपि ब्रह्मविद्यायामधिकारश्चेद् अत्रापि कल्प्येत, तत्तु नास्ति। कुत:? संस्कारपरामर्शात्–'तं ह उपनिन्ये...इत्यध्ययनलिङ्गात्। एवमन्यत्र सर्वत्र वैदिके

ऽर्थं ज्ञातव्ये उपनयनसंस्कारः परामृश्यते, तस्मात् ।

किञ्च—वैश्वानरविद्यायां 'तान् ह अनुपनीय' इत्यत्रापि प्राचीन-शालादीनां महाश्रोत्रियत्वलिङ्गेन ब्राह्मणतया उपनयनस्य सिद्धत्वात् वैशेषिकतन्निषेधस्यैव अनुवादात् सर्वत्र तत्परामर्शो निर्बाधः । तदभावा-भिलापाच्च—

शूद्रस्य तु 'चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः' इति, 'न शूद्रे पातकं किञ्चिद् न च संस्कारमर्हति' इति संस्काराऽभावकथनात् । चकारो न 'शूद्राय मतिं दद्याद्' इति निषेधस्य संग्रहाय । तथाच अत्र शूद्रस्य अधिकार-कल्पने अनेकश्रुतिस्मृति-विरोधः' इति । यहाँ पर्याप्त स्पष्टता की गई है ।

(शूद्रका कहीं ब्रह्मविद्यामें यदि अधिकार हो, तो यहाँ भी कल्पित किया जावे; पर वह तो है नहीं । क्योंकि—'उसका उपनयन किया' । यह अध्ययनका लिङ्ग है । इस प्रकार अन्यत्र सब स्थान वैदिक-अर्थ ज्ञातव्य हो, तो उपनयन-संस्कारका वर्णन करना पड़ता है ।

इसके अतिरिक्त—वैश्वानरविद्यामें 'उनका उपनयन न करके' यहाँ भी प्राचीनशाल आदिके बड़े श्रोत्रिय (वेदपाठी संस्कृत-ब्राह्मण) होनेके चिन्हसे ब्राह्मण होनेसे, उनका उपनयन पहलेसे सिद्ध होनेसे उनका पुनः उपनयन नहीं किया गया । विशेष करके शूद्रके ही विद्याके निषेधके अनुवादसे सर्वत्र उपनयनका ही ग्रहण निर्बाध है ।

शूद्रके निषेधका वर्णन भी मिलता है । जैसे कि—चौथा वर्ण शूद्र एक होता है, द्विज नहीं । शूद्रको लहसन आदि खानेसे पाप नहीं होता । क्योंकि—पहलेसे ही नीचे सोया हुआ नीचे गिर नहीं जाता । 'शूद्र उपनयन-संस्कारके योग्य नहीं होता', ऐसा स्मृतिमें उसके संस्कारका अभाव कहा गया है । 'स्मृतेश्च' यह 'चकार' 'शूद्रको बुद्धि वा बुद्धिमन्त्र न दे' इस स्मार्तवाक्यके ग्रहणार्थ है । तब यदि शूद्रका वेदमें अधिकार माना जावे, तो अनेक श्रुति-स्मृतियोंका विरोध आता है ।)

अब १।३।३८ ब्रह्मसूत्रके सूत्रकी वृत्ति उद्धृत की जा रही है—[शूद्रकी वेदविद्यामें] अधिकारचिन्ता तब हो सकती है, यदि किसी प्रमाणसे उस अधिकारकी सम्भावना हो । जैसे—पतित अग्निहोत्रकी प्राप्तिके स्थलमें शूद्रका वेदका श्रवण तथा अध्ययन एवं अर्थज्ञान—इन तीनोंका निषेध किया गया है ।

सूत्रमें जो 'ज्ञान' शब्द नहीं कहा गया, सो शूद्रके निकट दूसरेको भी अध्ययनका निषेध है—यह बात बतानेकेलिए है । शूद्रका निषेध तो 'अथास्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम्', 'यद्यु वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रः...'उदाहरणे जिह्वाच्छेदः' इत्यादि श्रुतियोंमें देखना चाहिये ।...

इसके अतिरिक्त 'वेदाक्षरके विचारसे शूद्र उसी क्षण पतित हो जाता है' 'वेदाक्षर-विचारेण शूद्रः चाण्डालतां व्रजेत्' इत्यादि स्मृतिवचनोंसे भी शूद्रका अधिकार नहीं है । यहां 'स्मृतेः' इस शब्दरूपके षष्ठीके सदृश होनेसे यह भी पता लगता है कि—स्मृतियों तथा पुराणोंके ज्ञान एवं कर्म-में भी शूद्र-जातिके उत्पन्न करनेवाले पापसे जातिशूद्रका अधिकार नहीं है, किन्तु शापादि-कारणविशेषसे शूद्र हुओं [विदुर आदि] का यह अधिकार है । तब पुराणादिका पाठ भी शूद्रका सङ्कोचसे ही जानना चाहिये । इस कारण किसी भी वैदिक-कर्ममें शूद्रका अधिकार नहीं है—यह सिद्धान्त है ।)

इसके संस्कृत शब्द वहां यह हैं—

[शूद्रस्य वेदविद्यायाम्] अधिकार-चिन्ता तदा स्याद्, यदि केनचित् प्रमाणेन अत्र स सम्भाव्येत । यथा पतिताग्निहोत्र-प्रतिपत्तिस्थले शूद्रस्य श्रवणम्, अध्ययनम्, अर्थज्ञानं च इति त्रयाणां निषेधात् ।

सूत्रे ज्ञानपदानुक्तिस्तु शूद्रस्य सन्निधौ अन्यस्यापि अध्ययननिषेध-बोधनार्थम् । शूद्र-प्रतिषेधस्तु 'अथास्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-प्रतिपूरणमिति । यद्यु वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रः, तस्मात् शूद्र-सामीप्ये

नाध्येयमिति। उदाहरणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेद इति श्रुतिषु द्रष्टव्य:।......

किञ्च—'वेदाक्षरविचारेण शूद्र: पतति तत्क्षणात्' 'वेदाक्षरविचारेण ब्राह्मणीगमनेन च। कपिलाक्षीरपानेन शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्' इत्यादि-स्मृतेरिति शब्दरूपस्य षष्ठी-साहश्याद् इदमपि बोध्यते यत्-स्मार्तपौराण-ज्ञानकर्मणोरपि न शूद्रजातिजनकेन दुष्कर्मणा जाति-शूद्रस्य अधिकार:, किन्तु शापादिना कारणविशेषेण जातानाम् [विदुरादीनाम्] एव अधिकार इति। तेन पुराणादि-पाठोपि सङ्कोचादेव अवगन्तव्य:। तस्मात् क्वचिदपि वैदिके शूद्रस्य नाधिकार इति स्थितम्'।

(इससे शूद्रका वैदिक-ब्रह्मविद्यामें अनधिकार बताया है; स्मृति तथा पुराणोंमें भी अधिकार सङ्कोचवश बताया गया है। इसपर गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी-महाराजने अपनी बनाई 'भाष्यप्रकाश' व्याख्यामें कुछ प्रकाश डाला है, उसका उद्धरण भी दिया जाता है। उक्त-उद्धरणमें आरूढपतित-शूद्रोंकी पुराणोंके कुछ अंशके श्रवणमें अभ्यनुज्ञा बताई गई है—

"पुराणान्तरे—'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत:' इति-शूद्रस्यापि सामान्यत: श्रावणविधानात्। स्मृतिकौमुद्यां स्कान्दे-'अस्ति शूद्रस्य शुश्रूषा पुराणेनैव वेदनम्। वदन्ति केचिद् विद्वांस: स्त्रीणां शूद्र-समानताम्' इति।...परन्तु तादृशज्ञाने 'आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्। अहङ्कारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि' इत्युक्तरीतिकेन शापादिना कारणविशेषेण शूद्रयोनिगतानां विदुरवेदवादिदासीसुत-सदृशां फलमुखोधिकार:, तादृशामेव तत्र कृतार्थत्वस्मरणात्। तत्र शूद्रयोनिगत-त्वेपि न कर्मजातिशूद्राणाम्। ज्ञानादौ-इति आदिपदेन 'जप: तप: तीर्थ-यात्रा प्रव्रज्या मन्त्रसाधनम्। देवताराधनं चैव स्त्री-शूद्रपतनानि षट्' इत्येतेषां संग्रह:। विदुरादीनां तीर्थयात्रादिदर्शनात्। इतरेषां [शूद्रादीनां] तत्कतॄणां कामक्रोधादय एव दृश्यन्ते, न तु उपशम:' इति।

...[शूद्रादिभि: पुराणादिष्वपि] ब्रह्मज्ञान-भागांशव्यतिरिक्तमेव पठनीयम्।......तथा [शूद्रादिभिस्तेषु] प्रणवादिमान् वैदिक-मन्त्रयुक्तोपि त्याज्य:, 'वेद: प्रणव एवाग्रे' इति 'स [प्रणव:] सर्वोपनिषद्-वेदबीजं सनातनम्' इत्यादिवाक्यै: प्रणवस्य विशेषतो वेदत्वनिश्चयात्।...'नाप-मन्त्रस्तु शूद्रस्य' 'स्वाहाकार-नमस्कारौ मन्त्रौ शूद्रे विधीयेते। ताभ्यां शूद्र: पाकयज्ञैर्यजेत ब्रह्मवान् स्वयम्'।

(अन्य पुराणमें कहा है—'ब्राह्मणको आगे करके चारों वर्णोंको पुराण सुनावे'। इससे शूद्रको भी सामान्यत: पुराणादि सुनानेका विधान है। स्मृति-कौमुदीमें स्कन्दका प्रमाण यह है—'शूद्रका कर्म सेवा है। पुराणसे ही वह ज्ञान कर सकता है। कई विद्वान्. स्त्रियोंको भी शूद्रके समान मानते हैं।...परन्तु वैसे ज्ञानमें आसक्तिमें वा अहङ्कारमें कहीं लोकमें उस मार्गके स्थापनकेलिए भगवान् ही शाप दिला दिया करते हैं' इस प्रकार शाप आदि कारण-विशेषसे शूद्रयोनिको प्राप्त विदुर आदि वेदवादी दासीसुतोंके समान फलजनक अधिकार हुआ करता है। और वैसे ही व्यक्ति सफल माने जाते हैं; जातिशूद्र तो वहां अधिकृत नहीं होते। 'ज्ञानादिमें' 'आदि' शब्दसे 'जप, तपस्या, तीर्थयात्रा, संन्यास, मन्त्रसाधन तथा देवताराधन—यह छ: स्त्री और शूद्रके पतनके कारण होते हैं [अत्रि.]इन वचनोंका भी संग्रह (ग्रहण) हो जाता है। विदुर आदि आरूढ-पतित-शूद्रोंकी तो तीर्थयात्रा भी देखी गई है। शेष शूद्रोंकेलिए तो उनका निषेध ही है। इसलिए आजकलके उन कृत्योंको करनेवाले शूद्रोंके काम-क्रोध ही बढ़ते हुए देखे गये हैं, शान्ति आदि नहीं।

[शूद्रादियोंको पुराणादिमें भी] ब्रह्मज्ञानसे व्यतिरिक्त ही भाग पढ़ना चाहिये।

[शूद्रादियोंको उनमें] ॐकार आदिवाला वैदिकमन्त्र भी छोड़ देना चाहिये। 'आरम्भमें ॐकार वेद ही होता है'। 'वह (ॐकार)

सब उपनिषद्रूप वेदोंका सनातन बीज है" इत्यादि वाक्योंसे ओंकार विशेषरूपसे वेद निश्चित है।...शूद्र नाममन्त्रका अधिकारी होता है'। शूद्रकेलिए केवल 'स्वाहा' करना तथा नमस्कारमन्त्र विहित है। उनसे शूद्र स्वयं ब्रह्मवान् होकर यज्ञ करे'।

इत्यादिद्वारा शूद्रका वेदमें तो अधिकार सर्वथा सिद्ध नहीं होता; पुराणादिके भी ॐ तथा ब्रह्मज्ञानमें भी उसका साक्षात् अधिकार नहीं होता।)

यह श्रीवल्लभाचार्य-गोस्वामीका आशय समाप्त हुआ।

---

(५३) श्रीनिम्बार्काचार्यका अपशूद्राधिकरण-भाष्य।

आगे दयानन्दी वादी 'श्रीनिम्बार्काचार्य और शूद्र' शीर्षकसे उनका शूद्रोंके वेदाधिकारविषयमें ब्रह्मसूत्रके उन सूत्रोंका भाष्य उद्धृत करता है। प्रतिपक्षीने श्रीनिम्बार्काचार्यका भी पूरा उद्धरण नहीं दिया। हम उनके पूर्व-सूत्रोंका भाष्य भी 'वेदान्तपरिजात-सौरभ' से उद्धृत करते हैं—

'विद्याप्रदेशे तं ह उपनिन्ये' इत्यादिना उपनयन-संस्कार-परामर्शात्—'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः न च संस्कारमर्हति' इति तदभावाभिलापाच्च विद्यायां शूद्रो नाधिक्रियते' (१।३।३६)।

(विद्याप्रदेशमें यह आता है कि—'उसका उपनयन किया' इत्यादिसे उपनयन-संस्कारका अनुशासन किया गया है। शूद्र चौथा वर्ण एकज है, वह उपनयन-संस्कारका अधिकारी नहीं है, इस प्रकार शूद्रके उपनयनाधिकारका निषेध आनेसे वह वेदविद्यामें अधिकारी नहीं होता।)

इसी प्रकार वहीं लिखा है—'शूद्रः चतुर्थो वर्ण एक-जातिः' इत्यादिना शूद्रस्य उपनयनादि-संस्काराऽभाव-कथनाद्—इत्यर्थः। इतरेषां तु 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, एकादशे क्षत्रियं, द्वादशे वैश्यम्—इत्युपनयनमभिधीयते' (१।३।३६) (शूद्र चौथा वर्ण है, एकज है, द्विज नहीं। इससे शूद्रको

उपनयना`-संस्कारका अभाव कहा गया है। शेष वर्णोंका 'आठ वर्ष वाले ब्राह्मणका उपनयन करे, ११वें में क्षत्रियका, १२वें में वैश्यका—इस प्रकार उपनयन कहा गया है)।

'शूद्रो नाधिक्रियते, शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्-इत्यादिना तस्य वेद-श्रवणादि-निषेधात्, 'न चास्योपदिशेद् धर्मान्' इत्यादि स्मृतेश्च' (वे.पा. सौ. १।३।३८) 'यद्यु ह वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रः, तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' यस्य समीपे अध्ययनमपि न कर्तव्यम्, तस्य वेद-श्रवणं, तदध्ययनं, तदर्थज्ञानं तदुक्तधर्मानुष्ठानं च सुतरां निषिद्धमित्यर्थः'।

(शूद्रका अधिकार नहीं है, 'शूद्रके पास नहीं पढ़ना चाहिये' इससे शूद्रका वेद सुनने आदिका निषेध है। 'शूद्रको धर्मका उपदेश न करे' यह स्मृतिवचन भी है। 'शूद्र श्मशानसदृश है, अतः उसके पास वेद मत पढ़ो'। जिसके पास वेद पढ़नेका भी निषेध है; उस शूद्रका वेद-श्रवण तथा वेदका अध्ययन तथा उसका अर्थज्ञान एवं वेदोक्त धर्मका अनुष्ठान करना सर्वथा निषिद्ध है)।

---

(५४) श्रीयतिपण्डित-भगवत्पादाचार्यका अपशूद्राधिकरण-भाष्य

आगे दयानन्दी वादी 'श्रीयति-पण्डित भगवत्पादाचार्य और शूद्र' शीर्षकसे अपने 'उदारतम आचार्य स्वा.द.' ट्रैक्टमें उनका वेदान्तसूत्रके श्रीकरभाष्यसे उद्धरण देता है। हमारे पास उसका संग्रह नहीं है, अतः हम वादीसे उद्धृत पाठ ही देते हैं, पर 'आलोक'-पाठकोंको याद रख लेना चाहिये कि—वादी जब सनातनधर्मी पुस्तकोंके उद्धरण देता है; तब उसके बहुत आवश्यक-उद्धरणोंको ढीला करनेकेलिए उन्हें छिपा दिया करता है—इसमें भी बहुत सम्भव है—उसने ऐसा किया हो।

'इतश्च न शूद्रस्य अधिकारः, कस्मात् ? स्मृतेश्च', स्मृतितो वेद-श्रवणस्य, तदध्ययनस्य, तत्प्रयोजनयोरर्थज्ञानानुष्ठानरूपयोः अर्थयोः

प्रतिषेधात्-निषेधाद् इत्यर्थः। अथ वास्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-परिपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेदः, इति श्रुतौ शूद्रस्य वेदाध्ययनादौ शिक्षा (दण्डः) श्रूयते—।

'शूद्रस्य वेदश्रवणे तच्छ्रोत्रे परमादरात्। त्रपु प्रपूरयेद् राजा तदुच्चारणमात्रतः। तज्जिह्वां छेदयेत् तूर्णं, तद्धारणवशात् तदा। शरीरभेदनं कुर्याद् विधिरेषोऽप्युच्यते' इति स्मृतिरपि श्रूयते'।

(शूद्रका वेदादिका अधिकार नहीं है; क्योंकि—स्मृति भी यह कहती है। स्मृतिसे शूद्रका वेदश्रवण तथा उसका अध्ययन, तथा उसके प्रयोजनवाले अर्थज्ञान तथा अनुष्ठानरूप अर्थोंका निषेध है। 'अथ वा अस्य वेदमुपशृण्वतः' इस श्रुतिमें शूद्रको वेदाध्ययनादि करनेपर कड़ा दण्ड सुनाई पड़ता है। स्मृतिमें भी कहा है कि—राजा शूद्रको वेदादि सुननेपर कड़ा दण्ड दे'।)

इस भाष्यसे यह भी प्रतीत होता है कि—'अथ वास्य शूद्रस्य वेदमुपशृण्वतः' यह 'गौतमधर्मसूत्र' में किसी ब्राह्मणभागसे श्रुति उद्धृत की गई है। ऐसा प्रकार श्रुतियोंको उद्धृत करना—'वसिष्ठधर्मसूत्र' तथा 'बोधायनधर्मसूत्र' एवं 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' में भी देखा गया है। इस प्रकार 'गौतमधर्मसूत्र' में भी वैसा करना स्वाभाविक है। तब उसकेलिए 'धृष्टता वा धूर्तता' शब्द लिखना प्रतिपक्षीका अपने पक्षकी निर्बलता बताना है। मनुस्मृति भी जब ऐसे शूद्रके दण्डको बताती है, उन अक्षरोंको स्मरण करती है, जैसाकि पहले बताया जा चुका है—और वह मनुस्मृति 'वैदिकस्मृति' भी मानी जाती है; तब हमारा यह पक्ष सिद्ध हो गया।

---

(५५) 'वैयासिक-न्यायमाला' का अपशूद्राधिकरण।

आगे प्रतिपक्षीने इस विषयमें श्रीसायणाचार्यका उद्धरण दिया है। हम इस विषयमें 'वैयासिक-न्यायमाला' (१।३) दशमाधिकरणका उद्धरण

भी देते हैं। प्रतिपक्षी कदाचित् इसका उद्धरण देना भूल गया है। वह यह है—

'शूद्रोऽधिक्रियते वेदविद्यायामथवा नहि। अत्रैवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान्' यह पूर्वपक्ष है, और महत्त्वपूर्ण है, इसे एक रामानन्दी महाशयने भी अपने 'वैदिकभाष्य' में अपनाया है कि—'देवता भी जब अत्रैवर्णिक हैं; और उनको वेदाधिकार है; तब शूद्रको भी वेदाधिकार क्यों न माना जावे'? इसका उत्तरपक्ष वहाँ इस प्रकार लिखा है—

'देवाः स्वयम्भातवेदाः, शूद्रोऽध्ययन-वर्जनात्। नाधिकारी श्रुतौ, स्मार्तेष्वधिकारो न वार्यते' (१९-२०) अर्थात् देवताओंको वेद कोई भी नहीं पढ़ाता; वे भी गुरुसे वेदका अध्ययन नहीं करते हैं। उनको स्वयं ही वेद स्फुरित हो जाते हैं। क्योंकि—'विद्वांसो हि देवाः' (शतपथ ३।७।३।१०) देवता जन्मसे ही स्वतः विद्वान् होते हैं। शूद्रको कोई भी श्रुति वा स्मृति वेदाध्ययनका अधिकार नहीं देती। अतः शूद्र वेदका अधिकारी नहीं होता। हाँ, उसे स्मार्त-कर्मसे नहीं हटाया जा सकता।)

'अस्ति देवशूद्रयोर्वैषम्यम्। उपनयनाध्ययनाभावेपि स्वयंभात-वेदा देवाः, तादृशस्य सुकृतस्य पूर्वमुपार्जितत्वात्। शूद्रस्तु तादृशसुकृतराहित्यान्न स्वयम्भात-वेदः; नापि तस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनाऽभावात्। अतो विद्वत्ताख्यस्य अधिकारहेतोरभावान्न श्रौतविद्यायां शूद्रोऽधिकारी।...

यत्तु शूद्रस्य वेदविद्यायामनधिकारे सति मुमुक्षायां सत्यामपि मुक्तिः सिध्येत्—इति चेन्न—स्मृतिपुराणादिमुखेन ब्रह्मविद्योदये सति मुक्तिसिद्धेः। तस्मान्न शूद्रो वेदविद्यायामधिक्रियते।'

(उत्तरपक्ष) देवताओं और शूद्रोंमें बड़ी विषमता है। उपनयन एवं वेदाध्ययन न होनेपर भी देवताओंको तो वेद स्वयं प्रतिभात हो जाते हैं। क्योंकि—वे वैसा पुण्य पूर्व-जन्ममें उपार्जित कर चुके हैं; परन्तु शूद्र गत-जन्ममें वैसे पुण्य न होनेसे उसे वेद स्वयं प्रतिभात नहीं होता। उसका वेदाध्ययन भी नहीं होता; क्योंकि उसका जनेऊ नहीं होता।

अतः विद्वत्ता-नामक अधिकारके हेतु न हो सकनेसे शूद्र वैदिक-विद्यामें अधिकृत नहीं होता।

जोकि यह प्रश्न किया जाता है—'यदि शूद्रका वेदविद्यामें अधिकार नहीं है, तो उसे यदि मुक्तिकी इच्छा हो, तो उसको मुक्ति सिद्ध न होगी, यह कहना भी ठीक नहीं। स्मृति, पुराण-आदिद्वारा ब्रह्मविद्याका उदय होनेपर उसकी मुक्ति भी सिद्ध हो जावेगी। इस कारण शूद्र वेदविद्यामें अधिकारी नहीं।

यह पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार वेदान्तदर्शन' के 'अपशूद्राधिकरण' के अनुसार शूद्रका वेदमें अनधिकार सिद्ध हो गया।

---

(५६) यज्ञमें शूद्रका अनधिकाराधिकरण।
(मीमांसादर्शन ६।१।२५-३८)

'मीमांसादर्शन' के छठे अध्यायके प्रथमपादके २५वें सूत्रसे ३८वें सूत्र तक 'यागे शूद्रस्य अनधिकाराधिकरण' है; इसका अर्थ है कि-यज्ञमें शूद्रका अधिकार नहीं होता-यह इस अधिकरणका विषय है। हम शाबरभाष्यको आधारीकृत करके मीमांसादर्शनके सूत्रोंके पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष स्पष्ट करेंगे। उसमें दोनों पक्षोंकी जो युक्ति-प्रयुक्तियाँ होंगी; तथा प्रमाण होंगे; हम उन्हें भी उद्धृत करेंगे।

'मीमांसादर्शन' श्रीव्यासजीके शिष्य श्रीजैमिनिमुनिसे प्रणीत है। कोई भी वेदादिशास्त्रका प्रमाण ऐसा नहीं मिलता; जिससे शूद्रका यज्ञ वा वेदोंमें अधिकार सिद्ध होता हो। 'मीमांसादर्शन' को 'कर्ममीमांसा' एवं पूर्वमीमांसा' तथा वेदान्तदर्शनको उत्तरमीमांसा एवं 'ज्ञानमीमांसा' वा 'ब्रह्म-सूत्र' कहते हैं। जब वेदान्तदर्शन शूद्रको वेदज्ञानमें अधिकारी नहीं मानता; तब मीमांसादर्शन भला शूद्रको कर्ममें अधिकारी कैसे स्वीकृत कर सकता

है? अब हम पूर्वमीमांसाके सूत्रोंका हिन्दीमें व्याख्यान देते हैं।

(१) **"चातुर्वर्ण्यमविशेषात्"** (६।१।२५) यह पूर्वपक्षका सूत्र है। इसमें अग्निहोत्रादि-कर्मोंके अधिकारीके विषयमें पूर्वपक्षमें वादी कहता है कि-कर्मोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र-यह चारों वर्ण अधिकारी हैं? वा शूद्रको छोड़कर तीन आदिम-वर्ण अधिकारी हैं? इसपर वादी कहता है कि-हमें तो यह प्रतीत होता है कि-'यजेत, जुहुयात्' आदि शब्द वेदमें आते हैं; यह सामान्य-शब्द हैं, यहाँ किसी विशेष-वर्णका नाम गृहीत नहीं। अतः शूद्र भी अनधिकारी नहीं है।

(२) **"निर्देशाद् वा त्रयाणां स्याद्, अग्न्याधेये हि असम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मण-श्रुतिः-इति आत्रेयः"** (६।१।२६)

यह आत्रेयके नामसे सिद्धान्तसूत्र है। इसमें 'वा' शब्द पूर्वपक्षको काट रहा है। आत्रेय कहते हैं-आदिम तीन-वर्णोंका ही यज्ञमें अधिकार होता है, चारों वर्णोंका नहीं; क्योंकि अग्न्याधानमें तीन ही वर्णोंका निर्देश मिलता है। जैसेकि-**'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः'** (वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण अग्न्याधान करे, ग्रीष्म ऋतुमें क्षत्रिय और शरद् ऋतुमें वैश्य'। शूद्रके अग्न्याधानमें श्रुति सर्वथा नहीं मिलती; इसलिए शूद्र अनग्नि (अग्निरहित) होनेसे अग्निहोत्र करनेमें अधिकारी नहीं। 'तस्माद् अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' (स्वर्गकी कामनावाला अग्निहोत्र करे) इत्यादि स्थलोंमें शूद्रको प्राप्त करानेवाली कोई श्रुति नहीं मिलती; नहीं तो उसका उपनयन भी होता। ब्राह्मणादि-त्रैवर्णिककेलिए तो पूर्वोक्त श्रुति मिलती है। वे समर्थ भी होते हैं; क्योंकि-वे अग्निमान् हैं, और शूद्र अनग्नि (अग्निहोत्रकी अग्नि रखनेवाले नहीं) हैं। आहवनीयादि अग्नियोंके रखनेका शूद्रकेलिए कहीं विधान नहीं। क्योंकि-आहवनीय आदि अग्नियाँ संस्कार वालों (उपनीतों) की ही होती हैं; अतः अनुपनीत शूद्र अग्निहोत्रादिमें अधिकारी नहीं। यह आत्रेय-मुनि कहते हैं।

प्रतिषेधात्-निषेधाद् इत्यर्थः। अथ वास्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-परिपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेदः, इति श्रुतौ शूद्रस्य वेदाध्ययनादौ शिक्षा (दण्डः) श्रूयते—।

'शूद्रस्य वेदश्रवणे तच्छ्रोत्रे परमादरात्। त्रपु प्रपूरयेद् राजा तदुच्चारणमात्रतः। तज्जिह्वां छेदयेत् तूर्णं, तद्धारणवशात् तदा। शरीरभेदनं कुर्याद् विधिरेषोऽप्युच्यते' इति स्मृतिरपि श्रूयते'।

(शूद्रका वेदादिका अधिकार नहीं है; क्योंकि–स्मृति भी यह कहती है। स्मृतिसे शूद्रका वेदश्रवण तथा उसका अध्ययन, तथा उसके प्रयोजन-वाले अर्थज्ञान तथा अनुष्ठानरूप अर्थोंका निषेध है। 'अथ वा अस्य वेदमुपशृण्वतः' इस श्रुतिमें शूद्रको वेदाध्ययनादि करनेपर कड़ा दण्ड सुनाई पड़ता है। स्मृतिमें भी कहा है कि–राजा शूद्रको वेदादि सुननेपर कड़ा दण्ड दे'।)

इस भाष्यसे यह भी प्रतीत होता है कि–'अथ वास्य शूद्रस्य वेद-मुपशृण्वतः' यह 'गौतमधर्मसूत्र' में किसी ब्राह्मणभागसे श्रुति उद्धृत की गई है। ऐसा प्रकार श्रुतियोंको उद्धृत करना–'वसिष्ठधर्मसूत्र' तथा 'बोधायनधर्मसूत्र' एवं 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' में भी देखा गया है। इस प्रकार 'गौतमधर्मसूत्र' में भी वैसा करना स्वाभाविक है। तब उसकेलिए 'धृष्टता वा धूर्तता' शब्द लिखना प्रतिपक्षीका अपने पक्षकी निर्बलता बताना है। मनुस्मृति भी जब ऐसे शूद्रके दण्डको बताती है, उन अक्षरों-को स्मरण करती है, जैसाकि पहले बताया जा चुका है–और वह मनु-स्मृति 'वैदिकस्मृति' भी मानी जाती है; तब हमारा यह पक्ष सिद्ध हो गया।

---

(५५) 'वैयासिक-न्यायमाला' का अपशूद्राधिकरण।

आगे प्रतिपक्षीने इस विषयमें श्रीसायणाचार्यका उद्धरण दिया है। हम इस विषयमें 'वैयासिक-न्यायमाला' (१।३) दशमाधिकरणका उद्धरण

भी देते हैं। प्रतिपक्षी कदाचित् इसका उद्धरण देना भूल गया है। वह यह है—

'शूद्रोऽधिक्रियते वेदविद्यायामथवा नहि। अत्रैवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रोऽधिकारवान्' यह पूर्वपक्ष है, और महत्त्वपूर्ण है, इसे एक रामानन्दी महाशयने भी अपने 'वैदिकभाष्य' में अपनाया है कि–'देवता भी जब अत्रैवर्णिक हैं; और उनको वेदाधिकार है; तब शूद्रको भी वेदाधिकार क्यों न माना जावे' ? इसका उत्तरपक्ष वहाँ इस प्रकार लिखा है—

'देवाः स्वयम्भातवेदाः, शूद्रोऽध्ययन-वर्जनात्। नाधिकारी श्रुतौ, स्मार्तेष्वधिकारो न वार्यते' (१९-२०) अर्थात् देवताओंको वेद कोई भी नहीं पढ़ाता; वे भी गुरुसे वेदका अध्ययन नहीं करते हैं। उनको स्वयं ही वेद स्फुरित हो जाते हैं। क्योंकि–'विद्वांसो हि देवाः' (शतपथ ३।७।३।१०) देवता जन्मसे ही स्वतः विद्वान् होते हैं। शूद्रको कोई भी श्रुति वा स्मृति वेदाध्ययनका अधिकार नहीं देती। अतः शूद्र वेदका अधिकारी नहीं होता। हां, उसे स्मार्त-कर्मसे नहीं हटाया जा सकता।)

'अस्ति देवशूद्रयोर्वैषम्यम्। उपनयनाध्ययनाभावेपि स्वयंभात-वेदा देवाः, तादृशस्य सुकृतस्य पूर्वमुपार्जितत्वात्। शूद्रस्तु तादृशसुकृतराहित्यान्न स्वयम्भात-वेदः; नापि तस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनाऽभावात्। अतो विद्वत्ताख्यस्य अधिकारहेतोरभावान्न श्रौतविद्यायां शूद्रोऽधिकारी।...

यत्तु शूद्रस्य वेदाविद्यायामनधिकारे सति मुमुक्षायां सत्यामपि मुक्तिं सिध्येत्–इति चेन्न–स्मृतिपुराणादिमुखेन ब्रह्मविद्योदये सति मुक्ति-सिद्धेः। तस्मान्न शूद्रो वेदविद्यायामधिक्रियते।'

(उत्तरपक्ष) देवताओं और शूद्रोंमें बड़ी विषमता है। उपनयन एवं वेदाध्ययन न होनेपर भी देवताओंको तो वेद स्वयं प्रतिभात हो जाते हैं। क्योंकि–वे वैसा पुण्य पूर्व-जन्ममें उपार्जित कर चुके हैं; परन्तु शूद्रको गत-जन्ममें वैसे पुण्य न होनेसे उसे वेद स्वयं प्रतिभात नहीं होता। उसका वेदाध्ययन भी नहीं होता; क्योंकि उसका जनेऊ नहीं होता।

अतः विद्वत्ता-नामक अधिकारके हेतु न हो सकनेसे शूद्र वैदिक-विद्यामें अधिकृत नहीं होता।

जोकि यह प्रश्न किया जाता है—'यदि शूद्रका वेदविद्यामें अधिकार नहीं है, तो उसे यदि मुक्तिकी इच्छा हो, तो उसको मुक्ति सिद्ध न होगी, यह कहना भी ठीक नहीं। स्मृति, पुराण-आदिद्वारा ब्रह्मविद्याका उदय होनेपर उसकी मुक्ति भी सिद्ध हो जावेगी। इस कारण शूद्र वेदविद्यामें अधिकारी नहीं।

यह पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार 'वेदान्तदर्शन' के 'अपशूद्राधिकरण' के अनुसार शूद्रका वेदमें अनधिकार सिद्ध हो गया।

---

(५६) यज्ञमें शूद्रका अनधिकाराधिकरण।
(मीमांसादर्शन ६।१।२५-३८)

'मीमांसादर्शन' के छठे अध्यायके प्रथमपादके २५वें सूत्रसे ३८वें सूत्र तक 'यागे शूद्रस्य अनधिकाराधिकरण' है; इसका अर्थ है कि—यज्ञमें शूद्रका अधिकार नहीं होता—यह इस अधिकरणका विषय है। हम शावरभाष्यको आधारीकृत करके मीमांसादर्शनके सूत्रोंके पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष स्पष्ट करेंगे। उसमें दोनों पक्षोंकी जो युक्ति-प्रयुक्तियाँ होंगी; तथा प्रमाण होंगे; हम उन्हें भी उद्धृत करेंगे।

'मीमांसादर्शन' श्रीव्यासजीके शिष्य श्रीजैमिनिमुनिसे प्रणीत है। कोई भी वेदादिशास्त्रका प्रमाण ऐसा नहीं मिलता; जिससे शूद्रका यज्ञ वा वेदोंमें अधिकार सिद्ध होता हो। 'मीमांसादर्शन' को 'कर्ममीमांसा' एवं 'पूर्वमीमांसा' तथा वेदान्तदर्शनको उत्तरमीमांसा एवं 'ज्ञानमीमांसा' वा 'ब्रह्म-सूत्र' कहते हैं। जब वेदान्तदर्शन शूद्रको वेदज्ञानमें अधिकारी नहीं मानता; तब मीमांसादर्शन भला शूद्रको कर्ममें अधिकारी कैसे स्वीकृत कर सकता

है? अब हम पूर्वमीमांसाके सूत्रोंका हिन्दीमें व्याख्यान देते हैं।

(१) **"चातुर्वर्ण्यमविशेषात्"** (६।१।२५) यह पूर्वपक्षका सूत्र है। इसमें अग्निहोत्रादि-कर्मोंके अधिकारीके विषयमें पूर्वपक्षमें वादी कहता है कि—कर्मोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—यह चारों वर्ण अधिकारी हैं? वा शूद्रको छोड़कर तीन आदिम-वर्ण अधिकारी हैं? इसपर वादी कहता है कि—हमें तो यह प्रतीत होता है कि—'यजेत, जुहुयात्' आदि शब्द वेदमें आते हैं; यह सामान्य-शब्द हैं, यहां किसी विशेष-वर्णका नाम गृहीत नहीं। अतः शूद्र भी अनधिकारी नहीं है।

(२) **"निर्देशाद् वा त्रयाणां स्याद्, अग्न्याधेये हि असम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मण-श्रुतिः-इति आत्रेयः"** (६।१।२६)

यह आत्रेयके नामसे सिद्धान्तसूत्र है। इसमें 'वा' शब्द पूर्वपक्षको काट रहा है। आत्रेय कहते हैं—आदिम तीन-वर्णोंका ही यज्ञमें अधिकार होता है, चारों वर्णोंका नहीं; क्योंकि अग्न्याधानमें तीन ही वर्णोंका निर्देश मिलता है। जैसेकि—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः' (वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण अग्न्याधान करे, ग्रीष्म ऋतुमें क्षत्रिय और शरद् ऋतुमें वैश्य'। शूद्रके अग्न्याधानमें श्रुति सर्वथा नहीं मिलती; इसलिए शूद्र अनग्नि (अग्निरहित) होनेसे अग्निहोत्र करनेमें अधिकारी नहीं। 'तस्माद् अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' (स्वर्गकी कामनावाला अग्निहोत्र करे) इत्यादि स्थलोंमें शूद्रको प्राप्त करानेवाली कोई श्रुति नहीं मिलती; नहीं तो उसका उपनयन भी होता। ब्राह्मणादि-त्रैवर्णिककेलिए तो पूर्वोक्त श्रुति मिलती है। वे समर्थ भी होते हैं; क्योंकि—वे अग्निमान् हैं, और शूद्र अनग्नि (अग्निहोत्रकी अग्नि रखनेवाले नहीं) हैं। आहवनीयादि अग्नियोंके रखनेका शूद्रकेलिए कहीं विधान नहीं। क्योंकि—आहवनीय आदि अग्नियां संस्कार वालों (उपनीतों) की ही होती हैं; अतः अनुपनीत शूद्र अग्निहोत्रादिमें अधिकारी नहीं। यह आत्रेय-मुनि कहते हैं।

(३) "निमित्तार्थेन बादरिः, तस्मात् सर्वाधिकारं स्यात्" (६।१।२७)

यह बादरिका पूर्वपक्षका सूत्र है। यह जो कहा गया है कि–शूद्रका अधिकार नहीं है–यह ठीक नहीं। जो भी यजनका अर्थी (चाहनेवाला हो) उसकेलिए 'यजेत' (यज्ञ करे) यह आता है। जब तक शूद्रका साक्षात् निषेध न मिले, तब तक शूद्र यज्ञसे हट नहीं सकता। जो कि कहा जाता है कि–शूद्र अनग्नि होनेसे यज्ञमें असमर्थ है, यह ठीक नहीं, उसे अग्नि भी अर्थ-प्राप्त हो सकती है। 'काम' शब्दसे 'जो चाहता हो' यह अर्थ निकलता है, उसमें किसी वर्णका बन्धन नहीं हो सकता।

(प्र.) अग्न्याधानकी चोदना (आज्ञा) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको युक्त है, तब इसमें शूद्र गृहीत नहीं हो सकेगा; क्योंकि–चोदना-वाक्यमें शूद्रका नाम नहीं। (उ.) वे श्रुतियाँ निमित्तार्थक हैं; शूद्रको प्राप्त करानेवाली नहीं है। यह शब्द निमित्त-स्वभावक हैं—'ब्राह्मण आदधानो वसन्ते, राजन्यो ग्रीष्मे, वैश्यः शरदि' यहां ब्राह्मणादि तीनोंका क्रमसे वसन्त, ग्रीष्म और शरद् इन तीन ऋतुओंसे अग्न्याधानका सम्बन्ध रखा गया है। तब ब्राह्मणादिका वसन्त आदि ऋतुओंसे सम्बन्ध है–यह बताया गया है; तब 'आदधीत' वाक्यसे शूद्र व्यावृत्त नहीं हो सकता (हट नहीं सकता)। इसलिए बादरि-आचार्य शास्त्रको सर्वाधिकार (सभी वर्णोंमें अधिकृत) मानते हैं।

यह 'बादरि' व्यासजीके पिता नहीं हैं, कोई अन्य आचार्य हैं। व्यासजीके पिता तो पराशर हैं; उन्होंने कहीं भी शूद्रका अधिकार नहीं माना है, इसपर पराशरस्मृति भी देखी जा सकती है—उसमें लिखा है–'पतितोपि (दुःशीलोपि) द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः। निर्दुग्धापि च गौः पूज्या न च दुग्धवती खरी' (८।३३) यह उत्तरार्ध स.प्र.में स्वा.द.जीने उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है–पतित भी द्विज श्रेष्ठ है, जितेन्द्रिय भी शूद्र ठीक नहीं। दूधसे रहित भी गाय पूजनीय होती

है, परन्तु दूधवाली गधी भी पूजनीय नहीं–कैसा सुन्दर दृष्टान्त है?

आजकलकी पराशरस्मृतिमें यह पाठ मिलता है—'कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेत् शीलवतीं खरीम्' (सींग मारनेवाली गायको छोड़कर कौन द्विज भला सौम्य-स्वभाववाली गधीका दूध यज्ञकेलिए वा अपने पीनेकेलिए दुहेगा? सो वैदिक-यज्ञ उच्च कर्म होनेसे शूद्रको अधिकृत नहीं। अथवा स्मार्तयज्ञ पञ्चमहायज्ञ इष्ट हों; तो और बात है, क्योंकि–वे नमः अन्तवाले मन्त्रोंसे शूद्रोंसे भी अकर्तव्य नहीं हैं।

(४) "अपि वाऽन्यार्थदर्शनाद् यथाश्रुति प्रतीयेत" (६।१।२८)

यह उत्तरपक्षको बतानेवाला सूत्र है। 'वा' शब्दसे पूर्वपक्ष व्यावृत्त सूचित होता है। कि–यथाश्रुति (श्रुत्यनुसार) ही मानना उचित है, क्योंकि–अग्न्याधानकी श्रुतिमें ब्राह्मणादि आदिम तीन वर्णोंका ही नाम सुनाई पड़ता है; तब अग्न्याधान भी उन्हीं आदिम तीन वर्णोंका ही होगा। वसन्त आदि शब्द साथ होनेसे उन-उन ऋतुओंमें ही वह आधान ब्राह्मणादिका होगा। उस श्रुतिमें शूद्रकी कोई ऋतु नहीं बताई गई है। तब वह अग्न्याधान शूद्र-वर्जितोंका ही होगा। 'बार्हद्गिर ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्याद्, प्रार्थुरथ्यं राजन्यस्य, राजोवाजीयं वैश्यस्य' इस विधि-वाक्यमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके तो विशेष साम बताये गये हैं, पर शूद्रका साम कोई भी नहीं बताया गया है।

व्रत भी तीन आदिम-वर्णोंके ही आये हैं—'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य' यह दूध, यवागू (लप्सी), आमिक्षा (रसगुल्ला) व्रत भी तीनों वर्णोंके ही उपनयनमें बताये गये हैं, इनमें भी शूद्रका नाम नहीं है। अग्निका आधान भी 'अष्टसु प्रक्रमेषु ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, एकादशसु राजन्यः, द्वादशसु वैश्यः' यह तीनों वर्णोंका ८-११-१२ वर्षकी आयुमें बताया गया है। सो साम, व्रत, तथा क्रमप्रक्रम अग्न्याधान भी तीनों वर्णोंके ही बताये गये हैं, शूद्रका तो इनमें नाम

तक नहीं। तव ब्रह्मसाम, दूध आदि व्रत, तथा क्रमप्रक्रम-अग्न्याधान शूद्रके जब नियत नहीं; तब वह उसका किया हुआ भी अविहित-कर्म निष्फल हो जायगा। इस कारण शूद्र हवन एवं यज्ञादि नहीं कर सकता।

(५) "निर्देशात्तु पक्षे स्यात्" (६।१।२९)

यह पूर्वपक्षका सूत्र है। जो कि-शूद्रको यज्ञिय-अग्नि अधिकृत नहीं है; अतः वह अग्निहोत्रका अधिकारी नहीं" यह कहा जाता है-यह ठीक नहीं। शूद्रका आधान भी हो सकता है—'य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते' (जो इस प्रकार विद्वान्-पुरुष अग्निका आधान करता है। इस शास्त्र-वचनमें सामान्य-शब्द 'विद्वान्' रखा गया है, यह भी निमित्तार्थक हो जावेगा; तब शास्त्र भी सर्वाधिकारका समर्थक सिद्ध हुआ।

(६) "वैगुण्यान्न-इति चेत्" (६।१।३०)

यह पूर्वपक्षपर तटस्थका शङ्कासूत्र है कि-यदि शूद्र ब्रह्मसाम, व्रत तथा क्रमप्रक्रम-रहित कर्म करेगा भी; तो वह कर्म विगुण (गुणहीन) होनेसे फलदायक नहीं होगा, इस शङ्काका तो समाधान करो ?

(७) "न, काम्यत्वात्" (६।१।३१)

पूर्वपक्षीका यह उत्तरसूत्र है। इसके समाधानकी आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि-शूद्र उस कर्मकी कामना करेगा। अभीवर्त नामक ब्रह्मसाम है; उसे भी आरम्भ न करके उसे सामान्यतया कहा गया है। 'चक्षुर्विमित आदध्यात्' इन अनियत-प्रक्रमोंमें भी शूद्रका आधान नियमित हो जावेगा। इस प्रकार शूद्रका व्रत भी हो जावेगा, 'मस्तु शूद्रस्य' शूद्रका व्रत मस्तु है—यह सम्बन्ध दीखनेसे मालूम होता है कि-वह शूद्रका ही है। इस कारण यज्ञमें चारों वर्णोंका ही अधिकार होना चाहिये।

(८) "संस्कारे च तत्प्रधानत्वात्" (६।१।३२)

यह पूर्वपक्षीका युक्तिसूत्र है-। व्रतमें विशेषता प्रतीत होती है—

यहाँ प्रधानताका भाव है। पुरुषप्रधान-संस्कारमें व्रतमें पुरुषकी प्रधानता होती है। जब संस्कारमें पुरुषकी प्रधानता है, वह बिना उपसंहारके शूद्रको निषिद्ध नहीं कर सकता। 'यजेत' (यज्ञ करे) इस वचनमें स्वर्ग-की कामना कहनेसे शूद्र भी स्वर्गकी कामना कर लेगा। तब उसका उसमें नाम नहीं है-यह कैसे कहा जा सकता है ? यज्ञकी ऐसी क्या वस्तु है; जो पुरुषसे पूरी हो सकती है, और उसको शूद्र न कर सकें। यदि कहो कि-वह व्रतको न कर सकेगा, तो यह ठीक नहीं। सामर्थ्य प्राप्त करनेकेलिए वह जिसको कहा जावे; उसीका उसके बिना सामर्थ्य नहीं होता; दूसरेका सामर्थ्य इससे निषिद्ध नहीं होता। इस प्रकार व्रत अङ्ग है, जो कर्ताको समर्थ कर दिया करता है। पर जिस शूद्रादिको उस व्रतसे प्रयोजन नहीं है, वह उसकी बिना परवाह किये ही यज्ञको सम्पन्न कर लेगा; इसलिए भी शूद्रको छोड़ा नहीं जा सकता।

९ "अपि वा वेदनिर्देशाद् अपशूद्राणां प्रतीयेत" (६।१।३३)

यह उत्तरपक्षका सूत्र है। 'अपि वा' से पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति इष्ट है। वेदके कथनसे शूद्रवर्जित त्रैवर्णिकोंका ही अधिकार है। क्योंकि-वेदमें तीन वर्णोंका ही निर्देश है। 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीन, ग्रीष्मे राजन्यम्, वर्षासु वैश्यम्' वसन्तमें ब्राह्मणका, ग्रीष्ममें क्षत्रियका और वर्षामें वैश्यका उपनयन होता है। तब शूद्रका उपनयन न होनेसे उसे वेदका भी अधिकार नहीं होता; और वेदके न होनेसे शूद्र वैदिक-यज्ञमें भी अधिकृत नहीं होता!

(१०) "गुणार्थित्वाद् न इति चेत्" (६।१।३४)

यह आशङ्कासूत्र है। शूद्र बिना उपनयनके स्वयं आचार्यके पास जाकर पढ़ लेगा; उसका यजनमें सामर्थ्य भी हो जावेगा।

(११) "संस्कारस्य तदर्थत्वाद् विद्यायां पुरुषश्रुतिः" (६।१।३५)

यह उत्तरपक्षका सूत्र है। विद्यामें जो कि पुरुषका नाम आता है; वहाँ उपनयन-संस्कार आवश्यक होता है। विद्याकेलिए ही आचार्यके पास

जाना होता है; न तो अदृष्टकेलिए; और न कोई दीवार बनानेकेलिए। इसीका नाम आचार्यकरण होता है। 'उपनयेत' में आत्मनेपद आचार्य-करणार्थ होता है। उपनयनाधिकारी न होनेसे आचार्य शूद्रको आचार्य-कुलमें नहीं आने देगा। उपपूर्वक णीञ् धातु आचार्यकरण अर्थमें ही होता है। देखो पाणिनिका सूत्र—'सम्मानन-उत्सञ्जन-आचार्यकरण...व्ययेषु नियः' (पा. १।३।३६)। उस अर्थसम्बन्धसे ही उपनयन आचार्य-करणार्थक ही है। वेदके पढ़ानेसे ही आचार्य होता है। अतः वेदाध्ययनमें ब्राह्मणादि आदिम तीन वर्ण ही सुने गये हैं, शूद्र सर्वथा नहीं। शूद्रका वेदाध्ययन नहीं सुना गया है। तब वेदरहित होनेसे शूद्र यागमें भी अधिकृत नहीं होता।

(१२) "विद्यानिर्देशाद् न इति चेत्" (६।१।३६)

यह आशङ्कासूत्र है। यदि वेद न होनेसे शूद्र वेदमें अनधिकृत है; तो यह दोष ठीक नहीं। वह न कही हुई विद्याको भी पढ़ लेगा। न कही हुई विद्या भी पढ़ी जा सकती है। अतः यागमें चारों वर्णोंका ही अधिकार है।

(१३) "अवैद्यत्वाद् अभावः कर्मणि स्यात्" (३७)

यह पूर्व-आशङ्काको खण्डित करनेवाला सूत्र है। शूद्र पढ़ लेगा—यह कथन ठीक नहीं। शूद्रका अध्ययन निषिद्ध है—'शूद्रेण नाध्येतव्यम्-इति' (शूद्रको अध्ययन नहीं करना चाहिये।) पढ़नेपर भी उसका पढना सफल नहीं होता; बल्कि दोष भी उसको होता है। अतः शूद्र अवैद्य (वेदानधिकृत) है। इस कारण वह अनग्नि होनेसे कर्ममें भी अधिकृत नहीं। वह अनग्नि कैसे है? आधानमें वचन ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंके ही प्रापक हैं। (प्र.) 'य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते' यह आधानका विधायक सामान्य-वाक्य है। इसमें शूद्र भी गृहीत हो जावेगा। (उ.) उसमें 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' इत्यादि वचनोंमें ब्राह्मणका नाम उसके सम्बन्ध बतानेकेलिए ही है कि—ब्राह्मण वसन्तमें ही आधान करे। जो

इस प्रकार जाननेवाला अग्निका आधान करे—यह स्तुत्यर्थक वाक्य है। तब आनुमानिक बात प्रत्यक्षश्रुतसे दुर्बल हुआ करती है। तब वे वचन ब्राह्मणादिके प्राप्त करानेवाले हैं। अतः शूद्रका वेदमें अधिकार नहीं।

(१४) "तथा च अन्यार्थदर्शनम्" (६।१।३८)

यह शूद्रके अनधिकारका उपसंहारसूत्र है। शूद्रको यागादिमें अधिकार नहीं होता, इसमें अन्य भी लिङ्ग वा वचन हैं। 'यद्यु वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रः। तस्मात् शूद्र-समीपे नाध्येतव्यम्' (शूद्र जङ्गम श्मशान है; सो उसके पास वेद नहीं पढ़ना चाहिये—यह एक श्रुति है।) यहाँ शूद्रका अनध्ययन दिखलाया गया है। इसलिए शूद्रोंका यागमें अनधिकार है। (प्र.) आहवनीय आदि अग्निके बिना भी यज्ञमें वचन-बलसे शूद्रका यज्ञ हो जावेगा? (उ.) यहाँ स्वर्ग चाहनेवालेको यज्ञ-सत्ता नहीं कही जाती; किन्तु स्वर्गफलविशिष्ट यज्ञकी सत्ता बताई गई है, तब शूद्रका वैसे अग्निहोत्रादिमें अधिकार असम्भव ही है। अतः उसे यज्ञ प्राप्त नहीं।

यह 'यागमें शूद्रका अनधिकाराधिकरण' समाप्त हो गया। इसमें मीमांसाकारका शूद्रको यज्ञका अनधिकार ही इष्ट है, शबरस्वामीने सूत्रों-का हार्दिक अभिप्राय निकाल कर ही भाष्यमें रखा है। श्रीकुमारिलने भी जो वेदके महान् पण्डित थे—यही सिद्धान्तपक्ष रखा है। पर आजकलके युग-प्रवाहके पीछे चलनेवाले कई सनातनधर्मिंब्रुव भी ऐदंयुगीन-समाजकी वाह-वाही पानेकेलिए पूर्वपक्षको उत्तरपक्ष और उत्तरपक्षको पूर्वपक्ष बनाते हुए बहुत खींचातानी करते हैं; इन लोगोंके मस्तिष्क पर [illegible] नशा सवार है कि—वे परमात्मासे भी नहीं डरते; अनृत बोलनेवालोंको वरुणके पाश बान्धते हैं—'ये ते पाशा वरुण! सप्त-सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुषन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवादी अति तं सृजन्तु' (अ. ४।१६।६) (हे वरुण! जो तेरे तीन प्रकारके ४९ पाश स्थित हैं, खुले हुए हैं, और चमकते हुए हैं; वे सारे असत्य बोलनेवालेको

बांधें। जो सत्यवादी हों; उन्हें छोड़ दें) 'शतेन पाशै: अभिधेहि एनं मा ते मोचि अनृतवाङ् नृचक्ष: ! आस्तां जाल्म उदरं स्रंसयित्वा कोश इवाऽबन्ध: परिकृत्यमान:' (७) (हे वरुण ! असत्यवक्ताको सौ पाशोंसे बान्ध। जो झूठे वचनवाला है, मनुष्योंके शुभाशुभ आचरणोंके द्रष्ट हे वरुण ! तुमसे छूटने न पावे। वह असमीक्ष्यकारी पेटको ढिलकाकर बैठे)।

इत्यादि वेदमन्त्रोंकी भी परवाह नहीं करने—यह हम पीछे पृ. ४१२-४१३ में संकेतित कर चुके हैं। हम उनकी थोड़ी-सी आलोचना भी कर देते हैं।

श्रीतर्करत्नजी-जिनके 'आलोक'-पाठकोंने पीछे पूर्वपक्ष देखे होंगे, ने अपनी बनाई 'अछूतोद्धार-निर्णय' पुस्तिका पृ. १५-२० में 'मीमांसादर्शन' के इन सूत्रोंकी छीछालेदर की है। पुस्तकके नामसे ही स्पष्ट है कि—वे श्रीगान्धिजीके अछूतोद्धारसे प्रभावित हुए हैं। उनसे सनातनधर्मी श्रीमालवीयजी प्रभावित हुए, और उनसे सनातनधर्मी तर्करत्नजी प्रभावित हुए। फिर वे जो न करते; थोड़ा ही था। 'ब्लैकमार्कीट' व्यापारियोंकी सुनी जाती थी; अब वह ब्लैकमार्कीट शास्त्रोंमें भी इन लोगोंने शुरू कर दी है। अपनी इच्छानुसार खींच-खांचकर शास्त्रोंकी दुर्गति इन लोगोंने शुरू कर दी है।

रामानन्दी श्रीभ.आ. सनातनधर्मी होते हुए भी श्रीगान्धिजीके अछूतोद्धारसे प्रभावित हुए हैं। फिर भी उन्होंने मीमांसादर्शनके इन-सूत्रोंकी श्रीतर्करत्नजीकी भान्ति छीछालेदर नहीं की; उन्होंने मीमांसा-दर्शनके इन सूत्रोंको 'वेदान्तदर्शन'के अपने वैदिकभाष्यमें शूद्रका अनधिकार लिखना उचित कोटिमें माना है। उनका अभिप्राय यह है कि—'शूद्रका कर्मोंमें तो प्रतिबन्ध हो सकता है, पर ज्ञानमें नहीं; अत: श्रीजैमिनिने शूद्रका जो अनधिकार माना है, वह कर्ममीमांसा होनेसे ठीक है'। अस्तु !

मीमांसाका यह अधिकरण 'यागे शूद्रस्य अनधिकाराधिकरण' है; तब भला उस अधिकरणसे विरुद्ध 'शूद्रका अधिकाराधिकरण' कैसे बन गया; यह तर्करत्नजीने क्यों नहीं सोचा ?

और फिर उसमें पहला सूत्र 'चातुर्वर्ण्यमविशेषात्' (६।१।२५) स्पष्ट पूर्वपक्ष-सूत्र है, जिसमें चारों वर्णोंको अधिकृत किया गया है। कोई भी श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहासादि साहित्य, शूद्रको वेद एवं यज्ञमें अधिकृत नहीं मानता; तब मीमांसाकार भला शूद्रको अधिकारी कैसे कर सकता था ? अत: यह स्पष्ट पूर्वपक्ष है। यजुर्वेद-शतपथब्रा.में लिखा है—'ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा, वैश्यो वा, ते हि यज्ञिया:' (३।१।१।९) (यज्ञके अधिकारी आदिम तीन वर्ण ही हैं (शूद्र नहीं); बल्कि यज्ञमें दीक्षितको शूद्रसे साक्षात् बातचीत करनेका भी निषेध है। उसे शूद्रसे बातचीत करनी हो, तो वह बात यज्ञमें अदीक्षित किसी द्विजकी मार्फत यज्ञ-दीक्षितको करनी पड़ती हैं, देखो यजुर्वेदशतपथब्रा (३।१।१।१०)

तर्करत्नजीकी खींचातानीका यह एक आदर्श दर्शनीय है—'पञ्च-यज्ञ-विधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते। प्रोक्त: तस्य नमस्कार: कुर्वन् नित्यं न हीयते' (५।९) यह विष्णुस्मृतिका पद्य है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि—शूद्रका वैदिकयज्ञमें तो अधिकार नहीं है, पर स्मार्तयज्ञ-पञ्चयज्ञके विधानमें शूद्रका अनधिकार नहीं; उसे वह कर सकता है।

फिर प्रश्न होता है कि—शूद्र पञ्चयज्ञमें किन मन्त्रोंका प्रयोग करे ? क्या वेदके मन्त्रोंका वा पौराणिक मन्त्रोंका ? उसपर स्मृतिकार कहते हैं कि—यहां शूद्रका मन्त्र 'नमस्कार' है, अर्थात् 'ब्रह्मणे नम:, विष्णवे नम:' इस प्रकार चतुर्थ्यन्त पदके साथ 'नम:' शब्द वह लगाता जावे—यही शूद्रका मन्त्र है। इसे करता हुआ पतित नहीं होता। इसे हम पहले पृ. ४०८-४१३ में स्पष्ट कर चुके हैं। पर तर्करत्नजीने यहां 'नमस्कार:' शब्दको छिपा दिया; उसका अर्थ ही नहीं किया (देखो अछू. पृ. २४) पर शुक्रनीतिके 'पुराणाद्युक्तमन्त्रैश्च नमोन्तै: कर्म केवलम्' (४।३६९)

इस पद्यका अर्थ तर्करत्नजीने ठीक ही किया है कि—'शूद्रको वेदमन्त्रका अधिकार नहीं है। पुराणोंके 'शिवाय नमः' आदि मन्त्रोंसे अपने सारे कर्मोंको कर सकते हैं। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें भी लिखा है—'नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्' (आचाराध्याय गृहस्थधर्म प्रकरण १२१)।

इसपर मिताक्षरामें लिखा है—'नमः' इत्यनेन मन्त्रेण पूर्वोक्तान् पञ्चमहायज्ञान् अहरहर्न हापयेत्-अनुतिष्ठेत्। नमस्कार-मन्त्रं च केचित्—'देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च। नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव नमोनमः' इति वर्णयन्ति। नम इति अन्ये। तत्र वैश्वदेवं लौकिके अग्नौ कर्तव्यम्, न वैवाहिकेऽग्नौ इति आचार्याः' (शूद्र 'नमः' इस मन्त्रसे पञ्चयज्ञोंको न छोड़े—अर्थात् करे। 'ब्रह्मणे नमः भूतेभ्यो नमः, पितृभ्यो नमः, देवेभ्यो नमः, अतिथिभ्यो नम.'—इन नमोऽन्तमन्त्रोंसे शूद्र पञ्चयज्ञ करे।

कई विद्वान् नमस्कारमन्त्र यह कहते हैं—'देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च। नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव नमो नमः' इसे ही शूद्र जप ले। दूसरे विद्वान् केवल 'नमो नमः' यही शूद्रका मन्त्र मानते हैं। आचार्योंका यह मत है कि—वैश्वदेव-यज्ञ लौकिक-अग्निमें किया जावे, वैवाहिक-अग्निमें नहीं।)

श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिने स्मार्तकर्म विवाहाग्निमें तथा वैदिककर्म श्रौत-अग्नियोंमें माना है। जैसेकि—'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही। दायकालाहृते वापि श्रौतं वैतानिकाग्निषु' (१।५।९७) (स्मृतियोंमें कहे हुए वैश्वदेवादिकर्म, और पाकयज्ञादि लौकिक कर्मको गृहस्थी-द्विज विवाह-संस्कृत अग्निमें करे) और श्रुतिमें कहा हुआ अग्निहोत्रादि कर्म आहवनीयादि श्रौत (वैतानिक) अग्निमें करे।

आर्यसमाजी-श्रीतुलसीराम स्वामी भी शूद्रकेलिए वेदमन्त्रोंका हवन नहीं बताते। मनु १०।१२७ के अर्थ-भावार्थमें वे लिखते हैं—'धर्मकी इच्छावाले और धर्मको जाननेवाले शूद्र मन्त्रवर्जित, सत्पुरुषोंका आचरण

करते हुए दोषको नहीं, किन्तु प्रशंसाको प्राप्त करते हैं। भाव यह है कि धर्मकार्य-यज्ञादि करनेका शूद्रोंको अधिकार नहीं है......किन्तु यदि शूद्र धर्म करना चाहें; तो बिना वेदमन्त्रोंके उच्चारणके ही यज्ञ-होमादि कर सकते हैं। उसमें उनको अमन्त्र-होमका कोई दोष नहीं।'

स्वा.द.ने भी 'आख्यातिक' (लकारार्थ-प्रक्रिया (२६३ पृ) में लिखा है—'अपि तत्र भवान् वृषलं याजयति, अहो! अन्याय्यमेतत्'। कथं नाम तत्रभवान् वृषलं याजयेत्' पृ. २६४ 'यच्च यत्र वा तत्रभवान् वृषलं याजयेत्, गर्हामहे। अन्याय्य मेतत्' इन उदाहरणोंसे शूद्रोंको यज्ञ कराना निन्दित सिद्ध किया हैं।

'स्त्रैणताद्धित' (४।१।६३ (११४) में स्वामीजीने वृषलको जाति-वाचक (शूद्र) माना है। इसलिए स्वामीजीने संस्कारविधिके २३ पृष्ठमें 'ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्यके घरसे अग्नि ला......आधान करें'। यह कहकर यज्ञकेलिए शूद्रकी अग्निका भी निषेध सूचित कर दिया है।

यह हम इस पुष्पके ४११-४१२ पृ. में सूचित कर चुके हैं। इससे स्पष्ट है कि—तर्करत्नजीने जैसे विष्णुस्मृतिके पद्यके अर्थमें कुछ गोलमाल किया है; वैसे ही मीमांसासूत्रोंमें भी यही हाल किया है।

लिखते हैं—'यज्ञ करनेका शूद्रको अधिकार है; या नहीं' इसपर विचार करते हुए जैमिनि-मुनि लिखते हैं—'चातुर्वर्ण्यमविशेषात्' (२५) यहाँ तर्करत्नजीसे प्रष्टव्य है कि—उक्त सूत्रमें 'जैमिनि' का नाम कहाँ लिखा है? २६ सूत्रमें आत्रेयका तथा २७ सूत्रमें वादरि' का नाम लिखा है—इस प्रकार २५वें सूत्रमें 'जैमिनि'का नाम कहाँ लिखा है—इससे उनकी चोरी स्पष्ट सिद्ध हो गई कि यह 'चातुर्वर्ण्यमविशेषात्' (६।१।२५) पूर्वपक्षका सूत्र है। यहाँ उनके अनुसार 'यज्ञ करनेका शूद्रको अधिकार है, या नहीं' यह अधिकरण ही नहीं है। वहाँ अधिकरण तो 'यागमें शूद्रानधिकार' का ही है; तब 'चातुर्वर्ण्यमविशेषात्' सूत्र जिसमें चारों

वर्णोंका होम सामान्यतया कहा है, जैमिनिजीका कैसे हो सकता है ? स्पष्ट यह पूर्वपक्ष ही सिद्ध है।

जब इस पूर्वपक्ष-सूत्रको ही तर्करत्नजीने जैमिनिका सिद्धान्त-सूत्र कर दिया; फिर तो सभी सूत्रोंका अर्दन-विमर्दन करके उनने पूर्वपक्षको उत्तरपक्ष और उत्तरपक्षको पूर्वपक्ष करना ही था। प्रतीत होता है कि-यह उनपर आर्यसमाजी-श्रीआर्यमुनिजीके 'मीमांसार्यभाष्य' का प्रभाव हुआ है। उन्होंने श्री अपने भाष्यमें मीमांसा-सूत्रोंकी यही दुर्गति की है। फिर भी आर्य-मुनिजीने 'निषादस्थपतियाजन' में निषादस्थपति (शूद्रविशेष) को 'अग्न्या-धानका अनधिकारी' लिखा है। देखिये उनके शब्द—'अग्न्याधानका सबको अधिकार नहीं; अर्थात् निषादस्थपति जिसकी उक्त इष्टि है, वह अग्न्याधानका अधिकारी नहीं' (मी. ६।८।१)। श्रीतर्करत्नजीने भी श्रीआर्यमुनिजीकी यह बात नोट की है—

आगे जो मीमांसादर्शनमें 'निषादस्थपतियाजन' देखकर तर्करत्नजीने इन मीमांसाके सूत्रोंमें तोड़-फोड़ मचाई है-यह ठीक नहीं। इस विषयमें हम इसी पुष्पके १२८-१२९ पृ. में स्पष्टता कर चुके हैं कि-वहाँ विशेष-वचनके बलसे याग उसका प्रतीत होता है, पर वह ऋत्विक्के द्वारा उसे करा लिया करता है। नहीं तो उसकेलिए पृथक् अधिकरणकी आवश्यकता ही नहीं थी।

'निर्देशाद् वा त्रयाणां' (२६) यह सूत्र पूर्वपक्षका बाधक उत्तरपक्ष है; यहाँ तर्करत्नजीने इस सूत्रको पूर्वपक्ष बताया है। इस सूत्रमें स्थित 'वा' शब्द पूर्वसूत्रमें स्थित पूर्वपक्षका बाधक है, यह दार्शनिक शैली है। वहाँ वसन्तादि-ऋतुओंमें ब्राह्मणादिका अग्न्याधान कहा है। इनमें शूद्रका नाम भी नहीं है।

'अपि वा वेदनिर्देशाद् अपशूद्राणां प्रतीयेत' (६।१।३३) में तीन वर्णोंकेलिए ही वेदका निर्देश किया गया है। इससे शूद्रका निषेध स्वत: हो गया। यह शङ्कासूत्र कभी नहीं हो सकता; जैसेकि तर्करत्नजीने

लिखा है; वेद पूर्वपक्ष नहीं रख सकता, वह उत्तरपक्ष ही रखेगा। फिर उसका उत्तर भी तो तर्करत्नजीने कोई नहीं दिखलाया। अत: स्पष्ट है कि-यह उत्तरसूत्र है। इसमें शूद्रको छोड़कर त्रैवर्णिकोंका उपनयन-विधान बताया गया है। तब शूद्रोंका वैदिक-यज्ञ कैसे हो सकता है ?

३४ सूत्रमें तर्करत्नजीने, विना यज्ञोपवीतके शूद्रका यज्ञ करना शास्त्र-विरुद्ध माना है। फिर ३५ सूत्रके अर्थमें उनने 'यज्ञोपवीन-संस्कार'को वेदाध्ययनकेलिए माना है। यह उत्तरसूत्र है, पर तर्करत्नजीने इसे कृत्रिमतासे पूर्वपक्षका सूत्र माना है।

३७ सूत्रके अर्थमें तर्करत्नजीने लिखा है कि—'यदि उपनयन न होने-पर भी किसी प्रकार विद्वान् हो जावे; तो हमारे यहाँ वह यज्ञका अधिकारी होगा'। इसमें उनने शूद्रके विषयमें कुछ नहीं लिखा; तब उसके अधिकारके विषयमें उनका लिखना गलत है।

३८ सूत्र शूद्रके अनधिकारका उपसंहार-सूत्र है। इसका तर्करत्नजी-द्वारा यह अर्थ करना कि-'इस प्रकारके अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनमें उपनीत-अनुपनीतके वेदाध्ययनका कथन है; यह अर्थ उनका बनावटी है। अनुपनीतका भला वेदाध्ययन कैसे हो ? कोई उन्होंने इसमें प्रमाण भी तो नहीं दिया। यहाँ तो भाष्यमें शूद्रको श्मशानके समान बतानेसे उसका वेदका अनधिकार ही स्पष्ट सिद्ध है।

आगे जो उनने उवट-महीधरके मतमें यज्ञाधिकार लिखा है, उसका समाधान हम पृ. ४०८-४१३ में कर चुके हैं। जो उनने 'पञ्चजन' आदि शब्दोंसे शूद्रका वेदाधिकार सिद्ध किया है, उसका भी समाधान हम १५९-१६४ पृष्ठमें कर चुके हैं। उनके अन्य प्रमाणोंका भी समाधान हम इस पुष्पमें तथा अन्य पुष्पोंमें यत्र-तत्र कर ही चुके हैं।

श्रीतर्करत्नजी हमारे विद्यालयकी सभाके सदस्य थे। हमने उनसे पूछा था कि-'आप अपने आपको सनातनधर्मी कहते हैं, फिर क्यों यह सनातनधर्मसे विरुद्ध निर्मूल बातें लिखा करते हैं। इस पर उन्होंने कहा

था कि–'आप लोग प्राचीन-सनातनधर्मी हैं; आपकी शास्त्रीय बात कोई भी नहीं सुनता; वा सुनना चाहता। इससे शास्त्र भाररूप व्यर्थ पड़े रहते हैं। हम युगानुरूप सनातनधर्मी हैं। आजकलके सुधारक कहीं हमारे हाथसे छूट न जावें; अतः हम उनको युग-प्रवाहके अनुरूप अपनेमें खींचनेकेलिए यह परिश्रम किया करते हैं'।

पाठकोंने देख लिया उनका आन्तरिक अभिप्राय; पर हम यह बात ठीक नहीं समझते, यह तो शास्त्रीय-ब्लैकमार्कीटिङ्ग है; हमें शास्त्रका वास्तविक-अभिप्राय बताना चाहिये, चाहे उसे कोई माने, वा न माने। अस्तु। यह प्रकरण समाप्त करके अब हम आगे चलते हैं। इन मीमांसा-सूत्रोंपर वादिप्रतिवादिमान्य प्रसिद्ध-वेदविश्वासी श्रीकुमारिलभट्टकी टीका हम पूर्वप्रतिज्ञानुसार उद्धृत करते हैं।

(ख) मीमांसादर्शनपर श्रीकुमारिल-भट्टकी 'टुप्' टीका।
(अपशूद्राधिकरण)

मीमांसादर्शनके 'यागे शूद्रानधिकाराधिकरण' पर हम अपने पूर्व-कथनानुसार उक्त सूत्रोंका भाष्य उद्धृत करते हैं।—

श्रीकुमारिलभट्ट वेदोंके जहां पूर्ण पण्डित थे, वहां वेदके पूर्णविश्वासी भी थे। एक राज-स्त्रीका कथन प्रसिद्ध है—'किं करोमि क्व गच्छामि को वेदान् उद्धरिष्यति' (मैं क्या करूं, कहाँ जाऊं, कौन वेदोंका उद्धार करेगा ? इसपर श्रीकुमारिलभट्टने उस स्त्रीको आश्वासन दिया सुना जाता है कि–'मा बिभीहि वरारोहे ! भट्टाचार्योस्ति भूतले' (ऐ स्त्री, तू मत डर। भट्टाचार्य (कुमारिलभट्ट) अभी पृथिवीमें जीवित है (वही वेदोंका उद्धार करेगा)।

श्रीकुमारिलभट्टका परिचय।

श्रीकुमारिलभट्टने देखा कि–तथागत (जैन-बौद्ध) लोग अपना राजा

होनेसे वेदोंको अप्रमाणित करते हुए सर्वत्र फैल गये हैं; और प्रचार करने लगे हैं कि–वेदमार्गका आदर न करो ('शंकर-दिग्विजय' ७।९०-९२) उन लोगोंकी कुछ प्रतिक्रिया न हो सकी। श्रीकुमारिलभट्टने उनसे वाद किये, पर उनको जीत न सके; उसका कारण यह था कि–वे उनके सिद्धान्तोंका रहस्य नहीं जानते थे। जिसका खण्डन करना हो; उनके सिद्धान्तका रहस्य पहले जान लेना पड़ता है; तब खण्डनयोग्यका खण्डन शीघ्र हो सकता है (अवादिष वेद-विघातदक्षैः, तान् नाऽशकं जेतुमबुध्यमानः। तदीयसिद्धान्तरहस्य-वार्धीन्, निषेध्य-बोधाद् हि निषेध्यबाधः' (७।९३)

तब कुमारिलभट्ट अपना वेष बदलकर तथागतोंके मण्डलमें जा घुसे, उनका रहस्यज्ञान कर लिया। तथागत गुरुने जो बहुत तीव्र-बुद्धिका था, वैदिकमार्गका प्रबल खण्डन किया (९४)। उसके सुननेसे भट्टजीकी आँखोंमें आँसू ढुलक पड़े, यह देखकर बौद्धोंको शक पड़ गया कि–यह बौद्ध नहीं है, किन्तु वैदिकधर्मी है (९५)। उन लोगोंने सोचा कि–यह ब्राह्मण है, इसने हमारा रहस्य ले लिया, अब इसे मार डालना चाहिये (९६)।

यह विचार करके उन अहिंसकमानियोंने उसे ऊंचे महलसे गिरा दिया (९७) तब कुमारिल चिल्ला उठे—'पतन् पतन् सौधतलान्यरोरुहं, यदि प्रमाणं श्रुतयो भवन्ति। जीवेयमस्मिन् पतितोऽसमस्थले, मज्जीवने तच्छ्रुतिमानता गतिः' (७।९८) (यदि वेद प्रमाण हैं; तो इस ऊंचेसे गिराया हुआ मैं मरूँ नहीं, बच जाऊं)।

आह ! श्रीकुमारिलभट्टका कितना वेदविश्वास था ? वह ऊंचेसे गिरा दिये गये; मरे नहीं, बच गये; पर उनकी एक आँख फूट गई। उसका कारण उन्होंने सोचा कि–मैंने (यदि वेद प्रमाण हैं, इसमें वेदोंको अविश्वस्त करनेवाले 'यदि' शब्दका प्रयोग किया है; तभी मेरी एक आंख फूट गई। यदि मैं 'यदि' शब्दका प्रयोग न करता; तो यह एक आँख भी न फूटती (९९)।

तब भट्टजीने सोचा कि—एक अक्षरका देनेवाला भी गुरु माना जाता है; पर जो पूरे शास्त्रको पढ़ावे, उसका तो भला क्या कहना ? मैंने सर्वज्ञ-मुनि सुगत (बौद्ध) से शास्त्र पढ़ा, पर अब मैं उसका खण्डन कर रहा हूं, यह मेरा गुरुके प्रति महान् अपराध है (१००)। मैंने सुगतसे पढ़कर उसके कुलको नष्ट किया; फिर मैंने श्रीजैमिनिकी कर्ममीमांसा पढ़ी, जिसमें कर्मकी प्रधानता रखनेसे ईश्वरका आदर नहीं था—यह मेरे दो अपराध हुए (१०१)।

इन दो दोषोंका प्रतीकार यह है कि—मैं अग्निमें प्रवेश करूं—सोचकर वे तुषानलमें प्रविष्ट हुए। कुमारिलभट्टने उस समय आये हुए शङ्कराचार्य को वह सब कहा (१०२) और यह भी कहा कि—मैंने सुना था कि आपने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य किया है, मैं उसपर भी वृत्ति बनाकर यश प्राप्त करना चाहता था; पर अब कुछ नहीं हो सकता। मीमांसाभाष्यपर की हुई वृत्तिकी भांति आपके भाष्यपर भी वृत्ति करनेसे मेरा यश होता, पर दैववश न हो सका। (७।१०५)

'आलोक' पाठकोंने जान लिया होगा कि—श्रीकुमारिलभट्ट कितने वेदज्ञ तथा वेदविश्वासी थे; वे मीमांसादर्शनके भी मर्मज्ञ थे। इस थोड़ेसे दोषकेलिए उन्होंने तुषानल-प्रवेशका प्रायश्चित्त किया—अतः ऐसे व्यक्तिमें छल-मलका भी उदय तथा वेदविरुद्धता नहीं हो सकती; अतः उन्होंने जो मीमांसासूत्रोंका आशय बताया; उसमें भी छलकी आशङ्का नहीं हो सकती; अतः महत्त्वपूर्ण होनेसे हम श्रीभट्टपादका आशय उद्धृत करते हैं।

शावरभाष्यका तो हमने हिन्दी अनुवाद दिया था; पर अब श्रीकुमारिलभट्टकी टुप् टीकाको ही प्रायः उद्धृत करेंगे। उन्होंने भी यहां 'अपशूद्राधिकरण' ही रखा है। अतः उनका सिद्धान्त भी वही शावरभाष्यवाला ही है। कई सूत्रोंपर उनकी वृत्ति नहीं मिलती, यह कठिनता अवश्य है।

'चातुर्वर्ण्यमविशेषात्, (पू.) (६।१।२५) को वहांपर भी पूर्वपक्षसूत्र

माना है; पर उसकी 'टुप्' टीका नहीं मिलती है। 'निर्देशाद् वा त्रयाणां' (६।१।२६) को उन्होंने सिद्धान्तपक्ष ही रखा है। वहां 'टुप्' टीका इस प्रकार है—

'वसन्ते ब्राह्मणकर्तृत्वविशिष्टमाधानम् अग्न्युत्पत्त्यर्थम्। स च अग्निर्यज्ञाङ्गम्। न च शूद्रस्य अग्निरस्ति। विशिष्टेन कारणेन उत्पद्यमाना आहवनीयादीनां आहवनीयादयो भवन्ति, अलौकिकत्वात्। न च यूपतुल्योऽयम्। तत्र हि बन्धनसमर्थं यत्, तद् अवगतम्। विशेषस्तु अनवगतः। स हि उपपदाद् वाक्यान्तराद् वा अवधार्यते—अयं यूप इति। इह तु होमेन आहवनीयस्य अनाक्षेपात् सामान्यावगतिर्नास्ति। तस्माद् अन्येन अनाक्षेपाद् वेदाद् योऽवगम्यते, स आहवनीयः। स च वसन्ते ब्राह्मणकर्तृकोऽवगम्यते। तेन अन्यकालकर्तृको न भवति आहवनीयः। तदभावे फलाऽभावः। तस्मात् शूद्रस्य अनधिकारः' (२६)

यहांपर सिद्धान्तपक्ष उनने यही रखा है कि—शूद्रका यज्ञमें अधिकार नहीं है, क्योंकि शूद्रको अग्निरहित माना गया है।

'निमित्तार्थेन बादरिः' (२७) यहांपर टुप्-टीका इस प्रकार है—'आहवनीयादिभिः अर्थाक्षिप्तसमाधानम्। नहि तेन विना आहवनीयादयः सन्ति। तस्मात् प्राप्तसमाधानम्—अनूद्य तत्र वसन्तादिगुणो विधीयते। तस्य तेन गुणेन सगुणम्, शूद्रस्य गुणाऽभावाद् अगुणमेव। (ब्राह्मणादि की वसन्तादिगुणसे सगुणता बताई गई है, और शूद्रकी वसन्तादि-गुणके अभावसे गुणहीनता बताई गई है। (२७)

'अपि वा अन्यार्थदर्शनात्' (२८)

(टुप् टीका)—निमित्तार्थता न घटते। नहि अर्थाद् आधानं प्राप्नोति। नहि इदं लोके विज्ञायते, आधानेन आहवनीयादयो भवन्तीति शास्त्राद् हि अवगम्यते। तच्च विशिष्टकालकर्तृकम् आहवनीयमुत्पादयति। (निमित्त अर्थ घटित नहीं होता। अर्थसे अग्निका आधान प्राप्त नहीं होता। लोकमें यह नहीं जाना जाता कि—आधानसे

आहवनीय आदि अग्नियाँ हो जाती हैं। यह बात तो शास्त्रसे ज्ञात होती हैं। और शास्त्र वसन्तादि विशेषकालकर्तृक आहवनीयको पैदा करता है।) अन्यकाल-कर्तृकं कथमुत्पादयेत् ? शास्त्रेण अचोदितत्वात्। (भिन्नकाल-कर्तृक आहवनीयको कैसे पैदा करे; क्योंकि–शास्त्रने उसकी आज्ञा नहीं दी है)।

आधानोत्तरकालाः कामश्रुतयः। (कामवाली श्रुतियाँ आधानके बादकी होती हैं।) न च अध्ययनमेव केवलोऽभ्युपायः अग्नीनां गुणद्वय-विधानाच्च वाक्यादेः स्थित एव। बार्हद्गिरं गवामयने समाम्नायते। अभीवर्तो ज्योतिष्टोमे। बार्हद्रथ्यमश्वमेधे। विदेश-पाठाद् अनुदाहरणम्। (२८)

२९-३०-३१-३२ सूत्रोंकी टुप्-टीका नहीं मिलती है।

"अपि वा वेदनिर्देशात्" (३३)

(टुप् टीका) 'वसन्ते गर्भाष्टमे ब्राह्मणमुपनयीत' इति वसन्तो गर्भाष्टमत्वम्, अन्ये च नियमा अध्ययनाङ्गम्। पुरुषस्य च 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययन चोद्यते। अत ईदृश्या विशिष्टेतिकर्तव्यतया वेदोपादान पुरुषार्थम्। क्रतुना अर्थाद् वेदोऽपेक्षितः आत्मनिर्वृत्त्यर्थम्। अतः स वेदाध्ययनम् अप्रयोजयन् प्रसङ्गाद् निराकाङ्क्षीक्रियते।

अतो यादृशमध्ययन तादृशेन निराकाङ्क्षत्वात् शूद्रस्य अध्ययनाऽभावाद् अनधिकारः–इति अन्तनीताभिप्रायः–सिद्धान्तवादी आह (३३) (यहाँ सिद्धान्तवादीने बताया है कि–शूद्रका वेदाध्ययन नहीं होता; अतः अध्ययन-साध्य यज्ञमें भी उसका अधिकार नहीं होता।) (उत्तर.)

"गुणार्थित्वाद्" (३४)

(टुप् टीका)–इतरस्तु अविदिताभिप्राय आह–गुणार्थित्वाद् इति चेत् क्रत्वङ्गमध्ययनम् (३४) (पू.)

"संस्कारस्य तदर्थि–" (३५)

(टुप् टीका)—संस्कारो विद्यार्थः। विद्या च पुरुषार्था–इत्यत्र पूर्व एव न्यायो द्रष्टव्यः' (३५)।

"विद्यानिर्देशान्न" (३६)

(टुप् टीका)—यस्य उपनयनादयः संस्कारा विहिताः, तस्य ते भवन्तु। इतरस्तु अनुपनीतः पठिष्यति। न च क्रतु-वैगुण्यम्; उपनयनादीनां पुरुषार्थत्वात् (यह पूर्वपक्ष-सूत्र है कि—जिन ब्राह्मणादिके उपनयनादि विहित किये गये हैं; वे उसके भले ही हो जावें; पर शूद्र तो विना उपनयनके पढ़ लेगा। इससे यज्ञकी विगुणता नहीं होगी। उपनयनादि पुरुषार्थ है) (३६) (पूर्वपक्ष)

"अवैद्यत्वाद् अभावः"[१] (३७)

(टुप् टीका)—अनुपनीताध्ययने क्रतुवैगुण्यम् (उपनयनके विना अध्ययन करनेपर यज्ञकी विगुणता होती है) कथम् ? (कैसे) 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति यमनियमादिभिरध्ययनं पुरुषार्थत्वेन अवगतम्। तादृशमेव प्रसङ्गात् कर्तृ गृह्णाति। न च अन्यथानुपपत्त्या आक्षिपति। अन्यथापि [स्वाध्यायविधिप्रयुक्तविद्योपजीवनेनापि–टि.] अतो विशिष्टेन अध्ययनेन निराकाङ्क्षीकृतत्वाद् अन्यादृशमध्ययनं न गृह्यते। यथा गोदोहन दर्शपूर्णमासाङ्ग-प्रणयनेन नैराकाङ्क्ष्याद् वहिः प्रणयनेन विगुणं भवति। एवमिहापि अनियताऽध्ययनेन विगुणो भवति। अत आह–अधीयानस्यापि अध्ययनफलं न भवतीति। द्रव्यानाक्षेपिऽपि अयमेव न्यायः [यहाँपर अनियमपूर्वक, विना उपनयनकी विधिके पढ़नेसे विगुणता बताई गई है। तब विना विधिके पढ़नेवालेको भी पढ़नेका फल नहीं हुआ करता है–यह बताया गया है) (३७)। (उत्तरपक्ष)

३८वें (उपसंहार-)सूत्रकी टुप्-टीका भी नहीं मिलती है।

यह हमने श्रीकुमारिलभट्टकी टीका–जिन सूत्रोंपर मिली है, उसके

उद्धरण दे दिये हैं, इसलिए कि—विद्वानोंकेलिए यह संग्रह हो जाय)। फलतः शूद्रको इस अपशूद्राधिकरणमें यागमें अनधिकृत ही बताया गया है।

---

(५७) श्रीसायणाचार्य।

आगे प्रतिपक्षीने सुप्रसिद्ध सर्ववेदभाष्यकार-श्रीसायणाचार्यका इस विषयमें यह उद्धरण ऋग्वेदभाष्यके उपोद्घातसे दिया है—'धर्मब्रह्म-ज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी। स च त्रैवर्णिकः पुरुषः। स्त्री-शूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायाम् उपनयनाऽभावेन अध्ययनराहित्याद् वेदे अधिकारः प्रतिषि(ब)द्धः। धर्मब्रह्मज्ञानं तु पुराणादिमुखेन उत्पद्यते। तस्मात् त्रैवर्णिक-पुरुषाणां वेदमुखेन अर्थज्ञाने अधिकारः' (अर्थात् स्त्री-शूद्रादि उपनयन-न होनेसे वे वेदके शब्दों द्वारा धर्म और ब्रह्मका ज्ञान नहीं कर सकते। हां, वेदके अर्थरूप-पुराणादिके द्वारा कर सकते हैं)।

इसी प्रकार केवल ऋभा.के उपोद्घातमें नहीं; बल्कि ऐ.ब्रा.के भाष्यके उपोद्घातमें भी श्रीसायणाचार्यने लिखा है—'(प्र.) ननु एवं सति स्त्री-शूद्रसहिताः सर्वेपि वेदाधिकारिणः स्युः, इष्टं मे स्याद्-अनिष्टं मा भूद् इति आशिषः (इच्छायाः) सार्वजनीनत्वात्' (उ) मैवम्—स्त्रीशूद्रयोः सत्यपि उपायबोधार्थित्वे (अनुपनीतत्व-)हेत्वन्तरेण वेदाधिकारस्य प्रतिब(षि)द्ध-त्वाद्। उपनीतस्यैव अध्ययनाधिकारं ब्रुवत् शास्त्रम् अनुपनीतयोः स्त्री-शूद्रयोर्वेदाध्ययनम् अनिष्टप्राप्तिरिति बोधयति। (प्र.) कथं तर्हि तयोः (स्त्री-शूद्रयोः) तदुपायावगमः ? (उ.) पुराणादिभिरिति ब्रूमः। अतएवोक्तम्—'स्त्री-शूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। इति भारत-माख्यानं मुनिना कृपया कृतम्' (भाग. १।४।२५)। तस्माद् उपनीतैरेव त्रैवर्णिकैर्वेदस्य सम्बन्ध इति। इसी प्रकार श्रीसायणने कृ.य.तै.सं. की भूमिकामें भी लिखा है।

इससे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि—वेदमें स्त्री और शूद्रको वेदका अधिकार कहीं नहीं बतलाया गया। नहीं तो सर्ववेद-भाष्यकार श्री-सायणाचार्य ऐसा स्पष्ट स्त्री-शूद्रोंका वेदानधिकार कभी न लिखते। स्त्री-शूद्रको ज्ञानसे सर्वथा वञ्चित भी नहीं किया गया। वही वेदका ज्ञान वे मृष्टचादिसे आ रहे हुए पुराण आदिके सुननेसे (तभी वेदोंमें भी पुराण-इतिहासका नाम मिलता है) प्राप्त कर सकते हैं। इस कारण इसमें 'अनुदारता' भी सिद्ध न हुई, किन्तु उदारता ही सिद्ध हुई कि उन्हें परिश्रमसे बचवाकर निचोड़ सुना दिया गया। 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्। इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्' (सांख्यतत्त्वकौमुदीमें १-२ कारिकामें उद्धृत) जैसे किसीको समय न होनेसे सारा समाचार-पत्र न पढ़वाकर उसे उसका निचोड़ ही सुना दिया जाय। पुराणादि भी वेदके साथके और वेदार्थके उपबृंहक हैं। इस विषयमें 'आलोक' (७) पृ. ३७७-३८८ में पाठक स्वयं देखें।

यह पक्षपात भी नहीं है। स्त्री और शूद्रका जन्म पूर्व-जन्मके कई विशिष्ट पापोंके कारण होता है। स्वा.द.जीने भी स्त्री-पुरुषोंके कर्मोंमें भेद माना है। जैसे कि—'जो स्त्रीके शरीर-धारणयोग्य कर्म हों; तो स्त्री, और पुरुषके शरीर-धारण करने योग्य कर्म हों; तो पुरुषके शरीरमें [जीव] प्रवेश करता है। (स.प्र. ९ पृ. १५६)

स्त्रीकी उत्पत्तिकेलिए यह स्मृतिवचन देखिये—'अदुष्टां विनतां भार्यां यौवने यः परित्यजेत्। सप्त जन्म भवेत् स्त्रीत्वं वैधव्यं च पुनः पुनः' (पराशर. वसिष्ठ ५।३०) (जो पुरुष अपनी अदुष्ट और अपतित स्त्रीको जवानीमें छोड़ दिया करता है; वह सात जन्म स्त्री बनता है)। इसलिए गीतामें भी शूद्र तथा स्त्रियोंको पापयोनि माना है—'येपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्याः (वेश्यापुत्राः) तथा शूद्राः' (९।३२)।

इस पापयोनिताके कारण ही स्त्री-शूद्रोंको वेदका अधिकार नहीं दिया गया। स्वा.द.जीने वेदके आरम्भिक प्राप्त करनेवाले अग्नि आदि

चार ऋषि (?) माने हैं। उनमें एक भी स्त्री वा शूद्र नहीं रखा, बल्कि कोई क्षत्रिय, वैश्य भी नहीं रखा। जैसे यह पक्षपात नहीं माना जाता, वैसे स्त्री-शूद्रादिके वेदविषयक अनधिकारमें भी कोई पक्षपात नहीं।

स्वा.द.जीने 'ऋभाभू.' में चार मनुष्य ऋषियोंको (?) ही प्रारम्भमें क्यों ज्ञान दिया? क्या यह पक्षपात नहीं? इस विषयमें स्वा.द.जीने प्रश्न और उत्तर इस प्रकार लिखा है---

(प्र.) ईश्वरो न्यायकारी अस्ति, वा पक्षपाती? (उ) न्यायकारी। (प्र.) तर्हि चतुर्णामेव [ऋषीणां] हृदयेषु [वेदा:] प्रकाशिता:, कुतो न सर्वेषाम् [स्त्रीशूद्रादीनाम्]? (उ.) अत्राह--'अत ईश्वरं पक्षपातस्य लेशोपि नैवागच्छति, किन्तु अनेन तस्य न्यायकारिण: परमात्मन: सम्यङ् न्याय: प्रकाशितो भवति। कुत:? न्यायेति (?) अस्यैव नामास्ति, यो यादृशं कर्म कुर्यात्, तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात्। अत्र एवं वेदितव्यम्--तेषामेव [चतुर्णां मनुष्य-ऋषीणां] पूर्व-पुण्यमासीत् [न स्त्री-शूद्रादीनाम्] अत: खलु एतेषां हृदये वेदानां प्रकाश: कर्तुं योग्योस्ति' (वेदोत्पत्ति-विषय पृ. १६)। इसका हम अनुवाद देते हैं---

(प्रश्न) ईश्वर न्यायकारी है, या पक्षपाती? (उत्तर) न्यायकारी। (प्र.) तब फिर चार मनुष्य ब्राह्मण-ऋषियोंके ही हृदयोंमें वेद-प्रकाशित हुए, सब [स्त्री-शूद्रादि] के हृदयोंमें वेद प्रकाशित क्यों न हुए? (उ.) इससे ईश्वरमें पक्षपातका लेश भी नहीं आता, किन्तु इससे उस न्यायकारी परमात्माका ठीक-ठीक न्याय प्रकाशित होता है। क्योंकि--न्याय इसीका नाम है, जो जैसा कर्म करे; परमात्मा उसको वैसा ही फल दे। इनमें यह जानना चाहिए कि--उन्हीं चार ऋषियोंका पिछले जन्मका पुण्य था; [स्त्री-शूद्रादिका नहीं] अत: उन्हीं (ऋषियों) के हृदयमें वेदोंका प्रकाश करना ठीक था।)

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य [पुरुषों] के वेदाधिकार तथा तत्तद्-वर्ण-प्राप्तिमें पूर्वपुण्यका कारण था; जैसा कि--'वैयासिक-न्यायमाला' का

उद्धरण हम पीछे दे चुके हैं कि--'उपनयनाध्ययनाभावेपि स्वयंभातवेदा देवा:; तादृशस्य सुकृतस्य पूर्वमुपार्जितत्वात्' (१।३) (उपनयन एवं अध्ययन न होनेपर भी देवताओंको वेद स्वयं प्रतिभात हो गये; क्योंकि--वैसा सुकृत (पुण्य) उन देवोंने गतजन्ममें उपार्जित कर रखा था, परन्तु स्त्री-शूद्रादिको अनधिकारका कारण गत-जन्मके वैसे पुण्यके अभावके कारण जानना चाहिये; जैसेकि--उक्त 'वैयासिक-न्यायमाला' में ही पूर्वके आगे कहा है--'शूद्रस्तु नादृशसूक्रनराहित्याद् न स्वयंभातवेद:' (१।३) (शूद्रके वैसे पूर्वजन्मके पुण्य न होनेसे उसको वेद स्वयं प्रतिभात नहीं हुए।) तभी तो स्त्री-शूद्रोंका द्विज-पुरुषकुलमें जन्म नहीं हुआ।

जो कि--मन्त्रद्रष्ट्री स्त्रियाँ ऋषिकाएं वेदमन्त्रोंपरकी अनुक्रमणिकामें लिखी हैं, इसपर याद रखना चाहिये कि--वे मनुष्यसे भिन्न ऋषियोनि-वाली थीं, इस विषयमें 'वेदकी ऋषिकाएं' निबन्धको इसी पुष्पके ७२-७९ पृष्ठोंमें देखिये।

-----

(५८) स्वामी दयानन्द जी

आगे वादी स्वा.द.जीके हृदयकी विशालताका परिचय देते हुए उनसे दिये गये 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' मन्त्र तथा उसका अर्थ उपस्थित करते हुए उससे स्त्री-शूद्रोंका वेदाधिकार सिद्ध करता है। हम उनके मन्त्रार्थका निराकरण सम्यक्तया २-५५ पृष्ठोंमें कर चुके हैं। वैदिककालसे लेकर स्वा. दयानन्दजीके समय तक वेदोंके बड़े-बड़े विद्वान् हो चुके हैं; पर स्वा.द.जी तथा उनके पिछलगुओंके अतिरिक्त अन्य किसीने भी 'यथेमां वाचं' मन्त्रसे स्त्री-शूद्रोंका वेदाधिकार नहीं माना; अत: स्वामीजीका अर्थ निर्मूल ही है।

इस मन्त्रका तथा अग्रिममन्त्रका जब 'ईश्वर देवता' है; जबकि यह स्वामीजी भी मानते हैं कि--"यही इस मन्त्रका ठीक अर्थ है क्योंकि--इससे अगले मन्त्र ('बृहस्पते! अति यदर्य:') में भी परमेश्वर

ही का ग्रहण है, तब अग्रिम-मन्त्रमें ईश्वरके प्रतिपाद्य होनेसे इस मन्त्रमें भी ईश्वर प्रतिपाद्य ही है, प्रतिपादक नहीं। इधर 'अनुक्रमणी' स्थित 'देवता' का अर्थ वादीके साम्प्रदायिक भी 'प्रतिपाद्य' ही मानते हैं; तब स्वामीजीका अर्थ निर्मूल ही सिद्ध हुआ। तो 'वाच' से जीवकी वाणी इष्ट हुई, परमात्माकी नहीं।

आगे वादी 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' के उत्तरमें स.प्र.में स्थित स्वा.द.-जीका लेख उद्धृत करता है-—'तुम कुआमें पड़ो; और यह श्रुति तुम्हारी कपोलकल्पनासे हुई है; किसी प्रामाणिक-ग्रन्थ की नहीं'। यहाँपर स्वामीजीने स्त्रियोंकी भान्ति गाली ही दी है कि-'तुम कुवामें पड़ो' आश्चर्य है कि-वादीने भी उसे उद्धृत कर दिया, क्या वादी 'सार्वदेशिक'-स्थित अपना-'मैं निष्पक्षपात विचारशील विद्वानोंसे पूछता हूँ कि-'क्या यह व्यङ्ग्यपूर्ण भाषा और शैली विद्वानोंको शोभा देती है ?' (जुलाई १९४६ पृ. २१८) यह अपना वाक्य भूल गया ?

वस्तुत: यह श्रुति ब्राह्मणभागकी है। गोभिलगृह्यसूत्रके भाष्यकार श्रीचन्द्रकान्त - तर्कालङ्कारने (गो. २।७।१९ सूत्रके भाष्यमें) तथा 'हिरण्यकेशी' गृह्यसूत्रके भाष्यकार श्रीमातृगुप्त आदिने भी इसे उद्धृत किया है। मन्त्रभागने भी 'वेदमाता...द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) 'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋ. १।१४९।५-४) आदिसे यही बताया है। तब इसकी अप्रामाणिकता क्या हुई ?

आगे वादी 'ब्रह्मचर्येण कन्या' मन्त्र देकर उसपर स्वा. दयानन्दका अर्थ देकर 'स्त्रियोंका वेदाधिकार' सिद्ध करना चाहता है; पर उक्त मन्त्र में 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ 'उपस्थसंयम' ही है; इस विषयमें इस मन्त्रका उत्तरार्ध भी साक्षी है-इस विषयमें हम पूर्ण-विवेचना पृ. ५५-७२ में कर चुके हैं। फिर आगे वादी लिखता है कि-"महर्षि स्त्रियोंके प्रति बड़ा उच्चभाव रखते थे; क्योंकि—वे 'शुद्धा: पूता योषितो यज्ञिया इमा:' इत्यादि वैदिक-भावनाओंको माननेवाले थे, जहां स्त्रियोंको शुद्ध, पवित्र

और 'यज्ञाधिकारिणी' बताया गया है। पर यह वादीकी अपनी कपोल-कल्पना है, इस मन्त्रका ऐसा अर्थ नहीं है। यह तो जलोंका प्रतिपादन करनेवाला, मन्त्र है। इसीसे इसके आगे जो 'आप:' यह पाठ था, वादीने उसे छिपा दिया। इसकी विशिष्ट विवेचना हम पूर्व कर चुके हैं, आगे भी विशेष कर करेंगे।

वादी आगे लिखता है—"मनुस्मृतिके 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' इत्यादि श्लोकोंको स.प्र.में उद्धृत करके महर्षिने लिखा है—'जिस घरमें स्त्रियोंका सत्कार होता है; उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके 'देव' संज्ञा धराके आनन्दसे क्रीडा करते हैं' इत्यादि; पर वह स्वामीजीका अर्थ स्वकल्पित है; मनुसम्मत नहीं। किसी ग्रन्थकारके वाक्यका अर्थ उसके पूर्वापरको देखकर ज्ञात होता है; केवल उसी वाक्यसे पूर्ण अर्थ ज्ञात नहीं होता।

'येन उपक्रम्यते येन च उपसंह्रियते स वाक्यार्थ:' यह न्याय हुआ करता है। (जिससे उपक्रम (आरम्भ) होता है, और जिससे उपसंहार (समाप्ति) होता है, वही वाक्यका अर्थ हुआ करता है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' से पूर्व 'पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता: पतिभिर्देव-रैस्तथा। पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभि:' (३।५५) यह पद्य है। 'शोचन्ति जामयो यत्र' (३।५७) 'जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रति-पूजिता:' (३।५८) ये मध्यके पद्य हैं। 'तस्मादेता: सदा पूज्या भूषणाच्छा-दनाशनै:। भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च' (३।५९) यह उपसंहार-का पद्य है। प्रणेताको उपसंहारका ही अर्थ इष्ट हुआ करता है; क्योंकि-वह उससे पूर्वकी बातोंको अन्तमें संक्षेपसे कह देता है, इसको न्यायशास्त्रमें 'निगमन' कहा है; उसका लक्षण भी 'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञाया: पुनर्वचनं निगमनम्' (१।१।३९)यही किया गया है। तो श्रीमनुजीको यहाँ यह इष्ट है कि-स्त्रियोंको विवाहादि-उत्सवोंके अवसरमें खाना-पीना, कपड़ा-गहना आदि देकर सम्मानित करना चाहिए। जहाँ स्त्रियोंको भूषण-कपड़ा

आदि देकर उन्हें सम्मानित न किया जायगा, इस कारण वे शोकमग्न रहेंगी; और उस घरको शाप देंगी; वह घर नष्ट हो जाता है—यह आशय है।

यही वहाँ स्त्रियोंकी पूजा बताई गई है। न तो स्त्रियोंकी पूजा यह है कि—उन्हें 'नमस्ते' किया करो; न ही यह कि—उनके पैरोंमें पड़ा करो; न ही उनका यहाँ वेदादि पढ़ाना इष्ट है। वादी लोग इन पद्योंको देकर 'अपने मनकी आल्हा' गाया करते हैं। आगे जो वादीने 'पञ्चायतन-पूजा' से स्वामीजीका 'स्त्रीकेलिए पति और पुरुषकेलिए पत्नी पूजनीय है' यह वाक्य उद्धृत किया हैं; यह वहाँ 'पूज्यो देववत् पतिः' ['विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः। उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या] सततं देववत् पतिः' (५।१५४) इस मनुपद्यका अर्थ है, इसमें 'पुरुषकेलिए पत्नी पूजनीय है' यह वाक्यार्थ स्वामीजीने स्वयं प्रक्षिप्त किया है। अथवा यदि यह 'पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः' इस मनुपद्यका अर्थ है; तो उसका भाव हम पूर्व दिखला ही चुके हैं।

---

(५९) स्वामी दयानन्द और अछूत।

आगे वादीने 'रौमा रौलां' आदि पाश्चात्योंकी स्वामिप्रशंसासूचक सम्मति उद्धृत की है। जबकि स्वामीजीने पाश्चात्योंके ही सिद्धान्त वेदसे दिखला दिये; अंग्रेजी शराब वेदकी शीशीमें बन्द दिखला दी; तो वे स्वामीजीकी प्रशंसा क्यों न करते? जो अस्पृश्योंसे स्वामीजीकी सहानुभूति दिखलाई गई है; यह ठीक है या नहीं—यह तो 'रौमा रौलां' ही जानें; पर हमें तो स्वामीजीके शूद्र वा अन्त्यजोंके सम्बन्धमें यह विचार मिले हैं—

'शूद्र-नीच लोग जूठा कर देते हैं' (स.प्र. ११ पृ. २०२) साधु-सन्तों को लेके शूद्र और अन्त्यज पर्यन्त एक पंक्तिमें बैठकर एक-दूसरेका जूठा भोजन करते हैं...महा अनाचार है' (पृ. २०२)। तब वे अन्धे उस भङ्गी चमार आदि नीचके पगोंमें पड़के कहते हैं' (स.प्र. २ पृष्ठ १६) 'कबीर तब ऊट-पटांग भाषा बनाकर जुलाहे आदि नीच लोगोंको समझाने लगा' (स.प्र. ११ पृ. २२८) यहांपर स्वामीजीने शूद्र, भंगी, चमार, तथा जुलाहा आदियोंको नीच माना है।

भङ्गी आदियोंके भोजन खानेकी भी स्वामीजीने मनाही की है; जैसे कि—'(प्रश्न) कहो जी, मनुष्यमात्रके हाथकी की हुई रसोईके खानेमें क्या दोष है? क्योंकि—ब्राह्मणसे लेके चाण्डाल-पर्यन्तके शरीर हाड-मांस चमड़ेके हैं; और जैसा रुधिर ब्राह्मणके शरीरमें है; वैसा ही चाण्डाल आदिके; पुनः मनुष्यमात्रके हाथकी पकी हुई रसोईके खानेमें क्या दोष है? (उत्तर) दोष है; क्योंकि—जिन उत्तम पदार्थोंके खाने-पीनेसे ब्राह्मण और ब्राह्मणीके शरीरमें दुर्गन्धादि दोष-रहित रज-वीर्य उत्पन्न होता है, वैसा चाण्डाल और चाण्डालीके शरीरमें नहीं, क्योंकि—'चाण्डालका शरीर दुर्गन्धके परमाणुओंसे भरा हुआ होता है। इसलिए ब्राह्मणादि उत्तम वर्णोंके हाथका खाना, और चाण्डाल आदि नीच भङ्गी-चमार आदिका न खाना' (स.प्र. १० पृ. १६६) यहाँ भी स्वामीजीने भङ्गी-चमार आदिको नीच माना है. तथा उनके भोजनका निषेध किया है।

'शूद्रके पात्र तथा उसके घरका पका हुआ अन्न आपत्कालके बिना न खावें' (स.प्र. १० पृ. १६६) यहाँ स्वामीजीने शूद्रके घरके पात्र तथा भोजनको भी अस्पृश्य माना है। 'देखो इन 'गवगण्ड पोपों' की लीला कि—जो वेदविरुद्ध महा अधर्मके काम हैं, उन्हींको श्रेष्ठ, वाममार्गियोंने माना है।...

अर्थात् जिन नीच स्त्रियोंको छूना नहीं [लिखा]; उनको अतिपवित्र उन्हों (वाममार्गियों) ने माना है; जैसे—शास्त्रोंमें रजस्वला [रजस्वला, चाण्डाली, चर्मकारी, रजकी, पुक्कसी] आदि स्त्रियोंके स्पर्श-

का निषेध है, उनको अतिपवित्र उन्होंने माना है। (स.प्र. ११ पृ. १७७) यहांपर स्वामीजीने चाण्डाल, चर्मकार आदियोंके स्पर्शका निषेध शास्त्रीय माना है। चाण्डालका अर्थ स्वामीजीने 'भंगी' किया है; 'पुक्कस' का अर्थ 'अन्त्यज' किया है। उनके शरीरकी वायुको अस्पृश्य माना है, जैसे कि-उनके यजुर्वेद-भाष्यमें-'वायवे चाण्डालम्' (३०।२१) 'वायुस्पर्शाय चाण्डालं परासुव, चाण्डालस्य शरीरागतो वायुर्दुर्गन्धत्वान्न सेवनीय:। (वायुके स्पर्शके अर्थ भंगीको दूर कीजिये। भंगीके शरीरमें से आया वायु दुर्गन्धयुक्त होनेसे सेवनेयोग्य नहीं होता)। यहां स्वामीजीने भंगियोंको अस्पृश्य माना है।

कुछ उनके अन्य उद्धरण भी देखिये-'इन्होंने अंग्रेज, यवन, अन्त्यजादिसे भी खाने-पीनेका भेद नहीं रखा। इन्होंने यही समझा होगा कि-खाने-पीने और जातिभेद तोड़नेसे हम और हमारा देश सुधर जायगा, परन्तु ऐसी बातोंसे सुधार तो कहां; उल्टा बिगाड़ होता है' (स.प्र. ११ समु. पृ. २४१) 'यह जातिभेद नहीं तो क्या है? और तुम भोलेभालोंको बहकाते हैं कि-हममें जातिभेद नहीं। तुम अपनी मूर्खतासे मान भी लेते हो' (११ समु. पृ. २४२) यहांपर स्वा.द.जीने जातिभेद तोड़ने तथा अन्त्यजोंसे खाने-पीनेसे देशका बिगाड़ माना है। अन्त्यज आदि जातिभेदको स्वामीजीने ईश्वरकृत माना है, जैसे कि-

'जैसे पशुओंमें गौ, अश्व, हस्ति आदि जातियां, वृक्षोंमें पीपल, वट, आम्र आदि जातियाँ...जल-जन्तुओंमें मकरादि जातिभेद हैं, वैसे ही मनुष्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद ईश्वरकृत हैं। परन्तु मनुष्योंमें ब्राह्मणादिको सामान्य-जातिमें नहीं, किन्तु सामान्यविशेष-जातिमें गिनते हैं' (स.प्र. ११ पृ. २४१-२४२) यहाँपर स्वामीजीने अन्त्यजको शूद्रसे भिन्न-जाति माना है; और उसे सामान्यविशेष जाति; तथा उसके जातिभेदको ईश्वरकृत माना है। स्वामीजीने चाण्डालोंसे इतनी छुआछूत की है कि-स.प्र.के ४र्थ समुल्लास ४८वें पृष्टमें 'चाण्डाली

आदि अन्त्य नामवाली कन्याके साथ विवाह' भी निषिद्ध कर दिया है। यह है स्वामीजीकी शूद्र-अन्त्यजादि जातियोंके प्रति 'उदारता'।

आगे रोमारोलां-साहबके लेखसे स्वामीजीकी स्त्रियोंसे सहानुभूति भी वादीने दिखलाई है। अब स्वामीजीके स्त्रियोंके सम्बन्धमें विचार भी सुनें-'स्त्री स्वतन्त्र न होवे, क्योंकि-स्त्रीका स्वभाव चञ्चल होता है; इससे कुमार्गमें चलेगी; और धनादिकोंका नाश भी करेगी' (प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश ४ समु. पृ. १०५)।

वर्तमान-'सत्यार्थप्रकाश' में भी देखिये-'स्त्री-पुरुषकी कामचेष्टा तुल्य अथवा पुरुषसे स्त्रीकी [कामचेष्टा] अधिक होती है' (११ समु. पृ. २३६) प्राय: स्त्रियोंका स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है' (४ समु. पृ. ४७) 'प्राय: स्त्रियोंको प्रिय वह होता है, जो 'स्त्रैण अर्थात् स्त्रीभोगमें फंसा है' (११ समु. पृ. २३४) इत्यादि।

आगे जो 'जातिभेदकी मूर्खता' जर्मन विद्वान्के अनुसार स्वामीजीके मतमें बताई गई है, यह भी ठीक नहीं। जातिभेदकी [आ]वश्यकता स्वामीजी मान गये हैं; हम उनका उद्धरण पहले [दे] चुके हैं-'परन्तु इन लोगों (ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों) ने [ईसा]इयोंके आचरण बहुतसे लिये हैं।...इन्होंने यही समझा हो[गा], कि-खाने-पीने और जातिभेद तोड़नेसे हम और हमारा देश सुधर जायगा, परन्तु ऐसी बातोंसे सुधार तो कहां, उल्टा बिगाड़ होता है' (स.प्र. पृ. २४१) यहांपर स्वामीजीने जातिभेद तोड़ना देशको हानिप्रद तथा ईसाइयोंका आचरण माना है।

(ख) स्वा. दयानन्दजी और आजके विद्वान्।

आगे वादीजीने 'यथेमां वाचं' मन्त्रसे शूद्रादिके वेदाधिकार-समर्थनमें श्रीसत्यव्रतसामश्रमी, स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि, स्वामी भगवदाचार्य

(रामानन्दी) आदिके उद्धरण दिये हैं; पर ये लोग अधिकांश आर्यसमाजी विचारवाले हैं; अतः उनके उद्धरण 'साध्य' हैं 'सिद्ध' नहीं। अत: उनका कुछ भी मूल्य नहीं। जिस व्यक्तिपर जिसकी श्रद्धा हो जाती है; फिर यदि वह किसी मन्त्रका अशुद्ध भी अर्थ करे; यदि अपने भी वैसे विचार हो जाएं-तो उस अशुद्धि की ओर वह श्रद्धालु पुरुष ध्यान नहीं देता। इस प्रकार श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीकी उक्त मन्त्रार्थपर उपेक्षा भी समझ लें। 'शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामि-दयानन्देन' यह सामश्रमीका वचन यह सिद्ध करता है कि-यह स्वा. दयानन्दका वैयक्तिक मत है; सामश्रमीको इसका ऐसा अर्थ इष्ट नहीं-यह स्वा.द.के नामग्रहणसे सूचित होता है। सो हमने जब स्वा. दयानन्दजीके अर्थका खण्डन कर दिया है; उसका उद्धार किसीके भी द्वारा नहीं किया गया; तो 'गर्भिणी-हनने गर्भ-हननवत्' न्यायसे उनके अनुयायियोंका भी उक्त अर्थ खण्डित हो गया।

स्वा.द.से पूर्व यदि इस मन्त्रका किसी वैदिक-विद्वान्ने स्वा.द.वाला अर्थ किया होता; तब तो उस अर्थका कुछ महत्त्व भी था; पर वादीने वैसा दिखलाया नहीं। स्वा.द.जीके बाद कई उनके पिछलगुओंने यदि भेड़ाचालकी भान्ति ऐसा अर्थ कर दिया है; वा वैसी लकीर पीट दी है; तो उसका कुछ भी महत्त्व नहीं। 'वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकः, तद्गतानुगतिको न महार्घः' (एक कोई पहले किसी मार्गको पकड़ ले, तो फिर भेडाचालकी तरह उसके पीछे चलनेवालोंकी कमी नहीं होती)। (नैषध.)

---

(६०) "भारतीय-धर्मशास्त्र" की आलोचना।

'स्त्रियोंका वेदाध्ययन' इस पुस्तक (जिसपर आलोचना हम आगे करनेवाले हैं) के प्रणेताने अपनी 'उदारतम आचार्य दयानन्द' पुस्तकमें श्रीशाण्डिल्यजीके जिनके पूर्वपक्ष इस पुस्तकमें आये हैं-'भारतीय-धर्मशास्त्र'

के भी कुछ स्त्री-शूद्रादि सम्बन्धी उद्धरण दिये हैं, हम उनपर भी वि[illegible] करते हैं।

वादीने श्रीशाण्डिल्यजीकी पुस्तक 'भारतीय-धर्मशास्त्र' में लि[illegible] 'वेदाधिकार-विषय' को 'अत्युत्तम-विद्वत्तापूर्ण लिखा हुआ' तथा [illegible] लेखको 'अत्युत्तम' माना है। हम भी उनके लेखकी आलोचना [illegible] कर देना उचित समझते हैं।

श्रीशाण्डिल्यजी लिखते हैं-'वेद भी प्रभुका निःश्वास या वाणी होने[illegible] कारण सभीकेलिए पठनीय है। वेदके ईश्वरीय-ज्ञान होनेमें सब [illegible] एक मत हैं।...जब धर्मका अधिकारी मानव है; तो धर्मबोधक वे[illegible] ग्रन्थका अधिकारी भी तो मानवमात्र है'।

यह ठीक नहीं। धर्मके नानाभेद होनेसे सब धर्मोंमें सब मानवों[illegible] अधिकार नहीं हो जाता। 'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्' (अथर्व. १२।१।४५) इसमें मनुष्य नाना-धर्मोंवाले बताये गये हैं। वेदका प्रमुख विषय यज्ञ है। पर सब यज्ञोंमें भी [illegible] मानवोंका अधिकार नहीं। 'राजसूय'-यज्ञ ब्राह्मण नहीं कर सकता। 'ब्रह्मसव' में क्षत्रिय अधिकारी नहीं हो सकता। 'वैश्यस्तोम' में वैश्य[illegible] अतिरिक्त अन्य अधिकारी नहीं। शूद्रको वैदिक-यज्ञका अधिकार ही नहीं है (मीमांसा. २।३।३) ६।१।२५-३८)

इस विषयमें वैसे तो बहुत ही प्रमाण हैं; पर इसमें हम वादि[illegible]-वादिमान्य 'मनुस्मृति' का भी प्रमाण देते हैं—'याजनाध्यापने नित्यं क्रि[illegible] संस्कृतात्मनाम्। प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादपि-अन्त्यजन्मनः' (१०।११[illegible]) इस पद्यको किसीने भी प्रक्षिप्त नहीं माना। यह पद्य प्रतिग्रहकी निन्दि[illegible]वता रहा है।

इसका अर्थ यह है कि-वैदिक-यजन तथा वेदाध्ययन संस्कृतात्मा-जिसका आर्यसमाजी विद्वान् श्रीतुलसीरामस्वामीने 'उपनयनादिके संस्कार वाले द्विजोंका' यह अर्थ लिखा है-हुआ करता है, पर प्रतिग्रह तो शू[illegible]

भी लिया जा सकता है, अतः याजन, अध्यापन तथा प्रतिग्रहमें प्रति-ग्रहवृत्ति निन्दित है।

फलतः इससे शूद्रका वैदिक-यज्ञ तथा वेदाध्ययनमें स्पष्ट अनधिकार सिद्ध होरहा है। मनु. १०।१२७ पद्यके अर्थमें श्रीतुलसीराम-स्वामीने लिखा है—'यदि शूद्र धर्म करना जानते भी हों; तो बिना वेदमन्त्रोंके उच्चारण ही यज्ञ-होमादि कर सकते हैं; इससे उनको अमन्त्रक होमका कोई दोष नहीं।'

यहां भी स्पष्ट-रूपसे शूद्रको वेदानधिकार सिद्ध हो रहा है। यही नहीं, श्रीशाण्डिल्यजीके भी श्रद्धेय एवं मान्य श्रीसत्यव्रत-सामश्रमी जिनके ग्रन्थोंका श्रीशाण्डिल्यजीपर गम्भीर प्रभाव पड़ा है—ने भी यही माना है। वे शूद्रोंके विवाहमें वेदमन्त्रोच्चारण नहीं मानते; उसमें श्रीपाणिनिकी सम्मति भी बताते हैं। देखिये उनका ऐतरेयालोचन। पृ. १२ में वे लिखते हैं—'अस्ति हि ब्राह्मणस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्येति त्रिविधाऽऽर्याणां तदितरस्य शूद्रस्य अनार्यस्य कन्यापरिणये अधिकारः; तथा क्षत्रिय-वैश्येति द्विविधयोरार्ययोः तदितरस्य शूद्रस्य चानार्यस्य कन्यापरिणये अधिकारः। तत्र सर्वेषामेव आर्यवर्णानां प्रथमं स्वजातीया-पाणिपीडनमेव विहितम्। किञ्च—आर्यकन्यानामेव उद्वहने यथाविधि वैदिक-मन्त्रादीनां व्यवहारः समुचितः। तत एव तेषां पत्नीत्वम्।'

अत एवोक्तं भगवता पाणिनिनापि—'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (४।१।३३) इतरस्याः (शूद्रायाः) तु अमन्त्रकं ग्रहणमात्रम्'।

इसमें सामश्रमीजीने शूद्रको आर्य नहीं माना। पृ. १५ में उसी पुस्तकमें 'उत शूद्रे उतार्ये' मन्त्र देकर सामश्रमीजीने स्पष्ट किया है—'ये तु अनार्या अपि आर्याणामानुगत्यमालम्बिरे, त एव दासाः। तद्वि-परीतास्तु 'दस्यव' इति व्यपदिष्टाः। त एव दासाः शूद्रा इति। दस्यवस्तु म्लेच्छा इति।...तदेवम् एषु पञ्चजनेषु कर्मादि भेदत एव ब्राह्मणाः, क्षत्रिया वैश्याः इति त्रय आर्याः। दासो दस्युश्च इति द्वौ अनार्यौ इति

स्थितम्।' इस प्रकार सुधारक भी श्रीसामश्रमीजीने शूद्राके विवाहमें वेदमन्त्रोच्चारण भी युक्त नहीं माना। तब शूद्रको शाण्डिल्यजी वेदाधिकार कैसे दे सकते हैं?

आगे श्रीशाण्डिल्यजी लिखते हैं—'वेदोंमें 'शं नो देवीः' 'शं नो मित्रः' 'शं नोऽस्तु' 'तन्न आसुव' इत्यादि प्रयोग अधिकतासे मिलते हैं, जिनमें सुखकी प्राप्ति 'हम सबकेलिए' मांगी गई है; तब क्यों न सारे मिलकर ऐसी प्रार्थना करें?' यह भी कथन ठीक नहीं। इसपर प्रष्टव्य है कि—'शं नः' इत्यादि शब्दोंको मानव कह रहा है—या परमात्मा? अथवा यह शब्द ऋषिके हैं, या द्विजके हैं, या शूद्रके हैं'? जब तक शाण्डिल्यजी इन शब्दोंके कहनेवालेको 'शूद्र' सिद्ध न कर दें; तब तक वे इनसे शूद्रका वेदमें अधिकार त्रिकालमें भी सिद्ध नहीं कर सकते।

आगे वे लिखते हैं—'इसलिए जो भी वेदाध्ययनकी योग्यता प्राप्त करते जावें; वे सभी उपनीत होकर वेदाध्ययनमें प्रवृत्त होते जावें'। जब शाण्डिल्यजीके मतमें सभीको वेदाधिकार है; तो योग्यताका प्रश्न ही क्या? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंके बालकोंका उपनयन ८-११-१२ वर्षमें होता है; ५वें वर्षसे भी शुरू होता है; उस समय उनकी वेदाध्ययनकी योग्यता भला क्या होती है? यह तो अधिकारके कारण ही ऐसा होता है। नहीं तो ५, ६, ८, वा ८, ११, १२ वर्ष यह त्रैवर्णिकोंके वर्ष रखने-की आवश्यकता ही क्या थी?

शाण्डिल्यजी कर्मसे वर्ण मानते हैं; तो जो वेदाध्ययनकी योग्यता प्राप्त कर लेगा; वह उनके मतमें शूद्र तो रहेगा ही नहीं; किन्तु ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य ही हो जावेगा, तब उनके मतमें भी शूद्रका वेदाधिकार सिद्ध न हो सका। अतः 'मानवमात्र वेदका अधिकारी है' यह शाण्डिल्यजीकी बात उनकी अपनी ही बातसे कट गई। उनने भी वेदको तीन वर्णोंमें बांध दिया, शूद्रपर प्रतिबन्ध लगा दिया। स.ध.का खण्डन करना कोई हंसी-ठट्ठा तो नहीं?

यदि वे वेदाध्ययनकी योग्यतावालेको भी शूद्र मानते हैं, तो 'कर्मसे वर्ण' उनका सिद्धान्त कट गया। 'सेयमुभयतः-स्पाशा रज्जुः' इस रस्सीसे वे बंध गये हैं। इससे वे कभी छूट नहीं सकते। तभी छूट सकते हैं, जब वे दृढ-सनातनधर्मी बन जावें। तब उनका यह कहना कि-'इनको जन्मजात ही, आदिम जन्मजात त्रैवर्णिक ही पढ़ सकते हैं, यह वेदोंपर प्रतिबन्ध लगाना, अमौलिक है, अप्रामाणिक है", इसपर हम कहते हैं कि-यही शाण्डिल्यजीका कथन स्वयम् अप्रामाणिक है, बिना आधारके है। क्योंकि-शास्त्रोंमें जन्मजात आदिम तीन वर्णोंके ही द्विजत्वका तथा वेदाध्ययनका अधिकार आया है।

शूद्रका अध्ययन या ज्ञानका अधिकार किसी भी शास्त्रमें नहीं आया। जब नहीं आया, तो शूद्र वेदाध्ययनकी योग्यता प्राप्त कर सकता ही नहीं। तब उसका वेदमें अनधिकार भी तदवस्थ ही हुआ। 'तपसे [कृच्छ्रकर्मणे, सेवार्थ) शूद्र' है—'ब्रह्मणे [वेदाय] शूद्रम्' नहीं आया 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' ही आया है, देखिये यजुर्वेदमाध्यं. ३०।५)। कमसे कम वैदिक अपने आपको मानने वालेको वेदका कुछ आदर तो करना ही चाहिये!

आगे शाण्डिल्यजी कहते हैं-'महाभारतमें भी सबकेलिए वेदाध्ययनकी साक्षी मिलती है—'इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती। विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्तु-अज्ञानतां गताः' (१८८ अ.) (ब्रह्माने यह वेदवाणी चारों वर्णोंकेलिए प्रकट की)। इससे पं.जीने 'महाभारत' को प्रमाण मान लिया-यह स्पष्ट है। अब देखना चाहिये कि-क्या महाभारतको पं.जीका किया यह अर्थ मान्य है?

महाभारत कहता है-'मन्त्रः शूद्रे न विद्यते' (शान्तिपर्व ६०।३७) सतां वृत्तमधिष्ठाय निहीना उद्दिधीर्षवः। **मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति कुर्वाणाः** पौष्टिकीः क्रियाः' (शान्ति. २९६।२९)। इन पद्योंमें शूद्रका मन्त्रभागात्मक वेदमें अनधिकार बताया गया है। इसी बातको महाभारतने अन्यत्र उपमाद्वारा

भी व्यक्त किया है-'न च तां [रुक्मिणीं] प्राप्तवान् मूढः (शिशुपालः) शूद्रो वेदश्रुतीमिव' (सभापर्व. ४५।१६) यहांपर शूद्रको वेदश्रुतिकी अप्राप्ति (अनधिकृति) कही है।

ऐसा ही भाव प्रकारान्तरसे रामायणमें भी आया है-'नाहं नचाऽस्याऽहमनुप्रदातुम् अलं द्विजो मन्त्रमिव-अद्विजाय' (वाल्मी. सुन्दर. २८।५) यहां भी शूद्रको मन्त्रका न देना ही सिद्धान्तित किया है। 'महाभारत' का अन्य प्रमाण भी देख लीजिये। 'नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः।...स्यादेवं स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः' (उद्योग. २९।२६) यहांपर पं.जी अपने मान्य श्रीपाददामोदर-सातवलेकर महोदयका अर्थ भी देख लें—'शूद्रको वेद पढ़ने और यज्ञ करनेका अधिकार नहीं है, और इसे शूद्रकेलिए प्राचीन-धर्म कहा गया है'।

यही नहीं, बल्कि शूद्रके सामने भी वेदके उच्चारणका महाभारतमें निषेध किया गया है। देखिये-'न च शूद्रसमभ्याशे वेदान् उच्चारयन्त्युत' (आदिपर्व ६४।२०)। यह बात ठीक भी है—'श्मशाने नाध्येयम्' यह एक प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक वाक्य है। मनुस्मृतिमें भी कहा है-'नाधीयीत श्मशानान्ते' (४।११६) श्रीशबरस्वामी (मी. ६।१।३८) तथा अन्य भी बहुतोंने इस उद्धरणको दिया है। वादिप्रतिवादिमान्य-महाभाष्यमें भी कहा है-'देशः खल्वपि आम्नाये नियतः—'श्मशाने नाध्येयम्' चतुष्पथे नाध्येयम्' (५।२।१।५९)। शूद्रको भी 'पद्यु (पादयुक्त) ह वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रः, तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्' (ब्रह्मसू. शाङ्करभाष्य (१।३।३८) (रामानुजाचार्य स्वामीका ब्रह्मसूत्रभाष्य १।३।३८) (श्री-वल्लभाचार्यगो.का उक्तसूत्रका भाष्य) इत्यादि।

जब ऐसा है; तब महाभारतके मतमें भी शूद्रको वेदाधिकार सिद्ध न हुआ। शेष रहा शाण्डिल्यजीका 'इत्येते चतुरो वर्णाः' यह महाभारतका पद्य, सो उसका किया हुआ पं.जीका अर्थ भी महाभारतसे विरुद्ध है। इस विषयमें इसी पुष्पके पृ. २०३-२०४ में देखिये। 'ब्राह्मी' यहां 'भाषा'

है, 'वेद-वाणी' नहीं। उसका कारण यह है कि—'वेदवाणी कोई बोलचालकी भाषा नहीं होती; इसलिए श्रीपाणिनि, श्रीयास्क आदिने उसे छन्द वा अध्याय-स्वाध्याय कहा है। पर लौकिक-वाणीको तो दोनों आचार्योंने 'भाषा' कहा है। 'भाषा भाषणात्' भाषा बोलनेसे होती है, पर 'छन्द' होता है—'छादनात्'। 'मन्त्रः—'मन्त्रि गुप्तभाषणे' इसलिए छान्दस-प्रयोगोंका भाषामें प्रयोग नहीं होता। यह बात वादिप्रतिवादि-सम्मत है।

इससे स्पष्ट है—उक्त महाभारतीय-पद्यमें वेदोंकी बात नहीं है; किन्तु संस्कृतभाषाकी बात है। शूद्रोंका वेदका अधिकार न तो महाभारत बताता है, न कोई अन्य प्राचीन-शास्त्र ही। अतः महाभारतसे विरुद्ध अर्थ लेनेके कारण श्रीशाण्डिल्यजीका अर्थ तथा उससे उनका पक्ष सिद्ध न हो सका।

आगे पं.जीने 'यथेमां वाचं' मन्त्रसे अपना पक्ष सिद्ध करनेकी चेष्टा की है; पर वे इसका प्रत्युत्तर इसी पुष्पके २-४० पृष्ठमें तथा ४९-५० पृष्ठमें देखें।

आगे पं.जी 'स्तुता मया वरदा वेदमाता...पावमानी द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) मन्त्रकी उक्तिसे जो शूद्रका वेदाधिकार काटती थी—बलात्कार करते हैं। लिखते हैं—'इस मन्त्रमें द्विजोंको वेद पढ़नेका अधिकारी कहा गया है'। यहाँतक तो शाण्डिल्यजीने परमात्माकी बात मानकर हमारा पक्ष सिद्ध कर दिया; पर आगे उस परमात्माकी वाणीको मानवी-वाणीसे छिन्न-भिन्न करना-रूप स्वहृद्‍गत तात्पर्य बताते हैं कि यह मन्त्र वेदोंका अध्ययन करनेकी इच्छावाले मनुष्यमात्रको—पुरुषों और स्त्रियोंको—द्विज बनानेकी भावनाका बोधक है'।

विद्वान्-पाठकोंने पं.जीके इस लम्बे-चौड़े निज-कल्पित तात्पर्यको देखा होगा। प्रष्टव्य यह है कि—यह मन्त्रके किन पदोंका तात्पर्य है? अब वे तात्पर्य पहले बताकर फिर उसका अर्थ बताते हैं—'अर्थात् जो भी

मनुष्य पुरुष हो वा स्त्री, वेद पढ़नेकी भावनासे गुरुके पास जाता है, और उससे उपनीत होकर वेदाध्ययन करता है, वह द्विज है'।

आश्चर्य है कि—शाण्डिल्यजी अपनी मानव-बलसे निकाली वाणीसे परमात्माकी वाणीको दबाते हैं। स्वाभाविक-अर्थमें बहुत बल लगानेकी आवश्यकता नहीं पड़ा करती। यदि परमात्माको इससे सभी मानवमात्रको वेद देनेकी इच्छा थी, तो 'द्विजानाम्' इस द्रविड़-प्राणायामकी क्या आवश्यकता थी? सीधा 'प्रचोदयन्तां पावमानी जनानाम्' यह वे कह सकते थे। इससे पूर्व पं.जीने लिखा है—'यह दूसरी बात है कि—शूद्र क्लिष्टकार्यों-या सेवाकार्योंमें रत होनेसे वेद न पढ़ सके। यदि वह पढ़ना चाहे;. तो उपनीत होकर पढ़ सकता है।"

'यह दूसरी बात क्यों है?' जब पं.जी वेदशास्त्रानुसार शूद्रका क्लिष्ट-कर्म वा सेवाकर्म कर्तव्य मानते हैं. तब उसे वेद पढ़ना प्राप्त ही कब हो सकता है? 'यदि वह पढ़ना चाहे' कब पढ़ना चाहे? अपने कर्मको यदि वह छोड़ता है; तो 'जहाँ वेदादिशास्त्र-विरुद्ध करता है; क्योंकि—'तपसे शूद्रम्' (यजुः ३०।५) है (शूद्रका जन्म कृच्छ्र-कर्मकेलिए होता है) वहाँ भगवान्‌की पूजा भी नहीं मानी जावेगी। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता १८।४६) यहाँ अपना कर्म पूरा करनेसे ही भगवान्‌की पूजा मानी जाती है, उसके छोड़ देनेसे भगवान्‌का अनादर माना जावेगा। तब अपनेसे विरुद्ध कर्म करनेवाले शूद्रको वेद अपना अधिकार दे ही कैसे सकता है?

इधर जब वह शूद्र उपनीत हुआ, तो शाण्डिल्यजीके अनुसार भी शूद्र न रहा; क्योंकि—वे कर्मसे वर्ण मानते हैं, तो उस वेदको शूद्र न पढ़ सका, उस वेदको द्विजने पढ़ा; तब उनके मतमें भी शूद्र वेदानधिकारी ही सिद्ध रहा। यदि उस समय भी वह शूद्र रहा, तो वर्णव्यवस्था 'कर्मणा' कटकर 'जन्मना' सिद्ध हो गई, क्योंकि—उसने शूद्रवाला कर्म तो छोड़ रखा, फिर भी वह शूद्र रहा; तब वेद पढ़ा, इससे वह वर्ण (ब्राह्मण

श्रौर शूद्र-वर्णका) सङ्कर भी हो गया।

यदि वह शूद्र रहा; तो द्विज न होनेसे वह वेद कैसे पढ़े; क्योंकि—मन्त्रमें 'पावमानी द्विजानाम्' है। श्रीशाण्डिल्यजीका इस 'उभयतस्पाशा रज्जु'से छुटकारा नहीं हो सकता। पं.जी मुझे क्षमा करेंगे, यदि मैं कहूं कि—कृत्रिमतामें बनावट दीख ही पड़ती है। द्विज ब्राह्मणादि ही होता है, शूद्र नहीं। 'ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: त्रयो वर्णा द्विजातय:'। अत्र तेषामधीकारो धर्मेषु द्विपदां वर! (महा. शान्ति. २९६।२५)

आगे श्रीशाण्डिल्यजी कहते हैं कि—"उपनयनका अर्थ भी यही है कि—गुरुके पास जाना, और यज्ञका चिन्ह यज्ञोपवीत गुरुसे लेकर वेदाध्ययनमें प्रवृत्त होना। तब यह नियम तो मनुष्यमात्रकेलिए लागू हो सकता है। मनुने भी इस भावनाको पुष्ट किया है—'उपनीय तु य: शिष्यं वेद-मध्यापयेद् द्विज:' (२।१४-१५) जो ब्राह्मण आगन्तुक शिष्यको उपनीत करके वेद पढ़ाता है, वह आचार्य कहा जाता है। इसमें शिष्यमात्रको उपनयन देना इष्ट है।"

अत्यन्त खेदका विषय है कि—श्रीपं.जी स्पष्ट ही मनुजीका मनुजीसे विरुद्ध अभिप्राय दे रहे हैं। मनुजी वर्णव्यवस्था जन्मसे मानते हैं। जैसेकि—'सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीषु-अक्षतयोनिषु। आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेया: त एव ते' (मनु. १०।५) इन्हीं-जन्मजात ब्राह्मणादिके मनुजीने (१।८८-८९-९०-९१ पद्योंमें) कर्म बतावे। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णोंका अध्यापन बताया है। उन्हींकेलिए उपनयनका विधान कहकर मनुजीने उन्हें 'द्विज' बताया। जैसेकि—'ब्राह्मण: क्षत्रियो वैश्य: त्रयो वर्णा द्विजातय:' (१०।४) (त्रैवर्णिक ही द्विजत्वके अधिकार वाले हैं) शूद्रको मनुजीने 'चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो' (१०।४) एकजाति कहा। उसकेलिए 'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु: कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया' (१।९१) इससे द्विजोंकी सेवा बताई। 'यद् अतो अन्यद् हि कुरुते तद् भवति-अस्य निष्फलम्' (१०।१२३) सेवासे भिन्न कर्म

करनेवाले शूद्रकी निष्फलता भी बताई।

'वरं स्वधर्मो विगुण:, न पारक्य: स्वनुष्ठित:' (१०।९७) में स्वधर्माचरणको वैध तथा परकीयाचरणको अवैध बताया गया है। फिर वे ही मनुजी 'उपनीय तु य: शिष्यं' (२।१४०) में शूद्रको वेदाध्यापक-आचार्यका शिष्य बना ही कैसे सकते हैं? तब 'शिष्य' का 'शिष्यमात्र' अर्थ करना यह पं.जीका मनुके साथ अन्याय करना है। तो मनुष्यमात्रके-लिए पं.जीका अभीष्ट, अर्थ यज्ञोपवीत कट गया।

जब मनुजीने 'शूद्रेण हि सम: तावद् यावद् वेदे न जायते' (२।१७२) इसमें वेदसे हीन द्विजको भी शूद्रके समान कहा है; 'योऽनधीत्य द्विजो वेदं...स जीवन्नेव शूद्रत्वम्' (२।१६८) इसमें वेदाऽनध्येताको अर्थवादसे 'शूद्र' कहा है। 'स शूद्रवद् वहिष्कार्य: सर्वस्माद् द्विजकर्मण:' (२।१०३) में शूद्रको द्विजकर्ममें मनुजी अधिकार नहीं देते; तब शाण्डिल्यजी मनुको मनुष्यमात्रको यज्ञोपवीत देनेकी भावना कैसे बताते हैं? वास्तवमें पं.जी का हृदयदर्पण इतना स्वच्छ है कि—वे अपने भावको मनुके पद्यमें देखते हैं। अपनी उक्तिको मनु वा वेदकी उक्ति समझते हैं।

आगे पं.जी एक आपत्ति खड़ी करते हैं। लिखते हैं—'यदि वेद उन्हीं-द्विजोंकेलिए होता; जो जन्मसे त्रैवर्णिक हैं; तो वे द्विजपुत्र होनेसे पहले ही द्विज हैं; उनको पुन: द्विज बनानेकी भावनासे उपनीत करना तो पिष्टपेषण है।'

खेद है पं.जी इन बातोंको जानते-बूझते हुए भी इनपर आपत्ति उठाते हैं! 'अत्रिस्मृति' में ठीक ही लिखा है—'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय: संस्काराद् द्विज उच्यते' (१३८) जन्मसे ब्राह्मणका लड़का 'ब्राह्मण' माना जाता है, पर उपनयनसे 'द्विज' कहा जाता है। यह दूसरी बात है कि-भविष्यत्का विचार करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको पहलेसे ही द्विज कह दिया जावे। जैसेकि—कोई तन्तुएं लेकर जुलाहेके पास जाकर कहे कि—इसकी धोती बुन दो, सो उन तन्तुओंको 'धोती' कहना भविष्यद्-दृष्टिसे है;

वैसे ही यहां भी त्रैवर्णिकको द्विज कहना इसी दृष्टिसे है। भाव यह है कि-द्विजका पुत्र 'द्विज' नहीं होता; जब तक उसका जनेऊ न हो जाय। जोकि-कहा जाता है-'त्रयो वर्णा द्विजातयः' इसका भाव यह है कि-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको ही उपनयनका अधिकार है, त्रैवर्णिकसे भिन्न शूद्रादिको नहीं; तब 'शिष्यमात्र' उपनीत हो सकता है' यह शाण्डिल्य-जीका कथन सर्वथा कट गया।

'द्विज' यह वर्णका नाम नहीं होता। पितृपरम्परासे वर्णव्यवस्था तो होती है, पर द्विजत्वकी व्यवस्था नहीं। वह तो त्रैवर्णिककी उपनयन करलेपर ही होगी। सो द्विज, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य उपनयनसे ही बनाता है। तभी वह उपनयनके बाद वेद पढ़ता है, अन्य स्त्री-शूद्रादि नहीं। जन्मसे ही द्विजत्व माननेपर तो फिर ब्राह्मणादिको उपनयनकी आवश्यकता भी नहीं थी। 'ब्राह्मणः क्षत्रियो, वैश्यः त्रयो वर्णा द्विजातयः' (१०।४) यह मनुवचन तो इस अभिप्रायको रखता है कि-इन तीन वर्णोंको ही उपनयनका विधान है; शूद्रादिको नहीं। अतः द्विज तीन ही वर्ण हैं। चतुर्थ-शूद्रको यज्ञोपवीतका कहीं आदेश नहीं (अतः वह 'द्विज' भी नहीं है) अब भी नहीं, आगेकेलिए भी नहीं। यह तात्पर्य होनेसे पं.जीकी कही आपत्ति खण्डित हो जाती है। उपनयनहीन ब्राह्मणादि 'व्रात्य' होता है 'द्विज' नहीं। जोकि आगे पं.जीने लिखा है कि-'यदि वे द्विजपुत्र होते हुए भी जन्मसे एकज हैं; अतः उन्हें उपनीत करके 'द्विज' बनाना असङ्गत नहीं' ऐसा कहा जावे, तो शेष (शूद्र) पुरुष भी तो एकज हैं; उन्हें क्यों न द्विज बनाया जाय?'

यह शाण्डिल्यजीकी आपत्ति भी व्यर्थ है; क्योंकि-'ब्राह्मणः, क्षत्रियो वैश्यः त्रयो वर्णा द्विजातयः' (मनु. १०।४) इन तीन वर्णोंको तो एकजसे 'द्विज' करनेका विधान है; जिससे 'द्विवद्धं सुवद्धं भवति' इस न्यायकी चरितार्थता हो जावे। पर शूद्रकेलिए 'चतुर्थ एकजातिस्तु' (१०।४) इस प्रकार अनधिकार होनेसे द्विजत्वका अधिकार नहीं।

जबकि शूद्रको कड़े कामों वा सेवाकेलिए लगाना शाण्डिल्यजी भी वेदानुसार स्वीकृत करते हैं; तब उसका भावी वेदाध्ययन ही नहीं होता। उसके न होनेसे उसका उपनयन नहीं होता। उपनयन न होनेसे उसका द्विजत्व नहीं होता। यह बड़ी स्पष्ट बात है। इसपर आपत्ति क्यों? वह 'एकज' का एकज ही बना रहता है। सेवाका कड़ा कार्य उसके पास होनेसे समयाभावके कारण यह न्याय्य भी है। शूद्रको 'व्रात्य' भी नहीं कहा जाता।

अधिकार सबका अपने कर्ममें तो हो सकता है; पर दूसरेके कर्ममें नहीं। सेवकका प्रभुवाले कार्यमें वा उसकी गद्दीपर बैठनेमें अधिकार कैसे हो? यदि राजा अपने झाड़ू-बुहारी करनेवाले भृत्यको अपना मन्त्री नहीं बनाता, वा अपनी गद्दी पर उसे नहीं बैठाता; तो यह न्याय्य बात है। यह मानवताका अधिकार छीनना नहीं है। द्विजोंके पुत्र द्विज बनें और द्विज-कृत्यमें अधिकृत हों; और एकजके पुत्र एकज बनें; तथा उनका कृत्य सेवा सम्भालें, यह व्यवस्था तो बहुत सुन्दर एव न्याय्य है। संसारमें शान्ति एवं सुव्यवस्था रखने वाली है।

'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्' (गीता १८।४४) 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (१८।४८)। मानवको सिद्धि-प्राप्ति, तथा मानवकी ईश्वरपूजा स्वकर्मप्रवणता ही है। वेदका यह वचन याद रखिये—'तपसे शूद्रम्' (यजुःमाध्यं. ३०।५) (शूद्र कृच्छ्र-कर्मरूप-तपकेलिए नियुक्त होता है।) 'तपः शूद्रस्य सेवनम्' (मनु. ११। २३५)। आशा है-पं.जी वेदविरुद्ध आचरणका उत्तरदायित्व अपने पर न लेंगे। जब ऐसा है, तो 'केवल द्विजोंके पुत्रोंको एकजसे द्विज बनाना, और शेष एकजोंको शूद्र मानकर उनको वेदाधिकारसे वञ्चित रखना मानवताका अधिकार छीनना है' यह श्रीशाण्डिल्यजीका तर्क सभी वेदादिशास्त्रोंसे विरुद्ध है। द्विज-जनताको अपनी सेवा अपेक्षित है, और शूद्रको अपनी वृत्ति अपेक्षित है। द्विज-पतिको अपनी सेवा अपेक्षित है, जिसकेलिए उसने स्त्रीका वरण किया है, जिससे वह निश्चिन्त होकर

धार्मिक-कृत्य तथा जनताके ज्ञानार्थ पुस्तकादि-निर्माण एवं अन्य कार्य करने हैं। स्त्रीको वृत्तिके स्थान एक पुरुषका सहारा अपेक्षित है। जिससे उसे पर-पुरुषका मुंह न देखना पड़े। यह न्याय्य बात है। परन्तु स्त्री- एवं शूद्र अपने भी कृत्य करें, तथा द्विजोंके कर्तव्य भी निभावें—यह अन्याय्य बात है। उनपर अत्याचार है—यह लौकिक दृष्टि भी यहाँ स्वयं समझ लेनी चाहिये।

पं.जी याद रखें—'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर:' (मनु. १२।१०६) (वेद तथा धर्मशास्त्रका जो पुरुष वेद तथा शास्त्रसे अविरुद्ध तर्कसे अनुसन्धान करता है, वही धर्मको जान सकता है, दूसरा नहीं।) अपने शास्त्रोंसे विरुद्ध द्विजत्वको सार्वभौम बनाना 'योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक:' (मनु. २।११) (जो द्विज धर्मके मूल-श्रुति एवं स्मृतिको केवल तर्कसे अपमानित करता है, वेद एवं शास्त्रके निन्दक उस नास्तिकका बहिष्कार करना उचित है) इस पद्यको निमन्त्रण देना है; और द्विजत्वके गौरवको घटाना है।

द्विजका पुत्र द्विज रहे, और एकजका पुत्र एकज—यह न्याय्य बात है। समूचे भूमण्डलके पुरुषोंको द्विजत्वका अधिकार नहीं होता, किन्तु 'स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा:' (मनु. २।२०) सभीको ब्राह्मणसे अपना-अपना चरित्र सीखना ही उन्हें आदिष्ट है, अन्य-अन्यका चरित्र लेना आदिष्ट नहीं। वेदकेलिए त्रैवर्णिक आचार्यकुलमें जाएंगे; तद्-व्यतिरिक्त शूद्र-अन्त्यजादि लोग यहांके अग्रजन्मा (ब्राह्मण) से अपना-अपना चरित्र सीखेंगे। वेदको सर्वसाधारण नहीं ग्रहण करेंगे। यज्ञोपवीत वेदपठनार्थ होता है, साधारण अपने चरित्रोंके सीखनेकेलिए नहीं?

आगे वादी, श्रीशाण्डिल्यजीका कथन उद्धृत करता है—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम' इत्यादि। इसमें कोई पुरुष विशिष्ट-गुणोंसे युक्त हो, तो उसे वेदाधिकार दिया जा सकता है'। यह परिश्रम भी पं.जीका व्यर्थ है।

इस विषयमें इस पुष्पमें पृ. १८६-२०४ देखिये। असूयक, अनृजु, अशुचि आदि दोष शूद्रोंके स्वाभाविक हैं। कर्मसे वर्ण माननेवाले आप इसमें नकार कर ही नहीं सकते। जन्मसे वर्ण माननेवाले हम लोगोंके मतमें भी पूर्वजन्मके कर्मोंके संस्कारानुसार ये दोष शूद्रमें स्वाभाविक हैं। हाँ, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंमें भी यदि वे पूर्वजन्ममें शूद्र रहे हों; तो यह दोष अपवादरूपसे आ सकते हैं। इन मन्त्रोंसे उन द्विज-पुत्रोंके पढ़ानेका भी निषेध हो जावेगा।

स्पष्ट है कि—श्रीशाण्डिल्यजी यहां भी सफल नहीं हो सके। कारण यह है कि—उन्होंने अमौलिक सिद्धान्त पकड़ रखा है, वहाँ असफलता वा असङ्गति स्वाभाविक ही है। अन्तमें वादी श्रीशाण्डिल्यजीका लेख उद्धृत करता है—'यदि भारतमें रहनेवाले परिमित द्विजमात्र ही वेदाधिकार प्राप्त कर सकें, और अन्य भूमण्डलवासी मनुष्यमात्र शूद्र मानकर वेदाधिकारसे बहिष्कृत कर दिये जावें, तो यह परमेश्वरकी दृष्टिमें महान् पक्षपात होगा'।

श्रीशाण्डिल्यजी 'वेदमाता...द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) कहनेवाले वैदिक-ईश्वरकी भी अब भूल निकालते हैं। स्वा.द.के मत माननेवाले श्रीशाण्डिल्यजी बताएं कि—अग्नि, वायु, सूर्य, अङ्गिरा भारतीय ऋषि जो उनके मतमें ब्राह्मण हैं, को परमात्माने वेद दिये, स्त्री शूद्रको तथा विदेशीको एवं स्त्रीको परमात्माने वेद क्यों नहीं दिये? क्या यह उनके मतमें पक्षपात नहीं?

परमात्माने मरुभूमिवालोंको जल परिमित दिया है, इधरके लोगोंको जल अपरिमित दिया है; जहाँ सुन्दरताकेलिए फौवारे भी चला करते हैं; और पानीको व्यर्थ किया करते हैं। उधर छाया, शाक आदि परिमित दिये; और इधर अपरिमित दिये। क्या यह आपके मतमें पक्षपात नहीं? विदेशोंमें शीत बहुत अधिक दिया; वहाँ गर्मी कम दी; केवल एक-दो

ऋतु ही दिये; परन्तु भारतमें पूरे छः ऋतु दिये, गङ्गा जैसी लाभदायक नदियाँ दीं, वेद भी भारतमें ही भेजे, विदेशोंमें नहीं। परमात्माके अवतार भी भारतमें ही परमात्माने किये, विदेशोंमें नहीं, क्या यह आपके मतमें पक्षपात नहीं होगा?

पर यदि आप इसका उत्तर स्वा.द.जीके शब्दोंमें यह दें कि—'अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोपि नैव आगच्छति, किन्तु अनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यङ् न्यायः प्रकाशितो भवति। कुतः? न्यायेति (?) अस्यैव नामास्ति, यो यादृशं कर्म कुर्यात्; तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात्। अत्रैवं वेदितव्यम्-तेषामेव [चतुर्ऋषीणां] पूर्वपुण्यमासीद्, अतः खलु एतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्तुं योग्योस्ति' (ऋभाभू. वेदोत्पत्तिविषय १६ पृ.) (उन चार ऋषियोंका पूर्वपुण्य था; अतः उन्हींके हृदयमें वेदोंका प्रकाश किया गया।)

तब हमारा भी यही उत्तर जान लीजिये। स्वामीजीने भूमण्डलभरमें केवल चार ब्राह्मण अधिकारी माने, लेकिन हमारे सनातनधर्मने भारतीय-त्रैवर्णिकोंको उनके पूर्वपुण्यके कारण जिनके कारण उन्हें त्रैवर्णिकता प्राप्त हुई, वेदाधिकारी माना। शूद्र-अन्त्यजादिके तथा विदेशियोंके पूर्वजन्मके कर्म इस प्रकार थे, जिनसे उनका त्रैवर्णिकोंके तथा भारतीय-परिवारमें जन्म नहीं हुआ। तब उनके इस अनधिकारमें पक्षपात कुछ भी नहीं हुआ। यदि आप हमारी यह बात नहीं मानते; तो अपने श्रद्धेय स्वा.द.-की युक्ति भी गलत मानिये।

तथापि शूद्रादिको भी वैदिक-ज्ञानसे वञ्चित नहीं किया गया। वही ज्ञान उन्हें अनादिसे वा सृष्ट्यादिसे चालू पुराणादि-द्वारा सुनाया जा सकता है। बड़ी तीन श्रेणियोंको यदि मुख्याध्यापक स्वयं पढ़ाता है, छोटी श्रेणियोंको यदि मुख्याध्यापक साक्षात् न पढ़ाकर अपनी वही विद्या अपने छात्रों-द्वारा पढ़वा देता है, तब इसमें भी कुछ पक्षपात नहीं माना जा सकता।

आगे श्रीशाण्डिल्यजी लिखते हैं—'वस्तुतः परमेश्वरने ऐसा नहीं किया; किन्तु उसके अदूरदर्शी पुजारियोंने ही यह पक्षपात किया है' महोदय! भगवान्के प्राचीन पुजारी-अदूरदर्शी नहीं थे, भगवान्का अन्तस्तल जाननेवाले थे। मनु-याज्ञवल्क्यादि समाधि-सिद्ध ऋषि-मुनि, तथा सभी गृह्यसूत्रकार एवं सभी प्राचीन-आचार्य वेदानभिज्ञ वा अदूर-दर्शी नहीं हो सकते।

आगे शाण्डिल्यजी लिखते हैं—'प्रभुकी वाणी वेदने तो स्पष्ट ही 'जनेभ्यः' कहा है' वस्तुतः यहाँ भी पं.जीकी अपनी ही भारी भूल रही है। पहले उन्होंने ही इसे एक ऋषिकी उक्ति (देखो पृ. ४९) माना; अब उसे ही 'प्रभुकी वाणी' कहने लगे। तभी तो श्रीयास्कके शब्दोंमें 'पुरुषकी विद्या अनित्य' (निरु. १।२।७) हुआ करती है। आजकलके प्रभुके पुजारी प्रभुको अपनी इच्छानुसार ही चलाना चाहते हैं। प्राचीन-पुजारी प्रभुके कथनानुसार ही चलना चाहते थे, और हैं। उसके सम्भवी अर्थको तोड़-मोड़ करके बदलते नहीं थे।

'जनेभ्यः' यदि वेदश्रुतियोंकेलिए होता; तो 'वेदमाता...द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) प्रभु यह शब्द न कहते, किन्तु उसके स्थानपर 'वेदमाता पावमानी जनानाम्' कहते; पर ऐसा नहीं है; अतः पहला 'जनेभ्यः' (यजुः २६।२) शब्द 'वेदवाक्' के लिए नहीं है; तभी तो उसमें केवल 'वाचं' है, 'वेदवाचं' नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष बात है। जिस मन्त्रमें 'वेदमाता' शब्द है, वहां 'द्विजानाम्' हैं, 'जनानाम्' नहीं।

अन्तमें पं.जी कहते हैं—'अतएव दूरदर्शी कण्व-ऋषिने दस हज़ार यवनोंको संस्कृत पढ़ाकर यज्ञोपवीत दिया; और द्विज बनाकर ईश्वरीय-ज्ञान वेदको सबकेलिए देनेका मार्ग ही खोल दिया। अतः दूरदर्शी ब्राह्मणोंको शास्त्रसिद्धान्तानुसार सभी मानवोंको द्विज बनाकर अपनाना चाहिये'।

मुझे खेदसे कहना पड़ता है कि-पं.जीने अपने 'भारतीय-धर्मशास्त्र' में जो बातें लिखी हैं; उन बातोंको न तो उन्होंने स्वयं पूर्वापर-प्रकरण-सहित वेदोंमें देखा; और न ही उन्हें पुराणादिमें देखनेका कष्ट किया; किन्तु दयानन्दी-निबन्धकारोंने जैसा लिख डाला, श्रीशाण्डिल्यजीने भी विना वहांका पूर्वापर-प्रकरण देखे उनको वैदिक वा शास्त्रीय बताकर लिख दिया। यहाँ भी उन्होंने उक्त भविष्यपुराणके इतिहासमें यही बात की है। इस विषयमें शाण्डिल्यजी इसी पुष्पके पृ. २३८-२४६ में उसका पूर्वापर देखें। यहांपर श्रीशाण्डिल्यजीने म्लेच्छ वा यवन शब्दसे मुसलमान समझ रखे हैं। पर यह उनकी भूल है। इस विषयमें भी वे पूर्वोक्त पृष्ठोंमें देखें।

शाण्डिल्यजीके माननीय श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीने 'ऐतरेयालोचन' के १७-१८ पृष्ठमें लिखा है—'एवं च अस्मत्-शास्त्रकृता ब्राह्मणादि-जाति-संज्ञा तु अस्माकमेव [भारतीयानाम्]; भारताद् अन्यत्र [विदेशेषु] तु ब्राह्मणादयः त्रयो वर्णाः शूद्रम्लेच्छाश्च नैव सन्ति इति तत्रत्यानां ब्राह्मणादि-जातिभावेन आर्यत्वं, शूद्रम्लेच्छत्वेन अनार्यत्वं वा न किमपि सङ्गच्छते-अस्मत्शास्त्रानुसारतः। तदेवमिङ्गलेण्डादिदेशानां म्लेच्छदेशत्वम् न कथमपि संगच्छते-इति प्रणिधानेन आलोच्यताम्'। म्लेच्छादि-देशा भारते विद्यन्त एव; म्लेच्छा अपि भारतीयेष्वेव केचन'। सो श्रीशाण्डिल्यजीका यवन-म्लेच्छ आदिका 'मुसलमान' ('विदेशी जाति') अर्थ करना श्रीसामश्रमीजीके अनुसार भी खण्डित हो गया। इस विषयकी स्पष्टता पूर्वोक्त पृष्ठोंमें पं.जी देखें। इससे पं.जीके मतकी पुष्टि न होकर उनके मतका खण्डन हो जाता है। यह दयानन्दी लोग छल करके अपने गलत-पक्षकी सिद्धिकेलिए ग्रन्थोंके पूर्वापर छिपाकर लिख दिया करते हैं। आशा है—भोले-भाले प.जी आगेसे उन आर्यसमाजियोंके दिये प्रमाणोंपर विश्वास न करके भविष्यमें स्वयं उनका पूर्वापर-प्रकरण देख लिया करेंगे; अन्यथा उनके पक्षको प्रबल आघात प्राप्त होगा; और उन्हें

लज्जित होना पड़ेगा, पं.जीने वहांका 'दैत्योंका मत' तो अपना लिया; परन्तु देवताओंका जो वहाँका मत 'सिद्धान्तपक्ष' था—उसे देखा तक नहीं। फिर वहांका इतिहास आधा छोड़कर प्रमाणित करना यह 'अर्धजरतीय' न्यायकी चरितार्थता हो जाती है। इस आर्यसमाजी-ढंग पकड़नेसे सरल-प्रकृति पण्डितजीकी शोभा नहीं बढ़ेगी।

इसके आगे एक दयानन्दी-सिद्धान्तालङ्कारकी 'स्त्रियोंका वेदाध्ययन' पुस्तककी आलोचना करके इस पुस्तकको समाप्त किया जावेगा।

---

(६१) 'स्त्रियोंका वेदाध्ययन' पर विचार।

(प्रथम अध्याय—वैदिक प्रमाण)

हमारे सामने 'स्त्रियोंका वेदाध्ययन और वैदिक-कर्मकाण्डमें अधिकार' एक दयानन्दी-सिद्धान्तालङ्कार की एक पुस्तक पड़ी है। इसके २३६ पृष्ठ हैं। इसमें ५ अध्याय तथा एक परिशिष्ट तथा उपसंहार दिया गया है। **प्रथम अध्याय** (पृ. १ से ३३ पृ. तक) में तथाकथित 'वैदिक-प्रमाण' दिये गये हैं। द्वितीय अध्याय (पृ. ३४ से ५३ पृ. तक) 'ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौतसूत्रोंके प्रमाण दिये हैं। तृतीय अध्याय (पृ. ५४ से पृ. ९० तक) गृह्यसूत्रोंके प्रमाण दिये हैं। चतुर्थ अध्याय (पृ. ९१ से पृ. १५३ तक) 'स्मृतिवचनविमर्श' दिया गया है। पञ्चम अध्याय (पृ. १५४ से पृ. २२२ तक) 'ऐतिहासिक-दृष्टिसे विचार' किया गया है। फिर 'परिशिष्ट' (पृ. २२३ से २२९ तक) तथाकथित 'कुछ अन्य स्पष्ट प्रमाण' दिये गये हैं। फिर उपसंहार (पृ. २३०-२३६) तकमें संक्षेपसे पूर्वोक्त कहा गया है।

यह पुस्तक वादीका कोई नया वा अपूर्व अध्यवसाय नहीं है। यही उसने अपने पत्र 'सार्वदेशिक' (जून, जुलाई, अगस्त १९४६) में लिखा था। उसका हमने 'सिद्धान्त' में (चैत्र कृ. ८ सं. २००२ से सं. २००३

तक पूरे ३ वर्ष प्रत्युत्तर दिया था। उसी 'सार्वदेशिक' के सन्दर्भको वादीने इस पुस्तकमें संकलित किया है। हमने जो उसका पूरा प्रत्युत्तर दिया था; वादीने प्रायः उसका उद्धार नहीं किया। तथापि यह सोचकर कि—यदि हम उसपर कुछ लिखें नहीं, तो कहा जाता है कि—इसका उत्तर नहीं दिया गया—हम उसपर लिखते हैं।—

हमने 'सिद्धान्त' में दिये गये अपने विस्तीर्ण उत्तरको सक्षिप्त करके 'श्रीसनातनधर्मालोक' के तृतीय-पुष्पमें दिया था। अब वह समाप्त हो चुका है। उसकी द्वितीयावृत्तिमें कुछ हम परिवर्धन कर रहे हैं। उसमें वादीकी उक्त-पुस्तककी 'प्रत्यालोचना' भी संलग्न कर रहे हैं। वादीकी पुस्तकके पृष्ठोंका भी हम इसमें उल्लेख करेंगे। और उसका प्रत्युत्तर जो इस पुष्पमें पहले आ गया है; हम उनको दोबारा न लिखकर यहाँ हम उसकी अपनी पृष्ठ-संख्या लिख देंगे।

पृ. १ वादी लिखता है—'स्त्रियोंको वेदाध्ययन करनेका अधिकार है—या नहीं' इस विषयक चर्चा विद्वानोंमें **मध्यकालके पश्चात्** प्रारम्भ हुई है'।

यह वादियोंका कथन निर्मूल है। सनातनधर्म जो कहता है, अर्वाचीन-विचारधारावाले यदि उसे नहीं मानते, तो उसे वे मध्यकालकी या उस मध्यकालके पीछेकी विचारधारा कहकर उससे अपनी जान छुड़ा लिया करते हैं। मनुस्मृति स्पष्टतया स्त्री एवं शूद्रका उपनयन तथा क्रमिक एवं वैध वेदाध्ययन नहीं मानती। स्वा.द.जी स.प्र. ११वें समुल्लासके आरम्भमें 'मनुस्मृति' को सृष्टिकी आदिमें प्रणीत मानते हैं; तब यह आदिकालकी विचारधारा हुई, मध्यकालकी वा उसके बादकी विचारधारा कहाँ हुई? वेद भी यही मानता है—यह हम इस तृतीय पुष्पमें स्पष्ट कर चुके हैं; तब वह भी क्या मध्यकालकी विचारधाराका पोषक है?

"स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम् इति श्रुतेः" इस प्रकारके कल्पित वचन श्रुति-

या वेदके नामसे स्वार्थी लोगोंने घड़ दिये, तथा इस आशयके वचन स्मृतियों आदिमें मिला दिये"।

यह वादियोंका अपने पक्षसिद्धिका निर्मूल दूसरा आविष्कार है। जिस बातको वे नहीं मानते; उसको वे 'प्रक्षिप्त' होनेका 'फतवा' दे दिया करते हैं। पर विद्वान् लोग जो इन वादियोंके हथकंडोंमें पूरी तरह जानकार हैं, इसका उन लोगोंपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा करता। 'स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्' यह वचन किसी ब्राह्मणग्रन्थका है; बहुतसे ब्राह्मणग्रन्थ अब लुप्त हैं; पर यह निर्मूल नहीं है। हम इस विषयमें स्पष्टता इसी पुष्पमें पहले कर चुके हैं। बहुतसे भाष्यकारोंने अपने भाष्यमें इसे उद्धृत किया है।

वादीके स्वामीके स.प्र. तथा संस्कारविधि भी इसकी सत्यतामें प्रमाण हैं। सं.वि.के उपनयन-संस्कारमें उपनयनके अधिकारियोंमें स्त्री-शूद्रका कहीं नाम तक भी नहीं लिखा। उनमें 'लडके' शब्दका स्वामीने न थककर १६ बार प्रयोग किया है, लड़कीका नाम स्वामीने एक बार भी नहीं लिखा। स.प्र.में भी स्वामीने—'अपने घरमें लड़कोंका यज्ञोपवीत और कन्याओंका भी यथायोग्य संस्कार करके' (तृतीय समु. पृ. २०) यह वाक्य लिखा है। यहाँ लड़कोंका तो स्वामीने 'यज्ञोपवीत' लिखा है। पर लड़कियोंका 'यज्ञोपवीत' न लिखकर 'यथायोग्य संस्कार करके' यह लिखा है, इससे स्पष्ट हो रहा है कि—वे लडकियोंका 'यज्ञोपवीत' नहीं चाहते थे, यह स्पष्ट सूचित हो रहा है। नहीं तो इस भिन्न वाक्यकी पृथक् आवश्यकता नहीं थी।

शेष जो स्वा.द.के वेदभाष्यमें कहीं-कहीं लड़कियोंका यज्ञोपवीत लिखा दिखाई देता है, तथा स.प्र.में भी कहीं-कहीं, तथा स्वा द.के पत्र-व्यवहारमें भी कहीं-कहीं ऐसा दिखाई देता है; यह सब दयानन्दियोंका प्रक्षेप ही है। स्वा.द के वेदभाष्य तो स्वा.द.की मृत्युके बहुत पीछे तक छपते रहे। तथा स.प्र.का द्वितीय-संस्करण भी स्वामीजीकी मृत्युके पीछे छपा;

सो उसमें दयानन्दियोंका प्रक्षेप करना कुछ कठिन नहीं था। पत्र-व्यवहारमें इस विषयमें उसके विषयमें कई गलत बातें पीछेसे प्रक्षिप्त कर दी गई। स्वा.द. जातिपक्ष नहीं मानते थे, इसमें उनका 'यथेमां' मन्त्र का अर्थ प्रमाण है; पर मनुस्मृतिमें जहाँ पुरुषके यज्ञोपवीतकी बात थी; वहाँ स.प्र. आदिमें कहीं-कहीं कन्या वा स्त्रीका नाम भी प्रक्षिप्त कर दिया गया।

(भूमिका)

वादीने 'सार्वदेशिक' (जून १९४६) में लिखा था कि—'वेदोंमें न केवल स्त्रियोंके वेदाध्ययनका कहीं निषेध नहीं; बल्कि—हज़ारों मन्त्रोंमें उनके कर्तव्योंका विशेष करके प्रतिपादन है, और उन्हें सम्बोधित किया गया है। यदि स्त्रियोंको वेद पढ़नेका अधिकार नहीं; तो फिर इन मन्त्रोंका वेदोंमें होना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है'।

वादी अपनी चार वेदसंहिताओंमें लगभग २२-२३ हज़ार मन्त्र मानता है; तब उनमें हज़ारों मन्त्र स्त्रियोंके कैसे हो गये? वादी अतिशयोक्ति-अलङ्कारका आचार्य कबसे बना है? ऋषिकाएं भी वेदमें उसने हज़ारों बताई; पर २८ तक गिनकर आगे उसका मुख बन्द हो गया। वस्तुतः ऐसे व्यक्ति लोगोंको इस प्रकारकी गलत बातें कहकर ठगते हैं।

इसपर हमारा कथन यह है कि—प्रतिपक्षीने 'वेदमें क्या कहा गया है' यह न देख-भालकर उसमें आर्यसमाजके (दयानन्दी) सिद्धान्त ढूंढनेका घोर-परिश्रम किया है। तब वादीको उन सिद्धान्तोंसे भिन्न वेदमें दीखे ही क्या? 'पश्यति पित्तोपहतः शशि-शुभ्रं शंखमपि पीतम्' (पीलियाके बीमारको चन्द्रमाकी भाँति सुफेद शंख भी पीला दिखलाई पड़ता है।)

वेदमें स्त्रियोंकेलिए तो क्या, छोटे बच्चोंकेलिए भी मन्त्र आये हैं। देखिये अपनी 'संस्कारविधि'। इसका कुछ निर्देश हम पृ. १३८-१३९ तथा

पृ. २३६-२३६ में कर आये हैं, आगे (पृ. ६०७-६०९) भी करेंगे। क्या उससे वादी छोटे बच्चोंका भी वेदमें अधिकार मान लेगा? छोटे बच्चोंके तो क्या; वेदमें बादलों, साँपों तथा विच्छुओंकेलिए भी मन्त्र आये हैं। वेदमें तो लोकदृष्टिमें जड़ोंको भी सम्बोधित करके मूर्तिपूजाको अपनाया गया है। तब क्या इससे उन बिच्छू, सांप, तथा जड़-पदार्थोंका भी वेदमें वादीके मतसे अधिकार हो जायगा?

वेदके मन्त्रोंमें वादी नियतानुपूर्वी तथा नियतपदप्रयोग-परिपाटीकता-की विशेषता जानता होगा। इसीको लक्ष्य करके निरुक्तकारने 'अनर्थका हि मन्त्राः' यह कौत्सका मत उद्धृत किया है, और उसकी यह उपपत्ति भी दी है—'नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (१।१५।४)। वस्तुतः यह केवल कौत्सका मत नहीं, बल्कि यह सभी वैदिकोंका मत है। इसलिए 'मीमांसादर्शन' में भी कहा है—'अनाम्नातेषु अमन्त्रत्वम्' (२।१।३४) 'वाक्यनियमात्' (१।२।३२) यहाँपर भाष्य है—नियत-पदक्रमा हि मन्त्राभवन्ति, 'अग्निर्मूर्धा दिव' इति, न विपर्ययेण'। (मन्त्रके पद नियत-क्रमवाले होते हैं, विपरीत नहीं किये जाते)।

इसका रहस्य क्या वादी जानता है? न जानता हो; तो जान रखे। वेदमन्त्रका अधिकारी-द्वारा जिसपर यथाविधि उच्चारणमूलक प्रयोग किया जावेगा, उसपर उसका प्रभाव पड़ जावेगा, चाहे वह छोटा बच्चा हो, वा बड़ा। चेतन हो या लोकदृष्टिसे अचेतन, चाहे वह पढ़ा-लिखा हो, वा न पढ़ा-लिखा हो। इसलिए वेदमन्त्रोंका संस्कार गर्भपर भी पड़ता है, जातमात्र बालकपर भी पड़ता है, पाँच-छः वर्षके बच्चोंपर भी पड़ता है; बल्कि बादल आदिपर भी पड़ता है। यही वेदमन्त्रयुक्त-संस्कारोंकी विशेषता होती है। चाहे वह उस मन्त्रका अर्थ जानता हो, वा न जानता हो? नहीं तो संस्कार सभी देशभाषाओंमें होने चाहियें थे; पर ऐसा नहीं होता।

इसका कारण यह है कि—यह कर्मकाण्ड है, ज्ञानकाण्ड नहीं। कर्म-

काण्डका नाम वेदमें 'अविद्या' (यजुःमाध्यं. ४०।९-११) है 'वैदिकधर्म' पत्रके आरम्भिक वर्षोंमें 'ईशोपनिषद्'का पद्यमय अनुवाद करते हुए वादीने भी यही अर्थ माना है। 'अविद्या' का यह भाव है कि—चाहे उसे कोई समझे, वा न समझे; पर उस ध्वनिसमूहका उसपर प्रभाव पड़ ही जाता है। वहाँ यह 'कर्ममात्र' करना पड़ता है, उस मन्त्रका प्रयोगमात्र दूसरेके कहनेपर करना पड़ता है, इसलिए महाभाष्यमें भी कहा है—'याज्ञे कर्मणि प्रयोगनियमः' (पस्पशा.) पर्याय आदि द्वारा अथवा व्युत्क्रमसे परिवर्तन करनेपर वैसा नियतध्वनिसमूह न रहनेसे वह 'मन्त्र' नहीं रहता। 'यथा वेदशब्दा नियमपूर्वकम् (नियतक्रमेण) अधीताः सन्तः फलवन्तो भवन्ति' इस 'पस्पशाह्निक'-स्थित महाभाष्यके वचनानुसार नियमपूर्वक वर-द्वारा पत्नीके सामने बोले जानेपर पत्नीके शरीर तथा आत्मापर उसका प्रभाव पड़ जाया करता है। ऐसा प्राचीन-सम्प्रदाय है, इसका कारण वेदका 'शब्द-प्रधान' होना है। मीमांसा भी इस नियत-पद-क्रमको 'अदृष्टार्थ' ही मानती है।

यही बात दयानन्दी-वादीके स्वामीजीने भी अपनी 'संस्कारविधि' की भूमिकाके अन्तमें लिखी है—"यहाँ सब मन्त्रोंका अर्थ नहीं लिखा है, क्योंकि-इसमें कर्मकाण्डका विधान है, इसलिए विशेषकर क्रियाविधान लिखा है।...यहाँ तो केवल क्रिया करनी ही मुख्य है, जिस [क्रिया] करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको प्राप्त हो सकते हैं, और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं, इसलिए संस्कारों-का करना सब मनुष्योंको उचित है"।

इस वादीके स्वामीके कथनसे भी हमारी बात स्पष्ट हो गई कि—सामने १२ वर्षकी लड़कीका यदि विवाह हो रहा है, चाहे वह कुछ पढ़ी-लिखी नहीं भी है; वर यदि उसे लक्ष्य करके यथाविधि सस्वर मन्त्र बोल रहा है; तो उसकी पत्नीके शरीर वा आत्मापर उसका प्रभाव पड़ ही जाता है। उस लड़कीके पढ़ने-लिखनेका प्रश्न ही नहीं उठता। गर्भमें ८वें मासमें

भी उसका प्रभाव पड़ना सभी मानते हैं; याद रखो अभिमन्यु और प्रह्लादको। उस समय क्या वे पढ़े-लिखे थे। पर वादीके स्वामी तो गर्भाधानके दिनसे ही उपदेशका प्रभाव मानते हैं। देखो स.प्र. २य समुल्लासका आरम्भ। यह हम आगे कहेंगे। गर्भ कोई भाषा पढ़ा हुआ तो होता ही नहीं, और स्वा.द.के कहे हुए गर्भाधानमें तो उस समय चैतन्यका सञ्चार ही नहीं होता। उसका चैतन्य उस समय अव्यक्त होता है। यदि उसपर भी स्वामीके कथनानुसार प्रभाव पड़ जाता है; तो फिर नियतानुपूर्वी वाले वेदमन्त्रका प्रभाव लड़की वा स्त्रीपर क्यों नहीं पड़ेगा? वह तो चेतन होती है। कमसे कम ११-१२ वर्षकी होती है।

इसका विशेष कारण यह है कि—वेद 'शब्द-प्रधान' हुआ करते हैं। शब्द-प्रधान होनेसे ही उनकी आनुपूर्वी तथा उनके पद-प्रयोगकी परिपाटी नियत होती है। वेद परब्रह्ममें समाधि लगाकर स्थित हुए तथा उससे उठे हुए ऋषियोंके मुखसे अवितर्कित निकले हुए अर्थात् परमात्मासे सीधे आये हुए शब्दोंका पुञ्ज होता है। मन्त्र न केवल शब्दसमूह है, प्रत्युत परमात्माभिप्रेत ध्वनिसमूह हैं। इसमें स्वरोंका विशिष्ट गुम्फन होता है। इसके विशिष्ट उच्चारणसे शरीर तथा आत्मापर उसका अपूर्व प्रभाव पड़ता है। इसलिए उसके लौकिक-अनुवादमें उस दिव्य पदक्रम तथा स्वरक्रमके न होनेसे उन-उन ध्वनिविशेषोंके सम्मिलित परिणाम न होनेसे वह अपूर्व-प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता। इसी कारण विवाहादि-संस्कार न तो प्रान्तीय-भाषाओंमें होते हैं; और न ही श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डनकी लड़कीके विवाहकी भान्ति हिन्दीमें अनूदित-मन्त्रोंसे होते हैं।

मन्त्रोंका प्रभाव केवल मनुष्यपर ही क्या, सांप-बिच्छू आदि पर तथा मेघ आदि अचेतन-पदार्थोंपर, बल्कि बिच्छू आदिके डङ्कपर भी पड़ता है। तब क्या इससे सर्प आदि तथा अचेतन-पदार्थ भी वेदके अर्थके ज्ञाता होने चाहियें? जिनके सम्बोधनका भाव 'अधिष्ठात्री-देवता' में न समझकर वादीके स्वामीने सब स्थानमें प्रथमान्ततामें परिवर्तन कर

दिया है। अथवा कोई न पढ़ा—स्त्री-शूद्र अपना संस्कार करा रहा होता है; तब वादी उसे अपनी भाषामें समझा रहे होते हैं; तब क्या उसे कर्तव्यका बोध नहीं हो जाता ?

जिन मन्त्रोंमें स्त्रीके कर्तव्योंका प्रतिपादन है, पतिके बोल देनेपर उसका प्रभाव उसपर हो जाता है। इससे उनका अर्थज्ञान अनिवार्य नहीं; किन्तु अधिकारी उन्हीं कर्तव्योंको समयपर अपनी भाषामें उसे समझा देता है। जैसे आप लोग उस समय हिन्दीमें समझा रहे होते हैं। आगे वादीने कई स्त्री-सम्बन्धी वेदके मन्त्र दिये हैं; हम उनके विषयमें वास्तविकता बताते हैं।

वादी ऋसं.का १०।८५ सूक्तका ही एक मन्त्र देखे—'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं' इत्यादि जितने भी मन्त्र हैं, इनमें स्त्री सम्बोधक नहीं है, किन्तु सम्बोध्य है। तब इन मन्त्रोंको स्त्री नहीं, किन्तु वर पढ़ेगा। तब इसमें स्त्रीका वेदाध्ययनका अधिकार कैसे सिद्ध हो गया ? पूर्वोक्त प्रकारसे मन्त्र पढ़नेके प्रभावसे स्त्रीकी आत्मापर प्रभाव पड़ता। पत्नी वह इन्हीं मन्त्रोंके शब्दोंकी शक्तिसे बनती है; उनके अनुवादसे नहीं। नहीं तो क्या वादी भी श्रीपुरुषोत्तमदास टंडनकी भान्ति अपनी लड़कीका विवाह अनूदित मन्त्रोंसे कराएंगे ? आपको स्वयं शब्दशक्ति माननी पड़ेगी; अर्थशक्ति नहीं। उल्टा अर्थ विचार तो उस समय उस शब्दोच्चारणमें व्यवधान करनेवाला सिद्ध होगा।

अब वादीके दिये ऋ. १०।८६ सूक्तकी परीक्षा कीजिये। यह मानुषी स्त्रीकेलिए हैं ही नहीं। यहाँपर तो 'इन्द्राणी' को ही कहा जा रहा है। इन्द्राणी देवपत्नी है, मनुष्यपत्नी नहीं। इसपर देखो निरुक्त–'देवपत्नी' शब्दपर (१२।४४।२) 'इन्द्राणी-इन्द्रस्य पत्नी' (१२।४६।१) तब वादी-का यह उद्धरण व्यर्थ है। ऋ. १०।१५९ सूक्तका भी वादीका उद्धरण व्यर्थ है। क्योंकि–वहाँ भी शची-पौलोमी (इन्द्राणी देवता) का वर्णन है, किसी मानुषी-स्त्रीका नहीं। पुलोमकी लड़की एक विशेष स्त्री है,

वह सब लड़कियोंका नाम नहीं हो सकता। ऋ. (१०।१८३-१८४) में यजमानकी पत्नीको आशीर्वाद दिया जाता है, जिसे पुरोहित देगा। हां, इसमें एक ऋचा पत्नीद्वारा बोली जा सकती है, वह 'तूष्णीमेता: क्रिया: स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रक:' (याज्ञ १।२।१३) इस अपवादका उदाहरण-मात्र है। इसी प्रकार अथर्व.के १४वें काण्डकेलिए भी समझें। पर इससे स्त्रीका वेदमें क्रमिक एवं वैध (मनु. २।१७३) अधिकार नहीं हो जाता।

अ. २।३६ मन्त्रको कुमारी नहीं पढ़ती, किन्तु कुमारीका कोई सम्बन्धी पढ़ता है; तब वह उद्धरण भी व्यर्थ है। अ. ३।३६ का वादीने उल्लेख किया है, पर तीसरा काण्ड तो ३१ सूक्ततक समाप्त हो जाता है। तब ३६वां सूक्त कदाचित् वादीने बनाया हो। ५।१७ में तो स्त्रीके बोलनेका कोई भी मन्त्र नहीं। हां, पतिके बोलनेके हैं। तो इससे उसमें स्त्रीका क्या अधिकार हो ? स्त्रीको उपदेश देनेके मन्त्र पति बोले–इसमें हमारा कोई नकार नहीं। और न ही इससे हमारे पक्षकी कुछ हानि है। इसी प्रकार ६।९ भी पतिके बोलनेका सूक्त है, स्त्रीका नहीं। ६।११ में भी स्त्रीके बोलनेका कोई मन्त्र नहीं। पुंसवन-कर्म केवल पति ही करता है। स्त्री तो केवल साथ बैठी भर रहती है। ६।१७ सूक्त गर्भको दृढ करनेकेलिए पतिकी देवसे प्रार्थना है। स्त्रीके पढ़नेका कोई भी मन्त्र इसमें नहीं।

अथर्व ६।७८ में विवाहित पुरुषको पुरोहितादि आशीर्वाद देता है। इसमें भी स्त्रीके पढ़नेका कोई भी मन्त्र नहीं। ६।१०१ में वाजीकरण है, वह पुरुष करता है, स्त्री नहीं करती। ६।१०२ में स्त्रीवशीकरण है। यह सब पुरुषके कर्म हैं। स्त्री उसमें कोई भी मन्त्र नहीं बोलती। तब वादी इन सूक्तोंसे स्त्रीका वेदाध्ययनमें अधिकार कैसे सिद्ध करता है–यह आश्चर्यका विषय है। ६।१३०-१३१ देव तथा देवाङ्गनाओं-अप्सराओंका है, वे मनुष्ययोनिसे भिन्न हैं; अत: मानुषियोंसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। देवयोनि मनुष्ययोनिसे भिन्न है–यह सभी प्राचीन आचार्य मानते

हैं। 'देवयोनिरन्यः, मनुष्ययोनिरन्यः' (शत. ७।४।२।४०) यह 'शतपथ' में स्पष्ट है। इसपर देखिये—'आलोक' (४)।

यदि वादी ऐसा नहीं मानता; तो यह उसका श्रुतिसे बलात्कार है। अर्थ बदल देना विद्वत्ता नहीं होती, किन्तु छल होता है। मनुजीने ठीक ही कहा है—'वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः। तां तु यः स्तेनयेद् वाच स सर्वस्तेयकृन्नरः' (४।२५६) इसका अर्थ श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—'अतो यः तां वाचं स्तेनयेत्–स्व-अर्थ-व्यभिचारिणीं वाचयति, स नरः सर्वस्तेयकृद् भवति'। स्वा.द.जीने इसका यह अर्थ किया है–'जिस वाणीमें सब अर्थ अर्थात् व्यवहार निश्चित होते हैं—उस वाणीको जो चोरता है, अर्थात् मिथ्या-भाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापोंको करनेवाला है', यह वाणीकी चोरी 'साहित्यिक-ब्लैकमार्कीटिङ्ग' है।

प्रतिपक्षीके दिये सब वैदिक-सूक्त समाप्त हो गये। इनमें एक भी मन्त्र स्त्रीके बोलनेका नहीं दीखता। हां, स्त्रीके प्रति वर-द्वारा यह मन्त्र कहे जावेंगे। उसीसे स्त्रीको उनका बोध पति-द्वारा करा दिया जावेगा; क्योंकि—'यो मे भर्ता स मे गुरुः' (वाल्मी. सुन्दर. २४।९) 'नार्याः पतिर्गुरुः' (अयोध्या. ११८।२) 'पतिर्गुरुः' (उत्तर ४८।१७) 'पतिरेव गुरुः स्त्रीणां' (चाणक्य ५।१) इत्यादि प्रमाणोंसे पति स्त्रीका गुरु सिद्ध होता है। जिस प्रकार गुरु अशिक्षित बालकोंको उनके कर्तव्यका बोध करा दिया करता है। जब माणवक पहले गुरुके पास जाता है, तब वह विद्या नहीं पढ़ा होता। कई उनके कर्तव्यके बोधक मन्त्र भी आते हैं, जैसेकि–'मम व्रते ते हृदयं दधामि' आदि। जब अशिक्षित वा अनधीत उस माणवकको आचार्य विधिमात्र कराकर समयपर उसको कर्तव्य-कार्योंका अपनी भाषामें बोध करा देता है; वैसे यहांपर भी समझना चाहिये।

स्त्री न पढ़ी हो; तब भी पूर्व कहे हुए प्रकारसे कर्मकाण्ड होनेके कारण उससे वह कर्म करा लिया जाता है। इससे स्वा.द.के पूर्व-

वचनानुसार उनके शरीर वा आत्मापर उसका प्रभाव हो जाता है। अथवा गुरुरूप पति उसको उन मन्त्रोंका तात्पर्य उसकी मातृभाषामें समझा देता है। जैसे वादी लोग दयानन्दिन-स्त्रियोंका विवाह कराने जाते हैं; क्या उनमें एक भी स्त्री उन मन्त्रोंका तात्पर्य समझती है? अन्ततः आप लोगोंको उनका तात्पर्य समझाना पड़ता है; तब इससे स्त्रियोंके वेदाध्ययनका अधिकार क्या सिद्ध हुआ? यह विवाह्यमान-लड़की तो न्यूनसे न्यून ११-१२ वर्षकी होती हैं, मन्त्रादि तो छोटे बच्चेको भी सम्बोधित करके बोले जाते हैं। इससे वादी क्या सिद्ध करेगा कि–नवजात शिशु पहलेसे ही वेद पढ़ा हुआ है? देखे वादी अपनी 'संस्कार-विधि', निकाले उसका ५७ पृष्ठ। वहाँ जातमात्र लड़के-को सम्बोधित करके उसे कहा जाता है—

'भूः त्वयि दधामि' (३) 'भुवस्त्वयि दधामि' (४) स्वः त्वयि दधामि (५) 'भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि' (६) तब इससे क्या कोई यही अनुमान कर लेगा कि–पैदा हुआ बच्चा कमसे कम १६ वर्षका होना चाहिये। यह वेद पढ़ा हुआ समझदार होना चाहिये, जिसे इतना भार सौंपा जा रहा है, वेदमन्त्र सुननेसे वह 'यज्ञोपवीती' होना चाहिये।

और देखिये उसी ५७ पृष्ठमें—'मेधां ते देवः सविता, मेधां देवी सरस्वती' बालकको सम्बोधित करके यहां 'मेधा' के लिए कहा गया है। क्या उस समय नवजात-शिशु वादीके अनुसार धारणाशक्ति रखनेवाला होना चाहिये, क्योंकि–'धीर्धारणावती मेधा' (१।५।२)। इसी प्रकार ५८ पृष्ठमें 'अस्मे शतं शरदो जीवसे' यह मन्त्र जातमात्र पुत्रके कन्धेपर हाथ रखकर पढ़ा जा रहा है? यदि वह बच्चा यह नहीं समझता; तो क्या यह मन्त्र विधिमें व्यर्थ ही रखे गये हैं?

नामकरणमें ११ दिनके बच्चेसे 'कोसि कतमोसि को नामासि' (६५) इत्यादि प्रश्न-परम्परा की जा रही है। निष्क्रमणमें चार मासके बच्चेके दाहिने कानमें 'अस्मे वीरान् शश्वत! इन्द्र! शिप्रिन्!'

(पृ ६८) मन्त्र पढ़कर उसकेलिए प्रजाकी प्रार्थना की जाती है। चूडाकर्ममें १ वा ३ वर्षके लड़केकेलिए 'अयमस्तु प्रजावान्' (पृ. ७४) यह मन्त्र पढ़ा जाता है। इत्यादि।

अन्य भी इस प्रकारके बहुतसे उद्धरण दिये जा सकते हैं; तब क्या वादीके अनुसार वह बच्चा कमसे कम २४ वर्षका और समझ सकने वाला पैदा होना चाहिये? क्या उसे उसी समय वेदके अध्ययनका अधिकार मिलना चाहिये, क्योंकि उसे सम्बोधित करके वेदमन्त्र पढ़े जाते हैं? क्या उसे यज्ञोपवीत भी उत्पत्तिसे ही देना चाहिये? धन्य है यह वादी; वास्तवमें उसकी दृष्टिमें दयानन्दी-आवरणने पड़कर उसे बहुत गदला कर दिया है।

सात-आठ वर्षके बच्चोंको छोड़ दीजिये, जातमात्र शिशुओंको भी छोड़ दीजिये; जबकि ७-८ मासका गर्भ भी चैतन्यसञ्चारवश दिये हुए उपदेशको धारण कर लेता है, जबकि उस समय किसी भी भाषाको पढ़ा नहीं होता। ८ मासके गर्भमें ही अभिमन्युने चक्रव्यूहका प्रवेश-प्रकार सीखा था। चक्रव्यूहके निकलनेका संस्कार उस समय माताकी नीन्दके कारण उसपर न पड़ सकनेसे बड़ा होनेपर भी वह उसमें फेल हो गया था। जबकि प्रह्लादने ८ मासके गर्भनिवासमें नारदका उपदेश पाकर कुलकी आसुरी-प्रकृति छोड़ दी थी। जबकि—नेपोलियन बोनापार्ट अपनी माता-द्वारा गर्भावस्थामें ही शूरवीरोंके चित्र देखे जानेसे आगे ५२ दुर्गोंको जीतनेवाला बना।

जबकि वादीके स्वा.द.के 'धन्य वह माता है कि—गर्भाधान (गर्भके आधान) से लेकर जब तक विद्या पूरी न हो, तब तक सुशीलताका उपदेश करे' (स.प्र. २ समु. पृ. १४) इस कथनके अनुसार गर्भके आधानके दिनसे ही; जबकि गर्भमें चैतन्यका संचार ही नही होता, निषिक्तमात्र न पढ़े-लिखे गर्भकेलिए स्वा.द.के बतलाये हुए जननीके उपदेश भी वादीके 'महर्षि'के मतमें भी निरर्थक नहीं; तब सामने बैठी हुई, विवाह्यमान ११-

१२ वर्षकी लडकीपर वरके द्वारा 'यथा वेदशब्दा नियमपूर्वकमधीता: फलवन्तो भवन्ति' इस भाष्यकारके कथनानुसार बोले हुए महाप्रभाव वाले वेदके शब्दोंका प्रभाव क्यों न पड़ेगा?

आप लोग जिन लड़कियोंका विवाह-संस्कार करा रहे होते हैं; वे वेदोंका पढ़ना वा अभ्यास तो दूर रहा, साधारण-संस्कृत भी नहीं जानती; और आप लोग एक-दो घण्टेमें विवाहकार्य कर देते हैं, सब मन्त्रोंका अर्थ भी नहीं करते; स्त्रीके सामने 'देवृकामा' आदिका अर्थ भी नहीं करते; तब आप उनके सामने जो मन्त्र पढ़ते हैं; वे आपके अनुसार क्या निरर्थक होते हैं?

यदि उनके संस्कृतसे अनभिज्ञ होनेपर भी उस क्रियाका प्रभाव उन लड़कियोंपर पड़ना मानते हैं; नहीं तो फिर मन्त्रोंके पढ़नेकी आवश्यकता ही क्या है? श्रीटण्डनकी भाँति मन्त्रोंके अनुवादोंसे ही लड़कियोंके विवाह-संस्कार कराएं, पर ऐसा आप नहीं करते; इसमें मन्त्रोंका प्रभाव उनपर पड़ना भी मानते ही होंगे; इसी प्रकार यहाँ भी समझ लीजिये। इससे स्त्रीको वेदाधिकार नहीं हो जाता।

अपने लेखमें जितने मन्त्रोंका वादीने संग्रह किया है, इनमें तो स्त्रीके बोलनेका एक भी मन्त्र नहीं है। 'वाचयेत्' (गो.गृ. २।१।२०) इस प्रकार वह, ऋत्विक् आदिकी सहायतासे बोला जाने वाला मन्त्र आ भी जावे; तो 'नवैता: कर्णवेधान्ता मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः। विवाहो मन्त्रतस्तस्याः, शूद्रस्याऽमन्त्रतो' (व्यासस्मृति १।१५-१६) इस स.ध.-सम्मत अपवादके अनुसार हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं। इससे स्त्रियोंका वेदाधिकार सिद्ध नहीं हो जाता। बल्कि—'स्वयं जपेद् अजपन्त्याम्' (गोभिल. २।१।२१) इसका अर्थ वादीके मान्य ठाकुर उदयनारायणसिंहने लिखा है—'उस समय वधूको 'प्र मे' मन्त्रका पाठ करावे। वह [वधू मन्त्रपाठ] न कर सके; तो पति स्वयं मन्त्र पढ़े'। आपके मान्य श्री-

सामश्रमीजी भी यही स्वीकृत कर गये हैं। इस सूत्रके अनुसार स्त्रीके उच्चारणीय मन्त्रमें ऊह-द्वारा परिवर्तन करके पति बोल सकता है। इसीलिए तो गोभिलके पुत्रको 'गृह्यासंग्रह' में लिखना पड़ा—'वरस्तु तान् जपेत् सर्वान् (दाम्पत्य-वाचकान् मन्त्रान्) (२।२४)।

तब वादीका अब तकका परिश्रम व्यर्थ है। वादीने जो वड़े संरम्भसे लिखा है—'हजारों मन्त्रोंमें स्त्रियोंको सम्बोधित किया गया है' पर प्रियवर! आपके वेदोंमें तो २२-२३ हजार मन्त्र हैं, यह हजारों तो नहीं हैं; न यह सब, स्त्रियोंके हैं। सम्बोधन तो वेदमें अन्त्येष्टि-संस्कारमें मृतकका भी होता है, देखिये—'इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यते उप त्वा मर्त्य! प्रेतम् (मृतकम्)' (१८।३।१) (ऐ मृतक! यह तेरी स्त्री तुझ-मृतकके पास सती होनेकेलिए लेटी हुई है।) 'हे मर्त्य! (मरणशील!) प्रेतं (मृतक) त्वाम् इयं नारी उपनिपद्यते (शेते)' यह इस मन्त्रका अन्वय है। यहाँ मृतकको सम्बोधित किया गया है; क्योंकि-इस मन्त्रका देवता (वर्णनीय-विषय) यम वा पितृमेध (अन्त्येष्टि) है, तुलना करो इसकी मनुके 'गुरो: प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्' (५।६५) इस पद्यसे।

इसी प्रकार 'सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना' इत्यादि बहुतसे मन्त्र मृतकको कहे जा रहे होते हैं, देखे वादी इसपर अपनी 'संस्कार-विधि' (अन्त्येष्टि-प्रकरण); क्योंकि-उन मन्त्रोंसे आप लोगोंद्वारा मृतकके ऊपर आहुति डाली जाती है। तब क्या वादी मृतकको भी वेदका अधिकार दे देगा? इस प्रकार वादीका पक्ष सर्वथा कट गया। यह 'आलोक'-पाठकोंने देखा होगा। वादीसे दिये मन्त्रोंकी भी परीक्षा यहाँ हम कर रहे हैं।—

पृ. १७-१८ वादी कहता है-'ऋ. १०।८५ में जिसकी ऋषिका 'सूर्या-सावित्री' है, नववधूको कहा है—'गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसो विदथ-मावदासि' (ऋ. १०।८५।२६) अर्थात् तुम यज्ञादिका उपदेश करो'।

'विदथ' का अर्थ 'घर' भी हुआ करता है। जैसे कि-श्रीदुर्गाचार्यने निरुक्तमें 'बृहद् वदेम विदथे' (१।७।१) में लिखा है। इसलिए श्री-सायणाचार्यने भी लिखा है—'विदथं पतिगृहम्' आवदासि-गृहस्थितं भृत्यादिजनम् आवद' इस भाष्यको वादीने वड़े संरम्भसे 'श्री' पत्रिकामें प्रमाणित कर उद्धृत किया था। इसके साथवाले मन्त्रमें भी श्रीसायणने लिखा है—'विदथं गृहमावदाथ:-आभिमुख्येन वदनम्'। यह अर्थ ठीक भी है। जब पत्नीको 'गृहपत्नी' 'घरकी मालिकिन' कहा जा रहा है; चाहे वह छोटी आयुकी भी हो, तो वह घरके नौकर-चाकरोंको हुकम देगी ही कि—'यह काम करो, यह लाओ' सो यह तात्पर्य वहाँ सङ्गत हुआ। यज्ञविषयक-उपदेश अर्थ तो यहाँ असम्बद्ध है। निघण्टुम पठनामोंमें 'पद' धातुका अर्थ करना वादीका निर्मूल है।

'यज्ञ' अर्थ यहाँ माना भी जाय; जैसे कि वादीने इसपर श्री-हरदत्ताचार्यका अर्थ उद्धृत किया है; तो भी वहाँ यह आशय होगा कि—तू मुझसे यज्ञ-विषयक बातचीत करेगी कि—आप यज्ञ कब कर रहे हो; उसमें किस-किसको बुलवाना है, किस मात्रामें खर्च करना है—इत्यादि'; तो स्त्री भी तो पतिसे यज्ञमें उसके साथ ही बैठती है; क्योंकि-'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा. ४।१।३३) पतिके यज्ञसंयोगमें सहावस्थितिमें वह पत्नी बनती है। जो काम पति, यज्ञमें लगातार व्यस्त होनेसे नहीं कर सकता; वह सेवाकार्य समिधा आदि नापकी काटनी, घी साफ कर देना, उठना-बैठना—अमुक वस्तु उठा लाना—वह स्त्री ही करती है; उसके बिना यज्ञ अपूर्ण रह जाता है। इससे वादीकी कुछ पक्षसिद्धि नहीं।

इधर १८ पृ.में स्त्रीकी वृद्धावस्थामें उसका वादीने यज्ञविषयक उपदेश माना है; इस विषयमें 'न वै कन्या न युवति:' इस मनुपद्यका मिलान भी वादीने किया था; देखो इस पुस्तकका पृष्ठ ४१६-४२७ तब वृद्धावस्थाका काम वादी 'नववधू' को सौंपकर कैसे व्याघात कर रहा है? मनु तथा हरदत्तके वचनोंमें 'ज्ञानवृद्धा' अर्थ तो है नहीं, यह

तो वादीकी कृत्रिमता है, उसकी कपोल-कल्पना है। वास्तविक तात्पर्य हम लिख ही चुके हैं। अत: वादीके पक्षकी कुछ भी बात नहीं।

'जीर्णौं सन्तौ आवां श्रौतस्मार्तविषयां कथां कीर्तयिष्याव:' इस वादिमान्य-श्रीहरदत्ताचार्यके वचनमें भी कोई वादीकी इष्ट बात नहीं है। वादीको तो 'मक्खीको मल-मलकर भैंसा बनाना' अभ्यस्त है; जो निर्मूल होता है। तब उसका यह लिखना कि-'स्वय वैसी व्याख्या करनेपर भी पौराणिक-संस्कारवश स्त्रियोंका हरदत्ताचार्यने यदि वेदोंमें अनधिकार लिख दिया है, तो वह वैदिक-आदेशसे विरुद्ध होनेसे अमान्य है' कट गया। कभी तो टीकाकार वादीके मतमें वेदसे भी अधिक मान्य हो जाता है, पर यदि वह वास्तविक सिद्धान्त लिख देता है; तब वह 'पौराणिक-संस्कारोंवाला' हो जाता है; यह है इनका हाल ! थोड़ी देरमें उसके किये-करायेपर पानी फेरकर कृतघ्नता अपना लेते हैं।

श्रीहरदत्ताचार्यने स्त्रीको उपनयन वा वेदका अधिकार देनेवाली व्याख्या कहीं की भी नहीं है-यह हम दावेके साथ कहते हैं। न ही उक्त मन्त्रमें ऐसी कोई बात उसने लिखी है। वादी स्वयं ही साम्प्रदायिकताका 'अन्धा चश्मा' उतारकर देखे कि-'जीर्णौं सन्तौ यज्ञम् आवदाव-श्रौतस्मार्त-विषयां कथां कीर्तयिष्याव:' क्या इसमें स्त्रियोंके उपनयन वा वेदाध्ययन-की कोई गन्ध भी है ? श्रीहरदत्तने अपनी टीकाओंमें स्त्रीका उपनयन कहीं भी नहीं माना; बल्कि खण्डित ही किया है। तब उसका निराधार वेदाध्ययन ही क्या होगा ? वादीको खुला आह्वान है कि-उसके भाष्यसे स्त्रीका उपनयन कहींसे दिखलावे ?

केवल यही बात है कि-श्रौतस्मार्त-यज्ञोंकी आपसमें बात किया करेंगे कि-कब यज्ञ करना है; आदि। यज्ञके विषयमें बातचीत तो निरक्षर भी कर सकते हैं कि-अमुक स्थानमें ऐसा यज्ञ हुआ; इतना उसमें जन-सम्मर्द था-आदि-आदि।

'जीर्णौं सन्तौ' इस हरदत्तके वचनमें यदि वादीके गत-निबन्धके

अनुसार मनुजीने इस हरदत्तके कथनानुसार स्त्रीको बुढ़ापेमें यज्ञ करानेका अधिकार दिया है; तो उसमें पतिका भी नाम साथ है; तो फिर वह पति भी वृद्धावस्थामें ही यज्ञ करा सकेगा; युवावस्थामें नहीं। 'जीर्णौं सन्तौ' इस श्रीहरदत्तके वचनमें उसे बूढ़ी आयुका अर्थ इष्ट है, तभी तो 'जीर्णौं सन्तौ' कहा है, 'ज्ञानवृद्ध' अर्थ उसे इष्ट नहीं। मनुके पद्यमें मनुजीको आयुवाचक अर्थ इष्ट नहीं; वहाँ तो कन्या-युवति से 'अविवाहिता-विवाहिता' अर्थ ही इष्ट है, दोनों प्रकारकी इन स्त्रियों-का होतृत्व निषिद्ध किया है। अत: वादीकी पक्षसिद्धि नहीं। इस विषयमें हम स्पष्टता पृ. ४१९-४२७ में पहले कर चुके हैं।

उक्त मन्त्रमें यज्ञविषयक अनुष्ठानकी कोई बात नहीं। केवल यज्ञकी बातचीत है। यज्ञमें स्त्रीको साथ बैठानेसे स्त्रीको वेद तथा उपनयनका अधिकार सिद्ध नहीं हो जाता। जबकि-'अत्रैवर्णिक निषादस्थपति' (६।१।४४-५२) को मीमांसा (६।१।३३, ३५) के कथनसे उपनयन तथा वेदाधिकार न होनेपर भी वचनविशेषके बलसे मीमांसा उस निषादस्थपतिसे यज्ञ कराती है, तो फिर स्त्रीकी भी यज्ञविषयक बातचीत-का यदि कहीं वर्णन आ जावे; तो इससे निषादस्थपतिकी भाँति यज्ञके स्वामीसे वा ऋत्विक्से वह यज्ञ करा लिया जाता है, पर इससे स्त्रीका यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन सिद्ध नहीं हो जाता।

गुरुके कहनेसे कोई छात्र किसी छात्रको चपेट लगा दे; तो वह उस समय गुरु वा मैजिस्ट्रेट बन जानेका अधिकारी नहीं हो जाता। इस अनुमानसे तो वादी निषादस्थपतिका भी यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययनादि मान लेगा ? पर यह मीमांसाशास्त्र तथा अन्य शास्त्रोंसे विरुद्ध है। वैसे ही स्त्रीके विषयमें भी वादी याद रखे। गत निबन्धोंमें स्त्रीके विषयमें भी मीमांसाका मत दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त यह भी याद रखना चाहिये-'ऋत्विक्-कर्ममें भी केवल ब्राह्मणका अधिकार है-सबका नहीं। इस विषयमें मीमांसादर्शन (१२।४।३८, ६।३।१८) तथा 'आर्त्विजीनं' (ऋत्विक्कर्म

अर्हति इति) ब्राह्मणकुलम्' यह पातञ्जल-महाभाष्य ५।१।७१) देखें। तब वादी स्त्रीमात्रको यज्ञ करानेका निर्मूल अधिकार कैसे कह रहा है ?

'सम्राज्ञी श्वशुरे भव' (ऋ. १०।८५।४६) इस वादीके दिये मन्त्रमें भी ऐसी कोई बात नहीं, जिससे स्त्रीका वेदमें अधिकार सिद्ध होता हो। 'सास-ससुर देवर-ननद आदिमें शोभमान बन' में शोभमानका भाव है कि-तेरे सुशीलतादि गुण तथा आचरण अच्छे रहें; ताकि तू इनके बीचमें चमके; अन्यथा तू निन्दित हो जायगी। वेदमें न होती हुई बातको भी यह स्वार्थी लोग वेदार्थमें प्रक्षिप्त कर दिया करते हैं। यह वेदोंसे इतनी शत्रुता है कि-अपने निर्मूल साम्प्रदायिक भाव वेदपर भी बलात् लाद रहे हैं।

'ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं, ब्रह्म अन्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः। अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज' (अ. १४।१।६४) का वादी अर्थ करता है—'तेरे आगे, पीछे, मध्यमें, अन्तमें सर्वत्र वेद-विषयक ज्ञान रहे'।

पहले तो यह मन्त्र सविताकी पुत्री सूर्याकेलिए है, और वह मानुषी नहीं; किन्तु देवता है-यह हम अन्यत्र बता चुके हैं। 'सूर्येव नारि!' अ. १४।२।३२) इस मन्त्रमें भी सूर्या एवं नारीकी उपमामें 'साधर्म्यमुपमा भेदे' इस अलङ्कारशास्त्रके नियमानुसार उपमा दो भिन्नोंकी होती है। अत: सूर्या एवं नारी भिन्न-भिन्न सिद्ध हो गईं। उसमें इस मन्त्रका उत्तरार्ध स्थित 'अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य' (व्याधियोंसे रहित अथवा न बींधे जानेवाली देवपुरी स्वर्गमें पहुंचकर) यह वचन भी ज्ञापक है। 'नृणां विवाहमन्त्रा आशी:-प्राया:' यह अजमेरके वैदिक-यन्त्रालयमें छपी हुई ऋ.सं.में मनुष्योंके विवाहमन्त्र पृथक् हैं। अथर्व.में भी ऐसा ही समझना चाहिये। कथञ्चित् विनियोगवश मानुषी-वधूमें भी इस मन्त्रका प्रयोग मान लिया जावे; तो भी कोई बात नहीं। यहाँपर 'ब्रह्म' का अर्थ 'वेदज्ञान' नहीं। यह अर्थ तो वादीकी वञ्चनामात्र है; क्योंकि-

वेदज्ञान तेरे आगे जुड़े, पीछे जुड़े (युज्यताम्) यह बात ही असम्बद्ध है, यह वेदज्ञान है, या रेलवे इञ्जन; जो आगे, पीछे, मध्य वा सब ओरसे जुड़ेगा ? यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ परमात्मा है। उसके सर्वव्यापक होनेसे घट सकता है। वस्तुत: 'कौशिकसूत्र' (७७।२) के अनुसार इस मन्त्रका ब्रह्माके सूर्या-रथके अथवा वधूरथके आगे-पीछे चलनेमें विनियोग है। इसी बातको सायणभाष्यवाले अथर्ववेदसं. के १४ वें काण्डमें-जो वादीको 'श्री' पत्रिका-में प्रामाणिकरूपसे स्वीकृत था-लिखा है—'कर्ता अग्रे व्रजति'। कभी वह वधू-रथके पीछे हो जाता है, कभी आगे। कभी साथ। उसी विनियोगके अनुसार यहां अर्थ होगा। वादीको भी 'श्री' पत्रिकामें यह बात अभिमत थी।

देखिये वहां वादीके शब्द-'वस्तुतो विनियोगानां मन्त्रैः समानार्थकत्वं भवत्येव। क्वचिद् व्यक्त, क्वचिच्च पारम्पर्येण. नो चेद् वैयर्थ्यम् अप्रमाण-त्वं च तेषां स्यात्' ('श्री:' ७।४) (विनियोग मन्त्रोंने समानार्थक ही होते हैं, कहीं प्रकटरूपसे और कहीं परम्परा सम्बन्धसे। नहीं तो वे व्यर्थ तथा अप्रमाण हो जावें)। तब वादीके अर्थकी विनियोगानुसार कुछ गन्ध भी सिद्ध न हुई।

आश्चर्य तो यह है कि-यह लोग वेदमन्त्रमें अविद्यमान भी अर्थको वेदार्थमें प्रक्षिप्त करनेका दुस्साहस कर दिया करते हैं। 'विशेष-रूपसे ज्ञानादि-गुणोंसे चमकने वाली बन' यह अर्थ करके वादी वेदमें भी प्रक्षेप कर रहा है! यह किस पदका अर्थ है ? यदि समस्त जनता संस्कृतानभिज्ञ हो जावे, तो इन लोगोंका ऐसा दुस्साहस ही न हो सके।

स्त्रीके वेदके अधिकारकी इस मन्त्रमें कोई गन्ध ही नहीं। अभी वधू मार्गमें रथपर है, न पितृगृहमें है, और न अभी श्वशुरालयमें पहुंची है; केवल उसे ब्रह्माकी साक्षी करके कुशलसे पतिगृहमें पहुंचनेका आशीर्वाद दिया जा रहा है। जैसे कि वैदिकयन्त्रालयकी अथर्व.सं.में लिखा है-- '२८-६४ विवाहमन्त्राशिष:' (पृ. २९०)। आशीर्वाद अप्राप्त वस्तुका होता

है। तब इससे वादीकी पक्षसिद्धि नहीं। उल्टा वादीके किये अर्थसे सिद्ध होता है कि–वधूको अभी तक वेदज्ञान प्राप्त नहीं हुआ।

'वेदज्ञानको प्राप्त करके तदनुसार तू अपना जीवन बना' इस वादीके अर्थसे ही स्पष्ट हो रहा है कि–अभी तक वधूने वेद नहीं पढ़ा, तथा वेदज्ञान प्राप्त नहीं किया। तब गृहस्थाश्रममें प्रवेश कर रही हुई उसे घरके कामोंसे ही अवकाश नहीं मिलेगा; वह उस समय क्या वेद पढ़ने गुरुकुलमें जायगी? वस्तुत: यह सब वादीकी कृत्रिमताएं हैं।

आगे वादी एक मन्त्र देकर उसका अर्थ करता है–'प्रबुध्यस्व प्रबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय' (अ. १४।२।७५) (तू बुद्धिमती ज्ञानसम्पन्ना होती हुई सौ वर्षकी आयुकेलिए ज्ञानपूर्वक कार्य करती रह। अपने कर्तव्य-पालनमें सदा जागती रह'।

यही अर्थ वादीका मान भी लिया जावे; तब भी यहाँ वादीकी कुछ भी इष्टसिद्धि नहीं। यहाँ तो यह तात्पर्य है कि–'समझदार बनकर तू घरमें सावधान रहा कर'। बुद्धि स्वाभाविक-वस्तु हुआ करती है, वह नई पैदा नहीं होती। उसका वेद पढ़नेसे सम्बन्ध तो दूर रहा, साधारण-विद्या पढ़नेसे भी कुछ सम्बन्ध नहीं। तब वादीने क्या यह मन्त्र साधारण-जनताके वञ्चनकेलिए नहीं दिया? इसमें स्त्रीको वेदके अध्ययनका अधिकार कहीं भी नहीं दिया गया है। वादी भगवती-श्रुतिसे बलात्कारका दोषी है।

वस्तुत: यहाँ कौशिकसूत्रानुसार (७७।१३) जब वधू मार्गमें रथमें सो जाय, तब वर इस मन्त्रको पढ़ता है कि–तू जाग, सावधान हो जा, पतिगृह में पहुंच। तेरी सौ वर्षकी आयु हो। इससे पूर्व अ. १४।२।७४ मन्त्र पढ़ा जाता है; जब कोई दूसरी डोली रास्तेको काटकर जावे।

इस प्रकार कई मन्त्र कि–जब वधू रोवे, तो पढ़ने पड़ते हैं–इत्यादि स्वयं वादी अपनी 'संस्कारविधि' में देख ले। जबकि वादीने 'श्री:-

श्रीनगर' पत्रिकामें माना था कि–'कौशिकसूत्र' के विनियोगके अनुसार अथर्ववेदके अर्थ होते हैं, तब उसकी वह प्रतिज्ञा कहाँ गई, जो कि–वह मनमानी अपनी 'आल्हा' गा रहा है? उक्त मन्त्रकेलिए सायणभाष्यवाले अथर्ववेदमें यहाँ कौशिकसूत्रके अनुसार लिखा है–'अध्वनि सुप्तां वध्वां प्रबोधयति' (७७।१३) रथमें मार्गमें वधू सो जाय; तो इसे 'प्रबुध्यस्व प्रबुधा बुध्यमाना' इस मन्त्रसे जगावे) यह अर्थ विनियोगानुसार मन्त्रमें ठीक समन्वित भी हो रहा है। तब रास्तेमें स्थित वधूके वेदाध्ययनकी बात वादीने बलात् श्रुतिमें कैसे घुसेड़ दी? क्या अब वादीने अपनी कल्पनानुसार कौशिकसूत्रके विनियोगोंको मानना बन्द कर दिया? क्या यह 'श्री' पत्रिकामें ही जनवञ्चनकेलिए वादीने लिख दिया था?

तब 'ऐसे ही हज़ारों मन्त्र वेदमें हैं; जो स्त्रियोको सम्बोधित करते हुए उनको वेदज्ञानादि-सम्पन्ना तथा यज्ञ करनेका अनुभव प्राप्त करके तद्विषयक उपदेशादि अन्योंको देनेका प्रतिपादन करते हैं' यह वादीका कथन सम्पूर्णतासे खण्डित हो गया। क्योंकि–यह बातें इन मन्त्रोंमें हैं-ही नहीं–यह 'आलोक'-पाठकोंने भली-भाँति देख लिया है।

जोकि वादीने लिखा है–'यदि शास्त्रीजीके कथनानुसार स्त्रियोंको वेद पढ़नेका अधिकार ही नहीं; फिर इन मन्त्रोंका वेदोंमें होना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है'। इसका प्रत्युत्तर पहले दिया जा चुका है कि–छोटे बच्चेके आगे भी मन्त्र पढ़ने पड़ते हैं, जिनको लड़का कुछ भी समझ नहीं सकता; तब क्या वादीके अनुसार वे बच्चोंके मन्त्र व्यर्थ हैं? कर्मकाण्ड दोनोंमें तुल्य है; यह न भूलें। जैसे तर्कसंग्रहादिमें 'बालानां सुखबोधाय' में बड़ी आयुके भी, अन्य शास्त्रोंमें तो पण्डित, परन्तु न्यायवैशेषिक-आदिसे कोरेको 'बाल' कहा जाता है, वैसे ही यहां वेदानधिकृत लड़कीको भी 'बच्ची' माना जाता है।

कर्मकाण्ड होनेसे केवल यहाँ वरद्वारा मन्त्र पढ़नेसे भी स्त्रीके आत्मापर प्रभाव पड़ ही जाता है। यह बात न होती; तो मूल-

शब्दोंसे विवाहादि न कराकर अनुवादोंसे ही संस्कार कराये जाते, और फिर इन मन्त्रोंका वक्ता वर ही है, वधू नहीं। तो स्त्रीसे वह कर्मकाण्ड कराकर पुरोहितादि उन मन्त्रोंका निचोड़ सुना ही देगा। क्योंकि-स्त्री-को समझाना गुरुरूप वर अथवा पुरोहितादिका कार्य है। पति यदि द्विज-है; तो उसे तो अधिकार है ही, तब इससे स्त्रियोंका वैध-वेदाध्ययन सिद्ध न हुआ।

वस्तुतः तो यहां स्त्रीके रथमें सो जानेपर जगानेका मन्त्र है; न कि उस समय वेद पढ़ाना शुरू कर देनेका मन्त्र है। 'आलोक' पाठकोंने देखा होगा कि-यह वादी लोग कैसे-कैसे 'गलत हथकण्डे' अपनी साम्प्रदायिक-बातोंको सिद्ध करनेकेलिए अपना-रहे होते हैं। इन्हें असत्यसे भी डर नहीं आता!!!

'अतः उत्सर्ग-रूपमें ही (केवल अपवादरूपसे नहीं), स्त्रियोंका वेदाध्ययनाधिकार वेदों-द्वारा सिद्ध है' यह वादीकी बात गलत सिद्ध हुई। हम गत-लेखमें स्त्रीका वेदाध्ययनानधिकार सिद्ध कर ही चुके हैं। उसीमें 'स्त्रीणाममन्त्रतः तानि विवाहस्तु समन्त्रकः' अग्निपुराण (१५३।११) याज्ञवल्क्य (१।२।१३) 'विवाहो मन्त्रतः तस्याः' (व्याससमृति १।१५-१६) मनु (२।६६-६७) 'एताः क्रियाः स्त्रीणाममन्त्रकाः, तासां समन्त्रको विवाहः' (बृहद्विष्णुस्मृ. २६।१३-१४) यह अपवाद सिद्ध कर ही चुके हैं।

यह स्मृतिपद्य मैंने अभी-अभी तो बना नहीं डाले कि-वादीके प्रमाणोंसे डरकर मैंने अपवाद कह दिया हो। यह पद्य तो परम्परासे चले आ रहे हैं कि-विवाह तथा 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा. ४।१।३३) यज्ञमें यह अपवाद है। कन्याके तो अन्य संस्कारोंमें स्पष्ट ही मन्त्र पढ़नेका निषेध किया गया है। विवाहमें स्त्रीको मन्त्र-संस्कृत करनेकी उपपत्ति वादीसे उद्धृत हारीतके शब्दोंमें देखिये—

'नहि शूद्रसमाः स्त्रियः, नहि शूद्रासु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या जायन्ते, तस्मात् स्त्रियो मन्त्रतः संस्कार्याः (उद्वाह्याः)'। यह वचन 'शूद्रासु ब्राह्मणादयो

नहि जायन्ते' इस लिङ्गसे तथा 'मन्त्रैर्यदि न संस्कृता' (वसिष्ठ १७।६५) इत्यादि लिङ्गसे विवाहसंस्कारविषयक है। वादीकेलिए तो यह प्रमाण हानिप्रद है; इससे वर्णव्यवस्था जन्मसे सिद्ध होगी, तथा शूद्रको उपनयन-का अधिकार हटेगा। यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। देखो—पृ. ६३-६४।

यह हमने वादीकी रीढ़की हड्डी जो उसके इस विषयका मूल था; तोड डाली; अब हम इससे आगे उसकी पुस्तकपर क्रमसे विचार रखते हैं।—

पृ. १ यह जो वादी लिखता है कि-'इस प्रकारके कल्पित वचन श्रुति या वेदके नामसे स्वार्थपरायण लोगोंने घड़ लिये; तथा इस आशयके कुछ वचन स्मृतियों आदिमें मिला दिये'।

यह वादीकी बात उनके सम्प्रदायके स.प्र. तथा वेदभाष्य आदिकेलिए तो ठीक है; उनमें स्वार्थी-दयानन्दियोंने अनेक इस विषयके प्रक्षेप कर दिये; पर स्मृति आदिमें किसीने प्रक्षिप्त कर दिये-यह बात उनकी गलत है, कल्पित है। वादीने जिन वचनोंका गढ़ना गढ़ लिया है, तथा स्मृतियोंमें प्रक्षेप बताया है, हम उनका पूरा-पूरा समाधान इस पुष्पमें कर चुके हैं, जिससे वादीकी कमर टूट चुकी है।

यह जो वादीने लिखा है-'किन्तु आज तक एक भी विद्वान्को यह साहस नहीं हुआ कि-मूल-वेदों (मन्त्र-संहिताओं) में से एक भी प्रमाण इस भावका उद्धृत कर सके कि-स्त्रियोंकेलिए वेदोंके अध्ययन या वैदिक-कर्मकाण्ड यज्ञ-याग संस्कार आदिमें भाग लेनेका वेदोंमें कहीं निषेध पाया जाता है'।

इससे वादीने यह सिद्ध कर दिया कि-शेष वेदशाखाओं, ब्राह्मणभाग, श्रौत तथा गृह्यसूत्रोंमें तथा स्मृति आदि साहित्यमें तो लड़कियोंका वैसा निषेध है। ब्राह्मणभाग भी वेद होता है, इसपर 'आलोक' (६) देखो।

पृ १-२ आगे वादी लिखता है—'वेदोंका जिन्होंने निष्पक्षपात होकर थोड़ा-सा भी अध्ययन किया है, वे इस बातको स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि—न केवल यह कि—वेदोंमें स्त्रियोंके वेदाध्ययन-निषेधका प्रतिपादक कोई मन्त्र नहीं है, बल्कि—स्त्रियोंके कर्तव्योंका प्रतिपादन करनेवाले हज़ारों मन्त्र हैं'।

यह बात वादीकी गलत है। वेदमें कहीं भी स्त्रीको उपनयन तथा वेदाध्ययन वैधरूपसे आदिष्ट नहीं किया गया है। यह हम इस पुष्पमें स्पष्ट कर चुके हैं। शेष रहे 'स्त्रियोंके कर्तव्योंका वेदमें प्रतिपादन करनेवाले मन्त्र' यह कथन भी ठीक नहीं। वेदमें कर्तव्य तो सद्योजात बच्चोंके भी आते हैं, आठ वर्षसे पहलेके बच्चोंके भी आते हैं; पशुओंके भी आते हैं जैसे 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण अश्वो घासं जिगीर्षति' (अ. ११।५।१८) बल्कि मृतकोंके कर्तव्य भी आते हैं; इससे उनका वेदाधिकार नहीं हो जाता, किन्तु उनके स्वामी उनसे वैसा करा लिया करते हैं। वेदको 'जातिपक्ष' भी इष्ट नहीं है कि—लड़केसे लड़कीका भी ग्रहण हो जाए; इसे हम (पृ. १६४-१७३) में तथा अन्यत्र भी बहुत स्थानोंमें स्पष्ट कर चुके हैं। तब वादीका यह आरम्भिक कथन भी सम्पूर्ण रूपसे खण्डित हो गया कि—'जिनमेंसे सैकड़ों ऐसे हैं, जिनको स्वयं स्त्रियोंको यहाँ संस्कारादिके अवसरपर करना होता है'।

'महाशय, विवाहस्तु समन्त्रक:' (याज्ञ. १।२।१३) 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा. ४।१।३३) पत्नी, इत्यादि अपवाद-वचनोंसे यदि कहीं लड़कियोंका मन्त्रोच्चारण आ जाय; वह वर-पुरोहितादिके सहारेसे उनसे बुलवा दिया जाता है; पर इससे उनका लड़कोंकी तरह स्वतन्त्र वैसा अधिकार नहीं हो जाता-यह हम इस पुस्तकमें स्पष्ट कर चुके हैं—इनमें 'दीर्घश्मश्रु' की स्पष्टता' (पृ.६५-७२) में वादी देख ले।

स्वा.द.ने वेदके 'दीर्घश्मश्रु' का अर्थ 'संस्कार-विधि' में यह किया है—'जब विद्यासे प्रकाशित और मृगचर्मादि धारण कर दीक्षित होके

'दीर्घश्मश्रु:' ४० वर्ष तक डाढ़ी-मूँछ आदि पञ्च केशोंका धारण करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, यह स्वा.द.जीने अथर्ववेदस. (११।५।६) के मन्त्रका अर्थ किया है, वह भी वेदारम्भ-संस्कारमें; अब 'आलोक' पाठक सोचें कि—स्त्रीके वे पाँच कौनसे केश हैं, जिनको वह धारण करेगी? स्पष्ट है कि—वेदको इनमें स्त्री इष्ट नहीं।

तब उसका उपनयन तथा वेदारम्भ वेदको इष्ट नहीं है। जो उसके कुछ अनुकूल भी हैं—वे भी उसका मृगचर्मका धारण भी नहीं मानते; यमस्मृतिका वचन वादी प्रमाणित करता है। पर उसमें लिखा है—'वर्जयेद् अजिन (कृष्णमृगचर्म) चीरं जटाधारणमेव च' 'पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् पर:' यहाँ यमने स्त्रीके गुरुकुलविशेष नहीं माने, तब उनका उपनयन क्या हुआ? तभी वादीने यमस्मृतिके पूर्वापरमें 'अपर' भागको छिपा दिया। बस यह लोग पूर्वापरको छिपाकर छलसे अपना काम निकालते हैं; अत: 'आलोक' पाठकोंने समझ लिया होगा कि—इन लोगोंका पक्ष निर्मूल है। चेले-चाटोंसे किये हुए प्रक्षेपवश कहीं-कहीं स्वा.द.के नाम पर गलत बातें लिख दी गई हैं।

स्मृतियोंमें भी जो स्त्री-शूद्रोंका उपनयन तथा वेदाध्ययनादिका निषेध आता है, स्पष्ट है कि—वह भी प्रक्षेप नहीं; किन्तु वेदादिशास्त्रमूलक ही है। यह हमने इस पुष्पमें सप्रमाण सिद्ध कर दिया है।

स.प्र.के २य समु. में स्वामीने लिखा है—'९वें वर्षके आरम्भमें 'द्विज' अपने सन्तानोंका उपनयन करके आचार्यकुलमें भेज दें, और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याध्ययनकेलिए गुरुकुलमें भेज दें (पृ. १८)

यहांपर स्वामीने दो 'कुल' बताये हैं, एक आचार्यकुल और दूसरा गुरुकुल। आचार्यकुलमें द्विजोंकी ही सन्तानोंको उपनीत करके भेजना लिखा है, परन्तु शूद्रोंको उपनीत किये बिना गुरुकुलमें पढ़नेकेलिए भेजना लिखा है।

इससे शूद्रोंका उपनयन तथा उपनयनमूलक वेदाध्ययन स्वा.द.को इष्ट नहीं। गुरुके लक्षणमें उपनयन तथा वेदाध्ययन नहीं लिखा; यह मनुस्मृति (२।१४२) में देखा जा सकता है। पर आचार्यके लक्षणमें ऐसा लिखा है। अब वादी बतावे कि-स्वा.द.की यह विचारधारा मध्यकालकी वा उसके पीछे की है ? वा वेदकालीन है ?

स.प्र. ३य समल्लासमें लिखा है-'जो शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो; तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावें। शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे-यह मत अनेक आचार्योंका है। (पृ. ७५) इसमें भी स्वा.द.ने शूद्रोंकेलिए उपनयन तथा मन्त्रसंहिता (वेद) अनधिकृत किये हैं। इससे प्रतिपक्षियोंके सिद्धान्तका मूल ही कट गया।

पृ. २ आगे वादी 'समानो मन्त्र: समिति: समानी' (ऋ. १०।१९१।३) मन्त्रसे 'समस्त नर-नारियोंको सम्बोधित करवाता है', पर यह गलत है, इस विषयमें हम ३५९-३६१ पृष्ठोंमें स्पष्टता कर चुके हैं।

पृ. ३ आगे वादी कहता है-'ऋग्वेदमें अनेक 'सरस्वती'-सूक्त आते हैं, जिनमें विदुषी-देवियोंके कर्तव्योंका विशेषरूपसे प्रतिपादन है, इसपर हम ४३१-४४४ पृष्ठोंमें पूरा प्रत्युत्तर दे चुके हैं।

पृ. ४ जोकि वादीने कई मन्त्र विवाहमें स्त्रीके उच्चारणीय भी लिखे हैं, सो इससे 'क्रमेण विधिपूर्वकम्' (मनु. २।१७३) के अनुसार स्त्रियोंके वैध-वेदाध्ययनादिके साधक नहीं। स.ध. भी तो 'तूष्णीम् एता: क्रिया: स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' (याज. १।२।१३) 'विवाहो मन्त्रतस्तस्या: शूद्रस्याऽमन्त्रतो दश' (व्यास-स्मृति १।१५-१६) स्त्रीका विवाह समन्त्रक कहता है, तब वादीकी कोई यह नई बात न हुई। इस विषयमें हम अन्यत्र कई बार स्पष्टता कर चुके है। इससे लड़कीका उपनयन सिद्ध नहीं होता।

स्वा.द ने शूद्रोंका उपनयन नहीं माना है; पर फिर 'यथेमां वाचं'

(२६।२) इससे उन्हें वेदकेलिए कह दिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि-यह बिना उपनयनके जो शूद्रोंका वेदाध्ययन बताया है, वह वास्तविक वेदाध्ययन नहीं होता, किन्तु औपचारिक ही होता है। इसी प्रकार लड़कियोंका भी उन्होंने उपनयन नहीं बताया; पर यदि कहीं उनका वेदाध्ययन लिख दिया है, वह वास्तविक वेदाध्ययन नहीं होता। कई छात्राएं शास्त्री-परीक्षा दे रही होती हैं; उनमें वेदके विशेष सूक्त भी पढ़ रही होती हैं; पर वह उनका वस्तुतः वेदाध्ययन नहीं हो जाता। मनुजीने 'क्रमेण विधिपूर्वकम्' (२।१७३) का नाम वेदाध्ययन माना है, उनसे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि-मनुजीके अनुसार जहां क्रमेण एवं विधिपूर्वक वेदाध्ययन नहीं होता; उसका नाम वेदाध्ययन होता ही नहीं। वह तो अवैध एवं स्वेच्छाकल्पित व्यवहार होता है, शास्त्रीय नहीं। पृ. ५-८ में कही 'सरस्वती' एक देवता है, मानुषी नहीं, पृ. ४३२-४५ देखो।

पृ. ९-१३ में जो वादीने 'स्त्रीका ब्रह्मा बनाना' लिखा है, यह तो सर्वथा उपहासास्पद तथा बिल्कुल असङ्गत एवं असम्भव है। इस विषयमें पृ. ४४५-४५९ में हम स्पष्टता कर चुके हैं। इस विषयमें एक इतिहास भी आता है, जिसे श्रीसायणाचार्यने स्पष्ट किया है। इसपर वादीने कुछ आपत्ति उठाई है, हम उसका प्रत्युत्तर पृ. ४४५-४५९ में भली-भान्ति दे चुके हैं।

पृ. १३-१४ आगे वादी 'सूर्या-सूक्त' पर कुछ लिखता है-'१०।८५ सूक्तकी 'ऋषिका 'सूर्या सावित्री' एक विदुषी स्त्री है। 'ऋषि' का अर्थ 'ऋषिर्दर्शनात्, स्तोमान् ददर्श, ऋषयो मन्त्र-द्रष्टारः' निरुक्त आदिके वचनोंके अनुसार मन्त्रोंका द्रष्टा अथवा उनके रहस्यको समझकर प्रचार करनेवाला होता है'।

जितनी आर्यसमाजी लोगोंने वेदका नाम लेकर वेदकी छीछालेदर की है, इतनी अन्य किसीने नहीं की। आश्चर्य यह है कि-यह लोग असत्यसे भी नहीं डरते। निरुक्तमें स्पष्ट लिखा है-'तद् यद् एनान्

तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत, त ऋषयोऽभवन्, तद् ऋषीणाम् ऋषित्वम्-इति विज्ञायते' (२।११।१) इसका भाव यह है कि-सृष्टिकी आदिमें पूर्व प्रलयमें जो वेदमन्त्र लुप्त हो गये थे; सृष्टिकी आदिमें ऋषियोंका अवतरण हुआ। उन्होंने उन लुप्त मन्त्रोंके ढूंढनेके लिए तपस्या की। तपस्यासे उन्हें वे मन्त्र समाधिमें दीख गये; और वे स्वयंभु-ब्रह्म (वेदमन्त्र) उन्हें प्रतिभात हो गये, इसलिए उन्हें 'ऋषि' कहा जाता है।

अब देखिये प्रतिपक्षीकी बनावट जो कि निरुक्तसे स्पष्ट विरुद्ध है। 'मन्त्रोंका द्रष्टा' का वादी अर्थ लिखता है-'मन्त्रोंके रहस्योंको समझकर प्रचार करनेवाला'। वादीसे प्रष्टव्य है कि-निरुक्तमें मन्त्रोंका दर्शन कहा है, या मन्त्रोंके रहस्यका समझना कहा है? यदि मन्त्रोंके शब्दोंका; तो वादीकापक्ष गिर गया; क्योंकि-समाधि-द्वारा वे मन्त्र किसी ऋषिकाके मुखसे अतर्कित निकल पड़े; तो इससे ऋषिकाका वह महत्त्व तो न रहा; जो वादी उसका बताया करते है, जिससे उसको विदुषी कहा करते हैं। वह मन्त्र तो देवशुनी सरमाको जिसे श्रीसत्यव्रत-सामश्रमी 'निरुक्तालोचन' आदिमें 'सुशिक्षिता कुक्कुरी' कहते हैं; भी प्रतिभात हो गये, जालबद्ध-मत्स्योंको भी प्रतिभात हो गये। तब क्या यह विदुषी-मानुषियाँ हैं?

अन्य बात है प्रतिपक्षियोंके सिद्धान्त खण्डन की। वह ऐसे कि-वादियोंसे प्रष्टव्य है कि-मन्त्रका अर्थ-रहस्य भी क्या मन्त्र (वेद) होता है? और वह रहस्य या अर्थ ऋषिकाने किस ग्रन्थमें लिखा है, वस्तुत: यह वादीकी कृत्रिमता है। और फिर तो मन्त्रके रहस्य वा अर्थ 'ब्राह्मण' को भी आप वेद मानिये? क्यों नहीं मानते? फिर ब्राह्मणभागकी अवेदतामें जो स्वा.द.ने 'वेदव्याख्यानात्' यह हेतु दिया है, उसका खण्डन कीजिये। यदि उसका खण्डन न करके उसे ठीक मानते हो, तब अपना 'ऋषि' का 'मन्त्रद्रष्टा' का अर्थ खण्डित कीजिये कि-यहां 'मन्त्र' का अर्थ 'मन्त्रका रहस्य' नहीं है; किन्तु 'मन्त्रका शब्द' है; तब मन्त्रके शब्दके प्रकट करनेमें 'विदुषी' कहकर उस स्त्रीका गौरव मत कीजिये।

अब वादी पीछे लौटे। वादी सूर्या सावित्रीको ऋ. १०।८५ सूक्तकी ऋषिका बनाता है। और उसे 'सूर्या-सावित्री नामक' 'विदुषी देवी'-कह कर उसे मानुषी-स्त्री बताता है। यह भी वादीकी बात सर्वथा अशुद्ध है। वादी इसे इस प्रकार समझे-यहाँ सविताकी पुत्री सूर्याको ऋषिका कहा गया है। उसको पता होना चाहिये कि-यहां 'सविता' का अर्थ 'सूर्य' है। 'असौ वा आदित्यो देव: सविता' (शत. ६।३।१।२०) वह सविता अर्थात् सूर्यदेवताकी पुत्री थी। इस विषयमें 'आलोक' (५) के पृ. १७८ में स्पष्टता देखें। पुंयोगमें 'सूर्याद् देवतायां चाप्' (वा. ४।१।४८) इस वार्तिकसे 'देवता' अर्थमें चाप् प्रत्यय होता है। यदि वह मानुषी होती, तो 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा. ४।१।४८)से ङीष् होकर 'सूर्यागस्त्ययो: छे च ङ्यां च' (वा.४।१।४९) से 'य' का लोप होकर 'सूरी' बनता; जैसेकि-'सूरी कुन्ती' के लिए 'मानुषी इयम्' लिखा गया है। कुन्ती यद्यपि विदुषी थी; पर मानुषी होनेसे उसे 'सूर्या' देवता नहीं कहा जाता। क्योंकि-देवता होनेपर ही उसे पुंयोगमें चाप् होता है।

पुंयोग भी तीन प्रकारका होता है। एक जन्य-जनकभाव (पिता-पुत्री) जैसे देवक-देवकी। दूसरा भ्रातृ-भगिनीभाव-यमस्य भगिनी यमी। तीसरा—पति-पत्नीभाव। जैसेकि—'पुंयोगादाख्यायाम्' (४।१।४८) के उदाहरण 'गोपी' में गोपकी स्त्रीका नाम भी 'गोपी' और 'गोप' की बहिनका नाम भी 'गोपी', तथा गोपकी लड़कीका नाम भी गोपी होता है। सो सूर्यामें सूर्यकी लड़कीका नाम 'सूर्या' होता है।

'सूर्या' अश्वियोंके रथमें बैठी थी; वहाँ उसकेलिए वेदमें कहा है-'दुहिता सूर्यस्य रथं तस्थौ (अश्विनो:)' (६।६३।५) रथं...यं सूर्यस्य दुहिताऽवृणीत' (ऋ. ४।४३।२) 'आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य...अतिष्ठद्' (ऋ. १।११६।१७) 'युवो रथं दुहिता सूर्यस्य' (ऋ. १।११७।१३) अर्थात् हे अश्वियो; तुम्हारे रथमें सूर्यकी लड़की (सूर्या) देवता बैठी थी। अब इसीके

अनुवादमें अन्य मन्त्रको देखिये—'त वां (अश्विनो) रथं वयमद्या हुवेम... अश्विना! यः सूर्यां वहति' (ऋ. ४।४४।१, अ. २०।१४३।१) इससे 'सूर्या' यहां सूर्य-देवताकी पुत्री 'सूर्या' हुई, देवता होनेसे 'सूर्या' में 'चाप्' प्रत्यय हुआ। सो यहां 'सूर्या' कोई मानुषी-स्त्री सिद्ध न होकर 'देवता' सिद्ध हुई। अब उसे मानुषी कहता हुआ वादी खण्डित हो गया।

वह यहां 'ऋषिका' है। ऋषि मनुष्यसे भिन्न एक योनि है, इसे हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं। जैसेकि—'देवान्, मनुष्यान्, असुरान् उत ऋषीन्' (अ. ८।९।२४) ऋषियज्ञ पृथक् है, नृयज्ञ पृथक्। इस विषयमें पृ. ७३-७४ देखिये। तब वादीका स्त्रियोंको वेद पढ़ाना पक्ष कट गया। 'हज़ारों-सैंकड़ों ऋषिकाओंको' कहता हुआ वादी २८ संख्या तक पहुंचा है। यह तो आटेमें नमक बराबर भी नहीं। सावित्री सूर्याका कोई मन्त्र वादी ऐसा नहीं दे सका, जिससे उसका कुछ पक्ष सिद्ध हो सके।

पृ. १९ 'अहं केतुः...मे दुहिता विराट्' यह मन्त्र प्रकृतोपयुक्त नहीं। इसमें वादीने 'केतु' का 'वेदज्ञानका श्रवण करानेवाली हैं, यह अर्थ बनावटसे किया है। इसमें वेदका नाम तक भी नहीं। अत: 'कल्पित' है। यहां 'विराट्' का 'विशेषरूपसे शोभित होनेवाली' अर्थ तो है, पर यहां 'वेदज्ञान' अर्थ डालना वादीका श्रुतिसे बलात्कार है। यह लोग वेदमें अपनी कपोल-कल्पनाएं लादते हुए भी लज्जित नहीं होते।

पृ. २०-२१ ऋषिकाओंका वर्णन करते हुए वादी उन्हें ब्रह्मवादिनी बताता है। इसपर पूरा मुंहतोड़ प्रत्युत्तर पृ. ७२-७९ पर देखिये।

पृ. २२ 'सुगन्धिं पति-वेदनम् ।...इतो मुक्षीय माऽमुतः' (यजु: ३।६५) मन्त्र जो वादीने लिखा है—। यहां तो कहा गया है कि—मैं पिताके घरसे छूटूं, पतिके घरसे नहीं। इससे 'विवाहस्तु समन्त्रक:' स.ध.के सिद्धान्तके अनुसार हमारे पक्षकी तो कुछ भी हानि नहीं। यह मन्त्र उस लड़कीने तो बनाया नहीं, इसे वसिष्ठजीने समाधिमें देखा। उसे

किसी विवाह्यमान लड़कीसे कहलवाया। इसी प्रकार ऋत्विक् आदि फिर उसे कहलवाता है। इससे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं होती। पर आप लोग तो वेदसे विरुद्ध विधवा-विवाह नियोगादि कराकर उस स्त्रीको उस पतिके घरसे छुड़वाकर खुल्लमखुल्ला वेदविरुद्धता कर रहे होते हैं।

शेष रहा स्त्रीका मन्त्रोच्चारण; तो उसे वह वर-पुरोहितादिके आश्रयसे पूर्वोक्त-सिद्धान्तानुसार उससे बुलवाया ही जा सकता है। इससे स्त्रीके नियमित वेदाध्ययन या अभ्यासकी बात वादीकी कपोलकल्पना-मात्र है। बुलवाना भला क्या कठिन है, फिर भी पुरुष उसे बोल सकता है। जैसे कि गोभिलने ही स्वयं लिखा है—'स्वयं जपेद् अजपन्त्याम्' (२।१।२१) यदि स्त्री उसे न बोल सके, तो पुरुष ही उसे पढ़ दे—यह आज्ञा दी गई है।

गोभिलपुत्रके 'गृह्यासंग्रह' में भी लिखा है—'विवाहे यो विधिः प्रोक्तो मन्त्रा दाम्पत्यवाचका: । वरस्तु तान् जपेत् सर्वान्' (२।२८) यहाँ भी स्त्रीपठनीय सभी मन्त्रोंको वरद्वारा ही बोलना लिखा है। कहीं उस स्त्रीसे अशुद्ध बोलनेकी प्रसक्तिमें श्रीगोभिलके अनुसार 'नमो विष्णवे इति ब्रूयात्' (१।६।३१)। ऐसा लौकिक वाक्य कह देना पड़ता है।

पृ. २२-२६ में वादीने कई काण्वसं. आदिके मन्त्र दिये हैं, वे शाखा मन्त्र होनेसे वादीके मनमें उनका बोलना 'स्त्रीका वेदाध्ययन' नहीं।

पृ. २७-२८ आगे भूठा वादी 'स्त्रियोंको वेदामृतपानकी स्पष्ट आज्ञा' 'कुलायिनी घृतवती' मन्त्रसे देता है—इसका प्रत्युत्तर हम पृ. २११-२१८ में दे चुके हैं। यह मन्त्र यज्ञकी इष्टकाके विषयमें है। इसका इष्टका अर्थ निरुक्तसे विरुद्ध भी नहीं है। बल्कि यह वेदाङ्ग-व्याकरण तथा 'सर्वानुक्रमणिका' आदि सबके अनुकूल है।

पृ. २९-३२ आगे वादी अपनी समझमें एक बड़ा भारी प्रमाण 'ब्रह्मचर्येण कन्या' यह मन्त्र देता है, तथा 'कौमारब्रह्मचारिणी' तथा

कुमारी ब्रह्मचारिणी' आदि महाभारतके वचन देता है। हम इसका मुंहतोड़ तथा पूरा उत्तर पृ. ५५-७२ में दे चुके हैं कि-यहाँ 'ब्रह्मचर्य'का अर्थ वेदाध्ययन नहीं हैं। इसमें हम उसी ब्रह्मचर्य-सूक्तके कुछ उद्धरण देते हैं—

'ओषधयो भूतभव्यम् अहोरात्रे वनस्पतिः। संवत्सरः सहर्तुः ते जाता ब्रह्मचारिणः' 'पार्थिवा दिव्याः पशवः आरण्या ग्राम्याश्च ये। अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः' (अ. ११।५।२०-२१) क्या वादी इन पशु, पक्षी, ओषधियों-आदिका ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन मानेगा? यदि नहीं; तब इसके साथ वाले 'ब्रह्मचर्येण कन्या' आदिका भी अर्थ वेदाध्ययन न होकर 'उपस्थसंयम' ही अर्थ होगा।

प्रथम अध्याय समाप्त। अथ द्वितीयाध्याय।

पृ. ३४-३५ वादी लिखता है-'हमारे पौराणिक भाई ब्राह्मणग्रन्थोंको भी वेद ही मानते हैं, किन्तु हम वेदोंको ईश्वरीय ज्ञान और ब्राह्मण-ग्रन्थोंको "चतुर्वेदविद्भिः ब्रह्मभिः-ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेद-व्याख्यानानि, तानि ब्राह्मणानि' इस महाभाष्यादि-सम्मत व्युत्पत्तिके अनुसार महर्षियों द्वारा प्रणीत वेदव्याख्यान वा वेदभाष्य मानते हैं'।

यह वादीका भयानक एवं अक्षम्य छल है। यह स्वा.द.की अपनी गढ़ी हुई संस्कृत है। यह ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकामें 'वेदसंज्ञा-विचार' विषय पृ. ६६ में स्वामीने लिखी है। 'स्त्रियोंका वेदाध्ययन' के कर्ता प्रतिपक्षीने इसे ही महाभाष्य तथा शतपथादिके नामसे उद्धृत कर दिया है। देखो उसका 'वेदोंका यथार्थस्वरूप'। इन झूठे लोगोंको दयानन्दी लोग बड़ा विद्वान् मानते हैं। इस विषयमें 'आलोक' (७) पाठक पृ. ८००-८०४ देखें।

वादी ब्राह्मणभागको महर्षियोंसे बनाया हुआ भाष्य कहते हैं, फिर उन्हींको वेदविरुद्ध कहते हैं। 'ब्राह्मण' ऋषियोंके 'बनाये' नहीं हैं; किन्तु प्रोक्त हैं। वे भी वेद हैं; इस विषयमें 'आलोक' (६) देखें।

पृ. ३५-३७ आगे वादीने 'ऐतरेयब्राह्मण' से एक कुमारी 'गन्धर्व-गृहीता' (५।५।२९) की आख्यायिका दी है। यह वादीकी या श्री. सामश्रमीजीकी जालसाज़ी है। यहां 'गन्धर्वगृहीता' कोई नाम नहीं है। 'गन्धर्वेण गृहीता' यह व्युत्पत्ति है; वह 'भूतविद्या'के कारण गन्धर्व-नामक ग्रहसे गृहीत थी; उस लड़कीसे पूछा गया कि-तू कौन है। उसके अन्दर ठहरे हुए गन्धर्वने कहा-'मैं सुधन्वा आङ्गिरस हूँ।' नहीं तो वह लड़की अपना नाम लेती। पूछनेपर उसके अन्दर रहने वाला गन्धर्व जो उसके भीतरका स्वामी बना हुआ था, वही बोल रहा था, जैसेकि-आजकल भी भूतग्रस्त व्यक्तिसे पूछनेपर अन्दरका प्रेत अपना नाम बताता है।

भूतविद्याके लक्षणमें 'सुश्रुतसंहिता' में कहा है—'भूतविद्या नाम देवाऽसुर-गन्धर्व-यक्ष-रक्षः पितृ-पिशाच-नाग-ग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्म-बलिहरणादि ग्रहोपशमनार्थम्' (सूत्रस्थान- १।११।(७)) यह देव-गन्धर्व आदि ग्रहोंसे गृहीत हुई बताई गई है। सुश्रुतस.में 'देवास्तथा शत्रु-गणाश्च (असुराः) तेषां गन्धर्वयक्षाः पितरो भुजङ्गाः। रक्षांसि या चापि पिशाचजातिः एषोऽष्टको देवगणो ग्रहाख्यः' (उत्तरतन्त्र ६०।७) में देव, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, पितर, नाग, राक्षस, पिशाच, यह सब देवयोनिके जीव 'ग्रह' माने गये हैं। क्योंकि-इनकी मनुष्य-आदियोंमें पकड़ सम्भव हो सकती है; वे व्यक्ति उपद्रवग्रस्त हो जाते हैं, अतः उनका दैवी-उपचार करना इसीका नाम उपवेदमें 'भूतविद्या' आया है।

'नैनं घ्नन्ति अप्सरसः, न गन्धर्वाः...यो बिभर्ति इमं मणिम्' (अथर्व. ८।५।१३) यहां विशेष-मणिसे गन्धर्व आदिका प्रभाव हटना कहा है। इससे किसी कुमारीकी गन्धर्वसे गृहीतता सिद्ध हो जाती है।

सुश्रुतसं. तथा चरकम में इस ग्रहोंसे गृहीतताके लक्षण भी दिये गये हैं। उसमें गन्धर्वगृहीत-व्यक्तिके लक्षण यह बताये गये हैं-'हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी, स्वाचारप्रियपरिगीतगन्धमाल्यः। नृत्यन् वै प्रहसति चारु-चाल्पशब्दः गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः' (६।१०) (प्रसन्नचित्त

पुलिन तथा वनके बीच रमण करनेवाला, अच्छे आचारका, गीत-गन्ध-मालाओंमें रुचिवाला, नाचते हुए सुन्दर और थोड़ा बोलनेवाला मनुष्य गन्धर्वग्रहसे गृहीत होता है। इस प्रकार चरकस.के चिकित्सास्थानमें भी गन्धर्वग्रहसे गृहीतके लक्षण बताये गये हैं।

'गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां' (सुश्रुतसं. उत्तरतन्त्र ६०।१७) में गन्धर्वोंकी अष्टमी तिथिमें पकड़ बताई गई है। इन सबका पूरा वर्णन हम 'आलोक' (११) में करेंगे। भूतोन्मादके लक्षणमें चरकस.के चिकित्सित-स्थानमें कहा है—'अमर्त्यवाग्-विक्रम-वीर्य-चेष्टा ज्ञानादि-विज्ञानबलादिभिर्यः। उन्मादकालोऽनियतश्च तस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत् तम्' (९।१५) जो देव, गन्धर्व आदि आठ ग्रहोंसे गृहीत होता है, वह अमानुषी वाणी, देववाणी, संस्कृत बोलता है, उसका बल भी अमानुषी होता है; पर इस बातको न माननेवाले प्रतिपक्षी उस गन्धर्वग्रहसे गृहीत लड़कीका नाम ही गन्धर्वगृहीता बताकर इस भूतविद्याके विषयको ही छिपाना चाहते हैं। पर उन्हें इस विषयमें सफलता नहीं मिल सकती।

श्रीसायणाचार्यने ऐ.ब्रा.की तथा ऋग्वेदादिकी भूमिकाओंमें बहुत स्पष्ट ही लिखा है कि—'उपनीतस्यैव अध्ययनाधिकारं ब्रुवत् शास्त्रम् अनुपनीतयोः स्त्री-शूद्रयोः वेदाध्ययनमनिष्ट-प्राप्तिहेतुः-इति बोधयति' (स्त्री एवं शूद्रके उपनीत न होनेसे उन्हें वैध वेदाधिकार नहीं। सब-वेदभाष्यकार श्रीसायण जो वेदादिशास्त्रोंके प्रकाण्ड विद्वान् थे, एवं शास्त्रोंके चतुरस्र पण्डित थे; उनके इस विषयके लेखको जो केवल एक स्थानपर ही नहीं लिखा गया, जिससे उसमें भूल वा प्रमादकी सम्भावना हो; किन्तु बहुत्र उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है—वादीका 'वेदशास्त्रविरुद्ध' कहना **'छोटे मुंह बड़ी बात'** होनेसे उपेक्षणीय है। स्थान-स्थान पर बड़े बहुश्रुत विद्वानोंके ऋषि-मुनियोंके लेखोंको भी 'वेदविरुद्ध' कह देना—यह तो वादियोंका 'तकिया-कलाम' है; गलत है-धींगाधींगी है।

समस्त-वेदादिशास्त्र सेवावृत्ति आदि कृच्छ्रकर्मोंमें लगे हुए स्त्री-शूद्रोंको अनुपनीत ही मानते एवं कहते हैं। केवल वादियोंको 'ब्रह्म यॆण कन्या' यह मन्त्रका टुकड़ा मिला हुआ है, जिनके उत्तरार्धको छिपाकर यह लोग उपसंहारसे विरुद्ध अर्थ कर दिया करते हैं, इसीसे ही उसके उत्तरार्धको छिपाकर जनवञ्चन कर दिया करते हैं, जिसका हम पृ. ५५-७९ में अकाट्य प्रत्युत्तर दे चुके हैं, जिसपर यह लोग कभी बोल ही नहीं सकते; अतः स्वयं ही वे वेद-ज्ञानहीन सिद्ध होते हैं।

'सुगन्धि पतिवेदनम्' इत्यादि मन्त्र विवाह्यमाना कुमारियोंकेलिए हैं, विवाहविधि उनका द्विजत्वाधायक वैदिक-संस्कार माना जाता है (मनु. २।६७) सो उनकी वहां द्विज-कल्पता होनेसे स्वविषयक कुछ मन्त्रोंका पाठ अपवाद होनेसे 'नचोत्सर्गस्य अपवादाद् निवृत्तिः' इस न्यायसे स्त्रियोंके कर्मिक तथा वैध वेदाध्ययनके अनधिकारको प्रभावित नहीं कर सकता। 'प्रकल्प्य च अपवाद-विषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते' अपवादविषयको प्रकल्पित करके फिर अन्यत्र उत्सर्ग (सामान्यशास्त्र) का ही साम्राज्य छाया रहता है)।

पृ. ३९-४० आगे वादी 'अथ वेदे पत्नीं विस्रंसयति 'वेदोसि' का अशुद्ध अर्थ करता है कि—वेद खोलकर पत्नीको 'वेदोसि' इत्यादि मन्त्र बोलनेका विधान है। वादीने यहां 'वेद' शब्दका अर्थ वेदग्रन्थ समझा है—यह उसका शास्त्रीय-अज्ञानका द्योतक है। यह लोग ऐसे गलत अर्थ करके संस्कृतानभिज्ञ-जनताको अन्धेरेमें रखते हैं। हमने बीसों प्रमाण देकर इस विषयको पृ. १८३-१८९ में स्पष्ट कर दिया है।

पृ. ४१-४२ में वादी तैत्तिरीय-संहिताके कुछ प्रमाण देता है, वह तो वादीके मतमें वेद नहीं; तब उन कई मन्त्रोंका बोलना वादीके अनुसार स्त्रीका वेदाध्ययनाधिकारत्वसाधक नहीं; यद्यपि 'स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' इस सिद्धान्तानुसार हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं।

पृ. ४२-४३. 'अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी' (तै. ३।३।३।५)

'श्रयज्ञो वा एप योऽपत्नीक:' (तै. २।२।६) पत्नी अपना आधा भाग है, जो पत्नीसे रहित हो, वह यज्ञ नहीं-। इन वचनोंसे वादीकी कुछ भी पक्षसिद्धि नहीं। पत्नी यज्ञमें बैठती है, सोनेकी सीताकी भान्ति। इस विषयमें हम पूर्व बहुत स्पष्टता कर चुके हैं (पृ. १४६)

पृ. ४३ पञ्च-महायज्ञ शूद्र भी 'नम:' अन्तवाले मन्त्रोंसे कर सकता है। मनुजीके 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञ:' इस वचनके अनुसार पढ़ानेका काम ब्राह्मणका है, शूद्रका नहीं। जबकि वह क्षत्रिय-वैश्यको भी विहित नहीं। सो शूद्रोंका 'ब्राह्म' हुतं द्विजाग्र्यार्चा' (मनु. ३।७४) ब्राह्मणका पूजन ही ब्रह्मयज्ञ है, वा 'ब्रह्मणे नम:' कहना।

पृ. ४४-४६ आगे वादीने जो कि-कात्या.श्रौ.सू.के सूत्र 'स्त्री चाविशेषात्' (१।१।७) आदि दिये हैं, यह व्यर्थ हैं। उसके पक्षसाधक नहीं। इसमें स्त्रीका कथन 'स्वर्गकामो यजेत' इस वचनकेलिए ही है कि स्त्री भी स्वर्गकी कामना कर सकती है। 'दर्शनाच्च' (१।१।८) इस सूत्रके भाष्यमें लिखा है-'सा च पुंसा सह अधिक्रियते, न पृथक्। येन एकस्मिन् कर्मणि पत्नीसाध्या: पदार्था दृश्यन्ते, यजमानसाध्याश्च। पत्नी आज्यमवेक्षते। यजमानो वेदं (कुशमुष्टि) बध्नाति' यहांपर यज्ञमें स्त्रीका कार्य 'घी' आदिको देख देना कहा है। नापकी समिधाएं काटना, अग्नि प्रज्वलित कर देना; कोई चीज़ उठा देना-कुशका वन्डल बान्धना-आदि स्वयं समझ लिया जा सकता है। इस विषयमें स्पष्टता पृ. १४५-१४७ में देखनी चाहिये।

पृ. ४६-५० में वादीके-'पत्नी वेद प्रमुञ्चति वेदोसीति' (कात्या.श्रौ. (इष्टिनिरूपणाध्याय) में पत्नीका वेद खोलनेका तथा 'वेदे पत्नीं वाचयति' (शाङ्खायनश्रौ. १।१२-१३) आदि; 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्' (आश्व. श्रौ. १।११।१) वेदको पत्नीके हाथमें देकर मन्त्र पढ़वाने आदिका सम्यक् उत्तर हम १८३-१८६ पृष्ठमें दे चुके हैं। सभी आक्षेपोंका समाधान वहां किया जा चुका है।

पृ. ५० में वादीने लिखा है-'जब तक कुमारियों तथा अन्य स्त्रियोंने नियमपूर्वक वेद और वेदाङ्ग-व्याकरणका अध्ययन न किया हो, तो वे अध्वर्युद्वारा बुलवानेपर भी मन्त्रोंका शुद्ध आचरण नहीं कर सकतीं। यज्ञोंमें अशुद्ध मन्त्रपाठका 'याज्ञे कर्मणि पुनर्नापभाषन्ते' दुष्ट: शब्द: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र-शत्रु: स्वरतोऽपराधात्' इत्यादि महाभाष्योक्त-वचनोंसे प्रवल निषेध है।'

इसका उत्तर पृ. १३७-१४० में दिया जा चुका है। वादीने यह मान लिया कि-विशेष-मन्त्र स्त्रीको अध्वर्युद्वारा बुलवाये जाते हैं। तो उसमें मुख्यता अध्वर्युकी होनेसे शुद्धताका उत्तरदायित्व उसापर आ जाता है। स्त्रीने तो उसका अनुकरण ही करना है। दाम्पत्यवाचक मन्त्रोंको गोभिलपुत्रके 'गृह्यासग्रह' के अनुसार वरु भी पढ़ सकता है। इस पुस्तकमें हम पूर्व इस विषयपर वहुत स्पष्टता कर चुके हैं।

वादी स्वयं भी सोचे कि-जब उपनयनसंस्कारका प्रारम्भ होता है, उस समयमें माणवकको अपने अधिकारानुसार कई मन्त्र पढ़ने पड़ते हैं। उस समय ५ वा ८ वर्षकी आयु होनेसे और फिर उस समय वेदाङ्ग-व्याकरण भी न पढ़े होनेसे वह लड़का उन वेदमन्त्रोंको जैसे आचार्यकी सहायतासे बोलता है; इस प्रकार स्त्री भी विवाहित होनेपर अनायास-प्राप्त द्विजकल्पत्वके कारण ऋत्विक् आदिकी सहायतासे कई मन्त्र बोल लेगी। इतना अवश्य है कि-माणवकका तो उस समय जनेऊ होता है, पर कुमारीका विवाह ही अनायास द्विजत्वाधायक संस्कार हो जानेसे उसे माणवककी भांति सीधा वेदाधिकार तो नहीं हो जाता। हां, वह स्वविषयक मन्त्र उस औपचारिक-द्विजत्वसे ऋत्विक्के सहारे बोल सकती है-यह स.ध.का सिद्धान्त है, पर शूद्रको तो किसी भी ढंगसे द्विजत्व न मिलनेसे थोड़े मन्त्रोंको भी बोलनेका उसका अधिकार प्राप्त नहीं होता। यह हमने स.ध.का रहस्य वादीके सामने रख दिया है। पहले भी इसका

संकेत कई बार दिया जा चुका है। अतः वादीकी आपत्तियां निस्सार हैं।

जोकि वादीने स्त्रीपठनीय कई मन्त्रोंका संग्रह कर दिया है। यह सभी मन्त्र एक ही विवाह, वा एक ही यज्ञमें वा एक ही कुलमें नहीं बोले जाते। सभीकी सभी शाखाएं ही नहीं होती, एक कुलकी एक ही शाखा होती है। 'यः स्वशाखोक्तमुत्सृज्याऽन्यशाखोक्त माचरेत्। अप्रमाणमृषिं कृत्वा अन्धे तमसि मज्जति' (गृह्यास. श।९२-९३) (अपनी शाखाकी कर्तव्यता छोड़कर अन्य शाखाकी कर्तव्यता करता है; वह ऋषिका अप्रमाण करके अन्धेरेमें डूबता है) सो तदनुसार यह थोड़े ही दो-चार मन्त्र बच जाते हैं, पर प्रतिपक्षी दिखलाता है कि—हमने बहुतसे मन्त्र स्त्री-पठनीय बता दिये। साधारण-जनताको यह रहस्य ज्ञात न होनेसे वह प्रतिपक्षियोंकी भूल-भुलाइयोंके चक्करमें पड़ जाती है।

'स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' इस अपवाद सिद्धान्तके अनुसार इन थोड़े मन्त्रोंमें 'क्रमेण विधिपूर्वकम्' (मनु. १।२।१७३) न होनेसे उनके अनुसार यह स्त्रीका वेदाधिकार वा वेदाध्ययन नहीं हो जाता। यज्ञमें सोनेकी सीता की प्रतिमाका दृष्टान्त भी पहले कई बार दिया जा चुका है। वादीके इस प्रकारके संगृहीत मन्त्रोंपर पुनरुक्ति तथा विस्तारके डरसे हम 'प्रधान-मल्लनिबर्हण' न्यायसे पुनः-पुनः नहीं लिखेंगे। पाठकोंको 'स्थालीपुलाक'-न्यायसे स्वयं समझ लेना चाहिये।

पृ. ५२ 'घृतवन्तं कुलायिनं' इति वेदे पत्नीं वाचयति' अर्थात् वेदमें से इस मन्त्रका पत्नीसे पाठ करवावे' (शाखा.श्रौत. १।१२।१३) 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेद् होताऽध्वर्युर्वा 'वेदोऽसि वित्तिरसि' अर्थात् होता या अध्वर्यु पत्नीके हाथमें वेद देकर 'वेदोसि वित्तिरसि' (आश्व.श्रौ. १।११। १) मन्त्रका उच्चारण करावे'।

यहाँ वादी 'वेद' का अर्थ 'वेदपुस्तक' करके जनताकी आँखोंमें धूल झोंक रहा है'। महाशय! यहाँ 'वेद' का अर्थ 'वेदपुस्तक' नहीं है।

यदि वेदपुस्तक अर्थ है, तो वादी अपने वेदसे 'घृतवन्तं कुलायिनं' तथा 'वेदोसि वित्तिरसि' (?) यह मन्त्र दिखलावे। पर उसे नहीं मिलेंगे। यदि न दिखला सका, तो उसका अर्थ अशुद्ध सिद्ध हो गया। इस प्रकार 'पूर्णमसि पूर्णं भूयाः' (?) यह मन्त्र भी वादी अपने वेदसे दिखलावे। यदि न दिखला सका; तो स्पष्ट है कि—यह अर्थ गलत है। इस विषयमें हमने पृ. १८३-१८६ में बीसों प्रमाण देकर सिद्ध कर दिया कि—यहाँ 'वेद' का अर्थ 'कुशोंका बण्डल' है, वेदपुस्तक नहीं। यह पाठकोंने वादीका जनवञ्चन देख लिया।

पृ. ५१ वादी सामवेदसं.के लाट्यायन श्रौ.से 'पत्नी च उपग्रह-प्रभृतीनि निधनानि उपेयादिति' (१।६।८) अपना पक्ष सिद्ध करना चाहता है। इसपर वादीसे प्रष्टव्य है कि—क्या आप उपग्रह आदि निधनोंको अपने 'सामवेद' मे दिखला सकते हो? आपकी 'सामवेदस.' में तो उपग्रह तथा निधन आदि शब्दोंका ही अत्यन्ताभाव है। 'दैवतब्रा.' के भाष्यमें श्रीसायणने 'निधन नाम पञ्च-भक्तिकस्य सप्तभक्तिकस्य साम्नोऽन्तिमो भागः' (१।२) यह 'निधन' का लक्षण करते हुए इडानिधन, कालेयरौर-वादि पदनिधन, यौद्धाजय संहिता आदि, ईकार निधन, वैराज आदि बताये हैं, उनको अपनी सामवेदस.में दिखलावे। वादी क्या हज़ार-संहिताओं के सामवेदको मानता है? यदि हां, तब अपने सिद्धान्तका पराजय स्वीकृत करे, और सामका भी निधन (अन्तिम भाग) बोलनेकेलिए कहा है, सब नहीं। उसमें भी उपग्रह आदिकी सीमा बना दी गई है। हम पूर्व कह चुके हैं कि—स्त्री शास्त्रानुसार यज्ञमें बैठती है। उसकेलिए कोई वचन-बलसे नियत कार्य गान आदि आ जावे; तो वह पतिके आश्रयसे कर सकती है। पर इतनेसे उसको सर्वसाधारणतासे वेदाधिकार नहीं मिल जाता। जैसा पति कहता आये, वह भी वैसा कहता आवे, तो क्या आप इतने भरसे उसका वेदाध्ययन मान लेंगे? इसकी स्पष्टता बहुत बार पहले की जा चुकी है।

पृ. ५३ आगे वादीने 'व्योमसंहिता'का स्पष्ट प्रमाण 'आहुरप्युत्तम-स्त्रीणां' यह देकर अपना पक्ष सिद्ध करना चाहा है' इसका स्पष्ट प्रत्युत्तर हम पृ. २४७-२५२ में पूर्णतया दे चुके हैं।

अथ तृतीयाध्याय (गृह्यसूत्रोंके प्रमाण)

पृ. ५४-५७ 'गृह्यसूत्रोंमें प्रमुख पारस्करके अनुसार लाजाहोम 'अर्यमणं नु देवं' आदि मन्त्रोंको पढ़कर कन्या ही करती है। 'अर्यमणं नु देवं' इयं नारी उपब्रूते लाजान् आवपन्तिका' 'इमान् लाजान् आवपामि अग्नौ'। यह तीनों ही पारस्करप्रोक्त मन्त्र वादीके वेदपुस्तकमें नहीं हैं। तीन मन्त्रोंमें एकमें वेदमें 'पूल्यानि आवपन्तिका' यह पाठ है, पर यहाँ 'लाजान् आवपन्तिका' यह पाठ है। या तो वादी फिर मन्त्रोंके अर्थ ब्राह्मणको भी वेद माने; नहीं तो चुप होकर बैठ जावे। यह तो **श्रौतमन्त्र** हैं, इससे वादीके पक्षकी कुछ भी सिद्धि नहीं। और फिर यहां यज्ञका चरु अग्निमें हुत नहीं किया गया है, किन्तु लाजाएं। इससे लड़कीको वेदाधिकार सिद्ध नहीं हो जाता। यह तो 'स्मार्त-कर्म' है। इसमें स्त्रीको कोई निषेध नहीं। इस विषयमें पृ. ४२७-४२९ में देखो। इन मन्त्रोंको वर पढ़ता है, इसमें अन्य गृह्यसूत्रोंकी तथा अन्य टीकाकारों की भी साक्षी देखें।

आश्वलायनगृ.के भाष्यकार श्रीगार्ग्यनारायणने तो स्पष्ट लिखा ही है-'नहि स्त्रीणां मन्त्रेधिकारोस्ति, तस्माद् वरस्यैते मन्त्राः'। अब दूसरों-की भी साक्षी देखिये-श्रीकुमारिलभट्टने आश्व.गृ. कारिकामें लिखा है—'वरः शूर्पगतान् लाजान् अवत्ताश्चाभिघारयेत्। पठेच्चार्यमणं मन्त्रम्' अथ पत्नी स्थिता सती। कुर्वत्यञ्जलिविच्छेदमङ्गुल्यग्रैर्जुहोति तान्' (१।२२।११-१२) यहांपर 'वरः...पठेच्चार्यमणं मन्त्रं' में यह 'अर्यमणं' मन्त्र वरद्वारा ही पढ़वाया गया है।

वादीके प्रिय-भाष्यकार श्रीहरदत्ताचार्यका भी कथन देखें। वे

लिखते हैं—'अर्यमणमिति त्रिभिर्मन्त्रैर्लाजान् जुहोति'।...मन्त्रास्तु वरस्यैव'।

'खादिरगृह्यसूत्र' में रुद्रस्कन्दने भी यही लिखा है—'सा वधूः [लाजान्] जुहुयादेव, न मन्त्रं ब्रूयात्। पतिरेव मन्त्रं ब्रूयाद् इत्येव-मर्थम्' (१।३।२२)। इससे अन्य स्पष्टता क्या होगी? आपस्तम्बगृ.में 'जुहोति इयं नारीति' (२।५।६) वादीके प्रिय-भाष्यकार श्रीहरदत्तने लिखा है-'**वरस्यैव जुहोतिक्रिया**, पात्रस्थानीयो वध्वञ्जलिः'।

'श्री' पत्रिकाके वादीके लेखानुसार 'प्रामाणिकमूर्धन्य' श्रीसुदर्शनाचार्य यहाँ लिखते हैं—'वर एव 'इयं नारी'ति अनया ऋचा अभिमन्त्र्य वध्वञ्जलिना लाजान् जुहोति' यहांपर भी वर-द्वारा ही उक्त मन्त्र बोलना वा हवन बताया है।

कौशीतकीगृ.में भी यही कहा है—'इयं नारी उपब्रूते-इति पतिर्मन्त्रं जपति' यहाँ भी पतिद्वारा 'इयं नारी' यह मन्त्र बोलना कहा है। 'लघ्वाश्वलायनस्मृति' में भी विवाह-प्रकरण (१५।३९-४०-४१-४२) में लाजाहोमादिका कर्ता वर ही बताया गया है। इसी प्रकार 'साङ्ख्यायन-गृ.में प्रकृत-स्थलमें यही लिखा है। 'गोभिलगृ.' (३।२।६) के भाष्यकार श्रीचन्द्रकान्त-तर्कालङ्कारने भी यही लिखा है—'इयं नारी उपब्रूते' अनेन वरपठितेन मन्त्रेण' इत्यर्थः, इयमिति मन्त्रलिङ्गात् 'अर्धो ह वा एष आत्मनो यद् जाया नाम' इति वाजसनेये ब्राह्मणे पठ्यते; अतः शरीरार्धेन चेत्-क्रियते, तर्हि स्वयमेव क्रियते' यह कह करके 'गोभिल-पुत्रके गृह्यासंग्रहका यह प्रमाण दिया है-'मन्त्रा दाम्पत्य-वाचकाः। वरस्तु तान् जपेत् सर्वान्' (२।२४)। गोभिलसूत्रमें गोभिलपुत्रकी व्यवस्था मानी जावेगी, सामश्रमी वा ठाकुर उदयनारायणकी नहीं। पर वही गोभिलपुत्र 'श्री' पत्रिकामें 'वैदिक' था, अब यहाँ वेदानभिज्ञ 'वेदानभिज्ञ' वन जायगा, यह है इन लोगोंकी लीला!!!

जब सबका इस विषयमें ऐकमत्य है, तब तदनुरोधसे पारस्करगृ.में

भी यही व्यवस्था होगी। पर वे गृह्यसूत्र तो अब वादीके अनुसार 'वेदविरुद्ध' हो गये; अब कुछ भाष्यकारोंके अनुसार वादीकी पारस्करगृ. पर श्रद्धा जाग उठी, और उसे 'प्रमुख' और 'लोकप्रिय' मानने लगा। 'सार्वदेशिक' जून १९४६ में इसी वादीने लिखा था-'पारस्करगृ.के निर्माणके समय वैदिकमर्यादाका कुछ लोप हो चुका था'।

जो कि यहाँ जयराम, गदाधर आदि भाष्यकारोंने लिखा है-'अत्र इदं मन्त्रत्रयं कन्यैव वरपाठिता पठति'। यहाँ 'वरपाठिता' का अर्थ है कि-वर ही यहाँ कन्याको सौतूमन्त्र पढ़वाता है। तो यहाँ स्त्रीकी स्वतन्त्रता कहाँ रही? यह मन्त्रब्राह्मणभागादिके हैं; सो वादी ब्राह्मणभागको भी वेद मानकर अपने साम्प्रदायिक-पक्षका खण्डन करे। इस विषयमें पहलेके पृष्ठोंमें पूरी स्पष्टता की जा चुकी है। यहां 'संहितेन अञ्जलिना' का अर्थ वर-वधूकी सम्मिलित अञ्जलि इष्ट है, अर्थात् वधूकी अञ्जलि ऊपर रहे; उनमें भ्राता खीलें डालता है। वधूकी अञ्जलिसे नीचे वरकी अञ्जलि होती है। वधू उन खीलोंको वरकी अञ्जलिमें डालती है। 'जुहोति' में हु धातु है, जिसका अर्थ 'दान' होता है; और दानका अर्थ वहाँ 'प्रक्षेप' है। उसे लेकर फिर वर अग्निमें डालता है। इससे वादीकी किसी भी प्रकार पक्षसिद्धि नहीं। अथवा वधू ही अग्निमें डाले, फिर भी पूर्व कहे प्रकारसे हमारी कुछ पक्षहानि नहीं।

भाष्यकार श्रीजयरामने तो यह भी लिखा है—'यद्वा वरो ब्रूते' इयं नारी' (१।६।३) इस प्रकार श्रीगदाधराचार्यने भी कहा है—'यद्वा वरो ब्रूते-'कन्या इयम् अग्निम्'। वादीने इनको छिपा दिया है।

फिर 'तर्कमनीषी' वादी इसपर 'बड़ा भारी तर्क' उठाता है—'स नो अर्यमा' का अर्थ सर्वथा स्पष्ट है कि-हम कन्याएं अर्यमाकी पूजा करती हैं-वह हमें पितृकुलसे छुडाये, पतिकुलसे नहीं'। अब शास्त्रीजी बतावें कि-क्या पति यह प्रार्थना करेगा कि-परमात्मा हमें पिताके कुलसे छुडावे, पतिके कुलसे नहीं' (सार्व. अगस्त १९४६)।

वादीका यह तर्क इसलिए निकम्मा है कि-दूसरेकी ओरसे कहने पर ऐसा कहनेकी भी शैली होती है कि-'यह लाजा छोडती हुई नारी कहती है कि-अर्यमा देव मुझे पितृकुलसे तो छुडावे; पतिकुलसे नहीं, मेरा पति चिरायुष्मान् हो। 'इय नारी उपब्रूते लाजान् आवपन्तिका' यह पारस्करगृ.में ठहरा 'इय नारी उपब्रूते' यह प्रथम-पुरुष हमारे पक्षका दृढ़ प्रमाण है।

वादीने 'कन्या अग्निमयक्षत' इस प्रथम-पुरुषका अर्थ 'हम न्यायकारी परमात्माकी पूजा करती हैं; इस प्रकार उत्तमपुरुष तथा वर्तमानकालका किया है' यह सर्वथा अशुद्ध है। 'अयक्षत' यह लुङ्लकारके प्रथमपुरुषके बहुवचनका प्रयोग भूतकालवाचक तथा अन्य-वाचक है। वह इस वर्तमान कन्याकेलिए नहीं है। तभी श्रीगार्ग्यनारायणने आश्वगृ.के भाष्यमें ठीक ही लिखा था-'यत्तु उक्तं मन्त्रलिङ्गादिति, तत्र ब्रूमः-नहि अत्र इयं कन्या अभिधीयते, अन्या एव तु कन्याः' [पूर्वकल्पस्थाः] यदि इयमभिधीयते-बहुवचनं नोपपद्यते, तथाभूतश्च [भूतार्थको लुङ्-घटितः] प्रत्ययः अपि नोपपद्यते, तस्माद् वरस्य [इमे मन्त्राः]'

यह बात बिल्कुल ठीक है। इसलिए यह इस कन्याके बोलनेके मन्त्र नहीं हो सकते; पर उन पूर्वकल्पस्थित-कन्याओंकी प्रार्थना बताकर अपनी वधूको भी वर वैसा ही चाहनेका उपदेश दे रहा है। अतः वरका उक्त मन्त्र बोलना सङ्गत भी है। वादी इनके वेदमन्त्र न होनेसे इनमें व्यत्यय भी नहीं बता सकता।

पृ. ५७-५८ बादी लिखता है-'अथैनां सूर्यमुदीक्षयति' वर वधूको सूर्य-दर्शनकेलिए प्रेरित करता है, और वह 'तच्चक्षुः' मन्त्रको पढ़कर सूर्यदर्शन करती है। यह कहकर वादी लिखता है-कर्क, जयराम, हरिहर आदि सब भाष्यकारोंने स्पष्ट माना है कि-इस वेदमन्त्रका उच्चारण वधू करती है'। (सार्व.)

इस बादीकी लीलाका पता नहीं चलता। कभी तो वह इन

भाष्यकारोंको 'पौराणिक' कहकर इनसे पल्ला छुड़ा लिया करता है, और कभी उनको 'मूलकार' से भी अधिक महत्त्व दे देता है।

यद्यपि 'स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रक:' इस अपवाद-सिद्धान्तके अनुसार 'तच्चक्षु:' मन्त्रके भी विवाहविधिके अन्तर्गत होनेसे वरके सहारे पत्नी-द्वारा मन्त्र बुलवानेपर हमारे पक्षकी रञ्चमात्र भी क्षति नहीं, तथापि वादी यहां गृह्यसूत्रके मूलशब्दोंको तो देखे कि–वे क्या सूचित करते हैं, और मूलशब्दोंका यहां 'ठीक अर्थ' क्या हो सकता है?

ठीक अर्थ तो यह है–वर 'तच्चक्षु:' इस मन्त्रसे वधूको सूर्यका दर्शन कराता है। वादी ही बतावे कि–इस 'उदीक्षयति' क्रियाका कर्ता वर है, या वधू? इसी बातपर तो सत्यासत्यका निर्णय होगा। वधू तो यहां 'एनाम्' शब्दके कहनेसे 'कर्म' है। 'तच्चक्षु:' मन्त्रका सम्बन्ध 'उदीक्षयति' क्रियाके साथ होनेसे उस क्रियाके कर्तासे हुआ।

'उदीक्षयति' में प्रेरणार्थक 'णिच्' प्रत्यय है। 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (पा. १।४।५५) इस सूत्रसे प्रेरक, हेतु भी होता है, और 'कर्ता' भी होता है। सो उसका कर्ता प्रकरणानुसार 'वर' ही है। सो वह ही 'तच्चक्षु:' मन्त्र बोलकर वधूको सूर्यदर्शन कराता है। सो वर प्रयोजक-कर्ता है, और वधू प्रयोज्यकर्म है। कर्ता स्वतन्त्र होता है, और कर्म परतन्त्र। अत. इसमें पूर्ण उत्तरदायित्व तथा मुख्यता वरकी ही है। सो मन्त्र भी वही बोलकर वधूको सूर्यदर्शन करावेगा। तब वादी क्यों 'पौराणिक टीकाकारों' के पीछे लगता है? वह मूलको ही देखे।

यदि वादी टीकाकारोंको मानता है; तो वह यह जाने कि–टीकाकार स्त्रीका उपनयन नहीं मानते; कोई स्त्रीका विशेष मन्त्र आ जानेसे वे उससे स्त्रीका वेदाध्ययनका अधिकार हो जाना नहीं मानते; तब वादी उनके इन सिद्धान्तोंको जान ले; भले ही वे लोग 'विवाहस्तु समन्त्रक:' इस अपवादवश विवाहमें कोई विशेष-मन्त्र विशेष-वचनके बलसे वर आदिके सहारे बुलवा दें; क्योंकि–वे जानते हैं–इस अपवादसे स्त्रीका

वेदाध्ययनाधिकार नहीं हो जाता।

'यस, नो' 'रेडी' आदि शब्दमात्र कह देनेसे कोई अंग्रेजीके M.A. का अधिकारी नहीं हो जाता, यद्यपि 'यस, नो, रैडी' आदि अंग्रेजीके शब्द एम.ए.की पुस्तकोंमें भी आ जाते हैं। अथवा एम.ए.की पुस्तककी कोई पोइट्री किसीसे बुलवानेसे वह व्यक्ति एम.ए. का अधिकारी नहीं हो जाता। इस प्रकार कतिपय विशेष-मन्त्र बोलनेसे वह स्त्री वेदकी अधिकारिणी नहीं हो जाती। सो इसमें पूर्ण-उत्तरदायित्व वरका ही होता है।

और फिर भाष्यकारोंसे भी तो हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है। 'वधूर्वरप्रेषिता सती' इस हरिहरके कथनसे यही सिद्ध होता है कि-वरकी प्रेरणासे वह मन्त्र बोलती है। यदि उसको वेदका स्वच्छन्द अधिकार होता; तो वरकी प्रेरणाकी आवश्यकता ही क्या थी? यही 'वरपाठिता पठति' का अभिप्राय होता है, जिससे वादी खीझता है। सो हमने मूलका अनुसरण करके कोई भूल नहीं की। वादी ही 'अथ एनां सूर्यम् उदीक्षयति-तच्चक्षुरिति' का स्वपक्षानुसार अन्वय लगाकर अर्थ कर दिखलावे; पर वह इस समय अपने दुराग्रहको क्यों छोड़ने लगा? तब यह उसीकी भूल सिद्ध हो गई।

पृ. ५८-६० आगे वादी 'अथ इमौ (वधूवरौ) समञ्जयति-'समञ्जन्तु विश्वे देवा:, समापो हृदयानि नौ (आवयो:)'। यह मन्त्र देकर 'भर्तृयज्ञ' के मतमें दोनोंका पाठ दिखलाता है।'

वादीके अनुसार यह एक 'भर्तृयज्ञ' नामक अप्रसिद्ध-आचार्यका मत है कि–पति-पत्नी दोनों मन्त्रपाठ करें।' इससे अन्य आचार्योंका कथन सर्वदेशी होनेसे मान्य सिद्ध हुआ कि–केवल वर ही इस मन्त्रको पढ़ दे कि– 'हम दोनोंके हृदय दो जलोंकी भान्ति समान हो जावें, इससे वधू

भी स्वतः गृहीत हो जावेगी; एकसे दूसरीका ग्रहण भी हो जानेसे दोनोंके मन्त्र पढ़नेसे जो 'गौरव' दोष उपस्थित हो जाता है, वह भी नहीं होगा। गृह्यासंग्रहमें स्पष्ट लिखा ही है—'मन्त्रा दाम्पत्य-वाचकाः। वरस्तु तान् पठेत् सर्वान्' (२।२४) इससे वादीकी पक्षसिद्धि कुछ नहीं, और हमारी पक्ष-हानि कुछ नहीं। इसपर कई वार लिखा जा चुका है।

पृ. ६०-६१ 'पुमांसौ मित्रावरुणौ-इति 'गर्भकामा-इति स्त्रीप्रत्यय-निर्देशाद् स्त्री एव जुहोति।

यह स्मार्तयज्ञ है, श्रौतयज्ञ नहीं। वेदमन्त्र भी नहीं, सौत्रमन्त्र है। देखो अपनी संस्कारविधि। और फिर यह एक विशेष (अपवाद)-वचन हो, उस स्त्रीसे यह कराया जा सकता है। पर वर भी इसे कर सकता है। स्वयं प्रयोगरत्नका प्रमाण वादीके पक्षको काट रहा है। वहाँ लिखा है—'होमे कर्तारः स्वयं, स्वस्य असम्भवे पत्न्यादयः'। होमकर्ता स्वयं पति हो; वह कहीं बाहर हो, तो पत्नी करे—'पत्नी कुमारः पुत्रो वा शिष्यो वापि यथाक्रमम्। पूर्वपूर्वस्य चाऽभावे विदध्याद् उत्तरोत्तरः'। स्मृत्यर्थसारमें भी कहा गया है—'यजमानः प्रधानं स्यात्, पत्नी पुत्रश्च कन्यका। ऋत्विक् शिष्यो गुरुर्भ्राता भागिनेयः सुतापतिः। अत्र वचनात् पत्न्यादीनां मन्त्रपाठेऽधिकारः'।

इससे स्पष्ट हो गया कि—वास्तविक कार्य यह यजमानका है, उसके बाहर होनेसे उपस्थिति असम्भव होनेपर फिर पत्नी आदि भी कार्यनिर्वाह कर दें—यह यहां सूचित किया गया है, क्योंकि—'अभवनान्मन्दभवनं श्रेयः'। 'सर्वनाशे समुत्पन्ने—ह्यर्धं त्यजति पण्डितः। अर्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशः सुदुःसहः' जहाँ इस प्रकारका भाव हो जाय, वहाँ सिद्धान्तकी बात नहीं रहती। इससे वादी प्रसन्नता मना रहा है। वह यह नहीं जानता कि—उससे उसका साम्प्रदायिक-पराजय हो रहा है। इससे उसे एकके कर्मसे दूसरेको फल प्राप्त हो जाना—मानना पड़ेगा। फिर श्राद्ध भी मानना पड़ेगा। फिर आप लोग हवन वायुशुद्धिकेलिए मानते हैं; उसमें मन्त्र

पढ़नेकी आवश्यकता भी नहीं रहती। क्या मन्त्र न पढ़नेसे वायुशुद्धि नहीं हो सकती? वस्तुतः आर्यसमाजी मत निरुपपत्तिक है।

वादीका यह कहना भी गलत है कि—'यदि विना उपनयन-संस्कारके वेदमन्त्रोंके उच्चारणका अधिकार नहीं प्राप्त होता; तो कन्याओंका भी यज्ञोपवीत-संस्कार करना चाहिये'। यज्ञोपवीतके बिना भी वेदमन्त्र बोलनेका अपवाद मनुस्मृतिमें भी मिलता है—'स्वधानिनयनाद् ऋते' (२।१७२); तब कार्यनिर्वाहार्थ यहाँ भी अपवाद समझना चाहिये। नहीं तो वादीके अनुसार उस यज्ञोपवीतिनीको कन्या-गुरुकुलमें होना चाहिये था, या फिर गोभिलके वादीके पक्षके अनुसार उसका विवाह कर देना चाहिये था, पर वैसा न होनेसे स्पष्ट है कि—यहाँ न कन्याका यज्ञोपवीत है, न ही स्त्रीका। शेष रहा—यजन; वह तो उपनयन-तथा यज्ञके अधिकारसे हीन निषादस्थपतिका भी वचन-बलसे आया है। पर वह तो उसमें द्विजकी सहायता लेता है; लेकिन स्त्री साक्षात् तो शूद्र नहीं; पर विवाह उसका द्विजत्व जैसा होनेसे कार्यनिर्वाहार्थ वह पतिके प्रवासमें पतिकी अग्निमें आहुति दे सकती है।

सो यह 'प्रतिनिधिवाद' है। इसमें लड़की आदिके उपनयनके अधिकारकी बात नहीं हो जाती। स्वा.द.ने शूद्रोंको उपनयन नहीं दिया, पर उनको 'यथेमां वाचं' से वेदकेलिए कहा है। इससे शूद्रोंका उपनयन नहीं हो जाता। बल्कि ऐसा वेदपाठ भी उनका वैध न होकर अवैध वा औपचारिक ही होगा; उपनयनपूर्वक न होनेसे भला वैध कैसे हो? वचन-बलसे होनेवाला कार्य अपवाद होता है, उत्सर्ग नहीं। सिद्धान्त तो उत्सर्ग ही होता है, अपवाद नहीं।

पृ. ६१-६२ आगे वादीने 'गोभिलगृ.' से 'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम्' सूत्र उद्धृत करके कन्याको यज्ञोपवीतका अधिकार दिया है; पर यहाँ 'यज्ञोपवीतिनीम्' का 'यज्ञोपवीतयुतां' अर्थ जो सामश्रमीजीने किया है, यह निरुपपत्तिक होनेसे गलत है। यहाँ तो विवाहिता हो रही लड़कीको

वरकी ओरसे दुपट्टा दिया जा रहा होता है। वह उस दुपट्टेको ही जनेऊकी तरह पहन लिया करती है। यही उसका 'यज्ञोपवीतिनीत्व' होता है। कौशिकसूत्रका भी विनियोग इसी प्रकारका है। 'श्रीः' पत्रिकामें वादीने कौशिकके जिस विनियोगभागको बड़े जोर-शोरसे माना था; अब वही कौशिक वादीके विरुद्ध होनेसे कहीं 'वेदविरुद्ध' वा 'मूर्ख' न बन जावे ?

हम वादीको खुला आह्वान देते हैं कि—यदि आपमें कुछ शक्ति हो; तो यहाँ 'यज्ञोपवीतिनीम्' के 'यज्ञोपवीतयुतां' इस अर्थको सोपपत्तिक सिद्ध कर दिखाये। क्योंकि—जब वह विवाह्यमाना स्त्री 'ब्रह्मवादिनी' नहीं; यावज्जीवन ब्रह्मचारिणी नहीं; ब्रह्मचर्याश्रमारम्भमें नहीं; उस समय उसका मुण्डन भी नहीं कराया गया; जोकि उपनयनके समय हुआ करता है, तब उसे वेदाधिकार देनेवाला मुख्य यज्ञोपवीत दिया ही कैसे जा सकेगा ? जबकि वादीके स्वा.द. भी वहाँ उपवस्त्रको ही कन्याद्वारा यज्ञोपवीतकी भान्ति लपेटना मानते हैं।

अब वादी बतावे कि—इस अवसरमें स्वा.द. गलत ? वा सामश्रमी गलत ? यदि सामश्रमीको ही ठीक मानोगे; तो वादीके महर्षि (?) गलत हो जावेंगे। क्या उनको गलत बतानेकी शक्ति वादीमें है ? क्या इस समय स्वामीजीको पौराणिक मानते हो; और सामश्रमी-को वैदिक ? फिर वेदविषयमें भी सामश्रमीके मतको मानो, स्वा.द.के मतको नहीं। सभी शाखाओंको वेद मानो। इस विषयमें हम पूर्ण विवेचन पृ. ९६-१०९ में दिखला ही चुके हैं, वादी उसे काटनेमें असमर्थ ही रहा है।

बल्कि स्वा.द.ने प्रथम स.प्र.में तो स्पष्ट ही लिखा है—'कन्या लोगोंको यज्ञोपवीत कदापि नहीं करना चाहिये, और संस्कार तो सब कराना चाहिये' (पृ. ३८ पं. ९) द्वितीय स.प्र. में तथा सं.वि.में भी नहीं माना। यह हम पूर्व दिखला चुके हैं। अन्यत्र स्वा.द.की मृत्युके पीछे

छपे हुए वेदभाष्यों वा स्वा.द.के नामसे प्रकाशित पत्र-व्यवहारादिमें तो उन्हींके पुस्तकोंमें आर्यसमाजियोंने बहुत प्रक्षेप कर दिये हैं।

ठा. उदयनारायणसिंहने भी इस अवसर पर अपनी कौशिकसूत्रकी टीकामें यही हमारा ही अर्थ दिया है। परन्तु गोभिलकी टीकामें उसने गलत अर्थ दिया है; अतः वह मान्य नहीं। अतः स्पष्ट है कि—गोभिलका 'यज्ञोपवीतिनी' शब्द गोभिलकी १।२।१ की हीं परिभाषाके अनुसार 'पारिभाषिक' है, जहाँ वस्त्र-उपवस्त्रादिको भी दाहिनी बगलमें पहरनेपर भी 'यज्ञोपवीती' कहा जाता है। वादीमें इतना सोचनेका मस्तिष्क नहीं है कि—यह विवाह क्या ब्रह्मचर्याश्रमका आरम्भ है; जो उसमें वह लड़कीका यज्ञोपवीत कराने बैठा ? विवाह्यमान लड़की हारीत-के अनुसार यावज्जीवन कुमारी न होनेसे ब्रह्मवादिनी नहीं है, किन्तु सद्योवधू है। अतः उसमें ब्रह्मवादिनियोंवाले उपनयन, तन्मूलक अग्नीन्धन और वेदाध्ययन तथा भिक्षाचर्या आदि नहीं होंगे ?

पृ. ६३ आगे वादी लिखता है—'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता' मन्त्रमें 'उपनीता' शब्दका प्रयोग है; तब 'कर्मकरान् उपनयते' में भी वादी 'उपपूर्वक नीञ्' धातुका प्रयोग देखकर क्या वहां भी नौकरोंका जनेऊ करना मान लेगा; जबकि यहां 'भृतिदानेन कर्मकरान् स्वसमीपं प्रापयति' अर्थ है। क्या वादी 'अश्मानमुपनीतमृम्वा' (ऋ. १।१२१।९) 'उपनीतं' शब्द देखकर वज्रका उपनयन-संस्कार अर्थ मान लेगा ?

आगे लिखता है—'यहाँ उपनीता स्त्रीको दुष्टोंकेलिए भयङ्कर तथा कठिनसे कठिन कार्योंके करनेमें समर्थ बताया है'। यहाँ 'उपनीता' शब्द देखते ही वादीको स्त्रीके जनेऊके सपने आने लगे। यह अर्थ प्रमाण तथा तर्कसे हीन है। जनेऊ पहरे हुई आर्यसमाजिन स्त्रियोंका दुष्टोंकेलिए भयङ्कर और कठिन कार्योंमें समर्थ बताना प्रत्यक्षसे विरुद्ध है, और असाभिप्राय भी है। इस विषयमें इस पुष्पके पृ. १०९-११२ पृ.में प्रत्युत्तर दे चुके हैं, वादी इसपर कुछ भी नहीं बोल सका, और न बोल सकता है।

यह पुस्तक जो वादीने लिखी है, इसमें उसने वही सब कथन उद्धृत कर दिया है, जो अपनेसे सम्पादित 'सार्वदेशिक' में लिखा था। उसका हमने 'सिद्धान्तमें' में मुँह तोड़ अक्षर-अक्षर उत्तर दिया था। उसके बाद वादीने उक्त पुस्तक प्रकाशित की, सो उसने नाम कमानेको उक्त पुस्तक प्रकाशित कर दी। हमसे दिये हुए प्रबल युक्ति-प्रमाणोंको देख अशक्तिवश वादी इसपर चुप्पी साध गया। पाठक स्वयं उक्त पृष्ठोंमें हमारी सत्यता जान सकते हैं। हाँ, कुछ नये प्रमाण उसने दिये हैं, जो विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। उनकी इस पुष्पमें आलोचना कर दी गई है।

पृ. ६३-६४ में वादीने 'कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात्' (गोभि. १।४।१५) यह वचन लिखा है, और उसपर सामश्रमीका अर्थ देकर उससे स्त्रीका हवन सिद्ध किया है। सामश्रमीने लिखा है कि-यदि गृह्य-अग्निमें पत्नी चाहे; तो आहुति कर सकती है; क्योंकि-पत्नी ही घर है; और यह गृह्य अग्नि है।

इससे सिद्ध हो गया कि-पत्नी श्रौत-अग्निमें हवन नहीं कर सकती। यह आश्वलायन आदिमें 'स्मार्तकर्म' माना गया है; और वहां स्त्रीकी इच्छा रखी गई है, उसमें पतिसे अनुमति लेकर आहुति दे; तो कोई हानि नहीं। स्मार्त होम दुर्गा आदिके हुआ करते हैं, उसमें स्त्री भी आहुति देती रहती है, पर वैतानाग्निमें वह अधिकृत नहीं हो जाती।

और फिर इसपर भी श्रीचन्द्रकान्त, नारायण, भवदेव, मुरारिमिश्र, म.म. श्रीमुकुन्दमिश्रादि बहुतसे विचारशील प्राचीन-अर्वाचीन भाष्यकारोंने स्पष्ट लिखा है—

'कामम्-इत्यनुमत्यर्थो निपातः। स्वस्य असामर्थ्ये गृह्येऽग्नौ सायं-प्रात-र्होमौ पत्नी (पत्यनुमता) जुहुयात्' पतिकी हवनमें सामर्थ्य न हो, सख्त बीमार हो-आदि, तो पतिकी अनुमतिसे पत्नी आहुति डाल सकती है। सो यह औत्सर्गिक-सिद्धान्त नहीं हो जाता। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि-जब पति ठीक-ठाक हो, तो वह स्वयं हवन करे, स्त्री केवल साथ

बैठी रहे। यजुर्वेदमाध्यं.सं. में कहा है—

'तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः! पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः' (१५। ५०) यहां अग्निपरिचरणमें हिरण्य (सुवर्ण) का नाम भी लिखा है; सो सोना तो हवन नहीं करता; किन्तु यज्ञमें उसकी सहायतामात्र होती है; इस प्रकार सोनेकी सीताकी भांति स्त्रीकी भी सहायतामात्र होती है, वह साथ बैठी रहती है। आश्वला.के 'पाणिग्रहणादिगृह्यं परिचरेत्, स्वयं, पत्नी अपि वा पुत्रः' इस वचनका भी यही भाव है।

यह तो स्मार्तकर्म है, इसमें विशेष-प्रतिबन्ध नहीं। 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः। अर्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशः सुदुस्सहः' इस नीतिको भी देखना पड़ता है। इसमें भी 'स्वयं' की उपस्थिति अनिवार्य है; अपनी अनुपस्थितिमें पतिसे अनुमत पत्नीकी भी उपस्थिति हो सकती है, पर श्रौत-हवनमें तो स्त्रीका महाभारतमें भी निषेध है—यह हम अन्यत्र बता चुके हैं। यह नीलकण्ठने भी स्पष्ट लिखा है। इस प्रकार 'न वै कन्या न युवतिः' इस मनुपद्यमें भी। इस पुष्पके पृ. ४१९-४२३ में देखिये। इससे यह भी सिद्ध होता है कि-स्मार्त-होममें अनुपनीत भी सम्बद्ध हो सकते हैं; उसमें कुमारियां भी शामिल हो सकती हैं; इससे वे उपनीत सिद्ध नहीं हो जातीं।

वादीसे अनुमत हारीतके वचनके अनुसार यावज्जीवन कुमारी ब्रह्मवादिनीका तो अग्निसमिन्धन तथा वेदाध्ययन आता है, सद्योवधूका नहीं।

पृ. ६५-६६ में वादीने लिखा है-स्वयं त्वेव एतान् यावद् वसेद् बलीन् हरेत्' (गोभि. १।४।१५) 'अपि वा अन्यो ब्राह्मणः' (१६) दम्पती एव (१७) इति गृहमेधिव्रतम्' (१८) यहां वादीने स्त्रीका बलिवैश्वदेव बताया है। उसके मान्य श्रीसामश्रमीने लिखा है कि-यजमानको बलिवैश्वदेव यज्ञ स्वयं ही करना चाहिये। पीडा आदिके कारण अन्य ब्राह्मणसे भी यह कृत्य कराया जा सकता है। इस प्रकार

पीड़ावश पत्नीसे भी कराया जा सकता है—'सर्वनाशे समुत्पन्ने' यह न्याय है। और मनुजीने पत्नीकेलिए मन्त्र पढ़ना निषिद्ध किया है—'पत्नी अमन्त्रं वलिं हरेत्' (३।१२१) इससे हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है।

पृ. ६६-६७ आगे वादी लाजाहुतिकी बात बताता है। इस विषयपर पूरा प्रत्युत्तर हम पृ. ४२७-४२९ पर दे चुके हैं। 'अर्यमणं नु देव' इति वरको ही पढ़ना पड़ता है। यह भाष्यकारोंने ठीक ही लिखा है—'अनेन **वरपठितेन मन्त्रेण**' इत्यर्थः इयमिति मन्त्रलिङ्गात्। 'अर्धो वा एष आत्मनो यद् जाया नाम' इति वाजसनेये ब्राह्मणे पठ्यते। अतः शरीरार्धेन चेत् क्रियते, तर्हि स्वयमेव क्रियते—'विवाहे यो विधिः प्रोक्तो मन्त्रा दाम्पत्य-वाचकाः। वरस्तु तान् जपेत् सर्वान् (गोभिल. पुत्रकृत गृह्यासं.) (इन मन्त्रोंका पाठ वर ही करता है कि—क्योंकि शतपथमें लिखा है—पत्नी पतिका आधा शरीर है। अतः पत्नीका कार्य यदि पति करता है, तो यह एक ही बात है' यह भाष्यकारोंकी बात सोपपत्तिक है। यद्यपि इन मन्त्रोंके सौत्र होनेसे यदि स्त्री भी इन्हें पढ़े, तो हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं।

'समञ्जन्तु' पर पहले कहा जा चुका है।

पृ. ७३-७४ में वादीने 'हारीतकी ब्रह्मवादिनी तथा सद्योवधू' स्त्रियों-के विषयमें लिखा है—इस विषयमें ऊहापोहसे विचार पृ. ८०-९६ में देखो।

पृ. ७५ 'आर्यविद्यासुधाकर' में 'नहि शूद्रसमाः स्त्रियः' कहा है। वादीके इस उल्लेखपर विचार पृ. ९३-९४ में देखो।

आचार्या, उपाध्याया, अध्वर्युब्राह्मणी, आदिपर पहले पृष्ठ में लिखा जा चुका है। इसपर स्त्रीप्रत्ययोंमें तत्त्वबोधिनीकारका उत्तर सुनिये।—'वह्वृची' पर श्रीज्ञानेन्द्रसरस्वती - स्वामी लिखते हैं—'यद्यपि स्त्रीणामध्ययनं प्रतिषिद्धम्, तथापि पुराकल्पे ह्येतद्

आसीत्। तदाह यमः—'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीवन्धनमिष्यते' इत्यादि। यद्वा मा नाम अध्यगीष्ट, तावंश्यात् ताच्छब्द्यं भविष्यति' (यद्यपि स्त्रियोंका वेदोंका अध्ययन निषिद्ध है; तथापि यह कल्पके आरम्भमें था। अथवा स्त्री न भी पढ़े; तथापि उस वंशमें उत्पन्न होनेसे उसे उस शब्दसे कहा जा सकता है। कल्पारम्भकी स्पष्टता हम हारीतके वचनपर कर चुके हैं। यही उत्तर आचार्या, उपाध्याया, कठी, वह्वृची, अध्वर्युब्राह्मणी' आदिपर जान लेना चाहिये। इससे पं. शिवदत्तजीके आक्षेपका समाधान भी हो गया।

'पाणिग्रहणादिगृह्यं परिचरेत्' के विषयमें पहले कहा जा चुका है। यह स्मार्त-होम है; इसमें स्त्रीके होमका निषेध नहीं। वस्तुतः यहां गृह्याग्निके परिचरणका भाव गृह्याग्निका पत्नीद्वारा संरक्षण है। पत्नी-के घरसे वह अग्नि लाई जाती है, और पतिके घरमें उसका आधान किया जाता है। पति अपना दैनिक होम आदि भी उसीमें करता है। उस अग्निका परिचरण-संरक्षण पत्नीके जिम्मे होता है कि—वुझने नहीं पावे; अन्यथा उस स्त्रीको उसके प्रायश्चित्तमें उपवासादि प्रायश्चित्त करना पड़ता है। यही भाव रामायणके कौशल्याकेलिए कहे हुए 'अग्न्यगारपरा भव' (२।५८।१८) का है कि—अग्निगृहकी देख-रेख है।

इससे पूर्व वादीने 'अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सन्ध्योपासनमेव च कार्यं पत्न्या प्रतिदिनं वलिकर्म वैदिकम्' यह मनुस्मृतिका एक प्रक्षिप्त पद्य जो मनुस्मृतिकी क्रमसंख्यामें परिगणित नहीं था—किसी भी टीकाकारने उसकी व्याख्या नहीं की थी; दिया था, हम उसकी आलोचना दे देते हैं; जिससे वादियोंकी शङ्का दूर हो जावे। यहाँ भी वही अर्थ है। 'निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः' (९।१८) इस मनुपद्यके अनुसार यह सब कार्य स्त्रीको अमन्त्रक करने पड़ते हैं। इस प्रकार स्त्रियोंका वलिहरण भी अमन्त्रक (मनु. ३।१२१) ही होता है।

'सन्ध्योपासनमेव च' के स्थान 'सायम् उद्वासमेव च' पाठ भी है, वहां स्त्रियोंका सन्ध्यास्नान इष्ट है, कदाचित् 'सन्ध्योपासनमेव च' पाठ हो तो उससे भी स्त्रियोंका स्नान ही इष्ट है। जैसाकि—'सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी' (५।१४।४६) इस रामायणके पद्यमें टीकाकारोंने स्नान ही अर्थ किया है। यह हम पहले पृ. १४०-१४३ में स्पष्ट कर चुके हैं।

शेष रहा—'अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा' उसका भाव यह है कि—स्त्री यज्ञकी हवि बनावे। 'अग्निहोत्र' हविका नाम भी हुआ करता है। देखिये—'तृतीया च होश्छन्दसि' (पा. २।३।३) यह वैदिक-सूत्र। यवाग्वा यवागूं वा अग्निहोत्रं जुहोति' यह उक्त सूत्रका उदाहरण है।

'कारकीय' पृ. (८) में स्वा.द.जीने भी यही उदाहरण दिया है। 'यवागूम्' यहाँपर कर्म हैं; यह 'अग्निहोत्र' का विशेषण है। ऐसी बात तभी सार्थक हो सकती है, जब 'अग्निहोत्र' का अर्थ 'हवि' हो; तभी 'जुहोति' की भी सार्थकता हो सकती है। नहीं तो पुनरुक्ति दोष हो सकता है। अब अर्थ हुआ कि—यवागूरूप हविको देवताके उद्देश्यसे अग्निमें डालता है।

'सिद्धान्तकौमुदी' में इसे स्पष्ट किया है। देखिये—'अग्निहोत्र'-शब्दोऽत्र 'हविषि' वर्तते; 'यस्य अग्निहोत्रम् अधिश्रितम् अमेध्यमापद्येत इत्यादि-प्रयोगदर्शनात्—अग्नये हूयते इति व्युत्पत्तेश्च। यवाग्वाख्यं हविः देवतोद्देशेन त्यक्त्वा प्रक्षिपति' (यहाँ 'अग्निहोत्र' शब्दका अर्थ हवि (यज्ञका चरु, शाकल्य) है, इस अर्थमें इसका प्रयोग भी देखा जाता है—जैसे जिसका अग्निहोत्र (अग्निका हव्य) पका हुआ अशुद्ध हो जावे'। क्योंकि—इसकी व्युत्पत्ति भी यही है—'अग्नये हूयते इति अग्निहोत्रम्' (अग्निमें जिसे डाला जाता है), तब पतिकेलिए हवि तैयार करना, यह 'अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा' का अर्थ हुआ।

अथवा 'अग्निहोत्रकी सेवा करे' अर्थात् पत्नी अग्निको जलावे, उसका ध्यान रखे, अग्निको बुझने न दे। अब वादी बोले—इस अर्थमें हमारी

पक्षहानि क्या है? इसमें स्त्रीका हवन अभीष्ट नहीं; क्योंकि—मनुजी तो 'न वै कन्या न युवतिः...होता स्याद् अग्निहोत्रस्य' (११।३६) पद्यसे विवाहिता एवं अविवाहिता स्त्रीमात्रका होतृत्व निषिद्ध करते हैं। यह उनके प्रमाणोंसे पहले सिद्ध किया जा चुका है।

अन्य प्रमाण भी देखिये—'नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैः' (९।१८) 'नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञः' (५।१५५) 'स्त्रीणां...गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया' (२।६७)। इत्यादि। तब उक्त पदसे स्त्रीकी अग्निस्थानकी ही सेवा इष्ट हुई, होम नहीं। इसलिए आश्वला.गृ.में कहा है—'अग्निहोत्रादि गृह्यं परिचरेत् (शुश्रूषेत) स्वयं, पत्नी अपि वा पुत्रः, कुमारी अन्तेवासी वा' (१।७।१) इसकी व्याख्यामें वादीके परममान्य श्रीहरदत्ताचार्य लिखते हैं—

'गृह्यमग्निं परिचरेत्। परिचरणं-शुश्रूषा, समिन्धनादिः। होमश्च पत्नी कुमारी-व्यतिरिक्तानाम्' (गृह्य-अग्निका परिचरण अर्थात् सेवा, जलाना आदि करे। होम पत्नी तथा कुमारीसे भिन्न करें।) 'तयोस्तु संमार्जनम्, उपलेपनं, हविरुपकल्पनं समिन्धनमित्यादि। पुत्रस्यापि उपनीतस्य ग्रहणम् (पत्नी तथा कुमारीका कार्य तो गृह्याग्निके स्थानका झाड़ना-बुहारना, उस स्थानका लीपना, यज्ञकी हवि तैयार करना, अग्निको प्रदीप्त करना एवं उसे जलाना—यही उनका कार्य है। पुत्र भी उपनीत हो तो होम करे, नहीं तो कोई छोटी-मोटी वस्तुएं उठा दिया करे)।

जब यह श्रीहरदत्ताचार्यका स्पष्ट लेख है—'तब 'जिव्री' इस मन्त्रके हरदत्ताचार्यके अर्थसे वादी अपना पक्ष कैसे सिद्ध कर सकता है? वैसा न माननेवाले पर वैसा अर्थ लाद देना—यह वादीकी धींगाधींगी है।

इससे स्पष्ट है कि—पत्नीका काम उस अग्निकी परिचर्या (देखरेख) है कि—अग्नि बुझ न जावे। इसलिए आश्व.गृ.में कहा है कि—यदि गृह्य-अग्नि बुझ जावे; तब पत्नी उपवासरूप प्रायश्चित्त करे, क्योंकि

यह कार्य उसीका है। 'न गृहं गृहामित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते' (घर-वालीका नाम ही गृह है, और यह गृह्य-अग्नि उसीके नामसे होनेसे बुझने आदिपर प्रायश्चित्त भी उसीको करना पड़ता है। 'यदि तु उपशाम्येत्, पत्नी उपवसेद्-इत्येके' (आश्व. १।७।३)

यदि अग्नि बुझ जाये; तो पत्नी उपवास करे। इससे स्पष्ट है कि—उस गृह्याग्निको बुझने न देना, यही उसकी अग्निहोत्रकी शुश्रूषा वा परिचर्या (सेवा) है। वादी श्रीहरदत्तका मत बार-बार देता है; पर उसने हमारे पक्षकी सिद्धि करके वादीका पक्ष खण्डित कर दिया है।

अग्नि बुझ न जावे, इसकेलिए पत्नीको उसका ध्यान रखना पड़ता है। इसलिए आश्व.गृ.में कहा है—'नित्यानुगृहीतः स्यात्' (१।७।२) इसपर श्रीहरदत्त लिखते हैं—'अयमग्निर्नित्यपरिगृहीतः स्यात्, यजमानेन तत्पत्न्या वा, अन्यतरोऽवश्यमग्नि-समीपे तिष्ठेत्' (इस अग्निका सदा ध्यान रखा जावे; पति-पत्नीमें एक तो अग्निके पास सदा रहे ही)।

पतिका इधर-उधर आना-जाना लगा रहता है, तो गृहस्वामिनी पत्नीको उस गृह्य-अग्निकी देख-रेख करनी पड़ती है। यही उसकी 'अग्निहोत्रकी शुश्रूषा' है। इसलिए श्रीरामने अपनेसे पीडित पिताका विचार करके अपनी माता कौशल्याको सुमन्त्रके द्वारा सन्देश भिजवाया था कि—'अग्न्यगारपरा भव' (२।५८।१८) यहाँ 'अग्निहोत्रपरा भव' न कहकर 'अग्न्यगारपरा भव' यह कहलवाया। इस कहनेसे 'अग्निशाला-की शुश्रूषा' अर्थात् अग्निकी देख-रेखमें रहना कि—अग्नि न बुझे, तथा अग्निगृहकी शुद्धि-लीपना आदि ही अपेक्षित है।

जब विवाह हो जानेपर पति अग्निहोत्र स्वीकार करता है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि—उसकी अग्नि बुझे नहीं, सदा जलती रहे; तभी उसका शुभ होता है, नहीं तो उसके अशुभ होनेकी सम्भावना रहती है। तब उस अग्निकी रक्षाकेलिए उस पुरुषको स्वयं सतर्क रहना पड़ता है। यदि वह अन्य कार्योंकी अधिकतामें ऐसा न कर सके; तो

उसकी मुख्य परिचारिका पत्नीको ही अग्निकी रक्षाका मुख्य अधिकार हो जाता है। अग्निके बुझनेपर प्रायश्चित्तस्वरूप उपवास भी उसीका कर्तव्य हो जाता है।

फलतः 'अग्न्यगारपरा भव' का अर्थ अग्निगृहकी रक्षा अर्थात् पहरेदारी ही हुई। इसीलिए रामायणके भूषण-टीकाकार श्रीगोविन्दराजने भी उक्त पद्यकी व्याख्यामें कहा है—'यागशालारक्षिका भव'।

यही अर्थ केवल श्रीहरदत्त तथा श्रीगोविन्दराजने ही नहीं किया; प्रत्युत धर्मशास्त्रोंका भी इसमें अनुग्रह है। देखिये—'कात्यायनस्मृति' 'पत्न्या चाप्यवियोगिन्या शुश्रूष्योऽग्निः विनीतया। सौभाग्यवित्ताऽवैधव्य-कामया भर्तृभक्तया' (१८।३) यहां पत्नीको अग्निकी सेवाकेलिए आदेश दिया गया है। इससे उसकी सौभाग्य-धन आदिकी वृद्धि बताई गई है। यहाँ स्त्रीको होम नहीं बताया गया है।

अपनी अनुपस्थितिमें तो पति अग्निरक्षाका कार्य पत्नीको सौंपे ही, और होमका कार्य ऋत्विक्को सौंपे। देखिये इसपर कात्यायन-वचन—'निक्षिप्याग्नि स्वदारेषु परिकल्प्य-ऋत्विजं तथा। प्रवसेत् कार्यवान् विप्रो वृथैव न चिरं क्वचित्' (१९।१) (अग्निकी रक्षा स्त्रीके जिम्मे सौंपे, और परदेसमें कार्यवश जावे, पर व्यर्थ देरी न करे) यहां 'कार्यवान् प्रवसेत्' यह पतिकी अनुपस्थितिका उपलक्षण है।

सो स्त्रीको वहाँ पतिकी अनुपस्थितिमें बैठनामात्र पड़ता है, पतिकी अनुपस्थितिमें होम ऋत्विक् करता है। पति-पत्नी दोनोंकी अनुपस्थितिमें तो ऋत्विक्का होम व्यर्थ होता है। इसलिए ज्येष्ठ-पत्नीको तो वहाँ अवश्य रहना पड़ता है; क्योंकि—उसका काम घरमें ही रहना होता है; बाहरका काम करना नहीं। इसीलिए स्मृतिकार श्रीकात्यायनने कहा है—

'असमक्षं तु दम्पत्योः, होतव्यं न ऋत्विगादिना। द्वयोरप्यसमक्षं तु भवेद् हुतमनर्थकम्' (२०।१) इसका तात्पर्य पूर्व कह चुके हैं। इसीलिए

जब महाराज दशरथ राजकार्य वा पीड़ा आदिके कारण अग्निगृहमें अनुपस्थित रहते थे, तब वादीके स्वा.द.के मान्य मनु (७।७८)-पद्यके अनुसार उन्होंने ऋत्विजोंका वरण कर रखा था; तब ज्येष्ठ-पत्नी तथा गृहपत्नी होनेके नाते वहाँपर कौशल्याको बैठना पड़ता था। होम वहां वह (पत्नी) स्वयं स्वतन्त्र करनेमें अधिकृत न होनेसे ऋत्विजोंसे कराती थी। जैसा कि रामायणमें स्पष्ट कहा है—

'अग्निं जुहोति स्म तदा (कौशल्या) मन्त्रवत् कृतमङ्गला' (वाल्मी. २।२०।१५) यहां 'जुहोति' अन्तर्भावितण्यर्थ है। जिसका अर्थ है कि-कौशल्या ऋत्विक्से हवन करा रही थी (ऋत्विजा हावयति स्म)। इसीकी साक्षी स्वयं वाल्मीकि-मुनिने इसके साथवाले पद्यमें दी है— 'प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्त:पुरं शुभम्। ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्' (२।२०।१६) यहांपर 'हावयन्तीं' यह स्पष्ट णिजन्त है। अतः इसके साथवाले पूर्वपद्यमें भी 'जुहोति स्म' का अर्थ 'अन्तर्भावितणिजर्थ' 'हावयति स्म' है। इसलिए रामाभिराम-टीकाकारने भी उक्त दोनों पद्योंकी व्याख्यामें लिखा है—

'अग्निहोत्रं मन्त्रवद् जुहोति स्म ज्येष्ठ-पत्नीत्वाद्। ऋत्विजा इति शेषः। तद् आह—हावयन्तीमिति (२।२०।१५-१६)। केवल रामाभिराम-ने नहीं, शिरोमणि-टीकामें भी यही बात लिखी गई है-'हावयन्तीम् ब्राह्मणैरिति शेष:। एतदनुरोधेन पूर्वत्र' 'जुहोति' इत्यस्य 'हावयति' इति-अर्थ:' यही बात भूषण-टीकामें भी कही गई है—जुहोति-हावयति। अतएव 'हावयन्तीम्' इति वक्ष्यति-ब्राह्मणैरिति शेष:'।

फलतः उक्त वादीसे उपक्षिप्त पद्यमें 'अग्निहोत्रकी शुश्रूषा' अग्निहोत्र-स्थानकी मार्जन-लीपना आदि द्वारा शुद्धि, अग्निहोत्रकी अग्निको बुझने न देना, उसके पात्रोंकी शुद्धि, अग्निका समिन्धन आदि इष्ट होता है। तभी इसकी स्पष्टता 'व्यासस्मृति' में भी की गई है कि—

'पत्युः पूर्वं समुत्थाय देहशुद्धिं विधाय च। उत्थाप्य शयनाद्यानि कृत्वा वेश्मविशोधनम्। मार्जनैर्लेपनैः प्राप्य साग्निशालां स्वमङ्गणम्। शोधयेद् अग्निकार्याणि (पात्राणि) स्निग्धानि-उष्णेन वारिणा। प्रोक्षणै-रिति तान्येव यथास्थानं प्रकल्पयेत्। पात्राणि (शूर्प-अग्निहोत्रहवणी, स्रुच्-स्रुव, उलूखल-मुसल; दृषदुपलानि सर्वाणि) न कदाचिद् वियोजयेत्। शोधयित्वा तु पात्राणि पूरयित्वा च धारयेत्' (२।१६-२२) यही स्त्री-द्वारा अग्निहोत्रकी शुश्रूषा है, होम नहीं। उसका कारण यह है-'न पृथग् विद्यते स्त्रीणां त्रिवर्गविधिसाधनम्' (व्यासस्मृति ३।१८)। 'अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुष प्रधाना अनग्निः' (अग्निहोत्रानधिकारिणी) (५।१-२) यहाँ वसिष्ठ-वचनमें स्त्रीको अस्वतन्त्र और पुरुष-प्रधान कहा है। और उसे अग्निहोत्रकी अनधिकारिणी बताया है। 'नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो' (मनु. ५।१५५) (स्त्रीको स्वतन्त्रतासे यज्ञका अधिकार नहीं है)।

यदि पत्नीको स्वतन्त्रतासे यज्ञका अधिकार होता; तो फिर उसको पतिकी मृत्युमें भी अग्निहोत्र करना पड़ता। पर पतिके मरनेपर पतिकी अग्नि तथा पतिके यज्ञपात्रादि घरसे ले जाये जाते हैं। उन पात्रोंको पतिके उन-उन अङ्गोंपर रखकर उसे उस यज्ञाग्निसे जलाया जाता है। फिर वह अग्नि समाप्त हो जाती है—आश्व.गृ.में कहा गया है—'अथैतां दिशम् अग्नीन् नयन्ति यज्ञपात्राणि च' (४।२।१) 'अथैतानि पात्राणि योजयेत्' (४।३।१)। 'दक्षिणे हस्ते जुहूं...स्फ्यं, अग्निहोत्रहवणीं, ग्राव्णः, स्रुवौ पात्रीं, चमसं, शम्यां, अरणीम्, उलूखल-मुसले शूर्पं-' इत्यादि (४।३।२-१५)

इसी तरह 'आग्निवेश्यगृ.' (३।४।२) में भी कहा है। 'लाटचायन-श्रौतसूत्र' (८।८।१८-३२) में भी ऐसा ही वर्णन है। इसी प्रकार 'कात्यायनस्मृ.' (२१ खण्ड) में भी ऐसा ही है। उस अग्निहोत्रकी उस अग्निसे मृतक-पतिके जला देनेपर पत्नी पृथक् अग्न्याधान नहीं कर सकती। इसलिए वह पुनर्विवाह भी नहीं कर सकती। तब पत्नीका

स्वतन्त्र अग्निहोत्रका अधिकार न रहा।

परन्तु पति पत्नीके मर जानेपर उस अग्निसे पत्नीको जलाकर फिर यदि अन्य अग्निका आधान करना चाहे, तो या तो अन्य-स्त्रीसे विवाह करता है, या फिर वानप्रस्थाश्रममें चला जाता है। क्योंकि-पुरुषको अनाश्रमी नहीं रहना पड़ता। मनुस्मृतिमें कहा है-'भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाऽग्नीन् अन्त्यकर्मणि। पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च' (मनु. ५।१६८) 'अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः' (दक्षस्मृति ५।१६८) अन्य स्त्री इसलिए लेनी पड़ती है कि-यह होती है गृह्याग्नि। गृह्याग्नि-का सम्बन्ध 'गृह' से होता है। वास्तविक गृह स्त्री होती है-'गृहिणी गृहमुच्यते'। पर स्त्रीका स्वतन्त्र अधिकार न होनेसे वह अन्य पति नहीं ले सकती। गृह्याग्निका पतिसे सीधा सम्बन्ध नहीं। पर वह पत्नी लेकर गृह्याग्निका आधान कर सकता है।

इससे द्विज-पुरुषका ही यज्ञविषयवाले वेदमें अधिकार सिद्ध है, स्त्री-शूद्रका नहीं। 'बोधायनीय-पितृमेधसूत्र' में कहा है-'मृतपत्नीकः क्रतून् आहरिष्यन् जायामुपयम्य अग्नीन् आदध्यात्। विज्ञायते च-'तस्माद् एको द्वे जाये विन्दते। तस्माद् एको बह्वीर्जाया आदत्ते इति च' (जिसकी पत्नी मर चुकी हो, और उसने यज्ञोंको करना हो; अन्य कुमारीसे विवाह करके उसके घरसे लाई हुई अग्निका वर अपने घरमें आधान करे। ब्राह्मणभागमें कहा गया है-'इस कारण एक पुरुष दो वा बहुत स्त्रियोंका ग्रहण करता है)।

इससे पुरुषकेलिए स्त्रीके देहान्त हो जानेपर पुनः अग्न्याधान तथा पुनर्विवाह कहा है। परन्तु स्त्रीकेलिए कहा है—'मृतपतिकायाः औपासने पितृमेधः' (२।४।३) 'नहि अस्याः अपतित्वात् पुनरग्न्याधेयं विद्यते। विज्ञायते च-तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते' (२।४।४) (जिस स्त्रीका पति मृत्युको प्राप्त हो गया हो; तब उसका पितृमेध (अन्त्येष्टि) करना पड़ता है। उस स्त्रीके पति न होनेसे उसका पुनः अग्निका आधान नहीं

हुआ करता। ब्राह्मणभागमें कहा हैं कि-एक स्त्रीके दो पति नहीं हो सकते।)

इससे स्त्रीके विधवा हो जानेपर जहां उस स्त्रीका पुनर्विवाह निषिद्ध हो रहा है, और पतिकी पत्नीका देहान्त हो जानेपर उसकी पुनः अग्न्याधानकी इच्छा होनेपर जहां पुनर्विवाह सिद्ध हो रहा है, वहां पत्नीका स्वतन्त्रतासे अग्न्याधान निषिद्ध सिद्ध हो रहा है। परन्तु पुरुषका अग्न्याधान पत्नीके निधनपर पहली अग्नि समाप्त करके द्वितीय स्त्री करके बताया जा रहा है। अथवा स्त्रीके वियोगमें अन्य स्त्रीसे विवाहकी इच्छा न होनेपर श्रीरामकी भांति सुवर्णमयी-सीताकी रखनेकी भांति उसके प्रतिनिधित्वसे भी हो सकता है। परन्तु उस स्त्रीका पतिसे वियोग वा आत्यन्तिक वियोग होनेपर अग्न्याधान किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। इसमें उदाहरण भी सीताका ही समझ लीजिये।

वाल्मीकिके आश्रममें श्रीसीताका पतिके वियोगमें कहीं भी अग्न्याधान नहीं बताया गया। इससे स्पष्ट है कि-कौसल्याको श्रीरामद्वारा कहे गये 'अग्न्यगारपरा भव' इस वाक्यमें, अथवा 'अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा' आदिमें पतिके जीवनमें भी उसकी अनुपस्थितिमें पतिकी अग्निकी रक्षा ही इष्ट हुआ करती है, होम नहीं। 'अग्निहोत्र' का अर्थ भी 'अग्न्यगार' है। जैसे कि महाभारतमें—

'अग्निहोत्रं पितुर्भीतः सहसा प्रविवेश ह। स वै प्रविशमानस्तु शूद्रेणान्धेन रक्षिणा। निगृहीतो बलाद् द्वारि सोऽवातिष्ठत पार्थिव!' (वनपर्व १३६।१७-१८)। यहाँ निर्दिष्ट व्यक्तिका 'अग्निहोत्रमें प्रवेश' बताया गया है। 'अग्निहोत्र' का 'अग्न्यगार, अग्निगृह' अर्थ होनेपर 'अग्निहोत्रमें प्रवेश' उस पुरुषका उपपन्न होता है। तब उस 'अग्निहोत्र-अग्न्यगार' द्वारपर ठहरे हुए शूद्र पहरेदारने उसे अग्निगृहके प्रवेश-द्वारपर ही पकड़ लिया। शूद्रकी ड्यूटी अग्न्यगारके अन्दर न होकर बाहर

दरवाजेपर हुआ करती है।

फलतः 'अग्निहोत्र' का अर्थ अग्न्यगार होनेसे 'अग्निहोत्रस्य शुश्रषा' में स्त्रीका अग्निस्थानकी मार्जन-लेपन आदि सेवा ही अभीष्ट होनेसे वादीका अर्थ कट गया। इसलिए वादीने 'अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा' में 'शुश्रूषा' का अर्थ छोड़ दिया। उक्त अर्थ है भी ठीक ही, यदि यहाँ होम अर्थ इष्ट होता, 'अग्निहोत्र' शब्द भी पर्याप्त था। यहाँ 'शुश्रूषा' शब्द अनावश्यक था। पर 'अग्निहोत्र' का 'अग्न्यगार' अर्थ होनेसे यह आवश्यक है।

इस अग्न्यगारकी रक्षा करने अर्थसे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं। इस प्रकार अग्निके परिचरण' में भी यही अर्थ इष्ट हैं कि-अग्निकी सेवा, अग्नि बुझे नहीं, आदि, इससे स्त्रीको वेदाधिकार सिद्ध नहीं हो जाता।

पृ. ७७ 'काठकगृ.' के कुछ वचन लिखते हुए वादी कहता है-'तान् (शमी-लाजान्) अविच्छिन्दती' जुहोति (वधूः) 'अर्यमणं नु देवं...सो अस्मान् देवो अर्यमा प्रेतो मुञ्चतु नाऽमुष्य गृहेभ्यः स्वाहा' 'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिपोषणम्...मृत्योर्मुक्षीय माऽमुष्य गृहेभ्यः स्वाहा'।

इन मन्त्रोंमें भगवान्से प्रार्थना है कि-'पतिसे कभी वियोग न हो'। इस लाजाहोमका उत्तर पूर्व-जैसा है। यह सौत्रमन्त्र है. वेदमन्त्र नहीं। इसमें उस विवाह्यमान पतिका नाम लेना पड़ता है कि-मैं पितृगृहसे तो छूटूं, पर इस पतिगृहसे न छूटूं। इससे वादिसम्मत विधवा-विवाहकी जड़ ही कट गई। जब उसके पतिका तथा उसके घरका नाम है, इससे यह सूचित होता है कि-वह स्त्री कथञ्चित् विधवा भी हो जाय; तो उस पतिका घर उसे छोड़कर अन्य पतिके घर न जाना पड़ेगा। नहीं तो प्रतिज्ञा-भङ्गवश यह पाप होगा। क्योंकि-इन मन्त्रोंमें पितृगृह तो छोड़ना कहा है, पर निर्दिष्ट-नामवाले पतिके घरका छोड़ना; और फिर पिताके घरमें वापिस जाना नहीं कहा है। और फिर यहाँ अग्निमूर्ति-द्वारा

वादीके अनुसार ऐसी प्रार्थना भगवान्से करनी पड़ती है-इससे मूर्तिपूजा भी 'वैदिक' सिद्ध हो गई।

पृ. ७८-७९ आगे कई 'ऊर्जं बिभ्रती, गृहाणामायुः, इरां वहतो, येषां मध्ये अधिप्रवसन्ना, सुनृतावन्तः स्वधावन्तः, उपहूता इह गावः' उपहूता भूरिधानाः' आदि मन्त्र वादीने स्त्रियों-द्वारा बुलवाये हैं, इनसे वादीने स्त्रियोंकी वेदाध्ययनादिकी सिद्धि मानी है, इसपर वादी स्पष्ट बतावे कि-क्या यह मन्त्र उसके वेदोंमें आते हैं? यदि हाँ; तो उन्हें अपने वेदोंसे दिखलावे।

यदि यह मन्त्र उसके अनुसार शाखाओंके हैं, तब वादी शाखाके मन्त्रोंको वेद मानता है? यदि हाँ; तो उसका यह सैद्धान्तिक-पराजय हो गया; क्योंकि-उसके सम्प्रदायमें वेदशाखाएं वेद नहीं होतीं। यदि वादी वेदशाखाओंको वेद नहीं मानता; तब वह शाखाओंके मन्त्रोंसे स्त्रियोंका वेदाधिकार कैसे सिद्ध कर सकता है? हमारे सिद्धान्तानुसार तो 'स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' इस स्मार्त-वचनकी व्यवस्थाके अनुसार यह विवाह-सम्बन्धी मन्त्र स्त्रियोंकेलिए अपवाद हैं। तब अपवादवचनोंसे स्त्रियोंका औत्सर्गिक वेदाध्ययन सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि-'न च उत्सर्गस्य अपवादाद् निवृत्तिः' (योग.साधन. १३) (उत्सर्ग अपवादसे नहीं हट जाता)।

'याज्ञे कर्मणि प्रयोगनियमः' इस महाभाष्यके कथनानुसार याज्ञिक-कर्ममें प्रयोगका नियम तो होता है, अर्थज्ञानका नियम नहीं। हमने यह भी लिखा था कि-पुरोहितादि वे विशेष मन्त्र उस विवाह्यमान-स्त्रीसे बुलवाते हैं, स्त्रियोंका विवाह उनकी द्विजकल्पता करता है-यह कई बार हम सप्रमाण कह चुके हैं। और फिर जैसा कोई बड़ा व्यक्ति बोलता जावे; छोटा बच्चा भी उसके अनुसार बोलता जावे; इसमें कोई भी आक्षेप नहीं हो सकता। स्वा.द.का भी वचन हम पहले दे चुके हैं कि-वे भी यज्ञमें शूद्रकेलिए भी कई मन्त्र पुरोहितादि-द्वारा बुलवाते हैं, कमसे

कम उस मन्त्रकी क्रियाओंको तो कराते ही हैं। देखे वादी अपनी 'संस्कारविधि' की भूमिका। तब इसमें हमारी वादीसे आक्षिप्त 'टाल-मटोल' तो कुछ भी सिद्ध न हुई।

पृ. ८१ 'लौगाक्षिगृ.' के 'आशासाना सौमनसं' के प्रयोगमें कुछ भी नवीनता नहीं है—स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' यह बताया जा चुका है। 'अग्नेरनुव्रता' का 'आहवनीयादिपरिचरणशीला अग्निकी रक्षा करनेकी सेवा वा व्रत स्त्रीके जिम्मे होता है—यह कई बार बताया जा चुका है। सो 'अग्निका परिचरण' यही होता है कि—'अग्नि बुझने न पावे'। उसके हवनार्थ पतिको स्त्री चरु आदि जुटा दे, नापकी लकड़ियाँ बना दे—यही 'अग्निका परिचरण' होता है।

पृ. ८२ 'गन्धर्वं पतिवेदनम्'...गन्धर्वः प्रेतो मुञ्चतु माऽमुष्य गृहेभ्यः स्वाहा' 'त्र्यम्बकं...माऽमुष्य गृहेभ्यः स्वाहा' इस लौगाक्षिगृ.के मन्त्रका उत्तर काठकगृ.के अनुसार है। गत पृ. ६५८ देखो।

पृ. ८४ 'अपश्यं त्वां प्रजया पुत्रकामा' आदि मन्त्रोंमें 'विवाहस्तु समन्त्रकः' के अनुसार कुछ नवीनता नहीं है। विवाहसे वह द्विजकल्प हो जाती है; अतः विवाह तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाले गर्भ आदिके संस्कारमन्त्रोंमें स्त्री भी भाग ले सकती है।

पृ. ८५ 'शांखायनगृ. 'सायं प्रातर्वैवाह्यमग्निं परिचरेयाताम्' (१।१७। २१६) विवाहवाली अग्निका पति-पत्नी दोनों द्वारा परिचरण कहा है। स्त्रीका परिचरण अग्निसंरक्षण पहले हम बता चुके हैं; पुरुष उसमें स्त्रीको साथ बैठाकर स्वयं होम करेगा। यज्ञिय, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भी होते हैं—यज्ञिय पाश भी होते हैं—'यज्ञिया पाशाः' (पार. १।२।८) यज्ञिय शब्द दोनोंकेलिए समान होनेपर भी दोनोंकी यज्ञियता समान नहीं होती। इसी प्रकार वहां भी समझना चाहिये।

पृ. ८६ 'पुमांसौ मित्रावरुणौ...पुमान् मयि संवर्तताँ स्वाहा' यह तो

मन्त्र वादीके वेदका ही नहीं, तब उसका पक्ष कट गया। अथवा अपने अनुसार शाखामन्त्रोंको भी वह वेदमन्त्र मानता है; तो उसका सैद्धान्तिक पराजय हो गया। यहां 'पुमान्' (mail) की प्रार्थना है; तब लड़का-लड़की भी समता अवैदिक सिद्ध होनेसे वादीका तदर्थ प्रयास खण्डित हो गया। 'विवाहस्तु समन्त्रकः' के अनुसार हमारे पक्षमें तो थोड़ी-सी भी ठेस नहीं पहुंचती।

'मानवगृ.' के 'अर्यमणं नु देवं...प्रेतो मुञ्चतु माऽमुतः' यह सौत्र-मन्त्र हैं। इनसे वादीकी पक्षसिद्धि कुछ भी नहीं। पहले स्पष्टतासे प्रत्युत्तर दिया जा चुका हैं।

पृ. ८७ 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु...धाता गर्भं दधातु ते'...'तं ते गर्भं हवामहे' आदि १२ मन्त्र तो शब्दके कारण पुरुषके पढ़नेके हैं, स्त्रीके नहीं; तब इससे हमारे पक्षकी क्या हानि है—यह वादी ही बतावे?

पृ. ८७-८८ वाराहगृ. के 'अर्यमणं नु देवं'...इतो मुञ्चतु' आदिके मन्त्र भी सौत्र हैं, इनका प्रत्युत्तर पूर्व-जैसा है।

पृ. ८८ जैमिनिगृ. 'ध्रुवोसि ध्रुवाऽहं पतिकुले भूयासम्। अमुष्य इति पतिनाम गृह्णीयात्' यह भी सौत्रमन्त्र हैं, और विधवा-विवाहके पक्ष मन्त्र कतरनेवाले हैं। इससे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं।

पृ. ८८-८९ वादी लिखता है—'प्रेक्षकान् अनुमन्त्रयते-'सुमङ्गलीरियं वधूः इमां समेत पश्यत' अर्थात् वर यज्ञमण्डपमें उपस्थित दर्शकोंको वधूको देखनेकेलिए निमन्त्रित करता है' यह लिखकर फिर वादी कहता है—वेदों, ब्राह्मणों, श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रोंमें कहीं स्त्रीके पर्देका विधान नहीं है।'

पर्देका विधान वैदिक, सौत्र, एवं शास्त्रीय है। इस विषयमें 'आलोक' (१०) पृ. ८९३-९३७ में वादी देखे, उसका समाधान सम्यक्तया हो जावेगा। 'ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम्' यह सौत्रमन्त्र है। अतः यह वादीका

व्यर्थका प्रयास है। 'सौभाग्यदाऽहं श्रीमते' मैं पतिकुलमें दृढा होकर आप (पति) के सौभाग्यका कारण बनूं।' 'यह पति कैसे कह सकता है ?' यदि इस सौत्र-मन्त्रको स्त्री भी कहे; तथापि वादीके अनुसार वेदका नहीं है। और पति भी स्त्रीकी ओरसे कह सकता है। इनमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं हो जाती।

पृ. ६० 'अरुन्धत्यसि रुद्धाऽहं पत्या भूयासम्' (जैमिनिगृ. १।२२) मैं इन पतिदेवके साथ सदा बन्धी रहूं।' इस सौत्रमन्त्रसे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं; न वादीके पक्षकी कुछ सिद्धि है, क्योंकि-यह वेद-मन्त्र तो नहीं। हो भी सही, फिर भी हमारी कुछ भी हानि नहीं; 'स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रक:' इसे पहले स्पष्ट कर चुके हैं। वादीके मान्य हारीत भी इनमें उपपत्ति देते हैं—'नहि शूद्र-समा: स्त्रिय:। नहि शूद्रासु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्या जायन्ते। तस्मात् स्त्रियो मन्त्रत: संस्कार्या:' (अर्थात् स्त्रियां शूद्रके समान नहीं होतीं, कि-उनके विवाहमें मन्त्र न पढ़ा जावे, वेदश्रवणका शूद्रको तो अधिकार नहीं है, पर स्त्रीको विवाह होनेपर द्विजकल्प हो जानेसे उसे वेदमन्त्र सुननेका निषेध नहीं। क्योंकि-शूद्राओंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पैदा नहीं होते। इस कारण स्त्रियोंको मन्त्रसे विवाहमें संस्कार करना चाहिये। यहाँ 'जायन्ते' इस लिङ्गसे उत्पत्तिप्रकरण होनेसे 'संस्कार्या:' का अर्थ 'विवाह्या:' है कि-उनका मन्त्रोंसे विवाह कराओ। और फिर यह वचन विधवा-विवाह निषेधक होनेसे वादीके पक्षको ठेस पहुंचानेवाला है।

और फिर पत्नी भी स्त्री 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (४।१।३३) विवाह एवं यज्ञमें होती है; अत: विवाहके वा यज्ञके कुछ मन्त्र आ जावें; तब ऋत्विक् वा पतिके सहारे वह बोल सकती है। यह कई बार कहा जा चुका है; पर वादीको पुनरुक्तिदोष करनेका बार-बारका व्यसन है।

कई अधकचरे दयानन्दी यह समझते हैं कि-हमारे इस दयानन्दी लेखकने बहुतसेमन्त्र स्त्रीपठनीय संगृहीत कर डाले हैं; अत: आर्यसमाजी-

पक्ष इसमें ठीक है। इसपर यह जानना चाहिये कि-एक कुलकी एक ही वेदशाखा होती है, और उसका एक ही गृह्यसूत्र होता है। सो एक कुल उसी अपने एक ही गृह्यसूत्रका प्रयोग करता है। उसमें प्राय: कर्म-काण्डके सौत्रमन्त्र ही अधिक हैं, वा अन्य शाखाओंके होते हैं। इसके मुताबिक वादीके इष्ट मन्त्र बहुत थोड़े बचते हैं। वे 'स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रक:' के अनुसार अपवाद-रूप हो जाते हैं; अपवादसे उत्सर्गका बाध नहीं हो जाता। इस विषयमें हम पूर्व लिख चुके हैं। इस विषयमें पृ. २४८ देखो।

चतुर्थ अध्याय (स्मृतिवचनविमर्श)

पृ. ६१-६५ आगे वादी स्मृतियोंके वचन देता है, और कहता है—'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी। अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत् सदा' (जाबाल) (मनु. २।१३) की कुल्लूकभट्टकी व्याख्यासे वादीने यह वचन उद्धृत किया है। (श्रुति एव स्मृतिके विरोधमें श्रुतिका ही वचन ठीक होता है। विरोध न होनेपर स्मार्त कर्म ही सदा वैदिककी भान्ति समझना चाहिये)।

पर वादी याद रखे कि-मनुस्मृतिकेलिए लिखा गया है-'य: कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तित:। स सर्वोभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स:'(२।७) (मनु सर्वज्ञान रखनेवाले हैं; अत: उनने जो जिसके-लिए धर्म कहा है; वह सब वेदोंमें कहा है) यह मनुस्मृतिके प्रवक्ता भृगुने कहा है; और यह ठीक है। तब वादी मनुके सुप्रसिद्ध और प्राचीन विद्वानोंसे अनुमोदित वचनोंको वेदविरुद्ध कहनेका साहस कैसे कर सकता है ?

कई थोड़ेसे मन्त्र दयानन्दी-वादीने अपनी 'नोटबुक' में संगृहीत कर रखे हैं, और अर्थ भी उनका भगवती-श्रुतिसे बलात्कार करके अपने सम्प्रदायानुकूल कर रखा है; पर यह पक्ष उसका गलत है। वहां वह अर्थ उनका होता नहीं। तब इन लोगोंका स्मृतिवचनोंको 'वेदविरुद्ध' कह

देना यह इनका 'तकियाकलाम' है; अतः वह ग्राह्य नहीं। हम उनका समाधान कई बार कर चुके हैं। 'विरोधे त्वनपेक्षं स्याद् असति ह्यनुमानम्' (मीमांसा १।३।३) इस सूत्रके अनुसार श्रुतिसे साक्षात् विरोध न होनेसे उनको वैदिक ही समझना चाहिये।

जो मनुस्मृति डंकेकी चोटसे 'या वेदवाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वाः ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः' 'उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यानि अतोऽन्यानि कानिचित्। तानि अर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च' (१२।९५-९६) इन वचनोंसे स्वयं वेदविरुद्ध वचनोंकी निन्दा करती है; वह मनुस्मृति भला स्वयं वेदविरुद्ध कैसे कह सकती है? तव वादीका यह कहना गलत है कि—वर्तमान-मनुस्मृतिमें भी वेदविरुद्ध वचन हो सकते हैं?

जो कि–वादी अपने अनभिमत वचनोंको उसमें प्रक्षिप्त वचन कहता है; यह भी कथन निराधार है। उसमें कोई प्रमाण नहीं। हम इस विषयमें पूरा समाधान कर चुके हैं। जो उसमें वचन आर्यसमाजका सिद्धान्त काटने वाले हैं, वे वेदविरुद्ध नहीं हो सकते। उन अंशोंमें आर्य-समाजका मत ही वेदविरुद्ध है।

जोकि वह उसमें जन्मना वर्णव्यवस्था तथा स्त्रियोंकी स्थिति-आदिको वेदविरुद्ध कहता है, यह उसका कहना सर्वथा गलत है। वेदमें भी वर्णव्यवस्था जन्मना ही है, इस विषयमें 'आलोक' (४) (६) (८) पुष्पोंमें देखा जा सकता है। स्त्रियोंकी स्थिति जैसी वेदमें लिखी है—यह हम पहले कई बार स्पष्ट कर चुके हैं।

शेष है मनुस्मृतिमें मांसभक्षण आदि; यह भी देश, काल, पात्र आदि भेदसे हुआ ही करता है। यह स्वाभाविक है। स्वाभाविक वात भला कैसे विरुद्ध हो सकती है? जैसे आप लोग शिखाको धार्मिक सस्कार होते हुए भी गर्म देश-कालादिमें उसे कटवा दिया करते हैं; वैसे ही इसके व्यतिरेकमें शीत-बहुल देशमें वहांके निवासी मांसके विना

नहीं रह सकते। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जनता सर्वथा सात्त्विक हो भी नहीं सकती। सात्त्विक जनताको राजसिक और तामसिक जनता दबा दिया करती है, मार दिया करती है; तव क्या उन लोगोंको हम तिरस्कृत करके उनको अपनेसे अलग करके हिन्दुधर्मको नष्ट करवा दें। सो मांसादि भी उन्हीं राजसिक-तामसियोंकेलिए हुआ करता है। 'कांटेसे कांटा निकाला जाया करता है'। पाकिस्तानके विप्लवमें उन पाकिस्तानियोंका मुकावला, भी मांसभक्षी पाकिस्तानियोंने ही करके अपने धर्मको बचा लिया था।

वेदमें भी मांसकी प्रवृत्ति जनतामें स्वाभाविक वताई गई है। देखिये—'यथा मांसं यथा सुरा यथाऽक्षाः परिदेवने। यथा पुंसो वृषण्वतः स्त्रियाँ निहन्यते (गच्छति) मनः। एवा ते अघ्न्ये! मनोऽधिवत्से निहन्यताम्' (अ. ६।७०।१) (जैसे माँस, जैसे मद्य, जैसा जुएमें पुरुषोंका मन खिच जाता है; जैसे कामी पुरुषका मन स्त्रीमें खिच जाता है; इस प्रकार ऐ गाय! तेरा मन भी अपने वछड़ेपर खिच जाता है। इसी मन्त्रका अनुवाद मनुस्मृति (५।५६) में 'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' है। इसलिए 'मांसं' का निर्वचन 'मनोऽस्मिन् सीदति (गच्छति) (४।३।२) यह लिखा है। इसीके उदाहरणस्वरूप इतिहासमें पुरुषोंमें मांसकी प्रवृत्ति दीखती है।

इससे वेदने औचित्यवश विशेष देश-काल-पात्रवश-मांस-मद्य आदि तथा कामिनीमें कामकी स्वाभाविक प्रवृत्ति दिखलाई है; पर वह सात्त्विकोंकेलिए उत्तमतासे ग्राह्य नहीं। अतः रजोगुणियों तथा तमोगुणियोंको अपनी वा अपने जातिवालोंकी तथा अपने देशकी रक्षार्थ देशमें रखना पड़ता ही है। वलवान् होनेसे रक्षा भी वे ही कर सकते हैं। इससे सात्त्विकोंकेलिए अन्न भी कुछ बच जाता है। इन बातोंका विचार करके आपत्तिकालकी नीतिका अवलम्बन करके ऐसे प्रश्न परिहृत समझने चाहियें। वादी लोग तो केवल रोड़ा अटकानेकेलिए

ऐसी अप्रासङ्गिक बातें ला पटकते हैं।

पृ. ६५-६६ स्वा. आनन्दतीर्थका जो कि वादीने 'क्वचिद् ग्रन्थान् प्रक्षिपन्ति' आदि पद्य दिया है, इसके 'क्वचित्' पदसे वादीका पक्ष कट जाता है। श्रीआनन्दतीर्थस्वामी ही स्वयं 'अशुद्धमितिचेन्न शब्दात्' (वेदा. ३।१।२५). मांसकी व्यवस्था लिख गये हैं; और उन्होंने 'स्त्रीभिर्वेदान् विनाऽखिलम्' में स्त्रियोंका वेदाधिकार स्पष्ट शब्दोंमें निषिद्ध सिद्ध कर दिया है, पर अब वे ही स्वामी वादीके मतमें 'वेदानभिज्ञ' वन जावेंगे। वस्तुतः यह प्रतिपक्षियोंका महामोह है; केवल अपने पक्षके बचावकेलिए उनके यह 'गलत हथकण्डेमात्र' हैं। वादी यदि उनके मतको प्रक्षिप्त मानता है, तो दूसरा व्यक्ति भी वादीके वचनोंको प्रक्षिप्त मान सकता है।

पृ. ६७ आगे वादी अपने गलतपक्षकी सिद्धचर्थ मनुके कुछ प्रमाण देता है—'यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा' (९।१३०) इतने अंशकी कुल्लूकभट्टकी व्याख्या भी लिखकर वादी लिखता है—पुत्र अपने [पिताके] आत्माके समान होता है; जैसेकि—'आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि वाक्योंमें कहा गया है। कन्या भी पुत्रके समान होती है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति भी उसी प्रकार माताके अङ्गोंसे होती है, यह लिखकर आगे प्रतिपक्षी लिखता है—'इस मौलिक-सिद्धान्तका ध्यान रखनेसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि—वेदाध्ययन, यज्ञ करना-कराना आदि पुत्रोंकेलिए जैसे विहित है, वैसे ही कन्याओंकेलिए भी है।' फिर आगे वह लिखता है—

'मनु ९।४५ में एक दूसरे सिद्धान्तका उत्तमतासे प्रतिपादन है कि—'एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह। विप्राः प्राहुः तथा चैतद् यो भर्ता सा स्मृताङ्गना' अर्थात् पुरुष अकेला नहीं होता, किन्तु स्वयं, पत्नी और सन्तान मिलकर पुरुष बनता है। जैसेकि—शतपथब्रा.में कहा है—'अर्धो वा एष आत्मनः, तस्माद् यद् जायां न विन्दते, न यावत् प्रजायते, असर्वो

हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां विन्दते, अथ प्रजायते, तर्हि सर्वो भवति। तथा चैतद् वेदविदो वदन्ति—'यो भर्ता सैव भार्या स्मृता' इतना ही कुल्लूकभट्टका पाठ लिखकर वादी उसका अर्थ करता है—

'पत्नी पुरुषका आधा अङ्ग है, इसलिए जब तक पुरुष स्त्रीको नहीं पाता; जब तक उसकी सन्तान नहीं होती; तब तक वह अधूरा है। जब पत्नीको प्राप्त करके वह सन्तानोत्पादन करता है; तब वह पूरा बनता है। इसलिए वेद जानने वाले विद्वानोंने कहा है कि—जो पति है, वही पत्नी है, उनमें अन्तर नहीं।

यह लिखकर उसपर वादी टिप्पणी चढ़ाता है—'इस सिद्धान्तानुसार भी पुरुषोंका वेदाध्ययन-अध्यापन यज्ञ करना, कराना आदि कर्तव्य पुरुषोंके समान उनकी पत्नियोंके भी हैं"।

इन आर्यसमाजियोंने जितनी शास्त्रोंकी कतरब्योंत की है, शास्त्रोंके पूर्वापर छिपाकर उनसे अपने मनगढ़न्त सिद्धान्त निकाल कर अनुसन्धान-विरहित जनताकी आँखोंमें धूल झोंकी है, ऐसा अन्य किसीने भी नहीं किया। जब हम आर्यसमाजियोंसे हमारे पक्षके खण्डन करनेकेलिए मनु आदिके दिये प्रमाण देखते हैं; तब हम घबरा नहीं जाते। समझ जाते हैं कि—इन्होंने उनका पूर्वापर अवश्य छिपाया होगा। अतः हम निश्चिन्त रहते हैं।

स्वा.द.ने स.प्र.की भूमिकामें ठीक ही लिखा है—"आसत्ति' जिस पदके साथ जिसका सम्बन्ध हो; उसीके समीप उस पदका बोलना वा लिखना'। 'तात्पर्य' जिसकेलिए वक्ताने शब्दोच्चारण वा लेख किया है, उसीके साथ उस वचन वा लेखको युक्त करना। बहुतसे हठी दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि—जो वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेष कर मतवाले लोग। क्योंकि मतके आग्रहसे उनकी बुद्धि अन्धकारमें फंसके नष्ट हो जाती है"।

यहांपर भी वही बात है। प्रतिपक्षीने मनुके पूर्व दिये पद्यका उत्तरार्ध

छिपा दिया है, तथा उस उत्तरार्धकी कुल्लूककी व्याख्याको भी छिपा दिया है; इस पूर्वापर छिपानेसे ही यह लोग अनुसन्धानसे हीन जनतामें अपना प्रभाव डालकर उस मुसलमानकी तरह बन रहे हैं—जिसने 'मत पढ़ो निमाज़, जब हो नापाक' इन दो वाक्योंमें पिछले वाक्य 'जब हो नापाक' को छिपा दिया था।

सो प्रतिपक्षीने मनुके पूर्वपद्यके उत्तरार्धको छिपा दिया। वह है—'तस्या मात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्य: हरेत् श्रियम्' (९।१३०) इस पद्यमें दायभागका प्रकरण चला हुआ है कि—पिताके दाय (जायदाद) का स्वामी पिताके पीछे उसका पुत्र ही होता है, क्योंकि—उसने पिताका पारलौकिक-उद्धारकार्य करना होता है, और वह पिताका आत्मा होता है। पर यदि उस पुरुषका पुत्र न हो; पुत्री ही हो; तब मनुजी कहते हैं कि—इस अवसरपर पिताकी आत्मा पुत्री ही होती है, क्योंकि वह भी पुत्रकी भान्ति पिताके अङ्ग-अङ्गसे उत्पन्न होती है; तब आत्मस्वरूप-लड़की यदि विद्यमान है; तो उस जायदादको अन्य कौन छीन सकता है। क्योंकि उस लड़कीका लड़का फिर अपने नानाका पारलौकिक उद्धार करता है। वादीने इस उत्तरार्धको भी छिपा दिया; उसकी कुल्लूककी टीकाको भी छिपा दिया। वह यह है-कि—'अत: तस्यां पुत्रिकायां विद्यमानायाम् पुत्रस्य मृतस्य पितु: धनं पुत्रिका-व्यतिरिक्त: कथमन्यो हरेत्' ? (अत: जब पिताकी आत्म-स्वरूप पुत्री जीवित है; तो पुत्ररहित पिताकी जायदादको उस पुत्रीसे भिन्न दूसरा कौन ले सकता है ?)

'आलोक'-पाठकोंने देखा होगा कि—वादीने दायभाग-प्रकरणके इस पद्यके उत्तरार्ध तथा उसकी कुल्लूककी टीकाको छिपाकर उनमें अपनी साम्प्रदायिक-भावना भर दी। और लिखा कि—'वेदाध्ययन, यज्ञ करना-कराना आदि पुत्रोंकेलिए जैसे विहित है, वैसे ही कन्याओंकेलिए भी हैं'।

इन लोगोंको यह शर्म नहीं आती; कि—जो मनुके पद्यमें तथा विधानमें नहीं है, उसको हम असत्यतासे उसमें कैसे ठूंसते हैं ? मनुजीने लड़कीकेलिए वेदाध्ययन, यज्ञादि करना-कराना स्पष्ट निषिद्ध किया है, यह हम गत निबन्धोंमें स्पष्ट कर चुके हैं। पर इस छली वादीने उसमें अपने विचार भर दिये।

पहले तो 'पुत्रेण दुहिता समा' लिखनेसे वादीका इष्ट जातिपक्ष खण्डित हो जाता है। नहीं तो जातिपक्ष इष्ट होनेपर इस वाक्यके लिखनेकी आवश्यकता नहीं थी। इससे दोनोंके सभी समान धर्म नहीं हो जाते। जब दूसरा पाद लिखा है; तो स्पष्ट है कि—पुत्र-पुत्रीका आपसमें भेद हुआ करता है। और फिर इसमें वेदाध्ययन आदि लड़कीका लिखा ही कहां है ? अत: वादीका इसे 'सिद्धान्त' कहना ही गलत है। यहाँ तो अभ्रातृका-कन्याको पिताके दायभागमें अधिकार दिया गया है, वेदाध्ययनादिमें नहीं।

यहाँ याद रखना चाहिये कि—'समा' यह उपमा-शब्द है। उपमा कुछ विवक्षितांशमें हुआ करती है, सर्वसारूप्यमें नहीं। 'चन्द्रेण समं प्रतिपक्षिणो मुखम्' कह देनेसे वादीका मुख चन्द्रके समान उसका कुछ विवक्षितांश आह्लादकत्व-धर्म समान माना जाता है. सर्वसारूप्य नहीं। अन्यथा तो वादी अपने मुखको चन्द्रसमान कहनेपर चन्द्र जैसे परिमाणवाला और रात्रिमें भी आकाशपर ठहर कर रातमें प्रकाश देनेवाला मान लेगा ? पर ऐसा अनुपपन्न हो जायगा। यही बात यहांपर भी समझ लेनी चाहिये।

यदि वादी मनुके इस पद्यके 'पुत्रेण दुहिता समा' अंशसे पुत्र और पुत्रीमें सर्वसारूप्य मान लेगा, तब क्या पुत्री भी पुत्रकी भाँति अन्यकी कन्यासे विवाह करने जायगी ? पुत्रकी भाँति सदा पिताके घर रहा करेगी ? क्या उस अन्य कन्यासे विवाह करके उससे उत्पन्न सन्तान-द्वारा वह अपने पिताके वंशको बढ़ाएगी ? नहीं, कभी भी नहीं। कोई

भी इस बातको न मानेगा। सो पुत्री जब पिताके अङ्गसे पुत्रकी तरह उत्पन्न हुई है; तब वह पिताके पुत्र न होनेपर पिताकी आत्मा होनेसे पिताकी सम्पत्तिमें अधिकृत हो सकती है। यह इस पद्यका सम्बन्ध है।

इस पद्यका कन्याके वेदाध्ययनादिसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं; क्योंकि-उपनयनादिको उसे उसके पिताने नहीं देना है, किन्तु आचार्यने ही देना है। आचार्य उसका पतिसे भिन्न अन्य नहीं होता। पति भी उसका ब्रह्मचर्याश्रम न होनेसे उसका उपनयन तथा वेदारम्भ-संस्कार नहीं करा सकता। अतः वह आचार्य-जैसा होता है, वास्तविक-आचार्य नहीं। यदि वह वास्तविक-आचार्य हो, तो उस लड़कीको अपनी पत्नी न मानकर उसे पुत्रीके समान ही मानना पड़ेगा। आचार्य शिष्यको पुत्रके समान ही मानता है। पर यहाँ ऐसा नहीं होता। पिताको पुत्रीको पालकर उसे सदाकेलिए पतिको दे देना है। पतिसे भिन्न गुरु आदिको सदाकेलिए नहीं दे देना है।

मनुजी लड़कीका वेदाध्ययनादि सर्वथा नहीं मानते। यह हम उनके स्पष्ट तथा सोपपत्तिक-प्रमाणोंसे गत-निबन्धोंमें बता चुके हैं। वादीके मतसे भी यह अर्थ विरुद्ध है; क्योंकि-आगे वादी 'न वै कन्या न युवतिः' इस मनुपद्यसे वृद्धा-स्त्रीका ही अनुभववश यज्ञका होतृत्व मानता है; तब यहां अनुभवहीन छोटी लड़की भला यज्ञविषयवाले वेदमें अधिकृत कैसे होगी? तब मनुजीके इस पद्यके केवल पूर्वार्धसे लड़कीका उपनयन एवं वेदाध्ययनादि निकालना 'खींचातानी' है, जबकि उक्त पद्यका उत्तरार्ध उससे लड़कीका केवल दायभाग ही बता रहा है'। इसीलिए ही प्रतिपक्षीने अपने पक्षके कट जानेके डरसे उक्त मनुपद्यके उत्तरार्ध तथा उसकी कुल्लूकभट्टकी व्याख्याको जनदृष्टिसे छिपा लिया है, उसे जन-दृष्टिमें नहीं आने दिया।

अब हम वादीसे दिये हुए मनुके पद्यके उत्तरार्धको तथा उसके कुल्लूकभट्टकृत व्याख्यानको उसके साक्षी 'निरुक्त'के वाक्य तथा उसके

व्याख्यानभूत श्रीदुर्गाचार्यके कथनको उद्धृत करते हैं, जिससे प्रतिपक्षीका पक्ष वैसे उड़ जायगा, जैसे प्रचण्ड-वाताघातसे बादल। वह पूर्ण मनुपद्य इस प्रकार है—

'यथैवात्मा तथा पुत्रः, पुत्रेण दुहिता समा। तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्' (९।१३०)। पद्यका अर्थ तथा प्रकरण यह है कि-जब पुत्री भी पिताके अङ्ग-अङ्गसे जन्मी है; तब यदि पिताकी आत्मा पुत्र नहीं है; पिताके धनको उसकी दूसरी आत्मा पुत्री ही लेगी, दूसरा कौन ले सकता है?

अब देखिये यही बात श्रीकुल्लकभट्टने भी लिखी है-'आत्मस्थानीयः पुत्रः 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति मन्त्रलिङ्गात्। तत्समा च दुहिता, तस्या अपि [पितुः] अङ्गेभ्य उत्पादनात्। अतः तस्यां पुत्रिकायां पितुः आत्म-स्वरूपायां विद्यमानायां, पुत्रस्य, मृतस्य पितुर्धनं पुत्रिकाव्यतिरिक्तः कथमन्यो हरेत्?

अब विद्वान्-पाठकोंने यह रहस्य समझ लिया होगा कि-प्रतिपक्षीने उक्त मनुपद्यका उत्तरार्ध तथा उसीकी कुल्लूककृत-व्याख्या क्यों छिपाई? वास्तवमें यही प्रतिपक्षी क्या, पर इस सम्प्रदायके प्रायः सभी पक्षी अपने अशुद्ध पक्षको सिद्ध करनेकेलिए पुस्तकोंके पूर्वोत्तर-प्रकरण छिपा दिया करते हैं, जिससे अनुभवी लोग समझ जाते हैं कि-इन प्रतिपक्षियोंका पक्ष निर्मूल एवं निर्बल है।

अब हम इस विषयमें 'निरुक्त'-प्रणेता श्रीयास्क तथा उसके व्याख्याता श्रीदुर्गाचार्यका मत भी दिखलाते हैं। विद्वान्-पाठक देखें। 'निरुक्त' के दायभाग-प्रकरणमें श्रीयास्कने लिखा है—'तदेतद् (मिथुनाः पुत्रा दायादाः इति) ऋक्-श्लोकाभ्यामुक्तम्-'अङ्गाद् अङ्गात् सम्भवसि हृदयाद् अधिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्' (इति ऋक्) 'अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' (इति श्लोकः) (निरु. ३।४।२)।

यही वह मनुजीका मत है—जिसे हम उद्धृत कर चुके हैं। इसी पर निरु. ३।५।६ में श्रीदुर्गाचार्यने कहा है—'यदपि च उक्तम्—'अविशेषेण पुत्राणां दायो' इति [सृष्ट्यादिजात-मनुमतम्], तदपि **अभ्रातृमतीपक्षे** द्रष्टव्यम्' बात स्पष्ट हो गई कि—यह अभ्रातृमती कन्याको पिताके दाय-देनेके अर्थमें है। इससे हमारा पक्ष सिद्ध तथा वादीका कन्याको वेदाध्ययनादि करानेका पक्ष खण्डित हो गया।

अन्य बात यह है कि—'पुत्रेण दुहिता समा' यह यहाँपर उपमा वा दृष्टान्तवाक्य है। दृष्टान्त-दार्ष्टान्तका सर्वसारूप्य कभी नहीं लिया जाता। जैसा कि—'ब्रह्मसूत्र' (१।२।२१) के सूत्रके भाष्यमें श्रीस्वा. शङ्कराचार्यने कहा है—'**नहि** दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः **अत्यन्तसाम्येन भवितव्यम्**—इति नियमोक्ति।' (दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकोंमें अत्यन्त-समता हो—यह कभी नहीं हो सकता।)

सो यह सारूप्य भ्राताके अभावमें भगिनीका पिताकी जायदादकी स्वामिनी बनानेमें हैं; इसमें कन्याके वेदाध्ययनादिकी कुछ भी गन्ध नहीं। फलतः पुत्रके अभावमें ही पुत्रीका पुत्रसादृश्य बतानेसे पुत्रीके पुत्रवाले सभी अधिकार सिद्ध न हुए।

(२) इसी प्रकार 'यो भर्ता सा स्मृताङ्गना' (९।४५) यह जो मनुपद्य वादीने दिया है, उसका भाव यही है कि—'तस्यामुत्पादितं भर्तृरेव अपत्यं भवति' (कुल्लूक) (उस स्त्रीमें पैदा की गई सन्तान भर्ता और स्त्रीके अभेदवश भर्ताकी ही होती है) इसमें भी स्त्रीके वेदाध्ययनकी कुछ गन्ध भी नहीं है। आश्चर्य है कि—वादी स्मृतिसे भी कितना बलात्कार कर रहा है। विद्वान्-पाठक देख रहे हैं कि—वादीके इन तिलोंमें कुछ भी तेल नहीं।

(३) पृ. ९९-१०० आगे वादीने 'न वै कन्या न युवतिः' यह मनु-पद्य उपस्थित करके इससे वृद्धा-स्त्रीका अनुभवशील होनेसे होतृत्व माना है, इस विषयमें हम पृ. ४१९-४२५ में स्पष्टतया उसका पक्ष काट

चुके हैं।

वादी इस पद्यको 'बड़ा महत्त्वपूर्ण' बताता है, पर वह अपने इस गलत एवं निर्मूल पक्षको सिद्ध करनेकेलिए एक भद्दी तथा कुत्सित श्रीतुलसीराम स्वामीकी चाल कुछ उसमें सुधार करके लेता है। कहता है—'इसमें अग्निहोत्रको करानेका निषेध भी कन्या और युवतिकेलिए है अर्थापत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—वृद्ध स्त्रियाँ (आयु वा ज्ञानकी दृष्टिसे) न केवल हवन कर सकती है, बल्कि करा भी सकती हैं।'

यहाँपर दयानन्दीने दयानन्दिन-लड़कियों तथा युवतियोंको हवन करनेका सर्वथा निषेध करके अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तपर पानी फेर दिया है। वादीने जिस बेचारी एक लड़कीकेलिए यह सब पापड़ बेले, पुस्तक छपवाई; वह भी वृद्धा नहीं थी, न आयुकी दृष्टिसे, और न ज्ञानकी दृष्टिसे। इस विषयपर पाठक इसी पुष्पमें पृ. ४१९-४२५ में देखें, वादीका पूरा पक्ष खण्डित हो जावेगा।

पृ. १०१ 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां' का सभी भाष्यकारोंने हमारे पक्षके अनुकूल ही अर्थ लिखा है। वादीकी इससे कुछ भी पक्षसिद्धि नहीं। इस विषयमें पृ. १७४-१८३ देखें। वादीकी समस्त-आपत्तियोंका इससे निरास हो जावेगा। यह पद्य वादीके निर्मूल-कथनानुसार वेदविरुद्ध सर्वथा नहीं है। हमने इस विषयमें ऐसा प्रबल विचार रखा था कि—वादी उसपर कुछ भी ननु-नच, किन्तु-परन्तु नहीं कर सकता। यह हमने स्मृतिवचन तथा उसका समाधान लिखा था। इसपर वादी लिखता है—

"पं.जीको वेदोंमें से अपने इस पक्षकी पुष्टिमें एक भी प्रमाण नहीं मिला, इसलिए वर्तमान स्मृतियोंमें पाये जानेवाले वचन उद्धृत करके उन्होंने अपने पक्षको समर्थित करनेका यत्न किया है।" इसका उत्तर यह है कि वेद "दीर्घश्मश्रु" तथा "शुक्रवान्" "द्विज" को वेदाधिकार

कहनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पुरुषोंको ही अपना अधिकार देता है, न तो स्त्रियोंको, और न शूद्रोंको। 'गोपथब्राह्मण' में 'पुमांसः श्मश्रुवन्तः अश्मश्रवः स्त्रियः' (१।३।७) यह कहकर श्मश्रुमान्से पुरुषका ही ग्रहण किया है। वादीने 'सार्वदेशिक' के तीन अङ्कोंमें मेरे लेखका प्रत्युत्तर देनेकी चेष्टा करते हुए भी कहीं इन मुझसे दिये मन्त्रोंका प्रत्युत्तर नहीं दिया। तब उपालम्भ कैसा ?

पुरुषत्वका चिन्ह मूछें हैं, जिन्हें मुँडाकर आजकलके पुरुष स्त्री बनकर यज्ञोपवीतको उतारते हुए स्त्रीके यज्ञोपवीताऽभावको अपने आचरणसे भी सिद्ध कर रहे हैं। दूसरा पुरुषत्वका चिन्ह 'शुक्र' है, जिसके निग्रहसे पुरुष 'ब्रह्मचारी' कहलाता है। ये दोनों बातें स्त्रीमें न होनेसे वेदानुसार वह अपूर्ण है, अतः वेदकी अधिकारिणी भी नहीं।

शेष प्रश्न यह है कि ऐसे प्रमाण वेदके थोड़े मिलते हैं, तो इसपर यह जानना चाहिये कि यज्ञोपवीत तथा शिखा हिन्दुधर्मके कितने प्रसिद्ध अङ्ग हैं। पर वेदमें उनका एक-दो मन्त्रोंमें संकेतरूपसे वर्णन है, पर इस बातसे शिखा और यज्ञोपवीतकी अकर्तव्यता अथवा साधारणता नहीं हो जाती, उनकी विशिष्ट-व्यवस्था धर्मशास्त्र ही करेगा। इसी प्रकार 'स्त्री-शूद्रोंको वेदका अधिकार नहीं' इसका भी वेदमें संकेत ही मिलेगा, बाकी व्यवस्था धर्मशास्त्रों (स्मृति, गृह्य एवं धर्म-सूत्रों) से ही मिलेगी। आपके स्वामीजीके भी मान्य 'न्यायदर्शन' के भाष्यकार श्रीवात्स्यायन-मुनिने ४।१।६२ सूत्रके भाष्यमें लिखा है—"विषयव्यवस्थानाच्च यथाविषय प्रामाण्यम्। अन्यो मन्त्र-ब्राह्मणस्य (वेदस्य), विषयः, अन्यश्च इतिहास-पुराणधर्मशास्त्राणामिति। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य (वेदस्य) विषयः, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते इति यथाविषयमेतानि (मन्त्रब्राह्मण-पुराणेतिहास-धर्मशास्त्राणि) प्रमाणानि इन्द्रियादिवत्"। यह बहुत स्पष्ट वचन है।

इसमें कहा गया है कि मन्त्र-ब्राह्मण (वेद) तथा धर्मशास्त्र आदि अपने-अपने विषयमें अधिक प्रमाण हैं। वेदका मुख्य विषय यज्ञ है, पुराणेतिहासका मुख्य विषय लोकचरित्र बतलाना है, परन्तु लोकव्यवहार-की व्यवस्था अर्थात् क्या करना चाहिए, क्या नहीं, यह धर्मशास्त्रोंका मुख्य-विषय होता है। जैसे नाक, कान आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय-में अधिक तथा स्वतःप्रमाण हैं, वैसे ही धर्मशास्त्र आदि भी अपने-अपने विषयमें अधिक प्रमाण है। धर्मशास्त्रमें स्मृतियाँ तथा वेदके व्यवस्थापक गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र आदि सब सम्बद्ध होते हैं। ये सब वेदको सम्यक्तया देख-भालकर ही तदनुकूल बनाये गये हैं। अतः वे वेदसे विरुद्ध नहीं, क्योंकि उनके प्रवक्ता बहुत विद्वान् तथा निष्पक्ष एवं वेदोंमें निष्णात थे। जब ऐसा है, तब हम स्मृतियोंके प्रमाण क्यों न दें ?

आश्चर्य यह है कि आजकलके साधारण अर्वाचीन पुरुष 'किञ्चिज्ज्ञ' होकर भी 'सर्वज्ञता' का दम भरते हुए 'यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहम्' इस पद्यके आशयको अपनाते हुए, उन स्मृत्यादिके प्रणेताओंको तरीकेसे वेदज्ञान-विरहित सूचित कर रहे होते हैं। पर यह याद रखना चाहिए कि वैदिक-पदार्थोंके स्मरणका नाम 'स्मृति' होता है। वह स्मृति भी वेदतुल्य माननीय होती है।

वादीके मान्य 'मीमांसादर्शन' तथा 'न्यायदर्शन' में वेदस्मृत्यादिके द्रष्टा-प्रवक्ता समान कहे गये हैं। देखिये 'न्याय' में वात्स्यायनभाष्य—"द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्च अप्रामाण्यानुपपत्तिः। ये एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, ते एव खलु इतिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति' (४।१।६२) अर्थात् वेद तथा धर्मशास्त्रादिके द्रष्टा-प्रवक्ता समान हैं। अतः इनमें अप्रमाण्य भी कोई नहीं हो सकता।

जब ऐसा है, तब लोकव्यवहारव्यवस्था धर्मशास्त्रसे क्यों न मानी जाय ? 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। ते सर्वार्थेष्व-मीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ' (मनु. २।१०) इससे धर्मशास्त्र

स्मृतिका नाम है। तब उसे प्रमाण क्यों न माना जाय? जबकि कहा है—"ते (श्रुतिस्मृती) सर्वार्थेषु अमीमांस्ये"। बल्कि 'योऽवमन्येत ते मूले (श्रुतिस्मृती) हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः" (मनु. २।११) इस प्रकार श्रुति तथा स्मृतिका युक्तिवादसे खण्डन करनेवालेको देश-निकाला भी कहा गया है।

अब स्मृतियोंके विषयमें 'मीमांसादर्शन' के 'स्मृतिप्रामाण्याधिकरण' में देखिये—'अपि वा वेदतुल्यत्वाद् उपायेन प्रवर्तेरन्" (६।२।२२)। देखिये इस विषयमें शबरस्वामीने कितनी स्पष्टतासे कहा है—"वेदतुल्यत्वात्। वैदिका एव पदार्थाः स्मर्यन्ते इत्युक्तम्। वैदिकाश्च पदार्था उपनयनोत्तरकाले समाम्नाताः। स्मार्तश्चैते वैदिका एव"। यहाँ 'मीमांसादर्शन' ने स्पष्टरूपसे स्मृतियोंको वेदतुल्य माना है। 'अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्' (१।३।२) यहाँपर मीमांसाका हृदयप्रकाशक शाबरभाष्य देखिये—

"प्रमाणं स्मृतिः, कर्तृसामान्यात् स्मृतिवैदिकपदार्थयोः। तेनोपपन्नो वेदसंयोगस्त्रैवर्णिकानाम्'। यहाँपर 'कर्ता' का अर्थ 'न्यायदर्शन' के पूर्वोक्त-वचनानुसार द्रष्टा तथा प्रवक्ता जानना चाहिए, जैसाकि 'सूर्यऋषिर्मन्त्रकृत्' (ऐ.ब्रा. ६।१) "मन्त्रकृतां स्तोमैः" (ऋ.शा.सं. ६।११४।२), "यामृषयो मन्त्रकृतः" (तैत्ति.ब्रा. २।८।८(४), ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम्' (निरु. ३।११।५) इत्यादिमें; क्योंकि 'कृ' धातु अनेकार्थक होता है। जबकि वेद स्त्रियोंके उपनयन तथा अध्ययनमें सहमत नहीं, यह हम गत लेखोंमें स्पष्ट कर चुके हैं, तब स्मृतिके वेदानुकूल होनेसे उसका अप्रामाण्य नहीं है।

इसीलिए वादीके मान्य 'जैमिनिन्यायमालाविस्तर' में भी कहा है—'वैदिकैः स्मर्यमाणत्वात् सम्भाव्या वेदमूलता। विप्रकीर्णार्थसंक्षेपात् सार्थत्वादस्ति मानता' (१।३।२), 'स्मृतिर्वेदमूला, वैदिकमन्वादिप्रणीत-स्मृतित्वात्, उपनयनाध्ययनादिस्मृतिवत्। न च वैयर्थ्यं शास्त्रीयम्,

अस्मदादीनां प्रत्यक्षेषु परोक्षेषु च नानावेदेषु विप्रकीर्णस्य अनुष्ठेयार्थस्य एकत्र संक्षिप्यमाणत्वात्। तस्मादियं स्मृतिर्धर्मे प्रमाणम्' (पृ. २८ काशी संस्कृत-सीरीज)। तब मन्वादि-स्मृतिके वैदिक होनेसे हमारा पक्ष भी वैदिक सिद्ध हुआ। तब वादीका स्मृतिकी निन्दा करना अपने पक्षकी दुर्बलता प्रकट करना है। तो फिर स्त्रियोंका वेदाध्ययनादिमें अधिकार न होना—यह बात स्मार्तवचनोंसे बतलाई जानेपर भी वैदिक है। वेदका मत हम बतला भी चुके हैं। और भी वादी कुछ सुने—

वादी यह बतलावे कि 'पुंसवन'-संस्कार वैदिक है; या नहीं? उसे अन्ततः मानना ही पड़ेगा कि उक्त संस्कार वेदसम्मत है, अन्यथा आपको उसे संस्कारोंसे बहिष्कृत करना पड़ेगा। अब बतलाइये कि पुंसवन, गर्भके दूसरे-तीसरे महीने क्यों किया जाता है? इसका रहस्य समझिये। 'पुंसवन' में 'पुं सवन' यह दो शब्द हैं। इसका अर्थ है—पुरुष पैदा करनेवाला कर्म। इसलिए प्रसिद्ध है—'पुंसवनात् पुंसीकरोति'। इसका विग्रह भी यही है—'पुमान् सूयते येन कर्मणा, तदिदं पुंसवनं गर्भसंस्कारकर्म'। 'आश्वलायनगृह्यसूत्र' के १।१३।१ सूत्रकी व्याख्यामें वादीके प्रिय-भाष्यकार श्रीहरदत्ताचार्यने भी कहा है—"येन स गर्भः पुमान् भवति, तत् पुंसवनम्'।

अब बतलाइये कि वेद पुत्रके उत्पन्न करानेकेलिए क्यों प्रेरित कर रहा है? कन्याको वह मुख्यतासे क्यों नहीं चाहता? 'कन्यासवन-संस्कार' क्यों नहीं? इससे स्पष्ट है कि वह अपना अधिकार पुत्रको देना चाहता है कन्याको नहीं। इसीलिए पुत्रके निमित्त प्रार्थना कराता है कि न नपुंसक उत्पन्न हो, न लड़की। देखिये वेदका हृदय—"पुमांस पुत्रमाधेहि' (अथर्व शौ.सं. ६।१७।१०), 'पुमांसं पुत्रं जनय' (अ. ३।२३।३), 'तं त्वं पुत्रं विन्दस्व' (अ. ३।२३।४), आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान्' (अथर्व ३।२३।२), "भवासि पुत्राणां माता" (अ. ३।२३।३), "विन्दस्व पुत्रं नारि!" (अ. ३।२३।५), "दश अस्यां पुत्रान् आधेहि" (ऋ. १०।८५।४५)

कृपणं दुहिता, ज्योतिर्ह पुत्रः' (ऐत.ब्रा. ७।१३), पुत्रं ब्राह्मणा ! इच्छध्वं स वै लोको वदावदः' (ऐ. ७।३।५) "तौ एहि सम्भवाव, सह रेतो दधावहै, पुंसे पुत्राय वेत्तवै" (तै.ब्रा. ३।७।१(६), "पुमान् गर्भस्तवोदरे" (गोभि.गृ. २।६।३)।

देखिये यहाँ कितने जोर-शोरसे पुत्रकेलिए वेदने प्रार्थना कराई है। बल्कि यहाँतक कहा है—"जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्' (अथर्व. ८।६।२५) अर्थात् उत्पन्न हो रहा हुआ पुरुष स्त्री न बन जाय। इस प्रकार स्त्रीको न चाहकर पुरुषको चाहा गया है। यही प्रार्थना 'आग्निवेश्य-गृह्यसूत्र' (१।५।५) में की गई है—'पुमान् स्त्री जायतां गर्भो अन्तः' (स्त्री पुमान् जायताम्-यह अन्वय है), 'पुमांस गर्भ-माधत्स्व", "पुमांस्ते पुत्रो नारितः पुमाननुजायताम्"। "पुमान् अयं जनिष्यते" (गोभि. २।७।१५) इस प्रकार पुंसन्तानकी आशा की गई है।

इस सारे कथनका रहस्य यही है कि गर्भाधानमें तीन मास तक गर्भाशयमें जो पिण्ड होता है, उसमें शिश्न तथा योनि-अङ्गका समानरूपसे वर्धन होता है। इसके बाद उन दोनोंमें एककी वृद्धि रुक जाती है, दूसरे अङ्गकी वृद्धि होने लग जाती है। उस समय कोई विशिष्ट ओषधि खिलाकर पुंसन्तान पैदा कराई जा सकती है, जैसा कि डाक्टर लोग उन्हीं दिनोंमें कोई दवा देते हैं, और पुत्र होनेकी शर्त बद देते हैं। हमारे सूत्रकार भी उसी पुंसवन संस्कारमें 'पुंसवन' ओषधिविशेष दाहिनी नाकके द्वारा स्त्रीको पिलवाते थे, जिससे पुरुष उत्पन्न हो। जिसका मूल "तास्त्वा पुत्रविद्याय (पुत्रलाभाय) दैवीः प्रावन्तु (सहाया भवन्तु) ओषधयः" (अथर्व. ३।२३।६) इत्यादि मन्त्रोंमें है।

वादीके स्वामीजी भी पुंसवनसंस्कारमें कुछ दबे शब्दोंमें कहते हैं—"पुंसवन-संस्कार करना चाहिए, जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्यकी हानि न होवे" (सं.वि.पृ. ४७)। जब ओषधिविशेषसे गर्भाशयके भीतर स्थित वीर्यको लाभ अर्थात् सहायता पहुंचेगी, तब वीर्यके प्रावल्यसे "पुंसि वै

रेतो भवति, तत् स्त्रियामनुषिच्यते। तद् वै पुत्रस्य वेदनम्' (अ. ६।११।२) रजकी शक्ति कम होकर कन्या उत्पन्न न होकर शिश्न-अङ्गकी उन्नति होनेसे पुत्र ही उत्पन्न होगा। इसलिए वादीकी 'संस्कारविधि' में वहाँ "पुमान् गर्भस्तवोदरे", "पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमान् अनुजायताम्" (मं.ब्रा. १।४।८-९) यह दो मन्त्र पुंसवनमें मिलते हैं। इसलिए पारस्करादि-गृह्यसूत्रोंमें पुंसवन, सीमन्तादि संस्कार "यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्यते" (पा. १।१४), "पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्" (आश्व.गृ. १।१४।२) पुरुषनक्षत्रमें करनेका आदेश दिया गया है। तब भला ऐसी आज्ञा देनेवाले वेदसे 'पुरुषका ही वेदमें अधिकार है, स्त्रीका नहीं; यह ढूंढ़नेकी आवश्यकता ही क्या है? तब भी हम "वेदमाता... द्विजानाम्" (अ. १९।७१।१), "ब्रह्मचारी...दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः" (अ. ११।५।६), "अयं स होता यो द्विजन्मा" (ऋ. १।१४९।५) इत्यादि प्रमाण दे ही चुके हैं। फिर तदनुकूल स्मृतिवाक्य तो लिखे ही थे।

वादीने तो वेदका कोई एक भी वचन नहीं दिया, जिसमें स्त्री तथा शूद्रको वेदाध्ययनका अधिकार दिया गया हो। तब वादीका पक्ष असिद्ध सिद्ध हो गया। यज्ञमें बैठनेके स्त्रीके प्रमाण व्यर्थ हैं, यज्ञ तो अत्रैवर्णिक, अनुपनीत, वेदाध्ययनाधिकाररहित-निषादस्थपतिका भी आता ही है, जिसका कि वादीने हमारे लिखनेपर भी अपने 'सार्वदेशिक' के ३३ पृष्ठके उत्तरमें कहीं भी प्रत्युत्तर नहीं दिया। अतः उसका सारा परिश्रम व्यर्थ ही सिद्ध हुआ; और हमारे उक्त वेदोंके प्रमाण हैं भी महत्त्वपूर्ण, क्योंकि वेद 'ब्रह्मचारी (शुक्रनिरोधकः) दीर्घश्मश्रुः' (अ. ११।५।६) का जो आदेश देता है, उसका भाव यही है कि सर्वाङ्गपूर्ण। सर्वाङ्गपूर्णता होती है शुक्रसे। स्त्रीमें शुक्र न होनेसे दाढ़ी-मूछें नहीं होती। इसीलिए अथर्ववेदके ब्राह्मणमें कहा गया है—"पुमांसः श्मश्रुवन्तः, अश्मश्रुवः स्त्रियः" (१।३।७) तब अथर्ववेदको 'दीर्घश्मश्रु' से 'पुमान्' इष्ट है, स्त्री नहीं।

मुखके लोमोंको छोड़िये, अन्य अङ्गोंपर भी स्त्रियोंके पुरुषवत् वाल नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि स्त्रीमें न्यूनता है। शुक्र न होनेसे ही वलकी न्यूनता है। वलकी न्यूनतासे स्वरोंकी न्यूनता है।

वेदमें सात गीतस्वर तथा उदात्तादि तीन स्वर प्रत्येक मन्त्रमें हैं। "उदात्तौ निषादगान्धारौ अनुदात्तौ ऋषभधैवतौ। स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः" ('पाणिनीयशिक्षा' १२) पुरुषमें पूर्णता होनेसे वह सब स्वरोंका यथास्थान प्रयोग कर सकता है। पर स्त्रीमें शुक्राभावमूलक बलकी न्यूनतासे केवल पञ्चमस्वर प्रधान होनेसे अन्य स्वरोंकी न्यूनतावश, उनको वेदमें अधिकार देना "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' (पाणिनीयशिक्षा ५२) इस वादीके भी मान्य पद्यवाली आपत्तिको मोल लेना है।

इसी वेदके आशयका अवलम्बन करके 'अस्यवामीय-सूक्त' के आत्मानन्द-भाष्यमें 'स्त्रीणां शूद्रान्धपङ्गूनां बधिराः पतिताश्च ये। क्लीबानां नैव काणानां वेदविद्याधिकारिता' यह स्मृतिपद्य जन्मसे अपूर्णता वालोंकेलिए वेदाधिकार-निषेधार्थ आया है। यद्यपि पुरुषोंमें भी गर्भाशय एवं स्तनोंके न होनेसे अपूर्णता कही जा सकती है, तथापि उन अङ्गोंका वेदमें उपयोग न होनेसे वेदने उनका स्मरण भी नहीं किया। वल्कि यही अङ्गद्वय वेदमें प्रतिबन्धक हैं, क्योंकि वेदस्वाध्यायकी नित्यतामें बाधक हैं। अतः वेदका अधिकार भी पुरुषोंको ही है।

इसी वेदके आशयको लेकर वादीके मान्य श्रीकाशीशेषवेङ्कटाचल-शास्त्रीने अपने 'त्रिमुनिकल्पतरु' के १४वें पृष्ठमें "अश्मारोहणमारभ्य स्त्रीणां गौर्यर्चनं परम्। पुराणपठनं श्रेयो न वेदाध्ययनादिकम्' यह स्त्रियोंके वेदाधिकारका निषेधक-स्मृतिवचन दिया है। जब स्मृतियोंने इस प्रकार वेदवचनका ही भाष्य किया है, तब वे वचन भी वैदिक सिद्ध हुए।

हाँ, विवाह-यज्ञादिमें कोई एक-आध नियत मन्त्र स्त्रीको बोलना पड़ता है। पर वह भी स्वतन्त्रतासे नहीं, क्योंकि आभ्यन्तरिक अपूर्णता तथा उसकी न्यूनताके कारण उसका कभी आभ्यन्तरिक शुद्ध उच्चारण नहीं हो सकता। उसके लिए वर वा ऋत्विक्का ही उसे आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए उसकेलिए "वाचयेत्" (आ.श्रौ. १।११।१) 'उससे ऋत्विक् वुलवाये' इस प्रकार शब्द क्वचित् अनिवार्य स्थलमें आ जाता है। पुरुषकेलिए 'वाचयेत्' ऐसा शब्द प्रायः नहीं आता। यदि आता भी है, तो अशिक्षितत्व तथा अनुपनीतत्वमें। यह हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं।

इन सबसे हमारा पक्ष पुष्ट तथा प्रबल है। इसी स्त्रीकी अपूर्णता को मनुने 'निरिन्द्रिय' शब्दसे कहकर उसे वेदकी अनधिकारिणी माना है, जैसा कि 'निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतम्' (९।१८)।

केवल मनुजीने ही नहीं, वेदने भी यही कहा है—"सोमो नातिष्ठत स्त्रीभ्यो गृह्यमाणः, तं घृतं वज्रं कृत्वा घ्नन्[illegible] निरिन्द्रियभूतमगृह्णन्, तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात् पुंस उपस्तितरं वदन्ति" (कृ.य. तैत्तिरीयसं. ६।५।८।२) यहांपर स्त्रियोंको निरिन्द्रिय होनेसे सोम (वैदिक-यज्ञ) के अयोग्य ठहराया है। सोमसे यज्ञ इष्ट होता है, इसलिए वैदिक-प्रकरण 'सिद्धान्त-कौमुदी' में 'सोम्यो ब्राह्मणः' का 'यज्ञार्हः इत्यर्थः' (४।४।१३७) अर्थ किया गया है। इसी तरह "दशपुरुषानूकं यस्य गृहा न विद्येरन्, स सोमं पिबेत्" (महाभाष्य ४।१।९३) (यहाँपर भी 'सोमपान' वैदिक-यज्ञका उपलक्षण है।) इसी प्रकार "अब्राह्मणस्य सोमं प्रतिषेधति" (मीमां. ३।५।७) यहाँपर भी। जब इस प्रकार वेद स्पष्ट-रूपसे स्त्री एवं शूद्रका वेदमें अनधिकार वतला रहा है, तब वादीका यह कहना कि 'वेदोंमें स्त्री-शूद्रादिका वेदाध्ययनादि-अधिकारमें निषेध नहीं' जनताको धोखा देना है।

पृ. १०२ में 'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता' (ऋ. १०।१०९।४)

इससे वादीने स्त्रियोंका उपनयन सिद्ध करना चाहा है, पर यह बिल्कुल निर्मूल है। वादी ऐसे दुस्साहस करनेका व्यसनी है। केवल शब्दमात्रको देखकर उसमें न होती हुई बातको भी निकालनेका दुस्साहस करता है। आखिर वह भी 'तरुतार' तारविद्या निकालनेवालेका साम्प्रदायिक शिष्य है। इस विषयपर विचार पृ. १०९-११२ में देखें।

पृ. १०३ में 'या दम्पती समनसा सुनुत:' (ऋ. ८।३१।५) से वादीने अपना पक्ष सिद्ध करना चाहा है, वादी इसपर लिखता है-'या दम्पती... सुनुत:' (ऋ. ८।३१।५) 'वीतिहोत्रा कृतद्वसू' (ऋ. ८।३१।९) इत्यादि अनेक वैदिक प्रमाण हैं, जिनमें स्त्रियोंके उपनयन तथा अग्निहोत्रादि करनेका स्पष्ट प्रतिपादन हैं'।

यह वादीकी बात बिल्कुल गलत है। इसमें स्त्रीका उपनयन कहीं भी नहीं लिखा है। यह वादीकी धींगाधींगी है।

यहाँ 'सुनुत:' का अर्थ 'सोमरसका निकालना' है, इसमें उपनयनका कोई प्रयोजन नहीं। श्रीसायणने भी 'सुनुत:' का यही 'सोमाभिषवं कुरुत:' अर्थ किया है।

इस विषयमें 'षुञ् अभिषवे' धातु सुप्रसिद्ध है, जिसका सोमवल्लीको निचोड़ कर उसका रस निकालना है। सोमरस निकालनेकेलिए भला जनेऊकी क्या आवश्यकता है; क्या इस बातको समझनेकेलिए वादीका मस्तिष्क असमर्थ है? हाँ, सोमयज्ञ तो पति ही करेगा। स्त्री केवल उसके साथ बैठी ही रहती है। इसपर कई बार स्पष्टता की जा चुकी है।

पृ. १०३ श्रीसायणाचार्यने स्त्रियोंके उपनयनका अभाव ही माना है। तब उसके वचनसे वादी बलात् उपनयन कैसे निकालता है? शेष रहा स्त्रीको यज्ञप्रिय होना, सो वह पतिके साथ यज्ञमें बैठती ही है। इससे उसका उपनयन सिद्ध नहीं हो जाता। श्रीसायणका अर्थ वादी बताता है। यह वह भी जानता है कि-श्रीसायणाचार्यने स्त्रीका उपनयन कहीं नहीं माना। बल्कि अधिकारि-निरूपणमें उसका निषेध किया है। तब स्पष्ट है कि यज्ञ पुरुष करता है, स्त्री नहीं। परन्तु 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा. ४।१।३३) के अनुसार 'वसिष्ठस्य पत्नी' में यह अर्थ किया गया है—'वसिष्ठ-कर्तृकयज्ञस्य फलभोक्त्री' अर्थात् यज्ञ, पुरुष वसिष्ठजी करते हैं, पर अपने पतिके साथ बैठनेमात्रसे उनकी पत्नी यज्ञका फल प्राप्त कर लेती है। इसे हम कई बार स्पष्ट कर चुके हैं। यजन तो निषादस्थपतिका भी आता है, पर इससे उसका जनेऊ सिद्ध नहीं हो जाता।

तब वचनके बलसे किसी द्विजसे वा वरसे अपना वह यज्ञ करा लेती है; वह यज्ञ तत्स्वामिक हो जाता है। यह हम कई बार स्पष्ट कर चुके हैं।

'वि त्वा ततस्रे' (ऋ. १।१३१।३) पर वादी लिखता है-इस मन्त्रकी व्याख्यामें सायणाचार्यने लिखा है-'हे इन्द्र! त्वामुद्दिश्य "मिथुना:' पत्नी-सहिता यजमाना यज्ञं वितन्वते। त्वं स्वर्गं गन्तुमुद्युक्तौ द्वौ जायापती संयुक्तयोरेवाभिमतं स्वर्गादिकं प्रापयसि, अत: पत्नीसहिता अनुतिष्ठन्तीत्यर्थ:' हे इन्द्र, तेरे उद्देश्यसे पत्नी-सहित यजमान अनेक प्रकारके यज्ञ करते हैं, और तू उन दोनोंकी अभिमत स्वर्गकी प्राप्ति कराता है, इसलिए वे मिलकर यज्ञ करते हैं—

इससे क्या वादी स्त्रीका उपनयन सिद्ध करना चाहता है? वस्तुत: यह गलत है, श्रीसायण स्त्रीका उपनयन नहीं मानते, तब बलात् उसके किये अर्थसे वादीकी क्या शक्ति है कि-उनका उपनयन सिद्ध कर सके।

यहाँ तो यजमानका यज्ञ करना दिखलाया है, स्त्री तो उसके साथ बैठी ही रहती है।

आगे वादी लिखता है-'इस अर्थकी पुष्टिमें सायणाचार्यने 'जायापती अग्निम् आदधीयाताम्' 'वेद पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्' इत्यादि मन्त्रोंको उद्धृत किया है।

वादीमें यह छलकी दुष्प्रकृति है कि-वह जो अपनी पुष्टिकेलिए किसीका वचन उद्धृत करता है, उसका पूर्वापर-प्रकरण छिपा लेता है। जनता बेचारी जो स्वयं अनुसन्धान नहीं करती; इन छलियोंके पक्षको सच्चा समझ लेती है। अब हम वह श्रीसायणका पूरा पाठ उद्धृत करते हैं।—

'न च सर्वत्र अग्निहोत्रादि-नित्यवाक्येषु काम्यवाक्येषु, नैमित्तिक-वाक्येषु च **पुरुषस्यैव** अर्थित्वादेः सद्भावात् **तस्यैव अधिकारः**, स्त्रियास्तु सत्यपि अर्थित्वे **अध्ययनाभावेन विद्वत्ताया** अभावात् अतएव सामर्थ्या-भावाच्च नास्ति अधिकार इति वाच्यम्।' (सभी नित्य, काम्य तथा नैमित्तिक वाक्योंमें पुरुषको ही अर्थी बताया गया है; अतएव उनमें उसी पुरुषका अधिकार है, परन्तु स्त्रीके अर्थी होनेपर भी उसका अध्ययन न होनेसे विद्वत्ता न होने और सामर्थ्य न होनेसे स्त्रीका अधिकार नहीं है—यह न कहना)।

इसपर श्रीसायण आगे कहते हैं—'यद्यपि स्त्रियाः नास्ति पृथगधिकारः; तथापि पूर्वमीमांसायां षष्ठेऽधिकाराध्याये ३य ४र्थाभ्यामधिकरणाभ्याम् **अस्त्येव स्त्रिया अधिकारः; स च पत्या सह**-इति प्रपञ्चितत्वात्। 'जायापती अग्निमादधीयाताम्' इति आधान-विधानात्, स्मृतिषु 'नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं' (मनु. ५।१५५) इति **पृथग् अधिकारस्यैव निवारितत्वात्। अस्त्येव स्त्रियाः पत्या सह अधिकारः**। (यद्यपि स्त्रीका यज्ञका पृथक् स्वतन्त्र अधिकार तो नहीं; तथापि मीमांसादर्शनमें छठे अध्यायमें ३य और ४र्थ अधिकरणोंसे पतिके साथ ही स्त्रीका यज्ञमें अधिकार है—यह हम स्पष्ट कर चुके हैं। पति-पत्नी अग्निका आधान करें, इससे दोनोंका अग्निका आधान (स्थापन) कहा गया है। स्त्रियोंका पृथक यज्ञ वा व्रत नहीं होता, यहाँ मनुने भी स्त्रियोंका पृथक् अधिकार ही निवारित किया है; सो स्त्री पतिके साथ तो यज्ञमें सम्बद्ध हो सकती है।)

आगे श्रीसायण लिखते हैं—'अध्ययनाऽभावेपि 'वेद पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्' (आश्व.श्रौ. १।११) इति सूत्रकार-वचनात् 'पत्नी अन्वास्ते' इत्यादि-विधिषु 'सुप्रजसस्त्वा वयम्' (तै.सं. १।१।१०।१) इत्यादि मन्त्र-विधानात् **यत्र वचनमस्ति; तत्र अस्त्येव मन्त्रे अधिकारः**। किं हि वचनं न कुर्यात्, नास्ति वचनस्य अतिभारः—इति न्यायात्। तस्मात् 'मिथुना यज्ञं ततस्त्रे' इत्येतद् युक्तम्'।

(श्रीसायणाचार्य कहते हैं कि—**स्त्रीका अध्ययन तो नहीं** हुआ करता; तथापि 'पत्नीको कुश-बण्डल देकर उससे मन्त्र बुलवावे; इस सूत्रकारके वचनसे 'पत्नी बैठी रहती है, इत्यादि विधियोंमें, तथा जहाँ स्त्रीकेलिए वचन है, वहाँ वह 'सुप्रजसस्त्वा' इत्यादि विशेष-मन्त्र बोल सकती है। इसपर श्रीसायण कहते हैं—विशेष मन्त्र बोलनेमें स्त्रीको भला क्या भारी भार है—इस न्यायसे उससे विशेष मन्त्र बुलवावें।'

इससे श्रीसायणाचार्य सिद्ध करते हैं कि—स्त्रीका वेदाध्ययन विहित न होनेसे वह मन्त्र सामान्यतया तो नहीं बोल सकती; पर जहाँ उसका कहीं बोलनेकेलिए विशेष वचन आवे; उसे वह बोल सकती है; क्योंकि-बोलनेमात्रमें उसपर कोई भार नहीं पड़ जाता।

इसमें वादीने सायणके सिद्धान्तको छिपा लिया है। 'वेदं पत्न्यै प्रदाय' यह वचन वादीने लिखा है; इससे उसने स्त्रीका वेदाधिकार समझ लिया है; पर उसको कदाचित् पता नहीं, कि—यहाँ 'वेद' शब्दका अर्थ **वेदपुस्तक नहीं है, किन्तु कुशाका बन्डल** उसे दिया जाता है, वेदपुस्तक नहीं। इस विषयमें हम पृ. १८३-१८९ में स्पष्टता कर चुके हैं।

इसपर वादी लिखता है कि—यदि 'अमन्त्रिका तु कार्येयम्' 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां' यह मनुके श्लोक वस्तुतः स्त्रियोंके उपनयन वेदाध्ययन और अग्निहोत्रका निषेध करते हैं; तो वे वेदविरुद्ध होनेसे अप्रमाण और परित्याज्य हैं। यह वादीका कथन गलत है। हम इनकी प्रमाणता पृ. १७४-१८३ में बता चुके हैं। श्रीसायणका वचन भी इनका बाधक

नहीं है, किन्तु उसके अनुकूल है। मनुके वचनोंको वेदविरुद्ध कहनेकी वादीकी 'छोटे मुंह बड़ी बात' है। यदि उक्त मनुपद्य न होते; तो कन्याका कोई भी संस्कार न हो सकता। यह उक्त पद्यके समाधानमें हम स्पष्ट कर चुके हैं।

पृ. १०५-१०६ वादी लिखता है—'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृद् अशेषत:'। यहाँ 'अमन्त्रिका' का अर्थ सर्वथा मन्त्ररहित नहीं, किन्तु 'अनुदरी' (?) कन्याकी तरह 'अल्पमन्त्रिका' करना चाहिये। कन्या-संस्कारमें मेखला-बन्धनादि विषयक कई मन्त्र छोड़ने पड़ते हैं, अत: 'अल्पमन्त्रा' कहा है।

यह वादीकी बात सर्वथा गलत है। मेखलाबन्धन सब संस्कारोंमें तो होता नहीं; तब 'अल्पमन्त्रा' अर्थ कैसे हो सकता है? परन्तु मनुजीने तो लिखा है-'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृद् अशेषत:। यहाँ 'अशेषत:' शब्दसे सूचित होता है कि-उसका कोई भी संस्कार समन्त्रक मत करो। इसलिए गृह्यसूत्रमें प्रत्येक-संस्कारमें लड़कीकेलिए लिखा है-'आवृतैव कुमार्यै' आवृताका अर्थ 'विना मन्त्रके' होता है। तब वादीका पक्ष कट गया। मेखलाबन्धन तो उपनयनमें होता है, जब मेखलाबन्धन ही न होगा; तो उपनयन क्या होगा? 'मेखलाबन्धन' तो इतना प्रसिद्ध है कि उपनयनका नाम ही 'मेखलाबन्धन' प्रसिद्ध है, जैसे कि-'पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जी-बन्धनमिष्यते' अत: वादीका यह कथन कट गया। वादीके इस पक्षका अक्षर-अक्षर निराकरण हमने इस पुष्पके १७४-१८३ पृष्ठोंमें किया है।

पृ. १०६ आगे वादी 'वैवाहिको विधि: स्त्रीणां' इस मनुपद्यका अर्थ बदलनेकी हास्यास्पद चेष्टा करता है—'स्त्रियोंकी विवाहविषयक-विधि वैदिक है। पतिसेवा, वेदाध्ययनार्थ गुरुओंके पास निवास, घरका कार्य और अग्निहोत्रादि ये स्त्रियोंके कर्तव्य हैं। कुल्लूकभट्टादि-टीकाकारोंने 'विवाहविधिरेव वैदिक: संस्कार:, पतिसेवा एव गुरुकुले वास:' आदि

व्याख्या 'एव' को अपनी तरफसे जोड़ कर की है, जो इसका मूलमें कहीं नहीं पाया जाता; वह उनकी कपोल-कल्पना होनेसे अमान्य है'।

इसका भी हमने अक्षर-अक्षर खण्डन पृ. १७६-१८० में कर दिया है। पाठक वहीं देख ले। वादी १०० वर्षतक भी इसका प्रत्युत्तर नहीं दे सकता।

पृ. १०६-१०७ आगे वादी लिखता है—'अमन्त्रिका तु कार्येयं' (२।६६) और 'वैवाहिको विधि: स्त्रीणां' (२।६७) यह दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं, यह इससे भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनु. २।६५ के 'केशान्त: षोडशे वर्षे' इस श्लोकको मनु २।६८ के 'एष प्रोक्तो द्विजातीनाम् औपनायनिको विधि:' इसके साथ सङ्गति मिल जाती है'।

यह वादीने श्रीतुलसीरामकी असफल चालबाजी लेली है। महाशय; २।६६-६७ यह पद्य अपवाद है; सो अपवादको काट कैसे दिया जा सकता है? उत्सर्ग-अपवादके बाद फिर आगेका उत्सर्ग आना ही हुआ, इसमें क्या नवीनता हो जाती है; और क्या प्रक्षिप्तता हो जाती है? इन श्लोकोंसे वादीका पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता।

पृ. १०७-१०८ वादी ६६-६७ पद्यको तो प्रक्षिप्त मानता है, पर उसके बाद लिखे हुए 'अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सन्ध्योपासनमेव च। कार्यं पत्न्या प्रतिदिनं बलिकर्म च नैत्यिकम्' इस साक्षात् प्रक्षिप्त श्लोकको जो न तो मनुस्मृतिके पद्योंकी संख्यामें परिगणित है; और न ही टीकाकारोंसे व्याख्यात है, उसे उद्धृत कर दिया है—यह है इन लोगोंकी लीला।

तथापि उक्त पद्य भी हमारे पक्षको कुछ भी हानि नहीं पहुंचाता।

यहां अग्निहोत्रकी पत्नीकी शुश्रूषा यह है कि—जो अग्नि उसके घरसे लाई हुई है, उसकी रक्षा करना कि—सदा जलती रहे; उसमें उपले आदि डालते रहना यह काम स्त्रीके जिम्मे होता है। सन्ध्योपासनासे वैदिक सन्ध्या पत्नीकी इष्ट नहीं होती, किन्तु भगवान्‌का नामस्मरणरूप-सन्ध्या श्लोकों वा हिन्दीपदोंमें होती है। वे स्त्रियां सवेरे-शाम अब भी करती

रहती हैं। यहाँ पाठ 'सायमुद्वासमेव च' था, वादीने उसके स्थान 'सन्ध्योपासनमेव च' कर डाला। बलिकर्मकेलिए स्वयं मनुने कहा है— 'पत्नी-अमन्त्रं बलिं हरेत्' (३।१२१) अर्थात् पत्नी बलिकर्म प्रतिदिन करे, परन्तु बिना मन्त्रके ही। इससे भी वादीकी कुछ भी पक्षसिद्धि नहीं; बल्कि हमारे ही पक्षकी सिद्धि है।

पृ. १७८ आगे वादीसे कुछ बन न पड़ा, तो 'अछूतोद्धार-निर्णय' से कुछ शब्द लिखता है-पर यह उसके प्रणेताने बिलकुल ही झूठ लिखा है- "यदि आप पारस्करादि-गृह्यसूत्रोंको देखेंगे; तो उनमें कन्याके भी समस्त संस्कार समन्त्रक ही पावेंगे'। इस विषयमें पृ. २१०-२११ में हम स्पष्ट कर चुके हैं।

पृ. १०९-११३ इसके आगे वादी आर्यसमाजी-श्रीभीमसेनजीके कई तर्क लिखता है। जब वे उस आर्यसमाजके अज्ञानसे निकल आये; सनातनधर्मी बन गये; तब उनके अज्ञानमूलक तर्कोंका क्या महत्त्व रह जाता है; तथापि उनके तर्कोंपर भी यहां विचार किया जाता है। हम इन तर्कोंका उत्तरदायित्व वादीपर ही डालते हैं; क्योंकि आर्यसमाजी पं.भी.से.जी तो इस समय हैं नहीं। वे लिखते हैं—

'अमन्त्रिका तु कार्येयं' श्लोक विचारणीय है। महाशय; तर्क और प्रमाणमें 'तर्क' का मूल्य उतना नहीं होता; जितना कि प्रमाणका। 'तर्काऽप्रतिष्ठानात्' (वेदा. २।१।११) तर्क अप्रतिष्ठित हुआ करता है। केवल तर्कीको 'हैतुक' कहते हैं, 'हैतुक' का शास्त्रमें सम्मान नहीं होता। मनुस्मृतिमें कहा है-'हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्' (४।३०) (तर्कियोंका वाणीमात्रसे भी आदर न करे)।

न्यायशास्त्र तर्कशास्त्र माना जाता है, पर वह भी तर्ककी अपेक्षा 'आगम' को ही अधिक प्रमाणित करता है—। न्यायविद्याको 'आन्वीक्षिकी' कहते हैं। न्यायभाष्यकार वादिप्रतिवादिमान्य श्रीवात्स्यायनमुनि १।१।१ सूत्रके भाष्यमें लिखते हैं।—

'क: पुनरयं न्याय: ? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय:' (प्रमाणोंसे पदार्थकी परीक्षाका नाम 'न्याय' कहा है, तर्कको यहाँपर नहीं कहा, किन्तु प्रमाणको।) आगे वे लिखते हैं—प्रत्यक्षागमाश्रितम् अनुमानं (तर्क:) सा अन्वीक्षा प्रत्यक्षागमाभ्याम् ईक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा। तया प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी-न्यायविद्या-न्यायशास्त्रम्।' यहाँपर भी प्रत्यक्ष तथा आगम (आप्तवचन) को ही न्यायका आधार बताया है, केवल तर्कको नहीं। आगे श्रीवात्स्यायनमुनि स्पष्टताकी सीमातीतता करते हैं—

'यत् पुनरनुमानं (तर्क:) प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभास: स: इति। अर्थात् जिस न्यायमें प्रत्यक्ष तथा आगम (आप्तवचन) से विरुद्धता हो; वह न्याय नहीं होता, किन्तु वह 'न्यायाभास' होता है। तब प्रमाणसे विरुद्ध दयानन्दी श्रीभीमसेनजीका यह न्यायाभास हुआ।

तर्कपर श्रीवात्स्यायनमुनि लिखते हैं—'तर्को न प्रमाणसंगृहीत:, न प्रमाणान्तरम्...सोऽयमित्थम्भूत: तर्क: प्रमाणसहितो वादे साधनाय, उपालम्भाय च अर्थस्य भवति' (१।१।१) 'कथं पुनरयं (तर्क:) तत्त्वज्ञानार्थो न तत्त्वज्ञानमेवेति ? (उ.) अनवधारणात्-अनुजानाति अयम् एकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न तु अवधारयति-न व्यवस्यति, न निश्चिनोति एवमेव इदमिति' (१।१।४०)

(तर्क कोई प्रमाण नहीं, तर्क वादमें प्रमाण-सहित ही दिया जाता है। तर्क कुछ निश्चित नहीं कर सकता।)

इसलिए उपवेदमें भी लिखा है—'तस्मात् तिष्ठेत्तु मतिमान् आगमे, न तु हेतुषु' (सुश्रुत.सूत्र. ४०।२१) (बुद्धिमान् पुरुष आगममें आवृत रहे, तर्कमें नहीं) दयानन्दी श्रीभीमसेनजीने 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' इस प्रमाणको तो नहीं माना; किन्तु केवल तर्क ही उसमें कर दिया। अत: उनका स्वत: पतन हो गया।

श्रीभी.से.जी लिखते हैं—'अमन्त्रिका तु कार्येयं' यह श्लोक विचारणीय है। उसमें लिखा है—'कन्याओंके संस्कार बिना मन्त्र पढ़े करने चाहियें। इसपर शङ्का/ होती है कि—ऐसा क्यों करें ? यदि शरीरके संस्कारमें मन्त्रपाठ भी होता है; तो शरीरका संस्कार वा शुद्धिकेलिए सब क्रिया ज्यों की त्यों करे—यह कथन विरुद्ध पड़ता है।

यह दयानन्दीजीकी बात गलत है। जबकि पद्यमें लिखा है कि—कन्याओंका सभी पूरा कृत्य **बिना मन्त्रके** पूरा करे, इससे कन्याके शरीरका संस्कार होगा; तब उनका यह लिखना कितना बेहूदा है कि—'यदि शरीरके संस्कार' में मन्त्रपाठ भी होता है; तो सब क्रिया ज्यों की त्यों करे-यह कथन विरुद्ध पड़ता है'। यह दयानन्दजीने कितनी गलत बात लिखी है। जब मनुका वचन कहता है कि—कन्याका संस्कारादि-कृत्य तो पूरा करो, पर **मन्त्र मत पढ़ो**; तभी उसकी शारीरिक शुद्धि होगी, पर दयानन्दीजीने बनावटसे लिख दिया कि—शरीरके संस्कारमें मन्त्रपाठ भी होता है, यह अपनी कल्पनासे कैसे लिख दिया ? मनुजी स्पष्ट कहते हैं कि—कन्याके कृत्यमें मन्त्रपाठ नहीं होता। पर दयानन्दीजी अपनी इच्छानुसार कैसे लिख रहे हैं कि—कन्याके शरीरके संस्कारमें मन्त्रपाठ भी होता है। यही दयानन्दीपनकी निशानी है कि—मूलकारसे विरुद्ध अर्थ करना। तब दयानन्दीका कथन तो स्वतः विरुद्ध हो गया; मनुजीका कथन परस्पर-विरुद्ध सिद्ध न हुआ।

आगे दयानन्दीजी लिखते हैं—'यदि कदाचित् मानते हैं कि—शूद्रके तुल्य स्त्रियां नीच हैं; तो विवाहमें भी उनका मन्त्रोंसे संस्कार नहीं करना चाहिये'। क्या दयानन्दीजीने यह अपवाद-वचन कभी नहीं सुना—'तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' (याज्ञ. १।२।१२); तब इस अपवादवचनके बलसे विवाहमें स्त्रियोंको मन्त्र सुननेका कोई दोष नहीं रहा। मनुजी भी स्वयं कहते हैं—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' (२।६७) यहां स्त्रियोंका वैवाहिक-संस्कार वेदमन्त्रोंसे माना है;

अतः वादीका प्रश्न ही नहीं बन सकता। हम भी स्त्रीको शूद्र नहीं कहते, किन्तु उपनयनादिके अभावके अंशमें उसे शास्त्रमें शूद्रवत् कहा है। 'वति' प्रत्ययसे सर्वसाम्य नहीं हो जाता। किसीको कहा जावे—'अयं पशुवद् वर्तते' सो उसे विवक्षित-अंशमें पशु-जैसा माना जाता है, सर्वांशमें नहीं। नहीं तो फिर उस पुरुषको खली-भूसा भी खिला दिया जाया करे। पर वैसा नहीं होता। सो स्त्री, शूद्र नहीं है, शूद्रवत् है। सो वेदमन्त्रोंके सुननेमें वा विशेष-वचनवश कोई मन्त्र बोलनेका उसे निषेध नहीं हो जाता।

जोकि आगे दयानन्दीजी कहते हैं—'यदि वेद पढ़ने वा सुननेका स्त्रियोंको अधिकार न हो; तो वेदमें भी निषेध मिलना चाहिये; सो नहीं दीखता' इससे मालूम होता है—दयानन्दीजीको उस समय वेदका ज्ञान भी पूरा नहीं था। देखिये वेदमें 'कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः' (अ. ११।५।६) सो कोई भी स्त्री कृष्णमृगचर्मको नहीं पहरती; उपनयनकी दीक्षा नहीं लेती; वह त्रिकालमें भी दीर्घश्मश्रु तो क्या; 'श्मश्रुमती' भी नहीं है। इस विषयमें हम पृ. ६५-७२ में स्पष्टता कर चुके हैं।

आगे दयानन्दीजी लिखते हैं—'यदि कोई कहे—'स्त्रियोंको वेद पढ़ाना चाहिये' ऐसा वेदमें विधान भी नहीं मिलता। इसपर देखिये—वे कितना लचर उत्तर देते हैं—'जैसा विधान पुरुषोंको मिलता है, वैसा ही स्त्रियोंकेलिए है'। यह बात वादीकी गलत है; तभी तो मनुजीने कहा है—'निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियो' (९।१८) इन्द्रियसे यहां 'शुक्र' इष्ट है, सो स्त्रियां शुक्रसे हीन हैं। शुक्र न होनेसे उनमें उनकी मूछें भी नहीं होतीं; यह अपूर्णताका चिन्ह है; अतः उनमें पूरे स्वर भी नहीं होते, किन्तु पञ्चम-स्वर ही प्रधान होता है। तब सामान्यतया स्वरहीन मन्त्रोच्चारण कराना 'अपवादको छोड़कर' उनकेलिए 'उपयोगी' नहीं, किन्तु हानिकारक भी है।

आगे दयानन्दीजी कहते हैं—'जो-जो कर्म वेदादिशास्त्रोंमें ब्राह्मणादि-

वर्णोंको कर्तव्य मानकर कहे गये हैं, वे-वे उन-उनकी स्त्रियोंको भी वैसे ही कर्तव्य हैं; क्योंकि—स्त्री-पुरुषकी अर्धाङ्गी है। स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर पूरे हैं; एक-एक अधूरे हैं, इसलिए जहाँ पुरुषको अधिकार है; वहाँ उसकी स्त्रीको अवश्य होना चाहिये'! यह वादीका स्वय विषम-उपन्यास है। वादीने स्वयं पति-पत्नीको पृथक्-पृथक् अधूरा माना है। तब यदि दोनों विद्या पढेंगे; दोनों अधूरे-अधूरे कैसे रह जावेंगे, तब तो दोनों पूर्ण-पूर्ण हो जावेंगे। अतः वादीका यह विषम-उपन्यास सिद्ध हुआ। दोनों समान विद्वान् हो जाएंगे; तो गुरु-शिष्यभाव नहीं रह सकेगा।

जब ऐसा है, तो पुरुष विद्या पढ़ेगा; पर सेवा नहीं करेगा। स्त्री सेवा करेगी; पर विद्या नहीं पढ़ेगी। तब मिलकर स्वतः दोनोंकी पूर्णता हो जावेगी। पुरुष गर्भ कर सकता है, पर गर्भ धारण नहीं कर सकता। स्त्री गर्भधारण कर सकती है; पर किसी स्त्रीके गर्भ नहीं कर सकती। इससे स्पष्ट हुआ कि—स्त्रीका कार्य पुरुषकी सेवा है; शेष सभी यज्ञादि कर्म पुरुषके हैं। दोनोंको यदि सभी समान कर्म दे दिये जाएं; तो स्वस्वामि-भावसम्बन्ध नहीं हो सकता। पुरुष यज्ञ करेगा; स्त्री सामग्री बनावेगी, घी देखेगी। लकड़ियाँ काटेगी; अग्निको बुझने नहीं देगी। इसीसे मिलकर पूर्णता होगी।

आगे दयानन्दीजी लिखते हैं—'जब स्त्री-शरीरसे बने हुए बालकोंका अधिकार है; तो उन बालकोंकी उपादानकारणस्वरूप स्त्रियोंका अधिकार न माना जाय, यह पक्षपातमात्र है'।

केवल-स्त्रीके शरीरसे बच्चा नहीं बनता; पुरुषका भाग भी उसमें प्रमुख होता है। वह पुरुषके भागसे वेदादिका अधिकार लेता है, स्त्रीके भागसे नहीं। स्त्रीके भागसे तो लड़कीको गर्भ तथा प्रसवादि प्राप्त होते हैं, यह वादीके निस्सार-तर्क हैं। 'तस्मात् तिष्ठेत्तु मतिमान् आगमे, नतु हेतुषु' (सुश्रुत. सूत्र. ४०।२१)

जोकि वादी कहता है कि—स्त्री-पुरुष जैसे भोजनादि तथा आचरणादि करते हैं, उनका पुत्र भी वैसा होता है। यह वादीने 'आहाराचार-चेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोपि तादृशः' सुश्रुत शारीरस्थानके पद्यका भाव दिया है, पर सुश्रुतमें स्त्रीकेलिए वेदादिका अध्ययन तथा उपनयनादि नहीं लिखा है। अतः वादीका पक्ष कट गया।

जोकि आगे वादी लिखता है—'पुरुष'-शरीरमें जितना रस-रुधिर-मांसादि धातुओंका समुदाय है, वह बाल्यावस्थामें माताके शरीरसे आता हैं', यह बात ठीक नहीं। स्त्री तो उत्पादनका यन्त्र है, प्रमुख भाग पुरुषके शुक्रसे आता है। शुक्रमें सातों धातुओंका समुदाय है, पर स्त्रीमें केवल तीन धातुओंका ही समुदाय है। पृथ्वी जैसे उत्पादक यन्त्र है, उसमें बीज ही सही उत्पत्ति करता है। भूमिके निकृष्ट होनेपर भी बीजकी उत्तमतासे पदार्थ उत्तम उत्पन्न होता है, तब वादीका यह कथन कि—यदि स्त्री वेदादि न पढ़नेसे निकृष्ट है, तो उसका बच्चा उत्तम कैसे हो सकता है?' कट गया।

यह याद रखना चाहिये कि—स्त्री क्षेत्ररूप है, और पुरुष बीजरूप है। मनुजीने कहा है—'क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्। क्षेत्र-बीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम्' (३३)। बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते। सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता' (९।३५) (बीज और योनि (क्षेत्र) इन दोनोंके बीचमें बीज उत्कृष्ट माना जाता है। सब प्राणियोंकी पैदायश बीजसे ही होती है; तब वादीका आक्षेप कट गया। पति वेदादिका विद्वान् हो; स्त्री यदि वेदादिकी विदुषी नहीं है; तथापि पतिसे सुननेसे उसकी सन्तानपर प्रभाव पड़ता ही है।

सुभद्रा सैनिक-व्यूहोंके विषयमें अनजान थी, अर्जुन चक्रव्यूहके प्रवेशका ढंग सुभद्राको सुना रहे थे; उसके प्रभावस्वरूप लड़का-

अभिमन्यु भी चक्रव्यूहके भेदन करनेवाला बना। जब अर्जुन चक्रव्यूहसे निकलनेका ढंग सुभद्राको सुना रहे थे; तो उसे नीन्द आ गई; तब उससे उत्पन्न अभिमन्यु भी चक्रव्यूहसे निकल न सका। फलतः स्त्री अविदुषी होनेपर भी पतिकी विद्वत्तासे सन्तान भी वैसी विद्वान् बन सकती है। दयानन्दी-श्रीभीमसेनजीके तर्क खण्डित हो गये।

दयानन्दी-श्रीभीमसेनजीने लिखा था-'इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते' इति मानववचनेन ज्ञायते अन्नस्य पृथिवीव मनुष्याणामुत्पादिका स्त्री' परन्तु इसका उत्तरार्ध दयानन्दीजीने छिपा दिया था, जैसे कि-प्रायः सभी दयानन्दियोंकी यह दुष्प्रकृति है। उत्तरार्ध यह था कि-'न च योनिगुणान् कांश्चिद् बीजं पुष्यति पुष्टिषु' (९।३७) (बीज-योनिके गुणोंको नहीं लेता।) इसपर श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है-'तस्माद् योनिगुणानुवर्तनाऽभावाद् न क्षेत्रप्राधान्यम्' (अर्थात् सन्तानमें योनिके गुणोंका अनुवर्तन नहीं होता; अतः क्षेत्रकी प्रधानता नहीं होती; किन्तु बीजकी ही प्रधानता होती है। तब सन्तानपर बीज (पुरुष) का ही प्रभाव पड़ेगा; क्षेत्र (स्त्री) का उतना नहीं। इससे आवश्यक नहीं कि-स्त्री भी वेद पढ़ी हुई हो, पुरुषकी वेद-विद्वत्तासे सन्तान प्रभावित होगी।

इस प्रकार दयानन्दी-भीमसेनजीका जब मनुजीने कचूमर निकाल दिया; तभी उन्हें सनातनधर्मी बनना पड़ा। तब उनकी शक्ति नहीं हो सकती कि-इत्थं पुरुषवत् स्त्रीणामपि अधिकारे सिद्धे 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' इति ६६ पद्यं प्रक्षिप्तमिति प्रतिभाति' (इस प्रकार पुरुषकी भान्ति स्त्रीके भी अधिकार सिद्ध होनेसे 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' यह मनुस्मृतिका पद्य प्रक्षिप्त मालूम होता है कि-मनुजीके 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' इस पद्यको प्रक्षिप्त कह सकें। यदि वे इस पद्यको प्रक्षिप्त मानेंगे, तो लड़कीका कोई भी संस्कार मनुस्मृतिके अनुसार हो ही नहीं सकता। इस विषयकी स्पष्टता इसी पुष्पके पृ. १७४-१८३ में देखें।

यद्यपि आर्यसमाजी-भीमसेनजीका मानवधर्म-मीमांसाके उपोद्घातमें स्थित लेख हम माननेको बाध्य नहीं थे; परन्तु वादीने उनके इस लेखको अकाट्य समझ रखा था-यह उन्हें व्यामोह न रह जावे; अतः हमने उनके लेखका अक्षर-अक्षर खण्डित कर दिया। अपने अज्ञानको वे जानते थे, अतः उन्होंने आर्यसमाजरूप अज्ञानको छोड़कर पीछे सनातनधर्मकी शरण ले ली। अब वादी समझ गया होगा कि-उनका यह लेख युक्तियुक्त तथा महत्त्वपूर्ण सिद्ध न होकर 'निकम्मा' ही सिद्ध हुआ।

पृ. ११४-१२२ वादी आगे लाचारीसे लड़कियोंके संस्कारोंमें मन्त्र न बोलना मानता है; पर होम समन्त्रक दिखलाता है। पहले वहां म.म. श्रीमित्रमिश्रके 'वीर-मित्रोदय' का मत देता है-'अथ स्त्रीणां जात-कर्म। तत्र मनुः-'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृद् अशेषतः' गोभिलोपि-'तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां, मन्त्रेण तु होमः इति होमपदं स्वस्ति-वाचनादीनाम् अङ्गानामुपलक्षणम्, तेन तान्यपि समन्त्रकाणि भवन्ति' (लड़कियोंकी जातकर्मादि क्रिया तो मन्त्ररहित करें, पर होम समन्त्रक होना चाहिये। यहां मित्रमिश्र होमसे स्वस्तिवाचनादि अङ्ग-क्रियाओंका उपलक्षण मानते हैं।) वे लिखते हैं—

'अमन्त्रकत्वस्य यज्ञाथर्वणे वै काम्या इष्टयः, ता उपांशु कर्तव्याः (पू. मी. ३।८।१९) प्रधानमात्रधर्मत्वात्। ततश्चात्र घृतमधुप्राशनादि-मन्त्राणामेव निवृत्तिः, न अङ्गमन्त्राणाम्'। याज्ञवल्क्योपि-'तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' (संस्कारप्रकाश पृ. १०४)।

इससे श्रीमित्रमिश्रने बताया है कि-लड़कियोंके जो प्रधान-संस्कार आदि कृत्य हैं; वे तो बिना मन्त्रके करावे; पर जिनका लड़कियोंसे सीधा सम्बन्ध नहीं, वे अङ्गकार्य, स्वस्तिवाचन आदि समन्त्रक होने चाहियें।

इससे भी वादीका ही पक्ष कटा। क्योंकि—जो जातकर्मादि प्रधान-संस्कारकृत्य जिसमें मधु आदिका प्राशन है—वे लड़कियोंके अमन्त्रक ही होते हैं, इससे लड़कीकी अमन्त्रकता स्वत: सिद्ध हो गई। होम तथा स्वस्तिवाचन तो अङ्गकार्य हैं; यह तो सर्वत्र हुआ करते हैं. उनका लड़कीसे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं; अत: उनकी समन्त्रकतामें लड़कियोंके कर्मकी समन्त्रकता सिद्ध न हुई। हाँ, विवाहमें अपवादरूपतावश लड़कियोंका संस्कार भी समन्त्रक माना जाता है। अपवादसे व्यवस्था नहीं होती है, किन्तु उत्सर्गसे ही। उसका कारण यह है कि—स्त्रीका विवाह उसके द्विजत्वार्थ उसका उपनयन-स्थानीय होता है, वास्तविक उपनयन लड़कियोंका न होनेसे उपनयनमूलक सारे अधिकार तो लड़कियोंको नहीं मिलते; पर उपनयन-स्थानीयतावश, उन्हें विना भी साक्षात् उपनयनके द्विजकल्पता प्राप्त हो जाती है। इससे वह विवाह तथा वैवाहिक-यज्ञार्थ कई विशेष मन्त्र पति वा पुरोहितके आश्रयसे बोल सकती है।

यदि उसका वेदोंमें अधिकार निर्बाध होता; तो उसका जनेऊ भी साक्षात् होता; पर वह किसी भी शास्त्रसे अभ्यनुज्ञात नहीं; क्योंकि—जनेऊ ब्रह्मचर्याश्रमके आरम्भमें होता है, ब्रह्मचर्याश्रमकी समाप्ति एवं विवाहारम्भमें भला जनेऊ कैसे हो? सो स्त्रीके द्विजत्वार्थ तथा विवाहके उत्पत्तिमूलक भावी सन्तानादिका विचार करके उसे कई स्वविषयक मन्त्रोंकी वर आदिकी सहायतासे बोलनेकी अभ्यनुज्ञा प्राप्त हो जाती है. पर साक्षात् उपनयन-संस्कार न होनेसे उसे 'क्रमेण विधिपूर्वकम्' (२।१७३) इस मनुके वचनानुसार सीधा वेदमें अधिकार नहीं हो जाता। यह है सनातनधर्मकी शास्त्रानुसारिणी अकाट्य व्यवस्था। अत: इससे वादीकी पक्षसिद्धि थोड़ी भी नहीं।

पृ. ११५ वादी स्त्रीके चूडाकर्ममें श्रीमित्रमिश्रका वचन उद्धृत करता है—आश्वलायनगृह्येऽपि-आवृतैव कुमार्या इति' (लड़कीका बिना मन्त्रके

चूडाकरण करो। स्मृतिरपि आह—'हुतकृत्यं तु पुंवत् स्यात् स्त्रीणां चूडाकृतावपि। हुत-कृत्यं होम:। पुंवत्-समन्त्रक:। तेन प्राधानमात्रम् अमन्त्रकम् इत्युक्तं प्राक्। इससे श्रीमित्रमिश्रने सिद्ध किया है कि—लड़कियोंका प्रधान संस्कार तो अमन्त्रक ही होता है। परन्तु अङ्गभूत होमकी समन्त्रकतामें हम पहले स्पष्टता कर चुके हैं। वादीको भी स्वयं मानना पड़ा कि—स्त्रियोंके चूडाकर्ममें भी हवन मन्त्र-सहित होता है, केवल-कुछ प्रधानक्रिया चुपचाप कर दी जाती हैं।) यहां वादी 'भीगी-बिल्ली' बन गया है। यहां उसके 'केवल-कुछ' यह शब्द चिन्त्य हैं, प्रधानकृत्य उस लड़कीका 'केवल-कुछ' नहीं, किन्तु पूराका पूरा मन्त्र-रहितही होता है। इससे वादीका पक्ष कट गया।

पृ. ११६ आगे वादी हरिहराचार्यका भाष्य उद्धृत करता है—'एतानि जातकर्मादि-चूडाकरणान्तानि कर्माणि अमन्त्रकाणि कार्याणि। तदुक्त कारिकायाम्-जातकर्मादिका: स्त्रीणां चूडाकर्मान्तिका: क्रिया:। तूष्णीं, होमे तु मन्त्र: स्यात् इति गोभिल-भाषितम्'। इससे वादीका तथा अछूतोद्धार-प्रणेता तर्करत्नजीका स्पष्ट खण्डन हो गया, जो कहते हैं कि—'लड़कियोंके सभी संस्कार गृह्यसूत्रोंमें समन्त्रक लिखे हैं—' सो यह बात भी पूर्वसदृश हुई—उसपर पूर्व स्पष्टता कर ही चुके हैं। वादीने स्वयं मान लिया कि—'जातकर्मसे चूडाकर्म तक स्त्रियोंकी प्रधान-क्रियाएं चुपचाप की जाती हैं, किन्तु अङ्गभूत हवन तो मन्त्र-सहित ही करना चाहिये'। अङ्गीवाली बात मान्य होती है, अङ्गवाली नहीं।

आगे वादी प्रयोग-पारिजातका वचन देता है—'होमस्तु समन्त्रक:' इससे सिद्ध हुआ कि—लड़कियोंके संस्कारोंकी प्रधान-क्रियाएं अमन्त्रक ही होती हैं। अङ्गहोमादि क्रियाका लड़कीसे सम्बन्ध न होनेसे केवल देवताओंसे सम्बन्ध होनेसे समन्त्रकता होती है। इससे बेचारे वादीका पक्ष ही छिन्न-भिन्न हो गया।

आगे फिर वादी टीकाकार-राघवका 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' की

व्याख्याका उद्धरण देता है—'आवृत्-जातकर्मादि क्रियाकलाप-परिपाटी अमन्त्रिका। अनुपयुक्ता होमास्तु समन्त्रका एव। सो होम वहाँ संस्कारका प्रधान-कार्य नहीं; किन्तु अङ्ग (गौण) कार्य है। अतः उसमें हमारे पक्षकी कुछ भी क्षति नहीं पड़ती। अतः उसे 'अनुपयुक्त' कहा है।

कहाँ वादी 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' इस मनुपद्यकी प्रक्षिप्तताका अकाण्ड-ताण्डव कर रहा था; कहाँ अब उसे अपने अनुसार प्रक्षिप्त भी मनुवचनको ठीक मान रहा है। हवनकी समन्त्रकताका प्रत्युत्तर हम पहले दे ही चुके हैं।

यह जो वादी लिखता है—'अन्य संस्कारोंमें भी हवनादि सब मन्त्र-सहित होते हैं, फिर वैदिक-कर्मकाण्डमें इससे लड़कियोंका अनधिकार कैसे सिद्ध हुआ?' यहाँ वादी जानता-बूझता हुआ भी मनचला-सा बन रहा है। अरे भाई; लड़कीके जब प्रधान-कार्य संस्कारमें मन्त्रवर्जितता सिद्ध हो गई; तब हमारा पक्ष ही सिद्ध हुआ। अङ्गकार्य-हवनादिसे लड़कीका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। वह तो देवकार्य है।

पृ. ११०-१२२ आगे वादी लिखता है—'दूसरा प्रश्न यह है कि 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' इस श्लोकको मनुजीका वचन माननेपर उसमें उपनयन-संस्कारका भी समावेश है-या नहीं? इस विषयमें म.म. श्रीमित्रमिश्रके 'वीरमित्रोदय' के संस्कारप्र. में और विद्वद्वर श्रीरामकृष्णके 'संस्कार-गणपति' में विशेष विमर्श किया गया है; जिसे उपयोगी होनेसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

'अथ स्त्र्युपनयनम्। तत्र हारीतः—द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च...इत्यादि। (स्त्रियोंके उपनयनके विषयमें हारीतने कहा है-'स्त्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं। ब्रह्मवादिनी, तथा सद्योवधू। उनमें ब्रह्मवादिनियोंका उपनयन, वेदाध्ययन, घरमें भिक्षादि नियम होते हैं। सद्योवधुओंका विवाहकाल उपस्थित होनेपर किसी प्रकार उपनयन-मात्र कर उनका विवाह कर देना चाहिये। यमने भी कुमारियोंका

मौञ्जीबन्धन और वेदोंका पढ़ाना सावित्रीवाचन कहा है। उसे पिता, वा चाचा वा भ्राता ही पढ़ावे, दूसरा नहीं। अपने घर में ही यह भिक्षा मांगती है। मृगचर्म न पहरे, वृक्षकी छाल न पहरे, जटा न रखे, इसका पूरा प्रत्युत्तर हम पृ. ८०-९६ में दे ही चुके हैं।

यमोऽपि—'पुरा कल्पे कुमारीणाम्, इत्यादि। पुराकल्पेऽर्थवादविधेये। तत्र आर्थवादिकविधेः सार्वकालिकत्वे शिष्ट-स्मृति-विरोधदर्शनात्-कल्पान्तरे-इति स्मृतिचन्द्रिकारः। पित्रादिरेव एनामध्यापयेद् नापरः-इति अन्वयः।

मनुरपि—'प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसः इत्युपक्रम्य नामकरणादि-केशान्तान् पुरुष-संस्कारान् विधाय अन्ते पूर्वोक्तसंस्कारेतिकर्तव्यतां स्त्रीषु अतिदिशति-'अमन्त्रिका तु कार्येयं' स्त्रीणामावृद् अशेषतः इत्यादि। अत्र इयमिति सर्वनाम्ना बुद्धिस्थ-परामर्शात् सप्तानां च संस्काराणां बुद्धिस्थतया उपनयनस्यापि तदन्तर्गततया अतिदेशात् स्त्रीणामपि अमन्त्रक-मुपनयनं सिध्यति।

मनुने भी कहा है—'नाभि काटनेसे पूर्व पुरुष-बच्चेके संस्कार करे, फिर लड़कीके भी वे विना मन्त्रके करे। यहाँ 'इय' से सात संस्कार कहे, उनमें उपनयन भी गिना गया है, अतः लड़कियोंका उपनयन भी बिना मन्त्रके सिद्ध हो जाता है।)

अब हम श्रीमित्रमिश्रके लेखकी आलोचना करते हैं। उनसे कहा हुआ लड़कियोंको अमन्त्रक भी उपनयन मनुस्मृतिसे विरुद्ध ही है। मनु-स्मृति स्त्रियोंका उपनयन एवं वेदाध्ययन स्वीकृत नहीं करती—यह हम पहले सिद्ध कर ही चुके हैं।

'अमन्त्रिका तु कार्येयं' (मनु. २।६६) में यद्यपि उपनयनान्त-संस्कारोंका ग्रहण प्राप्त था, तथापि 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां' (मनु. २।६७) इस अग्रिमपद्यसे स्त्रीके विवाहको वैदिक-संस्कार उपनयनके स्थानापन्न कहे होनेसे पूर्व पद्यमें उपनयनके सर्वथा निवृत्त हो जानेसे

पूर्वपक्षमें स्त्रियोंके चूडाकरणान्त ही संस्कारोंकी अमन्त्रकता सिद्ध होती है। स्त्रीका **अमन्त्रक भी उपनयन इष्ट नहीं है।**

मित्रमिश्र आगे कहते हैं—'ये तु चूडान्तानामेव इदमा परामर्शो नोपनयन-केशान्तयो: इति मन्यन्ते, तेषामसम्बन्धि-व्यवधानेन विच्छिन्न-बुद्धीनां परामर्शं वदतां कथमिव लज्जा न आननम् आनमयति'।

इसका अर्थ वादीने यह किया है—जो चूडाकर्म पर्यन्त-संस्कारोंका ग्रहण है, उपनयन और केशान्तका नहीं, ऐसा कहते हैं, क्यों नहीं उन भ्रष्ट-बुद्धिवाले लोगोंको कुछ भी लज्जा आती।) यहांपर वादीने 'असम्बन्धि-व्यवधानेन विच्छिन्न-बुद्धीनां परामर्शं वदतां' इस मित्रमिश्रके वाक्यका अर्थ नहीं किया। उसने स्वयं जाना होगा कि—इसमें मित्रमिश्रजीने चूडाकरण तकका ग्रहण करनेवालोंको केवल गाली ही दे दीं हैं, उसमें उल्लेखनीय कुछ भी उपपत्ति नहीं दी। अत: उनका पक्ष निरुपपत्तिक सिद्ध है।

तब उन स्त्रियोंका उपनयन **अमन्त्रक भी नहीं** होता। वे स्त्रियां तो मनुके अनुसार 'निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रिय:' (९।१८) पहलेसे ही अमन्त्रिका हैं—वेदमन्त्रकी अधिकारिणी नहीं हैं; तब उनका मन्त्रहीन उपनयन भी अनर्थक ही सिद्ध होगा। हो उपनयन; पर वह **मन्त्रोंका अधिकार** न दिलावे, वह उपनयन ही क्या हुआ? इस प्रकार मनुके पद्योंमें स्त्रियोंके उपनयनाधिकारकी सङ्गति अन्वित नहीं होती।

आगे वादी श्रीमित्रमिश्रका यह वचन उद्धृत करता है—'अथ तूष्णीमेता: क्रिया: स्त्रीणां इति याज्ञवल्क्यैकवाक्यतया 'चूडान्तानामेव [संस्काराणां] परामर्शो नोपनयनान्तानामिति'; तर्हि यमहारीतैकवाक्यतया उपनयनपरामर्शोपि कथं नाङ्गीक्रियते?

(यदि कहो कि—याज्ञवल्क्यके वचनके साथ एकवाक्यता या समन्वय करनेकेलिए 'इयं' से चूडाकरणान्त संस्कारोंकी पद्धतिका ग्रहण होगा; तो यम और हारीतके साथ समन्वय करनेकेलिए क्यों नहीं 'इयं' से उपनयनान्त संस्कार-पद्धतिका ग्रहण किया जावे?)।

यह श्रीमित्रमिश्रका सन्दर्भ जिस हारीतके वचनके बलसे उपन्यस्त किया गया है, उससे विरुद्ध भी है; क्योंकि हारीत तो ब्रह्मवादिनियोंका **यावज्जीवन विवाह ही नहीं मानते,** वे उन्हें सारी आयु कुमारी रहना ही **स्वीकृत करते हैं।** तब यह सर्वसाधारण-स्त्रियोंका विषय न रहा; क्योंकि—अरबों-खरबोंमें कोई कदाचित् एक ही स्त्री मिले; जो विवाह न करे। शेष सद्योवधू रह जाती हैं; उनका उपनयन तो वैध कोई होता ही नहीं; वहाँपर उनका पतिके पास वैध ले जाना और उससे उपवस्त्र मिलना; उसे ही **जनेऊकी भांति लपेट लेना**—यही उपनयन होता है, यह वैध-उपनयन नहीं होता। 'मन्त्रोपनीता' (वसिष्ठ १७।३४) इत्यादि उसके ज्ञापक शब्द हैं। यहाँ यह अर्थ मित्रमिश्र भी स्वीकृत नहीं करेंगे कि—वह मन्त्रसे जनेऊ की गई। किन्तु यही मानेंगे कि—वह मन्त्रपूर्वक पतिके पास (उपनीता) विधिपूर्वक ले जाई गई हुई)।

तब उन सद्योवधुओंकेलिए भी 'प्राग् रजोदर्शनात् समावर्तनं, प्रागेव रजोदर्शनाद् विवाहश्च' यह मित्रमिश्रके द्वारा कहा हुआ वचन निर्मूल ही है। ब्रह्मवादिनियोंका तो न कहीं समावर्तन कहा गया है; और न विवाह?

न्यूनसे न्यून एक वेदके पठनार्थ स्मृतिप्रणेता नौ वर्षकी अवधि दलाते हैं। यदि ब्रह्मवादिनियोंको अमन्त्रक या समन्त्रक उपनयत है, उसके बाद उनका वेदाध्ययन है; और रजोदर्शनसे पूर्व उनका समावर्तन वा विवाह है, तो मित्रमिश्रके मतमें असङ्गति आ पड़ती है। रजोदर्शन १२वें वर्षके बाद हो जाता है; तब वह ब्रह्मवादिनी क्या १२वें वर्ष तक वेदाध्ययन पूरा कर लेगी? यह कितनी भारी असङ्गति है? क्योंकि-उनके मतमें ब्रह्मवादिनी लड़कियोंका उपनयन ८वें वर्षमें हो; उस समय उनका वेदारम्भ तथा वेदाङ्गोंका अध्ययन होगा। इस प्रकार चार वर्षसे अधिक इधर ही लग जायेंगे। इसपर वादी भी अपने आनार्थके

स.प्र.में ३य समुल्लासमें अपने स्वामीजीकी 'पठन-पाठन-विधि' देख ले, यदि वह हमारी बात न माने तो। तब उन लड़कियोंका रजोदर्शन उपस्थित हो जानेसे मित्रमिश्रजी कब उन लड़कियोंका वेदाध्ययन करावेंगे, और कब उनका समावर्तन (शिरोमुण्डन) और विवाह करावेंगे? क्योंकि-श्रीमित्रमिश्रजी रजोदर्शनसे पूर्व लड़कियोंका समावर्तन चाहते हैं; सो महाराज शास्त्रविरुद्ध अर्थ करनेसे ये ही ग्रन्थियां आगे आ उपस्थित होती हैं; जो सुलझ नहीं सकतीं। सो आप गलत अर्थोंमें अपनी बुद्धिका दुरुपयोग मत करें। हारीतके अनुसार ब्रह्मवादिनी यावज्जीवन विवाह ही नहीं करती; तब उसके विरुद्ध मिश्रजीका यह अकाण्ड-ताण्डव कैसा?

इधर मिश्रजीने सद्योवधुओंका विवाहकालमें उपनयन कहा है। वहां उन्होंने उनका वेदारम्भ तो माना नहीं। तब उन कन्याओंका सद्यः-समावर्तन ही कैसे होगा? समावर्तन वेद-विद्याकी समाप्तिका नाम होता है। जिसमें मुण्डन हुआ करता है। तब आप हारीत-यम आदि की एकवाक्यतासे मनुके वचनमें चूडाकरणान्तके स्थान 'उपनयनान्त' अर्थ कभी कर ही नहीं सकते।

यह जो मित्रमिश्रने कहा है—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। इति अग्रेतनवाक्येन विवाहस्य उपनयन-स्थानापत्ति-विधानान्यथानुपपत्त्या इदमः सङ्कोच इति न वाच्यम्। तस्य स्मृत्यन्तरा-विहित-उपनयनाभावपक्षे विवाहस्य तत्स्थानापत्ति-विधायकत्वेनापि चरितार्थत्वाद् न इदमः संकोचः'।

('वैवाहिको विधिः स्त्रीणां' इस अगले मनुपद्यसे सङ्गत्यर्थ 'इयं' के अर्थमें चूडाकरण तक संकोच करना चाहिये—यह कहना भी ठीक नहीं। इसका यह अभिप्राय लिया जा सकता है कि—किसी अन्य स्मृतिका स्त्रीके उपनयनाभावका पक्ष हो; उसकी दृष्टिसे विवाह उपनयन-स्थानीय है; इसलिए मनुके वाक्यमें 'इयं' से चूडाकर्म तकका संकोच नहीं, उपनयनका

भी उसमें ग्रहण है।)

यह श्रीमित्रमिश्रका वचन कितना हास्यास्पद है? महाराज! यह याद रखो कि—'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' (विधि भी साथवालेकी होती है, निषेध भी साथवालेका ही होता है।) वस्तुतः 'अमन्त्रिका तु कार्येयं' से चूड़ाकरणान्त-संस्कारोंके अमन्त्रक आदेशसे फिर लड़कियोंका उपनयन भी अमन्त्रक प्राप्त था; उसके निषेधकेलिए मनुजीने 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इस न्यायसे 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां' यह पद्य बनाया है। इसे सभी प्राचीन टीकाकारोंने भी ऐसा ही माना है। इसकेलिए पृ. १७६-१७८ देखिये।

थोड़ा-सा निर्देश यहांपर भी देते हैं। श्रीकुल्लूक कहते हैं-'अमन्त्रिका तु अनेन [कन्यानाम्] उपनयने प्राप्ते विशेषमाह-'वैवाहिको विधिरिति' ('अमन्त्रिका पद्यसे कन्याओंका अमन्त्रक उपनयन भी प्राप्त था; उसपर मनु विशेषता कहते हैं-'वैवाहिको विधिः स्त्रीणाम्'।

श्रीमेधातिथि कहते हैं—'पूर्वेण आवृद्-वचनेन जातकर्मादिवद् उपनयनेपि अमन्त्रके प्राप्ते, तन्निवृत्त्यर्थमारभ्यते-'वैवाहिको विधिः' इति। ('अमन्त्रिका' पद्यसे जातकर्मादिकी भांति लड़कियोंका उपनयन भी अमन्त्रक प्राप्त हुआ, उसके हटानेकेलिए 'वैवाहिको विधिः' पद्य मनुजीने बनाया है।)

श्रीराघवानन्द कहते हैं-'एवमुपनयनेपि [स्त्रीणाम्] अमन्त्रके प्राप्ते आह-'वैवाहिको विधिः' इत्यादि।

तब बलात् मित्रमिश्र-द्वारा 'उपस्थितं परित्यज्य अनुपस्थितस्य कल्पनाऽन्याय्या'। इस न्यायके अनुसार अन्य स्मृतियोंकी ओर दौड़ लगानी श्रीमित्रमिश्रकी अनुचित है। मनुस्मृति सृष्ट्यादिप्रणीत है, उससे पहले भला अन्य कौनसी स्मृति वादिमान्य हो सकती है?

तब बलात् श्रीमित्रमिश्रद्वारा उक्त-मनुवचनको अपने पक्षमें लगाना अनुचित ही है, स्वयं मनुसे विरुद्ध है। तब इसी पद्यसे मनुके पूर्व पद्यमें 'इयं'

से चूडान्तसंस्कारोंकी क्रियाका ही परामर्श है, उपनयन एवं केशान्तका नहीं।

केशान्त १६-२२-२४ वर्षोंमें हुआ करता है। वादीके मतमें तो यह अवस्था कन्याके विवाहकी है; तब क्या वह उस समय उन-कुमारियोंका मुण्डन (केशान्त) करावेगा? क्योंकि उसीका नाम रघुवंशादिमें 'गोदान' कहा है, 'गावः-केशाः खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति' तब तो १६-२२-२४ वर्षकी विवाह्यमाना वादीकी लड़कियोंकी बड़ी शोभा हो जावेगी। क्या वादी रजोदर्शनसे पूर्व लड़कीका समावर्तन मान लेगा? तब वादीके कन्या-गुरुकुल भी खण्डित हो गये। कन्याओंका विवाह भी तदनुसार उसे रजोदर्शनसे पूर्व १२वें वर्षमें करना पड़ेगा। आश्चर्य है कि—१६-२२-२४ में लड़कियोंके विवाहका हामी भी वादी श्रीमित्रमिश्रके फन्देमें कैसे आ फंसा?

श्रीमित्रमिश्रके मतमें स्त्रियोंका केशान्त (मुण्डन) असम्भव है, क्योंकि—वे कन्याओंका विवाह उनमें रजःकालसे पूर्व ही मानते हैं—यह उसके वादीके दिये हुए उद्धरणसे स्पष्ट है; तब १६-२२-२४ वर्षमें होनेवाला केशान्त (मुण्डन) अब उन लड़कियोंके ब्रह्मचर्याश्रम न होनेसे तथा विवाहिता एवं सौभाग्यवती होनेसे कैसे हो सकता है? तब श्रीमित्रमिश्रका यह नवीन अध्यवसाय निकम्मा है।

आगे वादी मित्रमिश्रका उद्धरण देता है— किं च आश्वलायनेनापि 'मुखमग्रे ब्राह्मणमनुलिम्पेत्, इति समावर्तनीयमनुलेपनं प्रस्तुत्य 'उपस्थं स्त्री, इत्यनेन स्त्रीणामनुलेपनं विदधता तासामपि उपनयनमुक्तं भवति, उपनयनपूर्वकत्वात् समावर्तनस्य'।

(आश्वलायनने भी स्त्रियोंके समावर्तन - संस्कारका 'उपस्थं स्त्री' इत्यादि विधिद्वारा निर्देश करते हुए उपनयनका कथन किया है. क्योंकि—समावर्तन उपनयनपूर्वक ही होता है।)

जोकि 'उपस्थं स्त्री' इस आश्वलायनके वचनसे श्रीमिश्रजीको स्त्रियों-

का समावर्तन प्रतीत हुआ है, वह आचार्यकुलमें समावर्तनकालीन नहीं है। वादीने यहाँ 'उपस्थ' का अर्थ नहीं दिया; तब क्या स्त्री द्वारा अपने उपस्थका चन्दन लगानेका नाम समावर्तन हो जाता है? सद्योवधुओंका जब पितृगृहमें विवाहावसरमें उपनयन श्रीमित्रमिश्रके मतमें हारीतके अनुसार होता है; तब उस समय भला स्त्री आचार्यकुलमें कैसे भेजी जा सकती है? यमस्मृतिके अनुसार तो लड़कीका पिता ही उसे पढ़ाता है, आचार्यकुलका आचार्य नहीं; तब तक उसका रजःकाल उपस्थित हो उठता है; तब उसी एक दिनमें भला वह वेदविद्या कैसे समाप्त कर सकती है? समावर्तन विवाहसे कुछ पूर्व होता है। जब हारीतके मतमें ब्रह्मवादिनियोंका यावज्जीवन विवाह ही नहीं होता; तब उनका भी मित्रमिश्रानुसार समावर्तन कैसे होगा? समावर्तन विवाहसे पूर्व होता है।

हारीतके अनुसार तथा प्रतिपक्षियोंके अनुसार सद्योवधुओंका वेदारम्भ नहीं होता। तब उनकी विद्याका प्रारम्भ वा समाप्ति ही न होनेसे उनका समावर्तन भी कैसे होगा?

वास्तवमें कन्याके विवाहावसरमें पितृगृहमें उपस्थ-धावनपूर्वक—शायद उसे स्वा.द.के अनुसार 'इमं ते उपस्थं मधुना सँ सृजामि' इत्यादि मन्त्र द्वारा वर ही करता है। पितृगृहमें पूर्वोक्त-मन्त्रानुसार कन्याका स्नान होता है। जैसे कि गोभिलगृ.के प्रकृत प्रकरणमें श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीने भी अपने व्याख्यानमें स्पष्ट किया है। वादीकी सं.वि.में स्वा.द.ने भी कन्याका वैवाहिक-स्नान दिखलाया है, वही स्नान कन्याका समावर्तन-स्थानीय होता है, यह विद्यासमाप्तिवाला स्नान नहीं। उससे मित्रमिश्रके पक्षकी कुछ भी सिद्धि नहीं।

इसके अतिरिक्त प्रष्टव्य यह है कि—श्रीमित्रमिश्रके मतमें ब्रह्मवादिनी तथा सद्योवधुओंके विवाहकालमें भेद है, या अभेद? रजःकालसे पूर्व विवाह करना ही मिश्रजीका सिद्धान्त है। तब उनके मतमें ब्रह्मवादिनी

तथा सद्योवधूका रजःकालसे पूर्व ही विवाह होगा। तब फिर मिश्रजीके मतमें दोनोंका परस्पर क्या भेद रहेगा? एकका विवाहसे पूर्व उपनयन तथा दूसरीका विवाह-समयमें उपनयन—इसमें क्या फलविशेष है? वस्तुतः यह मित्रमिश्रका हारीतसे तथा अन्य सभी स्मृतियोंसे विरुद्ध स्वेच्छाकल्पित-अतः गलत पक्ष है।

इधर श्रीमित्रमिश्र कन्यासंस्कारोंमें स्वयं अमन्त्रकताको सिद्धान्तित करते हैं। तब 'तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः' इस मनु-वचनकी एकवाक्यता मिश्रजीके मतमें भी हो जाती है; तब उनका यह नया आविष्कार मन्दफलक ही हुआ। परन्तु हारीत तथा यमको जैसा स्त्रीका उपनयन विवक्षित है, वह वास्तविक उपनयन नहीं होता, किन्तु पतिके पास विवाहार्थ वधू-नयन ही उसका उपनयन होता है, जैसा कि—'मन्त्रोपनीता' (१७।६४) इस वसिष्ठ-धर्मसूत्रादिके वचनोंमें स्पष्ट है। तब श्रीमित्रमिश्रका यम और हारीतके वचनोंकी एकवाक्यतासे सब तरहकी कन्याओंकी उपनयनापत्तिका कथन भी व्यर्थ ही है। क्योंकि जब सद्योवधुओंका वेदारम्भ ही नहीं; और उनको 'ब्रह्मवादिनी' शब्द ही प्राप्त नहीं; तब उनका उपनयन भी कैसा?

सद्योवधूकी प्रतिद्वन्द्वितामें 'ब्रह्मवादिनी' हारीतानुसार यावज्जीवन कुमारी रहनेवाली इष्ट है, तो अनौत्सर्गिक होनेसे उनकी सर्वसाधारणसे अनुकर्तव्यता नहीं। अतः उनका भी इस विषयमें निर्देश नहीं किया जा सकता। उनका भी समावर्तन नहीं हो सकता।

आगे प्रतिपक्षीने श्रीमित्रमिश्रका यह सन्दर्भ उद्धृत किया है—

'अतएव संन्यास-ब्रह्मजिज्ञासादिकमपि उपनीतानामेव स्त्रीणां घटते; आश्रमसमुच्चयविकल्पयोः उपनयनपूर्वकत्वात्। तदत्र निर्गलितोऽर्थः-ब्रह्मवादिनीनां गर्भाष्टमादौ मन्त्रवत् तूष्णीं च उपनयनम्, ततो वेदाध्ययन, प्राग् रजोदर्शनात् समावर्तनम्। सद्योवधूनां तु उक्त-विवाहकाले एव उपनयनम्, सद्य-एव समावर्तनम्। सद्य एव विवाह इति' ('वीरमित्रोदय,

संस्कारप्र. खण्ड ५ पृ. ४०२-४०५)।

(इसीलिए संन्यास, ब्रह्मजिज्ञासा आदि उपनीत स्त्रियोंके ही विषयमें चरितार्थ होता है। इसलिए सार यह निकला कि—ब्रह्मवादिनियोंका गर्भसे ८वें वर्षमें मन्त्रपूर्वक और कुछ चुपचाप उपनयन संस्कार, उसके पश्चात् वेदाध्ययन, तथा रजोदर्शनसे पूर्व समावर्तन होता है। सद्योवधुओं-का तो विवाहके समयमें ही उपनयन, उसी समय ही समावर्तन और उसी समय ही विवाह होता है।)

इसपर मित्रमिश्रके हिमायती वादीको याद रखना चाहिये कि—विशिष्ट-स्त्रियोंका मित्रमिश्र-प्रोक्त संन्यास एवं ब्रह्मजिज्ञासा आदि भी अपवाद ही है, उत्सर्ग नहीं। इससे भी सर्वसाधारण-स्त्रियोंकी उपनयनापत्ति नहीं। संन्यास तो उपनयनाभावमें ही हुआ करता है, ब्रह्मजिज्ञासा भी विना उपनयनके ही होती है, इसपर उपनिषदें (छान्दोग्य ५।११।७) तथा आत्मानन्दकृत 'अस्य-वामीय' सूक्तका भाष्य देखना चाहिये।

जो श्रीमित्रमिश्रने ब्रह्मवादिनी तथा सद्योवधुओंमें विवाहादिका भेद बताया है, यह भी व्यर्थ ही सा है; क्योंकि—रजःकाल १२ वर्षके बाद लड़कियोंका उपस्थित हो जाता है; तब तक ब्रह्मवादिनी लड़की कितना वेद पढ़ लेगी? अतएव यह उनका 'निर्गलित अर्थ' मनगढ़न्त ही है; वादीको भी यह स्वीकृत होगा नहीं; नहीं तो उनकी कन्या-विवाहावस्था (१७-२४) स्वतः खण्डित हो जाती है। सद्योवधूकी प्रतिद्वन्द्वितामें 'ब्रह्मवादिनी' है, सो वहाँ वह यावज्जीवन 'ब्रह्मचारिणी' ही हारीतको इष्ट है; तब उसके विवाहका प्रसङ्ग ही क्या?

इस प्रकार श्रीमित्रमिश्रके मतके निराकरणसे 'गर्भिणीहननमें गर्भ-हननवत्' तदाश्रित वादीका भी एतद्विषयक मत खण्डित हो गया। इसके अतिरिक्त उक्त मित्रमिश्रके मतसे वादीकी फलसिद्धि भी कुछ नहीं; क्योंकि—मित्रमिश्र स्त्रियोंका यह उपनयन अमन्त्रक मानते हैं,

जिसका फल कुछ भी नहीं; और फिर उस स्त्रीके अमन्त्रक उपनयनको
भी वे 'इस कल्प' में नहीं चाहते। इसीलिए उन्होंने अपने लेखमें लिखा है-
'पुराकल्पे' इति वचनाद् 'नाऽस्मिन् कल्पे' इति गम्यते' (पुराकल्पे कहनेसे
यह उपनयन इस कल्पमें नहीं हुआ करता-यह प्रतीत होता है, परन्तु
वादीने मिश्रजीका वह पाठ लोकदृष्टिसे छिपाकर जनवञ्चन किया है,
जैसा कि उसकी सदाकी यह दुष्प्रकृति रही है। क्योंकि-यदि वह ऐसा
न करे; तो जनदृष्टिमें उसका पक्ष स्पष्ट निर्बल हो जाय। कुछ छिपा
देनेसे 'ढोलकी पोल' भी छिपी रहती है।

बल्कि वादीने 'पुराकल्पे' का अर्थ 'शास्त्रे' किया था; उस अर्थको
भी श्रीमित्रमिश्रने वादीके ही मान्य 'स्मृति-चन्द्रिका' कारका अनुसरण
करके खण्डित कर डाला है। मिश्रजीने लिखा है—'पुराकल्पे अर्थवाद-
विशेषे। तत्र आर्थवादिकविधेः सार्वकालिकत्वे शिष्टस्मृतिविरोधदर्शनात्
'कल्पान्तरे' इति। अर्थात् अर्थवादकी बातें सर्वकालिक नहीं होती-यह
शिष्टोंका एवं स्मृतियोंका व्यवहार है। अतः सर्वकालीन न होनेसे
वादीका पक्ष कट जाता है।

मिश्रजीके वाक्यका अर्थ भी वादीने अशुद्ध किया है कि-'पुराकल्प'
का 'अर्थवादविशेष' यह अर्थ है। यद्यपि स्मृतिचन्द्रिकाकारने अर्थवादकी
विधि सर्वकालीन होती है, आधुनिक स्मृति तथा आचारके साथ उसका
विरोध देखकर 'कल्पान्तरमें' ऐसा उसका अर्थ कर दिया है। 'यद्यपि'
'आधुनिक' आदि शब्द वादीके 'बनावटी' हैं। 'सर्वकालीन' के आगे
'नहीं' शब्द वादीने छिपा दिया है।

इसके अतिरिक्त 'प्रागेव रजोदर्शनाद् विवाहश्च' इस मित्रमिश्रके
वाक्यको भी वादीने अपनी सदाकी दुष्प्रकृतिवश छिपा दिया है। इससे
उसका 'रजस्वला-विवाह'-रूप सिद्धान्त भी कट जाता है।

इधर ऐसा होनेपर वादीके मतमें भी ब्रह्मवादिनियोंका भी वेदाध्ययन
नहीं हो सकता; क्योंकि-जब मित्रमिश्र कन्याओंका रजोदर्शनसे पूर्व ही

समावर्तन मानते हैं, अपनी पुस्तकके १२२ पृष्ठमें वादीने भी उसे सम्मत
मानकर अनूदित भी किया है।

'समावर्तन' होता है 'विद्याकी समाप्ति'। रजोदर्शन १२वें वर्षके
अन्तमें हो जाता है—यह वादीके आचार्य स.प्र.में मान चुके हैं। स.प्र.के
पृ. ४९ 'त्रीणि वर्षाणि उदीक्षेत' इस मनु-पद्यके अर्थमें उनने ऐसा लिखा
है। तब अष्टम वर्षमें उपनीत कन्या १२वें वर्ष तक वेदोंको कैसे समाप्त
कर सकेगी? प्रत्युत उतने समयतक तो वेदपठन आरम्भ ही नहीं कर
सकेगी। वादीके अनुसार वेदोंको समझ ही नहीं सकेगी। उसका
वेदाङ्गोंका भी पूर्ण पठन भी नहीं हो सकेगा।

इधर मित्रमिश्र स्त्रियोंका उपनयन अमन्त्रक मानते हैं, जब उनका
उपनयन ही अमन्त्रक है। इस प्रकार अन्य संस्कारोंकी स्त्री-सम्बन्धी
मुख्य इति-कर्तव्यता भी उनके मन्त्रमें अमन्त्रक हैं; तब उन स्त्रियोंका
वेदमन्त्रोंमें स्पष्ट ही अनधिकार सिद्ध हुआ।

तब 'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' यह न्याय आप दोनों
चरितार्थ हुआ, इधर वादीने श्रीमित्रमिश्र-द्वारा किया हुआ 'वैवाहिको
विधिः स्त्रीणाम्' इस मनुके पद्यका अर्थ भी लोकदृष्टिसे चुरा लिया है।
वह यह है—

'पुराकल्पे इति वचनात् [स्त्रीणाममन्त्रकमपि उपनयनं] नास्मिन्
कल्पे, इति गम्यते। अतएव मनुः-'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो
वैदिकः स्मृतः', इत्यादिना विवाहस्य उपनयनस्थानापत्तिमाह। वैदिको-
वेदग्रहणार्थः संस्कार उपनयनम्। स स्त्रीणां वैवाहिको विधिः विवाहरूप-
संस्कारः स्मृतः-पूर्वैरिति मेधातिथिपाठार्थः। मिताक्षरादिपाठस्तु
'औपनायनिकः स्मृतः' इति। तत्र औपनायनिकः-उपनयन-कार्यकारी।
ततश्च यथा पुरुषस्य उपनयनादि, तथा स्त्रीणां विवाहादिविधि-
निषेधाधिकार इत्यर्थः'।

इतना पाठ वादीने छिपा दिया था। इससे वादीका पक्ष ही खण्डित हो गया। 'पित्रादिरेव एनामध्यापयेद्, नापर: इति अन्वय:'। इस मिश्रजीके वाक्यको वादीने अपनी पुस्तक (पृ. ११८) में उद्धृत किया है। इससे वादीके प्रिय 'कन्या-गुरुकुल' भी कट गये।

जोकि वादीने 'गोभिलगृ.' के 'यज्ञोपवीतिनी' शब्दसे अपना पक्ष सिद्ध करना चाहा था, उसका हम पृ. ९६-१०९ में ऐसा प्रबल युक्तिप्रमाणोपेत प्रत्युत्तर दे चुके हैं कि-वादीकी लेखनी फिर उसपर नहीं चल सकी। हम दावा करते हैं कि-अब भी उसपर चल नहीं सकती।

पृ. १२२-१२३ आगे वादी 'संस्कार-गणपति' का लेख उद्धृत करता है, और हम उसका प्रत्युत्तर देते हैं।

वादी लिखता है—पृ. १२२ 'श्रीरामकृष्णभट्टने अपने 'संस्कार-गणपति' में शूद्रका और स्त्रीका उपनयन स्वीकृत किया है। जैसे कि-'अथ शूद्राणामुपनयनम्। आपस्तम्ब: 'शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्। 'मद्यपान-रहितानाम्' इतिकल्पतरुकार:' (शूद्रोंके उपनयनके विषयमें आपस्तम्बने लिखा है—जो दुष्टकर्म मद्यपानादि न करनेवाले हों, ऐसे शूद्रोंका उपनयन करे। यह कल्पतरुकारका मत है।

स्त्रीका उपनयन बताते हुए यमका यह वचन मिलता है—पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते' इत्यादि। तच्च उपनयनममन्त्रकम्। तथा च मिताक्षरायां याज्ञवल्क्य:—'तूष्णीमेता: क्रिया: स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रक:' (संस्का. गण. पृ. ६४२)।

(उत्तरपक्ष) 'खोदा पहाड़, उससे निकली चुहिया, वह भी मरी हुई' यहां वादीने भारी परिश्रमसे 'संस्कारगणपति' से शूद्रके उपनयनका सूत्र ढूंढा, वह भी पाठ गलत ही है, क्योंकि-'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' में 'अशूद्राणां हि' पाठ मिलता है-'शूद्राणां' नहीं। यह तो प्रत्यक्ष है, 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण' (प्रत्यक्षमें अन्य-प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती)।

यदि कहीं 'शूद्राणामदुष्टकर्मणां' पाठ है भी; तो वह प्रामादिक है। क्योंकि किसी भी धर्मशास्त्रमें, किसी भी धर्मसूत्र वा गृह्यसूत्र वा श्रौत-सूत्रमें शूद्रका उपनयन नहीं माना गया।

वादीके मान्य म.म. श्रीमित्रमिश्रने भी अपने 'वीरमित्रोदय' के उपनयन-प्रकरण (पृ. ३८७ तथा ४०५ पृ.) में 'अथ अनुपनेया:-(अब उपनयनके अनधिकारियोंका वर्णन चलता है-) तत्र गौतम:-'शूद्र एक-जातिरिति। एक-जाति:-एक-जन्मा, न द्विजन्मा, उपनयनाभावाद् इत्यर्थ:। आपस्तम्बोपि—'अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्' इति शूद्र-व्यतिरिक्तं वदन् शूद्रस्य तद् (उपनयनं) न इत्याह' इस प्रकार 'आपस्तम्ब' का 'अशूद्राणाम्' ही पाठ उद्धृत किया है, 'शूद्राणाम्' नहीं।

(गौतमने कहा है-शूद्र एकजाति होता है, द्विजाति नहीं, क्योंकि-उसका उपनयन नहीं होता। आपस्तम्बने भी 'शूद्रोंसे भिन्न अदुष्टकर्म-वाले वर्णोंका उपनयन होता है' इस प्रकार शूद्रोंसे व्यतिरिक्तोंका नाम कहते हुए शूद्रोंका उपनयन नहीं माना।)

इस प्रकार वादीके मान्य म.म. श्रीमुकुन्दमिश्रने भी अपनेसे व्याख्यात 'गोभिलगृ.' के भाष्यकी भूमिकामें 'अशूद्राणां' यही 'आपस्तम्ब' का पाठ उद्धृत किया है, 'शूद्राणाम्' नहीं।

इसी तरह वादीके मान्य 'स्मृतिचन्द्रिकाकार'ने भी 'संस्कारकाण्ड' के संस्कारकी परिभाषाके प्रकरणमें 'अशूद्राणां' यही 'आपस्तम्ब' का पाठ माना है। सब स्मृतिकार तथा गृह्यसूत्रकार इसमें एकमत हैं ही। बहुत कहनेसे क्या, 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' में ही 'अशूद्राणामदुष्ट-कर्मणां' पाठ ही मिलता है; यह वादी स्वयं ही देख ले। 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' (प्रत्यक्षमें दीख रही हुई बात अनुपपन्न नहीं होती।)

वादीके मान्य टीकाकार श्रीहरदत्तमिश्रने भी 'अशूद्राणामदुष्ट-

कर्मणाम् उपायनम् [उपनयनम्] वेदाध्ययनमग्न्याधेयम्' (१।१।६) इस आ.ध.सू. के सूत्रका भाष्य इस प्रकार किया है—'शूद्रवर्जितानां त्रयाणां **वर्णानाम् अदुष्ट-कर्मणाम्** उपायनादयो धर्माः। उपायनम्-उपनयनम्।

न च त्रैवर्णिकानाम् उपनयनं विधीयते, प्राप्तत्वात्। नहि शूद्राणां प्रतिषिध्यते, प्राप्त्यभावात्। उपनयनं तावद् गृह्ये (आप.गृ. ८।२) 'गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादिना **त्रैवर्णिकानामेव** विहितम्, इह [धर्मसूत्रे] अपि **तथैव** विधास्यते।

अध्ययनमपि 'उपेतस्य आचार्यकुले ब्रह्मचारिवासः' (आप.ध. १।२। ११) इत्यारभ्य विधानाद् **अनुपनीतस्य शूद्रस्य** अप्राप्तमेव। किञ्च—**श्मशानवत् शूद्रपतितौ**' (आप.ध. १।९।९) इति अध्ययननिषेधो वक्ष्यते। यस्य समीपे नाध्येयम्, स कथं स्वयमध्येतुमर्हति।

अग्न्याधेयमपि 'वसन्ता ब्राह्मणाः' (तै.ब्रा. १।१।२) इत्यादि **त्रैवर्णिकानामेव** नियतानि। विद्याऽग्न्यभावाच्च शूद्राणाम् अप्रसक्तानि। उक्तो विद्याऽग्न्यभावः। तस्माद् [द्विजानां] दुष्टकर्म-प्रतिषेधार्थं सूत्रम्। शूद्रप्रतिषेधस्तु प्राप्तानुवादः।

(शूद्रको छोड़कर तीन वर्ण जो दुष्ट-कर्मवाले न हों; उन्हींके उपनयन आदि धर्म हैं। यहां त्रैवर्णिकोंके उपनयनकी विधि नहीं है; क्योंकि—वह उन्हें पहलेसे ही प्राप्त है। शूद्रोंके उपनयनका निषेध भी नहीं है; क्योंकि शूद्रोंको तो उपनयन प्राप्त ही नहीं। उपनयन आपस्तम्ब-गृ.में त्रैवर्णिकोंका ही विहित है। इस धर्मसूत्रमें भी वैसा ही विधान है।

अध्ययन तथा गुरुकुलवास भी उपनीतका ही है। (आप.ध.) सो वह अनुपनीत-शूद्रको प्राप्त ही नहीं। इसके अतिरिक्त आप.ध. (१।९।९) में शूद्र एवं पतितको श्मशानकी भाँति माना गया है। इससे शूद्रका अध्ययनका निषेध है। जिसके समीप ही वेद पढ़नेका निषेध है, वह स्वयं कैसे पढ़ सकता है? श्मशानमें वेदका निषेध होता है।

अग्न्याधान (यज्ञ) भी 'वसन्ता ब्राह्मणाः' इत्यादि वचनोंसे त्रैवर्णिकों-को ही विहित है, विद्या तथा अग्नि न होनेसे यज्ञ शूद्रोंको प्राप्त ही नहीं। इस प्रकार द्विजोंको शूद्रकर्मका निषेध करनेकेलिए ही 'अशूद्राणाम-दुष्टकर्मणां' यह सूत्र है। शूद्रका निषेध तो प्राप्त ही निषेधका अनुवाद-मात्र है।)

आपस्तम्बने इस प्रकार इस सूत्रमें तीन वर्णोंका ही उपनयन बड़े स्पष्ट शब्दोंमें बताया है, शूद्रका नहीं। तभी 'शुश्रूषा शूद्रस्य इतरेषां वर्णानाम्' (१।१।७) में आपस्तम्बने शूद्रका कर्म त्रैवर्णिकोंकी सेवा ही बताया है। तब तदाश्रित वादीका रेतीला महल गिर पड़ा।

अथवा यदि मान भी लिया जावे कि—पारस्करगृ.में हरिहर आदि किसी भाष्यकारने 'शूद्राणामदुष्टकर्मणां' यही पाठ उद्धृत किया है, तो वादी उनकी कही हुई व्यवस्थाको भी तो माने। वहां लिखा है—'शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्, एतच्च **रथकार-विषयकम्**। तस्य तु मातामहीद्वारकं शूद्रत्वम्, अदुष्टकर्मणां मद्यपानरहितानाम्—इति कल्प-तरुकारः' (पार. हरिहर. २।५)।

('शूद्राणां' यह वचन रथकारके विषयमें है। उसकी शूद्रता माता-महीके द्वारा परम्परासे है, साक्षात् नहीं। कल्पतरुकारके अनुसार वह रथकार भी मद्यपानसे रहित हो।)

इससे स्पष्ट है कि—यहाँ साक्षात्-शूद्रवर्णका उपनयन नहीं; किन्तु मातामहीद्वारक शूद्रतावाले रथकारका विशेषवचनसे उपनयन विहित है; तब इससे वादीकी इष्टसिद्धि न हुई।

इस विषयपर 'कात्यायन-श्रौतसूत्र' तथा उसका 'कर्कभाष्य' देखना चाहिये।

'रथकारस्य आधानम्' (१।१।९)

(पूर्वपक्षः)—'श्रूयते हि रथकारस्य आधानम्। तत्र एतद् विचार्यते,

यत् त्रैवर्णिको रथकार: रथक्रियायोगात्, उत जात्यन्तरम्-इति। उभयत्र प्रयोगदर्शनात् सन्देह:। किं तावत् प्राप्तम्? त्रैवर्णिक इति। तस्य हि आधान-प्राप्तौ सत्याम् ऋतुमात्रविधानाद् वाक्यभेदो न भवति। वाचिनि पुनस्तस्य आधानसम्बन्धो वक्तव्य: ऋतुसम्बन्धश्चापि। तथा-सति वाक्यं भिद्येत। तस्मात् त्रैवर्णिको रथकार इति'। (यहांपर रथकारको पूर्वपक्षमें त्रैवर्णिक होना माना है।)

(रथकारका आधान सुना जाता है? उसमें यह विचार है, क्या वह रथकार त्रैवर्णिक है रथ बनानेके कारण, या भिन्न-जातिवाला है? दोनों स्थान प्रयोग दीखनेसे सन्देह है।

प्राप्त क्या है? वह त्रैवर्णिक है। उसे अग्न्याधानकी प्राप्ति है ही, केवल उसकी ऋतु ही कह दी जाती है, इस प्रकार वाक्यभेद नहीं होता, यदि त्रैवर्णिकसे भिन्न जातिका माना जावे रथकारको, तब उसका अग्न्याधानसे तथा ऋतुसे सम्बन्ध बताना पड़ेगा। तब वाक्यभेद दोष हो जावेगा। अत: रथकार त्रैवर्णिक ही है।)

इसपर कहते हैं—'नियतं च' (१।१।१०) इसपर कर्कभाष्य इस प्रकार है—'अत्र 'च' शब्दो 'वा' शब्दस्य अर्थे, निपातानामनेकार्थता उक्ता' 'उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्तीति निपाता इति। अत: 'च' शब्दो 'वा' शब्दस्य अर्थे। 'वा' शब्दश्च पक्ष-व्यावृत्तौ। न त्रैवर्णिको रथकार:। किं तर्हि? जात्यन्तरमेव। तस्मिन् हि 'रथकार' शब्दो रूढ: स्मर्यते। 'माहिष्येण करण्यां तु रथकार: प्रजायते' इति। क्षत्रियाद् वैश्यायां जातो माहिष्य:। वैश्येन शूद्रायां जाता करणी। माहिष्येण करण्यां जातो रथकार:। आनुलोम्येन सङ्करजात:। रथकारशब्दश्च अत्र रूढ:। रूढिश्च योगाद् बलीयसी। सा हि श्रुतिपक्षनिक्षिप्ता। वाक्यपक्षनिक्षिप्तो योग:।

'अपि च त्रैवर्णिकस्य शिल्पोपजीवनं प्रतिषिद्धम्। तस्मादपि जात्यन्तरम्। तथा च मन्त्रलिङ्गम्-'ऋभूणां त्वा इति रथकार आदधीत

इति। सौधन्वना ऋभवश्च? इति सौधन्वन्-शब्देन स्पष्टमेव जात्यन्तर-मभिधीयते। अथ यदुक्तम्-'जात्यन्तरवाचिनि रथकारशब्दे 'वाक्यं भिद्येत-इति, तद्विशिष्ट-विधानेन परिह्रियते इति'।

पूर्वपक्ष:—'अथ कस्मात् त्रैवर्णिक एव न अङ्गीक्रियते। सोपि रथकरणात् रथकारो भवति, तस्य इष्टमाधानम्। एवं च सति ऋतुमात्र-विधान-लाघवं भवति। जात्यन्तरे तु विशिष्ट-विधानाङ्गीकरणे गौरव-स्यात्।

एवमाशङ्किते उत्तरसूत्रम्—

(उ.) 'नाऽभावाद् इति वात्स्य:' (१।१।११) अत्र कर्क:—'न त्रैवर्णिको रथकार: शक्यते वक्तुम्। यो निमित्तशब्द:, यावदेव योग:, तावदेव प्रवर्तते। अतो न रथकाराख्याया रथकरणनिमित्तता।

तत्र तद्-विचार्यते-'स्थपतीष्ट्यां किम् आधानसंस्कृतोऽग्नि:, उत लौकिक इति? आह-'लौकिके' (१।१।१४) लौकिके अग्नौ एतत् स्याद् [न तु संस्कृते-इति]।

(इसमें 'च' शब्द 'वा' शब्दके अर्थमें है; क्योंकि-निपातोंके अनेक अर्थ हुआ करते हैं। निरुक्तमें लिखा है—'निपातोंका कई प्रकारके अर्थोंमें निपतन हुआ करता है। इसलिए च' शब्द 'वा' के अर्थमें है, और 'वा' शब्द पूर्वपक्षके हटानेमें है।

रथकार त्रैवर्णिक नहीं, बल्कि भिन्न जाति है। स्मृतियोंमें उसीमें 'रथकार' शब्द आता है। 'माहिष्यसे करणीमें रथकार पैदा होता है। क्षत्रियसे वैश्य स्त्रीमें पैदा हुआ 'माहिष्य' होता है। वैश्यसे शूद्रास्त्रीमें पैदा हुई लड़की 'करणी' कही जाती है। माहिष्यसे करणीमें पैदा हुआ रथकार कहा जाता है। यह अनुलोम-सङ्कर होता है। 'रथकार' शब्द इसी अर्थमें रूढ है। रूढि व्युत्पत्त्यर्थसे बलवती होती है। वही श्रुतिपक्षमें इष्ट है। व्युत्पत्ति वाक्यपक्षमें निक्षिप्त होती है।

और फिर त्रैवर्णिकका शिल्पपर निर्वाह निषिद्ध है। इसलिए भी रथकार भिन्न-जाति है। जैसे कि–इसमें मन्त्रका लिङ्ग भी है। 'ऋभूणां त्वा' इससे रथकार अग्निका आधान करे। 'सौधन्वना ऋभवः' यहांपर 'सौधन्वन' शब्दसे स्पष्ट ही रथकार भिन्न-जातिवाला कहा जा रहा है। जात्यन्तरवाची रथकारमें वाक्यभेद दोष बताया जाता है। यह ठीक नहीं। विशेष-विधान होनेसे उसका परिहार स्वतः हो जाता है।

(प्र.) रथकारको त्रैवर्णिक क्यों नहीं मान लिया जाता? वह भी रथ बनानेसे रथकार हो जाता है। उसीका अग्न्याधान मान लिया जावे? इस प्रकार होनेपर केवल ऋतुके विधानमें लाघव होगा। यदि उसे अन्य जाति मान लिया जावे, तब विशेष विधान माननेपर गौरव हो जावेगा।

(उ.) 'नाऽभावाद्-इति वात्स्यः' (१।१।११) इसपर कर्क कहते हैं– 'न त्रैवर्णिको रथकारः शक्यते वक्तुम्। यो निमित्तशब्दः, यावदेव योगः तावदेव प्रवर्तते; अतो न रथकाराख्याया रथकरणनिमित्तता'। (रथकार-को यहाँ त्रैवर्णिक नहीं कहा जा सकता। जो निमित्तशब्द होता है, जब तक योग (व्युत्पत्ति) है, तब तक ही प्रवृत्त होता है। अतः 'रथकार' यह नाम रथ बनानेके निमित्तसे नहीं।)

'तत्रैतद् विचार्यते—'स्थपतीष्टयां किम् आधान-संस्कृतोऽग्निः, उत लौकिक इति? आह 'लौकिके' (१।१।१४) लौकिके अग्नौ एतत् स्याद् [न तु संस्कृते] इति। (इसपर यह विचार उपस्थित है कि–स्थपति आदिकी इष्टि क्या आधानमन्त्रसे संस्कृत अग्निमें होती है, या लौकिक साधारण-अग्निमें? इसपर सिद्धान्त है कि–रथकार आदि मन्त्र संस्कृत-उपनीत नहीं; अतः उनकी इष्टि आधान-संस्कृत-अग्निमें न होकर साधारण-अग्निमें होती है।)

इससे बहुत ही स्पष्ट हो रहा है कि–वह साक्षात् शूद्रवर्णकी इष्टि

वा उपनयन नहीं, किन्तु अनुलोम त्रैवर्णिक-सङ्करका यह वर्णन है, जिसकेलिए श्रीमनुजीने भी कहा है—'सजातिजानन्तरजाः षट् सुता **द्विजधर्मिण**' (१०।४१)। (सजातिज एवं अनन्तर छः लड़के द्विजके धर्मवाले हैं। इसपर कुल्लूकभट्टने स्पष्ट लिखा है–'द्विजातिसमान-जातीयासु जाताः, तथा आनुलोम्येन उत्पन्नाः, ब्राह्मणेन क्षत्रिया-वैश्ययोः, क्षत्रियेण वैश्यायाम्, एवं षट् पुत्रा **द्विजधर्मिण** उपनेयाः'।

यही श्रीरामकृष्णभट्टको विवक्षित है। इन (रथकारों) का याग भी मन्त्र-संस्कृत अग्निमें नहीं; किन्तु लौकिक असंस्कृत साधारण अग्निमें सूत्रविहित है। यह दिखलाया ही जा चुका है। तब स्पष्ट है कि–इनका उपनयन भी **द्विजों-जैसा संस्कृत नहीं, किन्तु असंस्कृत एवम् अमन्त्रक** ही है। इससे **शूद्रका उपनयन** जो वादीको इष्ट था, सिद्ध न हो सका। यदि वादी उन लोगोंका उद्धरण देता है, तो वादीको व्यवस्था भी उन्हीं-**की माननी पड़ेगी**। अर्धजरतीय-न्यायका आश्रयण करना वादीके पक्षकी निर्बलताका प्रकाशन होगा।

इसके अतिरिक्त 'शूद्राणामदुष्टकर्मणाम् उपनयनम्' इस पाठसे वादीके साम्प्रदायिक-सिद्धान्तका भी खण्डन हो जाता है। दुष्टकर्मसे वादीके सम्प्रदायमें पुरुषकी 'शूद्र' संज्ञा होती है। तब 'अदुष्टकर्मा' शूद्र ही कैसे होगा? **'अदुष्टकर्माके शूद्र माननेपर फिर 'वर्णव्यवस्था' वादीके मतमें भी 'जन्मना' सिद्ध हो जायगी; गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था कट जायगी।** क्या वादीको अपने साम्प्रदायिक-सिद्धान्तका भङ्ग इष्ट है? यदि नहीं; तो वादीने इस वेदविरुद्ध प्रमाणको कैसे दिया। 'आलोक'-पाठक इसपर स्वयं विचार कर लें।

इधर जब श्रीरामकृष्णभट्ट स्त्रीका उपनयन अमन्त्रक मानते हैं, तब स्त्रीके उपनयनकी पुरुषके उपनयनसे भिन्नता सुस्पष्ट है। तब समता न होनेसे इससे **स्त्रियोंका वेदाधिकार भी सिद्ध न हुआ**। इससे वादीका **सारा परिश्रम व्यर्थका सिद्ध हुआ**। 'हुतकृत्यं पुवत्' का उत्तर पूर्व दिया

जा चुका है।

पृ. १२४ 'नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मो व्यवस्थित:। निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थिति:' इस हमारे मनुवचनपर वादी कहता है—'स्त्रियोंकी इन्द्रियाँ नहीं होतीं; वे 'मन्त्ररहिता:' हैं, यह कैसे हो सकता है; वादीको इस विषयमें ज्ञान मालूम नहीं होता। यहाँ 'इन्द्रिय' का अर्थ 'शुक्र' है। जैसे कि मनुस्मृतिमें 'पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्' (२।२२०) वहाँ कुल्लूकभट्टने लिखा है—'इन्द्रियं शुक्रम्' शुक्र होनेसे ही पुरुषोंकी मूछें होती हैं; इसी कारण शुक्रहीन होनेसे नपुंसकको भी वेदाधिकार नहीं दिया जाता। इसपर आत्मानन्दके भाष्यमें उद्धृत वचन देखो—'क्लीवानां नैव काणानां वेदविद्याधिकारिता' इस विषयमें हम अन्यत्र स्पष्टता कर चुके हैं (पृ. ६८-७२)।

अब वादीने समझ लिया होगा कि—'निरिन्द्रिया:' का 'स्त्रीकी इन्द्रिय नहीं होती' यह अर्थ नहीं है. किन्तु शुक्रहीन अर्थ है। शुक्रहीन होनेसे वह वेदकी अधिकारिणी नहीं होती। शुक्रसंयमसे ही तो ब्रह्मचर्य होता है, अत: उनमें शुक्र न होनेसे उनका ब्रह्मचर्य भी उपस्थसंयममात्र होगा। इस विषयमें हम पहले पर्याप्त स्पष्टता कर चुके हैं।

वादीका ऐसे पद्योंको अमान्य कहना अनुचित है, यह बात तो कृष्णयजुर्वेद भी कहता है, 'तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया:' (तैसं. ६।५।८।२) इत्यादि। कृष्णयजुर्वेदकी वेदता हम 'वेदस्वरूप-निरूपण' में बहुतसे निबन्धोंमें स्पष्ट कर चुके हैं।

पृ. १२५ आगे वादी 'नैता रूपं परीक्षन्ते' इत्यादि मनुपद्योंको प्रक्षिप्त बताता है। पर स्वाभाविक बात प्रक्षिप्त नहीं हो सकती।

'शय्यासनमलङ्कार...स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत्' आदि पद्योंको भी वादी प्रक्षिप्त बताता है, परन्तु मनुस्मृतिके अन्तमें (१२।१२३) देखो; वहाँ मनु प्रजापतिका एवं परमात्माका नाम लिखा है; अत: इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं होती।

पृ. १२६ वादी हमारे लिए लिखता है कि—'आपमें स्त्रियोंके विषयमें अत्यन्त-निन्दित भावना भरी हुई है, जो आपके लेखोंमें स्पष्ट है' यह बात गलत है। स्त्रीके विषयमें जो शास्त्रोंमें लिखा है, हम उसीका निर्देश करते है। हमारा उनसे वैयक्तिक राग-द्वेष कुछ भी नहीं।

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' आदिमें स्त्रीको 'भूषणाच्छादनाशन' से सम्मानित करना इष्ट है। अतएव इनके उपसंहारमें स्पष्ट लिखा है—'तस्माद् एता: सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनै:' (३।५९) यही उनका सम्मान होता है, अन्य कोई पूजा उनकी विवक्षित नहीं। इस विषयमें भी हम अन्यत्र (५७५-५७६ पृ.में) स्पष्टता कर चुके हैं।

पृ. १२६ आगे वादी लिखता है—'ये भावनाएं 'शुद्धा: पूता योषितो यज्ञिया: इमा:' (अथर्व. ६।१२२।५, ११।१।२७) इत्यादि मन्त्रोंसे सर्वथा विरुद्ध है।'

"शुद्धा: पूता योषितो यज्ञिया इमा:" पर विचार।

इस वादीने अपनी एक नोट-बुक बना रखी है, जहाँ अनुसन्धान-विरहित जनताको धोखा देनेकेलिए कई मन्त्र उनका पूर्वापर छिपाकर रख रखे हैं। इस विषयमें हम ४८९-४९० पृ.में स्पष्टता कर चुके हैं।

महाशय, यह मन्त्र जलोंकेलिए है, स्त्रियोंकेलिए नहीं; तभी तो 'शुद्धा: पूता योषितो यज्ञिया इमा:' के बाद 'आप:' पाठ था; वादीने उसे छिपा दिया। यहाँ 'आप:' का विशेषण था 'योषित:'।

विशेषण सदा यौगिक होते हैं; इसे वादीको कभी भूलना नहीं चाहिये। वादीके मतमें वेदमें 'रूढ' शब्द नहीं होते, किन्तु 'यौगिक' हुआ करते हैं; तब उसने अपने सिद्धान्तके विरुद्ध 'योषित:' का रूढ अर्थ 'स्त्री' कैसे कर दिया? कौशिकसूत्र (६।१।३४।३५, २।८) के अनुसार

इस मन्त्रका विनियोग वटलोईमें जल डालनेकेलिए है। तभी इसके साथके मन्त्रमें 'अप: प्रविशत तण्डुलाः' (अथर्व. ११।१।१८) जलोंमें चावल डाले जाते हैं। स्त्रियोंमें चावल नहीं डाले जाते। जलोंको 'योषित्' कहनेका रहस्य 'योषा वा आपः, वृषाग्निः मिथुनेनैव एवमेतत् प्रजनेन समर्धयति। अद्भिर्वै इद ँ सर्वमाप्तम्, तस्माद् अप: सम्भरति' (शत. २।१।१।४) में बताया गया है।

यहाँपर 'तस्माद् अपः' इस उपसंहारसे जलोंका वर्णन इष्ट है, न कि स्त्रियोंका। वादीको अपने छल-कपट छोड़ देने चाहियें। इन छल-कपटोंसे वह अनुसन्धानहीन जनताको गुमराह किया करता है। आजकल अनुसन्धानका समय है; अतएव वादीके छल-कपट अब सफल नहीं हो सकते। हमने वादीके पूर्वापर छिपानेके बीसों उदाहरण उपस्थित कर दिये हैं; अतः अब वादीको चाहिये कि–अब वह सम्भल जावे। छलके परिणाम उसे भोगने पड़ेंगे। अन्तमें बड़ी दुर्दशा होगी–जैसे कि झूठे दयानन्दियोंकी अब तक हो चुकी है।

पृ. १२६ 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' यहां वादीने जो स्त्री-पूजा वताई है, यहाँ भी उसने पूर्वापर छिपाया है। यहां तो विवाहादियोंमें स्त्रियोंकेलिए भोजनाच्छादन तथा अच्छे भोजनादिसे सम्मानित करना कहा है; तभी इसके उपसंहारमें मनुजीने कहा है–'तस्माद् एताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाऽशनैः' (३।५९); परस्पर प्रीति यहां लक्ष्य है, जिससे सन्तान ठीक होवे, तभी वहाँ कहा गया है—'सन्तुष्टो भार्यया भर्ता' आदि (३।६०) यहां स्त्रियोंकी वह पूजा नहीं कि–भर्ता स्त्रीके पांव पड़ा करे, वा उन्हें 'नमस्ते' कहा करे। इस विषयमें ५७५-७६ में देखो।

पृ १२७ 'न वै कन्या न युवतिः' इसपर पृ. ४१९-४२६ में हमने इतना प्रबल लिखा है कि–वादीकी लेखनी उसपर चल नहीं सकी, और न अब चल सकती है। यह उसमें बड़ा दुस्साहस है कि–स.ध.के

ही सिद्धान्तको बदलनेकी दुश्चेष्टा करता है। अब वह वेचारा स्मृतिके श्लोकमें आयुर्वेदके पद्यको ला पटकता है, जो आयुकी दृष्टिसे है, फिर वह 'ज्ञानवृद्धा' अर्थ कैसे करता है?

उससे दिया पद्य यह है कि–'आ षोडशाद् भवेद् वाला त्रिंशता तरुणी मता। पञ्चपञ्चाशता प्रौढा, वृद्धा स्यात् तदनन्तरम्' यहाँ वादीने १६ से कम आयु तक 'बाला' लिखा है, 'कन्या' नहीं लिखा है। वादीको इतना भी पता नहीं कि–'कन्या' से क्वारी इष्ट होता है कि न विवाही हुई। वादीने 'श्री' पत्रिकामें कई ऐसे प्रमाण उद्धृत किये थे कि–'कन्या' शब्दो विवाहरहित-स्त्रीमात्रमाचष्टे'।

फिर १६ से ३० तक 'तरुणी' वताता है, पर मनुके पद्यमें 'तरुणी' नहीं है, वहाँ 'युवति' लिखा है; क्वारीके मुकाबलेमें कहा हुआ 'युवति' शब्द साहचर्यवश 'विवाहिता'-वाचक है–यह स्पष्ट है। मनुजीको 'न वै कन्या न युवतिः' में यहाँ यदि वादीके अनुसार कन्या-युवतिके निषेधसे उक्त मनुके मतमें वृद्धा इष्ट होती; तब वे 'प्रौढा' स्त्रीका भी निषेध करते; क्योंकि वृद्धा तो यह ५५ वर्षके बाद कही गई है। अतः वादीका खण्डन हो गया। क्योंकि–मनुको होतृत्वमें स्त्रीमात्रका निषेध इष्ट है। देखिये–'स्त्रिया क्लीवेन च हुते [न] भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित्। अश्लीकमेतत् साधूनां यत्र जुह्वति अमी [स्त्री-प्रभृतयः] हविः। प्रतीपमेतद् देवानां' (४।२०५-२०६) भले ही यहाँ वादी श्रीतुलसीरामजीका ग्रंथ भी देख ले।

सो 'न वै कन्या न युवतिः' में 'वृद्धा-स्त्री' अर्थ मनुजीको विवक्षित नहीं है; वे तो 'तस्माद् वैतान-कुशलो होता स्यात् वेदपारगः' (११।३७) इस उपसंहारके पद्यमें स्त्री आदिको सर्वथा निषिद्ध करके होतृकर्म-प्रवीण-पुरुषको ही चाहते हैं; तब वादीका अभिप्राय कट गया। फिर तो प्रतिपक्षी लोग वादीके अनुसार ५५ वर्षसे छोटी लड़कियां वा युवतियोंको

होतृत्व कराते हुए 'नरके हि पतन्त्येते जुह्वतः स च यस्य तत्' (११।३७) उनको नरकमें गिरानेवाले बने। यह घोषणा अब आर्यसमाजमें कर देनी चाहिये कि-५५ सालसे कमकी आयुवाली स्त्रियोंसे 'जुह्वतः' के अनुसार हवन करानेवाली होनेसे उन वेचारियोंको नरकगामिनी तथा जिसका हवन करती हैं, उन सबको नरक भिजवानेवाले मत बनें।

जब हम कोई प्रमाण देते हैं; तो वादी उसे 'पौराणिक' कहकर टाल जाता है; जब वह कोई निकम्मेसे निकम्मा वचन दे; तो वह वैदिक ही बन जाता है, बलिहारी? वादीसे प्रष्टव्य है कि-हवनादिकी वृद्धावस्था केवल वह स्त्रीकेलिए कहता है-या पुरुषकेलिए भी? यदि स्त्रीकेलिए; तो पुरुषकेलिए अनुभवकी आवश्यकता न रही; तब स्त्री-पुरुषोंका वादिसम्मत साम्यवाद भी खण्डित हो गया।

पृ. १२८-१२६ आगे वादीसे 'अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा' पद्यके मनुपद्योंमें संगणित तथा टीकाकारोंसे व्याख्यात न होनेसे हमने उसे 'प्रक्षिप्त' बतलाया था; इसपर उसने प्रसन्नता प्रकट की है; वस्तुतः यह उसका कथन अनर्गल है; हमने तो उसका भी प्रत्युत्तर दे दिया है। देखो पृ. (६४६-६५८) यह तो वादीकी धींगाधींगी है कि-वह प्रक्षिप्त पद्योंको अप्रक्षिप्त; और अप्रक्षिप्त पद्योंको प्रक्षिप्त मानता है।

पृ. १२६ आगे वादी महाभारतमें गरुडपुराणके 'दैत्याः सर्वे विप्रकुलेषु भूत्वा' इस पद्यसे स्त्रियोंके निन्दा-श्लोकोंको प्रक्षिप्त वा ऊंटपटांग कहने की धृष्टता करता है। वस्तुतः यह उसकी 'पाकिस्तानी' नीति है। इसका प्रत्युत्तर हमने 'आलोक' (७) पृ. २०८-२०९ में दिया है, ऐसे ब्राह्मणब्रुव-दैत्यलोग वादी-जैसे ही हैं। 'कृते युगे' के स्थान वादीने 'कलौ युगे' पाठ करके अपनी दैत्यताका परिचय दे ही दिया है।

आगे वादीने श्रीमध्वाचार्यका वचन 'क्वचिद् ग्रन्थान् प्रक्षिपन्ति क्वचिद् अन्तरितानपि। कुर्युः क्वचिच्च व्यत्यासं प्रमादात् क्वचिदन्यथा। अनुत्सन्ना अपि ग्रन्था व्याकुला इति सर्वशः' उनके 'महाभारत-तात्पर्य-निर्णय'

(२ अध्याय)से दिया है कि-('स्वार्थी लोग कहीं ग्रन्थोंमें वचनोंको प्रक्षिप्त कर देते हैं, कहीं निकाल देते हैं, कहीं प्रमादसे या जानबूझकर बदल देते हैं। इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थ अस्त-व्यस्त हो गये हैं।)

महाशय, सम्भल जाइये, ऐसे स्वार्थी आप लोग हैं, श्रीमध्वाचार्यके वचनमें 'प्रमादात्' था। और आपने उसका 'जानबूझ' कर भी अर्थ कर दिया, यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। हमने वादीके इस प्रकारके बहुतसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं-वादीने इस पद्यमें 'क्वचिदन्तरितान्यपि' का ठीक अर्थ नहीं किया, इसका अर्थ है कि-कहीं ग्रन्थोंके वचनोंको छिपा देते है। श्रीमध्वाचार्य-स्वामीने लिखा था—'स्त्रीभिर्वेदान् विनाऽखिलम्' स्त्रियोंको वेद नहीं पढ़ने चाहिये. पर वादीने उनके इस वचनको छिपा दिया। इस प्रकार हम वादीके बहुतसे उदाहरण दे सकते हैं।

'अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा' में अग्निस्थानकी सेवा इष्ट है। जैसे कि-रामायणमें कौशल्याको कहा गया था-'अग्न्यगारपरा भव' (२।५८।१८) अर्थात् अग्निस्थानका खयाल रखना। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि-यज्ञमें स्त्रीका क्या स्थान है, लकडियां काट देनीं, घी देख देना, साथ बैठी रहना आदि। तभी उनका ग्रन्थिबन्धन किया जाता है कि-जब वह वहाँ कार्यवश बैठ न सके; तो अपना ग्रन्थिबन्धन वाला वस्त्र अपना प्रतिनिधि रख दे। पुरुषको वहांसे उठना नहीं पड़ता; यह उठने-बैठने आदिका काम स्त्रीको करना पड़ता है।

'वेदं पत्न्यै प्रदाय' यह वचन वादीको बड़ा प्रिय लगता है कि-यह सायणने लिखा है। श्रीसायणने स्पष्ट लिखा है—'अध्ययनाभावेपि 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्' सो वादीकी स्थूलबुद्धिमें यह नहीं आता कि-स्त्रीका यहां जब अध्ययनका अभाव लिखा है; फिर उसे वेदपुस्तक कैसे दिलवाते हैं, वस्तुतः वादीको इस विषयमें ज्ञान ही नहीं है। वह याद रखे कि-

यहाँ 'वेद' का अर्थ 'वेदपुस्तक' नहीं है, जैसे कि वह उसका वैसा अर्थ सदा किया करता है, किन्तु 'दर्भमुष्टि-प्रणीत पदार्थ' यहाँ इष्ट है। वादीको यदि इसका ज्ञान नहीं है; तो हम क्या कर सकते हैं ? इसके ज्ञानकेलिए वह इसी पुष्पके पृ. १८३-१८६ में देखे। पृ. १८५ में हमने उसमें श्रीसायणके 'काण्वयजुः' का प्रमाण भी दिया है। अतः इस विषयमें श्रीसायणको उपालम्भ देना भी वादीकी धींगाधींगी है।

पृ. १३२ 'अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला' का अर्थ वादीने गलत किया है, उसका प्रमाण यह है कि–उसके साथ वाले तदनुवादक 'हावयन्ती' वाले पद्यको उसने छिपा दिया है। 'सन्ध्या-कृलमना:' पर भी पूरा विचार हम पृ. १४०-१४३ में दे चुके हैं।

पृ. १३३ आगे वादी एक गलत बात देते हुए एक पद्य देता है— 'मान्या कापि मनुस्मृतिः, तदुचिता व्याख्यापि मेधातिथेः, सा लुप्तैव विधेर्वशात् क्वचिदपि प्राप्यं न तत्पुस्तकम्। क्षौणीन्द्रो मदनः, सहाङ्गण-सुतो देशान्तराद् आहृतैः जीर्णोद्धारमचीकरत् तत इतस्तत्पुस्तकोल्लेखने'।

इससे वादी सिद्ध करना चाहता है कि–मनुस्मृति और उसके मेधातिथि भाष्यमें कितने अधिक परिवर्तन हुए हैं, यह अवतरणिका लिखकर उक्त पद्यका वादी अर्थ करता है—'कोई मान्य मनुस्मृति थी; उसकी मेधातिथिकी व्याख्या-सहित यह मनुस्मृति भाग्यवश लुप्त हो गई; और कहीं मिलती न थी। तब मदन-राजाने इधर-उधर लिखवाई कई पुस्तकोंसे उसका जीर्णोद्धार करवाया'।

वादीको पद्योंका अर्थ करना या तो आता नहीं; या लोगोंको गलत अर्थ करके धोखा देता है। यह पद्य मनुस्मृतिकेलिए नहीं है; किन्तु उसकी मेधातिथि-टीकाकेलिए है। उक्त पद्यका यह अर्थ है कि–मनुस्मृति एक मान्य स्मृति है, उसीकी योग्य टीका भी उसपर मेधातिथिकी है। वह लुप्त हो गई। दैववश उसकी पुस्तक नहीं मिलती थी। तब देश-विदेशसे लाई पुस्तकोंसे उस टीकाको इधर-उधरसे लिखवाकर मदननरेशने उसका जीर्णोद्धार कराया।

इसमें परिवर्तनकी बात तो कुछ भी नहीं लिखी। नया संस्करण करानेकेलिए उसकी टीकाकी पुस्तक श्रीगङ्गानाथजी झाको अपने देशमें नहीं मिली; तब विदेशोंसे उनने इधर-उधरसे लिखवाकर उसका सम्पादन किया।

इससे वादीका क्या सिद्ध हुआ ? यहाँ मनुस्मृतिकी कोई बात नहीं। 'कोई मनुस्मृति थी' यहाँ 'थी' यह किस पदका अर्थ वादीने किया है ? अथर्ववेदकी पैप्पलादसंहिता इधर-उधरसे न मिलती थी; तथा कश्मीरसे शारदालिपिमें लिखी हुई कापी डाक्टर रघुवीरने सम्पादित करके प्रकाशित की। इससे यह थोड़ा सिद्ध हो जाता है कि–उसमें परिवर्तन कर दिया गया। यह वादीकी बड़ी दुष्प्रकृति हैं कि–वह पद्योंके अर्थ गलत कर दिया करता है। कोई पाठ किसी टीकाका कहीं त्रुटित हो, पूरा पाठ न मिला हो, जैसे कि–रावणार्जुनीय काव्य है; उसका प्रति-संस्कर्ता सम्पादक उसका यथाशक्ति संस्करण करता है, इसमें लोगोंको डरानेवाली कोई भी बात नहीं है।

श्रीमेधातिथिका भाष्य सचमुच बहुत सुन्दर है। पर वादी लोगोंको वह पुस्तक तब तक मान्य रहती है; जब तक उससे उनका पक्ष छिन्न नहीं हो जाता। जब भी उससे उनका पक्ष छिन्न हुआ; तब वह 'पौराणिक' हो जाती है, प्रक्षिप्त हो जाती है; उससे आँख फेर लेते हैं; तब वह अमान्य हो जाती है। यह तो है इन लोगोंका हाल।

पृ. १३४-१३८ वादी जिसे 'हारीतस्मृति' लिखा करता था; हमारे समझानेपर अब उसे 'हारीत-धर्मसूत्र' कहने लग गया है, उससे ब्रह्मवादिनी तथा सद्योवधूका वर्णन लिखता है, तथा हारीतके 'नहि शूद्रसमाः' इस वचनका भी उद्धरण देता है, हम इनका अकाट्य उत्तर पृ. ८०-८६, ८६-६६, में दे चुके हैं, वादीकी त्रिकालमें भी शक्ति नहीं कि–इनका उत्तर दे सके।

१३८-१३६ इस प्रकार यमस्मृतिके 'पुराकल्पेषु नारीणां' का उत्तर भी दिया जा चुका है पृ. ८६-८६ यहाँ वादीका-'पुराकल्पेषु' का पूर्व-कालनिर्मित-ग्रन्थोंमें अर्थ करना गलत है। इसीका पर्यायवाचक 'युगान्तरेषु' तथा 'सर्गादिसमये' मिलता है-यह हम वहाँ स्पष्ट कर चुके हैं।

'सकल्पं सरहस्यं च' आदिमें 'कल्प' शब्द अन्य है 'पुराकल्पं' के 'कल्प' का अन्य अर्थ है। एक शब्द अनेकार्थक होता है; सब स्थान एक ही अर्थ नहीं हो जाया करता है, जोकि-वादी पूर्वकालनिर्मित ग्रन्थोंमें यह अर्थ करता है; तो मनुस्मृतिसे प्राचीन और ग्रन्थ कौन हो सकता है। स्वा.द.ने मनुस्मृतिको सृष्टिकी आदिमें बनी हुई माना है; सो उसमें कहीं भी स्त्रीके उपनयनका वर्णन नहीं आया है; बल्कि खण्डन ही आया है। पं० शिवदत्तजीके कथनपर पहले विचार किया जा चुका है। म.म. पं० शिवदत्तजीने शूद्रका तो याज्ञिक वेदानधिकार माना ही था, केवल पृ.१४१-१४२ वादी लिखता है—म.म. पं० गिरिधरशर्मा और पं० परमेश्वरानन्द-कृत व्याख्या सहित कौमुदीमें इस यमस्मृतिका पाठ ही 'पुरायुगेषु नारीणां' यह दिया है। इस वादीकी कलमसे यहाँ सिद्ध हो रहा है कि—'पुराकल्पेषु' तथा 'पुरा युगेषु नारीणां' ये पर्यायवाचक शब्द हैं। वादीने पं. गिरिधरशर्माकी व्याख्यामें यह उद्धरण दिखाया है, पर उसे ज्ञान ही नहीं, उन्होंने कहीं ऐसी व्याख्या नहीं की; यह तो श्रीवासुदेव दीक्षित-कृत बालमनोरमामें पाठ है। जिन्हें यह भी पता नहीं, वे शास्त्रोंकी मीमांसा करते हैं। वाह! अस्तु, इस विषयमें हम पूर्व पर्याप्त स्पष्टता कर चुके हैं।

पृ. १४२ 'मनसा भर्तुरतिचारे सावित्र्याऽष्टशतेन शिरोभिर्जुहुयात् पूता भवति' यहां गायत्रीके शिरोमन्त्रकेलिए कहा है, गायत्रीकेलिए नहीं। शिरोमन्त्रका विनियोग स.ध.की सन्ध्यामें देखिये—शिरसः प्रजापतिरृषिः त्रिपदा गायत्री छन्दो ब्रह्माग्निवायुसूर्या देवताः प्राणायामे विनियोगः' जो सारे मन्त्रसे पृथक् होनेसे वह वेदमन्त्र नहीं रहा। वादीकी चारों वेद-

संहिताओंमें तो वह शिरोमन्त्र है ही नहीं।

वसिष्ठस्मृतिका (२१।७) वचन वादीने स्त्रीके हवनकेलिए दिया है, इसपर हम पृ. १३६ में विवेचना दे चुके हैं। यहाँ सावित्रीमन्त्र इष्ट नहीं; जैसा कि वादीने लिखा है; किन्तु उसका शिरोमन्त्र 'आपो ज्योती रसाऽमृतं' इष्ट है।

वादीने 'त्रिरात्राद् अप्सु निमग्नायाः सावित्र्यष्टशतेन शिरोभिर्जुहुयात्' के अर्थमें 'शिरोभिः' का अर्थ छोड़ दिया है; क्योंकि-वादी बेचारे को पता नहीं है कि-उसका शिरोमन्त्र क्या है, 'आपो ज्योती रसोऽमृत' है। इसलिए स.ध.की सन्ध्यामें उसका विनियोग लिखा गया है। जिसे हम पहले लिख चुके हैं। वादीकी सन्ध्यामें भी यह मन्त्र है, पर शिरोमन्त्र उसके साथ नहीं है; तब क्या स्त्री रावण है, जो कि-'शिरोभिर्जुहुयात्' बहुतसे शिरोंसे हवन करेगी? और फिर जलमें डुबकी लगाना लिखा है; तब क्या वह डुबकी लगाती हुई जलकी अग्निमें हवन करेगी?

वस्तुतः यहां 'शिरोभिः' इस सावित्रीके 'शिरोमन्त्र जुहुयात्' में अन्तर्भावितण्यर्थ होनेसे क्योंकि-वसिष्ठके स्त्रीकेलिए 'अनग्निः' (अग्नि-होत्रसे हीन. ५।१) कहनेसे स्त्री स्वयं स्वतन्त्र अग्निहोत्र नहीं कर सकती; इसमें मनुस्मृतिके पद्य हम पृ. १५२-१५३ में दिखला चुके हैं; सो यहाँ अन्तर्भावितण्यर्थतावश 'किसी ब्राह्मणसे यज्ञ करवा ले' यह अर्थ है। विशेष विवेचन पं. शिवदत्तजीके पक्षके खण्डनमें हम लिख चुके हैं।

वादी जो किसी वचनका अर्थ देता है, यह नहीं देखता कि-कहीं ऐसे अर्थमें पूर्वापर विरोध तो नहीं आ रहा? यदि है; तो इसका तात्पर्य क्या है, यह समझना पड़ता है; सो स्पष्टतया यहाँ अन्तर्भावितण्यर्थका तात्पर्य निकला।

जैसे निषादस्थपतियाजन विशेषवचनके बलसे आता है; पर उसके स्वयं उसमें अनधिकारी होनेसे वह वही कार्य ऋत्विक्से करा लेता है; तब वह कृत्य तत्स्वामिक हो जाता है; इस प्रकार स्त्री भी अपनी

स्वतन्त्रतासे अग्निहोत्र वर्जित होनेसे वह विशेष-विहित कार्यको जब ऋत्विक्‌सेकरा लिया करती है, तब वह कृत्य भी तत्स्वामिक हो जाता है। ऋत्विक्‌का कर्म भी यही है कि-'यः परार्थं यजति'। 'जो दूसरेका यज्ञ करे' मनुस्मृतिमें भी स्पष्ट लिखा है—'अग्न्याधेयं पाकयज्ञान् अग्निष्टोमादिकान् मखान्। यः करोति वृतो यस्य स तस्य ऋत्विग् इह उच्यते' (२।१४३)

जैसे कि-कौशल्याकेलिए रामायणमें लिखा है—'अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला' (२।२०।१५) यहाँ कौशल्याका हवन दीख रहा है, पर स्वयं स्वतन्त्र उसमें स्त्रीत्ववश अधिकृत न होनेसे उसने वह ऋत्विग्-द्वारा कराया; अतएव रामाभिराम-टीकाकारको वहाँ लिखना पड़ा, 'अग्निहोत्रं मन्त्रवद् जुहोति स्म 'ज्येष्ठपत्नीत्वाद् ऋत्विजा इति शेषः'। तदाह 'हावयन्तीम्' इति। अर्थात् कौशल्या ऋत्विक्‌द्वारा हवन करा रही थी। तभी उक्त पद्यके साथके पद्यमें रामायणमें स्पष्ट लिखा है – 'ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्' (२।२०।१६) इस रामायणके प्रमाणसे ही हमारी बात सिद्ध हो रही है। इसी कारण ही शिरोमणि-टीकामें भी लिखा है—'हावयन्तीं ब्राह्मणैरिति शेषः। एतदनुरोधेन पूर्वत्र 'जुहोति' इत्यस्य 'हावयन्ती' इत्यर्थः'। भूषण-टीकामें भी लिखा है-'जुहोति-हावयति कौशल्या, अतएव 'हावयन्तीम्' (२।२०।१६) इति वक्ष्यति, ब्राह्मणैरिति शेषः'। यह अर्थ कृत्रिम नहीं है, वास्तविक है।

यहाँ रामायणकी अन्य भी साक्षी दी जाती है—'ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेनमहात्मना। हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात्' (२।२५।२७) इस विषयमें स्पष्टताकेलिए इस पुष्पमें १४६-१५४ पृ. देखें। रामायणकी उपजीव्य मनुस्मृतिमें भी स्त्रीके हवनकेलिए निषेध लिखा है—'न...स्त्रिया क्लीवेन च हुत भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित्। अश्लीकमेतत् साधूनां यत्र जुह्वति अमी (स्त्रीप्रभृतयः) हविः। प्रतीपमेतद् देवानां तस्मात् तत्परिवर्जयेत्' (४।२०५-२०६) यहांपर दयानन्दी-वादीका यदि उसमें हमपर विश्वास नहीं; तो दयानन्दी श्रीतुलसीरामका किया अर्थ

भी देख ले—

'जिस यज्ञमें आचार्य वेदपाठी न हो; और जिसमें समस्त ग्राम-भरका अध्वर्यु तथा स्त्री वा नपुंसक होता हो, ऐसे यज्ञमें ब्राह्मण कभी भोजन न करे। जिस यज्ञमें पूर्वोक्त [स्त्री आदि] होता आदि काम करते हैं; वह सज्जनोंको बुरा लगनेवाला और विद्वानोंको अप्रिय है।' अब वादीकी त्रिकालमें भी शक्ति नहीं कि—इससे अपना पक्ष सिद्ध कर सके।

जब वादी स्वयं भी 'स्तुता मया वरदा वेदमाता...पावमानी द्विजानाम्' (१९।७१।१) इत्यादि वेदमन्त्रसे सावित्री (गायत्री) को 'द्विजोंको पवित्र करनेवाली (पृ. १४३ में) मानता है; तब 'शूद्राणाम-दुष्टकर्मणामुपनयनम्' यह वेदविरुद्ध शूद्रोंका उपनयन धृष्टतासे कैसे कह सकता है? तब उस वेदविरुद्ध-वचनको उपस्थित करनेवाले श्रीरामकृष्ण-भट्टको वह 'विद्वद्वर' कैसे कहता है—'अतः स्ववचनविरोधाद् वादी अपास्त; खण्डित हो गया। वैसे हम 'शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्' इस वचनका ७म पुष्प पृ. ८६९-७४ में समाधान कर चुके हैं।

इस 'वेदमाता द्विजानाम्' मन्त्रपर यह याद रखना चाहिये कि-यहाँ वेदमाता' के दो अर्थ हैं—एक गायत्री दूसरा वेद। इसलिए इस मन्त्रको वेदपाठ वा गायत्री जपके अनन्तर पढ़नेमें विनियुक्त माना गया है; जब ऐसा है; तो वेदमें अधिकार द्विजोंका होनेसे उस वेदमें शूद्रोंका अधिकार निषिद्ध हो गया। गायत्री अर्थ भी यहाँ माना जावे; तब वेदके एक प्रमुख सारभूत गायत्री-मन्त्रमें जब द्विजसे इतरका अनधिकार सिद्ध हुआ, स्त्रीका साक्षात् उपनयन न होनेसे वह भी मुख्य द्विज नहीं। तब सारे वेदमें तो शूद्रका स्वतः अनधिकार सिद्ध हुआ। श्रीशिवदत्तजी भी वेदोंमें शूद्राधिकार नहीं मानते थे। तब स्त्री-शूद्रोंको जो वादीका समाज वेदमें अधिकृत मानता है, यह मत तथा स्वा.द-का 'यथेमाँ वाचं' मन्त्रका अर्थ खण्डित हो गया। तब आर्यसमाजका एतद्विषयक पक्ष सर्वथा निराकृत हो गया।

पृ. १४४ वादी लिखता है—'यथेमां वाचं कल्याणीं' यजुः (२६।२)

इत्यादि वैदिक आदेश जिसकी मनुष्यमात्रके वेदाधिकार-विषयक व्याख्या श्रीदयानन्दजीसे अतिरिक्त श्रीसत्यव्रतसामश्रमीने, वैदिकमुनि स्वा. हरिप्रसादजी आदिने ऐतरेयालोचन पृ. १७, स्वाध्यायसं. पृ. ८२ में की है, इस विषयमें स्पष्ट है, यह कहकर वादी इनमें मेरा नाम भी लेता है कि-उनके इस विषयके विचार भी अत्यन्त संकुचित है, जिनकी आलोचना-का यह उपयुक्त अवसर नहीं, उपनयनके विना गायत्रीमन्त्रका जप प्राचीन वैदिक-परम्पराके सर्वथा विरुद्ध होनेके कारण इस विधानसे भी स्त्रियोंका यज्ञोपवीत (जिसका हारीतने ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू दोनों प्रकारकी स्त्रियोंकेलिए विधान किया हैं-स्पष्टतया सूचित होता हैं'।

यह वादीकी व्यर्थकी वातें हैं। इन सबका हम कई वार प्रत्युत्तर दे चुके हैं। 'यथेमां वाचं' का हम आरम्भिक ५५ पृष्ठोंमें प्रत्युत्तर दे चुके हैं। इसका वादी त्रिकालमें भी उद्धार नहीं कर सकता। अब यहां उसने 'आलोचना' का उपयुक्त अवसर नहीं, यह लिखकर इस दलदलमें फंसनेसे अपनी जान छुड़ा ली है।

अब हम वादीके परम-मान्य 'अछूतोद्धार-निर्णय' से भी उक्त मन्त्रार्थ-का खण्डन दिखलाते हैं-वादी ध्यानपूर्वक सुने। उसके प्रणेता श्रीतर्करत्नजी लिखते हैं—'स्वा.द. सरस्वतीने 'यथेमां' मन्त्रको परमात्माकी उक्ति बताया है।......

इस स्वा.द के अर्थमें भी अनेक शङ्काएं होती हैं। 'स्वाय' का अर्थ 'अपने स्त्री-पुत्र' आदि किया है। तो क्या ईश्वरके भी स्त्री-पुत्रादि होते हैं? यदि 'मनुष्यके स्त्री-पुत्र'का खैंच-खांचकर अभिप्राय निकालो, तो क्या वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रमें नहीं आ गये? अरण शब्दका अर्थ स्वा.द.ने 'उत्तमलक्षण-अन्त्यज' अर्थ करके अपने सिद्धान्तका आप ही खण्डन किया है।

जो अन्त्यज उत्तम लक्षणवाला हो गया, वह ब्राह्मण आदि क्यों नहीं बना? इसके अतिरिक्त आर्यसमाजमें शूद्रसे भिन्न अन्त्यज कोई वर्ण नहीं है। 'दातु:' एक वचन और 'देवानां' बहुवचनका विशेष्य-विशेषणभाव नहीं बन सकता।

'विद्वानोंकी दक्षिणा देनेकेलिए ईश्वर कैसे मनोहर प्यारा होगा-यह अद्भुत मुहावरा है! मेरी यह कामना बढ़े; और मुझे वह परोक्षसुख प्राप्त हो-यह ईश्वर नहीं कह सकता; क्योंकि-ईश्वरको कोई कामना अप्राप्य नहीं है।

और क्या वह [परमात्मा] भी दुःखी है, जो परोक्ष सुख मांगता है? इसके अतिरिक्त मनुष्य भी वही कामना और वही सुख कैसे प्राप्त कर सकता है, जैसा ईश्वरको है-इत्यादि कथनसे यह स्वा.द.का अर्थ भी विद्वानोंके कण्ठमें नहीं उतरता है' (पृ. ३१-३२)

पृ. ५ में 'तर्करत्नजी' लिखते हैं—'आर्यसमाजके इस कथनसे पूर्वोक्त आक्षेपका कोई समाधान नहीं होता है। क्योंकि-यहाँ यह प्रश्न होता है कि-जब मनुष्य शूद्रके काम करता है; तो उसको यज्ञ करना, वेद पढ़ना, पढ़ाना, अध्ययन करना-कराना आदिका अधिकार है-या नहीं? यदि है तो वह ब्राह्मण हो गया, या शूद्र ही रहा? यदि शूद्र ही रहा; तो 'कर्मसे ब्राह्मण बनता है' यह आर्यसमाजका सिद्धान्त कहां बना?

और यदि [वह शूद्र, कर्म करनेसे] ब्राह्मण बन गया, तो वे अधिकार ब्राह्मणको मिले, शूद्रको कहां मिले? शूद्र तो अधिकारोंसे वञ्चित ही रहा। आर्य-विद्वान् आर्यमुनिने अपने मीमांसादर्शनके ६।१।२५ सूत्रके भाष्यमें शूद्रको यज्ञाधिकारका निषेध ही किया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक शूद्र अपने कर्म शिल्प वा सेवाका परित्याग कर ही नहीं सकता-ऐसी दशामें द्विजोंके अधिकार वेदाध्ययनादि उसे प्राप्त हो नहीं सकेंगे।

दूसरे, शूद्र भी वेद पढे, यह बन ही नहीं सकेगा, क्योंकि आर्य-[समाजी] सिद्धान्तमें मूर्खका नाम शूद्र है, और इस प्रकार सामर्थ्याभावके

कारण तो शूद्रको वेदसे अवश्य ही वञ्चित रहना पड़ेगा। 'यथेमां वाचं' मन्त्रसे शूद्रको जो वेदाध्ययनाधिकार [कहा जाता] है, वह कैसे बन पड़ेगा ?

यदि शूद्र नाम मूर्खका ही है; तो क्यों कोई अपना नाम शूद्र ही रखना चाहेगा ? और इस प्रकार तो एक वर्णका ही अभाव हो जावेगा। इसके अतिरिक्त आर्यसमाजमें भी शूद्र उसी प्रकार अपमानित रहा, जिस प्रकार आजकल स.ध.में बताया जाता है।

यदि सब शूद्र अपने कर्मोंको छोड़कर ब्राह्मण बनने चल दिये, तो शिल्पके नाशसे देशका नाश अवश्यम्भावी है। आज शूद्र-कर्म छोड़ा, कल वैश्य बन, समय-समयपर कुछ क्षत्रिय और ब्राह्मणादि बननेके कर्म किये, ऐसी दशामें उस मनुष्यका क्या वर्ण कहाएगा ? हमारी समझमें कुछ नहीं बनेगा। अत: कर्मसे वर्णव्यवस्था मानना—वर्णव्यवस्थाका नाश करना ही माना जावेगा।

सनातनधर्मानुसार जन्मसे वर्ण मानना एक महत्त्वकी वस्तु है। यदि समस्त क्षत्रिय, ब्राह्मण बननेकी धुनमें अपने कर्म राष्ट्र-रक्षाका परित्याग कर दें; तो राष्ट्र नष्ट-भ्रष्ट होकर चकना-चूर हो सकता है। ऐसी दशामें उस राष्ट्रनाशका जिम्मेदार कौन होगा ?

यदि क्षत्रियोंसे उसका जवाब तलब किया जावे, तो कर नहीं सकते। क्योंकि—वे कह सकते है कि—हम तो ब्राह्मण बनने चल दिये थे। इसी प्रकार यदि शूद्र वा वैश्यसे शिल्प और वाणिज्यके नाशका उत्तर मांगा जावे, तो वे भी कह सकते हैं कि—हम तो ब्राह्मण वा क्षत्रिय बननेमें लगे थे। हमें शिल्प और वाणिज्यकी क्या पड़ी ? सचमुच कर्मसे वर्ण माननेमें उनका कोई भी दोष नहीं रह जाता; प्रत्युत वे पुरस्कारके भागी बनने चाहियें।

परन्तु स.ध.में ऐसा नहीं है। गीतामें लिखा है—'श्रेयान् स्वधर्मो

विगुण: परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:' (३।३५) (अपने-अपने ब्राह्मणादि-वर्णधर्मका थोड़ा पालन करना भी उत्तम है: परन्तु अन्य वर्णोंके उत्तम धर्मोंका पालन करना भी अच्छा नहीं। अपने वर्णधर्मका निर्वाह करते मर जाना अच्छा है, परन्तु पर-वर्णधर्मका स्वीकार करना अच्छा नहीं।) अत्रिस्मृतिमें लिखा है—

'ये व्यपेता: स्वधर्माच्च परधर्मे व्यवस्थिता:। तेषां शास्तिकरो राजा स्वर्गे लोके महीयते' (१७) (जो मनुष्य अपने वर्ण-आश्रमके धर्मसे विरुद्ध आचरण करके दूसरे वर्ण वा आश्रमके कर्म करते हैं; उनको दण्ड देनेवाला राजा स्वर्गका अधिकारी होता है।) यही कारण था कि-समस्त-संसारका त्याग करके ब्राह्मण बनने चलते हुए अर्जुनका श्रीकृष्णने निग्रह किया था।

कर्मानुसार वर्ण माननेपर न तो आप राष्ट्रकी परतन्त्रताका प्रश्न क्षत्रियोंसे पूछ सकते हैं, और न वाणिज्यके नाशका वैश्यसे, और न शिल्पनाशका शूद्रोंसे ही कुछ पूछा जा सकता है। इस कर्मसे वर्ण मानने-वाले समाजके उच्छृङ्खलताके साम्राज्यमें नियमपूर्वक समाजस्थिति नहीं चल सकती; अतएव वर्णव्यवस्था जन्मसे ही मानी जानी चाहिये। जिससे राष्ट्ररक्षा भली प्रकार हो सके।.........इत्यादि (पृ, ५-७)

'यथेमां वाचं' पर कुछ दिङ्मात्र आलोचना वादीके परममान्य श्रीभगवदाचार्यस्वामीने भी की है। उसका भी हम कुछ उद्धरण देते हैं। वे 'ईशादयो दशोपनिषद:' की भूमिका पृ. ९-१० में संस्कृतमें लिखते हैं—जिसका अनुवाद यह है—'वेद ईश्वरका ग्रन्थ है—यह बात वेद नहीं कहता। 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' यह याजुष-श्रुति भी उक्त-इष्ट अर्थको नहीं बताती। यजुर्वेदके २६वें अध्यायमें यह मन्त्र पढ़ा जाता है। इस अध्यायके आरम्भमें उवटने लिखा है—

'अथ इदानीं खिलानि अनुक्रमिष्याम:' (अब हम खिलमन्त्रोंको दिखलाते हैं) महीधरने भी यही कहा है—'अब हम खिल कहेंगे, क्योंकि

इनका विनियोग कहीं नहीं कहा गया है'। 'खिल का स्वरूप यह है—दूसरी शाखाके मन्त्र अपनी शाखामें आवश्यकतावश जो पढ़े जावें, उन्हें 'खिल' कहा जाता है। यह महा. शान्ति. (३२३।१०) में श्रीनीलकण्ठने लिखा है। हरिवंशमें भी उस नीलकण्ठने यही कहा है। 'खिलो नारायण: प्रोक्त: ऐषव: तद्गुणा: स्मृता:'। महीधरानुसार कि—'अब हम 'खिलों' को कहते हैं। इनका विनियोग कहीं नहीं मिलता; अत: यह 'खिल' मन्त्र हैं। तब 'यथेमां वाचं कल्याणीं' के खिल होनेसे कहीं अन्य शाखासे आनेसे यह मन्त्र मौलिक नहीं सिद्ध होता। सारा मन्त्र यह है—'यथेमां वाचं' ××

इसके अतिरिक्त इस मन्त्रके शुक्लयजुर्वेदमें पढ़े होनेसे 'इमां वाचं' पदसे केवल यजुर्वेदका ही ग्रहण उचित है [सारे वेदोंका ग्रहण उचित नहीं] और फिर यजुर्वेदमें ब्राह्मणभाग बहुत है; और बहुतसे यजुर्वेदके मन्त्र ऋग्वेदसे लिये एव भरे गये हैं। इस मन्त्रकी सत्ता, ऋग्वेदमें नहीं मिलनेसे इस मन्त्रसे इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् यह ईश्वरका वचन नहीं हो सकता)।

यह २६वें अध्यायका २य मन्त्र है। प्रथम मन्त्र 'अग्निश्च पृथिवी च' में यज्ञका विषय नहीं है। २५ अध्यायोंके दर्शपूर्णमास-अग्निहोत्र-पशु-चातुर्मास्य-अग्निष्टोम-वाजपेय-राजसूयादि-सौत्रामणि-अश्वमेध इन यज्ञोंसे सम्बद्ध मन्त्र समाप्त हो गये। तब उनसे बचा हुआ यह अध्याय स्पष्ट खिल है। यह मन्त्र यहाँ प्रकृत नहीं है, अत: स्पष्ट है कि—यह खिल है। यह प्रार्थनामन्त्र है, अत: प्रकृत विनियोगमें न आनेसे यह प्रार्थना-विषयक है, यह स्पष्ट है। अत: इसे परमात्माकी वाणी नहीं माना जा सकता।

और फिर इस मन्त्रमें 'शूद्राय च अर्याय च' यह [व्युत्क्रमसे] कहा है। यहाँ 'अर्याय च शूद्राय च' इस प्रसिद्ध क्रमसे नहीं कहा। यहाँ समास भी नहीं है कि—आगेका पीछे और पीछेका आगे कर दिया जावे। मनु-आदि स्मृतियोंमें 'ब्राह्मण: क्षत्रियो वैश्य: त्रयो वर्णा द्विजातय:। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो, नास्ति तु पञ्चम:' (१०।४) 'ब्राह्मण: क्षत्रियो वापि

वृद्धि नैव प्रयोजयेत्' (मनु. १०।११७) इस प्रकरणमें 'शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा' यहाँ क्रम-प्राप्त वैश्योंका नाम कहकर अन्तमें 'कर्मोपकरणा: शूद्रा:' (१०।१३०) कर्मी लोग-शूद्रोंका नाम अपने क्रममें रखा गया है।

इस प्रकार मनु. १।३१, ७५ में भी ब्राह्मणादियोंका क्रम रखा गया है। अन्य ग्रन्थोंमें भी ब्राह्मणादिके क्रमकी रक्षा की गई है। इसी यजुर्वेदमें 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' (३१।११) में भी ब्राह्मणादिका क्रम सुरक्षित है। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्र'' (यजु: ३०।५) यहाँ भी ब्राह्मणादिका क्रम रक्षित है, पर प्रस्तुत मन्त्रमें 'शूद्राय च अर्याय च' (२६।२) क्रममें विपरीतता की गई है; अत: यह भी चिन्तनीय है'। सो 'इमां वाचं' से 'यह वेद ईश्वरका ग्रन्थ है' यह यजुर्वेदकी वाणी सिद्ध नहीं करती। (पृ. ६-११)

पृ. १३७ यह लिखना श्रीमहादेवशास्त्रीका गलत है कि—हारीत हमें इस बातकी कोई सूचना नहीं देताकि—वह किसी पूर्वकल्प वा युगकी लुप्त प्रथाका उल्लेख कर रहा हैं'। उसका उल्लेख करनेवाले सभी विद्वानोंने—केवल एकने ही नहीं—उसका पूर्वापर देखकर ही ऐसी बात लिखी थी ?

यह बात स्वयं भी उस सूत्रसे सूचित हो रही है कि—हारीत यावज्जीवन कुमारियों ब्रह्मवादिनी-ऋषिकाओंका वर्णन कर रहा है। ऋषिकाल वेदके आविर्भावका काल है; और वह समय कल्पारम्भका है। इस विषयमें हारीतके वचनकी व्यवस्थामें हम पूर्ण प्रकाश डाल चुके हैं। वेचारा वादी उस हमारी मीमांसाका उत्तर तो दे नहीं सकता ? केवल हममें हठका आरोप लगाता है। यह लोग समझते हैं कि—इन्होंने जो जो कुछ समझ रखा है, वही सब-कुछ है। पर इन वेचारोंसे अभी 'दिल्ली बहुत दूर है'।

पृ. १४५-१४७ आगे वादी 'न वै कन्या न युवति:' इस पद्यमें आये

'पुंलिङ्गान्त 'असंस्कृत:' का अर्थ 'अनुपनीत' देखकर स्त्रीलिङ्गान्त 'असंस्कृता' पदका भी अर्थ वही करना चाहता है, तब 'रजस्वल: पुरुष:' तथा 'रजस्वला स्त्री' का अर्थ क्या समान मानेगा ? वादीको याद रखना चाहिये कि—पुंलिङ्गान्त 'असंस्कृत:' का अर्थ तो 'अनुपनीत:' होता है, पर स्त्रीलिङ्गान्त 'असंस्कृता' का अर्थ 'अविवाहिता' होता है, क्योंकि—स्त्रीका विवाह ही उपनयनस्थानापन्न होता है; यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। इसलिए अन्य स्मृतिमें 'असंस्कृता' के स्थान 'यदि स्याद् अविवाहिता' यह पाठ आया है। यह हम आगे कहने वाले हैं।

तब जो 'पितुर्गेहे तु या कन्या रज: पश्यति **असंस्कृता**। सा कन्या वृषली ज्ञेया तत्पतिर्वृषलीपति:' (प्रजापतिस्मृ. ८५) तथा **यमस्मृति**-बृहद्यमस्मृतिका 'पितुर्गेहे तु या कन्या रज: पश्यति असंस्कृता। भ्रूण-हत्या पितु: तस्या: सा कन्या वृषली स्मृता। यस्तां विवाहयेत् कन्यां ब्राह्मणो मदमोहित:। सं विप्रो वृषलीपति:' (३।१८-१७) इस प्रकार देवलका यह वचन है—वादीने इन पद्योंमें 'असंस्कृता' का अर्थ 'अनुपनीता' का किया है।

अर्थात् पिताके घर लड़की यदि असंस्कृता—विना जनेऊके रजस्वला हो जावे; तो वह वृषली (शूद्रा) मानी जाती है, उसका पति वृषली-पति होता है।

इस अर्थके अशुद्ध होनेमें उपपत्ति यह है कि यज्ञोपवीत शास्त्रानुसार **आचार्यकुलमें** होता है, पितृकुलमें नहीं; जिससे पितृगृहमें कन्याका उपनयन रज:कालसे पूर्व होना—यह वादीकी वात ही कट जाती है।

यह वात विशेष ध्यान देने योग्य है। वादीके अनुसार जो लड़की ७-८ वर्षसे आचार्यकुलमें होगी, २४ वर्षतक वहीं रहेगी। तव उसका रजोदशामें पितृगृहमें निवास कैसे होगा ? रज:काल तो उसका वादीके अनुसार आचार्यकुलमें ही होगा। तब यह स्मृतिपद्य **निर्विषय** होकर व्यर्थ हो जाएंगे !

पर जव वादी इसे मानता है, तव इन्हींसे वादीका रजोदशामें आचार्यकुलवास खण्डित हो गया। आचार्यकुलमें वास न होनेसे उन लड़कियोंका वेदाध्ययन भी खण्डित हो गया। 'जादू वह जो सिर चढ़ बोले'। कट गया वादीका पक्ष। उक्त पद्य विवाहसे पूर्व पितृकुलमें रजस्वला होनेकी निन्दाके हैं। इसमें लिङ्ग है—'भ्रूणहत्या पितु: तस्या:' इस कथनमें उपनयन न होनेपर रजस्वला हो जानेसे भ्रूणहत्याका कुछ भी सम्वन्ध नहीं है, किन्तु रजस्वला होनेसे पूर्व विवाह न होनेसे भ्रूणों-की हत्याका सम्बन्ध पितासे स्फुट है।

अन्य प्रमाण हमारे अर्थकी सिद्धि तथा वादीके पक्षकी अशुद्धतामें यह है कि—'पितुर्गेहे तु या कन्या रज: पश्यति-असंस्कृता। सा कन्या वृषली ज्ञेया तत्पतिर्वृषलीपति:' (प्रजा.स्मृ. ८५) इन स्मृतिपद्योंके 'असंस्कृता' का पर्यायवाचक 'अविवाहिता' दिया गया है। देखिये—

'रजस्वला च या कन्या यदि स्याद् **अविवाहिता**। वृषली वार्षलेय: स्याद् जात: तस्यां तथैव हि' (लघु. आश्वला. स्मृ. २१।५) यहांपर 'असंस्कृता' का ही स्पष्ट-पर्यायवाचक '**अविवाहिता**' दिया गया है। पितृगृहमें उपनयन होनेपर भी ऋतुमती होनेपर विवाह न होनेसे भ्रूण-हत्याका स्पष्ट सम्वन्ध है। इसलिए 'हेमाद्रि' में उद्धृत 'या कन्या पितृवेश्मस्था यदि पुष्पवती भवेत्। **असंस्कृता**-परित्याज्या न पश्येत् तां कदाचन' यह वचन भी हमारी पक्षसिद्धिका ज्ञापक है। (जो कन्या पिता-के घरमें पुष्पवती (ऋतुमती) हो जाय, उसे बिना विवाहे छोड़ दे; उसे कभी न देखे)।

अन्य देखिये वादिमान्य 'श्रीशङ्कर-दिग्विजय' की साक्षी—'सर्वात्मना **दुहितरो न गृहे निधेया:**, ता: चेत् पुरा परिणयाद रज उद्गतं स्यात्, पश्येयु: आत्मपितरौ, वत्स ! पातयन्ति दु:खेषु घोरनरकेषु-इति धर्मशास्त्रं' (३।४०) (पिता लड़कियोंको घरमें न रखे, यदि विवाहसे पहले उनका

ऋतुकाल आ जाय; तो इससे माता-पिता घोर नरकमें गिरते हैं।)

यही बात वादीके मान्य निबन्ध 'स्मृति-चन्द्रिका' में भी 'मनुस्मृति' के नामसे कही है—'कन्या द्वादशवर्षे या न प्रदत्ता गृहे वसेत्। भ्रूणहत्याः पितुः तस्याः सा कन्या वरयेत् स्वयम्' (देखे वादी अपने मान्य मनुस्मृति-परिशिष्ट चौखम्भा-संस्करण काशी पृ. ७में)। इसमें पितृगृहमें बिना दान (सगाई, वा विवाह) रजोदर्शनसे पिताको भ्रूणहत्या मानी गई है।

पराशरस्मृतिकी 'विद्वन्मनोहरा' टीकामें भी ७।७ पद्यकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'यो ब्राह्मणो मदेन-कामातिशयेन आक्रान्तचित्तः तां रजस्वलां कन्यां समुद्वहति; सा 'पितुर्गेहे तु या कन्या रजः पश्यति असंस्कृता। सा कन्या वृषली ज्ञेया तत्पत्तिवृषलीपतिरिति मनुस्मरणात्।

यहां भी 'असंस्कृता' का अर्थ 'अविवाहिता' है, 'अनुपनीता' नहीं। अब यहां उक्त पद्यमें 'अनुपनीता' अर्थ कट गया। इसमें हम अन्य प्रमाण दें; तो वादी देखता-देखता थक जावेगा। पर 'श्रीः' में वादीके बहुत ही मान्य 'पराशरमाधव' का हम प्रमाण देते हैं। ७।८ पद्यकी व्याख्या करते हुए श्रीमाधव लिखते हैं—

'ऋतुदर्शने सति अदाता न केवलं पितृनेव नरके पातयति, किन्तु स्वयमपि सकुटुम्बः पतेद् इत्याह-माता चैव-इति। आगे लिखते हैं—मातादयस्त्रयः कन्याप्रदानाधिकारिणः सर्वान् उपलक्षयन्ति। रजोदर्शनात् पूर्वम् अदानं यथा नरकहेतुः, तथा रजस्वलोद्वाहोऽपि नरकहेतुः—इत्याह—'यस्तां समुद्वहेत् कन्याम्' (७।९) इत्यादि, तां-दृष्टरजसम। असम्भाष्यत्व-अपाङ्क्तेयत्वयोः हेतुः वृषली-पतित्वम्।

विवाहात् पूर्वं दृष्टरजस्का वृषली। तथा च—'पितुर्गेहे तु या कन्या रजः पश्यति—असंस्कृता। सा कन्या वृषली ज्ञेया'। यही वह वादीसे उद्धृत श्लोक है। इससे श्रीमाधवचार्यने स्पष्ट बता दिया है कि यहाँ 'असंस्कृता' का अर्थ 'विवाहरहिता' है, पर अब पहलेके मान्य 'पराशर-माधव' वादीके मतमें 'वेदानभिज्ञ' हो जाएंगे। यह है वादीकी मदान्धता।

श्रीमर्तृहरिने वादी-जैसेकेलिए ठीक ही कहा है—'यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समचरम्; तदा सर्वज्ञोऽस्मीति-अभवदवलिप्तं मम मनः। यदा किञ्चित्-किञ्चिद् बुधजन-सकाशाद् अवगतं, तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः'।

यह स.घ.का सैद्धान्तिक प्रसिद्ध पद्य है कि—लड़कीका ऋतुकालसे पूर्व ही विवाह कर दो। उसमें भी वादी दुःसाहस करके अर्थपरिवर्तनमें जोर-शोर लगाता है, खेद है वादीके इस दुस्साहसपर। वस्तुतः वादीका यह प्रयास तथा साहस है भी व्यर्थ ही, यज्ञोपवीतसे हीन शूद्रसदृश भले ही हो; पर यज्ञोपवीतकी हीनतासे शूद्र हो जानेका 'पितृगृह' से कुछ भी सम्बन्ध नहीं; बल्कि उसका कथन ही व्यर्थ है? परन्तु पितृगृहसे बिना विवाह ऋतुमती हो जानेका वृषलतासे सम्बन्ध तो स्पष्ट है। यज्ञोपवीतसे हीन ब्राह्मणादि 'व्रात्य' तो कहा जाता है, परन्तु शूद्र नहीं।

आगे देखिये कि—यह वादीका कितना दुस्साहस है—'या कन्या पितृ-वेश्मस्था यदि पुष्पवती भवेत्। असंस्कृता परित्याज्या' इस पद्यको वादी 'श्री' में अपने मान्य—'विवाहकाल-विमर्श' (मैलापुर, मद्रास) के पृ. ७६ से उद्धृत करता है, उसे कन्या-विवाहकालमें न लगाकर 'उपनयन-काल' में लगाता है, और वहाँ 'असंस्कृता' का अर्थ 'अनुपनीता' करता है। यही बात पूर्व-पद्योंकी है। 'विवाहकाल-विमर्श' होनेसे उक्त पद्यमें 'उपनयन' का कोई प्रकरण न होनेसे वहाँ भी 'असंस्कृता' का अर्थ 'अविवाहिता' ही है। 'असंस्कृता' का अर्थ है कि—वैसी कन्या जो पिताके घरमें रहकर पुष्पवती 'ऋतुमती' हो जावे; तो उसे बिना ब्याहे छोड़ दिया जाय।

उसका समन्त्रक-विवाह निन्द्य है—यह तात्पर्य है। इसकी स्पष्टता 'विवाहे च न योग्या स्यात्' इस अग्रिम पद्यमें है। नहीं तो यहाँपर 'विवाहे च न योग्या स्यात्' यह न लिखकर 'उपनेतु न योग्या स्यात्' यह लिखा होता, पर ऐसा नहीं लिखा। अतः यहाँ 'असंस्कृता' का अर्थ

'अविवाहिता' ही है। जैसेकि—'मन्त्रैर्यदि न संस्कृता' (१।७।६५) 'केवलं मन्त्रसंस्कृता' (१७।६६) इत्यादि वसिष्ठ-धर्मसूत्र (स्मृति) के प्रमाणमें है। क्या वादी यहाँ 'संस्कृता' का अर्थ 'उपनीता' कर सकता है? बल्कि 'न च मन्त्रोपनीता' (वसिष्ठ १७।६४) का भी 'मन्त्रैः अविवाहिता' ही अर्थ है। क्या वादी हमारे वा अपने दिये पद्योंमें 'असंस्कृता' का अर्थ 'अयज्ञोपवीतिनी' यह अर्थ किसी प्रामाणिक एवं प्राचीन-टीकाकारसे किया हुआ वा अनुमोदित हुआ दिखला सकता है?

'कुल्लूकभट्ट' के 'असंस्कृतः' का 'अनुपनीतः' का अर्थ उक्त पद्योंमें वादी घटा भी नहीं सकता; क्योंकि—यह पुंलिङ्गान्त है; और पूर्वोक्त पद्योंमें 'असंस्कृता' यह स्त्रीलिङ्गान्त है। लिङ्ग-वैषम्य होनेपर विशेष-शब्दोंमें बड़ा अर्थभेद हो जाता है। 'रजस्वलः पुरुषः' आ जावे, जैसेकि—मनुस्मृतिमें 'रजस्वलमनित्यं च' (६।७७) तथा 'रजस्वला स्त्री' आ जाय; तो क्या वादीकी शक्ति है कि उनका अर्थ समान कर सके? यह वादीका बड़ा दुस्साहस है कि—सनातनधर्मके पक्ष (रजस्वला लड़कीका विवाह निन्द्य है—इस पक्षको) बतानेवाले पद्योंका अपने दुस्साहससे 'उपनयन-हीना ऋतुमती हो जाय; तो वह वृषली है, यह वादी गलत अर्थ कर रहा है। यह अक्षम्य छल है। यमके राज्यमें जानेके समय वादीको इसका भयङ्कर दुष्फल भोगना पड़ेगा—यह हम उसे चेतावनी देते हैं कि वह दयानन्दियोंकी मृत्युसे सबक सीख ले।

हम अन्यत्र कह चुके हैं कि—जहाँ 'असंस्कृतः' यह पुंलिङ्गान्त पद आ जावे; वहाँ 'अनुपनीतः-'पुरुषः' यह अर्थ होता है, परन्तु जहाँ 'असंस्कृता' यह स्त्री-लिङ्गान्त पद आ जावे; तो वहाँ 'अविवाहिता स्त्री' यह अर्थ हुआ करता है।

'उपनयन-संस्कारके बिना यदि लड़की ऋतुमती हो जाय' यदि यह वादी माननीय मानेगा, तो उपनीताको 'ऋतु' आनेपर भी यज्ञोपवीत उतारना पड़ेगा; क्योंकि तब पराशरस्मृति (७।२०) आदिके अनुसार

'वृषली' से भी अधिक 'चाण्डाली, ब्रह्मघातिनी तथा रजकी' होनेसे वह यज्ञोपवीत नहीं पहर सकेगी। क्योंकि जब स्त्री 'शूद्र' है; तब साक्षात् अवर्ण चाण्डाली, रजकी, आदि यज्ञोपवीतकी अधिकारिणी कैसे हो सकेगी? इस विषयमें हम अन्यत्र स्पष्टता कर चुके हैं। पर 'यज्ञोपवीती' को 'नित्य-यज्ञोपवीतिता' (शान्ति. १४१।३६) यज्ञोपवीतके बिना एक पल भी नहीं रहना पड़ता। इस प्रकार स्त्रीकी अयज्ञोपवीतिता स्पष्ट है। क्योंकि—किसी भी प्राचीन पुस्तकमें 'असंस्कृता' का वादि-सम्मत अर्थ नहीं माना गया है।

'असंस्कृता' कन्याका तो पितृकुलसे सम्बन्ध हुआ; उसी असंस्कृता, उसी पितृकुल-सम्बन्धवालीका पितृकुलमें रजोदर्शन हो जाय; तो उसे वृषली बताया गया है। रजःकालमें पति न दिलवानेसे भ्रूणोंकी हत्या हो जानेसे उसके पिताको भ्रूणहत्याका पाप बतलाया गया है। इसका भाव यह हुआ कि—लड़कीका रजोदर्शन असंस्कृतात्व (अविवाहितात्व) में न हो, अनुपनीतात्वमें न हो, किन्तु संस्कृतात्वमें हो, उपनीतात्वमें हो। 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः (औपनायनिकः) स्मृतः' (मनु. २।६७) स्त्रियोंका विवाह ही उपनयन-जैसा होता है। रजोदर्शन-का उपनयन अर्थात् यज्ञोपवीतसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं; किन्तु पति-समीप-नयनात्मक उपनयनसे सम्बन्ध है। तब 'असंस्कृता' वा अनुपनीताका 'अविवाहिता' अर्थ हुआ, अयज्ञोपवीतिनी नहीं।

तो उसका संस्कृतात्व-उपनीतात्व पतिकुलमें होनेपर हो सकता है। पतिके अतिरिक्त कन्याका आचार्य कहीं कहा ही नहीं गया। फलतः पतिकुलमें उपनीत (विवाहित) होकर जानेपर लड़कीका रजोदर्शन पतिकुलमें हो, तब वह कन्या 'वृषली' न कही जायगी। क्योंकि उसका शुद्धावस्था (ऋतुमतीत्वसे पूर्व) में दान हो जानेसे वह फिर अशुद्ध क्यों मानी जाय? रजःकालमें पति निकट होनेसे फिर भ्रूणहत्या भी नहीं होती। तब लड़कीके पिताको भ्रूणहत्या कैसे लगे?

यही उक्त स्मृतिपद्योंका तात्पर्य है। जिसके तत्त्वको न समझ कर वादी स्मृतियोंसे अपनी नई एव निर्मूल विधियाँ ही निकालने लगा। उसका परिणाम-पतन उसने प्राप्त कर लिया। यह विज्ञ पाठकोंने देखा ही है। इसे उल्टा वादी रजोदर्शनके बाद कन्याका विवाहव्यय:-सिद्धान्त भी खण्डित करवा बैठा। 'चौबेजी गये थे छब्बे बनने, दुबे ही बनकर आये'। यह बात है भी ठीक।

वादी लड़कीका विवाहावसरपर ही यज्ञोपवीत मानता है; क्योंकि वह जो हारीतका 'सद्योवधू' का प्रमाण देता है, वहाँ 'उपनयनं कृत्वा विवाह: कार्य:' यह स्पष्ट ही है। वादी जो 'गोभिल' का 'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम्' प्रमाण देता है, वह भी वहाँपर 'विवाहप्रकरण' का हों है। वादीके मान्य म.म. पं शिवदत्तजी भी यही मानते हैं—यह पहले बताया हो जा चुका है। वादीने पार्वतीका उपनयन भी विवाहमें ही दिखलाया है। इधर वादी कन्याका विवाह १७-२४ वर्षमें मानता है, इधर 'पितुर्गेहे तु या कन्या रज: पश्यति असंस्कृता' में 'असंस्कृता' का अर्थ भी 'अनुपनीता' ही लेता है; तब वह पिताके घरमें रहती हुई दृष्टरजस्का लड़की १७-२४ वर्ष तक तथा विवाहिता तथा उपनीता न होनेसे वादीके अनुसार भी वृषली (शूद्रा) हो गई। तब विवाहमें वह शूद्रा होनेसे ही 'वेदमाता...द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) उपनयन तथा वेदकी अनधिकारिणी सिद्ध हो गई। यदि वादी इससे डरकर उक्त स्मृतिपद्यमें 'असंस्कृता' का अर्थ 'अविवाहिता' स्वीकार करे, तो वह रजोदर्शनमें ब्याही हुई होनेसे 'वृषली' हो गई। इस प्रकार वादी 'उभयतस्पाशा-रज्जुसे निगृहीत होकर बन्ध गया; अब हिल नहीं सकता।

यह सब हमने 'असंस्कृता' के वादिसम्मत 'अनुपनीता' अर्थको लेकर ही लिखा है। यद्यपि इतना लिखना ही पर्याप्त है. तथापि उक्त स्मृति-पद्यमें 'असंस्कृता' का अर्थ 'अविवाहिता' ही है, इसे हम युक्ति-प्रमाणोंसे भी सिद्ध करते हैं। उक्त पद्यका यह अर्थ है कि—लड़की विवाहसे पूर्व

ही पिताके घरमें रज देखे; वह वृषली (धर्मपतित) होती है। उसके पिताको भ्रूणहत्याका दोष लगता है। उसका पति भी 'वृषलीपति' होता है।

कन्याका ऋतुकालसे पूर्व विवाह करना 'शास्त्रीय' है। 'गौतम-धर्मसूत्र'में लिखा है—'प्रदानं प्राग् ऋतो:, अप्रयच्छन् दोषी' (२।८।२१-२२) (ऋतुकालसे पूर्व कन्याका दान कर दे; जो नहीं करता है, वह दोषी होता है)। इसपर वादीके प्यारे टीकाकार श्रीहरदत्ताचार्यने अपनी मिताक्षरावृत्तिमें लिखा है—'ऋतुदर्शनात् प्रागेव देवा कन्या, तस्मिन् काले अप्रयच्छन् पित्रादिर्दोषवान् भवति। अत्र याज्ञवल्क्य:—'पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा। कन्याप्रद: पूर्वनाशे प्रकृतिस्थ: पर: पर:, अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतौ ऋतौ' (आचाराध्या. ३।६३-६४)।

इसी वादीके प्रमाणको 'पराशरस्मृ.' के ७।७ माधवभाष्यमें भी दिया गया है। अन्य निबन्ध-ग्रन्थोंमें भी उद्धृत किया गया है। यहाँ स्पष्ट ही ऋतुकालसे पूर्व कन्या-विवाह न करनेपर कन्याके पिताको भ्रूणहत्याका दोष माना गया है। ऋतुकालसे पूर्व अनुपनयनमें भ्रूणहत्याकी कोई बात ही नहीं कही गई। बल्कि विवाहसे पूर्व पितृगृहमें भ्रूणहत्याका दोष व्यासस्मृतिमें भी कहा गया है—

'यदि सा दातृवैकल्याद् (पिताकी उपेक्षासे) रज: पश्येत् कुमारिका। भ्रूणहत्याश्च तावत्य: पतित: स्यात् तदप्रद: (२।७) यही भाव यहांपर भी है। इसी प्रकार अङ्गिर:-स्मृतिमें भी लिखा है—'पितुर्वेश्मनि या कन्या रजस्तु समुपस्पृशेत्। भ्रूणहत्या पितुस्तस्या: कन्या सा वृषली स्मृता' (१२६) (यहाँ भी विवाहसे पूर्व कन्याके ऋतुमतीत्वमें पिताको दोष बताया गया है। प्रमाण इतने हैं कि—वादी सुनते-सुनते वा देखते-देखते थक जावेगा। इन्हीं हमसे दिये हुए स्मार्त-पद्योंका यही अर्थ है कि—पिता कन्याका रजस्वला होनेसे पहले ही विवाह कर दे। इन प्रमाणोंसे वादीसे सिद्धान्तित कन्याविवाहवय कट जाता है। यही लक्षण उस

लड़कीमें भी वादी घटा ले, जिसकेलिए वादीने यह 'पापड़ वेले थे' वा फिर अपने अर्थके अनुसार भी शूद्रा उस लड़कीको वेदका अधिकार देकर 'वेदमाता द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) इस वेदके आदेशसे भी विरुद्ध कर रहा है। वादी मान ले, तो उदयनारायणसिंह की टीका भी वेद बन जाती है। न माने; तो वेदमन्त्र भी स्वयं अवैदिक बन जाता है।

अब हमसे उक्त पद्यके अर्थमें वादी उपपत्ति भी सुने। बादीसे दिये उक्त स्मार्त-पद्योंमें भ्रूणहत्या तथा वृषलीपति यह जो दो पद हैं; वे हमारे पक्षके प्रबल-पोषक हैं। क्योंकि—कन्याका, विना उपनयन पितृगृहमें रजोदर्शन हो जानेसे पिताका भ्रूणहत्यासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं, विशेषकर तर्कप्रधान वादीके सम्प्रदायमें। अतः वादीका अर्थ 'निरुपपत्तिक' है।

'अविवाहिता' अर्थ करनेपर तो 'भ्रूणहत्या' का ठीक 'समन्वय' हो जाता है। विवाहसे पूर्व कन्या पिताके ही घरमें रजस्वला हो; तो उसका पति न होनेके कारण संयोग न होनेसे रजःकालके, ऋतुकालके उस समय वैयर्थ्यवश लड़की रजःकालके समय 'कामुकी' हो जानेसे, जैसेकि—वेद भी कहता है—'जायेव पत्ये उशती (कामुकी) सुवासाः' (ऋतुस्नाता)' (ऋ. १९।७१।४) (स्त्री ऋतुस्नाता होनेपर पतिकी कामना करती है) स्त्रीकी कामेच्छा पूरी न होनेसे भ्रूण मर जाते हैं; तब उस निमित्तसे उत्पन्न भ्रूण (गर्भनिष्पादक प्ररोह) मर जाते हैं; तब उसके निमित्त-कारण (कन्या-विवाह न करनेवाले) पिताको भ्रूणहत्याका दोष लगना स्वाभाविक होता है।

इसी प्रकार उक्त पद्यमें 'वृषलीपति' शब्द भी 'असंस्कृता' का 'अविवाहिता' ही अर्थ सिद्ध करता हैं। क्योंकि—पूर्व द्विजत्वाधायक-संस्कार विवाह न होनेसे वह वृषली (शूद्रा) और उसका पति 'वृषलीपति' होगा ही। वादीका इष्ट अर्थ 'अनुपनीता' होनेपर तो समयपर उपनयन न होनेसे ब्राह्मणादि शूद्र कहीं न कहा जाता। यदि वादी भी यही अर्थ करेगा; तो फिर इस अर्थसे शूद्रोंका यज्ञोपवीत खण्डित करवा

बैठेगा। फिर शूद्रोंको वेदाधिकार देना वादीके मतमें भी खण्डित हो जावेगा।

वस्तुतः समयपर यज्ञोपवीतहीन ब्राह्मणादि 'शूद्र' नहीं होता; किन्तु 'व्रात्य' (मनु. २।३९) तो कहा जाता है।

न्यायदर्शन (१।२।१३) में 'व्रात्योपि ब्राह्मणः' व्रात्य (उपनयनादिसे रहित) को भी 'ब्राह्मण' कहा गया है। मनुस्मृतिमें 'व्रात्य-ब्राह्मण' (१०।२१) व्रात्यक्षत्रिय (१०।२२) व्रात्य-वैश्य (१०।२३) कहा गया है, पर 'व्रात्य शूद्र' कहीं भी नहीं कहा गया। शूद्रको जब यज्ञोपवीत प्राप्त ही नहीं; तो फिर उसकी व्रात्यता कैसी ? स्त्री भी यज्ञोपवीतहीन होनेसे शूद्र नहीं हो सकती। नहीं तो फिर यज्ञोपवीतहीन वादीके स्वामीको भी वादीके अनुसार शूद्र मानना पड़ेगा। यद्यपि फिर स्त्रीके 'व्रात्य' हो जानेसे उससे यौनसम्बन्ध मनु २।४० पद्यानुसार निषिद्ध होनेसे उसमें दोष उपस्थित होगा; तथापि 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' (२।६७) अथवा 'औपनायनिकः परः' इस मनुपद्यके अनुसार विवाह ही उसका उपनयन होनेसे स्त्रीका व्रात्यत्व प्रसक्त ही नहीं होगा।

पूर्वपक्ष—आश्चर्य तो यह होता है—आपको स्वयं इस बातका निश्चय नहीं कि—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां' इस पद्यका जिसे अपने पक्षका प्रवलतम समर्थक मानते हैं—ठीक पाठ क्या है ? 'संस्कारो वैदिकः स्मृतः'? अथवा 'औपनायनिकः स्मृतः' ? आपको स्वयं पहले शुद्ध-पाठका निश्चय कर लेना चाहिये। (जून १९४६ सार्वदेशिक)

उत्तरपक्ष—यह भी कोई आक्षेप है ? मनुस्मृतिमें पाठ तो 'संस्कारो वैदिकः स्मृतः' यह है, पर कई लोग जिनमें वादिमान्य म.म. पं. शिवदत्त जी आदि भी हैं—'औपनायनिकः स्मृतः' भी पढ़ते हैं। इसी भांति 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः' (१।१२।१६) यह पाठ 'बोधायनगृह्यशेषसूत्र' में भी मिलता है। 'चतुर्विंशतिमतसंग्रह' पृ. ११२-११३ में श्रीभट्टोजिदीक्षितने भी लिखा है—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणाम

[औ]पनायनिको मतः' ।

वादीके प्यारे टीकाकार श्रीमातृदत्तने भी 'हिरण्यकेशीय-सत्याषाढ-[सू]त्र' में स्त्री-शूद्रोंके वेदोपनयनका निषेध करते हुए उक्त पाठ दिया है । [दे]खिये-'विद्यार्थिन आचार्यसमीपमुपगमनम् उपनयनम् । विद्यार्थस्य श्रुतितः [सं]स्कार इति वचनात् । तत् त्रैवर्णिकानामेव स्यात्, न तु शूद्राणामुपनयनम्, [वे]दाध्ययनमिति शूद्रादीनां प्रतिषेधात् । 'तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यमिति [शू]द्रादीनां प्रतिषेधात् । तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यमित्यादिना तत्समीपेऽ-[ध्य]यन-प्रतिषेधाच्च । पुंसामेव क्रियते [उपनयनादिकम्], न स्त्रियाः' ।

'स्त्रिया नाध्येयम्, न स्त्री-शूद्रसमीपे ब्रह्म श्रावयेद्-इति स्त्रीणामध्ययन-[प्र]तिषेधात् । पाणिग्रहो विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः परः' इति उपनयन-[स्था]नीयत्वाच्च विवाहस्य' (१६।१।१) श्रीमातृदत्तके इस कथनसे वादीका [य]ह तथा आक्षेप भी खण्डित हो गया । आप लोगोंमें भी बहुतसे यह [पा]ठ दिया करते हैं, क्योंकि-आप लोग 'औपनायनिकः परः' में कुछ [अप]नी इष्टपूर्ति समझते हैं; तब आप लोगोंको इस पाठका भी मोह न [र]हे; इसलिए हमने दोनों पाठ दे दिये । अर्थ दोनोंका ही समान है—[१]०० पैसे, वा एक रुपया । 'संस्कारो वैदिकः स्मृतः, औपनायनिकः स्मृतः' [वि]वाह ही स्त्रियोंका वेद-सम्बन्धी संस्कार उपनयन तथा वेदारम्भ है । [औ]पनायनिक' भी वही है-उपनयन तथा वेदारम्भ-संस्कार । तब उनके [स्था]नमें स्त्रीका विवाह होनेसे जैसे कि मातृदत्तने भी लिखा है-पृथक् [इन]की उपनयनादिकी निवृत्ति हो जाती है ।

'संस्कारो वैदिकः स्मृतः' यह पाठ प्राय: है । इसका यह अर्थ भी [हो] जाता है—'स्त्रीणां वैवाहिको विधिः, वेदमन्त्रकृतः संस्कारः' इससे [उ]न स्त्रियों वा लड़कियोंके विवाहसे भिन्न संस्कार मन्त्रहीन हो जाते हैं; [क्यों]कि गृह्यसूत्रोंमें वैसा माना है । तब वादीका यह आक्षेप समयन-श-[य]न-फलक है ।

तब जो वादीने 'पितुर्गेहे तु या कन्या रजः पश्यति असंस्कृता । सा

कन्या वृषली ज्ञेया तत्पतिर्वृषलीपतिः' (प्रजापतिस्मृति (८५) तथा वृहद्यमस्मृतिका—'पितुर्गेहे तु या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता । भ्रूण-हत्या पितुस्तस्याः कन्या सा वृषली स्मृता । यस्तां विवाहयेत् कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः । स विप्रो वृषलीपतिः' (३।१८-१९) इस प्रकार 'देवल' का यह वचन अविवाहिता-लड़कीके पितृगृहमें रजस्वला होनेकी निन्दाके हैं । इसमें लिङ्ग है—'भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः' इस पाठमें उपनयन न होनेसे 'भ्रूणहत्या' का कोई सम्बन्ध नहीं । विवाह न होनेसे तो भ्रूणोंकी हत्याका सम्बन्ध स्फुट है । मार्कण्डेयका जो हेमाद्रिमें उद्धृत वचन—'या कन्या पितृवेश्मस्था यदि पुष्पवती भवेद् । असंस्कृता परित्याज्या न पश्येत् तां कदाचन' यह वचन भी ज्ञापक है । इसमें कहा है-यदि पिताके घरमें लड़की रजस्वला हो जावे; तो उसे 'असंस्कृता' अर्थात् विना विवाह छोड दे । यहाँ 'अनुपनीता' अर्थसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं । इसलिए अगले पद्यमें भी स्पष्ट किया है—'विवाहे च न योग्या स्यात् लोकत्रय-विगर्हिता । एतां परिणयन् विप्रो न योग्यो हव्य-कव्ययोः'। मैलापुरके 'विवाहकालविमर्श' पृ. ७६ में उद्धृत पद्य हमारे ही पक्षके पोषक हैं । वादीका यहाँ 'अनुपनीता' अर्थ करना शास्त्रविरुद्ध है, गलत है । इन पद्योंसे तो यह सिद्ध होता है कि-रजःकालसे पूर्व ही लड़कीका विवाह कर देना चाहिये ।

पृ. १४७-१४८ आगे वादी द्विजका द्विजाओंसे विवाह कहता है, पर ऐसा किसी भी शास्त्रमें नहीं लिखा, किन्तु 'उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्' (मनु. ३।४) द्विजका सवर्णासे तो विवाह कहा है, द्विजासे नहीं । इस विषयमें पृ.२०६-२०८ देखो ।

'पत्युरनुव्रता भूत्वा' आदि मन्त्र पतिके जो स्त्रीके अनुकूल धर्म हैं, उन्हींको करनेका नाम पतिव्रतधर्म है, अपने अनधिकृत कर्म करनेका नाम पतिव्रत-धर्म नहीं । नहीं तो पति यदि किसी लड़कीको व्याहने जाता है; तो लड़की भी क्या किसी लड़कीको व्याहने जावेगी ? पति यदि स्त्रीको

गर्भ करता है; तो पत्नी भी क्या किसीको गर्भ करने जायगी ? 'सदृशीं भार्यां' में भी यज्ञोपवीतादिका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। लड़कीका विवाह हो जाना ही अनायास उसका उपनयन-स्थानीय हो जाता है, यह हम कई वार स्पष्ट कर चुके हैं।

पृ. १४२-१४६ हिरण्यकेशीके 'भार्यामुपयच्छेत सजातां नग्निकां ब्रह्मचारिणीम्' (१।१९।२) के 'ब्रह्मचारिणी' का ही पर्यायवाचक वसिष्ठ-धर्मसूत्रमें 'अस्पृष्टमैथुनाम्' यह आया है। 'नग्निका' का अर्थ ऋतुकालसे पूर्व कालवाली है, इस विषयमें 'आलोक' (६) पृ.२१८-२२८ में देखो। इसलिए वेदमें 'ब्रह्मचर्येण कन्या' (अ. ११।५।१८) में कन्याका ब्रह्मचर्य 'उपस्थ-संयम' ही है, यह हम पृ. ५५-७२में स्पष्ट कर चुके हैं। अतः स्त्रीके पक्षमें 'ब्रह्मचारिणी' का अर्थ 'वेदाध्ययन' इष्ट नहीं है। अर्वाचीन-पुस्तक 'प्रणववाद' में भी ब्रह्मचारिणीका वही अर्थ लेना चाहिये।

'अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमार-ब्रह्मचारिणी' (महा. शल्य ५४।६) 'सुता धृतव्रता साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी' (७) 'श्रुतावती नाम कुमारी-ब्रह्मचारिणी' (४८।२) इन सभी पद्योंमें 'कुमारावस्थामें ही उपस्थ-संयमवती' मैथुनके 'स्मरणं कीर्तनं केलि,' इन आठ अङ्गोंका आचरण न करनेवाली' अर्थ है) जैसे कि कहा जाता है—अमुक व्यक्ति 'बालब्रह्मचारी' थे। आप अपने स्वामीकेलिए भी कहते हैं कि—वे 'बालब्रह्मचारी' थे। इससे उनका बाल्यावस्थासे ही 'मैथुनाङ्गोंका व्यवहारवर्जन तथा अन्त तक अविवाहितत्व सूचित होता है, यही बात उक्त स्त्रियोंकेलिए 'कौमार-ब्रह्मचारिणी, नियता ब्रह्मचारिणी, कुमारी ब्रह्मचारिणी' आदिका इष्ट है।

तब वादीका 'वेदज्ञानसम्पन्नता' का अर्थ महाभारतको इष्ट न होनेसे खण्डित हो गया, यदि वादी चाहे तो महाभारतके वैसे वचन उद्धृत किये जा सकते हैं। दिङ्मात्र देखिये — 'न च स्त्रीणां क्रियाः काश्चिद् इति धर्मो व्यवस्थितः। निरिन्द्रिया ह्यशास्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः'

(अनुशासनपर्व ४०।११) यह बात यहां 'अशास्त्राश्च' से सिद्ध है। तब वादी ग्रन्थकर्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध अर्थोंको क्यों ठूंस दिया करता है ?

पृ. १५४ वादी कहता है—'विवाहके अवसरपर वर, वधूको 'सामाऽहमस्मि ऋक् त्वं' कहता है, उसे वेदज्ञानका अधिकार न होनेपर 'ऋग्वेद-स्वरूपिणी' कहना असङ्गत होता है'।

वादीके इस उल्लेखपर सचमुच आश्चर्य होता है। जहांसे वह बात नहीं निकल सकती; वहाँ भी वादी भगवती श्रुतिसे बलात्कार करता है। मालूम होता है कि वादीके उसकी समझमें जोरदार शस्त्र समाप्त हो गये। तब कमजोर शस्त्र भी 'फणाटोप' रूपमें दिखलाने पड़ते हैं।

'ऋक्' का वादी-द्वारा 'ऋग्वेदस्वरूपिणी' अर्थ कहना उपहासास्पद है। इसका भाव क्या यह होगा कि स्त्री तो ऋग्वेदस्वरूपिणी है, वह तो ऋग्वेद न पढ़े, पर पति ऋग्वेदस्वरूपी नहीं; अतः वह ऋग्वेद न पढ़े ? महाशय ! यह तो पुलिङ्ग-स्त्रीलिङ्गका जोड़ा बनाया गया है।

देखो शतपथब्रा.में 'ऋक् च वा इदमग्रे साम च आस्ताम्। सैव नाम ऋग् आसीत्, अमो नाम साम। सा वा ऋक् साम उपावदत्-मिथुनं सम्भवाव प्रजात्या इति। साम वा ऋचः पतिः' (८।१।३।५) ऋक् और साम ये दो थे। ऋक्ने सामको कहा कि—हम दोनों जुड़ जावें, इससे हम बढ़ जावेंगे। साम ऋक्का पति हुआ। सो इसी कारण वैवाहिकमन्त्रमें पतिको 'साम' कहा गया है, और पत्नीको ऋक्। वादि-प्रोक्त कारण कि—पत्नी ऋग्वेदस्वरूपिणी है—यह उपहासास्पद है। पाठकोंने देखा होगा कि—यह लोग साधारण-जनताको बरगलानेकेलिए विना सिर-पैरके कितने गलत हथकण्डे अपनाया करते हैं। जैसे उक्त मन्त्रमें द्यौ और पृथ्वीका जोड़ा बताया गया है, वैसे ही पति-पत्नीका भी दाढ्यार्थ जोड़ा बताया गया है। वादिप्रोक्त कुछ भी कारण

...में नहीं है।

'सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते' (मनु. २।१४५) का यह तात्पर्य है कि-पुरुषका काम केवल थोड़ेसे मिनटोंका है, शेष गर्भधारण, बच्चेका पोषण, स्तन पिलाना आदि कठिन काम स्त्रीके जिम्मे होनेसे उसको पितासे भी अधिक दर्जा दिया गया है। इसलिए श्रीकुल्लूकभट्टने २।२२७ पद्यकी टीकामें लिखा है—'मातुः तावत् कुक्षौ धारणदुःख, प्रसववेदनातिशयः, जातस्य रक्षणवर्धन-कष्टं च पितुरधिकानि एव' (माताका बच्चेको गर्भमें धारण करनेका दुःख, प्रसवकी भारी वेदना, और रक्षण, वर्धनका कष्ट पितासे अधिक ही हुआ करता है।) इसीसे माताको पितासे बढ़ाया जाता है।

यदि विद्याके पढ़नेकेलिए माताको पितासे बढ़ाना इष्ट होता; तो आप लोग भी पिताको १२ वर्ष पढ़ाते, और माताको १०० साल न सही; तो ५० वर्ष तो कमसे कम पढ़ाते ही; पर आप लोग भी जब ऐसा नहीं करते; तब आप लोगोंका अभिप्राय भी सिद्ध नहीं हो सकता।

शेष रहा स्त्रीको वेद पढ़ाना, उसका उसको अधिकार नहीं। हाँ, पुराण-महाभारतादिसे वही वेदका अभिप्राय सुन सकती हैं। क्या महाभारतादिमें वेदका ज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान नहीं? तभी तो कहा है-'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्। (श्रीमद्भा. १।४।२५)

शिक्षा वेदाध्ययनपर अवलम्बित नहीं, किन्तु बिना पढ़े भी पिता-माता आदिके उपदेश-द्वारा लड़की शिक्षित हो सकती है। स्त्री-शिक्षाके हम भी विरोधी नहीं। केवल अनधिकृत वेदाध्ययनके अतिरिक्त शेष शिक्षण उसकेलिए पिता आदि द्वारा निषिद्ध नहीं। वेदज्ञान सम्पन्नता ...मात्र बालकोंपर प्रभाव डालनेवाली होती; तो वेदके विद्वान् रावणके लड़के भी अच्छे बनते। वह स्वयं भी अच्छा होता। यह वादीका

हेत्वाभास है।

पृ. १५१-१५२ 'उपाध्याया, आचार्या आदि पर हम पृ. १७५-१८२ में स्पष्टता कर चुके हैं। आजकल भी स्कूलोंके वेदज्ञानहीन प्रिंसिपलोंको भी 'आचार्य' कहा जाता है। निरुक्तमें आचार्यमें उपनयनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं बताया गया है। व्याकरणमें भी 'आचार्या'का अर्थ 'व्याख्यात्री' कहा है, उसमें भी उपनयनका वा वेदका कुछ भी अर्थ नहीं।

पञ्चम अध्याय (ऐतिहासिक-दृष्टि)

पृ. १५६-१५९ ब्रह्मवादिनी एवं ऋषिकाओंके विषयमें हम पहले पृ. ७२-८९ में वादीको अकाट्य उत्तर दे चुके हैं। वादी लिखता है—'आप ही अकेले विद्वान् हैं, जो इस बातसे इन्कार यह कहकर करना चाहते हैं कि-'ऋषिकाओं और देवियों [देवताओं] की योनि मनुष्योंसे पृथक् है', तथा ऋषिकाएं पढ़ती नहीं थीं। उन्हें स्वयं ही वेदमन्त्रोंका भान हो जाता था'। हम क्या; वल्कि सभी प्राचीन वेदादिशास्त्र, सिवाय दयानन्दियोंके, इसपर सहमत हैं कि-ऋषि-देवता आदि मनुष्ययोनिसे भिन्न थे, हम वेदादिशास्त्रोंके पचासों प्रमाण 'आलोक' (४) पृ. ४०५ से ४२० पृ. तक लिख चुके हैं। जोकि विद्वान्-पुरुषोंका ही नाम देवता एवं ऋषि मानते हैं, इसका भी पूरा समाधान हम 'आलोक' (४) पृ. ४२१ से ४३७ पृ. तक कर चुके हैं।

शेष हैं-देवता तथा ऋषिओंका बिना पढ़े ही मन्त्रका दर्शन, इसमें सभी वेदादिशास्त्र सहमत हैं। देखिये निरुक्तमें ब्राह्मणभागका प्रमाण लिखा है—'ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्श इति औपमन्यवः। तद् यद् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत्; ते ऋषयोऽभवन्; तद् ऋषीणामृषित्वम् इति विज्ञायते' (२।११।१) अर्थात् तपस्या करते हुए जिनको वेदमन्त्र स्वयं दृष्ट हो गये, वे ही ऋषि बने। इससे स्पष्ट है कि-ऋषियोंने वेद नहीं पढ़ा। स्वयं उन्हें वेद प्रतिभात हो गये।

इसलिए श्रीदुर्गाचार्यने अपने भाष्यमें स्पष्ट लिखा है—अनधीतमेव तत्त्वतो ददृशुः तपोविशेषेण' (२।११।१)। अर्थात् बिना पढ़े ही उन ऋषि-ऋषिकाओंको वे वेदमन्त्र प्रतिभात हो गये। यही 'ऋषि' शब्दका मुख्य अर्थ 'ऋषि-दर्शनात्' (२।११।१) यह निरुक्तका 'ऋषि' शब्दका मुख्यार्थ है। इसलिए ऋषि, मनुष्ययोनिसे भिन्न माने गये हैं, और वे प्रायः अयोनिज होते हैं। 'तत्र अयोनिजम् अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देव-ऋषीणां शरीरं धर्मसंहितेभ्योऽणुभ्यो जायते' (प्रशस्तपादभाष्य द्रव्यग्रन्थ पृथिवीनिरूपण) इसलिए विश्वामित्र-वसिष्ठादि ऋषियोंकी उत्पत्ति इतिहासमें अयोनिज प्रसिद्ध है।

इसलिए महायज्ञोंमें देव अलग हैं, ऋषि अलग हैं, मनुष्य अलग कहे गये हैं (मनु. ४।२१) वेदमें भी 'देवान् मनुष्यान् असुरान् उत ऋषीन्' (अथर्व. ८।६।२४) देवता, मनुष्यों तथा ऋषियोंको अलग-अलग माना गया है। इस विषयमें विशेष 'आलोक' (४) पूर्वोक्त लेखोंमें देखो। इसलिए मन्त्रोंमें उन-उन ऋषियोंका नाम भी आता है। इसके लिए कुछ सूची स्वा. भगवदाचार्यने 'दशोपनिषदः' के 'उपनिषदां सृष्टिः' के २१-२२ पृष्ठमें अत्रि, श्यावाश्व, त्रित, पुरुहन्मा, गोपवन, विरूप आदि नाम बताये हैं। 'मन्त्रद्रष्टारः' की स्पष्टता हम अभी-अभी कर ही चुके हैं।

आगे वादीने धूर्ततासे साधारणजनोंकी दृष्टिमें धूलिनिक्षेप करके सायणादिके कुछ क्वाचित्क वचन देकर उनसे सिद्ध करना चाहा है कि—ऋषि आजकल सभी मनुष्य हो सकते हैं'। क्या वादीमें यह शक्ति है कि—ऋषि मनुष्य हैं—वह श्रीसायणादिका कहीं ऐसा सिद्धान्त दिखला सके, कहीं-कहीं जो सायणादिने ऋत्विग् आदिके विशेषण होनेसे और विशेषणके यौगिक होनेसे कहीं उनसे ऋत्विजोंका ग्रहण किया हो, यह और बात है, पर इससे उनको मुख्य-ऋषि नहीं माना जा सकता।

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः, स्तोमान् ददर्श' इस निरुक्तका वचन लिखा है, वहाँ अर्थ वादीने अपना घुसेड़ दिया है, वहाँ लुप्त मन्त्रों तथा सूक्तोंका

ऋषियोंको दर्शन हुआ, वहाँ मन्त्रोंका रहस्य वा अर्थोंका दर्शन नहीं कहा गया। क्या मन्त्रोंके रहस्य वा अर्थोंको वादी 'मन्त्र' (वेद) मानता है! तब वादी ब्राह्मणभागको जोकि मन्त्रोंका भाष्य (रहस्य) है, क्यों नहीं उन्हें वेद मान लेता ?

जिस प्रकार उन-उन ऋषियोंको वे-वे वेदमन्त्र स्वयं प्रतिभात हो गये; उनको उनसे पूर्व कभी अन्यने नहीं देखा था; तब 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' का अर्थ 'मन्त्रोंकी द्रष्ट्री' लिखकर फिर उसमें अथवा उनके रहस्यके दर्शन और प्रचारके कारण 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' 'ऋषिकाके गौरवसूचक शब्दसे भी पुकारा जाता है' इस प्रकार वादी अपने अर्थोंको भी मूल पुस्तकोंके अर्थमें घुसेड़कर जनवञ्चन बहुत किया करता है। अनुसन्धानसे विरहित जनता इसीलिए उसकी बातोंसे मोहमें पड़ जाती है।

आगे वादीने बृहद्देवताकी आर्षानुक्रमणीसे जो ऋषियोंकी सूची दी है, उसमें केवल 'सूक्तस्य, सवादस्य ऋषिः' (१।३०) लिखकर हमारा पक्ष सिद्ध कर दिया है। यहाँ कहीं भी 'मन्त्रोंके अर्थका पढ़नेवाली ऋषिका होती है'—यह नहीं कहा गया है। 'आयं गौरिति सूक्तस्य सार्पराज्ञी मुनिः स्मृता' (१०।६८) एतदादि-पद्योंमें सूक्तस्य कहा है, सूक्तके 'अर्थ' का नाम नहीं लिखा। तब वादीको यह लिखना कि—'इसके होते हुए कोई भी निष्पक्षपात विद्वान् इस बातसे इन्कार नहीं कर सकता, कि वैदिककालमें स्त्रियाँ न केवल वेदोंको पढ़ती-पढ़ाती थी; किन्तु उनका मनन करनेमें प्रवृत्त भी थीं'।

यह वादीका अनुसन्धानसे विरहित-जनताकी आँखोंमें धूल झोंकना है। अपना बहुमत दिखलानेकेलिए आधुनिक भारतीय सुधारक विद्वानोंके द्वारा वादीने लार्ड मैकालेके मानसिक दास श्रीरमेशचन्द्रदत्त, भगवतशरण उपाध्याय एम.ए., वामनपाण्डुरङ्ग काणे; श्रीमहादेव शास्त्री, मि.रागोजिन, डा. गोथरसमीज एम.ए., आदिका नाम भी जनवञ्चनकेलिए ही लिखा

हैं, यह अंग्रेजी पढ़े व्यक्ति तो ऋषिकाओंको वेदमन्त्रोंको बनानेवाली मानते हैं। श्रीसामश्रमी भी अपने निरुक्तालोचनमें इनको मन्त्र बनानेवाले मानते हैं। क्या वादी भी यह मानता है ? यदि नहीं, तब हम भी उनकी प्राचीनतासे विरुद्ध गलत बातोंको क्यों मानें ? शेष म.म. पं. शिवदत्तजी ऋषिकाका हम समाधान सम्यक्तया कर चुके हैं। जैमिनि-न्यायमाला ऋषिका नाम भी वादीने गलत ही लिखा है। हम मन्त्रद्रष्ट्री तो उनको मानते हैं, वेदमन्त्रोंमें उनका नाम ऋषिका है—यह वादीने गलत बातें लिख डाली हैं।

श्रीसायणाचार्यने ऋषिका 'अतीन्द्रियार्थद्रष्टा' अर्थ तो लिखा है कि वे अप्रत्यक्ष पदार्थोंको भी देख लिया करते थे, 'मन्त्रकृत्' में करोतिस्तत्र [मन्त्र-] दर्शनार्थः' तो माना है, पर वादीका इष्ट अर्थ कहीं नहीं माना।

पृ. १६१ में जो वादीने 'ऋषीणां पुत्रः' (काण्वसं. ५।४) में ऋत्विजः 'वेदविदश्च अत्र ऋषय इत्युच्यन्ते' सायणके नामसे जो गलत बात लिखी है, यह जनवञ्चन है। इसका भाव तो यह है कि—'अत्र' इस मन्त्रमें ही केवल वैसा है, सर्वत्र ऐसा नहीं। तब वादी यज्ञ करनेवाले ऋत्विक् और वेद जाननेवालेको यहाँ ऋषि कहा गया है, इससे उसकी क्वाचित्कता बतानेवाले सायणाचार्यके वचनको सार्वत्रिक कहनेकी धृष्टता क्यों करता है ?

इस प्रकार 'ऋषिभिः-ऋत्विग्-यजमानैः' (काण्व. १३) आदिमें भी समझ लेना चाहिये। शतपथ (४।३।५।१९) में भी 'अनूचानः ऋषिः आर्षेयः' यहां 'आर्षेय' का अर्थ लिखा है—'ऋषि' का नहीं।

बोधायनगृ. में जोकि वादी 'चतुर्वेदाद् ऋषिः' (१।७।७) यह लिखता है—यह तो एक पारिभाषिक शब्द है, जोकि विवाह हो जानेपर छः महीना ब्रह्मचारी रहे; उसकी सन्तानका नाम ऋषि' कहा गया है। तब आर्यसमाजमें कोई भी 'ऋषि' नहीं बन सकेगा; क्योंकि—वहाँ तो विवाह समाप्त होते ही 'आंखसे आंख' तथा शुक्रका स्थापनादि शुरू हो जाता

है; तब स्वा.द. भी ऋषि न हुए; क्योंकि—इसमें कोई प्रमाण नहीं कि—उनके पिताजी ब्याहके बाद छः मास ब्रह्मचारी रहे हों; तभी दयानन्द पैदा हुए हैं। वहीं भ्रूण (१।१।४६) की परिभाषा भी लिखी है—'सूत्रप्रवचनाध्यायी'; तब क्या 'भ्रूणहत्या पितुः तस्याः' उसी 'सूत्र-प्रवचनाध्यायी' की हत्याका निर्देश है ?

वादीने एक नोटबुक बना रखी है; उसमें जहाँ उसे अपने पक्षकी सिद्धिका आभास हो जाता है, वहाँ वह उसका पूर्वापर छिपाकर वही पाठ नोट कर लिया करता है और फिर अनुसन्धान-विरहित जनताके सामने उन्हें रख देता है। वहाँ जनता भी उसे वेदका बड़ा विद्वान् मान लिया करती है। पर महाशय; यहाँ आपकी दाल नहीं गलनी है। हमने तो पूर्वापरको उपस्थित करके वादीका 'पर्दाफाश' कर देना है। अब क्या वादी 'यत्र ऋषयो जग्मु' (यजुः १८।५८) आजकलके मन्त्रार्थ-लेखक श्रीजयदेव आदिको ऋषि मान लेगा ?

पृ. १६२-१६६ में अपनी 'नोटबुक' का पाठ देवी-देवताओंके विषयमें देकर जनवञ्चन करता है।

फिर कहता है—'देवके विषयमें विस्तृत विचार करनेकेलिए यहाँ अवसर नहीं, किन्तु एक ग्रन्थकी आवश्यकता रखता है। तब वादीने वैसा ग्रन्थ क्यों नहीं बनाया ? केवल इसलिए कि वह बन नहीं सकता; वह तो 'बिना दीवारका चित्र' बन जाता। पर अपनी 'नोटबुक' से कुछ वचन देता है। हम भी उसपर प्रत्युत्तर देते हैं। लिखता है—

'द्वया वै देवाः' 'अहैव देवा'। अथ वै ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानाः, ते मनुष्य देवाः...यज्ञ आहुतयएव देवानां, दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानाम्। आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणान्' (शत. ४।३।४४) यहाँ वादीने 'मनुष्यदेव' ब्राह्मणोंका लक्षण लिखा है, इससे उसका मत स्वयं खण्डित हो गया। यहाँ पाठ था—'द्वया वै देवा देवाः, अहैव देवाः।' यहाँ तात्पर्य यह था कि—एक होते हैं—'देवादेवाः' दूसरे

होते हैं, 'मनुष्य-देवाः' वादीने यहां 'देवा-देवाः' में एक 'देवाः' को छिपाकर जनवञ्चन किया है। जो देवादेवा हैं, उन्हें तो 'देवाः' कहा जाता है, पर 'मनुष्यदेवाः' को शतपथने कहीं 'देवाः' नहीं लिखा।

जो 'मनुष्यदेवाः' में वाचक-लुप्ता उपमा है–'मनुष्येषु देवा इव'। तभी उनको 'भूदेव' भी कहा जाता है, भूसुर भी; पर उन्हें 'देव' नहीं कहा जाता हैं। इससे 'देवा-देवाः' तो 'देव' सिद्ध हो गये, पर 'मनुष्यदेवाः' ब्राह्मण 'देव' सिद्ध न हुए। यदि कहा जाता; तो उन्हें भी 'देवा देवाः' कहते। यदि कहीं उनकेलिए भी 'देवाः' पद आ जाय, तो वहां उनकी स्तुतिकेलिए या विशेषणतामें वह प्रयोग होता है, वास्तविकतासे नहीं। यदि ब्राह्मण भी वस्तुतः देवता होते; तो उन्हें भी शतपथ यज्ञमें आहुतियां दिलवाता, उन्हें दक्षिणा न दिलवाता। यह इतना स्पष्ट भेद है कि–वादी विचारेके मुंहमें इससे ताला लग गया। 'उभये देवाः' में 'देवाः' शब्द संक्षेपार्थ है, जैसेकि–हम 'सनातनधर्मालोक' को 'आलोक' लिख दिया करते हैं।

जो कि–वादी कहता है कि—'यहां स्पष्ट वेदाध्ययन करनेवाले ब्राह्मणोंको 'मनुष्यदेव' कहा गया है, वह अग्नि सूर्य आदि प्राकृतिक जड देव उनके भेदकेलिए हैं', यह भी वादीकी बात गलत है। 'यज्ञे आहुतयो देवानाम्, आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति' इसमें वादी जो देवताओंको आहुतियोंसे प्रसन्न होना मानता है–(प्रीणाति)? जब वे प्रसन्न हो जाते हैं; तो वे चेतन हुए, जड़ कहां हुए? क्या जड़ोंकी प्रसन्नता मानते हो, यदि नहीं; तो स्वा.द.का तथा दयानन्दियोंका खण्डन हो गया।

'एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः' (कृ.तै.सं. १।७।३) यहां प्रशंसार्थ ब्राह्मणोंको 'देवाः' कहा गया है, इसका ज्ञापक है साथका 'प्रत्यक्ष' शब्द। यहां 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तर-पदलोपः' इस वार्तिकसे 'मनुष्य' का लोप हो गया। सो 'देवा-देवाः' तथा 'मनुष्य-देवाः' कहनेसे स्पष्टतया

देवोंकी मनुष्यता तथा मनुष्योंका देवत्व खण्डित होकर दोनोंकी भिन्न-योनि भी सिद्ध हो गई। इससे वादीका पूर्ण खण्डन हो गया।

वस्तुतः कृ.य.तै.सं.में भी वादीने अपनी सदाकी दुष्प्रकृतिसे कुछ पाठ छिपा लिया है, हम वह पाठ प्रकट करते हैं। वह यह है—

'परोक्षं वा अन्ये देवा इज्यन्ते, प्रत्यक्षमन्ये। यद् यजते; ये देवाः परोक्षमिज्यन्ते–तानेव तद् यजति'। यद् अन्वाहार्यमाहरति एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः, तानेव तान् प्रीणाति। अथो दक्षिणा एव एषा' (१।७।३।१) यहां दो देवता बताये गये हैं—एक परोक्ष, दूसरे प्रत्यक्ष। सो मनुष्यदेव ब्राह्मण यहां प्रत्यक्ष (मनुष्य) बताये गये हैं; और परोक्षदेव स्वर्गादिमें बताये गये हैं।

इससे वादीका पक्ष सिद्ध न हो सका। तात्पर्य वही निकला कि-'देवा-देवाः, मनुष्य-देवाः' उसीको वहां 'प्रत्यक्ष, परोक्ष' शब्दसे लिखा है। अतः वादीका पक्ष सिद्ध न हो सका। वादी इस प्रकारकी बहुत-सी बातें छिपाकर जनवञ्चन किया करता है। पर उसका हम पर्दाफाश कर देते हैं, इसलिए वह हमें गाली देता है। इसी अपने खण्डन हो जानेके कारण हमारे लेखोंको दुराग्रहसूचक और सारशून्य' (पृ. १३८) कहता है- 'अशक्ताः तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते'।

पृ. १६५ इसी प्रकार गोपथके 'अन्ये हुतादोऽन्येऽहुतादः। एते वै देवा अहुतादो यद् ब्राह्मणाः' (उ. १।६) का भी समाधान हो गया। शतपथने 'यज्ञो वो [देवान्] अन्नम्, अमृतत्वं वः' (२।४।२।१) देवताओंका अन्न यज्ञ बताया गया है—'सायं प्रातर्वोऽशनम्' [वः-मनुष्याणाम्] (२।४।२।३) यहां मनुष्योंका अन्न यज्ञको न बताकर सायं-प्रातः अशन (भोजन) माना है। यहां 'हुताद' देवता मुख्य हुए। मनुष्योंको 'हुताद' नहीं बताया गया। सो यहां भी ब्राह्मणोंकेलिए 'अहुताद' का पुछल्ला वादीके पक्षको काट रहा है।

'उदु त्वा विश्वे देवा:' (काठ.सं.) में 'मनुष्या वै विश्वे देवा' में 'वै' देवताओंकी मनुष्यवाचकता नहीं हो सकती है। वहांपर 'प्राणा वै देवा:' भी लिखा है। सो 'आयुर्वै घृतम्' (कृ.य.तै.सं. २।३।२।२) के की तरह इनकी पर्यायवाचकता नहीं रहती। कार्यकारणभावादि-से पर्यायवाचकता नहीं हो जाती। बल्कि 'मनुष्येभ्यो हित:' इस हित अर्थमें 'यत्' प्रत्यय होकर 'हलो यमां' से यलोप होकर मनुष्योंके कारी देवता हैं, यह अर्थ भी हो जाता है। कारण यह है कि-प्रमाणोंसे देवता मनुष्योंसे भिन्न होते हैं-यह सिद्ध किया जा है।

जोकि वादी कहता है—'यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे' (यजुः ४।१) यणाचार्यजीको भी लिखना पड़ा है कि-'अस्मिन् मन्त्रे देवशब्देन त्विजो ब्राह्मणा: विवक्षिता:' सो 'अस्मिन् मन्त्रे' कहनेसे अन्य मन्त्रोंमें नहीं होता, यह सिद्ध हो गया। तब इससे वादीका पक्ष असिद्ध गया।

'इन्द्रो वै यजमान:' (शत. ५।१।३।४) यहाँ इन्द्रका अर्थ क्षत्रिय है। कि-'अथां राजन्य (क्षत्रिय)स्य यज्ञ:, यत एतेन इन्द्रोऽयजत i क्षत्र न्द्र:' (शत. ५।१।१।११)।

वैसे तो 'यूपो वै यजमान:' (शत.) में यूपको भी यजमान गया है, इससे यूप यजमान वा यजमान यूप नहीं हो जाता। ऐसे लाक्षणिक होते हैं। उस लाक्षणिक इन्द्रकी पत्नी 'इन्द्री' कहावेगी; द्राणी' नहीं।

रानी आदिकेलिए जो 'देवी' शब्दका प्रयोग आता है, उसमें कारण है-'राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यां अति' (अ. २०।१२७।७) देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' (मनु. ७।८) अत: राजाकी आदिको 'देवी' कहा जाता है। और फिर राजाको देवांश माना

जाता है। जैसे कि-मनुमें—'इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती:' (७।४) तब उसकी स्त्री वा माता आदिका नाम भी 'देवी' कहा जाता है।

पृ. १६७-१६९ 'ब्रह्मचर्येण कन्या' इस मन्त्रको वादीने फिर व्यर्थ ला पटका है। हमने पृ. ५५-७२ में स्पष्ट सिद्ध किया था कि—'ब्रह्मचर्य-सूक्तमें 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ 'उपस्थ-संयम' में ही आता है, वेदाध्ययनार्थमें नहीं। इसमें इस सूक्तके मन्त्र देखिये—'ओषधयो भूतभव्यम् अहोरात्रि: वनस्पति:। संवत्सर: सह ऋतुभि: ते जाता ब्रह्मचारिण:' (अ. ११।५।२०) पार्थिवा दिव्या: पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये। अपक्षा: पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिण:' (२१) तब इन पशु-पक्षियोंका ब्रह्मचर्य क्या वादी वेदाध्ययनार्थक कहेगा ?

पृ. १६९-१७० 'ब्रह्म' का अर्थ केवल वेद नहीं होता, अन्य अर्थ भी होते हैं-ब्रह्मचर्यका जो श्रीनीलकण्ठने लिखा है—'ब्रह्मार्थ: वेदार्थ: कर्म-ब्रह्मणी। तपोयोगेन ब्रह्मचर्यं फलतीत्यर्थ:'। सो यह पुरुषोंकेलिए अधिकृत है, स्त्रीकेलिए नहीं। यह हम इस पुष्पमें सम्यक् व्याख्यात कर चुके हैं।

'वैदिककाल' का अर्थ यही है कि-वेदप्राकट्यकाल। सो यह सृष्टिके आदिमें फलित होता है। वेदमन्त्रोंपर जो ऋषि लिखे हैं-यह सब सृष्ट्यादिके होते हैं।

पृ. १७१-१७२ आगे वादी रामायणकालमें स्त्रियोंका वेदाध्ययन सन्ध्या-हवनादि दिखलाता हुआ 'अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवित् कृत-मङ्गला' यह पद्य देता है। इसका पूरा प्रत्युत्तर हम पृ. १४९-१५४ में दे चुके हैं।

आगे वह तारादेवीका स्वस्तिवाचनादि दिखलाता है-'तत: स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी' इसका भी पूरा एवं अकाट्य उत्तर हम पृ. १५७-१५८ में दे चुके हैं।

पृ. १७३ 'वाग्यतास्ते त्रयः सन्ध्यां समुपासत संहिताः' का वादी सीताकी सन्ध्याका अर्थ बताता है। इसका अर्थ हम पृ. १५८ में स्पष्ट दे चुके हैं।

इस प्रकार 'सन्ध्याकालमना ध्रुवमेष्यति जानकी। सन्ध्यार्थे' इसका भी पूरा अकाट्य प्रत्युत्तर पृ. १४०-१४३ में दिया जा चुका है। इस प्रकार 'कुन्दमाला' में सीताकी सन्ध्यामें भी जान लें।

पृ. १७४ आगे वादीने 'कुन्दमाला' नाटिकाका प्रमाण भी लिख दिया। उसपर पं. नृसिंहदेव शास्त्रीका मत भी लिख दिया; तो क्या नाटक-नाटिका भी प्रमाणभूत वेद हैं; जो वादीने उसका उद्धरण दे दिया? फिर वैसे तो वादी सनातनधर्मी कुछ लिखे, तो 'अवैदिक' कहकर उसे 'घृणित' करता है। पर जब वह कोई दयानन्दी मत दे दे; तब वह 'सुप्रसिद्ध सनातनधर्मी' शब्दसे सत्कृत कर दिया जाता है। तब वह बात वेदानुकूल (?) हो जाती है। जब वादी भी मानता है कि–पतिके बिना पत्नीका स्वतन्त्र हवनादि नहीं हो सकता; तब श्रीसीता-द्वारा वनवासमें बिना पतिके 'हुतो हुतवहः' कहना क्या वेदविरुद्ध नहीं? शेष रही नृसि.की टीका, उसमें लिखा है–'सर्वथा निर्मूलतामपि च न प्रतीमः' इसका वादीने भाषार्थं भी नहीं किया। इसे छिपा दिया, इसका अर्थ है कि–हम स्मार्त एवं पौराणिक व्यवहारको सर्वथा निर्मूल भी नहीं मानते, पर वह व्यवहार पतिविरहमें निर्मूल है। इससे वादी कट गया। तब वादीने इस वेदविरुद्ध प्रमाणपर अपनी स्वीकृतिकी मुहर कैसे लगा दी?

पृ. १७५-१७६ 'यज्ञोपवीतमार्गेण' में वादी सीताका निर्मूल यज्ञोपवीत बताता है, इसका भी प्रत्युत्तर हम पृ. ११६-११९ में दे चुके हैं।

पृ. १७६ 'वैदेही शोकसन्तप्ता हुताशनमुपागमत्' इसका प्रत्युत्तर पृ. १५४-१५६ में देखो।

'मन्त्रज्ञा कैकेयी' इसका प्रत्युत्तर १५४-१५८ में देखो। आगे वादी

मैत्रेयीको 'ब्रह्मवादिनी' बताता है। सो 'ब्रह्मवदनशीला' इस आचार्य-शङ्करके अर्थमें ब्रह्म-परमात्मविषयक संवाद वाली' यह अर्थ समझना चाहिये। जो सृष्ट्यादिस्थित पुराणादिसे भी हो सकता है।

पृ. १७८-१७९ में गार्गीके विषयमें भी वादीने कुछ चर्चा चलाई है। पर गार्गीने शास्त्रार्थ नहीं किया, किन्तु केवल कई प्रश्न ही किये थे। मातृभाषा जब संस्कृत हो; तो ऐसे प्रश्न सभी कर सकते हैं।

पृ. १७९-१८० में वादी गार्गी आदिका उपनयन-संस्कार बताता है। उसका उत्तर पूर्व दिया जा चुका है कि–यह तो मृतकतर्पण है, तो वादी भी मृतकोंका श्राद्धतर्पण मान ले।

पृ. १८० फिर 'अथ य इच्छेद्-दुहिता मे पण्डिता जायेत' इस-पर वादीको कभी-कभी स्फूर्ति आ जाती है, उसपर अपनी नोटबुकसे 'आत्मज्ञानं समारम्भः' महाभारतका यह पद्य देता है; और 'नावेद-विद्मनुते तं बृहन्तम्' यह तै.ब्रा.का उद्धरण देता है, इसका भी पूरा उत्तर पृ. ११८-१२४ में तथा पृ. ४१७-४१८ में दिया जा चुका है। वादी ही स्वयं बतावे कि–दुहिताके वाक्यमें 'पण्डित' का यदि आत्मज्ञानवाली अर्थ है, और आत्मज्ञान वेदके बिना नहीं होता; तो पुत्रवाले वाक्यमें शतपथने 'पुत्रो मे पण्डितो जायेत' यह तो लिख ही दिया था; तब वहाँ 'सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' को पृथक् क्यों लिखा? इससे स्पष्ट है कि–महाभारत तथा शतपथको वहाँ 'आत्मज्ञान' आदि अर्थ इष्ट नहीं। वादीका खण्डन हो गया।

पृ. १८० 'विश्वासपात्र न किमस्ति? नारी, द्वारं किमेकं नरकस्य? नारी। विज्ञान्महाविज्ञतमोस्ति को वा? नार्या पिशाच्या न च वञ्चितो यः' इन श्रीशङ्कराचार्यके वचनोंको वादीने आक्षेपयोग्य माना है, इससे स्पष्ट है कि–वादी आक्षेपमात्रशूर है, उसपर अपनी बुद्धि कुछ व्यापारित नहीं करता। हम इसपर अकाट्य उत्तर पृ. २२७, २८८, ४८८-४८९ में दे चुके हैं।

पृ. १८१ आगे वादीने म.म. पं. शि.द.जीके 'आचार्या उपाध्याया शातपयी, बह्वृची आदिके उदाहरण उद्धृत किये हैं। आगे वेदाध्ययनादि-का स्त्रियोंका अधिकार कात्यायन-श्रौ.सू.से दिखलाया है। इन सबका प्रत्युत्तर वह पृ. १८१-१८२ में देखें।

पं. शिवदत्तजीने जो कात्यायन श्रौ.सू.के सूत्रोंका स्त्रीके वेदाधिकारमें अर्थ किया है—इसपर पृ. १४५-१४६ देखो।

कठीमें कठशाखाकी द्रष्ट्री-ऋषिका इष्ट है, सर्वसाधारण स्त्री नहीं। उपाध्यायासे कपड़े सीना सिखलानेवालीका नाम भी उपाध्याया है।

पृ. १८३ में (दीर्घश्मश्रु) 'पुमान्' आदिपर हमारे पृ. ६५-७२ में उल्लेख पर वादी कुछ भी नहीं लिख सका, केवल नाम करनेकेलिए कुछ कह दिया, उसका कुछ भी महत्त्व नहीं।

पृ. १८४-१८७ में 'वेदके सरस्वती' प्रतिपादक मन्त्रोंमें स्त्रियोंका वेदमें अधिकार बताता है, इसका हम प्रत्युत्तर पृ.४३१-४१ में दे चुके हैं। वादी उसपर कुछ भी महत्त्वपूर्ण बात नहीं लिख सका।

पृ. १८७-१८८ 'त्रीन् वेदान् प्रददौ' का 'वेदमन्त्रलाञ्छितं किञ्चिद् पुस्तिकादि-द्रव्यं दत्तवान्' पर हमने पृ. १८३-१९८ में मीमांसा की हैं, वादीमें उसके प्रत्युत्तर देनेकी शक्ति सर्वथा नहीं है।

पृ. १८८-१८९ में तै.ब्रा. 'इडा वै मानवी यज्ञानूकाशिनी आसीत्' में मनुकी पुत्री इडाकेलिए 'यज्ञतत्त्वप्रकाशन-समर्था' यह सायणने अर्थ किया है, इससे स्त्रियोंका वेदाधिकार सिद्ध है', यह वादीका तात्पर्य भी स्वकल्पित ही है, जबकि उसी सायणने 'इडा नाम गोरूपा काचिद् देवता' लिखकर उसे एक 'देवता' बताकर वादीके पक्षको काट दिया है। वहां गायका नाम नहीं लिखा है कि—वादी इसे असङ्गत बता रहा है, सायणने गायरूप वाली एक देवताका नाम जब स्पष्ट लिखा है, तो

असङ्गति कट गई। देते हैं यह लोग दूसरेका उद्धरण, पर अर्थ अपनी मर्जीका करते हैं—यह स्वार्थी वादियोंकी शैली बहुत गलत है।

छान्दोग्यमें सत्यकाम-जाबालको मद्गुआदि हंसोंने तथा ऋषभ (बैल) आदिने उपदेश दिया है। भाष्यकारोंने इन्हें देवविशेष बताया है। देवताओंमें अणिमा आदि सिद्धि होनेसे वे सब प्रकारके रूप धारण कर सकते हैं, पशुरूपमें भी बोल सकते हैं; अतः इसमें कुछ भी असङ्गति नहीं पड़ती। वादियोंकी बुद्धि तो संकुचित होनेसे उनमें यह विषय नहीं समा सकते।

पृ. १९०-१९१ में 'आर्त्विज्यमेव तत् पत्न्यः कुर्वन्ति' इस ताण्ड्यके प्रमाणसे वादी स्त्रियोंका वेदाधिकार बताता है; और उनकी दासियोंका 'मधु, मधु, मधु' इस मन्त्रका गान बताता है पर हम पृ. २२०, तथा पृ. ७६५ में बता चुके हैं कि—'पत्नी' से वेदमें देव-स्त्रियोंका निरूपण है। अतः वादीका पक्ष कट गया।

पृ. १९१ 'अष्टादशी दीक्षिती दीक्षितानां' (गोपथ. ५।२०-१४-१५)में वादी एक आर्यसमाजी त्रिवेदीका अर्थ बताता है कि 'प्राप्तदीक्षा'। इसे हम क्या करेंगे। हम स्थान-स्थान पर दिखा चुके हैं कि—यज्ञमें स्त्री पतिके साथ बैठती है, पतिकी दीक्षाके साथ पत्नीकी दीक्षा भी स्वतः हो जाती है। उसका विवाह ही उपनयन-स्थानापन्न है, अतः उसमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं आती। इससे वादीकी कुछ भी इष्ट-सिद्धि नहीं।

पृ. १९२ 'वि त्वा ततस्रे' के सायणभाष्यसे वादी 'जायापती अग्नि-यादधीयाताम्'से अपनी इष्ट-सिद्धि देखता है, हम उसका पृ. ६८३-८६ में समाधान कर चुके हैं। इसी प्रकार 'आधानं च भार्या संयुक्तम्' (मी. ६।८।१३) में पत्नीसंपृक्त-अग्न्याधान भी समझ लेना चाहिये। बल्कि—स्थपत्यादिवद् 'लौकिके' (६।८।१२) सूत्रके अनुसार वह आधान स्थपतिकी इष्टिकी तरह लौकिक अग्निमें की जाती है, संस्कृत-अग्निमें नहीं। जैसे कि—'अपि वा लौकिकेऽग्नौ स्याद्' (मी. ८।८।२१) के अनुसार अपि वा

इतिपक्षव्यावृत्तिः। लौकिकेषु अग्निषु स्याद् न संस्कृतेषु' कहकर मन्त्र-संस्कृत अग्निमें उसका निषेध कर दिया गया है।

पृ. १६२ आगे वादी 'जैमिनिन्यायमाला' से 'आधानं बिदुषो विद्याऽनुपनीतस्य नास्त्यतः। न सम्भवो वैदिकाग्नेर्होमोऽग्नौ लौकिके ततः' यह बचन देकर उसपर वहांकी वृत्ति लिखता है—'विद्वानेव आधाने अधिकारी, न च अनुपनीतस्य विद्याऽस्ति। तत आहवनीयासम्भवा लौकिकेऽग्नौ अनुपनयनहोमः कर्तव्यः' इससे वादीका ही पक्ष कटता है, क्योंकि—मीमांसाऽनुसार स्त्री अविद्या है, एवं अनुपनीता है। अतः वैदिक-अग्निमें आधान उपनीत पुरुष करेगा; स्त्रीकी तो केवल सहायता रहती है, वह केवल हाथ लगा देती है, मन्त्र भी वही उपनीत पुरुष ही पढ़ता है। तब इससे स्त्रियोंका उपनयन भला वादी कैसे सिद्ध करता है? तब यह जो वादी लिखता है कि—'इसके विरुद्ध शबरस्वामी अथवा माधवके कहीं छपाये जानेवाले लेख सर्वथा अमान्य हैं'?

देख लिया पाठकोंने वादीका स्वार्थ, जैमिनि-न्यायमाला माधवकी है, उसका प्रमाण देते हैं; जब उससे इनका पक्षविघात होता है; तब उसे अमान्य कर देते हैं—यह है इनकी दुर्नीति। इसपर पृ. १३०-३१-३२ देखो।

जैमिनि-न्यायमालामें स्पष्ट कहा है—'विद्वत्त्वात् पुंस एव तत्' (६।१।२४ (१०) तब वादीने उसको छिपाकर क्या जनवञ्चन नहीं किया?

यह निषेध शूद्रकेलिए है। स्त्रीका कर्मनिर्वाहक तो पति होता ही है—यह मीमांसामें स्पष्ट है—'सापि अन्यथानुपपत्तिः यजमान-विद्वत्तयैव क्षीणा। तदीयेनैव (यजमानीयेनैव) अध्ययनेन निराकाङ्क्षत्वान्न प्रतिषिद्ध-मध्ययनं करिष्यति' इसकी स्पष्टता हम १३०-१३१ पृ. में कर चुके हैं।

पृ. १६३ आगे 'तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यम् अतुल्यत्वात्'

इस सूत्रका अर्थ 'जैमिनिन्यायमाला' में श्रीसायणने ठीक ही लिखा है, वही श्रीशबराचार्यने लिखा है, वही श्रीकुमारिलभट्टने भी लिखा है।

आगे जो वादीने पं. शिवदत्तजीकी इसपर टिप्पणी लिखी है—'इदं च य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत इतिबृहदारण्यकोपात्तस्य श्रुति-विरुद्धम्' इन सबका अकाट्य प्रत्युत्तर हम पृ.११६-१२४ में लिख चुके हैं; वादी इसपर सात जन्म पाकर भी प्रत्युत्तर नहीं लिख सकता। इसपर हम पृ. १३१-१३२ में भी लिख चुके हैं।

पृ. १६४-१६६ आगे वादी म.म. पं. शिवदत्तजीका मत पुनः ला पटकता है, उसका अकाट्य उत्तर पृ. ११६-१४६ में हम दे चुके हैं, वादी इसका कभी भी प्रत्युत्तर नहीं दे सकता।

पृ. १६५ में 'कुमार' से पं. शिवदत्तजीके अनुसार वादीने जातिपरकता मानी है, और उसमें हमारी शङ्काओंका मुंहतोड़ उत्तर बताया है, कि—'कुमारा विशिखा इव' से कुमारियोंका भी चौलकर्म बताया है। हम इसका भी मुंहतोड़ प्रत्युत्तर पृ. १४७-१४८ में दे चुके हैं कि यहाँ एकशेष है। जातिपक्षकी मुंहतोड़ आलोचना भी हम पृ. १६४-१७३ में कर चुके हैं। वादी इसपर कुछ फड़फड़ा नहीं सका।

पृ. १६३-१६४ में वादी मैत्रायणी-संहिता (१।४।३।२७) 'पत्नि पत्नि एष ते लोका' वचन देकर अपना गलत पक्ष सिद्ध करना चाहता है, पर उसे याद रखना चाहिये कि—यह देवपत्नीकेलिए आता है, मानुषीकेलिए नहीं। वैसे आप.श्रौ. (२।५।७) में 'देवानां पत्नीरुपमाह्वयध्वं, पत्नि पत्नि...। नमस्तेस्तु मा मा हिं सीः' इति देवपत्नीरुपतिष्ठेत'।

यहाँ रुद्रस्कन्दने वृत्तिमें लिखा है—'अपरेण गार्हपत्यं देवपत्नीनां लोकः; तत्र ता उपतिष्ठते' इसे हम अन्यत्र भी पृ. २२० में स्पष्ट कर चुके हैं। मैत्रायणीसं.में भी आपस्तम्बने 'सरस्वतीं वेशयमनी तस्यै स्वाहा' लिखा है। सरस्वती देवपत्नी है, इस विषयपर हम स्पष्टतया

पृ. ४३१-४१ में लिख चुके हैं। यहाँ धूर्त वादीने लिख दिया है, सरस्वती (ज्ञानवती) मेरी पत्नी हो, कितनी धूर्तता है कि–सरस्वतीको अपनी पत्नी बता दिया। यहां 'मम' शब्द वादीने स्वयं गढ़ लिया। 'तस्यै ते स्वाहा' से स्पष्ट है कि–सरस्वतीदेवीका प्रयोग अग्निमें आहुति देनेमें आता है; उसका 'तुम मेरी पत्नी हो; तुम्हारे लिए मैं उत्तम वचन बोलूंगा, यह गलत अर्थ कर दिया है। इन लोगोंने वैदिकसाहित्यमें भी 'ब्लैक-मार्कीट' कर रखी है, निरुक्त (८-२१।१-१-३०) में भी 'स्वाहाकृतमदन्तु देवा:' (ऋ. १०।११०।११) इस मन्त्रानुसार 'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवा:' अर्थात् स्वाहा करके दी हुई हविको देवता खाते हैं। यही शतपथमें लिखा है–'यज्ञो हि देवानामन्नम्' (२।४।२।१) तभी दुर्गाचार्यने भी उस मन्त्रके भाष्यमें यही लिखा है—'स्वाहाकार-बलात् मन्त्रेण प्रक्षिप्तं हवि:'

वादीने लिखा है—'तुम्हारेलिए मैं यह उत्तम वचन बोलूंगा' मालूम होता है कि–यह उसने 'स्वाहा' का अर्थ किया है–यह ठीक नहीं। 'स्वाहा' सदा अग्निमें देवताओंकेलिए हवि डालनेपर आता है। 'स्वाहा' क्यों कहते हैं, एतदर्थ निरुक्तने निर्वचन किया है कि–'सु आह इति' इसका अर्थ यह है कि–मन्त्रमें स्वाहाको ज़ोरसे बोला जाता है। इसीसे दुर्गाचार्यने इस पर लिखा है—'यदेव सम्प्रदान-देवतायै किञ्चिद् आज्यस्य इत्यनेन मन्त्रेण आह तुभ्यमिदमिति तदेव सु-आह तदेव शोभनमाह' (८।२१।१) यहाँ देवताओंको स्वाहा शब्दमें हवि देना–यही शोभनने बताया है, शोभन-का तात्पर्य है–अच्छी तरहसे 'स्वाहा' को बोलो। 'स्वा वागाह' यह भी निर्वचन यही अर्थ रखता है–इसपर आगे निरुक्तकार अन्य भी स्पष्ट करते हैं–'स्वाहुतं हविर्जुहोति' इसपर दुर्गाचार्यने लिखा है–'अनेनैव [स्वाहापदेन] हविर्जुहोति, तदेव सुष्ठु आपाद्य यथाभिधानमग्नौ जुहोति। हवि: प्रधानोऽत्र निर्देश:' अर्थात् उस देवताके नामसे स्वाहा कहकर हवि दो। (८।२१।१) अत: स्पष्ट है कि–स्वाहा शब्द हवि देनेमें योगरूढ शब्द है।

इसलिए स्वा.द.को भी वेदाङ्गप्रकाश (अव्ययार्थ) में कहना पड़ा–'स्वाहा, स्वधा, वाक्यार्थयोगे' यह कहकर उसका उनने उदाहरण दिया है कि–'अग्नये स्वाहा, पितृभ्य: स्वधा' अर्थात् अग्नि आदिमें देवताओंकेलिए तो 'स्वाहा' इस वाक्यका प्रयोग होता है। और 'स्वधा' इससे पितरोंमें वाक्यार्थ योग क्रियाका। शतपथमें–'देवताओंकेलिए 'यज्ञो वोऽन्नम्' (२।४।२।१) कहा है—देवोंको हवि 'स्वाहा' कहकर दिया जाता है, पितरोंकेलिए 'स्वधा व:' (२।४।२।२) कहा जाता है। सो 'स्वाहा-स्वधा' यह शब्दप्रयोग देवता एवं पितरोंका क्रमसे होता है। मानुष वा मानुषीके-लिए कभी 'स्वाहा' नहीं आता। आशा है–अब वादीको लज्जा आ जायगी, जोकि–वह शास्त्रविरुद्ध अर्थ लिखता है।

आगे वादी काठकसंहिताका वचन देता है–'सं पत्नी पत्या' यहाँ भी उसने पूर्वका पाठ छिपा दिया है। 'देवानां पत्नीरग्निर्गृहपति:' (५।१७) यहाँ भी उसने 'देवानां पत्नी:' को छिपा दिया है। आप.श्रौ.सू. ३।५।७ में देवानां पत्नीरुप माह्वयध्वं पत्नि! पत्नि! एष ते लोको नमस्तेस्तु मा मा हिं सी:–इति देवपत्नीरुपतिष्ठेत' यहाँ 'पत्नी' से देवपत्नियाँ इष्ट हैं, अपनी पत्नी नहीं। यहाँ रुद्रदत्तने भी लिखा है–गार्हपत्यके उत्तर ओर देवपत्नियोंका स्थान होता है। वहाँ भी 'स्वाहा' लिखा है—'स्वाहा वेशभगिन्यै स्वाहा सा सरस्वती वेशभगिनी'–वेदोसि वित्तिरसि' इत्यादि। यहाँ 'वेद'का अर्थ कुशवण्डल है। उसीकेलिए कहा है–'वेदो वीरं ददातु मे' इस विषयमें पृ. १८३-१८९ में हम बहुत स्पष्टता कर चुके हैं। 'तू वेद है' यह वादीने पतिके प्रति गलत कहलवाया है—'वृषा वृषण्वतीभ्यो वेद! पत्नीभ्यो भव' (५।४।२५) इन लोगोंने इधर-उधरके पाठ छिपाकर ऐसी धूर्ततासे जनवञ्चना की है; इन्हें क्या कहा जावे?

पृ. १९९ में वादी महाभारतकी साक्षी देता है; कभी महाभारत वेदविरुद्ध बन जाता है, कभी साक्षात् वेद बन जाता है। लिखता है—

'अत्र सिद्धा शिवा नाम ब्राह्मणी वेदपारगा। अधीत्य सकलान् वेदान्

लेभेऽसन्देहमक्षयम्' इसमें सर्ववेदनिष्णाता शिवा नाम ब्राह्मणीका वर्णन है'।

यह पाठ गलत है। इसमें पुनरुक्ति है-इधर 'वेदपारगा' जब उस ब्राह्मणीको कहा है, तब 'अधीत्य सकलान् वेदान्' यह पुनरुक्ति है। यह पाठ ठीक भी हो; तब यहां महाभारतमें तो यह पाठ मिलता है—'अत्र सिद्धा: शिवा नाम ब्राह्मणा वेदपारगा:' इसे श्रीसातवलेकरसे व्याख्यात महाभारतमें देखो। वादीने इस पुस्तकमें बहुतसी पुनरुक्तियां दी हैं। इसपर हम पहले पृ. ६५ तथा २३६-२३८ लिख चुके हैं। यह वादीकी पुनरुक्ति है।

पृ. २०० में वादी 'अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमार-ब्रह्मचारिणी' (शल्यपर्व ५४।६) यह वचन महाभारतसे देता है। इस पद्यका देना व्यर्थ है-यहाँ तो लिखा है कि-वह कुमारावस्थासे ही उपस्थसंयम वाली थी। वादीने 'वेद-विदुषी' अर्थ प्रक्षिप्त कर दिया है। 'ब्राह्मणी'का 'वेदविदुषी' अर्थ वादीका प्रक्षेप है। यहाँ 'ब्राह्मणी' में जाति अर्थमें ङीन् प्रत्यय है; सो ब्राह्मणजाति-अर्थवाली है। जैसेकि व्याकरणमें लिखा है-'ब्राह्मोऽजातौ' (अष्टा. ६।४।१७१) सो जाति तथा अपत्य अर्थमें ब्राह्मणी बनता है, वेदविदुषी अर्थ होता; तो 'ब्राह्मी' बनता। अजाति अर्थमें ब्रह्मन् शब्दकी 'टि' का लोप हो जाता है।

आगे 'सुता धृतव्रता साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी' (शल्यपर्व ५४।९) में वादीने इसका दिनरात वेदाध्ययनमें तत्पर यह अर्थ गलत दिया है। यहां 'ब्रह्मचारिणी' का नियमपूर्वक उपस्थसंयमवती' अर्थ है-'श्रवणं कीर्तनं केलि: प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिण:। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्' इस श्रवण-कीर्तनादि मैथुनके अष्टाङ्गोंसे रहित थी-यह वास्तविक अर्थ है।

पृ. २०१ 'श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी' (शल्यपर्व. ४८।२) में भी पूर्ववाला ही अर्थ है। इसपर वादी कहता है कि-यदि यहां

'उपस्थसंयमवती' अर्थ माना जावे, तो वह 'कुमारी' शब्दसे भी चल सकता था, वादीकी यह आपत्ति व्यर्थ की है। क्वारी होनेपर भी लड़कियाँ उपस्थसंयमवाली हों-यह आवश्यक नहीं है। कन्या-गुरुकुलोंमें अल्मारियोंसे भी बहुत वार लैदर मिले हैं, उससे वे उपस्थसंयमवती नहीं मानी जा सकतीं।

पृ. २०१ आगे वादी सुलभाका वृत्त बताता है—'भर्तरि असति मद्विधे। विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनि-व्रतम्' (महा. ३२।८२) यहाँ भीसुलभाका नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पूर्ण उपस्थसंयम ही है; वेदका यहाँ कोई मतलब नहीं। संन्यासमें तो उलटा वेदकी आवश्यकता ही नहीं रहती; तभी तो उनमें उपनयनसूत्र भी नहीं रखना पड़ता।

आगे 'प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता' (वनपर्व २७।२) यहाँ द्रौपदीका 'पण्डिता' विशेषण आनेसे वादी गद्गद हो गया है। महाशय! पण्डा बुद्धिको कहते हैं। सो पण्डिताका अर्थ 'बुद्धिमती' है। इसमें वेदकी कोई बात नहीं; तभी तो शतपथ तथा बृहदारण्यकमें- 'पुत्रो मे पण्डित:...सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' (१४।९।४।१७) 'पण्डित' शब्द आता है; यदि यहाँ वेदवक्ता भी 'पण्डित' का अर्थ होता; तो 'सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' यह पृथक् वाक्य व्यर्थ होता। इसीसे स्पष्ट है कि- पण्डित शब्दसे वेदाध्ययन अर्थ नहीं आता। इस विषयमें पूर्व देखो।

फिर वादी एक फवती कसता है कि-उन-द्वारा समर्थित 'पर्दा-पद्धति' का भी स्पष्ट खण्डन होता है'। तब क्या वादी पर्दा-प्रथाको अवैदिक मानता है? क्या उसे वह मुसलमानोंसे आई हुई मानता है? महाशय, पर्दाप्रथा वैदिक है, शास्त्रीय है। इसपर देखो 'आलोक' (१०) पृ. ८९३-९३७।

पृ. २०५ 'भर्त्रा परमपूजिता' यहाँ पूजाका अर्थ उनके आगे घूंघट-

घड़ियाल वजाना, न 'नमस्ते' करना है, किन्तु भर्ता मेरा वड़ा सम्मान करते थे, सो 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते...तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः' (मनु. ३।५६-५९) इस उपसंहारसे उन्हें भूषण, आच्छादन और प्रशन देना यही उनकी पूजा वताई गई है—यह वादी समझ रखे।

पृ. २०५ आगे वादी लिखता है—'यही 'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः!' इन वैदिक-आदेशोंका तात्पर्य है। पर वादीको हमने लज्जित किया था कि-इन मन्त्रके आगे जो 'आपः' था, उसे आपने छिपा लिया; उसपर वादीको लज्जा आनी उचित थी, पर वादी लज्जा न करके धृष्टता करता हुआ कहता है, जिनको जलपरक मानकर शास्त्रीजी भ्रममें पड़े हैं, जबकि-यह जलके समान शान्तिशीला विदुषियोंके विषयमें हैं।'

यह वात वादीकी सर्वथा गलत है। यह उसकी वात तव ठीक हो; जब उक्त मन्त्रमें 'योषितः' यह विशेष्य हो, पर महाशय, आपकी वात सर्वथा गलत है—यहां 'योषितः' विशेष्य नहीं, किन्तु विशेषण है—और 'आपः' उसका बिशेष्य है—सो युष्यन्ते-सेव्यन्ते इति योषित आपः जलानि' यह अर्थ है, जब प्रत्युत्तर न दे सके; तो 'आपः' का 'आप इव' यह जनवञ्चनकेलिए अर्थं कर दिया, अरे भाई, कुछ तो परमात्माके दण्डसे डरा करो। महाशय, वहाँ 'इमा आपः' इस सर्वनामको कहकर यह 'जल' ही अर्थ है, 'अप्' का शायद वादीको पता न हो; उसे स्त्रीलिङ्ग होता है। अव अर्थ हुआ 'इमा आपः' (यह जल) सो जल विशेष्य होनेसे उपमेय तो हो सकता है, उपमान नहीं। तव, जलकी तरह शान्त स्त्रियाँ यह विशेष्य जलको उपमानपरक वादीने कैसे वताया?

'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः' (अ. ६६।१२२।५) इस मन्त्रमें तो 'इमाः' के आगे 'आपः' नहीं, पर यह भी जलोंकेलिए है। जैसा कि पूरा मन्त्र यह है—'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि' अर्थात् इन जलोंको ब्राह्मणोंके हाथमें मैं अलग-अलग देता हूं।

अव आगे इस मन्त्रका उत्तरार्ध देखिये—'यत्काम इदमभि षिञ्चामि वोऽहम्' यहाँ उन जलोंका सींचना कहा है; तव क्या ब्राह्मणोंके हाथोंमें स्त्रियोंको डालोगे, और उन्हीं स्त्रियोंको उनपर सींचोगे? यह है—वादीकी वेदाभिज्ञता (?)।

इसलिए श्रीराजारामशास्त्रीने कौशिक-सूत्रानुसार इसके विनियोगमें लिखा है—ऋचा ५ (प्रस्तुत मन्त्र) से सब यज्ञोंमें ऋत्विजों-के हाथ धोनेकेलिए जल देवे' अव कितनी स्पष्ट वादीकी धूर्तता प्रकाशित हो गई। वादी लोग वेदमें यौगिक शब्द मानते हैं; तव 'योषितः' भी यौगिक-जलवाचक हुआ; तव वादी उसका रूढ अर्थ स्त्री कैसे लेता है?

अव अन्य मन्त्र देखिये—'शुद्धा' पूता योषितो यज्ञिया इमा आपः' (अ. ११।१।१७) इसमें 'आपः' प्रत्यक्ष है। यहाँ आर्यसमाजी श्रीराजाराम-शास्त्री कौशिकसूत्र ६१।३४,३५,२।८) के अनुसार लिखते हैं कि-'इस ['शुद्धाः पूता योषितः'] ऋचासे वटलोईमें पानी डालता है। इस विनियोगके अनुसार उक्त मन्त्रमें जलोंका वर्णन सिद्ध हुआ, स्त्रियोंका नहीं। पाठकोंको वेदमें तोड़-फाड़ करनेवाले ऐसे दयानन्दी लोगोंसे सावधान रहना चाहिये।

पृ. २०६-२०७ आगे वादी श्रीमद्भागवतसे 'तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा। उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे' (४।१।६४) पद्य यह 'स्वधा' की लड़कियोंके देता है। श्रीमद्भागवतमें 'नासां द्विजाति-संस्कारो न निवासो गुरावपि' (१०।५३।५२) स्त्रियोंका सामान्य आचार तो यह वताया गया है कि-स्त्रियोंका उपनयन तथा गुरुकुलवास नहीं होता। तव यह दो ब्रह्मवादिनियाँ वहाँ अपवादरूपसे वताई गई हैं। अपवादसे उत्सर्गका वाध नहीं होता। देखो महाभाष्य—'नैव ईश्वर आज्ञापयति, नापि च धर्मसूत्रकाराः पठन्ति, अपवादैरुत्सर्गा वाध्यन्ताम्' ('मिदचोन्त्यात्' सूत्रमें) अर्थात् अपवादसे उत्सर्ग वाधित नहीं होता। व्यवस्था सदा उत्सर्गसे हुआ करती है। सो ब्रह्मवादिनी यदि हारीतवाली

तो उन्हें सारी आयु ब्रह्मचारिणी (क्वांरी) रहना पड़ता है; सो यह सर्वसाधारणका विषय नहीं रहा। तब इससे सिद्ध हुआ कि–शेष स्त्रियाँ सद्योवधू होती हैं, सद्योवधुओंको वेदका अधिकार नहीं दिया जाता। इस विषयमें हम पृ. ८९-९६ में स्पष्टता कर चुके हैं।

यही विष्णुपुराण (१।१०।१८-१९) की वयुना और धारिणीका उत्तर है। यही मार्कण्डेय-पुराणकी अ. ५२ की मेना और धारिणीका प्रत्युत्तर है। देखो उसका ३३ पद्य, वादीने देखा होगा कि–यही उसकी विरलतरताका प्रमाण है कि–ने दो ही लड़कियाँ ब्रह्मवादिनी बताई गई हैं, अन्य नहीं। तब इससे वादीकी पक्षसिद्धि क्या है? वस्तुत: यहाँ जो वेदोंमें 'देवेभ्य: स्वाहा, पितृभ्य स्वधा' यह स्वाहा-स्वधा शब्द आये हैं; उनको अलङ्कार-रूपसे स्त्रीरूप बताया गया है। देखिये वहाँ 'स्वाहा' के वाचक 'अग्नि' आदि लड़के बताये गये हैं। देखो वहीं ४।१।६१-६३। वादी पुस्तकोंके पूर्वापर छिपाकर साधारण-जनताको धोखा देता है। यह उसकी शायद पठनकालसे प्रकृति रही हो।

आगे वादी ब्रह्मवंवर्तपुराण प्रकृतिखण्ड (१४।६५) से 'वेदवती' का उदाहरण देता है, इसका प्रत्युत्तर दिया जा चुका है पृ. २३७-३८। यह तो जन्मते ही वेद बोलने लग गई थी? तब वादीकी पक्षसिद्धि कुछ भी नहीं। वादी भी लड़कियोंको बिना पढ़े ही 'वेदवती' बनने दे। यह वादी साहबकी 'नोटबुक' चल रही है।

पृ. २०७ आगे वादी शिवपुराण पार्वतीखण्ड ४७ अध्यायमें पार्वतीका यज्ञोपवीत बताता है, यह तो एक देवता थी; देवताका मानुषियोंमें वह असङ्गत ब्रह्मचर्य कैसे दिखला रहा है। वस्तुत: यहाँ महादेवका दुर्गोपवीत नामक परिधेय वस्त्र बताया गया है। इसमें पार्वतीका यज्ञोपवीत कुछ नहीं। देखो 'आलोक' (७) पृ.

(पृ. १३२-१६६, २०७) 'सार्वदेशिक' अगस्त १९४ ६के अङ्कमें

वादी लिखता है—पं. दीनानाथजीके अनेक पत्रोंमें निकलनेवाले लेखोंसे प्रतीत होता है–वे इस योनिवादको सब प्रश्नोंका अचूक नुसखा समझते हैं–वे लिख देते हैं–देव, मनुष्योंसे पृथक् योनिके हैं, ऋषि-ऋषिकाओंको मनुष्योंसे पृथक् योनि है, अत: उन विषयक बातें मनुष्योंपर लागू नहीं होतीं।

(प्रत्युत्तर) वादि-महाशय! यह आपसे आक्षिप्त हमारी बात 'निजकल्पित' नहीं है, किन्तु शास्त्रीय है। देखिये शतपथमें–'देवयोनिरन्य:, मनुष्ययोनिरन्य:' (७।४।२।४०) यहाँपर देवयोनि तथा मनुष्ययोनिको भिन्न-भिन्न योनि माना गया है।

'[मनुष्य-जाति:-] पशून् उद्दिश्य श्रेयसी। देवान् ऋषींश्च अधिकृत्य न [श्रेयसी] (४।३३) 'योगदर्शन' के इस वादीके स्वामीसे सम्मत व्यासभाष्यमें देवताओं तथा ऋषियोंको मनुष्य-जातिसे भिन्न जाति बताया गया है।

'प्रशस्तपादभाष्य' में भी स्पष्ट लिखा है—'तत्र अयोनिजम् अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देव-ऋषीणां शरीरं धर्मसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते (द्रव्यग्रन्थ पृथिवीनिरूपण) यहाँ ऋषि तथा देवताओंको अयोनिज कह कर स्पष्ट योनिज-मनुष्योंसे भिन्न बताया गया है। 'ऋषीणां च स्तुतीरुप-यज्ञं च मानुषाणाम्' (ऋ. १।८४।२) यहाँ भी ऋषि और मनुष्योंको पृथक्-पृथक् कहा गया है।

'निरुक्तमें श्रीयास्कने कहा है–'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:'। 'ऋषिर्दर्शनात्, स्तोमान् (वैदिकसूक्तानि) ददर्श इति औपमन्यव:। तद् यद् एतान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत्, तद् ऋषीणामृषित्वम्' (२।११।१) यहाँ लुप्त-मन्त्रोंके द्रष्टाओंका नाम 'ऋषि' कहा गया है। श्रीसायणने भी ऋसं.के आरम्भिक मन्त्रके भाष्यमें लिखा है—'अतीन्द्रिय-वेदस्य परमेश्वरानुग्रहेण प्रथमतो दर्शनात् ऋषित्वम् इति अभिप्रेत्य स्मर्यते—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय:। लेभिरे तपसा पूर्वम् अनुज्ञाता: स्वयम्भुवा' यहाँपर प्रलयमें लुप्त वेदमन्त्र जिनको समाधिमें वा अतर्कित ही, बिना पढ़े ही तपस्यासे उपस्थित हो गये हों, उनका नाम 'ऋषि' कहा है। वे सर्वसाधारण नहीं हो सकते। वे मनुष्यादिसे भिन्न विविध योनि-विशेष हैं। जैसेकि—'प्रशस्तपादभाष्य' के 'सृष्टिसंहारविधिनिरूपण' में कहा है—'मनुष्य-देव-ऋषि-पितृगणा: प्रजापतेर्मनसा आख्याता:' यहां देव, मनुष्य तथा ऋषियोंको भिन्न-भिन्न योनि कहा है।

'देवा मनुष्या, असुरा:, पितर:, ऋषय:' (अथर्व. १०।१०।२६) यहाँ-पर ऋषि तथा देव मनुष्योंसे भिन्न कहे गये हैं। इस प्रकार 'देवान्, मनुष्यान्, असुरान् उत ऋषीन्' (अथर्व. ८।६।२४) यहाँ भी ऋषियों तथा देवोंको मनुष्यादिसे पृथक् माना है। मनुस्मृति (१।३६) में देव-सृष्टि, देवलोकसृष्टि, ऋषिसृष्टि पृथक् कही है। मनुष्यसृष्टि इससे भिन्न कही है।

कहीं स्तुतिकेलिए मनुष्योंको 'देव' शब्दसे कह दिया गया हो, यह अन्य वात है, वहाँ कहीं विशेषगता-आदिवश भी 'देव' शब्दका यौगिक अर्थ कर दिया हो—यह भी अन्य वात है, पर इस अर्थवाद वा अपवादको देखकर 'देवयोनिको उडाना' वैसा 'साहस' है, जैसेकि कहीं मनुष्यको निन्दार्थवादसे 'पशु' शब्दसे वर्णित देखकर पशुयोनिको उडानेका प्रयत्न करना।

जब मनुष्ययोनि तथा पशुयोनि पृथक् है, तब क्या उन अर्थवादोंको देखकर मनुष्यविषयक बातें पशुओंपर भी लागू कर दी जावेंगी? यदि नहीं, तब पूर्वोक्त प्रकारसे 'देव' तथा 'मनुष्यों' के भी भिन्न-भिन्न योनि होनेसे दोनोंके सभी अधिकार समान नहीं हो जाते—यह स्पष्ट है। तब वादीका उपालम्भ कैसा?

आगे वादी इस विषयको टालनेकेलिए लिखता है कि—'यह विषय विस्तृत होनेसे स्वतन्त्र निवन्ध वा पुस्तककी अपेक्षा रखता है'।

पर वादी कब तक वह पुस्तक बनावेगा? जितना प्राचीन साहित्य मिला है, जिसको वादी कदाचित् इस जन्म तक पूरा भी न कर सके। सभीमें तो देवता और मनुष्य भिन्न-भिन्न योनि बताये गये हैं, वादी किस-किसका खण्डन करेगा? किस-किसका अर्थपरिवर्तन करेगा? हाँ, वादी यह कहे कि—हम इस विषयमें असत्य-व्यवहार या तोड़-मोड़ वा छलको महत्त्व देंगे। आप लोग ग्रन्थोंके वाक्योंके कान-पूंछ ऐंठकर, किसी वाक्यके पूर्व-प्रकरणको छिपाकर, किसीका उत्तर अंश छिपाकर, किसीका अर्थ वलात् बदल, किसीका कोई वचन छिपाकर, किसीको प्रक्षिप्त कहकर अपना निर्वाह करेंगे। वादीके वैसे ग्रन्थ बननेसे असत्य वा छलको प्रोत्साहन अवश्य मिलेगा। आगे वादी जिस 'बोधायन' को 'न स्त्री जुहुयात्' से वेदविरुद्ध मानता है, उसीको अब स्वत:-प्रमाण करके बताता है—'यदि शास्त्रीजीके कथनानुसार देव और ऋषि पृथक्-योनि होते, तो मनुष्योंसे उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं थी, किन्तु शास्त्र में ऋषियों और देवोंका लक्षण करते हुए उनको उत्पन्न करनेके साधनोंका स्पष्ट निर्देश किया है। उदाहरणार्थ—'बोधायनगृह्यसूत्र' में 'चतुर्वेदाद् ऋषि:' (१।७।७) 'अत ऊर्ध्वं देव:' (८) (चारों वेदोंका अध्ययन करनेसे मनुष्य 'ऋषि' बनता है, और इनके अतिरिक्त अन्य भी शास्त्रोंका पूर्ण ज्ञाता बननेसे 'देव' बनता है'।

यहाँ वादी अनुसन्धान-विरहित लोगोंको भयङ्कर धोखा दे रहा है—। वादीके प्रमाणोंको देखकर अबहुश्रुत तथा अननुसन्धाता पुरुष धोखा खा सकते हैं, और स्वयं ज्ञान न होनेसे परप्रत्ययनय-बुद्धिताके कारण कुछ प्रभावित भी हो सकते हैं, पर जिसने वादीसे बताई पुस्तकें तथा उनका पूर्वापर देख रखा है, वह वादीके प्रमाणोंके उपस्थापनमें वादीकी धूर्तता तत्काल समझ जाता है, उस पुस्तकका वादीसे छिपाया हुआ पूर्वापर-प्रकरण ही वादीके पक्षको काट दिया करता है।

वस्तुत: उक्त गृह्यसूत्रमें 'ऋषि' तथा 'देव' आदि शब्द उक्त गृह्यसूत्र-

के 'पारिभाषिक' तथा उसीमें सीमित एवं अव्यापक शब्द हैं। यहां देव-योनि तथा ऋषियोनि इष्ट नहीं है। यहाँ तो केवल ऋषि और देव ही क्या, यहाँ तो श्रोत्रिय, अनूचान, ऋषिकल्प, भ्रूण आदिकी परिभाषा भी बताई गई है। उनमें 'श्रोत्रिय' की परिभाषा 'वेदकी एक शाखा पढ़ा हुआ', 'अनूचान' की परिभाषा 'वेदका एक अङ्ग पढ़ा हुआ, 'ऋषिकल्प' की परिभाषा 'कल्पसूत्र' पढ़ा हुआ, 'भ्रूण' की परिभाषा सूत्रप्रवचनाध्यायी बताई गई है।

इसी प्रकार वहीं 'ऋषि' की परिभाषा चतुर्वेद पढ़ा हुआ, तथा 'देव' की परिभाषा इससे ऊपरके अन्य शास्त्रोंके पढ़े हुएकी बताई गई है। यह उस गृह्यसूत्रका अपना संकेत होनेसे उसीमें उक्त परिभाषाएं प्रवृत्त होंगी, सब शास्त्रोंमें नहीं। 'नदी' संज्ञा पाणिनीय-अष्टाध्यायीमें स्त्रीलिङ्गान्त-ई-ऊकेलिए है, पर यह परिभाषा वा संज्ञा भूगोलमें वा अष्टाध्यायीसे भिन्न ग्रन्थमें कभी नहीं होती।

यदि वादी इन बोधायनोक्त-परिभाषाओंको सर्वशास्त्रोंमें प्रवृत्त मानता है, तो 'सार्वदेशिक' (अगस्त १९४६) पृ. २७३ में 'अथ ये ब्राह्मणा अनूचानाः, ते मनुष्यदेवाः' (शत. २।२।२।६) इस कण्डिकाका वादीका किया अर्थ अशुद्ध सिद्ध होता है, तथा शतपथकी वादीसे अनुमोदित उक्त कण्डिका भी खण्डित होती है। यह कैसे ? यदि वह यह जानना चाहता हो, तो वह जरा समझनेकी चेष्टा करे। वादीने इस कण्डिकामें 'अनूचानः' का अर्थ 'वेदोंको जाननेवाला' माना है। देखो 'सिद्धान्त' (८।१९) पृ. १२५ का दूसरा कालम)

परन्तु बोधायनके उसी वादिसम्मत स्थलमें कही हुई 'ब्राह्मणो ब्राह्मण्यामुत्पन्नः प्राग् उपनयनाद् जातः' (१।७।१) उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किञ्चिद् अधीत्य ब्राह्मणः' (२) 'एकां शाखामधीत्य 'श्रोत्रियः' (३) 'अङ्गाध्यायी अनूचानः' (४) 'कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः' (५) सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः' (६) 'चतुर्वेदाद् ऋषिः' (७) 'अत ऊर्ध्वं देवः'

(१।७।८) इस बोधायनकी परिभाषाओंके अनुसार 'अनूचानः' का अर्थ वादीको 'वेदका अङ्ग पढ़नेवाला' यह लिखना चाहिये था, न कि 'सभी वेदोंको जाननेवाला'।

उसी शतपथ-कण्डिकामें स्थित 'ब्राह्मण शब्दका भी 'बोधायन' की उक्त परिभाषाके अनुसार वादीको 'वेदका कुछ पढ़नेवाला, ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न उपनीतमात्र' यह अर्थ लिखना चाहिये था, क्या वादीको 'किञ्चिद्-अध्येता' यह 'ब्राह्मण' शब्दका अर्थ स्वीकार है ? यदि ऐसा हो, तो अपनी 'गुणकर्मकृत वर्णव्यवस्था' दह काटे। यहां 'थोड़ा पढ़े-लिखे भी ब्राह्मण-ब्राह्मणीके कुमारको 'ब्राह्मण' कहा गया है।

'अनूचान' (चारों वेदोंको पढ़े हुए) को आपके अनुसार 'ऋषि' न कहकर 'ब्राह्मण' कहा गया है।

उसी शतपथ-कण्डिकामें स्थित 'देव' शब्दका 'वेदोंको जाननेवाला' अर्थ वादीको न लिखकर 'चतुर्वेदोंसे अधिक ज्ञान रखनेवाला' यह अर्थ लिखना चाहिये था। अब वादी बतावे कि—आप इस परिभाषाको मानते हुए भी जब शतपथकी कण्डिकामें बोधायनके विरुद्ध अर्थ कर रहे हैं; तब आपके अनुसार ही सिद्ध हो गया, कि—आप अशुद्ध अर्थ कर रहे हैं। तब अशुद्ध अर्थ करनेवाले होनेसे आपके अन्य प्रमाणोंके भी अर्थ अशुद्ध सिद्ध हो जानेसे आपका पक्ष सर्वथा कट गया। यदि वादी कहे कि—उक्त परिभाषा केवल बोधायनके उक्त स्थलमें ही (सर्वत्र नहीं) प्रवृत्त होती है; अन्यत्र सर्वथा नहीं; तब भी वादीका यहांका पक्ष कट गया। 'सेयमुभयतस्पाशा रज्जुः'।

वादीने यह जो लिखा है कि—चारों वेदोंका अध्ययन करनेसे मनुष्य ऋषि बनता है, और इनके अतिरिक्त अन्य भी शास्त्रोंका पूर्ण-ज्ञाता बननेसे 'देव' बनता है; क्या वादी इस बातको ठीक मानता है ? यदि ठीक मानता है, तो उत्तम कोटिका यहाँपर 'देव' ही है, तो वेदसे अन्य

...बड़े हुए; क्योंकि वेद पढ़नेसे 'देव' न बना, किन्तु अन्य शास्त्रोंके ...नेपर ही 'देव' बना; फिर क्या वादी वेदोंको अन्य शास्त्रोंसे घटिया ...नहीं मानता है? यदि ऐसा हो; तो वादी 'वैदिकधर्म' को समाप्त ...रे। 'पौराणिक' धर्मको स्वीकार कर 'देव' बननेकी चेष्टा करे।

यदि वादी अन्य शास्त्रोंको अन्तिम न मानकर वेदोंको ही अन्तिम ...नता है, तब उसे यह ऐकदेशिक लक्षण व्यापक न मानने पड़ेंगे। तब ...से हमारे पक्षको काटनेकी चेष्टा करता हुआ वादी ही यहाँ बुरी तरह ...जित हो गया। इसीका नाम होता है—"भयङ्कर भूलें"।

महाशय, 'पारिभाषिक' तो 'पशु' शब्द भी होता है। देखो अत्रि-...—'ब्रह्मतत्त्वं न जानाति ब्रह्मसूत्रेण गर्वितः। तेनैव च स पापेन विप्रः ...पशुरुदाहृतः' (३७९) यहाँ ब्राह्मणको 'पशु' कहा गया है। पर इससे ...पशुयोनिका अभाव नहीं हो जाता। वादी लोग विधवाविवाहाऽभावसे ...णहत्या बताया करते हैं। पर यहाँ 'भ्रूण' की विचित्र परिभाषा की ...है। वादी भी सूत्र-प्रवचनाध्यायी हो सकता है, तब अपने नामके ...के 'भ्रूण' लिखा करे। 'ब्राह्मणान् सम्पूज्य' (बोधा.गृ. २।५।५४) ...द ब्राह्मणेभ्योऽन्नं ददाति' (बोधा. २।६।६) इत्यादि बहुत स्थलोंपर ...णकी पूजा कही है। तब क्या वादी बोधायनके इन वाक्योंके अनुसार ...ब्राह्मणीके किञ्चिदध्येता पुत्रकी पूजा करेंगे? तब गुणकर्म-...वर्णव्यवस्थाके शास्त्रार्थोंमें आप सनातनधर्मी शास्त्रार्थियोंको अभीसे ...'विजयपत्र' दिलवा दीजिये। यदि यह नहीं मानते; तो वादीका ...र पराजय हो गया। क्यों उसने अपनी समझसे वेदानभिज्ञ ...यनको अपनाया? वादीने स्वयं अपनी अनुमोदित उक्त परिभाषाएं ...न करके निग्रहस्थान प्राप्त कर लिया।

आगे वादी लिखता है—'अथ यदि कामयेत ऋषिं जनयेयम्, ...नान् एतद् व्रतं चरेत्' (बोधा.गृ. १।७।८) यदि कामयेत-देवं ...येयम्, संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत्' (२०) (यदि कोई चाहे कि—मैं 'ऋषि'

को पैदा करूँ, तो विवाहके पश्चात् ६ मास तक ब्रह्मचर्य करे, यदि 'देव' पैदा करना चाहे, तो एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य करे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि—ऋषि और देव उच्चकोटिके मनुष्य हैं'।

इस पूर्वपक्षका उत्तर पहले दिया जा चुका है कि—यह 'ऋषि' वा 'देव' शब्द 'अत्रिस्मृति'के 'पशु' (३७८) शब्दकी भाँति 'अन्य' हैं; जोकि बोधायनकी परिभाषामें इसी स्थलकेलिए सीमित हैं, तथापि इससे भी वादीके ही पक्षकी अभी-अभी पराजय होती है, वह देखे और सम्भल जावे।

आप लोग अपने सम्प्रदायके प्रवर्तकके अनुसार विवाहवाले दिन (देखो सत्यार्थ. तथा संस्का.विवाहारम्भ अथवा उसके चौथे दिन (देखो विवाह-संस्कारके अन्तमें) गर्भाधान करते हैं, इसको वैदिक सिद्ध करनेके-लिए 'श्रीः' पत्रिकामें वादीने बड़ी चेष्टा की है, यद्यपि हमने उसका सर्वाङ्गीण उत्तर दे रखा है, वादीके उक्त कथनानुसार वादीके सम्प्रदायमें द्वादशरात्र ब्रह्मचर्य न करनेसे कोई भी 'अनूचान' न होगा।

विवाहसे मास तक ब्रह्मचर्य न करनेसे दयानन्द-समाजमें कोई भी 'ऋषिकल्प' न होगा। छः मास तक ब्रह्मचर्य न करनेसे दयानन्दसमाजमें कोई ऋषि' न होगा। विवाहोत्तर संवत्सर ब्रह्मचर्य न करनेसे तथा मन्त्रोंके अर्थमें छलादि अवलम्बन करनेसे दयानन्दसमाजमें कोई 'देव' न होगा। तब वादीके सम्प्रदायमें देवोंका अत्यन्ताभाव होनेसे वादीका पक्ष भी खण्डित हो गया।

यह हुआ पहले गर्भका वृत्त, दूसरे गर्भोंमें तो इन नामोंका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहेगा। तब वादीको हारकर वेद तथा पुराणसे प्रोक्त देवयोनि अवश्य माननी पड़ेगी। तब वादीका 'यावन्तो देवाः तविषा मादयन्ताम्' इत्यादि मन्त्रोंका अर्थ भी कट गया। इसीसे यह भी सिद्ध होता है कि—'गोधा आदि ऋषिकाएं बोधायनके अनुसार चारों वेदोंको जाननेवाली नहीं

थीं, 'चतुर्वेदाद् ऋषिः' (बोधा,) यह वादीका कथन भी कटकर वादीके सारे परिश्रम पर पानी पड़ गया ।

वस्तुत: गोधा आदि ऋषिकाएं नियत मन्त्रोंकी द्रष्ट्रियां हुईं, चारों वेदोंकी नहीं । देख लीजिये अनुक्रमणिकाएं । तभी तो दयानन्द-सम्प्रदायमें भी वेदके प्राप्तकर्ता चार ऋषियोंमें न कोई स्त्री रखी गई, और न शूद्र । ऋषि तो एक मन्त्रके द्रष्ट्री होनेसे भी वे हो जातीं । इधर बोधायनके अनुसार तो ऋषि उत्पन्न होगा, बनेगा नहीं, अर्थात् वैसा पुरुष जन्मसे ही उस वेदादिको जाननेवाला होगा; उसको अध्ययनकी आवश्यकता नहीं होगी ? तब वादी भी ऐसी बोधायनप्रोक्त-ऋषिकाओंको पैदा करे, उन्हें वेद मत पढ़ावे । जब इस प्रकार वे जन्मसे ऋषि होंगी, तब वादी उन्हें वेदाध्ययनाधिकार दिलानेकेलिए क्यों सिरसे एड़ी तकका पसीना बहा रहा है ।

यदि वादीको बोधायनपर सचमुच श्रद्धा है, तो उसके धर्मसूत्रानुसार सर्वसाधारण-स्त्रियोंको 'यद् अमन्त्राः स्त्रियो मता:' (१।११।५) इस सूत्रके अनुसार मन्त्रभागकी अनधिकारिणी मान ले ।

अन्य बात यह है कि-बोधायनको अपने गृह्यसूत्रमें जातिपक्ष इष्ट नहीं है, यह हम अन्यत्र बता चुके हैं; तब पुंलिङ्ग शब्दसे उसको स्त्री इष्ट न होनेसे वादीका पक्ष मूलसे ही कट गया । देववादमें भी वादीकी भयङ्कर भूल सिद्ध हुई । तब 'इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवा:' इत्यादि मन्त्रमें 'देवा: पत्नीभि:' यहाँ 'देव' शब्दसे 'विद्वान् मनुष्य' नहीं, किन्तु निरुक्त-(१२।४४-४५-४६) प्रोक्त इन्द्राणी, अग्नायी, आश्विनी, रुद्रपत्नी आदि 'देवपत्नियां' इष्ट है । जैसा कि-श्रीसायणाचार्यने 'देवा: स्वस्य स्त्रीभि: इन्द्राण्यादिभि: सह' (अथर्व. १६।५८।६) इन शब्दोंमें लिखा है । क्योंकि-वेदमें उनकी हविसे तृप्ति बताई गई है । मानुषी स्त्रियोंको हवि नहीं दी जाती, किन्तु देवताओंको ही अग्निके द्वारा हवि दी जाती है । जैसे कि-'यज्ञे आहुतय एव देवानां, दक्षिणा मनुष्यदेवानाम्'

(शत. ४।३।४।४) 'यज्ञो वो [देवानाम्] अन्नम्' (२।४।२।२) वादीका पक्ष कट गया ।

देवता द्यु स्थानी होते हैं, जैसे कि-वेदमें कहा है-'दिवि देव... (अ. ११।७।२३) मनुष्य तो द्यु स्थानी न होकर पृथिवीस्थानी होते हैं 'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व:' (ऋ. १०।१६०।३) मन्त्रमें द्यु... तथा पृथिवीलोक भिन्न-भिन्न बताये गये हैं । इसलिए निरुक्तकार... नैरुक्तोंका मत देते हुए स्पष्ट लिखा है—'द्यु स्थानो देवगण इति नैरुक्ता...' (१२।४१।१) इस प्रकार वेदादिशास्त्रोंको भी देवता मनुष्य-योनि... भिन्न इष्ट हैं । इसीको पुराणेतिहास, स्मृति, दर्शन सारा आर्ष-साहित्य... वा आर्यसाहित्य एकस्वरसे कह रहा है । परन्तु वादी अपनी साम्प्रदायिक... प्रकृतिवश वस्तुस्थितिको छिपाना चाहता है, यह विद्वानोंके... असह्य है ।

इसलिए वादीके दिये हुए निरुक्तस्थित 'देवो दानाद् वा' (७।१५।...) इस पाठमें भी दानादि अर्थ भिन्न-भिन्न इष्ट नहीं, किन्तु 'द्यु स्थानि... सति दानादिकर्त्वं देवत्वम्' यही अर्थ इष्ट है, जैसेकि नैरुक्तोंका उद्धरण... हम पूर्व दे चुके हैं । दानका अर्थ 'इष्ट वर आदि देना' जैसाकि शास्त्रों... प्रसिद्ध है—दीपन तथा द्योतन आदि सूर्यादि देवताओंका प्रत्यक्ष ही है ।

कहीं किसीका विशेषण हो जानेसे 'देव' शब्द भले ही यौगिक हो... जावे; क्योंकि-विशेषण सदा यौगिक हुआ करता है; पर 'देव' शब्द... विशेष्य होनेपर रूढ या योगरूढ ही होता है, और देवयोनिको बतलाता... है । विद्यादान आदि करनेसे 'देव' नहीं कहा जा सकता । विद्वान् होनेसे... भी नहीं । नहीं तो गुरु वा आचार्यको भी 'देवयोनि' कहा जाता, पर... ऐसा किसी भी स्थानमें नहीं आता ।

कहीं 'देव' शब्द वाचकलुप्तोपमात्वके कारण किसी मनुष्यकेलिए भी... सम्भवत: प्रयुक्त हो जावे; पर वह वहाँ गौणशब्द होता है, मुख्य नहीं । देवतावाद-प्रसारक पहले वेद हैं, पीछे उनके भाष्य पुराण-इतिहास आदि ।

...का विषय यज्ञ है। यज्ञ यज धातुसे निष्पन्न है, जिसका अर्थ होता है ...पूजा। तभी तो वेदोंमें देवतावाद है। देवताओंका अग्निद्वारा आह्वान ...पूजन अर्थात् उनके नामसे अग्निमें हवि डाली जाती है। तो क्या ...अग्निमें हवि डालनेसे विद्वान्-मनुष्यकी पूजा तथा तृप्ति हो जावेगी?

यदि विद्वान्को 'देव' कहा जावे; तब 'देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजन' (१७।१४) 'भगवद्गीता' के इस पद्यमें देव तथा प्राज्ञके पृथक्-पृथक् ...में पुनरुक्ति हो जावे। 'विद्वा ँसो ये शतक्रतु-देवाः' (शत. ११। ...।१२) यहांपर भी पुनरुक्ति दोष हो जावे। यहां इन्द्रादि-देवोंको ...विद्वान् बताया गया है, पर वादीकी भांति 'देव' शब्दको 'विद्वान्' का ...पर्यायवाचक नहीं बताया गया। नहीं तो अन्यतर (दोमें एक) शब्द ...व्यर्थ हो जाता।

'सम्पूज्य देवताम् अश्विनौ गां ब्राह्मणांश्च' (चरकसं. कल्प. १।१२) यहां देवता तथा ब्राह्मणोंकी पूजा कही गई है। यहां यदि 'देवता' वादीके अनुसार 'विद्वान्' का नाम है; तो 'ब्राह्मण' से 'अविद्वान् ब्राह्मण' ...होकर उसकी पूजासे 'जन्मना वर्णव्यवस्था' सिद्ध हो जावेगी। ...तथा वादीके अनुसार दोनों शब्द समान (विद्वान्) अर्थ होनेसे उनमें एक शब्द होना चाहिये, दोनों नहीं। वस्तुतः वादीका यह पक्ष सर्वथा निराधार है।

आगे जो वादीने 'आनन्द एवास्य विज्ञानम्, आनन्दात्मानो ह वै सर्वे ...। सा ह एषैव देवानाम् अद्धा श्रद्धा। स ह स न मनुष्यो य एवंविद् देवानां हैव स एकः' (१०।३।५।१३) यह शतपथ-ब्राह्मणका वचन दिया ..., यह तो 'स न मनुष्यः, देवानां स एकः' इस वाक्यमें स्पष्ट अर्थवाद है—यह वादी नहीं जानता। इसपर 'न्यायदर्शन' देखें। अर्थवादका ...वाच्यार्थमें तात्पर्य नहीं रहता, किन्तु उसके भावमें तात्पर्य रहता है। यहां देवताओंको आनन्दात्मा जाननेमें ही तात्पर्य है। इसीलिए

अग्रिम-कण्डिकामें भी 'तस्माद् यां देवेषु आशिषम् इच्छेत्, एतेनैव उपतिष्ठेद्। आयन्दो वै आत्मा, असौ मे कामः, स मे समृध्यताम्। इति स ँ हैव अस्मै स काम ऋध्यते। सत्कामो भवति, एता ँ हैव तृप्तिमेतां गतिम्। एतम् आनन्दात्मानम् अभिसम्भवति, य एवं वेद' (१४) यह कहा है।

वादीने पूर्व-कण्डिकामें 'स ह स न मनुष्यः' का वह 'साधारण-मनुष्य' नहीं रहता; यह अर्थ करके उसमें 'साधारण' शब्दका अर्थमें प्रक्षेप कर दिया। आप लोग तो अन्य पुस्तकोंमें प्रक्षेप-प्रक्षेप चिल्लाया करते हैं, और उस प्रक्षिप्तताको माननेमें नकार कर दिया करते हैं। पर आर्ष-वचनोंका अर्थ करते समय उसमें प्रक्षिप्तताएं कर देते हैं। क्या यह साधारण जनोंका वञ्चन नहीं है, ऐसी प्रवृत्तिमें वादीको लज्जा करनी उचित है।

वहां जब 'स साधारण-मनुष्यो न भवति' यह पाठ ही नहीं है, किन्तु 'स न मनुष्यः' यह पाठ है, तब वादी तदनुसारी ही अर्थ करे, उसमें 'साधारण' शब्दका प्रक्षेप न करे।

अब इसका यह अर्थ हुआ कि—'वह मनुष्य नहीं है, किन्तु देवता है' इस अर्थवादसे ही देवता तथा मनुष्यकी भिन्नता प्रतिफलित हो गई। शेष यहां मनुष्यको 'मनुष्य' न कहकर, बल्कि उसके मनुष्यत्वका निषेध करके उसे देवता कहना—यह अर्थवादसे है, वास्तविकतासे नहीं।

'ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्यम्' यह उपचार बहुत प्रसिद्ध है। 'झांसीकी रानी औरत नहीं थी, मर्द थी' 'विष विष नहीं; दुर्जनका वचन विष है' यह इसके उदाहरण हैं। पर इससे उस स्त्रीका स्त्री न होना, मर्द होना, विषका विष न होना, दुर्जनके वचनका विष होना वास्तविक नहीं हो जाता। यह बात यहांपर भी घटा लीजिये।

यदि वादीकी सचमुच 'शतपथब्रा.' में आस्था है; तो शतपथ तो देवता और मनुष्योंमें स्पष्ट भेद मानता है। यों तो उसके अनेक उद्धरण हमने

'आलोक' के ४र्थ पुष्पमें दे रखे हैं, पर यहाँ दिङ्मात्र उद्धरण देते हैं।—

'देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा उपासीदन्, तान् [प्रजापतिः] अब्रवीद्—यज्ञो वो अन्नम्, अमृतत्वं वः, सूर्यो वो ज्योतिरिति' (२।४।२।१) यहाँ पर देवताओंको यज्ञोपवीती बताया है। उनका अन्न यज्ञ बताया गया है। उन्हें अमर बताया गया है। उनकी ज्योति सूर्यको बताया है। वे सूर्यलोकमें रहते हैं।

'पितरः प्राचीनावीतिनः...उपासीदन्। तान् अब्रवीत्—मासि मासि अशनं वः, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योतिरिति' (२) यहाँ पितरोंका जनेऊ दाहिने कन्धेपर बताया है, महीने-महीने (प्रति-अमावास्यामें) तुम लोगोंको स्वधासे अन्न प्राप्त होगा। तुम लोगोंकी ज्योति चन्द्रमा होगा। चन्द्रपृष्ठमें निवास होगा।

'अथैनं मनुष्याः प्रावृता उपासीदन्। तान् अब्रवीत्—'सायं प्रातर्वोऽशनम्। प्रजा वः, मृत्युर्वः, अग्निर्वो ज्योतिः' (३) यहां मनुष्योंका सायं-प्रातः भोजन कहा है, उनकी सन्तान कही गई है, उनकी मृत्यु कही गई है। उनकी ज्योति अग्नि बताई गई है।

'अथैनं पशव उपासीदन्, तेभ्यः स्वैषमेव चकार। यदा कदा च लभाध्वै, यदि काले यदि अनाकाले, अथैव अश्नाथ (४) यहाँ पशवोंके-लिए स्वतन्त्रता कर दी। जब भी तुम लोगोंको कुछ मिलेगा, चाहे समयपर चाहे असमयपर; तुम खाने लग जाओगे।

'अथैनम् असुरा उपसेदुः तेभ्यः तमश्च, मायां च प्रददौ। ता इमाः प्रजाः तथैव उपजीवन्ति, यथैव आभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात्' (५) उसके बाद असुरोंको अन्धकार तथा माया दी। यह सब प्रजाएं वैसा ही अपने धर्मका अनुसरण करती हैं, जैसा प्रजापतिने उनके जिम्मे लगाया है।

'नैव देवा अतिक्रामन्ति न पितरः, न पशवः, मनुष्या एव एक अतिक्रामन्ति' (२।४।२।६) (न तो देवता अपना नियम तोड़ते हैं, न

पितर और न पशु; कई मनुष्य ही अपने नियम तोड़ देते हैं। दो समयोंके स्थान पाँच वार भोजन करते हैं। यहाँ देवताओं तथा मनुष्योंका कितना भारी भेद बताया गया है। देवताओंका खाना यज्ञकी हवि बताया गया है; अन्न नहीं। उनकी मृत्यु नहीं बताई गई है; पर मनुष्योंका प्रातः-सायं भोजन बताया गया है, उनकी मृत्यु भी बताई गई है। पितरोंका प्रतिमास भोजन बताया गया है।)

वादी अपने-आपको विद्वान् मानता है, तो देवता भी अपनेको मानता होगा। तब क्या वह द्युलोकमें रहता है ? या पृथिवीलोकमें ? यदि पृथिवी-लोकमें रहनेवाला है; तो वादी देवता न हुआ। देवता द्युलोकमें रहते हैं—यह हम पहले बता चुके हैं। ऋ. १०।१९०।३ में द्युलोक पृथिवीलोक-से भिन्न माना गया है।

देवताओंकी मृत्यु नहीं बताई गई; तब आपके देव दयानन्द क्यों मारे गये ? वे क्या खाना नहीं खाते थे ? क्या उनकी यज्ञकी हविसे तृप्ति हो जाती थी ?

यदि वादी शतपथकी इन कण्डिकाओंके अनुसार मनुष्योंसे भिन्न देवयोनि न मानेगा, मनुष्योंमें ही विद्वानोंमें 'देव' मान लेगा, तो फिर 'पशु' भी मनुष्योंमें मान लेने पड़ेंगे, फिर पशुयोनिको भी भिन्न योनि मत मानो। उन पशु-मनुष्योंको खली-भूसा आदि खिलाइये। यदि वादी पशुयोनिको स्वतन्त्र मानता है; तो उसे देवयोनि भी पृथक् स्वतन्त्र माननी पड़ेगी।

शतपथमें मनुष्य तथा देवताओंके आनन्दकी मात्रा भी पृथक्-पृथक् मानी गई है। देखिये—

'स मनुष्याणां परम आनन्दः। अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः, स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः' (यहाँ मनुष्य तथा पितरोंके आनन्दकी

न्दामें भेद बताकर दोनोंका योनिभेद बताया गया है। इस लोकमें मरकर पितृलोक-गत चन्द्रलोकके जीव पितर विवक्षित हैं। इस प्रकार पितर भी मनुष्ययोनिसे भिन्न सिद्ध हो गये।)

'अथ ये शतं पितॄणामानन्दाः, स एको गन्धर्वलोके आनन्दः' (यहाँ गन्धर्व-देवविशेषोंके आनन्दकी मात्रा पितरोंसे भी अधिक बताई गई है।) 'अथ ये शतं गन्धर्वलोकानामानन्दाः; स एकः कर्मदेवानामानन्दः, ये कर्मणा देवत्वमभिसम्प्रपद्यन्ते' (यहां कर्मदेवोंका उनसे भी अधिक आनन्द बताया गया है। कर्मदेवसे अभीष्ट वे मनुष्य हैं, जो इस लोकसे मरकर अपने सुकर्मोंसे देवलोकमें देव बने हैं।)

'अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः' (बृहदारण्यक ६।३।३३) यहाँ जन्मसिद्ध-देवताओंके आनन्दकी मात्रा कर्मदेवोंसे भी अधिक बताई गई है। यदि देवता तथा मनुष्योंमें भेद न होता; तो यह वाक्यभेद व्यर्थ हो जाते।

इसीलिए वादीके स्वा.द.जीने भी आदिम स.प्र.में उक्त श्रुतियोंका ग्रहण करके मनुष्य-देवता आदिका स्पष्ट भेद माना है। उनके कुछ उद्धरण देखिये—'जब मनुष्य-शरीरमें जीव अधिक पाप करता है, और पुण्य थोड़ा, तब नरकादि-लोक और पशु आदिके शरीरोंको प्राप्त होता है।

जब उसके पाप और पुण्य तुल्य होते हैं, तब मनुष्यका शरीर प्राप्त होता है। जब पुण्य अधिकतर हो, और पाप थोड़ा; तब देवलोक और देवादिकोंका शरीर उस जीवको मिलता है। उसमें जितना अधिक पुण्य, उसका फल जो सुख उसको भोगके पाप-पुण्य तुल्य रह जाते हैं; तब फिर मनुष्यका शरीर धारण करता है' (नवम समु. पृ. २८४)।

अब वादी बोले कि—हमारा पक्ष वादीके स्वामीने भी किस खूबीसे सिद्ध कर दिया है। वादी सूर्यादिको तो देवता अब भी मानता ही है।

शतपथके 'अनुसार उनको आनन्दमय मानता है या नहीं ? यदि नहीं, तब 'आनन्दात्मानो ह वै सर्वे देवाः' इस वादीसे उद्धृत शतपथकी कण्डिकाके अनुसार वे 'देवता' न सिद्ध हो सके। उसके 'सर्वे देवाः' शब्दको याद कीजिये। यदि उनके अधिष्ठाता, देवताओंको चेतन तथा आनन्दमय माने; तब हमारा पक्ष वादीने ही सिद्ध कर दिया।

'अग्ने ! वह हविरद्याय देवान्' (ऋ. ७।११।५) यहाँ अग्निमें हवि डालनेसे देवताओंकी तृप्ति दिखलाई है। इस प्रकारके अन्य वेदमन्त्र भी बहुतसे मिलते हैं। क्या अग्निमें हवि डालनेसे विद्वान् तृप्त हो जाते हैं ? फिर खाना तो नहीं खाते होंगे ? क्या वादीने भी खाना बन्द कर डाला है ? क्योंकि—'सार्वदेशिक' कार्यालयमें अथवा 'आनन्दकुटीर'में हवन तो प्रतिदिन होता ही होगा, और वादी अपनेको विद्वान् तथा देवता मानता ही होगा ? यदि वादीने खाना बन्द नहीं किया, तो मानना पड़ेगा कि—देवता मनुष्योंसे भिन्न हुआ करते हैं। देवता विद्वानोंसे भी भिन्न हुआ करते हैं। क्योंकि—विद्वान् मनुष्य तो खाना खाते हैं; पर देवता नहीं। 'न देवा अश्नन्ति न पिबन्ति, एतदेव अमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छान्दो. ३।६।१)

'स येन देवेन ऋणं जायते, तद् एतान् तद् अवदयते, यद् यजते, अथ यद् अग्नौ जुहोति' (शत. १।७।२।६) यहां देवताओंका ऋण यजनसे उतर जाना माना है। आर्यसमाजी विद्वान् (देवता) अपना सारा धन निर्धनोंको दे-दें, और वे निर्धन अग्निमें आहुति डाल देंगे, उनका ऋण उतर जावेगा। फिर वे मांगेंगे; तो नहीं ? यदि माँगेंगे; तो विद्वानोंका नाम देवता सिद्ध न हो सका। फलतः 'देवता विद्वान् मनुष्य ही हैं', यह वादियोंका पक्ष सर्वथा अशास्त्रीय एवं निराधार सिद्ध हो गया। किसी भी निघण्टु वा कोषमें विद्वानोंके पर्यायवाचकोंमें 'देव' शब्द नहीं आया।

आगे वादी लिखता है—'अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानाः, ते

मनुष्य-देवाः' (शत. ४।३।४।४) में स्पष्ट कहा है—जो वेदोंको जाननेवाले, जनताकी सेवा करनेवाले ब्राह्मण होते हैं, वही मनुष्योंमें 'देव' कहलाते हैं।'

वहां वादी धोखा देता है। यहां द्युस्थानी देवताओंको ही केवल 'देवता' कहा गया है। ब्राह्मणोंको साक्षात् देवता नहीं, किन्तु 'मनुष्यदेव' कहा गया है—'मनुष्येषु देवा इव'। तब देवयोनि द्युस्थानी ही सिद्ध हुए। वादीका 'शुश्रुवांसः' का 'जनताकी सेवा करना' अर्थ भी अशुद्ध है। सेवा 'शूद्र' का कर्म है, 'ब्राह्मण' का नहीं। यहांपर उसका 'बहुश्रुत' अर्थ है। 'श्रु' धातुसे क्वसु प्रत्यय करनेपर उक्त रूप बनता है।

मनुष्य द्युस्थानी नहीं, किन्तु पृथिवीलोक-निवासी हैं। द्युलोक तथा पृथिवीलोक भिन्न-भिन्न होते हैं (ऋ. १०।१९०।३)। तब देवता तथा मनुष्य भिन्न-भिन्न योनि सिद्ध हुए। जैसा कि शतपथमें कहा है—'देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः' (७।४।२।४०)।

जब ऐसा है; तब स्पष्ट है कि—ब्राह्मण जोकि मनुष्य हैं; उनको 'देव' कहना वाचकलुप्ता-उपमा वा प्रशंसासे है, वास्तविकतासे नहीं। 'मनुष्येषु देवा इव' यह यहाँ वाचकलुप्ता-उपमा है। अथवा 'प्रधानशब्देन अनुपपत्तेः, गुणशब्देन अनुवादः, निन्दा-प्रशंसापपत्तेः' (न्यायदर्शन ४।१।६०) इस प्रकार प्रशंसार्थक अनुवादरूप अर्थवाद है। वादीके अनुसार तो 'मनुष्यदेव' तथा 'अनृतदेव' (ऋ. ७।१०४।१४) अर्थ तो 'झूठ तथा सत्य बोलनेवाला' होगा; क्योंकि—वादी 'सत्यसंहिता वै देवा अनृतं मनुष्याः' का यही अर्थ मानता है? तो जब ब्राह्मण 'मनुष्यदेव' हुए; तो वे सत्य वा असत्य दोनों बोलनेवाले हुए। क्योंकि वादी 'असत्य बोलनेवाले' को अपने दिये हुए ऐतरेयब्रा. के वचनानुसार 'मनुष्य' मानते हैं। तब वादीके अनुसार सच-झूठ दोनों बोलनेवाले 'मनुष्यदेव' ब्राह्मण 'केवल देवता' सिद्ध नहीं हो सके। तब वादीका पक्ष गिर गया। 'जादू वह जो सिरपर चढ़कर

बोले'।

मनुष्योंमें उच्च ब्राह्मण भी जब देवता न हुए, तब तो विद्वान्-क्षत्रिय, वैश्य तो देवता बन ही न सकेंगे। तब वादीके द्वारा ही हमारा पक्ष भी सिद्ध हो गया। इससे भिन्न वादीपर 'निग्रहस्थान' अन्य क्या हो?

यहाँ वादीने 'वेदोंके जाननेवाले ब्राह्मण' यह शब्द कहकर 'वेदोंके न जाननेवाले ब्राह्मण' भी स्वीकृत करके वर्णव्यवस्था जन्मसे मान ली है; नहीं तो 'शुश्रुवांसोऽनूचानाः' यह ब्राह्मणके विशेषण व्यर्थ होते। क्योंकि-विशेषणकी सार्थकता व्यभिचारमें ही होती है। 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्'। अव्यभिचारमें कभी विशेषण हुआ ही नहीं करता। तब वादीका पक्ष वादीके माने हुए ही प्रमाणसे कट गया।

उसी स्थलपर जिसे वादीने छिपा लिया है—लिखा है—'यज्ञे आहुतय एव देवानाम्, दक्षिणा मनुष्यदेवानाम्...ते एनमुभये देवाः प्रीताः स्वर्गलोकमभिवहन्ति' (शत. ४।३।४।४) यहाँ देवताओं तथा मनुष्योंमें स्पष्ट भेद कहा है। यदि ब्राह्मण वास्तविक देवता होते; तो आहुति अग्निमें डालनेसे ही वे तृप्त हो जाते; वहांपर भेदग्राहक 'उभये' शब्द न होता। पर वैसा न कहकर वहाँ उनकी दक्षिणासे ही प्रसन्नता बताई है; तब उनमें तिल-तालकी तरह भेद सिद्ध हो गया।

इसी तरह ब्राह्मणके पर्यायवाचक 'भूदेव, महीसुर' शब्दमें भी समझ लेना चाहिए कि वास्तवमें 'द्युस्थानो भवति देवः' (निरुक्त ७।१५।१) तथा 'दिवि देवाः' (अथर्ववेद ११।७।२३) के अनुसार देवता द्युस्थानी होते हैं। द्युलोक, अन्तरिक्ष, और पृथिवीलोक' वेदानुसार भिन्न-भिन्न लोक होते हैं। जैसे कि—'दिवे स्वाहा, पृथिव्यै स्वाहा, अन्तरिक्षाय स्वाहा' (अथर्व. ५।९।१-२-३, ४-५-६)

ब्राह्मण 'भूदेव' हैं, 'भुवि देवा इव'। 'भू' शब्द होनेसे उनको वास्तविक-देवोंसे पृथक् कर दिया गया। अब वादीके अनुसार 'इमं यज्ञं

सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवा:' इस मन्त्रमें भी 'देव' शब्द 'ब्राह्मण'-वाचक माना जावे, तो क्या वादी अग्निमें आहुतियोंसे ब्राह्मण-दम्पतिको प्रसन्न वा तृप्त कर लेगा ? फिर वादी उनको दक्षिणा तो नहीं देगा ? फिर वे अन्य भोजन तो नहीं करेंगे ? दक्षिणा आदि देनेसे वे शतपथानुसार मनुष्य सिद्ध हो जावेंगे, देवता नहीं ।

महाशय, आप कृत्रिमताओंको छोड़िये । एक असत्यको सत्य सिद्ध करनेकेलिए आपको सैंकड़ों असत्य बोलने पड़ेंगे । आप लोग सत्यको छोड़कर असत्यके गर्तमें क्यों गिरना चाहते हैं ? आपके स्वा.द.जीने अपनी 'संस्कारविधि' नामकरणमें जो तिथियोंके देवता ब्रह्मा त्वष्टा आदि, तथा नक्षत्रोंके देवता अश्वी यम आदि बताकर उन-उनके नामसे अग्निमें आहुति डालकर 'देवपूजा' मानी है । तब क्या यम, ब्रह्मा, विष्णु, वरुण आदि कोई विद्वान् मनुष्य हैं ?

इसी प्रकार 'सानुगाय इन्द्राय नम:, यमाय नम:, वरुणाय नम:' आदि बलिवैश्वदेव-बलिमें अनुगों सहित देवताओंकेलिए एक-एक ग्रास भिन्न-भिन्न दिशाओंमें रखवाया है; तब क्या यह सब विद्वान् मनुष्य हैं ? क्या एक ग्राससे वा उसकी भी अग्निमें आहुति डालनेसे इन विद्वान्-मनुष्योंकी तृप्ति वा पूजा हो जाती है ? क्या आप लोग उन विद्वान्-मनुष्योंका तत्तद्-दिशासे, उस-उस तिथि वा नक्षत्रसे सम्बन्ध सिद्ध कर सकते हैं ? वादि-महाशय ! निराधार कल्पनाओंको छोड़ो । वादियोंको वेदसे लेकर पुराणेतिहास तकका कोई ग्रन्थ न मिलेगा, जिसमें परोक्ष-देवयोनिको स्वीकृत न किया गया हो ?

शेष जो महीधर, सायण आदिने कहीं-कहीं 'देवा:' का अर्थ 'दीप्यमाना ऋत्विज:' आदि अर्थ किया है; तो उसका कारण हम पहले ही बता चुके हैं कि-जहाँ रूढ भी शब्द किसी यजमान आदिका विशेषण बन जावे; तो वहाँ वह यौगिकरूपसे प्रयुक्त हो जाता है । जैसा कि—

'धर्मदेव' रूढ शब्द है, यदि यह स्वा.द.का विशेषण हो जावे, तब यह यौगिक हो जावेगा । इसीलिए श्रीसायणको एक स्थान लिखना पड़ा कि-'स्वरानुसारेण रूढि-त्यागेनापि च 'देवं' शब्दस्य योगस्वीकारो युक्त एव' इसीलिए वैसे स्थलपर 'देवा:' का 'दीव्यन्ति' इस प्रकार यौगिकतामें 'रश्मि' आदि अर्थ भी करना पड़ जाता है । पर उक्त विशेष्य-स्थलके अतिरिक्त अन्यत्र सायण वा महीधरादि मनुष्ययोनिसे भिन्न देवयोनिको देव नहीं मानते ? यदि वादी ऐसा करनेका साहस करेगा; तो मुँहके बल गिरेगा; तब पुराण-इतिहाससे लेकर वेद तकके समूचे साहित्यसे देवयोनिको उडानेका प्रयत्न सर्वथा असम्भव हो जायगा ।

'सत्यसंहिता वै देवा अनृतं मनुष्या:' (ऐ.ब्रा.) जो कि देवों और मनुष्योंका यह भेद वादीने बताया है; इसमें 'वै' का प्रयोग निश्चयार्थमें भले ही हो; पर 'वै' के प्रयोगसे पर्यायवाचकता नहीं हो जाती । क्या 'आयुर्वै घृतम्' (कृ.य.तैसं. २।३।२।२) में 'वै' देखकर वादी आयु और घृतको पर्यायवाचक मान लेगा ? 'अयं वै वादी स्वा. दयानन्द:' इस वाक्यमें वादी अपनेको क्या स्वा.द.का पर्यायवाचक मान लेगा ? 'सत्य-संहिता:' का भाव यह है कि-देवता लोग निश्चयसे सत्यसे मिले होते हैं, पर यह अर्थ नहीं कि-जो सत्य बोले, वही देवता हो जावे ? यहाँ वादीका पक्ष जहाँ असत्य है, वहां अत्यन्त निर्बल भी है ।

यदि सत्य बोलनेसे 'देव' होता है, तो 'अस्वतन्त्रा स्त्री अनृतमिति विज्ञायते' (वसिष्ठस्मृ. ५।१) 'अनृतं साहसं माया स्त्रीणां दोषा:-स्वभावजा:' (वादीके स्वामीजीकी मान्य चाणक्यनीति २।१) में 'असत्य-वचना नार्य:' (महा. आदि. ७४।७४) इस प्रकार स्त्रियोंके अनृत-प्रकृतिकत्व होनेसे कोई भी स्त्री वादीके अनुसार देवता न बन सकेगी ।

सत्य बोलनेवाले भी महाराज हरिश्चन्द्र आदि कहीं भी देवता नहीं माने गये । वादी युधिष्ठिरको 'देवता' मानता है—या मनुष्य ? या दोनोंका सङ्कर ? अन्यतर बातमें प्रमाण बतावे ? ऋ. ७।१०४।१४ में

'अनृतदेव' शब्द भी आता है, जिससे वादीका पक्ष कट जाता है।

क्या वादी 'तुरीयस्ते मनुष्यजा:' (ऋ० १०।८५।४०) इस वधूके प्रति कहे जानेवाले वरके मन्त्रका यह अर्थ करेगा कि-पहले तो तेरे तीन विद्वान् तथा सत्यवक्ता पति हैं, चौथा तेरा अबका पति 'मनुष्यजा:' झूठेका लड़का है? वा स्वा.द.के अनुसार यह बहुवचन है; तो क्या यह अर्थ होगा कि-तेरे चौथेसे लेकर ग्यारह तक पति झूठोंके लड़के हैं? यदि वादी ऐसा अर्थ नहीं करता; तब उसका पक्ष कट गया।

जोकि वादीने 'ओमास:' मन्त्रका उद्धरण दिया है कि 'स्वरानुसारेण च रूढ़ित्यागेनापि 'देव' शब्दस्य योगस्वीकारो युक्त एव' इससे वादी 'देव' शब्दका रूढि अर्थ छोड़कर उसे यौगिक स्वीकृत करना बताता है, इसपर यथार्थता यह है कि-अपनी गुरुपरम्परावश आई हुई दुष्प्रकृति आप लोगोंमें विद्यमान है। आप लोग पूर्वोत्तर-अंश छिपाकर बीचका अंश दे देते हैं; इससे अर्थका अनर्थ हो जाता हैं; और साधारण लोगोंको भ्रम पड़ जाता है। यहां श्रीसायणका अपेक्षित अंश उद्धृत किया जा रहा है। वादी देखे—

'हे विश्वे देवास:, एतन्नामका देवविशेषा: !...'अश्विनौ-इत्यादिषु एकत्रिंशत्संख्याकेषु देवविशेषनामसु विश्वे देवा:, साध्या इति पठितम्।... अत्र विश्व-शब्द: सर्व-पर्याय इति यास्कस्य मतम्। देवविशेषस्यैव लिङ्गम् इति शाकपूणेर्मतम्' (१।३।७) यहाँपर श्रीसायणाचार्यने स्पष्टतया देवयोनि ही अर्थ किया है, वादीकी भाँति 'विद्वान्' अर्थ नहीं किया।

आगे श्रीसायण लिखते हैं—'विश्वे इत्यस्य विशेषणं देवास इति। दीव्यन्तीति देवा: प्रकाशवन्त:। विश्वे देवास इति'। यहाँ वही हमारी कही हुई बात श्रीसायणने भी कही है कि-'देव' शब्द यहां 'विश्वे' का विशेषण है; अत: यौगिक है, इसलिए 'प्रकाशवन्त:' अर्थ है। स्वर भी विशेषणका है।

तब यहाँ श्रीसायण पूर्वपक्ष करते हैं—'ननु अवयव-प्रसिद्धे: समुदाय-प्रसिद्धिर्बलीयसी, इति रूढ्यर्थो देवशब्दस्य ग्राह्य:, न यौगिक:' यह प्रश्न बिल्कुल ठीक है कि-यौगिक अर्थसे रूढ-अर्थ बलवान् होता है; तब 'देव' शब्दका रूढ ही अर्थ किया जाना चाहिये, यौगिक क्यों किया जाता है?

'यौगिकत्वे हि अवयवार्थानुसन्धान-व्यवधानेन प्रतिपत्तिर्व्यवहिता स्यात्। समुदाय-प्रसिद्धौ तु न विक्षेप इति' (यह भी ठीक है। क्योंकि यौगिक अर्थ होनेसे अर्थकी कोई सीमा न होनेसे अर्थका ठीक ज्ञान ही नहीं होता। अब इसपर श्रीसायण उत्तरपक्ष देते हैं-) इति चेन्न—समुदायप्रसिद्धौ हि देवशब्दस्य सामान्यपरतया विशेषवचनत्वाभावाद् 'विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्' (पा. ८।१।७४) इत्यनेन अनिषिद्धत्वाद् विश्वे इत्यस्य अविद्यमानवत्त्वेन 'शुभस्पती' इति पदवद् देवास इत्यस्य आद्युदात्तत्वं स्यात्। स्वरानुसारेण रूढित्यागेनापि 'देव' शब्दस्य योगस्वीकारो युक्त एव' (१।३।७)।

बात साफ हो गई। वादीने इसका पाठ भी किया। इसे अपनी 'नोटबुक' में नोट भी किया, पर आश्चर्य है कि-इसके समझनेकी चेष्टा नहीं की। श्रीसायणका तात्पर्य यह है कि-'विश्वे' शब्द ही यहाँ देव-वाचक है, क्योंकि-श्रीशाकपूणिके अनुसार देवविशेषका लिङ्ग होनेसे संज्ञाशब्द है; अत: विशेष्य है, यहाँ 'देवा:' शब्द उसका विशेष्य नहीं, किन्तु उसका 'विशेषण' है! स्वर भी वैसा है। इसलिए व्याकरणानुसार स्वरके कारण विशेषण होनेसे 'देव' शब्दका यहाँ 'यौगिक' अर्थ करना चाहिये, विश्वेका रूढ देवविशेष अर्थ करना युक्त है। यह यहाँ श्री-सायणका आशय है।

श्रीसायणने केवल यहाँ, न कि सर्वत्र नैरुक्त विशिष्ट-विद्वान् श्रीशाकपूणिके अनुसार स्वर ले लिया। उसके कारण ही 'देव' शब्दका यौगिक-अर्थ किया। सब जगहकेलिए उसने वैसा सिद्धान्त नहीं प्रदर्शित

किया। वादीने श्रीसायणके उद्धरणका अर्थ करते हुए 'स्वरानुसारेण' का भी अर्थ छिपा लिया, जैसेकि उसकी सदाकी दुष्प्रकृति रही है।

यदि श्रीसायणाचार्य श्रीयास्कके अनुसार 'विश्वे'का अर्थ 'सर्वे' करते; तब 'देवा:' के विशेष्य होनेसे उसे रूढ बनाना पड़ता। तब श्रीसायणाचार्य 'देव' शब्दका यौगिक अर्थ न करते। क्योंकि—विशेषण सदा यौगिक होता है, और विशेष्य रूढ या योगरूढ होता है। अन्य सहस्रों स्थलोंमें स्वरकी बात न होनेसे श्रीसायणचार्यने 'देव' शब्दका प्रकरणानुसार रूढ वा योगरूढ ही अर्थ किया है? तब यहाँ विशेषणता-स्थलमें यौगिक-अर्थ करनेसे वादीके पक्षकी श्रीसायणाचार्य-द्वारा कभी सिद्धि हो ही नहीं सकती।

वादीको यह कई बार बताया जा चुका है कि—जहाँ 'देव' शब्द विशेष्य हो, वहां तो उसका रूढार्थ देवयोनिका होगा। जैसाकि—श्रीसायणादिने स्थान-स्थानपर किया ही है। वहां यौगिक अर्थ कभी नहीं होगा, किन्तु सदा रूढ वा योगरूढ ही अर्थ होगा। पर जब वह विशेषण हो जाय, वा स्वरविशेषवश विशेषण हो जाय; तो उसका रूढ अर्थ न होकर केवल यौगिक ही अर्थ होगा। यहां श्रीसायणाचार्यने स्पष्ट किया है कि—स्वरके अनुसार 'देव' शब्द 'विश्वे देवा:' में 'विधेय' विशेषण है; तब विशेषणतामें यौगिकता स्वाभाविक ही होती है। अब वादी बतावे कि इसमें हमारे पक्षकी क्या क्षति है? विशेषणतामें यौगिकता होना तो हम भी यत्र-तत्र बता ही चुके हैं।

'परमात्मा स्वामी दयानन्दोस्ति' इस वाक्यमें 'दयानन्द' परमात्माका विधेय-विशेषण है; तब यहां वादीके रूढि वा भारतधर्ममहामण्डलके रूढ स्वा.द.को नहीं लिया जावेगा। प्रकृत-स्थलमें 'विश्वे' शब्दसे देवविशेष सिद्ध होनेपर 'देव' शब्दका श्रीसायणाचार्य 'प्रकाशमान' यह यौगिक अर्थ बता रहे हैं।

ऋ. १०।१५६।४ में श्रीसायणने 'यद्वा हे यष्टव्या देवा:' यह देवयोनिका अर्थ माना ही है, जिसे वादीने अपनी सदाकी 'दुष्प्रकृति'-वश छिपा दिया है। हाँ, ऋत्विगादिकी विशेषणताकी विवक्षामें श्रीसायणाचार्य भले ही 'देव' शब्दका 'यौगिक' अर्थ कर डालें, इससे हमारे पक्षकी थोड़ी-सी भी क्षति नहीं! देवयोनि वेदसे सिद्ध ही है। श्रीसायणने वादियोंकी तरह 'देव' शब्दकी विशेष्यतामें कहीं 'विद्वान्' अर्थ नहीं किया। तब वादीके पक्षका मूल ही उन्मूलित हो गया। अब पहलेके प्रकरणपर चलिये।

पृ. २०८ भविष्यपुराणका वचन वादी देता है—'ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये शुचयोऽमलाः। तेषां मन्त्राः प्रदेया वै न तु संकीर्णधर्मिणाम्' (उत्तरपर्व ४।१३।६२-६३) यहाँ पौराणिक मन्त्र बताये गये हैं। देखो पृ. २०९-२१० में। वहां भविष्यपुराणके पौराणिक मन्त्र भी हमने दिखलाये हैं। यह है इस वादीका जनवञ्चन। पूर्वापर छिपाकर यह लोगोंको धोखा देता है। तब 'सा च मन्त्रान् प्रगृह्णातु स-भर्त्री तदनुज्ञया' इस ६३ पद्यका समाधान भी हो गया। पुराणके पद्योंको स्त्रीको पढ़ाकर यदि वादी उन्हें वेदके कह देता है; तब उसका पक्ष अवश्य सिद्ध हो गया। तब अब वह पुराणोंको भी वेद मान ले, हम पौराणिक-मन्त्रोंका निषेध कभी सिद्धान्तित नहीं करते।

पृ. २०९ स्त्रियोंका वादी अग्निपुराणसे परिव्रजन (संन्यास) बताता है। इससे उसकी कुछ भी पक्षसिद्धि नहीं। संन्यासियोंको तो यज्ञोपवीतका भी जलमें प्रवाह कर देना पड़ता है। शिखाका भी मुण्डन करना पड़ता है। तब क्या वादीकी कुमारियाँ शिरोमुण्डन कराकर संन्यासिनियाँ बनेंगी?

आगे 'स्त्रियोपि विद्याध्ययनाध्यापनाधिकारिण्यो भवन्ति' यह वादीने लिखा है—यह कोई वहाँ प्रमाण नहीं है। यह तो काशीशेष-वेङ्कटाचल शास्त्रीने 'लघुत्रिमुनिकल्पतरुमें' पूर्वपक्षका शीर्षक दिया है। उसीने वहांपर उत्तरपक्षमें वह पद्य दिया है—'अश्मारोहणमारभ्य स्त्रीणां

गौर्यर्चनं परम् । पुराण-पठनं श्रेयो न वेदाध्ययनादिकम' इससे स्त्रियोंको वहाँ वेदाध्ययनका निषेध किया है । देखो उसका पृ. (१४) ।

पृ. २१० श्रीमित्रमिश्रके 'अत एव संन्यास-ब्रह्मजिज्ञासादिकमपि उपनीतानामेव स्त्रीणां घटते' इस वाक्यका हम पूर्व उत्तर दे चुके हैं कि–संन्यासियोंका तो उपवीत नहीं होता, शिखा भी नहीं । उनको मुण्डित होकर रहना पड़ता है । तब क्या वादी आर्यसमाजिन स्त्रियोंका रुण्ड-मुण्ड करावेगा ?

पृ. २१०-२११ आगे वादी 'अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत' साममन्त्र ब्राह्मण १-३ से कन्याओंका अग्निहोत्र बताता है । वादीको जानना चाहिये कि–यह वादीके अनुसार वेदका मन्त्र नहीं है । अग्नि भी स्मार्त है, श्रौत नहीं । अतः इससे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं ।

'स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्' (ऋ. १०।२७।१२) यहाँ भी वादी यदि स्वयंवर मानता है; तो श्रीसायणने वहाँ लिखा ही है–द्रौपदी-दमयन्ती आदि क्षत्रियाओंका यह बताया है, सर्व-साधारणका नहीं । यदि वह अपनी लड़कियोंका स्वयंवर ठीक नहीं मानता, तो 'इन्द्रं मित्रं' (१।१६४।४६) इस मन्त्रके अनुसार इन्द्र तथा मित्र (सूर्य) देवता यहाँ इष्ट हैं । इससे वादीकी कुछ भी पक्षसिद्धि नहीं । देवी-देवताओंकी पूजा वैदिक है और वह वेदसम्मत है । इसपर 'आलोक' (११) पृ. २८८-३०७ में अथवा 'आलोक' (७) पृ. ५९६-६०३ में देखो ।

जोकि वादीने पृ. २११ में लिखा है—'वेदाध्ययनादि धार्मिक और यज्ञादि सामाजिक अधिकारोंसे स्त्रियोंको वञ्चित करके उन्हें पर्देमें बन्द कर दिया गया; और वे बेचारी स्त्रियाँ पुराणोंकी असङ्गत कथाओंको सुनने और सहस्रों देवी-देवताओंकी पूजामें दिन व्यतीत करने लगीं, यह देवनिन्दक वादी ऐसा कहता हुआ वेदानभिज्ञ मालूम पड़ता है । वेदमें स्पष्ट लिखा है—'उत त्वा स्त्री शशीयसी-पुंसो भवति वस्यसी । अदेव-

त्राद् अराधसः'...देवत्रा कृणुते मनः' (ऋ. ५।६१।६-७) (उस देवनिन्दक वादी-जैसे पुरुषसे देवताओंमें मन लगानेवाली स्त्री बहुत अच्छी है) । देवताओंमें श्रद्धा रखनेवालोंसे वेद बहुत प्रसन्न रहता है, और कहता है-"यः श्रद् दधाति-'सन्ति देवा इति' चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड' (अथ. ११।२।२८) इस मन्त्रका अर्थ आर्यसमाजी श्रीराजाराम शास्त्री लिखते हैं—'जो विश्वास रखता है कि—देवता हैं, इसके दौपाये और चौपायेकेलिए दयावान् हो' । इस देवनिन्दक वादीने अपने आत्माका हनन करके देव-पूजाको उडाया है, इससे उसको अपगति प्राप्त होगी ।

आर्यसमाजी श्रीगङ्गाप्रसादजी एम.ए. कार्यनिवृत्त मुख्य न्यायाधीश (टिहरी) ने 'वैदिकधर्म' (अप्रेल १९५०) में 'क्या मनुष्यसे उच्च श्रेणी की देवयोनियोंका मानना आर्यसमाजके सिद्धान्तसे विरुद्ध है ?' इस लेखमें ठीक ही लिखा था कि–'वेदमन्त्रोंमें केवल मनुष्योंमें ही देव-शब्दका प्रयोग सीमित रखकर और मनुष्येतर कोई देवयोनि देव पितर, गन्धर्व आदि न मानकर अर्थ करनेमें बहुधा कठिनाई पड़ती है' ।

इस प्रकार उन्होंने 'सार्वदेशिक' (सित. अक्टू. १९४९) में पितृ-विषयक लेख लिखकर सिद्ध किया था कि–मृत्युके पश्चात् जीवका जन्म एकदम नहीं हो जाता, उस समय तक जीव, परलोक और लोकान्तरोंमें [देवादि-योनियोंमें] रहकर फिर इस मनुष्यलोकमें आता है ।'

यह लेख श्रीन्यायाधीशजीका प्रायः ठीक था । यदि वेदमें पितृ-देवयोनि वास्तविक विषय मान लिये जावें; तो शास्त्रोंमें वादी-जैसे लोगों द्वारा पूर्वापरको छिपाकर जो प्रक्षिप्तताके अडङ्गे लगाये जाते हैं, वे बहुत कुछ दूर हो जावें । मन्त्रों आदिके अर्थोंमें जो आजकल खींचा-तानी की जाती है, वह भी दूर हो जावे । फिर सनातनधर्म और आर्य-समाजमें जो चौड़ी खाई दीखती है, उसका भी अन्त हो जावे ।

इस विषयमें हमने 'आलोक' के ४र्थ पुष्पमें ४०५ पृ. से

४३७ पृ. तक स्पष्ट किया है। पर वादी-जैसे कट्टर-दयानन्दी नहीं चाहते; अतः वे असत्य-व्यवहारमें लगे हुए दयानन्दी रेतीली दीवारके यथा-कथञ्चित् खड़ा करनेमें ही अपना अस्तित्व मानते हैं।

जो असङ्गत पद्य पुराणोंमें वादी अपनी खराब दृष्टिवश कहता है; वे तो ऐसे हैं; जैसे कि—कई लाख गेहूंके दामोंमें १०० दानें किसी विकृत-दृष्टिवालेकी दृष्टिमें खराब हों, उनका ढूंढना भी कठिन हो जावे।

देवी-देवताओंकी तो वेदमें भी कई सहस्र संख्या मिलती है। उनका यौगिक अर्थ करके परमात्मा अर्थ करते जाओ; तब तो कई लाख व्यक्तियोंके भी यौगिक अर्थ करते जाओ; तब एक परमात्मा अर्थ हो जावेगा; तब उन सब व्यक्तियोंकी सत्ता भी मत मानो—इस विषयमें १२वें पुष्प पृ. २८८-३०७ में देखो। 'देवानां नामधा एव एव' (१०।८२।३) वह परमात्मा देवताओंके नाम वाला है; इससे देवताओंकी अनुता स्वाभाविक सिद्ध हुई। वेदमें केवल यौगिकता नहीं; किन्तु उसमें तो यौगिक, रूढ, यौगिक, यौगिक-रूढ—यह चार प्रकारके शब्द हैं। रूढिमें भी तो धातु होती ही है।

पृ. २१२ आगे वादी 'भारती' का उदाहरण देता है, वह तो सरस्वती देवताका अवतार थी—इस विषयमें पृ. ४१४-४१६ में देखो। तब उसमें नवीनता क्या रही? शेष रही शास्त्रार्थकी मध्यस्थता; सो उसने कुछ भी मध्यस्थता नहीं की। वह तो दोनोंको माला पहराकर घरके काममें लग गई, और कह गई कि—जिसकी माला म्लान हो जाय—उसकी पराजय समझ लेनी होगी। इस विषयमें पृ. २२७-२३३ देखो। उसमें वादी पिस गया, उसकी हड्डी पसली तक साबित नहीं बची।

पृ. २१४ आगे वादी लोगोंकी आंखोंमें धूल झोंकता हुआ कहता है कि—भारती देवीने एक विशेष-शास्त्रविषयक ऐसे प्रश्न कर डाले कि—उन्हें १ मासका अवकाश उत्तर देनेकेलिए मांगना पड़ा', कोई विशेष-

शास्त्रका प्रश्न भारतीने नहीं किया, किन्तु कामशास्त्रका प्रश्न एक संन्यासीके आगे कर डाला। वह जानती थी कि—शंकराचार्य बालब्रह्मचारी हैं; इधर संन्यासी हैं; अतः कामशास्त्र-सम्बन्धी प्रश्न उनपर कर दिया। इस विषयपर वादी श्रीमत्शङ्कर-दिग्विजयके एक-दो पद्य देखे, जिन्हें उसने लोकदृष्टिसे छिपाकर जनवञ्चन किया है। वह यह हैं—

'अथ शारदा कृतकवाक्प्रमुखेष्वखिलेषु शास्त्रनिचयेषु परम्। तमजय्यमात्मनि विचिन्त्य मुनिं पुनरप्यभिदधं तरसा' (९।६६) (भारतीने सोचा कि—आचार्य शङ्कर बहुत बड़े विद्वान् हैं, मैं इनको कभी जीत नहीं सकती।)

'अतिबाल्य एव कृतसंन्यसनो नियमैः परैरविधुरश्च सदा। मदनागमेष्वकृत-बुद्धिरसौ तदनेन सम्प्रति जयेयमहम्' (९।६७) (आचार्य शङ्करने बाल्यावस्थामें संन्यास ले लिया था; दूसरे नियम भी पूरे किये हुए हैं। इसलिए इनको कामशास्त्रका ज्ञान तो होगा नहीं, अतः कामदेव-सम्बन्धी प्रश्न पूछकर इन्हें जीतूं।)

पाठकगणने देख लिया भारतीकी तथा वादीकी चालाकी। भारतीकी चालाकी ता स्पष्ट है ही। वादीकी चालाकी यह है कि—उसने इन पद्योंको छिपा दिया। यह वादीके आचार्य थोड़े थे कि—आचार्य शङ्करको कामके आकर्षण-विकर्षण आदिका ज्ञान होता; तब यदि इस विषयमें उन्होंने मोहलत मांगी, इससे न आचार्य शङ्करका कुछ लाघव था, और न ही भारतीका कुछ गौरव था। बल्कि यहां तो यह समझना चाहिये कि—ऐसा करनेसे भारतीका लाघव था, और आचार्य शङ्करका पूरा महत्त्व था।

(ङ)

अब जोकि वादीने शास्त्रार्थमें भारतीकी मध्यस्थताकेलिए तथा शङ्कराचार्यको अवकाश मांगनेकेलिए भारतीका महत्त्व बताया है। इसपर वादीको याद रखना चाहिये कि—वे जानते थे कि—भारती सरस्वती-

देवताका अवतार है। देखिये निम्न पद्यको जिसे वादीने लोकदृष्टिसे छिपाकर जनवञ्चन किया है—वह यह है—'विधाय भार्यां विदुषीं सदस्यां विधीयतां वादकथा सुधीर ! इत्थं सरस्वत्यवतारताज्ञो तद्धर्मपत्न्याः तमभाषिषाताम्' (८) (५१) यहां कहा है कि–दोनों जानते थे कि—भारती सरस्वती देवताका अवतार है; तभी यह प्रस्ताव रखा गया था। पर भारतीने मध्यस्थता कुछ नहीं की; वह तो दोनोंको माला पहराकर मालाकी म्लानताको ही पराजयका चिन्ह बताकर घरके कामोंमें लग गई। देखिये इस विषयके एक पद्यको जिसे वादीने छिपाकर जनवञ्चन किया है। वह यह है—

'एवं विजेतुमनसोरुपविष्टयोः तां मालां गले न्यधित सोभयभारतीयम्' (८।६७) 'माला यदा मलिनभावमुपैति कण्ठे यस्यापि तस्य विजयेतर-निश्चयः (पराजयः) स्यात्। उक्त्वा गृहे गतवती गृहकर्मसक्ता' (८।६८) इसका भाव पहले बताया जा चुका है। अतः बादीका भारतीके मध्यस्थताके प्रश्नका भारतीका गौरव व्यर्थ हो गया।

जोकि वादीने भारतीका 'सर्वाणि शास्त्राणि षडङ्ग-वेदान् काव्यादिकान् वेत्ति परं च सर्वम्। तन्नास्ति नो वेत्ति यदत्र बाला। तस्माद् अभूच्चित्रपदं जनानाम्' (३।१६) इस पद्यसे गौरव गाया है—इस पद्यका अन्तिम दो पादोंका अर्थ वादीने छिपा दिया। इसका अर्थ है कि–भारती जब बाला-बच्ची थी; तो उसे सब शास्त्रोंका ज्ञान था; अतः लोग चकित हो रहे थे। तब क्या वादी बता सकता है कि--बच्चीको सब शास्त्रों, सभी वेदवेदाङ्गों पाङ्ग, आदि बचपनमें स्वतः कैसे आ गये; तभी तो लोग हैरान होते थे। स्पष्ट है कि--भारती सरस्वती-देवताका अवतार थीं। आरूढपतित थी।

विदुरनीतिके 'आत्मज्ञानं समारम्भः' इस पण्डितके लक्षणमें वादीने 'मक्खीको मलमल कर भैंसा' बनानेकी चेष्टा की है; अतः उससे वादीकी

इष्टसिद्धि नहीं। यह हम श्रीमध्वाचार्यके वचनोंमें स्पष्टता कर चुके हैं। आगे 'वेदके बिना आत्मज्ञान' नहीं मिलता'। यह तो वादीका कथन व्यर्थ है।

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' में 'वेद' के शब्द इष्ट नहीं; किन्तु उसका अर्थ इष्ट है। वह अर्थ 'अनादि-प्रचलित सृष्ट्यादिजात-पुराणोंसे भी स्त्री-शूद्रादिको मिल सकता है। द्रौपदीको 'सर्वधर्मविशेषज्ञा' कहनेसे भी वादीकी कुछ इष्टसिद्धि नहीं। पतिव्रता पति आदिसे सब धर्मविशेषोंका ज्ञान प्राप्त कर सकती है।

पृ. २०४ 'वेदा अप्युत्तम-स्त्रीभिः कृष्णाद्याभिरिहाखिलाः' इस मध्वाचार्यके प्रमाणका अकाट्य प्रत्युत्तर पृ. २४७-२५२ में दिया जा चुका है। स्वा. आनन्दतीर्थ 'स्त्रीभिर्वेदान् विना' यह कहते हैं।'

पृ. २०४ 'क्षत्रवर्णरता दान्ता विदुला दीर्घदर्शिनी। विश्रुता राजसंसत्सु श्रुतवाक्या बहुश्रुता' इस पद्यको देकर वादी क्या सिद्ध करना चाहता है ? जिस समयका यह वर्णन है, उस समय द्विजोंकी भाषा तो संस्कृत थी। तब यदि विदुला संस्कृतभाषामें बोलती थी; तो इसमें उसकी क्या विशेषता हुई ? उसने पिताके पीछे आलसी बनकर बैठे हुए अपने क्षत्रियकुमारको अपना राज्यपद पानेकेलिए प्रोत्साहित किया था; इन्हीं बातोंके कारण वह राजसभाओंमें प्रसिद्ध हो गई थी–यह नहीं कि-वह राजसभाओंमें लैक्चर करने जाती रहती थी। किसी राजाकी माता यदि पुत्रको इस विषयकेलिए प्रेरित करती है; इसी बातसे वह राजसभाओंमें प्रसिद्ध हो गई हो; इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। 'कथं नाम स्त्री सभायां साध्वी स्यात्' इस महाभाष्यकारके मतको वादीने शायद आक्षेपकेलिए उद्धृत किया हो; तब क्या ऐसा लिखने वाले महाभाष्यकारको वादीके अनुसार कुछ भी ज्ञान न था ? वे क्या वेद-वेदाङ्गोंको जाननेवाले नहीं

है ? यह दयानन्दीपना होता है, किसीके आगे चाहे वह कोई निकम्मा-सा टीकाकार हो; ज़रा कोई ऐसी वात लिख दे; जिससे कोई दयानन्दी-बातकी झलक मिलती हो। उसे तो अपनी आंखोंपर विछानेको तैयार हो जाते हैं; पर यदि कोई भारी भी वेदविद्वान् हो; जब दयानन्द-सिद्धान्तसे विरुद्ध लिख दे; तो उसे वेदानभिज्ञ तक कहकर उससे अपनी आँखें फेर लेते हैं। यह है इन दयानन्दियोंकी काली करतूत !!!

महाशय; समझ जाओ—यह जो महाभाष्यकारने लिखा है कि-'कथं नाम स्त्री सभायां साध्वी स्यात्' यह तो उन्होंने वेदानुकूल ही लिखा है। देखो आपकी प्यारी बृहदारण्यकोपनिषद्की आपकी प्यारी कण्डिका—'अथ य इच्छेद दुहिता मे. पण्डिता जायेत' (शत. १४।९।४।१६) यह कण्डिका लड़कीकेलिए ब्राह्मणभागात्मक वेदने लिखी है। अब वादी वहाँकी लड़केकेलिए कण्डिका देखे—'पुत्रो मे पण्डितो विजिगीथ:, समितिङ्गमः, भाषिता जायेत, सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' (शत. १४।९।४।१७) यहां लड़केकेलिए पण्डित होना अलग लिखा है, वेदोंका पढ़ना अलग लिखा है, समितिङ्गमः-सभा-सोसायटियोंमें जानेवाला अलग कहा है; भाषिता (व्याख्याता) अलग कहा है।

अब वादी बोले कि—लड़की-लड़केको 'पण्डित' जिसका अर्थ बुद्धिमान् होता है, कहा है—यह तो दोनोंकेलिए बराबर ही है। अब भेद देखिये लड़केकेलिए एक वेद, फिर दो वेद, फिर तीन वेद, फिर सारे वेदका प्रवचन करनेवाला कहा है, लड़कीकेलिए वेदका एक अंश भी नहीं कहा; इससे सिद्ध हुआ कि—लड़कीको वेद पढ़ाना वेदविरुद्ध है ?

अब आगे चलिये—लड़केकेलिए समितिङ्गमः, भाषिता (सभाओंमें जानेवाला और व्याख्याता) होना कहा है, लड़कीकेलिए 'समितिङ्गमा' सभाओंमें जानेवाली क्यों नहीं कहा ? इसलिए ब्राह्मणभागात्मक वेदकी दृष्टिमें लड़कीका सभा-सोसायटियोंमें जाना—यह वेदविरुद्ध सिद्ध है; तो यदि वेदविद्वान् महाभाष्यकारने 'कथं च स्त्री नाम सभायां साध्वी

स्यात्' ? यह लिखा है—यह वेदानुकूल ही है, फिर उनमें वादीके द्वारा फबतियोंके कसनेका अवकाश क्या रहा ? 'भाषिता' भी लड़केकेलिए कहा है—लड़कियोंकेलिए नहीं; तब विदुलाका वादी सभाओंमें लैक्चर कैसे दिखलाता है ?

[कम्पोजीटरने हमारी मूलप्रतिके कई कागजोंका खो जाना सूचित किया था; हमने उसपर कुछ और लिख डाला था। पिछला फर्मा सामने नहीं था। यदि इससे कहीं पुनरुक्ति प्रतीत हो रही हो; पाठक उसका कारण समझ लें। परन्तु पूर्वकी अपेक्षा पुनरुक्तिमें भी पाठकोंको कुछ विशेषता ही मिलेगी]

विदुलाके विषयमें वादीने महाभारतसे उसका इतिहास दिया है, और 'कथं नाम स्त्री सभायां साध्वी स्यात्' इस भाष्यकारके विधिशास्त्रसे उसका विरोध दिखलाया है, यह व्यर्थ है। इतिहास हजार भी हों, उन्हें एक भी विधिशास्त्र विध्वस्त कर दिया करता है। उसी महाभारतमें लिखा है—पहले स्त्रियां विवाह नहीं किया करती थीं; और नङ्गी रहती थीं। तब क्या वादी इसे वैध मान लेगा ? केवल भाष्यकारने ही नहीं, वल्कि मन्त्रभागात्मक वेदने भी 'सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्' (यजुः २२।२२) यह कहकर पुरुषकेलिए 'सभायां साधुः' कहा है, स्त्रीकेलिए नहीं।

ब्राह्मणभागात्मक वेदने भी 'समितिङ्गमः' (शत. १४।९।४।१७) पुत्र-वाले वाक्यमें उसका सभामें गमन आदिष्ट किया है, दुहितावाले वाक्यमें ऐसा आदेश नहीं। सो जो अपवाद-इतिहास वेदविरुद्ध हो; और फिर धर्म-शास्त्रके अनुकूल भी न हो; वह उदाहर्तव्य नहीं होता।

'कथं हि स्त्री नाम सभायां साध्वी स्यात्' इस महाभाष्यकारके विधिवाक्यपर छिपे-छिपे आक्षेप करनेवाले, भाष्यकारकी अपेक्षा अल्पश्रुत वादीने कभी सोचा है कि—महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलि केवल व्याकरणके

ही शुष्क पण्डित नहीं थे; बल्कि वेद एवं धर्मशास्त्र तथा दर्शनादि सभी शास्त्रोंके वे प्रकाण्ड पण्डित थे। भाष्यकार स्त्रीका सभामें जाना धर्मसे विरुद्ध समझते थे।

देखिये — वादिप्रतिवादिमान्य महाभारतमें वादीके शब्दोंमें 'पण्डिता' द्रौपदीने यह शब्द कहे थे।—'न दृष्टपूर्वा वाऽन्यत्र साऽहमद्य सभां गता !' (६९।६) (मैं घरके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं देखी जाती थी; पर आज मुझे सभामें ले जाया गया है ?) 'किन्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा। सभामध्यं विगाहेद्य दृश्यास्मि जन-संसदि' (सभापर्व ६९।६) (इससे बढ़कर क्या दुःख होगा कि—आज मैं सभामें दीख रही हूं)।

'किन्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री-सती शुभा। सभामध्यं विगाहेऽद्य क्व नु धर्मो महीक्षिताम् ?' (९) (यह कितनी बुरी बात है कि—मुझ सती-स्त्रीको सभामें लाया गया है! राजाओंका धर्म कहां गया ?

'धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति नः श्रुतम्। स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः' (९।१०) (धार्मिक स्त्रीको पूर्वके लोग सभी सभामें नहीं लाते थे। कौरवोंमें यह सनातनधर्म कैसे नष्ट हो गया ? इससे वादीका पक्ष कट गया।)

'भर्त्रा परम-पूजिता' का अर्थ 'तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः' (मनु. ३।५९) के अनुसार भूषणादि-दानसे उनका सम्मान आदिष्ट है; इसमें अन्य कुछ भी अभिप्राय नहीं होता; कि—भर्ता उसके पैरों पड़ा करते थे।

पृ. २०५ आगे वादीकी प्रतारणनीति देखिये। वह लिखता है— 'यहां 'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः' इन वैदिक-आदेशोंका तात्पर्य है, जिनको जलपरक मानकर शास्त्रीजी भ्रममें पड़े हैं;. जबकि वहाँ-जलके समान शान्तिशीला विदुषियोंकेलिए हैं'।

हम इस मन्त्रके किये वादीके अर्थकी अयुक्तता विनियोग तथा देवता

आदिके अनुसार पृ. ७१९-२० में बता चुके हैं, जिसपर वादी कुछ भी हाथ-पैर नहीं मार सका है।

जब उक्त मन्त्रमें वादीने 'जल' का अर्थ भ्रान्त बताया; तब स्वयं उससे लज्जित न होते हुए उसने अर्थ बदलनेकी चेष्टा की। महाशय; उक्त मन्त्रमें जल विशेष्य है; तब उसे उपमान बना देना कितना गलत है? उपमान कभी विशेष्य नहीं होता; किन्तु विशेषण हुआ करता है। आश्चर्य तो यह है कि—यह लोग कभी तो उदयनारायणसिंहकी टीकातकको वेदसे भी बढ़ा दिया करते हैं; और कभी वेदके अङ्ग-भङ्ग करनेपर भी नहीं चूकते। यही इनकी वेदभक्ति है। यह वैदिकता नहीं है, किन्तु स्पष्ट वेदको अपने गलत सिद्धान्तोंके पीछे चलाना है।

वयुना, तथा धारिणी ब्रह्मवादिनियोंपर हम पूर्व बता चुके हैं। भागवत, विष्णुपुराण, मार्कण्डेयपुराणमें भी उन्हीं दोका नाम है; वादीने उनकी संख्या बढ़ानेकेलिए उन दोको भिन्न-भिन्न गिन डाला है।

वेदवतीपर भी हम पहले (पृ. २३७-३८) लिख चुके हैं; वह बिना पढ़े ही जन्मते ही मन्त्र बोलने लग गई थी; वादी भी ऐसी वेदवतियोंको पैदा करे। कन्या-गुरुकुलोंपर व्यर्थका खर्च न करे।

पार्वतीके जनेऊपर विचार।

पार्वतीके यज्ञोपवीतपर भी हम पूर्व लिख चुके हैं। अब यहां कुछ विशेष लिखते हैं। वादीने यह श्लोक दिया है—'ततः शैलवरः सोपि प्रीत्या दुर्गोपवीतकम्। कारयामास सोत्साह वेदमन्त्रैः शिवस्य च' (रुद्रसं. पार्वतीखं. ४७।१) और उसने अर्थ भी एक टीकाकारका लिख डाला; (शैलराजने वेदमन्त्रोंसे शंकर और पार्वतीका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया')

चूंकि इसमें वादीको कुछ अपने पक्षकी गन्ध आ गई, अतः उसने 'श्री १०८ ब्रह्मचारी इन्द्रजी महाराज' यह शब्द लिख डाले। जब अपना पक्ष दीखे; तो अर्थ लिखनेवाले श्री १०८ भी बन जाते हैं; और

'महाराज' भी; यदि अपना पक्ष बिगड़ता दीखे; तो वेदमन्त्रपर भी छुरी फेर दी जाती है; जैसेकि-'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः' मन्त्रपर वादीने छुरी चला दी थी। यह सभी दयानन्दियोंकी जन्मसिद्ध करतूत है।

अब हम वादीके दिये अर्थपर ऊहापोह करते हैं। वह बतावे कि-यज्ञोपवीत ब्रह्मचर्याश्रमके आरम्भमें होता है; वा गृहस्थाश्रममें? उस समय शिव तथा पार्वतीकी कितनी आयु थी.? तब क्या वे इतनी आयु तक यज्ञोपवीतसे हीन थे? उन्हें 'व्रात्य' माना गया, या नहीं?

वादीको याद रखना चाहिये कि-'श्रुतिस्मृति-पुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (व्यास. १।४) (जहाँ वेद तथा धर्मशास्त्र एवं पुराणोंका परस्पर विरोध दीखे; वहाँ वेदको ही प्रमाण मानो। जहाँ स्मृति तथा पुराणमें विरोध दीखे; वहाँ स्मृतिकी बात माननी चाहिये,-पुराणकी नहीं।)

४।१।६२ न्यायसूत्रके भाष्यमें वादिप्रतिवादिमान्य श्रीवात्स्यायनमुनिने कहा है-'अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य, प्राणभृतां व्यवहारलोपाद् लोकोच्छेद-प्रसङ्गः'। (धर्मशास्त्रकी इतनी प्रमाणता है कि-उससे लोकव्यवहारकी सिद्धता होती है। यदि धर्मशास्त्रको अप्रमाण माना जावे; तो प्राणियोंके व्यवहारके लोपवश लोकोंका उच्छेद हो सकता है।)

'यज्ञो मन्त्र-ब्राह्मणस्य [वेदस्य]; लोकवृत्तम् इतिहासपुराणस्य, लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः' अर्थात् वेदका विषय 'यज्ञ' है, लोकवृत्त बताना कि-किसने क्या किया, यह पुराण-इतिहासका विषय है; और लोक-व्यवहार क्या होना चाहिये-यह बताना धर्मशास्त्र-का विषय है।)

'तत्र एकेन सर्वं न व्यवस्थाप्यते-इति यथाविषयम् एतानि प्रमाणानि इन्द्रियादिवत्' (एकसे सब व्यवस्थाएं नहीं हो सकतीं; अतः पुराण तथा

धर्मशास्त्र अपने-अपने विषयमें अधिक प्रमाण हैं।)

इससे स्पष्ट हुआ कि-पौराणिक-इतिहासमें जो इतिहास है; वा लोकसे व्यवहर्तव्य नहीं होता। लोक-व्यवहारकी व्यवस्था करना तो धर्मशास्त्र (स्मृति) का विषय होता है; तब वादीके इस पौराणिक-इतिहासकी अनुकर्तव्यता नहीं हो जाती। आप लोग कई पुराणोंसे आक्षेप-स्थल दिखलाते रहते हैं; वे क्या अनुकर्तव्य हो जाते हैं?

इसके अतिरिक्त वादीके दिये उक्त-पद्यसे भी उसका अर्थ सिद्ध नहीं होता। क्योंकि-विवाह जो गृहाश्रमका एक अङ्ग है; उसमें भला ब्रह्मचर्याश्रमके उपनयन-संस्कारकी कर्तव्यता आ ही कैसे सकती है? क्या उनको उस समय व्रात्य नहीं मानोगे? व्रात्यके साथ भला मनुस्मृति से विरुद्ध योनि-सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है—'नैतैरपूतैर्विधिवद् आपद्यपि हि कर्हिचिद्। ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धान् नाचरेद् ब्राह्मणः सह (मनु. २।३९-४०) जिनका ब्रह्मचर्याश्रममें जनेऊ नहीं होता; वे व्रात्य होते हैं; उनसे ब्राह्म-सम्बन्ध तथा योनि-सम्बन्ध आपत्तिकालमें भी नहीं करना चाहिये।)

उस उपनयनमें मुण्डन भी होता है; तब क्या उस समय शिव एवं पार्वतीका मुण्डन भी कराया गया? जब नहीं; तब स्पष्ट है कि-विवाहमें यह शिव-पार्वतीका जनेऊ नहीं; किन्तु वास्तविकता यह है कि-हिमालयने शिवको 'दुर्गोपवीत' नामक वैवाहिक वस्त्र पहराया। यहाँ पार्वतीको जनेऊ पहराया-पद्यमें कहीं लिखा भी नहीं है। पदोंकी विभक्त्यादिके अनुसार ही अर्थ-योजना हुआ करती है। अपनी इच्छानुसार नहीं।

और यहां सबसे बड़ी बात है कि—शिव और पार्वतीका देवता होना। देवताओंमें कई मनुष्य-व्यवहारसे विरुद्ध भी कर्म देखे जाते हैं; वे मनुष्योंसे अनुकर्तव्य नहीं हो जाते। स्वा.द.ने विवाह-संस्कारविधिमें

लिखा है कि—वर वधूको उपवस्त्र दे; और वह वधू उसको जनेऊकी तरह लपेट ले। इसी प्रकार शैलने भी शिवको दुर्गोपवीत एक वस्त्र-विशेष दिया; और उन्होंने उसे उपवीतकी तरह लपेट लिया; यह नहीं कि उनका उपनयन ही न रहा हो; वह तो उनका 'प्रजापतेर्यत् सहजं' स्वाभाविक हुआ करता है; अतः इससे वादीका पक्ष छिन्न-भिन्न हो गया।

पृ. २०८ आगे वादी पार्वतीदेवीका पुत्रका यज्ञोपवीतसं. कराना दिखलाता है। 'ततो घृतस्नानं कृत्वा पुत्रस्य गिरिजा स्वयम्। त्रिरावृत्तोपवीतं च ग्रन्थिनैकेन संयुतम्। (४२) सुदर्शनाय पुत्राय ददौ प्रीत्या तदम्बिका। उद्दिश्य शिवगायत्रीं षोडशाक्षर-संयुताम्' (४३)

यह उसका पक्ष विरुद्ध है। उस अध्यायमें यह पद्य है ही नहीं; अभी विवाह हो रहा है, अभी पार्वतीका लड़का कैसे पैदा हो गया ?

अन्य यह बात है कि—यज्ञोपवीतमें २४ अक्षरोंवाली ब्रह्मगायत्री दी जाती है। १६ अक्षरोंवाली शिव-गायत्री नहीं। कोई भी गायत्री-मन्त्र १६ अक्षरोंका नहीं होता। अतः यह पौराणिक उपवीत-विशेष है। सो पौराणिक-उपवीतमें कुछ प्रतिबन्ध नहीं होता। यज्ञोपवीत सदा आचार्य ही देता है, माता नहीं। अतः वादीके इन पद्योंसे वादीकी पक्षसिद्धि सर्वथा नहीं। फिर पार्वती एक देवता है। उसका जो भी कृत्य हो; वह मनुष्योंसे अनुकर्तव्य नहीं हो जाता। इससे हमारी पक्षहानि कुछ भी नहीं। सबसे बड़ी बात यह कि—यह यज्ञोपवीत नहीं; इसलिए यहां 'उपवीत' शब्द लिखा है; 'यज्ञोपवीत' शब्द नहीं। वादीका पक्ष सभी प्रकारसे विध्वस्त हो गया।

पृ. २०८ आगे वादी भविष्यपुराणके वचन देता है—'ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये शुचयोऽमलाः। तेषां मन्त्राः प्रदेया वै न तु संकीर्ण-धर्मिणाम्। स्त्री भर्त्रा वियुक्तापि...सा च मन्त्रान् प्रगृह्णातु सभर्त्री-तदनुज्ञया' यहाँ वादी धोखा देता है। उक्त स्थलपर वैदिकमन्त्र नहीं

बतलाये गये; किन्तु पौराणिक-मन्त्र ही है। इस विषयमें हम पृ. २०९-१० में स्पष्ट कर चुके हैं। पौराणिक-मन्त्रोंका स्त्री-शूद्रादिकेलिए निषेध नहीं है। फिर भी भविष्य-पुराणके वचनमें 'न तु संकीर्णधर्मिणाम्' कहकर अन्त्यजोंका निषेध किया है। इससे वादीका पक्ष कट गया। उसका वेद सर्वाधिकारवान् न रहा।

पृ. २०९ अग्निपुराणमें स्त्रियोंका संन्यास कहकर वादीने उसका 'स्त्रीणां प्रव्रजितानां तु' यह विना सङ्ख्याका आधा पद्य दिया है। संन्यासमें तो उपनयन हुआ ही नहीं करता। इससे स्त्रियोंके उपनयनकी सिद्धि नही। कुछ स्त्रियां त्यागरूप अवैध-संन्यास ले लेती हैं; इससे हमारे पक्षकी कुछ भी क्षति नहीं।

आगे वादी म.म. पं. शिवदत्तजीकी 'सिद्धान्तकौमुदी' की भूमिकासे 'स्त्रियोऽपि विद्याध्ययनाध्यापनयोरधिकारिण्यो भवन्ति' एक पाठ देता हैं, यह पं. शिवदत्तजीका नहीं है, किन्तु 'काशीशेष-वेङ्कटाचल-शास्त्रिकृत' 'लघुत्रिमुनिकल्पतरु' के पूर्वपक्षका वाक्य है। वहां उत्तरपक्षमें इसे काटा गया है, वहां लिखा है—'अश्मारोहणमारभ्य स्त्रीणां गोर्यचनं परम्। पुराणपठनं श्रेयो न वेदाध्ययनादिकम्' (पृ. १४) इससे वादीका पक्ष कट गया, क्योंकि—उसने पूर्वपक्षका पद्य तो दे दिया; उसके उत्तरपक्षको छिपा लिया—यह उसकी सदाकी दुष्प्रकृति रही है। श्रीमित्रमिश्रके विषयमें हम पूर्व लिख चुके हैं।

यह जो वादीने प्रमाण दिये हैं; इसपर वह लिखता है कि-इन पुस्तकोंमें वेदविरुद्ध प्रक्षेप भी हैं, वस्तुतः वादीका पक्ष ही वेदविरुद्ध है। उसका आधारभूत वेदवचन 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' यह मन्त्र है, इसमें ब्रह्मचर्यका अर्थ वेदाध्ययन नहीं; किन्तु उपस्थसंयम है। इस विषयमें हम पृ. ५५ से पृ. ७२ तक लिख चुके हैं।

पृ. २१०-११ आगे वादी साममन्त्रब्रा.का 'अर्यमणं नु देवं कन्य' अग्निमयक्षत' मन्त्र देकर लिखता है—इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि-

कन्याएं स्वयं भी अग्निहोत्र किया करती थीं, यह तो लाजाहोमका मन्त्र है; यह वेदमन्त्र भी नहीं है, किन्तु सौत्रमन्त्र है। यह अग्निहोत्रकेलिए नहीं; यह तो स्मार्तकर्म है। स्मार्तकर्ममें स.ध. भी स्त्रीकेलिए विधि-निषेध नहीं करता है। वह तो वैदिक-वैधकर्ममें स्वतन्त्रतासे उनका पतिसे पृथक् यज्ञ निषेध करता है-यह सिद्ध बात है; अत: वादीका पक्ष खण्डित है। तब वादीका 'य: कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना सम्प्रकीर्तित:। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स:' (मनु. २।७) इस प्रकार वेदानुवादक 'नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो' (५।१५५) इस मनुपद्यको प्रक्षिप्त बताता है। यह उसकी आहोपुरुषिकतामात्र है; हम इनपर पहले बहुत-कुछ लिख चुके हैं। जब उक्त मनुपद्य पतिके साथ स्त्रीका यज्ञाधिकार कह रहा है; तब वह इसे प्रक्षिप्त कैसे कह सकता है ?

फिर कहता है—'इसके पश्चात् बाल्यविवाह शुरू करके स्त्रियोंसे उपनयन और वेदाध्ययनाधिकार छीन लिया गया', यह वादीकी अपनी गप है। वेदाध्ययनाधिकार स्त्रियोंका शुरूसे ही निषिद्ध था।

आगे वादी लिखता है—'स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्' (ऋ. १०।२७।१२) तथा 'सखायौ इह सचावहै' अथर्व (६।४।२।१) यह जो वैदिक आदर्श था, उसे भुला दिया गया, स्त्रियां पतियोंकी दासियां समझी जाने लगीं। यह वादीकी अपनी गप्पें हैं। पहले मन्त्रको वादीने 'श्री' पत्रिकामें स्त्रीके स्वयंवरमें लगाया था, अब उसका अर्थ उसने बदल दिया। वस्तुत: इस मन्त्रमें स्त्रीकी इन्द्र-मित्र आदि देवताओंकी पूजार्थ कहा गया है; यह 'इन्द्रं मित्रं' यह मन्त्र वादिसमाजमें प्रसिद्ध है—सायणभाष्यका भी यही आशय है। दूसरे मन्त्रमें कौशिकविनियोगानुकूल स्त्री एवं पतिके क्रोधोपशमनार्थ कहा गया था।

यह लोग जनताको वरगलानेकेलिए वेदको तो सामने रखते हैं; पर स्वयं अपनी 'आल्हा' गाते हैं।

'स्त्रियां पैरोंकी जूतियां हो गईं', उन्हें पर्देमें बन्द कर दिया गया। पुराणोंकी वेदविरुद्ध असङ्गत कथाओंके सुनने और सहस्रों देवी-देवताओंकी पूजामें वे दिन व्यतीत करने लगीं।'

महाशय, यह तो वैदिकव्यवहार परम्परासे चला आता रहा है। आप लोग यौगिकताका बहाना बनाकर बिल्लीका अर्थ चूहा; तथा चूहेका अर्थ गधा करके वेदानभिज्ञ जनताको अपने काबू कर रहे हैं। देवताओंकी पूजा तो वैदिककालसे आ रही है। देखो वेदमें लिखा है—'उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्राद् अराधस:' (ऋ. ५।६१।६) 'देवत्रा कृणुते मन:' (७) देवताओंकी पूजासे हीन वादी-जैसे पुरुषोंसे वह स्त्री अच्छी है; जो देवताओंकी पूजामें मन लगाती है'। अब यह बात वैदिक सिद्ध हो गई, वादीका पक्ष कट गया। वेद कहता है-'य: श्रद्दधाति 'सन्ति देवा इति' चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड' (अथर्व. ११।२।२८) आर्यसमाजके श्रीराजाराम-शास्त्रीने इसका यह अर्थ किया है—'जो विश्वास रखता है कि-'देवता हैं, उसके दो पाये और चौपायेकेलिए दयावान् हो'। (जो देवताओंकी सत्ता मानता है, वह उत्तम पुरुष है।)

पृ. २१२ आगे वादी लिखता है—'बीच-बीचमें अनेक सुधारकोंका जन्म होता रहा, जो इन अवैदिक-प्रथाओंको दूर करनेका प्रयत्न करते रहे। यह कहकर वादी मण्डनमिश्रकी सुयोग्य धर्मपत्नी भारती देवी-जैसी महिलाओंका भी जन्म इस पवित्र आर्यावर्तमें हुआ, यह लिखकर बताता है, जिसके विषयमें शङ्कर-दिग्विजयने कहा है—

'सर्वाणि शास्त्राणि षडङ्ग-वेदान्, काव्यादिकान् वेत्ति परं च सर्वम्। तन्नास्ति नो वेत्ति यदत्र बाला तस्मादभूच्चित्रपद जनानाम्' (३।१६) (भारतीदेवी सर्वशास्त्र तथा अङ्गों सहित सब वेदों और काव्योंको जानती थी'।)

वादीने अर्थ करते समय फिर उत्तरार्धके अर्थको जनदृष्टिसे छिपाकर

जनवञ्चन किया, अर्थात् भारती अभी बच्ची ही थी कि वेदादि सभी शास्त्रोंका उसे ज्ञान था। यह देखकर लोग चकित हो जाते थे। तब क्या वादी बता सकता है कि—बच्चीको सभी शास्त्रों तथा षडङ्ग वेदादि सभी-का ज्ञान था। सभी लोगोंके आश्चर्यका विषय थी'।

बच्चीको भला इतना भारी ज्ञान कैसे हो सकता था कि बिना-गुरुके वह सभी कुछ जान जावे; वस्तुतः वह सरस्वतीदेवताका अवतार थी। और दुर्वासाके शापसे इस लोकमें आई आरूढपतित थी, पर वादीने इस आरम्भिक-इतिहासको जनदृष्टिसे छिपाकर जनताको वञ्चित किया। इसीको स्पष्ट करनेवाले इसके पूर्वके प्रकरणको देखिये—'शशाप तां दुर्विनयेऽवनीतले, जायस्व मर्त्येषु-अविभेत् सरस्वती' (३।१२) (दुर्वासाने सरस्वतीको शाप दिया कि—तू मनुष्यलोकमें जा)। दुर्वासाको सबने प्रसन्न किया; तब उसने शाप-मोक्ष दिया कि—'ददौ, यदा मानुषशङ्करस्य संदर्शनं स्याद् भवितासि-अमर्त्या' (३।१४) (जब हे सरस्वती; तेरा शङ्कराचार्यसे संवाद होगा; तब तू फिर मानुषीत्वसे हटकर देवता बन जावेगी।

'सा शोणतीरेऽजनि विप्रकन्या, सर्वार्थवित् सर्वगुणोपपन्ना। यस्या बभूवुः सहजाश्च विद्याः, शिरोगतं के परिहर्तुमीशाः' (३।१५) (वह दुर्वासाके शापसे सरस्वती देवी ब्राह्मण-कुमारी बनी। सभी बातोंको वह जानने वाली थी। जिसको सभी वेदादि-विद्याएं सहज (जन्मसे ही उत्पन्न) थीं। फिर ४र्थ पादमें लिखा है—जैसे सिरसे उत्पन्न बाल हटाये नहीं हट सकते; वैसे सभी वेदादि-विद्याएं भी उसकी जन्मसिद्ध थीं।) तभी शङ्करदिग्विजयकी 'धनपतिसूरिकृत डिण्डिमटीकामें लिखा है—'यथा शिरोरुहादिकं शरीरस्य अवयवजातं सहज (जन्मसिद्ध) मेव; तथा तस्याः [भारत्याः] सर्वविद्याद्युपलक्षित-यावच्छब्दब्रह्मरूपमङ्गजातं स्वभाव-सिद्धमेवेति' अब वादी बतावे कि—भारतीमें क्या विशेषता रही?

इसीको स्पष्ट करनेवाला इससे पूर्वका पद्य एक है, जिसे वादीने

छिपाकर जनवञ्चन किया। वह यह है—'यस्या बभूवुः सहजाश्च विद्याः शिरोगतं के परिहर्तुमीशाः' (३।१५) इसका तात्पर्य वादी पृ. ४१४-४१५ में देखे। छोटी लड़की इतना साहित्य षडङ्ग वेद सभी दर्शन, काव्यादि-साहित्य विना गुरुके नहीं पढ़ सकती; जब तक वह आरूढपतित न हो। नहीं तो वादी सब लड़कियोंको विना गुरुके इस सारे साहित्यमें विदुषी बनने दे; फिर गुरुकुलोंकी क्या आवश्यकता? वादीका पक्ष पूराका पूरा कट गया। जो पूर्वापर छिपानेसे वादीको लज्जा आनी उचित थी; पर 'उल्टा चोर कोतवालको डांटे' वह हमें ही पृ. २१४ में डाँट रहा है। अब उस पापसे उसका पतन हो गया।

स्त्रियोंकी बुद्धि कम होती है—यह हमने वेदमन्त्रकी विशेषतासे कहा था। जैसे 'बालानां सुखबोधाय' में तर्कसंग्रहादिमें उस विषयका ज्ञान न रखनेवाले बाल इष्ट होते हैं; वैसे वेदको भी स्त्रियोंकी वेदोक्त बुद्धि इष्ट न होनेसे वे निर्बुद्धि इष्ट हैं। इस विषयपर हम अन्यत्र स्पष्टता कर चुके हैं। वादी-महाशय यह हमें न डाँटकर वेदादि-शास्त्रोंको ही डाँट रहे हैं। ग्रन्थोंके पूर्वापर छिपाकर वह जनताको गुमराह कर रहे हैं।

पृ. २१५ अब आगे वादी 'पुरन्धिर्योषा' (यजुः २२।२२) यह प्रार्थनामन्त्र देकर स्वयं भी इसे प्रार्थनामन्त्र मानकर हमें डाँटकर जन-वञ्चन करता है। महाशय! प्रार्थना सिद्ध वस्तु नहीं हुआ करती, किन्तु साध्य हुआ करती है।

उक्त मन्त्रमें यह नहीं लिखा है कि—स्त्रियाँ ऐसी होती हैं—यह तो उसकी 'गलत-बयानी' है। यहाँ तो ऐसी प्रार्थना हैं कि—स्त्रियां ऐसी होवें, तो क्या ऐसी प्रार्थनासे स्त्री 'पुरन्धि' हो जावेगी। प्रार्थनासे स्त्रियां बुद्धिमती हो जातीं; तब आपके कन्या-गुरुकुल व्यर्थ थे।

अब वादी 'पुरन्धिः' पर विचार सुने? 'निघण्टु' के भाष्यमें दुर्गाचार्यने इसका अर्थ लिखा है—'बहूनि धारयित्र्यः' सर्वस्यास्य भूतग्रामस्य धारयित्र्यः' (३।२१।७) यहाँ यह अर्थ किया है, यह धीका पृथिवीके नामका

अर्थ है।

विवाहमें 'द्यौः अहं पृथिवी त्वम्' (पा. १।३।६) स्त्रीको पृथिवीरूपा माना गया है, सो वहाँ बुद्धिका अर्थ नहीं है। बुद्धिवाचक 'धी' शब्द दीर्घ होता है; वहाँ 'पुरन्धि' में तो ह्रस्व है, अतः यह 'बुद्धि' का नाम नहीं, किन्तु 'धा' धातुका रूप है, जिसका अर्थ है 'धारयित्री'। 'बुद्धि' अर्थ बलात् करके वादी, लोगोंको धोखा दे रहा है। श्रीसायणने 'धी' का अर्थ स्थान-स्थानमें प्रायः 'कर्म' किया है'। 'सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्यां' इस मन्त्रमें धी पृथक् है, पुरन्धि अलग है। श्रीयास्कने बुद्धिका अर्थ नहीं किया है, बल्कि 'पुरन्धि' का अर्थ स्तुति किया है, (१२।३०।१). अब वादीकी बुद्धि गिर गई।

श्रीउवटने 'पुरं-शरीरं रूपादि-गुणसमन्वित धारयतीति पुरन्धिः' 'स्त्रीका रूप धारण करनेवाली' यह अर्थ किया है। निघण्टुमें 'पुरन्धि' (५१) शब्द आया है, उसका अर्थ यास्कने 'इन्द्र' अथवा भग देवता अर्थ किया है; और 'धी' का अर्थ वहाँ 'बुद्धि' न करके 'कर्म' अर्थ किया है—'बहुकर्म (६।१३।१) तमः'। 'पुरन्धि' इस मन्त्रमें श्रीदुर्गाचार्यने 'बहुधा धनस्य' दाता अर्थ किया है, बुद्धिका अर्थ नहीं (११।२।१), सो स्त्रीकेलिए यास्कने कहीं भी 'बड़ी बुद्धिवाली' यह अर्थ नहीं किया। और इधर यह प्रार्थना-मन्त्र है कि—स्त्री ऐसी होवे, और फिर 'पण्डिता जायेत' वाले वचनमें शतपथने लड़कीकेलिए 'वेदकी बुद्धि' अर्थ नहीं किया, किन्तु लड़केकेलिए पण्डितसे भिन्न वेदका नाम भी कहा है—लड़कीकेलिए वैसा नहीं कहा, यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं; अतः वेदको स्त्रीकी बुद्धि इष्ट नहीं।

'पुरन्धिर्योषा' यह प्रार्थना है कि—स्त्री ऐसी होवे; यहाँ 'धी' का बुद्धि अर्थ करनेपर भी यद्यपि वेदको वहाँ ऐसा इष्ट नहीं, 'धी' की सत्ता—जोकि गृहविषयक है—प्रार्थित है, सो वह सिद्ध नहीं, किन्तु साध्य है। तब इससे वादीकी इष्टसिद्धि सिकताभित्ति हो गई। 'बहुत कर्मवाली'

का 'शक्तिशाली' अर्थ कर देना वेदविरुद्ध है, जबकि वह शुक्रकी अल्पतासे उत्पन्न है; तब सबल कैसे हो सकती है?

पृ. २१५-२१६ में वादीने जो 'कर्णाटी' विजयाङ्का, शीला, विज्जा आदि स्त्रियाँ बताई हैं; उन्हें 'काव्यं कर्तुं सन्ति विज्ञाः' काव्य बनानेवाली तो कहा है, पर वेदमें अधिकृत नहीं बताया; अतः वादीका पक्ष कट गया।

पृ. २१६ आगे वादीने जो 'उतो अह क्रतु रघु' स्त्रीकी बुद्धिको वेदने (रघु-लघु) छोटा होना बताया है; पर वादी उस वेदपर जोर-जुल्म करता है; उनकी बातको भी काटता है। 'रघु' 'लघु' (३९) अर्थ करके अपनी पक्षसिद्धि कराना चाहता है, इस विषयमें हम पृ. १६७-१६९ में विचार कर चुके हैं। वादी उसे देख ले। रघु-वंशमें तो 'रघु' यह नाम था; पर उक्त मन्त्रमें 'रघु' यह नाम नहीं है; किन्तु विशेषण शब्द है, जिसका अर्थ वेदको 'लघु' इष्ट है। इस विषयमें हम पहले बहुत स्पष्ट कर चुके हैं।

पृ. २१७-२२२ आगे वादीने स्त्रियोंके वेदाध्ययनके कई स्वा.द.के निजी साध्यवचन लिख डाले हैं, यदि स्वा.द.को ऐसा इष्ट होता; तो वे उपनयन-संस्कारमें लड़कीका नाम लिख डालते। पर उनने लड़केका नाम १६ वार लिखा है, पर लड़कीका नाम एक बार भी नहीं लिखा। लड़कोंका तो उपनयन-संस्कार उनने लिखा है। पर लड़कीका सर्वथा नहीं।

शेष जो वादीने उनके वेदभाष्यके कई वैसे उद्धरण दिखाये हैं; यह उनकी मृत्युसे पीछे उनके अनुयायियोंने बीचमें प्रक्षिप्त कर दिये। क्योंकि—वेदभाष्य उनके सामने पूरे प्रकाशित नहीं हुए थे; उनकी मृत्युके बहुत बाद तक छपते रहे। अतः उनके चेलोंको उसमें प्रक्षिप्तताका अवसर मिल गया। इस प्रकार पूनाके व्याख्यानोंमें स्वा.द.के नामसे बहुत-सी बातें

उनके शिष्योंने उनके नामसे प्रक्षिप्त कर डाली हैं।

यहाँ वादीकी पुस्तक समाप्त हो गई; हमने इसका अक्षर-अक्षर खण्डन कर दिया है। अब आगे वादी 'परिशिष्ट' लिखता है; क्या हम यह परिशिष्ट उसीका मानें; या किसी अन्यका? यदि उसका; तब ऋक्परिशिष्ट आदिको भी उसे ऋग्वेदादि मानना पड़ेगा; जिसके मन्त्रोंको श्रीयास्कने भी अपने निरुक्तमें उद्धृत किया है-यह हम 'वेदस्वरूपनिरूपण' निबन्धोंमें दिखला चुके हैं। निरुक्तके परिशिष्टके वचनोंको स्वा.द.जीने भी श्रीयास्कके नामसे लिख डाला है।

पृ. २२२-२२४ अब वादीके परिशिष्टपर भी विचार किया जाता है—वादी शतपथ (१।३।१।२६) के अनुसार 'अथ पत्नीं संनह्यति, अथ पत्नी आज्यमवेक्षते' 'अदब्धेन त्वा' (यजुः १।३०) का पत्नीसे उच्चारण दिखलाता है।

वादी मोटी-बुद्धिका मालूम होता है। कई बार हम कह चुके हैं—जिसे शायद वादी भूल जाता है कि-"वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः' (मनु. २।६७) अर्थात् स्त्रीका विवाह-संस्कार उसका कुछ उपनयन-जैसा होता है; इससे वह द्विजकल्प हो जाती है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा. ४।१।३३) इस वेदाङ्गके सूत्रके अनुसार स्त्री 'पत्नी' यज्ञके संयोगमें बनती है। अतः वह अपने-योग्य विशेष मन्त्र ऋत्विक्-आदिके सहारे बोल सकती है। इससे उसका क्रमिक तथा वैध वेदाध्ययनाधिकार सिद्ध नहीं होता। कई बार टीकाकारोंका उद्धरण दिया जा चुका है—'को वचनस्य अतिभारः' अर्थात् कोई मन्त्र बुलवा लेनेमें कोई भारी काम नहीं हो जाता; पर वादी व्यर्थका परिश्रम वहन किया करता है। स.ध.का यह प्रकट सिद्धान्त है कि-स्त्री, शूद्र नहीं है कि उसे वेदमन्त्र शूद्रकी भांति सुननेका अनधिकार हो; और उनके कानमें सीसा वा लाख घोला जावे ऐसा कभी किसी प्राचीन आचार्यने नहीं लिखा है; पर

उसे यज्ञका स्वतन्त्रतासे कोई अधिकार नहीं। हाँ, उसे अपने योग्य 'आज्यावेक्षण' आदि करने पड़ते हैं; जो उसमें यदि वचनवल (अपवाद) से यज्ञादिमें कोई अपने योग्य मन्त्र बोलना पड़ता है; तो इससे हमारी पक्षहानि नहीं है। अतः वादीकी यह छोटी-मोटी बात व्यर्थ की है। इससे उसे उपनयन-संस्कारका अधिकार नहीं हो जाता। वह विवाहसे द्विजकल्प हो जाती है; अतः उसके उस विशेष मन्त्रसे कोई हानि नहीं।

तब वादीके उस प्रकारके मन्त्रोंपर बार-बार समय खराब क्यों किया जाय? क्योंकि जब वह मनुके अनुसार द्विजकल्प हो चुकी है; और यज्ञ-संयोगसे 'पत्नी' भी 'हो चुकी है', तो वह ऋत्विक् आदिके सहारे कई मन्त्र (सब नहीं) जो उससे सम्बन्ध रखते हैं-बोल सकती है।

पृ. २२५-२६—'इसी प्रकार 'वाचयति' से भी स्पष्ट हो रहा है कि-ऋत्विक्के सहारे वह बोलती है। यदि पुरुषको भी कई मन्त्र ऋत्विक् आदि बुलवाता है, इससे हमारी कुछ भी पक्षहानि नहीं है। कई ब्राह्मणादि होते हुए भी उन्होंने वेदमन्त्रादिका ज्ञान ही नहीं किया होता, सो उन्हें भी वे मन्त्र पुरुष होते हुए भी बुलवाये जाते हैं; आप जहाँ विवाह पढ़ने जाते हैं, क्या वहाँ सभीको वे मन्त्र याद होते हैं? यदि नहीं, तब क्या आप उन मन्त्रोंको उनसे नहीं कहलवाते। आपको प्रत्युत्तर दे दिया गया; इससे हमारी कुछ भी पक्षहानि नहीं।

पृ. २२७ वादी लिखता है—'वेदे पत्नीं वाचयति' इत्यादि प्रयोगोंसे भी स्पष्ट है कि-वेद स्त्रीके हाथमें देकर उससे मन्त्र उच्चारण कराये जाते हैं।'

यह वादीका कथन अज्ञानपूर्ण है। यहाँ 'वेद' का अर्थ 'वेदपुस्तक' नहीं; किन्तु 'दर्भमुष्टि'का बना हुआ पदार्थ यहाँ इष्ट है। इसे हम पृ. १८३-१८९ में बहुतसे प्रमाणोंसे स्पष्ट कर चुके हैं। तब वादीका

'स्त्री' को वेदपुस्तक देकर उससे मन्त्र बुलवाते हैं, यह कथन खण्डित हो गया।

आगे कुमारी 'गन्धर्वगृहीता'का वादीने फिर उल्लेख किया है। यह स्त्रीका नाम नहीं है। किन्तु गन्धर्वग्रहसे वह गृहीत थी; जैसे कि—किसीको भूत-प्रेत चिपटा हुआ हो; उससे पूछा जाता है, तुम कौन हो; तो उसमें जो प्रेत होता है, वही बोलता है। श्रीसामश्रमीने इसका गलत अर्थ किया है। 'आयुर्वेदमें गन्धर्वग्रहगृहीत'का लक्षण देखा जा सकताा है—

पृ. २२८ 'वृषा वै वेदो योषा पत्नी' यहाँ भी वेदका अर्थ कुशमुष्टिका बना हुआ पदार्थ है, जिसे पत्नीको पहराया जाता है। यह हम पूर्व १८३-१८६ पृष्ठोंमें स्पष्ट कर चुके हैं।

आगे वादीने श्रीआत्मानन्दभाष्यका उद्धरण दिया है। वादीको याद रखना चाहिये कि—आत्मानन्द भी स्त्रियोंका वेदाधिकार नहीं मानते। उन्होंने लिखा है—'स्त्रीणां शूद्रान्धकाणानां...पङ्गूनां नैव वेदाधिकारिता'।

आगे जो 'यथाधिकारः श्रौतेषु योषितां कर्मसु श्रुतः। एवमेवानुमन्यस्व ब्रह्मणि ब्रह्मवादिताम्' इति यमस्मृतिः। तस्मात् स्त्रीणामप्यस्ति ब्रह्मादिविद्याधिकारः' ब्रह्मविद्यामें उपनयनकी आवश्यकता नहीं होती। यदि यमस्मृतिमें वचन नहीं मिलता; तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि—'यमस्मृति'से यह वचन निकाल दिया गया। निबन्धग्रन्थोंमें बहुतसे वचन लिखे हुए भी उस-उसमें नहीं मिलते; सो वहाँ प्रनष्टता सम्भव है, वादिप्रोक्त कारण उसमें नहीं। कल्पारम्भवाली बात भी गलत नहीं। वादीने ही उन ब्रह्मवादिनियोंको अपने निबन्धमें 'ऋषिका' लिखा था; सो वेदकी ऋषिकाएं कल्पके आरम्भमें ही तो होंगी। इसे हम ब्रह्मवादिनी-प्रकरणमें स्पष्ट कर चुके हैं।

'तस्मात् स्त्री ब्रह्मविद् भवेत्' यह जो वादीने आत्मानन्दके भाष्यसे उद्धृत किया है, यह भी व्यर्थ ही है। श्रीआत्मानन्द स्त्रियोंका वेदाधिकार नहीं मानते। सो ब्रह्मवादिनियाँ ब्रह्मवाद अनादि-सिद्ध पुराणोंसे भी प्राप्त कर सकती है।

पृ. २३०-२३१ आगे वादी अपनी पुस्तकका उपसंहार करता हुआ लिखता है—'सरस्वती' के नामसे वेदोंके अनेक सूत्रोंमें उनके वेद पढ़ने, यज्ञ करने आदिका स्पष्ट वर्णन है'।

'सरस्वती' वहाँ एक देवता है, न कि मानुषी। निरुक्तकारने यह स्पष्ट लिखा है कि—'सरस्वती-इत्यस्य नदीवद् देवतावच्च निगमा भवन्ति, तद् यद् देवतावत् तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः' (२-२३।३-४) इसमें मानुषीका गन्धमात्र भी नहीं है। सरस्वतीके विषयमें हम पहले पृ. ४३१-४४१ में स्पष्ट कर चुके हैं, उससे वादीके पक्षका खण्डन हो जाता है।

पृ. २३०-२३१ में वादी बताता है—'वेदोंसे तात्पर्य ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद इन नामोंसे प्रसिद्ध मन्त्र-संहिताओंसे है।

यह बात ठीक नहीं। आपको इस विषयका ज्ञान मालूम नहीं होता। आप अपने अजमेर-वैदिक-यन्त्रालयकी छपी पुस्तकें ही देख लें; उनका नाम आपको ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद नहीं मिलेगा, किन्तु ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेदसंहिता और अथर्ववेदसंहिता ही मिलेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि—यह यजुर्वेदकी संहिताएं हैं। सो महाभाष्यानुसार ऋग्वेदकी २१ संहिता हैं, सभीको ऋग्वेदसंहिता कहा जाता है। यजुर्वेद दो प्रकारका होता है, कृष्णयजुर्वेद तथा शुक्लयजुर्वेद, इसमें कृष्णकी ८६ संहिताएं होती हैं, और शुक्लकी १५। दोनों मिलकर यजुर्वेदकी १०१ संहिताएं हैं। सभीको यजुर्वेद-संहिताएं कहा जावेगा। परन्तु भेदकत्वार्थ कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीयसंहिता, कृ.य. मैत्रायणीसं., कृ.य.

काठकसंहिता, कृ.य. कठकपिष्ठलसं., तथा शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिनसं., तथा शु.य. काण्वसं. आदि लिखा जावेगा। इसी प्रकार सामवेदकी १००० संहिताएं होती हैं। सभीको सामवेदसं. कहा जावेगा, परन्तु भेदकतार्थ सा.वे. कौथुमीसं., सा. जैमिनिसं. आदि कहा जावेगा। अथर्ववेदकी ६ संहिता होती हैं। सभीका नाम अथर्ववेदसं. ही कहा जावेगा; पर भेदकत्वार्थ अथर्ववेद पैप्पलादसं., अथर्व. शौनकसं., आदि कहा जावेगा।

चार वेदोंके आरम्भिक मन्त्र वादिप्रतिवादिमान्य महाभाष्यकारने लिखे हैं—इसमें सबसे पहला भाष्यकारने अथर्ववेदका मन्त्र दिया है—'शं नो देवी:' यह आरम्भमें अथर्ववेद-पैप्पलादसं. में आया है। शौनकसं. में तो सर्वप्रथममन्त्र 'ये त्रिषप्ता: परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः' है। गोपथब्रा.में भी अथर्वका आदिममन्त्र 'शं नो देवी' ही दिया है, और यह पप्पलादसं.में ही है, न कि शौनकसं.में। यह उडिया भाषामें प्रकाशित अ.पै.सं.में प्रत्यक्ष है।

महाभाष्यमें यजुर्वेदका आरम्भिक मन्त्र 'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा' यही दिया है। इससे कृष्णयजुर्वेद तथा शुक्लयजुर्वेद दोनों ही वेदत्वेन गृहीत इष्ट हैं। यदि केवल भाष्यकारको शुक्लयजुर्वेद वेद इष्ट होता; तो 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा वायवस्थ' इसका पाठ रखते; जिससे 'वायवस्थ उपायवस्थ' पाठवाली कृष्णयजुर्वेदसं.की व्यावृत्ति हो जावे। अथवा यदि भाष्यकारको कृष्णयजुर्वेद ही वेद इष्ट होता; तो 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा वायवस्थ उपायवस्थ' इतना उद्धरण देते; जिससे शुक्लयजुर्वेदकी व्यावृत्ति हो जावे। पर व्यावृत्तिकारक पद साथ न रखनेसे स्पष्ट है कि—भाष्यकार शुक्ल-कृष्ण दोनों ही संहिताओंको वेद मानते हैं, तभी तो उन्होंने 'एकशत-मध्वर्युशाखा:' यजुर्वेदकी १०१ संहिताए लिखी हैं। इनमें ८६ कृष्ण-यजुर्वेदसं. हैं; और १५ शुक्लयजुर्वेदसं.।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि—कृष्णयजुर्वेदका साहित्य बहुत बड़ा था, पुष्ट था; सुव्यवस्थित था, प्राचीन था, और सर्वथा चालू था। पर शुक्लयजुर्वेदका साहित्य बहुत छोटा था; और कृष्णसे अर्वाचीन था; और बहुत चालू नहीं था। इसके उदाहरण तो बहुत मात्रामें दिये जा सकते हैं, पर इतना स्थान नहीं है; अतः दिङ्मात्र उदाहरण देते हैं।—

महाभाष्यमें 'शृणोत ग्रावाणः' आया है; अष्टाध्यायीके एक सूत्रका उदाहरण भी यही आया है। महाभाष्यमें भी यही आया है। मीमांसा-दर्शनके शाबरभाष्यमें भी आया है। सायण-ऋग्वेदभाष्योपोद्घातमें भी आया है। अन्यत्र भी बहुशः यह उदाहरण आया है—यह कृष्णयजुर्वेदका है: पर शुक्लयजुर्वेदमें 'श्रोता ग्रावाणः' यह पाठ आया है; इसका उद्धरण कहीं भी सर्वसाधारणतासे नहीं आया।

अब दूसरा उदाहरण देखिये—'ओषधे त्रायस्वैनम्' यह उद्धरण निरुक्तमें भी आया है, सायण, तथा मीमांसादर्शनके शाबरभाष्यमें भी आया है, सायणके ऋग्वेदभाष्योपोद्घातमें भी आया है, एवम् अन्यत्र भी बहुशः यही उद्धरण आया है. पर शुक्लयजुर्वेदमें 'ओषधे त्रायस्व' यही पाठ आया है, उसके साथ 'एन' नहीं है; और ऐसा उद्धरण अन्य पुस्तकोंमें नहीं दीखता।

इससे हम शुक्लयजुर्वेदकी वेदता काट नहीं रहे; किन्तु कृष्ण-शुक्ल दोनों यजुर्वेदोंकी वेदता सिद्ध कर रहे हैं। जब कृष्णयजुर्वेदकी भी वेदता सिद्ध हो गई; तब सिद्ध हो गया कि-—सभी ११३१ संहिता, उतने ही ब्राह्मण, क्योंकि शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्य हुआ करता है, उतने ही आरण्यक और उतनी ही उपनिषदें यह साहित्य मिलाकर ही 'चार वेद' बनते हैं।

शेष रहा ब्राह्मणभागका मन्त्रभागका व्याख्यान होना; तब इससे क्या हुआ? इससे उसका वेदत्व अक्षुण्ण ही रहा है। वादी लोग 'सत्यार्थप्रकाश' को स्वा.द.का मूल ग्रन्थ मानते हैं। वे बतावें कि-स्वा.द.

जैसे मूल सत्यार्थप्रकाश संस्कृतभाषामें लिखा-लिखाया था; वा बोला था; वा हिन्दीमें ? यदि हिन्दीमें; तो यह बात गलत है; क्योंकि दयानन्दी ही कहते हैं कि–स्वा.द. गुजराती थे; उन्हें हिन्दीभाषाका ज्ञान नहीं था। वे आरम्भमें सब संस्कृतमें बोलते एवं लिखवाते थे।

अब वादी बोले कि—स.प्र. संस्कृतभाषानिबद्ध मूल ग्रन्थ था; या हिन्दीभाषानिबद्ध स.प्र. मूलग्रन्थ ? यदि संस्कृतभाषानिबद्ध ही स.प्र. मूलग्रन्थ था; तब वर्तमान हिन्दी सत्यार्थप्रकाश मूलग्रन्थ सिद्ध न हुआ; किन्तु अनुवादग्रन्थ सिद्ध हुआ। तब आप लोग उसे दयानन्दका स.प्र. क्यों कहते हैं ? स.प्र.का अनुवाद कहिये, उसका व्याख्या-ग्रन्थ कहिये। पर यदि आप लोग उस व्याख्याग्रन्थको भी स.प्र. कहते हैं; तब मन्त्रभागका व्याख्यान-ग्रन्थ ब्राह्मणभाग भी वेद ही कहा जावेगा। हाँ 'ब्राह्मण' को 'मन्त्र' नहीं कहेंगे: और 'मन्त्र' को ब्राह्मण नहीं कहेंगे–यह तो ठीक है, पर वेद दोनों ही रहेंगे। क्योंकि–'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्'। यदि आप इस वचनमें कहे 'ब्राह्मण' को वेद नहीं मानेंगे, तो इसी वचनमें कहे 'मन्त्र' को भी आपको वेद नहीं कहना पड़ेगा, क्योंकि–यह स्वाभाविक नियम है-'एकयोग-निर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः'।

आप लोग स्वा.द.की बनी हुई संस्कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाका मूल ऋभाभू. कहेंगे, उसके हिन्दी रूपान्तरको भी ऋभाभू. कहेंगे या नहीं ? यदि हाँ, तो मन्त्रभागका व्याख्यान ब्राह्मणभाग भी वेद क्यों न हो ? उसकी भाषा स्वा.द.ने बनाई है, वा पण्डितोंने ? यदि स्वामीने; तब वे गुजराती वा संस्कृतभाषा ही जानते थे; हिन्दी नहीं, यह आपका कथन गलत सिद्ध हुआ। यदि अन्य पण्डितोंने वह हिन्दी बनाई है; तब उसको स्वा.द.की ऋभाभू. मत कहिये। यदि आप कहें कि–हम उस हिन्दी अनुवादको स्वामीकी ऋभाभू. नहीं कहेंगे। तब उसी न्यायसे हिन्दी-स.प्र.को भी स्वा.द.का 'स.प्र.' मत कहो। व्याकरणके महाभाष्यको भी व्याकरण मत कहिये। यदि फिर भी कहते हो; तब वेदके व्याख्यान

ब्राह्मणको भी वेद स्वयं कहना पड़ेगा। जैसे मूलका नाम आप अष्टाध्यायी कहते हो; और व्याख्यानका नाम महाभाष्य; पर दोनोंको ही 'व्याकरण, कहते हो; वैसे ही आप लोग मूलको मन्त्रभाग कहते हो और व्याख्यानको ब्राह्मण कहते हो; पर वेद दोनों ही रहेंगे।

मन्त्रभाग भी एक भाग है, तभी उसे 'भाग' शब्द-वाच्य कहा जाता है; और ब्राह्मणभाग भी भाग, वह भी 'भाग' शब्द-वाच्य; पर 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' वेद दोनों ही रहेंगे। वस्तुतः मन्त्रभाग भी वेदका व्याख्यान है; और ब्राह्मणभाग भी वेदका ही व्याख्यान। अतः दोनों 'वेद' हैं।

आप लोग पण्डितोंके हिन्दी-संस्करण स.प्र.को स.प्र. ही मानते हो; तब आपके शब्दोंमें ऋषियोंके मन्त्रभागके उपबृंहक संस्करण ब्राह्मणभागको भी वेद क्यों नहीं कहते ? हमारा और आपका भेद यह है कि–हम ब्राह्मण-भागको ऋषिकृत नहीं कहते, किन्तु जैसे ऋषियोंने मन्त्रभागका समाधि-दर्शन द्वारा प्रवचन किया; वैसे ही ऋषियोंने ब्राह्मणभागका भी प्रवचन किया, निर्माण नहीं। वेद दोनों ही सिद्ध हुए।

आप संस्कृतनिबद्ध स.प्र.के हिन्दीनिबद्ध स.प्र.को स.प्र. कहते हो; तो क्या मन्त्रभागको भी संस्कृत तथा ब्राह्मणभागको हिन्दी अनुवादकी तरह मानते हो ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। यह प्रत्यक्षका अपाकरण हो सकता है। वस्तुतः मन्त्रभाग भी अधूरा है, और ब्राह्मणभाग भी अधूरा। दोनों एक-दूसरेकी शेषपूर्ति करनेवाले हैं; अतः दोनों हीं वेद हैं।

हम आपको मन्त्रोंमें ही मन्त्रोंका व्याख्यान दिखला सकते हैं; तब आप भी उन मन्त्रोंको अन्य मन्त्रोंका व्याख्यान मानोगे ? यदि ऐसा है; तब उन मन्त्रोंको भीं आप ब्राह्मण कहेंगे, वेद नहीं कहेंगे ? तात्पर्य है कि–आप लोगोंका पक्ष पूराका पूरा तहस-नहस हो गया। वह निराधार

है; उसका आधार कुछ भी नहीं ।

अभी यह भिन्न बात है कि–प्रथमावृत्ति स.प्र.को आर्यसमाजका मूल-सूत्र माना जावे; या द्वितीयावृत्तिवाले स.प्र.को ? यदि प्रथमावृत्तिवालेमें प्रक्षिप्त अंश बहुत हैं, वह द्वितीयावृत्तिवालेमें भी हो सकता है ।

'उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तम:', अरिष्टाऽहं सह पत्या भूयासम्' इसपर हम कब कहते हैं कि–इन मन्त्रोंको पति वा पुरोहित पढ़ लेगा; किन्तु पति वा पुरोहितकी सहायतासे वह स्त्री स्वविषयक मन्त्र बोलेगी । इसमें अनुपपत्ति कुछ भी नहीं आती । वादी स्वयं ही सोच ले कि–यह मन्त्र किसी स्त्रीने बनाये हैं; वा पुरुषने ही ? यदि सहस्रशीर्ष पुरुषने; तब स्त्रीका अपना वाक्य यह कहाँ हुआ ? जब जैसे यहाँ प्रतिनिधि- वाद है, वैसे उन मन्त्रोंमें भी समझ लेना चाहिये ।

संस्कारविधिमें कई मन्त्र बच्चोंके भी बोलनेके उनके संस्कारोंमें आते हैं; तब उसकी असामर्थ्यवश पुरोहित वा पिता ही उन मन्त्रोंको बोल देता है, वैसे लड़की भी तो वहाँ असमर्थ-लड़की ही समझ लेनी चाहिये, तब उसकी भी पति-पुरोहितादि सहायता कर लेंगे, जिसका तात्पर्य यह निकलता है कि–यह उक्त लडकी वा स्त्रीकी इच्छा है ।

पहले कहा जा चुका है कि–इन मन्त्रोंको उस लड़कीने तो बनाया नहीं; बनाया किसी दूसरेने, प्रकाशित किया किसी ऋषि आदिने । उसे छपवाया किसी अन्यने, उसका प्रयोग करवाया आचार्यने; तो यह सब प्रतिनिधिवाद हैं। इसपर वादी कुछ भी चीं-चपड़ नहीं कर सकता । वह स्वयं बहुत स्थान कह चुका है कि–वेदपुस्तक हाथमें देकर उससे विशेष मन्त्र बुलवा ले । यदि वह स्वयं वैसी वेदकी विदुषी होती; तो उसके हाथमें वेदपुस्तक देनेकी जरूरत क्या होती ? तो फिर वहाँ आचार्य वा ऋत्विजोंकी भी क्या आवश्यकता थी ? महाशय, थोथे तर्कवादोंको छोड़ो, इससे आपका कुछ भी नहीं बन सकता ।

शेष है कि–वह उस सहस्रों मन्त्रोंका प्रत्येक संस्कारोंमें जिनमें उसे सम्बोधित किया गया है । वेदज्ञानके बिना कैसे ज्ञान करेगी ? महाशय; क्या आप नहीं जानते 'याज्ञे कर्मणि प्रयोगनियम:' यज्ञकर्ममें तो प्रयोग-का नियम होता है, ज्ञानका नहीं; अत: आपका यह तर्क पिस गया। संस्कारोंमें बच्चेको कहा जा रहा होता है कि—'अश्मा भव, परशुर्भव' इत्यादि; क्या बच्चा उनके समान हो रहा होता है ? आप भी जब किसीके विवाह-संस्कारके आचार्य बनकर जाते हैं; तब वह संस्करणीय पुरुष क्या उनके मन्त्रोंको समझ सकता है ? वा समझता है ? कभी नहीं;

आप लोग ही तो मन्त्रोंको बोलते हो; वा उससे बुलवाते हो–तब स्त्रीके विषयमें भी क्यों नहीं समझ सकते ? आप लोग फिर हिन्दीमें व्याख्यान क्यों करते हो--इसीसे तो स्पष्ट हो रहा है कि–संस्करणीयोंको उनका ज्ञान नहीं है । सो जिस न्यायसे आप उन पुरुषोंसे 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त' आदि मन्त्र बुलवाते हो; वैसे ही स्त्रीके विषयमें भी क्यों नहीं समझ सकते ? क्यों अपने वा दूसरोंकी सिर-खप्पन करते हो ? सो वेदका ज्ञान भी शब्दों द्वारा होगा । तब वह उपालम्भ कैसा ? सो यहां इससे क्या सिद्ध करना चाहते हो ? अपवाद वचनोंसे स्त्री भी यदि, ऋत्विक् आदिकी सहायतासे स्वविषयक मन्त्र बोलती जावे; तो इससे 'विवाहस्तु समन्त्रक:' आदिके कारण हमारे पक्षकी कुछ भी क्षति नहीं। मन्त्र तो वेदमें पशु-सम्बन्धी भी आते हैं, सो पशु तो उक्त मन्त्रोंको न बोल सकता है, और न जान सकता है, उसका स्वामी उससे उन कर्तव्योंका पालन करा लेगा; वैसे स्त्रीके विषयमें भी जान ले । इससे तुम्हारा पक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता ।

यह जो वादी लिखता है कि—स्मृतियों में उनके वेदविरुद्ध वचन समय-समय पर प्रक्षिप्त होते रहे हैं; यह तो आपका कथनमात्र है। आपने वेद उसे समझ रखा है, जो दयानन्दी अर्थ होता है । सो महाशय,

यानन्दी अर्थ भले ही दयानन्दी सम्प्रदायका हो; पर उससे सिद्धान्त नहीं बन पाता, वह तो वैयक्तिक वात वा साम्प्रदायिक बात ही केवल होती है। अतएव वह 'साध्य' वात होती है, 'सिद्ध' नहीं; तव हम भी तब एकदेशकी वातको कैसे मानें ? आपने जिन स्मृतिपद्योंको प्रक्षिप्त बताया है, हमने उसका पूरा समाधान करके आपके पक्षको काट दिया है।

आगे वादी लिखता है—'गोधा, घोषा आदि सैकड़ों ऋषिकाएं एवं ब्रह्मवादिनियाँ थीं। रामायण-महाभारतमें भी स्त्रियोंके वेदाध्ययन आदिके अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं', हम उन सबका समाधान कर चुके हैं। वादी केवल जनवञ्चन करके जनताकी दृष्टिमें धूल झोंकनेका आदती है; उसमें अन्य कुछ सार नहीं।

'यज्ञोपवीत-मार्गेण' आदिके झूठे-बनावटी अर्थ करके वादी अनुसन्धान-विरहित जनताको प्रभावित करता रहता है, पर अन्तमें असत्यका भंडाफोड़ ही तो होगा। वादी समझता है कि–मैं ही सब कुछ हूं, विद्वान् हूं, हम अप्रतिम हैं'–यह सब कहनेकी वातें हैं; आप यह न समझ रखे कि-आप जो कुछ कहते जाओगे; वह वेदवाक्य हो जावेगा। महाशय; दिल्ली अभी आपसे वहुत दूर है'। वेदवती, भारती आदिका हम पूरा समाधान कर चुके हैं। ऋषिकाओंको अतर्कित मन्त्रविशेष प्रतिभात हो गये; इससे यह सर्वसाधारणका अधिकार नहीं हो सकता। वेदवतीका जो लिखा है कि-वह जन्मते समय स्वयं वेदमन्त्र बोलने लग गई थी; तव आप भी सब लड़कियोंको विना पढ़ाये 'वेदवती' बनने दीजिये। क्या वादी वा उनके सम्प्रदायी उनकेलिए जनतासे धन-संग्रह करके उसे अपनी 'धर्मशालाका चन्दा' बनानेमें लगे हुए हैं। 'निरस्त-पादपे देशे एरण्डोपि द्रुमायते' इस न्यायके पात्र मत बनें।

आगे वादीने 'सनातनधर्मदिग्दर्शन' पृ. १८६ से एक दादूपन्थी साधुका

वचन दिया है कि–'स्त्रियोंकेलिए केवल चार वेदोंका निषेध हैं; अन्य शास्त्रोंके पढ़नेका अधिकार शास्त्रोंने दिया है'।

तव वादी भी स.ध.का यह सिद्धान्त यदि मान लेता; तो हमें क्यों इतना परिश्रम करना पड़ता। पं. ज्वालाप्रसादजीकी भी बात दयानन्द-तिमिर-भास्करमें लिखी मान लो कि–पतिके संनिधिमें विवाह-संस्कारके अर्थ (लिए) तथा कहीं यज्ञमें मन्त्र बोलनेकी विधि है; तो ऋत्विक् कहला देते हैं, कुछ पढ़नेकी विधि नहीं' (पृ. ४२) यह बात वादी उनकी भी मान लेता; तो हमें यह परिश्रम करनेकी आवश्यकता न पड़ती।

आगे वादी पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीकी उक्ति देता है–'युगान्तरे ब्रह्मवादिन्यः स्त्रियः सन्ति' वादीको पता ही नहीं, वह किसका वाक्य है। यह तो वालमनोरमाकी टीका है। वे उस टीकाके निर्माता नहीं, किन्तु सम्पादक हैं। सो यहाँ युगान्तरसे कल्पारम्भका तात्पर्य है; सो इस समय उसकी कर्तव्यता सिद्ध नहीं हो जाती।

अन्तमें वादीने पं. मदनमोहन-मालवीयकी अध्यक्षतामें एक दयानन्दिन-लड़कीको वेदमध्यमामें हिन्दु-विश्वविद्यालयमें प्रविष्ट करनेमें उनकी उदारता बताई है। यह श्रीमालवीयजी उन दिनों अन्तिम-शय्यापर पड़े थे; तव दयानन्दियों-द्वारा आन्दोलनकी धमकी दिखलाकर उनसे वचन ले लिया गया; वह यह था—यह शास्त्रज्ञा थोड़े ही हो जावेगी! वहां अंग्रेजी पढ़े-लिखे ही तो भरे हुए हैं; जिन्हें शास्त्रीय ज्ञान उतना नहीं। और यह परीक्षाविशेषमें लड़कियोंका कई विशेष शब्दकी तैयारी कर लेना यह 'क्रमेण विधिपूर्वकम्' (मनु. २।१७३) न होनेसे वैध-वेदाध्ययन नहीं हो जाता।

फलतः स्त्रियोंको शास्त्रानुसार क्रमिक एवं वेदाध्ययनका अधिकार नहीं; यह हमने प्राचीन-शास्त्रोंके वचनोंसे सिद्ध कर दिया है, और वादीकी जनवञ्चनाएं तथा छल दिखलाकर जहां उसने पूर्वापर

प्रकरणोंको छिपाकर अपना पक्ष सिद्ध करना चाहा था, हमने उसका पूरा रहस्यभेद (पर्दाफाश) कर दिया है। आशा है—'आलोक' के विद्वान् पाठकोंने वह स्वयं अनुभव किया है। यहां हमने प्रतिपक्षीका अक्षर-अक्षर युक्ति एव प्रनाणोंसे निराकरण कर दिया है। प्रतिपक्षीको पुस्तक समाप्त हो जानेसे हम भी इस युक्ति-प्रमाणोंसे युक्त अपने महानिबन्धको समाप्त करते हैं।

हम विद्वान्-पाठकोंको प्रेरित करते हैं कि—वे इस पुस्तकका सम्यक्तया अवगाहन करके स.ध.के पक्षका पूरा ज्ञान कर लें।

सूचना—आर्यसमाजमें इस विषयकी यही २३६ पृष्ठकी प्रमुख पुस्तक है; जिसमें २०-२५ ट्रैक्टोंका सङ्कलन है, सो उसका निराकरण हो जानेसे 'गर्भिणीहनने गर्भहननवत्' उसके पिछलगुआओं-दयानन्दियोंके छोटे-मोटे सभी ट्रैक्टोंका भी निराकरण हो गया। इस पुस्तकमें वादीने पुनरुक्ति बहुत की हैं; अत: हमें भी उसका प्रत्युत्तर देनेकेलिए ही कई बातें फिर पुनरुक्त करनी पड़ीं; पर आगे किसीको इससे अधिक नई सामग्री अन्य पुस्तकसे नहीं मिल सकेगी। क्योंकि इसमें उक्त पुस्तकके प्रणेताने छोटे-मोटे बीसों-ट्रैक्टोंका सग्रह अपने ढगसे किया था। म.म, पं. शिवदत्तजी, तथा तर्करत्नजी आदि विशेष तथाकथित-सनातनधर्मी विद्वानोंने जो भ्रमसे कई गलत बातें लिखी थीं; हमने उनका भी पूरा समाधान इसमें कर दिया है।

हम पाठकोंको प्रेरित करते हैं—इस पुस्तकको पूरा पढ़ें; इसे आपतत: न देखें; ऐसा करनेपर उन्हें इस विषयकी कोई भी शङ्का तथा कोई भी भ्रम अवशिष्ट नहीं रह जावेगा। इसमें हमारा वैयक्तिक-मत कुछ नहीं; मत्र शास्त्रका मत ही दिया है, केवल उन शास्त्रीय-वचनोंको हमने यथास्थान फिट अवश्य किया है, यदि इस विषयकी कोई वादियोंकी अन्य पुस्तक पाठकोंको मिले; तो उसे वह हमारे पास भेज दें; हम उसपर भी समीक्षा कर

देंगे। यहाँपर हमने प्रतिपक्षीके पूर्वापर छिपानेके सन्दर्भ बहुत प्रस्तुत किये हैं, इससे अनुभवी समझ जावेंगे कि—यह लोग कितने पानीमें हैं।

स्त्रियोंके विषयमें हमारी निजी कोई हीन-भावना नहीं है, शास्त्रोंने जो कुछ लिखा है; हमने उन वचनोंको यथास्थान फिट कर दिया है। स्वाभाविक बातमें किसीके विषयमें हीन भावना नहीं होती।

यदि इस विषयकी प्रतिपक्षियोंकी कोई अन्य पुस्तक मिले; तो वह उसे हमारे पास भेज दें। हम उसका समाधान कर देंगे, क्योंकि यह लोग पूर्वापर छिपाकर अपना पक्ष रखते हैं; अत: उनका निराकरण कुछ कठिन नहीं होता। इस पुस्तकमें इस विषयकी दयानन्दी २०-२५ पुस्तकोंकी हमने पूरी आलोचना युक्ति-प्रमाणसे कर दी है।

इस विषयका पूरा विस्तीर्ण शास्त्रार्थ हमने 'सिद्धान्त' (साप्ताहिक वाराणसी चैत्र कृ. ८ सं. २००२ से सं. २००५ तक) में दिया था। प्रतिपक्षीने अपनी वही बातें जिनको हमने अच्छी तरह काट दिया था—इस पुस्तकमें भी विना काटे रखदी हैं, सो प्रतिपक्षियोंको मोह न रहे कि—हमारी पुस्तकका उत्तर नहीं दिया गया—हमने उसका पुन: सस्कार कर दिया है। वह 'सिद्धान्त' का पूरा शास्त्रार्थ सनातनधर्मी शास्त्रार्थ-महारथियोंको भी इतना पसन्द आया कि—उन्होंने अपनी पुस्तकोंमें संक्षेपसे उसे उद्धृत कर लिया था। इससे हमें प्रसन्नता ही हुई, कोई नाराजगी नहीं कि—उसमें हमारा नाम नहीं दिया गया। हम नाम नहीं चाहते हैं; काम चाहते हैं। अस्तु! हम विद्वान्-पाठकोंका भी धन्यवाद करते हैं कि—वे हमारी 'श्रीसनातनधर्मालोक'-ग्रन्थमालाको बहुत पसन्द करते हैं। स्वत: आई, विना प्रेरणाके भेजी हुई सम्मतियों (हार्दिक भावों) के प्रेषकोंको तथा 'आलोक' ग्रन्थमालाके प्रकाशनमें सहायता देनेवालोंको भी अतिशयित धन्यवाद; जो यह करके स.ध.के प्रचारमें सहायक सिद्ध होते रहे हैं।

अन्तमें सम्मति

वादीने 'स्त्रियोंका वेदाध्ययन' इस अपनी पुस्तककेलिए कई पुरुषोंकी जो प्रायः दयानन्दी हैं—सम्मति भी छापी हैं। इसमें उन्होंने—'उष्ट्राणां च विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः। परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपमहो ध्वनिः!' (ऊंटोंके विवाहोंमें गधा-महाशय अपना गाना गाते हैं, और परस्परकी प्रशंसा भी करते हैं—गधा साहब कहते हैं कि-ऊंट-महाशयका कैसा बढिया रूप है? और ऊंट साहब कहते हैं कि—वाह! गर्दभ-महाशयका कैसा सुरीला गाना है! यह नीति उनने अपनानी ही थी, पर उसपर श्रीशाण्डिल्यजीकी भी सम्मति छापी गई है।

यद्यपि वे भी कन्याओंके उपनयनके पक्ष वाले तथा सुधारक-विचारों-वाले हैं—दयानन्दियोंके पक्षपाती हैं—उन्होंने स्वयं "श्रीस्वा.द.जीके प्रति मेरी भावना" यह निबन्ध 'सार्वदेशिक' (३८।१०) पृ. ४७२ में लिखते हुए लिखा है—'जब मैं विद्याके योग्य बना, तब मुलतानके आर्यसमाजने जो संस्कृत-विद्यालय खोल रखा था, उसमें मैं प्रविष्ट हुआ। समाजने मुझे शास्त्री तक पढ़ाया—कोई फीस नहीं ली। विद्याध्ययनसे मुझे भी प्रकाश मिला। **सनातनधर्मी होते हुए भी मेरी सद्भावना आर्यसमाजकी ओर झुकी। तब मैं शास्त्रार्थोंमें इन्हीं [आर्यसमाजियों] के पक्षमें सम्मिलित होता था'।**

इससे स्पष्ट है कि—श्रीशाण्डिल्यजी सनातनधर्मी होते हुए भी कृतज्ञताके नाते **आर्यसमाजी-पक्षके हो गये,** (यद्यपि वहांपर पढ़ानेवाले पण्डित सनातनधर्मी ही थे।) तथापि श्रीशाण्डिल्यजीकी सम्मतिपर विचार भी किया जाता है।

वे लिखते हैं—मैंने 'स्त्रियोंका वेदाधिकार' नामक सिद्धान्तालङ्कार-जीका ग्रन्थ पढ़ा। यह ग्रन्थ एक देवीको वेद पढ़ानेपर रोक लगानेपर लिखा गया है'।

दूसरा—भारतविख्यात पं. दीनानाथजी शास्त्री विद्यावागीश-द्वारा प्रदर्शित प्रौढ़-प्रतिपक्ष युक्तियोंकी कसौटीके संघर्षसे मजकर तैयार हुआ है। अतः इस सोनेके खरा होनेमें कोई सन्देह नहीं। केवल एक स्थानमें थोड़ा प्रौढिवादसे काम लिया है'।

इसपर मैं श्रीशाण्डिल्यजीको सूचित करता हूं कि-आपकी इस सम्मतिका कुछ भी महत्त्व नहीं है, जबकि आपने मेरे महालेखका एक अक्षर भी 'सिद्धान्त' में अवधानसे नहीं देखा। इधर आप स्वयं भी उस पक्षके हैं, और वादी-महाशय आपके गुरुकुली शिष्य भी हैं; तब आपकी सम्मति और भी अपना महत्त्व खो देती है। पर मैं आपको विश्वास दिलाता हूं—यदि आप मेरा सम्पूर्ण महालेख तटस्थ-दृष्टिसे देखते; तथा अपने पक्षकी पक्षपातिनी दृष्टि न रखकर निष्पक्ष दृष्टिसे देखते; दोनों पुस्तकोंकी तुलना करते; तब आपको प्रतिपक्षीका प्रौढिवाद स्थान-स्थानपर दीखता; और उसका सोना 'खोटा' मालूम होता, और उसमें आपको पता लगता कि-प्रतिपक्षीकी पुस्तकमें स्थान-स्थान पर पूर्वोत्तर-प्रकरणका अपलाप तथा अर्थोंमें छल स्पष्ट दीखता।

आगे शाण्डिल्यजी लिखते हैं—'मैं पं. दीनानाथजीकी विद्वत्ताका भी कायल हूं, परन्तु ईश्वरीय-ज्ञान वेदपर परिगणित द्विजों और उनमें भी केवल पुरुषोंके ही अधिकारको स्थिर करना मैं कदापि न्यायसङ्गत नहीं मानता हूं। अतः मैं भी इस ग्रन्थका पोषक हूं। मेरे विचारमें तो ईश्वरीय-ज्ञान वेदपर प्रतिबन्ध लगाना कि-पुरुष पढ़े, स्त्री न पढ़े, मानो सूर्यके प्रकाशपर प्रतिबन्ध लगाना है कि-वह अमुक घरमें प्रकाश दे, और अमुकमें न दे'।

'आलोक'-पाठकोंने देख लिया होगा कि-पं.जीने उक्त बात वेद एवं धर्मशास्त्रोंके प्रमाणसे नहीं लिखी, किन्तु वेदशास्त्रविरुद्ध तर्कका अवलम्बन किया है। यही तर्क पं.जीके हृदयमें उत्कीर्ण है; जिससे वे वेद तथा

धर्मशास्त्रोंके वचनोंकी पर्वाह नहीं करते हैं। प्रतीत होता है कि–वे इस तर्कको अकाट्य समझे हुए हैं। केवल तर्कपर निर्भर रहना विद्वानोंकेलिए समुचित नहीं। तभी उन्होंने उक्त पुस्तकपर अनुमोदक सम्मति दी है। वास्तवमें यह उनका तर्क 'यत् पुनरनुमानं (तर्क:) प्रत्यक्ष-आगम-विरुद्धम् न्यायाभास: स:' (न्यायद. वात्स्या.भा. १।१।१) आगमसे विरुद्ध होनेसे 'तर्काभास' ही है।

जब तर्कशास्त्र भी न्याय, आगम-विरुद्ध तर्कको प्रमाण नहीं मानता; जैसेकि—'प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणम् अन्वीक्षा। तया प्रवर्तते-इति आन्वीक्षिकी-न्यायविद्या-न्यायशास्त्रम्' (१।१।१) (जो तर्क प्रत्यक्ष-और आगमसे विरुद्ध है, वह न्याय न होकर न्यायाभास ही होता है। तब आपने इसमें निष्प्रमाण तर्क कैसे दे डाला? जबकि 'वेदमाता प्रचोदवन्तां पावमानी द्विजानाम्' (अ. १९।७१।१) इस प्रकार वेद अपना अधिकार द्विज-पुरुषोंको देता है। तब स्त्री-शूद्रादिको आप वेदका अधिकार कैसे दे सकते हैं? और जोकि आपने इस मन्त्रके अर्थ बदलनेकी चेष्टा की है—यह भी ठीक नहीं। इस विषयमें पृ. ५७६-५९२ में देखिये।

आप 'योनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्व-माशु गच्छति सान्वय:' (मनु. २।१६८) 'न तिष्ठति तु य: पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद् बहिष्कार्य: सर्वस्माद् द्विजकर्मण:' (मनु. २।१०३) 'शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते' (मनु. २।१७२) इन वादिप्रतिवादिमान्य मनुपद्योंको अप्रक्षिप्त मानते हैं। इनमें कहा है कि–जो द्विज होकर वेदको नहीं पढ़ता, वह जीता हुआ ही शूद्र-जैसा है। जो द्विज प्रात:-सायंकी सन्ध्या नहीं करता; उसे शूद्रकी भांति सब द्विज-कर्मोंसे बाहर कर दो, जब तक वह जनेऊ नहीं प्राप्त करता; तब तक वह शूद्रके समान है। इन्हीं वेदानुसारी वादिप्रतिवादिमान्य स्मार्त-पद्योंसे ही सिद्ध हो रहा है कि—शूद्रोंको द्विजकर्म-वेदादिका अधिकार नहीं है। तब आप मनु आदि स्मृतिकारोंको–जिन्होंने उक्त वेदमन्त्रका ही

भाष्य किया है—क्या वेदानभिज्ञ मानते हैं, जिन्होंने शूद्रको वेदानधिकृत माना है? इसी प्रकार स्त्रियोंका भी द्विजत्वापादक उपनयन साक्षात् न होनेसे मुख्य द्विजत्व न होनेसे उनका भी सर्वसाधारणतासे क्रमिक एवं वैध अधिकार नहीं है।

श्रीशाण्डिल्यजीने वेदके अधिकारको सूर्यप्रकाशके अधिकारसे उपमित किया है; यह दृष्टान्त भी उनका विषम है। सूर्यके प्रकाशके प्राप्त्यर्थ यज्ञोपवीत अनिवार्य नहीं होता; अध्ययन तथा आचार्यकरण भी अनिवार्य नहीं होता। परन्तु वेदकी प्राप्तिकेलिए आचार्यकरण तथा उपनयन एवं वेदका अध्ययन अनिवार्य होता है। शास्त्र स्त्री एवं शूद्रको तो अपने स्वामीकी सेवासे अतिरिक्त अध्ययनादिकी आज्ञा नहीं देते। उनका साक्षात् उपनयन एवं ब्रह्मचर्याश्रम भी नहीं होता। तब उनका वेदाधिकार कैसे हो सकता है?

शास्त्रोंमें अपने वर्णधर्मका आचरण करनेपर बहुत बल दिया गया है। मनुजीने कहा है—'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्य: स्वनुष्ठित:' (१०।९७) (अपना धर्म अन्यके धर्मसे हीन होनेपर भी श्रेष्ठ है। दूसरेका उन्नत भी धर्म अपनेलिए उचित नहीं।

'भगवद्गीता' में भी इसीपर बल दिया गया है। 'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्' (१८।४४) 'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धि लभते नर:' (४५) 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव:' (४६) बल्कि भगवान्‌ने सहजधर्मके सदोष होनेपर भी उसका त्याग दृष्टान्त-सहित निषिद्ध किया है। देखिये—

('सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:' (१८।४८) (स्वाभाविक कर्मोंके दोषयुक्त होनेपर भी उसे नहीं छोड़ना चाहिये। दोष किस कर्ममें नहीं होता? अग्निमें

भी धूम होता ही है। इसलिए भगवान्‌ने यहाँतक कहा है कि-स्वाभाविक सदोष कर्म करते हुए भी पाप नहीं होता।—'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्विषम्' (१८।७४) तब शूद्रको स्वधर्म 'सेवा' ही कर्तव्य है, ब्राह्मणादिवर्णधर्म वेदाध्ययनादि उसका कर्तव्य नहीं। तब वेदका मनुष्यमात्र-को पढ़नेमें सूर्यका दृष्टान्त 'विषम उपन्यास' सिद्ध हुआ।

इधर सूर्यादिका प्रकाश पशु-पक्षियोंकेलिए भी है, परन्तु वेद पशु-पक्षियोंकेलिए नहीं। जब ऐसा है, तब मनुष्यमात्रकेलिए वेदाध्ययनके अधिकार देनेमें सूर्यका दृष्टान्त विषम सिद्ध हुआ। इधर सूर्यप्रकाश-प्राप्त्यर्थ यज्ञोपवीत सर्वथा अनावश्यक होता है; अन्यथा पशु-पक्षियोंको भी सूर्यप्रकाशके प्राप्त करनेकेलिए यज्ञोपवीत पहनना पड़े; परन्तु ऐसा नहीं है। वेदके अधिकार-प्राप्त्यर्थ तो यज्ञोपवीत सर्वथा अनिवार्य होता है। परन्तु कोई भी शास्त्र स्त्री-शूद्रोंको उपनयनका अधिकार नहीं देता; तब उन्हें वेद देनेकेलिए सूर्यका दृष्टान्त भी ठीक नहीं।

यदि आप सूर्यका दृष्टान्त यहां ठीक मानते हैं; तब क्या उसका प्रकाश भी सबको तुल्यतासे मिलता हैं? कालकोठरीमें रहनेवाला सारी आयुका कैदी सूर्यके प्रकाशको प्राप्त नहीं कर सकता। जन्मान्ध भी उसका उपयोग नहीं कर सकता। उल्लू भी सारी आयु उसका उपयोग नहीं कर सकता। सदा हिमाच्छन्न प्रदेशका रहनेवाला भी उसका प्रकाश नहीं पा सकता। यदि ऐसा है; तो पूर्वजन्मोंके दुष्कर्मोंसे अपराधी शूद्र भी इस जन्ममें वेदका अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता।

आप लोग तो शूद्रको द्विजत्वाधिकार भी देते हैं; परन्तु वेद नहीं देता। जैसा कि-'न यो ररे आर्यं नाम दस्यवे' (ऋ: १०।४९।३) यहाँपर 'दस्यु' शब्द त्रैवर्णिकेतरकेलिए है। उसे परमात्मा 'आर्य' नाम नहीं देता। आपको यह मत सौंपनेवाले (जैसाकि-'सार्वदेशिक' (३८।१०) में 'श्री स्वा.द.जीके प्रति मेरी भावना' में श्रीशाण्डिल्यजीने अपना झुकाव आर्य-समाज-श्रीस्वा.द.जीके मिशन-की ओर होना-स्वयं माना है) स्वा.द.जीने

भी स.प्र.में लिखा है—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजोंका नाम आर्य और शूद्रका नाम अनार्य है। जब वेद ऐसे कहता है, तो दूसरे विदेशियोंके कपोलकल्पितको बुद्धिमान् लोग कभी नहीं मान सकते' (अष्टम समु. १४०) यहां स्वा.द.जीने ब्राह्मणादिको द्विज एवं आर्य कहा है, पर शूद्रको 'द्विज' न कहकर अनार्य ही लिखा है। आर्योंसे भिन्न मनुष्योंका नाम 'दस्यु' है' (स.प्र. ११ समु. पृ. १७२)।

अथर्ववेदसं.में लिखा है—'यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः' (२०।३४।४) वहाँपर वेदने शूद्र (दास) को गुहा (निम्नता) में डालना कहा है। यह पक्षपात भी नहीं है। मुख्याध्यापक यदि उच्च-श्रेणीवालोंको स्वयं पढ़ाता है, निम्न श्रेणीवालोंको स्वयं नहीं पढ़ाता, किन्तु उच्च श्रेणीवालोंको ही आज्ञा देता है कि-तुम लोग मेरी ही बात अपने सुगम-शब्दोंमें इन निम्न-श्रेणीवालोंको समझा दो, तो यह स्वाभाविकता है, पक्षपात नहीं। इसीलिए निम्न-श्रेणी शूद्रोंका पुराण-श्रवणमें ही अधिकार है, सीधा वेदाध्ययनमें नहीं।

परमात्माने एक कश्मीर देश भी बनाया है, मारवाड़ भी। एकमें सघन छाया होती है, सुन्दर जल प्रचुरमात्रामें होता है, दूसरेमें छाया-जलादि नहीं होता, वा न्यूनमात्रामें होता है। किसी देशमें तीव्र शीत होता है, और अन्यत्र भीष्म-ग्रीष्म। तब क्या यहाँ परमात्माका पक्षपात माना जावेगा? ऐसा नहीं, हमारे देशमें सघन पर्वत नहीं दिये, कहीं हिमाच्छन्न भूमिमें पशु-पक्षी नहीं दिये। जब देश, काल तथा ऋतुओंमें तथा परमात्मरचित सृष्टिमें सर्वत्र पूर्वजन्मके कर्मके अनुसार वैषम्य है, कोई वस्तु किसीको मिली है; किसीको कोई नहीं मिली हुई है। इसमें कारण पूर्वजन्मके कर्मोंका है; तब वेद-विषयमें भी पूर्वजन्मके निकृष्ट-कर्मोंके कारण शूद्र भी अधिकृत नहीं किया गया। शूद्र-शरीर वैदिक-अधिकारमें प्रतिबन्धक हुआ करता है।

स्त्रीको भी विवाह तथा यज्ञादिमें स्वमात्रनियत कई मन्त्रविशेषोंको जिनमें स्त्रीलिङ्गका निर्देश होता है, पति आदिकी सहायतासे उच्चारण कहा है, पर क्रमिक एवं वैध सम्पूर्ण स्वाध्यायविधिमें उसके भी मुख्य द्विजत्व न होनेसे उपनयनाऽभाववश पूर्ण-वेदमें उनका वैध अधिकार नहीं होता। उसको तो अपने पतिकी सेवामें अधिकृत किया गया है। फलतः इस सम्मतिसे भी प्रतिपक्षीका पक्ष सिद्ध न हो सका। एतदर्थ हमें उससे सहानुभूति है।

शिवपुराणादिमें भी 'नाधिकारः स्वतो नार्या, नियोगाद् भर्तुरस्ति हि' पतिकी आज्ञासे स्त्रीको कई कार्य करने पड़ते हैं। जोकि दुर्वासा मुनिने कई मन्त्र कुन्तीको दिये थे; उसका कारण उसमें आपद्धर्म है। जैसेकि महाभारतमें ही स्वय कहा है–'तस्यै वे प्रददौ मन्त्रम् आपद्धर्मान्ववेक्षया। अभिचाराभिसंयुक्तम् अब्रवीच्चैव तां मुनिः। यं-यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणा-वाहयिष्यसि। तस्य तस्य प्रभावेण तव पुत्रो भविष्यति' (महा. १।१११। ६-७) अर्थात् पाण्डुके शापवश सन्तान-प्रतिबन्धवाली दशामें विचार करके दुर्वासा मुनिने वशीकरणादि अभिचारोंसे युक्त मन्त्रविशेष दिये। सर्वसाधारणतासे नहीं।

इस प्रकार हमने इस विषयका सर्वाङ्गीण पुस्तक 'आलोक' पाठकोंको समर्पित किया है, इससे उनकी एतद्विषयक भ्रान्तियाँ दूर होंगी। यह हमें पूर्ण विश्वास है।

इतना परिश्रम करनेपर भी कई आवश्यक बातें छूट गई हैं, हम उनमें कुछका संग्रह करते हैं। 'आलोक' पाठक इधर ध्यान दें।

निघण्टु (१।१४) में 'ब्रध्न' का अर्थ 'अश्व' है, देखो स्वा.द.से प्रकाशित 'निघं.' की 'शब्दानुक्रमणिका' (पृ. ४८) परन्तु वादीके स्वामीने स.प्र.के ८म समु (पृ. १४३) में इसका अर्थ 'सूर्य' तथा 'परमात्मा' किया है, बल्कि ऋभाभू. के १०० वें पृष्ठमें 'ब्रध्न' का निघण्टुके अनुसार

'अश्व' अर्थ करनेवाले 'मैक्समूलर' को डाँट बताई है, देखो 'आलोक' (८) पृ. १७२-७३ में) इससे सिद्ध है कि–यह निघण्टु-अनुसारी भी अर्थ अग्राह्य है। इस प्रकार यहाँ भी समझें कि–'निघण्टु' केवल 'शची' का अर्थ बताता है, उसका तो बहुवचनमें भी प्रयोग होता है। पर 'पौलोमी शची' का नहीं है। अतः वादीकी की हुई सफाईने ही वादीका पक्ष काट दिया।

फिर वादी लिखता है—'यदि शास्त्रीजीका आग्रह पौराणिक देवता इन्द्राणीका हो; तो भी उसकी तरह प्रत्येक स्त्रीको 'इन्द्राणीव सुबुधा वुध्यमाना उषसः प्रतिजागरासि' (अथर्व. १९।२।३१) इस प्रकार इन्द्राणी बननेका उपदेश है।

(उत्तर) वादी एक विचित्र व्यक्ति है। यहाँपर वादीने पौराणिक देवता इन्द्राणीका भी वर्णन अपने वेदमें मान लिया। जब 'इन्द्राणी' इस इन्द्राणीकी प्रसिद्ध उपमा वादीके मतमें वेद दे रहा है, तो वह इन्द्रकी स्त्री इन्द्राणी देवता 'वैदिक' सिद्ध हो गई, जिसे निरुक्तकारने भी देव-पत्नी प्रकरणमें व्याख्यात किया है। तब वादी उसे 'पौराणिक' देवी कैसे कह रहा है? कदाचित् वादी पुराणोंको स.ध.की भान्ति वेदसे पूर्व मानता हो; क्योंकि–वेदमें 'धर्म पुराणमनुपालयन्ती' (अ. १८।३।१) 'पुराणं यजुषा सह' (अ. ११।७।२४) आदिमें वेदको भी पौराणिकता इष्ट है। यदि ऐसा है; तो आइये पुराणोंकी शरणमें। वादी सदा हमें 'पौराणिक' कहता है। तब आप 'अर्वाचीन विचारवाले' तथा अवैदिक सिद्ध हो गये।

महाशय! उपमामें उपमानके सारे धर्म इष्ट नहीं होते। शची आदि देवता तो जन्मसे विदुषी होती हैं। जैसे भैंसका शिशु जन्मसे ही नदीमें तैरने वाला होता है, पर मानुषियोंमें यह विषम है। 'वादीका चन्द्रकी भान्ति मुख है' में मुखकी चन्द्रमामें आह्लादकतामात्रमें समानता है। यह नहीं कि–वादीका मुख भी चन्द्रमा-इतना बड़ा हो; और उसके मुखमें

अपोलोयानके यात्री भी चढ़े हों। मन्त्रानुसार इन्द्राणीकी तरह वधूका प्रातःकाल उठना इष्ट है-अन्य कुछ नहीं। यह मन्त्र भी सूर्या-देवताकेलिए इष्ट है। इन्द्राणी तथा सूर्या-देवताके उपमानोपमेयत्वमें कोई असामञ्जस्य नहीं उपस्थित होता। थोड़ी देरकेलिए मानुषीकेलिए उक्त मन्त्र माना जावे; तो भी समझदारी मानुषीकी अपने अधिकारकी होगी, न कि देवताके अधिकारकी।

उक्त मन्त्रमें तो 'इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना उषसः प्रति जागरासि' उषःकाल (प्रातः) जाग जाना कहा है; इस अर्थमें हमारी हानि नहीं। वादी वेदके अर्थोंमें प्रक्षेप बहुत करता है; अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तोंको उनमें बलात् ठूंस देता है। वेचारी संस्कृतानभिज्ञ जनता इन प्रकार इनके फंदेमें जा फसती है।

हमने गोभिलके सूत्रका तथा स्वा.द. आदि तथा मनु. के वचन देकर सिद्ध किया था कि-'स्वयं जपेद् अजपन्त्याम्' (गोभि.) अर्थात् स्त्री न बोले; तो वर उक्त मन्त्रको पढ़े—इससे हमारा ही पक्ष सिद्ध होता था कि-इस अवसरपर प्रतिनिधिवादसे काम लिया जा सकता है। पर इसपर वादी लिखता है—'वस्तुतः ऐसा संस्कार विधिहीन हो जायगा। वहां वधू द्वारा उच्चारणीय मन्त्रोंका वह स्वयं पाठ न करेगी; तो उसका वह महत्त्व भी न रहेगा, यह स्पष्ट है'।

पाठकगण! 'यज्ञोपवीतिनीम्' के अशुद्ध अर्थ करनेके समय वादी जिस गोभिलको हृदयसे लगाये हुए था; अब उसी गोभिलको वह परे फेंकता है, उसे वेदानभिज्ञ सूचित करता है। इसीका नाम होता है स्वार्थप्रवणता वा कृतघ्नता। महाशय! आचार्य गोभिल इसीसे तो सिद्ध कर रहे हैं कि-स्त्रीको वेदका स्वतः अधिकार तो है नहीं, केवल स्वविषयक उसके दो-चार क्वाचित्क मन्त्र यदि आ जाते हैं; तो उन्हें ऋत्विक् वा वर आदिके आश्रयसे बोल सकती है। वह न भी बोले, तो

इससे विधिभ्रंश कुछ भी नहीं। उसका कार्यनिर्वाहक विद्वान् पति तो बैठा ही हुआ है; उन मन्त्रोंको बोल देगा।

स्त्रियोंमें लज्जा पुरुषसे चौगुनी होती है, देखिये आपके स्वा.द.से भी प्रमाणित 'चाणक्य-नीति'। उसमें कहा है—'स्त्रीणां द्विगुण आहारः लज्जा चापि चतुर्गुणा। साहसं षड्गुणं चैव कामश्चाष्ट-गुणः स्मृतः' (३।१७)। निरुक्तकारने भी लिखा है—'स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपण-कर्मणः' (३।२१।२) यहांपर 'स्त्री' यह नाम लज्जाके कारण माना गया है। ऐसी लज्जासे बहुत कामवाली भी वह एकान्तमें पतिसे कामसम्बन्धिनी बात नहीं कहती। तब विवाहके समारोहमें परपुरुषोंके सामने मुंह खोलकर बोलनेमें भला उसे संकोच क्यों न होगा? तब उसके मन्त्रको उसका प्रतिनिधि वर वा पुरोहित कह देगा। इसमें अयुक्तता क्या हुई?

इसके अतिरिक्त प्रतिनिधि कर लेना है भी शास्त्रीय। देखिये वादीके स्वामी ही संस्कारविधिमें यज्ञके समय स्त्रीको पतिकी ओरसे आहुति डालना लिख गये हैं। देखिये उसके १० पृष्ठकी टिप्पणी। 'न्यायदर्शन'में गुरुके बीमार आदि हो जानेपर गुरुका होम शिष्यको करना कहा है। देखिये-'अशक्तो विप्रमुच्यते इति एतदपि नोपपद्यते। स्वयम् अशक्तस्य बाह्यां शक्तिमाह-'अन्तेवासी वा जुहुयाद् ब्रह्मणा स परिक्रीतः, क्षीरहोता वा जुहुयाद् धनेन स परिक्रीतः' (४।१।६०) इसी कारण पुत्र भी मृतक-पिताका प्रतिनिधि बनकर उसका और्ध्वदेहिक कर्म करता है।

इस प्रकार यह समझ लेना चाहिये। इनसे प्रतिनिधिवाद शास्त्रीय है, वादीका पक्ष समाहित हो गया।

'अयज्ञो वा एष यद् अपत्नीकः' (तै. २।२।६) यह वादीसे उद्धृत कृष्णयजुर्वेदका वाक्य है। इसमें प्रष्टव्य है कि-क्या वादी इस वाक्यको मानता है? यदि हां, तो बताइये कि-स्त्री प्रतिमास रजस्वला होती है। तीन-चार दिन वह अशुद्ध वा अस्पृश्य रहती है। यह वादीके

स्वामीजी भी मानते हैं। उन चार दिनोंमें वह यज्ञमें सम्मिलित नहीं होगी। यदि उसका यज्ञकी सभी विधियोंमें होना अनिवार्य है, तब प्रतिमास नियमपूर्वक ५-६ दिन यज्ञमें सर्वथा सम्मिलित न होनेसे विधि-व्यतिक्रमवश वह क्या पापभागिनी न होगी? इसी प्रकार गर्भिणी होने-पर, प्रसवके आसन्न समयमें तथा प्रसवके ४० दिन तक स्राव आदिके कारण हानिकी आशङ्कासे स्नानादि न कर सकनेसे अशुद्ध होनेसे उसे यज्ञमें कोई विधि न करनी पड़ेगी। अब वादी कहे कि-यह विधि-व्यतिक्रम होनेसे प्रत्यवायभागिनी होगी या नहीं?

स.ध.के मतमें इस अवसरपर कोई अव्यवस्था नहीं होती। स.ध. पतिका बहुस्त्रीविवाह भी मानता है। वेदका भी इसमें अनुग्रह है। हम दिङ्मात्र संकेत देते हैं—'तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते' (अथर्व. १२।३।१) यहाँपर 'यतमा' में 'यद्' शब्दसे डतमच्-प्रत्यय है, जो बहुतोंमें एकके निर्धारणमें होता है। अर्थात्-तू यजमान यज्ञमें बैठनेकेलिए बहुत-सी स्त्रियोंमें जो तुम्हें बहुत प्यारी हो, उस स्त्रीको बुला ले। कौशिकसूत्र (६०।३२) के अनुसार यज्ञके आसनमें बैठनेकेलिए अपनी प्रिय-पत्नीको बुलाता है। मीमांसाद. (६।१।१७) के शाबरभाष्यमें कहा है—'यस्य हि द्वितीया पत्नी अस्ति। तत्र ऋत्वर्थान् एका करिष्यति' (जिसकी दूसरी स्त्री है, वहाँ यज्ञका कार्य एक स्त्री करेगी।) इससे पतिका यज्ञ तो पूर्ण हो जावेगा, पर पत्नीको पतिसे पृथक् यज्ञका अधिकार न होनेसे जिस पत्नीको उस यज्ञमें नहीं बुलाया गया; वा प्रसवादिमें लगी हुई वा रजस्वला आदि स्त्रियां पृथक् यज्ञ कर ही नहीं सकेंगी। जैसाकि कुल्लूकभट्टने कहा है—'यथा भर्तुः कस्याश्चित् पत्न्या रजोयोगादिना अनुपस्थितावपि **पत्न्यन्तरेण यज्ञनिष्पत्तिः**, तथा न स्त्रीणां भर्त्रा विना यज्ञसिद्धिः' (मनु. ५।१५५) (भर्ताके किसी पत्नीके रजस्वला आदि होनेपर अनुपस्थित होनेपर भी उस भर्ताकी दूसरी अरजस्का स्त्रीसे यज्ञ सिद्ध हो जाता है) परन्तु स्त्रियोंकी भर्ताके विना यज्ञसिद्धि नहीं होती।)

इसीसे सिद्ध होता है कि-स्त्री किसी अन्य पुरुषके यज्ञमें कभी पुरोहित वा ब्रह्मा नहीं हो सकती। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि-वह उपनीता न होनेसे अधीता नहीं होती। यदि अधीता होती, तो पतिकी अधीनतामें उसे यज्ञविधान न कहा जाता; किन्तु स्वतन्त्रतासे भी वह कर सकती थी। पर वैसा निषिद्ध होनेसे पतिकी विद्वत्तासे ही 'नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो' (मनु. ५।१५५) उसका निर्वाह हो जानेसे वह वेदादिकी स्पष्ट अनधिकारिणी सिद्ध हो जाती है।

वादी लोग बहुस्त्रीविवाहपक्ष मानते ही नहीं; तब पतिका यज्ञ वादियोंके मतमें कैसे पूर्ण होगा? या तो फिर वादीको 'अयज्ञो वा एष यद् अपत्नीकः' इस अपने प्रिय प्रमाणको अप्रमाण मानना पड़ेगा। अप्रमाण माननेसे पत्नीके बिना भी यज्ञ पूर्ण हो जाना माननेसे वादीके मतसे रहा-सहा भी स्त्रीका यज्ञाधिकार भी खण्डित हो जायगा। तब हारकर वादीको स्वयं स्त्रीका वेदानध्ययन ही स्वीकृत करना पड़ेगा। अथवा उक्त प्रमाणको माननेपर भी पूर्व रीतिसे वादीका पक्ष पीडित होगा।

सनातनधर्म स्त्रीके प्रतिनिधिस्वरूप स्त्रीकी प्रतिमा भी रख सकता है। देखिये 'कात्यायन-स्मृति-'मृतायामपि भार्यायां वैदिकाग्निं नहि त्यजेत्। उपाधिना (कुश-धातु प्रणीत-स्त्रीप्रतिमया)ऽपि तत्कर्म यावज्जीवं समापयेत्' (२०।९)। इसमें प्रसिद्ध उदाहरण बताते हैं—'रामोऽपि कृत्वा सौवर्णी सीतां पत्नीं यशस्विनीम्। ईजे यज्ञैर्बहुविधैः सह भ्रातृभिर-च्युतः' (२०।१०) देखिये कितनी स्पष्टता है? उत्तरकाण्डमें सीता-निर्वासनमें सीताकी सोनेकी प्रतिमा यज्ञमें रखना स्पष्ट है (७।९९।७) 'न सीतायाः परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः' (श्रीरामने सीताके अतिरिक्त किसी पत्नीका वरण नहीं किया।) फिर प्रश्न होता है कि-सीताके वनवासमें श्रीरामने फिर बिना स्त्रीके यज्ञ कैसे किया? इसका उत्तर देते है—'यज्ञयज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनी भवत्' (७।९९।७)।

(यज्ञ-यज्ञमें पत्नीके अभावमें सीताकी प्रतिकृति रखी जाती थी)।

यदि कोई कहे कि—रावणद्वारा सीतापहारमें श्रीरामने यज्ञ कैसे किया? इसपर आनन्दरामायण देखो—'पूर्ववद् अग्निहोत्रं स (रामः) चकार कुशभार्यया' (१।७।१३७) यहां श्रीरामने कुशकी भार्याकी उपस्थितिमें यज्ञ किया। या पति ही स्त्रीका प्रतिनिधि बनकर स्त्रीके विशेष-विशेष कार्य पूरे कर सकता है। अथवा पुत्र भी जैसाकि—'भार्या मरणमापन्ना देशान्तरगतापि वा। अधिकारी भवेत् पुत्रो महापातकिनि द्विजे' (कात्या. २०।१२)। परन्तु वादी लोग एकके किये कर्मका फल अन्यको होना नहीं मानते, अन्यथा उन्हें मृतकश्राद्ध भी मानना पड़ सकता है। इस प्रकार उनके मतमें पतिका यज्ञ पूर्ण नहीं हो सकता। यदि वे लोग उतने दिनोंमें पतिकर्तृक-आहुतिके द्वारा पत्नीका भी होम-कार्य सम्पन्न मान लें, तब तो वे हमारा ही पक्ष सिद्ध कर देंगे। क्योंकि—पत्नीकी अस्वस्थावस्थामें भी उसका पति ही कार्यनिर्वाह कर सकता है। तब गृहकर्मव्यापृत पत्नीका वेदाधिकार निष्फल सिद्ध हुआ। वस्तुतः आप लोग यज्ञका हल्ला मचाकर उससे स्त्रीको जोकि वेदका अधिकार दिलाना चाहते हैं, यह आप लोगोंका हल्ला है भी व्यर्थ ही; क्योंकि आप लोग यज्ञका प्रयोजन केवल वायुशुद्धि ही मानते हैं, अदृष्ट अन्य फल तो मानते ही नहीं। तब वायुशुद्धिकेलिए वेदका प्रयास भी व्यर्थ है। 'खोदा पहाड़ निकला चूहा, वह भी मरा हुआ' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। वायुशुद्धिकेलिए आप लोगोंका छटांकभर वनस्पति घी ही पर्याप्त हो जायगा। वस्तुतः वह तो वहां व्यर्थ है, उससे भी सस्ती चीजोंसे वायुकी शुद्धि हो सकती है। घृतका तो विशेष प्रयोजन वह है देवताओंका प्रसन्न करना, उसे हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है। देवताओंका भोजन घृत होता है। जब देवाप्सरा उर्वशी स्वर्गसे पुरूरवाके पास आई थी; उससे पूछा गया था, कि—तुम्हारा भोजन क्या होगा? तब उस देवाप्सराने बताया था—'घृतं मे वीर! भोज्यं स्यात्' (श्रीमद्भाग. ९।१४।२२) (मेरा भोजन घृत रहेगा)।

फलतः वह स्त्री आगमें घी डालकर विना भी वेदमन्त्रके वायु शुद्ध कर ही लेगी। तव वादीके मतसे भी यज्ञसे स्त्रीके वेद पढ़नेका अनुमान भी असिद्ध सिद्ध हुआ।

पहले हम कह चुके हैं कि—बहुत पत्नियोंमें यज्ञका काम एक ही पत्नी करती है। तव शेष पत्नियोंका जव यज्ञमें सम्बन्धित होना आवश्यक न हुआ, तव इससे भी सिद्ध हो गया कि—स्त्रियोंका उपनयन तथा वेदका अधिकार सिद्ध न हुआ। अथवा सभी स्त्रियोंको सभी आवश्यकताओंमें यज्ञका अनधिकार होना सिद्ध हुआ। पतिके मरनेपर तो स्त्रीकेलिए कहा गया है—'नहि अस्या अपतित्वात् पुनरग्न्याधेयं विद्यते। विज्ञायते च 'तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते' (बोधायनीयपितृमेधसू. २।४।४) परन्तु पुरुषकेलिए कहा है—'मृतपत्नीकः क्रतून् आहरिष्यन् जायामुपयम्य अग्नीन् आदध्यात्। विज्ञायते च तस्माद् एको द्वे जाये विन्दते। तस्माद् एको वह्वीर्जाया विन्दते इति च' (बोधा. पितृमेधसूत्र २।४।२) जिसकी पत्नी मर जावे; वह और यज्ञोंको करना चाहे; तो पत्नी ब्याहकर अग्निका आधान करे। इसलिए कहा गया है—'एक पुरुष दो स्त्री वा बहुत स्त्रियां करे। यहां विषमता होनेसे जहां वादिसम्मत 'जातिपक्ष' कट गया; वहां स्त्रियोंका वेदाध्ययनाधिकार भी हट गया।

जव ऐसा है, जव बहुत स्त्रियोंके एकके अतिरिक्त अन्य स्त्रियोंको यज्ञमें सम्बन्ध न होनेपर भी प्रत्यवाय नहीं; और उस एकके अभाव या अनुपस्थितिमें भी प्रतिनिधि-कल्पनासे भी जव कार्य हो जाता है; तव श्रीरामका सीताको वनवास देनेके समय उसकी अनुपस्थितिमें यज्ञकी पूर्णताकेलिए सीताको सुवर्ण या कुशकी प्रतिमाका रखना उसका अनुपस्थित होने-जैसा हुआ। तब फिर वही हमारा पक्ष सिद्ध हुआ कि—स्त्रीको उपनयन तथा वेदादिका अधिकार नहीं, अन्यथा स्त्रीकी

अनुपस्थिति कभी सह्य नहीं होती। भीष्म आदि अविवाहित होते हुए भी क्या यज्ञ न करते होंगे? तब फिर वादीका पक्ष कट गया। अर्थात् स्त्रीको यज्ञमें बैठनामात्र पडता है। एक-आध मन्त्रके अतिरिक्त जो ऋत्विगादिके सहारे उसे बोलना पड़ता है। ऋत्विक् ही उसे उसकी ओरसे बोल देता है। शेष यहां उसे वेदका कोई काम नहीं। इसलिए उसको वेदका अधिकार भी नहीं। इस प्रकार वादीका पक्ष पिस गया।

शेष वादीके यह शब्द थे कि-इस मन्त्रपठनके अधिकारसे 'गृहार्थोऽग्नि-परिक्रिया' (घरका काम ही स्त्रियोंकेलिए अग्निहोत्र है) इस भावकी अवैदिकता स्पष्ट की जाती है। इसपर वादी याद रखे कि—'अग्निपरिक्रिया' भी घरमें होती है, इसलिए उसे 'गृह्याग्नि' कहते हैं, उसका स्त्री जो भी काम करेगी, हवन-सामग्री साफ करेगीं, स्थान धोएगी, तो यह भी गृहकार्यमें अन्तर्भूत हो जाता है। तव 'गृहार्थोऽग्नि-परिक्रिया' इत्यादि मनुवचन वेदानुकूल ही सिद्ध हुआ।

---

(६१) क्या स्त्रीके मन्त्र पति बोल सकता है?

हम कई बार लिख चुके हैं कि-कई मन्त्र स्त्रीके हों भी सही; पर उसके प्रतिनिधित्वसे पति वा पुरोहित भी उन मन्त्रोंको पढ़ सकते हैं।

इसपर पूर्वपक्षी 'अहं केतुरहं मूर्धा' 'उताहमस्मि सञ्जया' इत्यादि स्त्रीलिङ्गान्त मन्त्र बताकर और उनका अर्थ करके लिखता है—'यदि पतिदेव अथवा पुरोहित इस मन्त्रको पढ़ने लगें कि-'मैं अच्छी तरह जीतने वाली हूं' मेरे पतिदेवको उत्तम यश मिले; तो कितना भद्दा होगा'?

इसका प्रत्युत्तर भी कई बार हम दे चुके हैं कि-प्रतिनिधित्व होनेपर अथवा अन्यके वाक्यका अनुवाद होनेपर कि यह स्त्री कहती है कि-'मैं सञ्जया हूं, मेरी पतिमें मेरी उत्तम स्तुति हो' इस प्रकार पति-

द्वारा प्रयुक्त यह वाक्य सङ्गत हो जाता है।

जैसे कि-मैं वादीके ही वाक्यका अनुवाद करनेवाला हूं कि-"मैं जानता हूं कि-श्रीपं. दी.ना.जी कह देंगे कि-यह मन्त्र शचीकी ओरसे बोले गये हैं, मानुषी-स्त्रीकी ओरसे नहीं"। अव वादी बोले, मैं वादीके वाक्यको बोलकर उपहास कर रहा हूं कि—'मैं तो यहाँ वादी हूँ, मैं नहीं। फिर मैं पं.दी.ना.जी अपने नामके साथ कैसे कह सकता हूं? पर सब जान लेते हैं कि-यह वादीका अर्थ अनूदित कर रहे हैं, अपनी ओरसे अपने आपको नहीं कर रहे हैं, और न उन्हींके 'मैं' पर अपना अधिकार ही जमाते हैं। इसमें 'भद्दापन' क्या रहा?

वस्तुतः यह मन्त्र मानुषीकेलिए है भी नहीं, क्योंकि-इनका देवता 'शची-पौलोमी' है। पुलोमकी लड़की, इन्द्रकी पत्नी। 'केतु' का वादीने 'वेदोपदेश' के सुनानेवाली' यह अर्थ बनावटी किया है। इसमें 'वेदोपदेश' शब्द स्वयं प्रक्षिप्त किया है। उसमें स्वा.द.जीने 'केतु' का अर्थ 'पताका' धूमकेतु, उत्पात अर्थ किया है। वादीने यहाँ 'पताका' अर्थ क्यों नहीं लिया?

पहले वादी महाशय विना 'देवतावाद' आदिके देखे अपनी निरक्षरोंकी मण्डलीमें एतदादिक मन्त्र दे दिया करते थे, और वह मण्डली-'जी हजूर' कर दिया करती थी, अब जबसे उनका हमसे वादका अवसर पड़ा है, जानते हैं कि-हमारी पकड़ हो जायगी। वह लिखता है; पं.दी.ना.जी कह देंगे कि-यह मन्त्र 'शची' की ओरसे कहे जा रहे हैं, मानुषी-स्त्री द्वारा नहीं; तब अपने बचावकेलिए वादी अपने आगे ढाल रखता है कि-प्रत्येक बुद्धिमती स्त्रीको 'शची' कह सकते हैं, पर वादीने 'निघण्टु' से 'शची' का अर्थ तो किया, पर अपत्य-प्रत्ययान्त 'पौलोमी' के अर्थको वादीने क्यों छिपा लिया?

महाशय! 'पुलोम' की लड़की प्रसिद्ध देवता है, जिसे 'इन्द्राणी'

'इन्द्रपत्नी' कहा जाता है; उसीका उक्त मन्त्रमें ग्रहण है। उसीने 'येन इन्द्रो हविषा...इदं तदक्रि देवा असपत्ना किल अभुवम्' (ऋसं. १०। १५९।४) अपने पति इन्द्रका, क्योंकि–शचीका पति 'इन्द्र' ही है, अन्य देव नहीं। जैसे कि–'शग्ध्यूषु शचीपते ! इन्द्र !' (सामवेदसं. पू. ३।२) इन्द्रका तथा उसकी प्रजा देवताओंका इसमें स्मरण किया है। जब निघण्टु एवं निरुक्तमें 'पौलोमी' शब्द ही नहीं, तब वहां 'पौलोमी शची' का निघण्टुके अनुसार अपना मनमाना अर्थ करना जनवञ्चन करना है। क्योंकि–'शची पौलोमी' यहाँ इष्ट होनेसे 'निघण्टु' का अर्थ यहां इष्ट नहीं हो सकता है। इसलिए सायणभाष्यमें भी कहा है—'पुलोमजा शची स्वात्मानमनेन अस्तौत्। तथा चानुक्रान्तम्–'पौलोमी शची आत्मानमेतेन तुष्टाव'।

देखिये कितनी स्पष्टता है। तब वादी उसे मानुषी-स्त्री कहकर जनताको क्यों ठगता है? यह भी वादी याद रखे कि–वेदके अधीन निघण्टु होता है, निघण्टुके अधीन वेद नहीं। अत: यदि निघण्टु-प्रोक्त अर्थ वेदके देवतात्मक-प्रकरणसे विरुद्ध है; तो वह ग्राह्य नहीं होता। इसके एक-दो उदाहरण वादी देखे; तथा इसमें अपने आचार्य स्वामीका भी अभिमत देख ले।

'निघण्टु' (२।३) में 'विश:' का अर्थ मनुष्य है (देखो स्वा.द. प्रकाशित 'निघण्टु' की शब्दानुक्रमणिका पृ. ५६) परन्तु वेदमें 'मानुषीणां विशां दैवीनामुत' (अथर्व. २०।११।२) इत्यादि मन्त्रोंमें विशेषणोंके अनुरोधसे यहाँ 'मनुष्य' अर्थ न होकर 'प्रजा' अर्थ होता है।

---

(६२) अवशिष्ट विचार।

(प्र.) 'सं वां मनाँसि संव्रता' (यजु: १२।५८) यहाँ परमेश्वर-द्वारा पति-पत्नीको सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार 'भवतं न:' (१२। ६०) इस मन्त्रमें भी पति-पत्नीको सम्बोधित किया गया है। अत: दोनोंका वेदाधिकार सिद्ध है।

(उ.) मालूम होता है कि–वादीने यहाँ अपने स्वा.द.के भाष्यको आधारभूत रखा है। पर यह गलत है। स्वा.द.ने अपनी इच्छानुसार कई गलत देवता लिख डाले हैं; परम्परासे लिखित देवतावादके विरुद्ध कई मन्त्रोंके अर्थ कर डाले हैं। इन (१२।५७-५८-५९-६०) मन्त्रोंके देवता 'द्वयग्नी' (दो अग्नियां, एक चित्याग्नि दूसरी उख्याग्नि) हैं, अत: वे ही सम्बोधनीय हैं।

इसलिए इन चार मन्त्रोंके मध्य अन्तिम मन्त्रमें साक्षात् 'जातवेदसौ !' यह सम्बोध्यमान पद है। इसी कारण आर्यसमाजके हवन-मन्त्रमें भी 'भवतं न:' इस मन्त्रका 'इदं जातवेदोभ्यां स्वाहा' यह 'त्याग' लिखा गया है। 'दम्पतिभ्यां स्वाहा' यह त्याग नहीं लिखा गया। और 'जातवेदा:' 'अग्नि' को कहते हैं। देखो निरुक्त (७।२०।२७)। तब स्वा.द.का वेदभाष्य देवतावाद एवं निरुक्तादिसे विरुद्ध है। जब गुरुका यह हाल है; तो उनके चेले-चांटे वेदके मन्त्रोंकी क्यों हत्या नहीं करेंगे? पञ्जाबीमें कहावत है—'गुरु जिन्हाँ दे अन्धड़े, चेले चोर-चपट्ट'।

यजुर्वेदकी 'सर्वानुक्रमणी' (२।६) में भी यही लिखा है—'समितं चतस्रो द्वयग्नि-देवत्या:' अर्थात् 'समितं' (१२।५७) 'सं वां मनांसि' (वादीसे दिया मन्त्र १२।५८), 'अग्ने ! त्वं पुरीष्य:' (१२।५९) 'भवतं न:' (१२।६०) इन चार मन्त्रोंके 'दो अग्नि' देवता हैं, और अन्तिम ६० मन्त्रमें प्रार्थना है—'मा यज्ञं हिंसिष्टं, मा यज्ञपतिं, शिवौ भवतम् अद्य न:' यह प्रार्थना परमेश्वर पति-पत्नीसे नहीं कर रहा; क्या परमात्मा पति-पत्नीको 'मेरे यज्ञकी हिंसा न करो'–यह प्रार्थना करेगा? कभी नहीं। किन्तु यजमान ही दो अग्नियोंको (क्योंकि वे ही यहाँ 'देवता' होनेसे प्रतिपाद्य हैं) प्रार्थना कर रहा है कि–मेरे यज्ञ तथा मुझ यज्ञ-पतिकी हिंसा न करो। देखिये स्वा.द.की ऐसी हिमाकत–४थं मन्त्रमें 'दम्पती-देवता' भी अपनी कपोल-कल्पनासे लिख डाला। यह स्पष्ट

वेदकी हिंसा है । अनुक्रमणिकाकार मुनियोंकी हिंसा है । इसी स्वा.द.की लज्जा रखनेकेलिए श्रीजिज्ञासुजीने इस अनुक्रमणिकाको कृत्रिम बताया है । 'अशक्ताः तत् पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' ।

(प्र.) 'य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत' (शतपथ.) में लड़कीका 'पण्डिता' होना कहा है । विदुरप्रजागरमें 'पण्डित' का लक्षण यह किया है—'आत्मज्ञानं समारम्भः तितिक्षा धर्मनित्यता । यम् अर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते' यहाँ कहा गया है—जो आत्मा-परमात्माका जानने-वाला हो; जो वेदादिशास्त्रोंका वक्ता तथा कथा करनेवाला हो, नित्य (प्रतिक्षण) वेदादिके धर्ममें लगा हुआ हो; वह पण्डित कहलाता है । इससे लड़कीका वेदादिशास्त्रोंमें प्रावीण्य सिद्ध होता है । क्योंकि—'नावेदविद् मनुते त वृहन्तम्' उस परमात्माका ज्ञान वेदवित् ही कर तकता है, दूसरा नहीं ।

(उ.) देखा पाठकगण; हम मनुजीका तथा स्वय वेदका भी इस विषयमें प्रमाण दे चुके हैं कि–यदि शतपथ. (वेद) को 'पण्डित' शब्दसे वेदादिका ग्रहण इष्ट होता; तो 'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो विजिगीथः, समितिङ्गमः, भाषिता जायेत, सर्वान् वेदाननुब्रुवीत' (शत. १४।६।४।१७) इस पुत्रवाले वाक्यमें वेदानुवचन पण्डित होनेसे पृथक् कहा है, न कहा जाता ।

यदि ब्राह्मणभागात्मक वेद (शतपथ) को पण्डितत्व' में ही वेदाध्ययन अनिवार्य अन्तर्गत इष्ट होता; तो उसको पुत्रवाले वाक्यमें 'पण्डितत्व'से 'वेदानुवचन' पृथक् कहनेकी आवश्यकता नहीं थी; परन्तु वहाँ वेदा-नुवचनको पण्डितत्वसे पृथक् कहा है, पर उसी शतपथने दुहिता वाले वाक्यमें 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत' (१४।६।४।१६) दुहिताकेलिए केवल 'पण्डिता' हो जाना तो कहा है, पर आगे उस दुहिता-केलिए वेदादिका रास्ता अंशतः भी न कहकर उसको बिल्कुल बन्द कर दिया ।

जो शतपथ १४।६।४।१३ में 'पुत्र' के लिए 'पुत्रो मे वेदमनुब्रुवीत', एक वेदका अध्ययन अधिकृत करता है, 'पुत्रो मे द्वौ वेदौ अनुब्रुवीत' (१४) यहाँपर पुत्रको दो वेदोंका अधिकार दे रहा है । 'पुत्रो मे त्रीन् वेदान् अनुब्रुवीत' (१५) यहाँ पुत्रको तीन वेदोंका अधिकार दे रहा है । इस प्रकार शतपथ पुत्रकेलिए भिन्न-भिन्न कण्डिकाओंमें वेदका नाम लेकर भी नहीं डरता, 'पुत्रो मे पण्डितः...सर्वान् वेदान् अनुब्रुवीत' (१७) यहाँ पर पुत्रको पण्डित होने तथा पण्डितत्वसे पृथक् सब वेदोंका अधिकार देता है, वही 'शतपथ' लड़कीकेलिए 'दुहिता मे पण्डिता जायेत' (१६) कहकर चुप हो जाता है. लड़कीको वेदके कुछ अंशकेलिए भी सर्वथा नहीं कहता; यह क्यों ?

इससे स्पष्ट है कि–शतपथको जो ब्राह्मणभागात्मक वेद है, वह लड़कियोंको वेदका अधिकार नहीं देता, और वह पण्डितत्वसे 'वेदाधिकार' पृथक् वस्तु मानता है; और फिर लड़केसे लड़कीका ग्रहण न मानकर वेदके अनुवचनमें 'जातिपक्ष' का भी सर्वथा बाध कर देता है; तब उसी शतपथको 'पण्डिता' शब्दसे दुहिता (लड़की) को वेदाधिकार देना भी इष्ट है', यह कथन वादीकी कितनी 'भयङ्कर-भूल' बता रहा है । देखिये यहाँ हो न गया वादीका पतन । अब वह यहाँ उठ नहीं सकता ।

आगे जो वादीका अभिप्राय है कि–'पण्डिता' कहनेसे 'शतपथ' को लड़कीको वेदाधिकार देना न सही, अर्थात् यदि हमारा (वादीका) पक्ष गिरता है, तो आपका भी पक्ष गिरता है; क्योंकि–आप लड़कीको 'अविद्या' बताते हैं, इसपर हम कहते हैं—कभी नहीं । उल्टा हमारा पक्ष तो सिद्ध होता है । यह कैसे ? सो देखिये–पुत्रको 'समितिङ्गम' (सभाओंमें जानेवाला) तथा 'भाषिता' (व्याख्याता) कहा है, पर लड़कीको नहीं । मन्त्रभाग तथा व्याकरण-महाभाष्यकार स्त्रीको 'सभेय' नहीं मानते, यह हम अन्यत्र लिख चुके हैं । तब वह 'अविद्या' सिद्ध हो गई; नहीं तो

उसे सभाका तथा व्याख्यातृत्वका अधिकार क्यों न दिया जाता ?

जिस 'पण्डिता' शब्दकेलिए वादी कूद रहा है, कदाचित् वह इसका अर्थ नहीं जानता। सुनिये—'पण्डा सञ्जाता अस्य इति पण्डित:। 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' (५।२।३६) इस पाणिनिसूत्रसे इतच् होकर यह शब्द स्त्रीत्वमें टाप्में बना है। 'पण्डा' बुद्धिको कहते हैं, अक्षर-शिक्षणात्मक 'विद्या' को नहीं। 'धीर्विद्या सत्यमक्रोधो' (मनु. ६।९२) में धी और विद्याको पृथक्-पृथक् कहा है। सो बुद्धिमत्ता तो विना अध्ययनके भी हो सकती है; क्योंकि बुद्धि जन्मसे ही उत्पन्न होती है, वहाँ विद्याध्ययनकी आवश्यकता नहीं। बुद्धिकी विपरीत-कोटि मूर्खता तो अध्ययनसे भी सम्भव है। क्या वादीने नहीं सुना—'शास्त्राणि अधीत्यापि भवन्ति मूर्खा:' (हितोपदेश)

तव लड़कीकी वुद्धिमत्ता घरके कार्योंमें शतपथको विवक्षित है, वेदाध्ययनमें नहीं। जैसाकि—श्रीस्वा. शङ्कराचार्यने भी कहा है-उक्त श्रुतिकी व्याख्यामें — 'दुहितु: पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयकमेव, न तु वेद-विषयकम्, वेदेऽनधिकारात् इति'। तभी तो वहुत वार लड़केकेलिए वेदका नाम कहकर भी लड़कीकेलिए एक वेद तो दूर रहा, ¾ वेदका अधिकार भी नहीं दिया गया।

वुद्धिमत्ताका तो जन्मसे सम्वन्ध है, विद्यासे नहीं। विद्या पढ़े हुए भी तीन ब्राह्मण वुद्धिमान् नहीं थे, देखो पञ्चतन्त्र-'अपरीक्षितकारक'। पण्डिता वनानेका निर्देश' यह शब्द भी वादीके ठीक नहीं। 'पण्डिता 'वनाने' का नहीं, किन्तु पण्डिता हो जानेका निर्देश है-यह वादीको कहना चाहिये था। इससे वादीका पक्ष निस्पिष्ट हो गया।

हम लड़कीके शिक्षिता वननेके विरोधी नहीं कि—माता-पिता उनको आचार-शिक्षा न दें।

आगे जो वादी शतपथके 'पण्डिता' शब्दको छोड़कर विदुरनीतिमें

जा पड़ता है—'आत्मज्ञानं समारम्भ:' इति जो आत्मा-परमात्माको जाननेवाला हो, वह पण्डित है।

देखा पाठकगण; हम मनुजीका तथा स्वयं वेदका वचन भी दें; वादी उसे भी प्रमाण नहीं मानता। पर वह स्वयं नीतिशास्त्रमें पहुंच जाता है। विदुरनीतिमें 'पण्डित' का लक्षण है, 'पण्डिता' का नहीं। वे लक्षण पण्डितपुत्रमें चरितार्थ हो जायंगे, पुत्रीमें नहीं। पण्डिताके लक्षण वहाँ न होनेसे यह वादीका प्रयास निर्मूल हुआ।

नीतिशास्त्रमें वहाँ वेदका क्या प्रकरण है ? विदुरजी शूद्र होनेसे वेद-विषयक चर्चा नहीं करते थे। विदुरजी यमका अवतार होनेसे सर्वज्ञ होते हुए भी अव जन्मना शूद्र-शरीर होनेसे शूद्रकी मर्यादासे वहिर्भूत वैदिक-चर्चा नहीं करते थे। जैसेकि—'शूद्रयोनौ अहं जातो नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे' (४१।५) (मैं शूद्रयोनिमें पैदा हुआ हूँ; अत: इससे अधिक नहीं कह सकता); तव उनने वैसा उपदेश देनेकेलिए 'ब्राह्मीं हि योनि-मापन्न: सुगुह्यमपि यो वदेत्' (४१।६) ब्राह्मण श्रीसनत्सुजातको वुलवाया था।

जो कि वादी कहता है—'नाऽवेदविन्मनुते त वृहन्तम्' (वेद जाने विना कोई उस परमेश्वरका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर ही नहीं सकता।) इसका वह उत्तर सुने—। 'वेदविद्' में प्रश्न है कि—यहाँ वेदके शब्द जाननेवाला इष्ट है, वा वेदके अर्थ जाननेवाला ? यदि वेदके शब्द जाननेवाला इष्ट है; तो वह व्यर्थ है, क्योंकि—'यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दयते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्' के अनुसार ज्ञान-काण्डमें शब्द काम नहीं दे सकता। यदि वेदका अर्थ ही उक्त स्थान इष्ट है, वेदका शब्द नहीं; तो स्त्री-शूद्रादिका वेदके नियतानुपूर्वीक-शब्दमें अधिकार न होनेसे, वेदके भाष्यभूत अनादि-प्रवृत्त पुराणों तथा दर्शनादिके श्रवणसे भी वेदार्थ-ज्ञानका निर्वाह हो जाता है।

वेद नियतानुपूर्वीक तथा नियतपदप्रयोग-परिपाटीक हुआ करता है; तो उसका अधिकार भी नियत वर्णों वा नियत व्यक्तियोंको होता है, अनियतोंको नहीं। उसके अर्थके साक्षात् वेद न होनेसे उस अर्थमें स्त्री-शूद्रादि सबका अधिकार है। (ब्राह्मणभाग भी मन्त्रभागका अनुवादमात्र नहीं; किन्तु उपबृंहक है, वह भी वेद है। अनुवाद भी प्रासङ्गिक है, सार्वत्रिक नहीं। उसपर देखो श्रीब्रह्मदत्तजिज्ञासुकी य.भा.वि.भू. पृ. ४७)।

पर वह अर्थ उस वेदके शब्दों-द्वारा अधिकारी पुरुषोंको मिलता है। अनधिकारी स्त्री-शूद्रादिको पुराण-इतिहासके श्रवणसे अर्थ मिल जाता है। इसलिए कहा है—'स्त्री-शूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम्' (श्रीमद्भा. १।४।२५)।

स्त्रियोंको तो पतिकी सेवा आदिसे भी ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। वादीके स्वामीजी भी स.प्र. ११ समुल्लासमें पञ्चायतनपूजाप्रकरणमें पृ. २०० में मान गये हैं—'स्त्रीका पति [देववत्] पूजनीय है।... यही [पतिकी पूजा आदि] ब्रह्मकी प्राप्त होनेकी सीढ़ियां हैं'।

मार्कण्डेयपुराणमें भी लिखा है कि—'यद् देवेभ्यः यच्चा अभ्यागतेभ्यः कुर्याद् भर्ताऽभ्यर्चनं सत्क्रियातः। अनन्यचित्ता नारी भुङ्क्ते भर्तृशुश्रूषयैव' (१६।६३) अर्थात् पति देवताओं पितरों तथा अतिथियोंकी पूजा करता है, उसके पुण्यका आधा भाग स्त्री पतिकी सेवामात्र करनेसे प्राप्त कर लेती है। जब इस थोड़े कामसे उस अनधिकारीको ब्रह्मप्राप्ति हो जाती हो; तो 'अक्के चेद् मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' फिर यह अनधिकारिणी भारी प्रयास वेदाध्ययनादिका करेगी भी कैसे ?

'प्रव्रज्या मन्त्रसाधनम्।...स्त्री-शूद्रपतनानि षट्' (अत्रिस्मृ. १३३) (संन्यास लेना, मन्त्र-ग्रहण करना वा उसको साधना आदि—यह छः कार्य स्त्री और शूद्रके पतनके कारण हैं) 'न व्रतैर्नोपवासैश्च धर्मेण विविधेन च। नारी स्वर्गमवाप्नोति, प्राप्नोति पति-पूजनात्' (शङ्खस्मृ. ५।८) (नारीको विशेष व्रतों वा उपवासोंसे तथा विविध धर्मोंसे, स्वर्ग नहीं मिलता; जितना कि उसे पतिपूजनसे स्वर्ग मिलता है) इत्यादि धर्मशास्त्रोंके वचन भी हमारा पक्ष पुष्ट करते हैं)।

शेष है जो वादीने 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (२।१३) यह मनुस्मृतिका वचन देकर अपनी श्रद्धा 'मनुस्मृति' पर प्रकट की है; तो यह जानिये कि—मनुस्मृति स्त्री एवं शूद्रको वेदका अधिकार नहीं देती। मनुजी मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनोंको मिलाकर श्रुति कहते हैं; तभी 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्' (२।६) इस मनुवचनमें 'अखिलो वेदः' का क़थन है, अतएव श्रीकुल्लूकभट्टने भी 'अखिलो वेदः' का 'ऋग्यजुः-सामाथर्वलक्षणो वेदः, स सर्वो विधि-अर्थवाद-(ब्राह्मण)-मन्त्रात्मा धर्मे मूलं-प्रमाणम्' कहकर ब्राह्मणभागको वेद माना है; और तभी शतपथब्राह्मणमें पुत्रको तो वेदका पढ़ना कहा है; पर दुहिताकेलिए वेदका नाम नहीं रखा गया—यह हम पहले बहुत बार स्पष्ट कर चुके हैं।

फिर आगे मनुजी कहते हैं—'स्मृतिशीले च तद्विदाम्' इससे स्मृतिको भी धर्मका मूल कहा गया है; सो स्मृतिमें तो स्त्रीका वेदानधिकार स्पष्ट ही है। इसी प्रकार वादीसे प्रमाणार्थ उद्धृत की हुई उपनिषद् भी स्त्री-शूद्रादिको वेदादिका अधिकार नहीं देती, देखो बृहदारण्यकोपनिषद्—'य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत' इसपर भी हम स्पष्टता पूर्व कर चुके हैं। तब स्त्री-शूद्रादिको धर्मका ज्ञान भी वेदसे नहीं करना पड़ेगा। तब वेद उत्तमकोटिके द्विज-पुरुषोंकेलिए हैं, न कि निम्नकोटिके स्त्री-शूद्रादिकेलिए।

स्त्री पुरुषकी अपेक्षा निम्नजासिक है, शूद्र त्रैवर्णिकोंकी अपेक्षा निम्न हैं; अतः उन्हें 'परम प्रमाण'की आवश्यकता भी नहीं। बल्कि

मनुस्मृति तो अपना अधिकार भी स्त्री-शूद्रादिको नहीं देती। देखिये—'निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः' (२।१६) (जिनके गर्भाधानादिसे लेकर अन्त्येष्टि तक वेदमन्त्रोंसे संस्कार कहे गये हैं; उन्हींका अधिकार मनुस्मृतिमें है। सो यह सभी जानते हैं कि—स्त्रीके संस्कारोंमें (विवाहके तथा कुछ याज्ञिक विरल मन्त्रोंके अतिरिक्त) भी वेदमन्त्रोंके पढ़नेका आदेश नहीं है; सो जब मनुस्मृतिमें भी उन लोगोंका अधिकार नहीं, तब वेदमें स्त्री-शूद्रादिका अधिकार कैसे हो सकता है?

इधर अपने कर्तव्य-धर्मका ज्ञान स्त्रीको अपने पतिसे और शूद्रको अपने स्वामी त्रैवर्णिकसे विना अध्ययनादिके प्रयास वा विना गुरुके हो सकता है। आयास करना तो द्विज-पुरुषकेलिए है, स्त्री-शूद्रादि सेवकके-लिए नहीं। सेवक अपने सेव्यकी सेवाते वह मेवा प्रकारान्तरसे प्राप्त कर सकता है। स्त्री अपने गुरु वा सेव्य पतिसे, शूद्र अपने पति त्रैवर्णिकसे वही मेवा श्रवणद्वारा प्राप्त कर सकता है। इसमें कोई व्यावहारिक बाधा वा प्राचीन-मर्यादाका भङ्ग भी नहीं होता।

इसके अतिरिक्त स्त्री-शूद्रादिको अपने स्वामियोंकी कृच्छ्रसेवा आदि कार्यमें प्रतिक्षण लगे रहनेसे उतना अवकाश भी नहीं होता कि—वेदके कठिन-कार्योंको पूरा कर सकें। बल्कि उनसे सब सेवादिके कार्य लेकर फिर उनसे पुरुषोंवाले कठिन कार्य भी लेना उनपर अत्याचार करना है।

स्त्री-प्रकृति कोमल होनेसे उनपर वेदादिका भारी गट्ठर रख देना उनसे भावी प्रसवादिमें हानि पहुंचाना तथा उसके स्वास्थ्यका विगाड़ना है। तब वादीका यह कहना कि—'वेदज्ञान अनिवार्य है, अन्यथा वेदज्ञानको अन्यथा-सिद्ध तथा अनावश्यक मानना पड़ेगा' कट गया। क्योंकि—उसकी अनिवार्यता द्विज-पुरुषमें ही है। वह द्विज-पुरुषोंके लिए तो अनिवार्य तथा आवश्यक है, पर स्त्री-शूद्रादिकेलिए तो वह अन्यथा-सिद्ध तथा अनावश्यक ही है।

इधर वेदके ज्ञानको निषिद्ध हम भी नहीं करते; हाँ, वही ज्ञान वेदके शब्दोंसे न होकर पुराण-इतिहासादिके श्रवण-द्वारा होगा। वह अनधिकारियोंकेलिए अनावश्यक वा अन्यथा-सिद्ध है ही। वेद तो अक्षर-ज्ञानके अभाववालेकेलिए भी अन्यथासिद्ध ही रहेगा।

सेवककेलिए 'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।...शुश्रूषामन-सूयया' (मनु. १।९१) 'यदतोऽन्यद्धि कुरुते, तद् भवत्यस्य निष्फलम्' (मनु. १०।१२३) 'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्' (गीता १८।४७) (सेवककेलिए निश्छल होकर सेवा करना ही ठीक है; उससे भिन्न वह जो कार्य करता है, वह उसका निष्फल होता है) इत्यादि-वचनों-द्वारा सेवाके अतिरिक्त वेदादि-अध्ययन विहित नहीं है।

यही बात सेविका स्त्रीकेलिए भी शास्त्र-सम्मत है। देखिये-'उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः। नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्। पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते' (मनु. ५।१५४-१५५) (पतिकी सेवासे ही स्त्री स्वर्गमें पूजित होती है।)

वादीकी मान्य दक्षस्मृति भी कहती है-'वुधास्त्वाभरणं भावं मलयालेपनं तथा। मन्यन्ते स्त्री च मूर्खश्च तदेव बहु मन्यते' (७।२७) (यहाँपर विद्वानोंका आभूषणादि-धारण, तथा पाउडर आदि लगाना निषिद्ध माना गया है, पर धर्मशास्त्रों तथा वेदादिमें 'तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः' (मनु. ३।५९) 'पूज्या भूषयितव्याश्च' (३।५५) 'सुकृतोः अन्य ऋन्वन्' (ऋ. ३।३१।२) कन्याको भूषणादि पहरा कर दूसरेको दिया जाता है, स्त्रियोंका भूषित होना वर्णित होनेसे स्त्रियोंकी अविद्वत्ता शास्त्रीय हो गई।

शेष रहा उन स्त्रियोंके कर्तव्योंका बोध; वह उन्हें उनके पति बतावेंगे। कर्तव्य तो वेदमें 'दोग्ध्री धेनुः, वोढाऽनड्वान्, आशुः सप्तिः' (यजुः माध्यं. २२।२२) 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण अश्वो घास जिगीर्षति'

(अ. ११।५।१८) गाय, बैल, घोड़े आदि पशुओंको भी बताया गया है; पर इससे वे वेदके अधिकारी नहीं हो जाते। किन्तु उनके वे कर्तव्य जैसे उनके स्वामी द्विज (पशुरक्षक वैश्य आदि) उनसे करा लेते हैं; वैसे ही स्त्री-शूद्रादिके विषयमें भी जान लेना चाहिये। 'ब्रूयु: स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत' (श्रीमद्भा. १।१।८) इस नियमके अनुसार कन्याका गुरु पिता, तथा पत्नीका गुरु पति उन्हें यथासमय यथायोग्य रहस्य बता देते हैं; जिन्हें वर्षों पढ़नेपर भी पता नहीं लगता।

(प्र.) 'पत्युरनुव्रता भूत्वा' के अनुसार स्त्रीका पतिके अनुकूल वेद पढ़ना भी अनुव्रतत्व है'।

(उ.) 'अनुव्रता' से 'पतिव्रता' गृहीत है कि—'पतिके सुखमें सुखिनी हो; और दु:खमें दु:खिनी, पूर्ण आज्ञाकारिणी हो. उसकी सेवा करनेवाली हो—'आर्तार्ता मुदिता हृष्टे सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता'। पर इससे उस स्त्रीका वेदाध्ययन सिद्ध नहीं हो जाता। पतिव्रत विवाहके समय लेना पड़ता है। सो विवाहके समय पतिका वेदारम्भ नहीं होता कि जिससे पतिकी अनुव्रता स्त्री भी तब वेदारम्भ करे। जब पुरुष वेदारम्भ करता है आठ वर्षकी अवस्थामें, तब भी लड़की उसका वह व्रत नहीं ले सकती; क्योंकि—तब वह उसका पति नहीं होता। पतिव्रत पति होनेके समय चलता है; क्या वादी भी लड़कीका विवाह आठ वर्षसे मानता है? यदि नहीं; तब वादीकी यह युक्ति अपने आप कट गई।

स्वा.द.की माता वेद नहीं पढ़ी थी, गान्धीजीकी माता भी वेद नहीं पढ़ी थी, वादीकी माता भी वेद नहीं पढ़ी थी; फिर क्या वादीके अनुसार उनकी सुसन्तान नहीं हुई? स्त्रियोंकेलिए अक्षरात्मक शिक्षा अनिवार्य नहीं। उसमें बड़ी-बड़ी हानियां हैं। उन्हें तो चाहिये—अनुभवी माता-पिता तथा योग्य पतिकी शिक्षा। इसमें वेतनादिलुब्ध तथा तरह-तरहके विद्यार्थियोंके शिक्षणमें लगे हुए अन्य अध्यापक लोग लाभके स्थानमें

हानि ही दे सकते हैं। उनसे बहुत-सी हानियां हो रही हैं। स्त्रियां भी पढ़ानेवाली विश्वसनीय नहीं हो सकतीं। वे भी पुरुषोंसे घूस लेकर लड़कियोंको हानि पहुंचवा देती हैं, यह समाचार-पत्रके पाठकोंसे तिरोहित नहीं है। रजस्वलात्वमें लड़कियोंको अपने घरमें कमरेमें बैठना पड़ता है, पर आजकल वे अध्यापिकाएं खटपट करती हुईं पढ़ने या पढ़ाने जा रही होती हैं। परीक्षाएं भी इसी प्रकार दे रही होती हैं। इसका दुष्प्रभाव गर्भाशय पर पड़ सकता है। इसके कारण हैं—वादी लोग।

'उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्' (मनु. ३।४) 'सदृशी भार्यां' शब्द भी जहां आ जाय; वहाँ भी वादीकी इष्टसिद्धि नहीं। विद्याकी सदृशता दोनोंमें सम्भव नहीं। पति २५ वर्षका होगा, स्त्री वादीके अनुसार १६ वर्षकी। पति ४८ वर्षका होगा, स्त्री वादीके अनुसार २४ वर्षकी। तो क्या दोनोंकी विद्या सदृश हो सकती है? अत: स्पष्ट है कि—वहां कुलादि-सम्पत्ति ही इष्ट है। जैसे कि—'ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्। तयो: मैत्री विवाहश्च' (पञ्चतन्त्र)।

---

(६४) क्या 'देव' शब्द विद्वान्का पर्यायवाचक है ?

प्रश्न—आपने गत ७८६ पृष्ठमें देवताओंका और मनुष्योंका भेद बताते हुए स्वा.द.के प्रथम स.प्र. का उद्धरण दिया था; पर हम दयानन्दी लोग प्रथम स.प्र.को प्रमाणित नहीं करते। स्वामीजीने उसका संशोधन करके द्वितीय स.प्र. तैयार किया था। उसके ४र्थ समुल्लास ६० पृष्ठमें स्वामीजीने लिखा था—

'विद्वांसो हि देवा:' यह 'शतपथब्राह्मण' का वचन है, जो विद्वान् हैं, उन्हींको 'देव' कहते हैं'।

इसलिए जहाँ-जहाँ किसी वेदादिशास्त्रमें 'देव' शब्द आया है, स्वा.द.जीने उसका अर्थ 'विद्वान्' मनुष्य किया है। तब तो जहाँ 'मनुष्य' शब्द आवे; वहाँ साधारण मनुष्यका नाम समझना चाहिये, पर जहाँ 'देव' शब्द आ जावे; वहांपर विद्वान् 'मनुष्य' अर्थ समझना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि-कोई भी स्वर्गीय देवयोनि नहीं है, मर्त्यलोकमें विद्वान्-मनुष्य ही 'देव' हैं, पृथक् मनुष्यसे भिन्न देवयोनि नहीं है। (एक दयानन्दी)।

उत्तर—हमने 'आलोक' (४) के पृ. ४०५ से ४२० पृ. तक 'मनुष्ययोनिसे देवयोनिकी भिन्नता' निवन्ध दिया था। उसमें हमने वेदके सैकड़ों प्रमाणोंसे दिङ्मात्र ३१ प्रसिद्ध वेदवचन दिखलाकर देवताओंकी मनुष्यसे, वा मनुष्यकी देवताओंसे भिन्नता दिखलाई थी।

फिर ४२१ पृ. से ४३७ पृ. तक 'क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं' यह निवन्ध हमने दिया था। यह हमारा स.ध.के मुख्य सिद्धान्तका प्रश्न है, पर दयानन्दी विद्वान् भी दयानन्दजीका अनुसरण करते हुए विद्वान् मनुष्योंको ही देवता सिद्ध करनेपर तुले हुए हैं; पर उनका यह बनावटी एवं गलत सिद्धान्त है। वेद स्पष्ट कहता है कि—'यः श्रद्दधाति-'सन्ति देवा इति, चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड' (अथर्व. ११।२।२८) (जो श्रद्धा करता है कि-देवता हैं; उसके चौपाये (पशु) तथा दो पाये (घरके व्यक्तियों) को सुखी कर।) इससे देवयोनिको न माननेवाला वैदिकम्मन्य-सम्प्रदाय पूरा अवैदिक सिद्ध हो रहा है। क्योंकि यहाँ यदि 'देव' का अर्थ 'विद्वान्' किया जावे, तो उसमें स्पष्ट असङ्गति पड़ती है। क्योंकि संसारमें विद्वान् हैं, यह कौन नहीं मानता? उनकेलिए श्रद्धा करना व्यर्थ ही है। पर परोक्ष देवयोनिको नास्तिक लोग नहीं मानते। अतः यहां उसे न माननेवाले वैदिकम्मन्योंका यह खण्डन है।

प्रकरणवश यहाँ भी हम स्पष्टता करते हैं। जबकि स्वा.द. तथा

उनके अनुयायी शतपथब्रा. से 'देव' शब्दको 'विद्वान्' का पर्यायवाचक सिद्ध करना चाहते हैं, तो उन्हें पहले शतपथब्राह्मणका मूल विचार देखना पड़ेगा कि-क्या वह देवता और मनुष्योंको अभिन्न मानता है, वा भिन्न?

शतपथ (२।४।२) में प्रजापतिके पास देव, पितर, मनुष्य, पशु, असुर, इन पांच प्रकारकी प्रजाओंका उपस्थित होना और अपनी जीवन-वृत्ति मांगना कहा है। इनमें क्रमसे १ से ५ कण्डिका तक उनका निरूपण किया है।

इनमें मनुष्य तथा पशु तो इस लोकके बताये गये हैं; परन्तु देव, पितर और असुर अन्य लोकके सूचित किये गये हैं। देव और असुर तो भाई प्रतीत होते हैं। देवताओंका सूर्यलोकमें निवास सूचित किया गया है; सो असुर भी सूर्यलोककी प्रजा होगी। इसीलिए ही शतपथमें देवताओं एवं असुरोंका बहुत स्थलोंमें युद्ध बताया गया है। पितर चन्द्रलोककी प्रजा सूचित की गई है। मनुष्यों एवं पशुओंका सूर्य और चन्द्रसे सम्बन्ध न बताकर शेष पृथिवीसे सम्बन्ध सूचित किया गया है।

जब ऐसा है; तो देवता 'दिवि देवा:' (अ. ११।७।२३) द्युलोक-वासी सिद्ध हुए, पृथिवीलोक-निवासी नहीं। 'दिव्' शब्दका अर्थ चाहे सूर्यलोक करो, चाहे स्वर्ग; इससे देवयोनि स्वर्गीय सिद्ध होती हैं। और मनुष्य वा विद्वान्-मनुष्य पृथिवीलोक निवासी सिद्ध हुए, सूर्य-चन्द्रादि-लोक-निवासी नहीं। जब ऐसा है; तो 'देव' शब्दका अर्थ 'विद्वान्-मनुष्य' कर देना शतपथरूप ब्राह्मणभाग तथा मन्त्रभाग-संहिता आदिसे विरुद्ध ही है, अतः यह वादियोंका पक्ष भी निर्मूल ही है।

अब 'देव' का जोकि वादी लोग 'विद्वांसो हि देवा:' से 'विद्वान्-मनुष्य' अर्थ सिद्ध करना चाहते हैं, यह सर्वथा निर्मूल पक्ष है।

वादी लोग 'विद्वांसो हि देवा:' यह शतपथका पाठ तो अपनी पक्षसिद्धिकेलिए देते हैं, पर पूर्वोत्तर-पाठ छिपा देनेकी तो उनकी सदाकी

साम्प्रदायिक-दुष्प्रकृति है । 'देव' शब्द 'विद्वान्-मनुष्य' का पर्यायवाचक सिद्ध नहीं होता । यह पूर्वोत्तर अंशसे स्पष्ट हो जाता है ।

शतपथका पूर्वोत्तर पाठ हम लिखते हैं; विद्वान् लोग इसपर विचार करें । वह पाठ यह है—

'उशिजो वह्नितमान् इति, विद्वा ँ्सो हि देवाः, तस्माद् आह-उशिजो वह्नितमान् इति' (३।७।३।१०)

इसपर अभिप्राय यह है कि—उक्त शतपथकी कण्डिका 'देवान् दैवीर्विशः प्रागुः उशिजो वह्नितमान्' (यजुः माध्यं. ६।७) इस याजुषश्रुतिकी स्पष्टतार्थ है ।

उक्त याजुष-मन्त्रमें "देवान्" यह पद "विशेष्य" है, और उसी मन्त्रमें "उशिजः" यह पद उसी मन्त्र-स्थित 'देव' शब्दका विशेषण है । विशेषण सदा गुण-शब्द होनेसे 'यौगिक' हुआ करता है, और विशेष्य प्राकरणिक होनेसे सदा रूढ वा योगरूढ हुआ करता है । यह बात विद्वान् लोग जानते ही हैं । साधारण-लोगोंको भी यह समझ रखना चाहिये ।

उक्त याजुष-मन्त्रमें 'उशिज्' का अर्थ विद्वान् वा बुद्धिमान् है । निघण्टु (३।१५) में 'विप्रः, धीरः, कविः, मनीषी, विपश्चित्, उशिजः' आदि २४ नाम मेधावी (विद्वान्) के हैं । जैसेकि—श्रीयास्कने लिखा है—'मेधाविनामानि उत्तराणि चतुर्विंशतिः' (३।१९।२) उसमें १९वां नाम 'उशिज्' है । स्वा.द.ने भी अपने 'निघण्टु-वैदिक-कोष' की शब्दानुक्रमणिकाके ३३ पृष्ठमें 'उशिजः-मेधाविनाम' यह लिखा है ।

यजुर्वेद माध्यं.सं. की उक्त ६।७ कण्डिकामें देवान्-देवताओंका विशेषण 'उशिजः' 'मेधाविनः-विद्वांसः' क्यों हैं ? यह एक प्रश्न उपस्थित होता है । इसके उत्तरमें शतपथने उक्त मन्त्रके विवरणमें कहा है—

'विद्वा ँ्सो हि देवाः, तस्माद् आह उशिजो वह्नितमान् इति' (३।७।३।१०) अर्थात् "हि=चूंकि देवाः=देवता लोग विद्वांसः=जाननेवाले होते हैं, सभी कुछ जान जाते है; तस्मात्=इसी कारण मन्त्र-उक्त मन्त्रभागका मन्त्र उन देवताओंको 'उशिजो वह्नितमान्' इति आह='उशिजः' इस विशेषणसे युक्त करता है ।"

'विद्वांसः' का अर्थ 'जानने वाले' होता है; जैसेकि निरुक्त-(८।२०।१) में 'वयुनानि विद्वान्' मन्त्रके 'विद्वान्' पदका अर्थ 'प्रजानन्' (जान जानेवाला) कहा है ।

'विद्वांसो हि देवाः, तस्माद् आह-उशिजो वह्नितमान्' इति । यहांपर 'हि' शब्द 'हेतु' (जिस कारण) अर्थ वाला है क्योंकि—उसकी पूर्ति करनेवाला 'तस्मात्' शब्द साथ दिया हुआ है । 'यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः' (यद् और तद्‌का सम्बन्ध नित्य हुआ करता है) यह एक प्रसिद्ध न्याय है ।

सो जबकि उक्त कण्डिकाके उपसंहारमें "तस्माद्" यह 'तद्' शब्द है; तब उसके उपक्रममें उक्त श्रुतिमें "यस्माद्" शब्द भी अवश्य साथ ही होना चाहिये । तभी उपक्रम एवं उपसंहारकी एकतासे सिद्धान्त बनता है । यहाँ अन्वेषण करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि—वह 'शब्द' यहांपर हैं, वह है "हि" शब्द । 'हि' शब्द "हेतु" अर्थमें प्रसिद्ध है 'हि हेतौ अवधारणे' (अमर. ३।३।२५७) यहाँ 'हि' के दो अर्थ बताये गये हैं। एक तो हेतु और दूसरा निश्चय । जब उत्तर-वाक्यमें पञ्चम्यन्त 'तस्मात्' आ जावे; तब उसके पूर्व वाक्यमें "यस्माद्" यह हेत्वर्थक शब्द भी आवश्यक होता है । वह यहाँ है उसका पर्यायवाचक 'हि' शब्द। सो 'तस्माद्' के अनुरोधसे 'हि' शब्द यहाँ "यतः, यस्माद्" इस अर्थमें है । इसी 'हेतु' अर्थके कारण 'तस्माद्' में पञ्चमी है; तब 'हि-यतः' इस शब्दके भी 'हेतु' अर्थवाला होनेसे पूर्वपक्षियोंसे अभिमत देव-विद्वत् शब्दोंकी पर्यायवाचकता भी खण्डित हो गई ।

इसमें यह बताया गया है, चूंकि देवता सभी कुछ जाननेवाले होते हैं, इसी कारण मन्त्रने देवताओंको 'उशिजः' कहा है ।

देवता सर्वज्ञ हुआ करते हैं, इस विषयमें यह प्रमाण देखिये—'यद् मनुष्याणां परोक्षम्, तद् देवानां प्रत्यक्षम्' (ताण्ड्य महाब्रा. २२।१०।३) (जो मनुष्योंसे परोक्ष है, वह देवताओंसे परोक्ष नहीं, किन्तु देवताओंसे प्रत्यक्ष है।) 'मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति' (शत. ३।४।२।६) (देवता लोग मनुष्यका मन जान जाते हैं; अर्थात् वे मनुष्यकी वात भी जान लिया करते हैं)। 'न तिष्ठन्ति, न निमिषन्ति एते देवानां स्पश इह ये चरन्ति' (ऋ. १०।१०।८) जो देवताओंके सूक्ष्म जासूस सभी लोकोंमें घूमा करते हैं; वे कहीं ठहर नहीं जाते, और न अपनी आंखें कभी वन्द रखते हैं।

'यद् मनसा सङ्कल्पयति तद् देवां अभि गच्छति' (अथर्व. १२।४।३१) (मनुष्य मनसे जो संकल्प (विचार) करता है; वह देवताओंमें पहुंच जाता है।) यजुर्वेद माध्यसं. ३।४।२।६ के शत. में भी कहा है—'तदाहु:-मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति इति। मनसा सङ्कल्पयति, तत् प्राणमभिपद्यते। प्राणो वातं, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मन:' (३।४।२।६) देवता मनुष्यके मनको जान जाते हैं। मनुष्य मनसे विचार करता है, वह विचार प्राणोंमें पहुंचता है। प्राण उसे वायुमें पहुंचाता है। वायुदेव देवताओंको कहता है।

यह कहकर शतपथ कहता है—'तस्माद् एतद् ऋषिणा अभ्यनूक्तम्' (यही मन्त्रभागमें कहा है—) 'मनसा सङ्कल्पयति, तद् वातमभि-गच्छति। वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष! ते मन:' (३।४।२।७) इसका अर्थ पूर्व-जैसा है। इससे सूचित होता है कि—विद्वान् भी मनुष्य, मनुष्यका मन नहीं जान पाते, पर देवता जान जाते हैं। इससे देवताओंकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है।

जब इस प्रकार इन्द्र आदि देवता. परोक्ष भी जान जाते हैं कि—अमुक व्यक्ति-द्वारा हमें आहुति दी जा रही है; इसी कारण वे तत्क्षण

वहाँ पहुंच जाते हैं। तब उन्हें 'उशिज:' (बुद्धिमन्त:) कहना ठीक ही है। तभी तो देवता लोग उसी क्षण अर्थात् यज्ञमें देवताके ध्यानके समय जैसे कि 'निरुक्त' में कहा है—'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्; तां मनसा ध्यायेद् वषट्-करिष्यन्' (८।३२।११) यज्ञोंमें पहुंच जाते हैं। इसी कारण व्याकरण-महाभाष्यमें भी कहा है—

'एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति' (१।२।६४) एक इन्द्र अनेक-सैंकड़े यज्ञोंमें बुलाया गया एकदम सर्वत्र पहुंच जाता है। विद्वान् मनुष्य इस प्रकार एकदम नहीं पहुंच सकता। तब विद्वान् एवं देवताका कितना महान् अन्तर सिद्ध हुआ!!!

जब इस प्रकारकी वात है; तब देवता विद्वान् मनुष्योंसे भिन्न सिद्ध हुए। क्योंकि—देवता तो परोक्षज्ञाता होनेसे, शतश: यज्ञोंमें बुलाये हुए युगपत् (एक-दम) सब यज्ञोंमें प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु विद्वान्-मनुष्य अल्पज्ञ एवं सीमित मतिवाला होनेसे शतश: यज्ञोंमें बुलाया हुआ भी युगपत् (एक-साथ) सर्वत्र नहीं पहुंच पाता।

इधर उक्त शतपथकी कण्डिकामें 'विद्वांस:' के साथ 'देवा:' शब्द था, 'मनुष्या:' नहीं। तब उक्त श्रुतिमें विद्वान्-मनुष्योंका ग्रहण हो ही कैसे सकता है? यहांपर 'मनुष्या:' शब्द न कहनेसे विद्वान्-पशुके ग्रहणमें भी कोई वाधा नहीं पड़ती; तब क्या पूर्वपक्षी लोग विद्वान् (समझदार) पशुको भी 'देवता' कहते हैं? यदि नहीं, तब विद्वान्-मनुष्यको भी देवयोनि नहीं माना जा सकता।

अन्य त्रुटि वादियोंके मतमें यह आ पड़ती है कि—उक्त यजुर्वेदमाध्यं. के मन्त्रमें शतपथकी उक्त कण्डिकाके वादिजनसे इष्ट अर्थके अनुसार 'देव' शब्दको विद्वान्का पर्यायवाचक मान ले, उसे योनिविशेष-वाचक न मानें, तो 'उशिज:' यह विशेषण व्यर्थ जाता है; अथवा 'देवान्' यह शब्द व्यर्थ होता है, क्योंकि जब उक्त (६।७) यजुर्वेदके मन्त्रमें

उशिजः' यह विद्वान्‌का वाचक है; वैसे ही 'देवाः' शब्दको भी वादियोंके अनुसार 'विद्वान्' का वाचक मान लिया जाय, तब इन दोनोंमें एक शब्द व्यर्थ हो जाता है।

अन्य इस पक्षमें हानि यह आती है कि उक्त याजुष-मन्त्रमें 'देव' शब्द भी विशेषण हो जाता है, और 'उशिज्' शब्द भी विशेषण रह जाता है, विशेष्य उक्त याजुष-मन्त्रमें कोई भी नहीं रह जाता।

इधर विद्वान्-मनुष्यके पास 'दैवीर्विशः प्रागुः' यह अर्थ भी नहीं घटता। क्योंकि—दैवी प्रजा भिन्न हुआ करती है, और मानुषी-प्रजा भिन्न। जैसेकि—'दैवीश्च विशो मानुषीश्च' (यजुः माध्यं. १७।८६) 'मानुषीणां विशां दैवीनामुत' (अथर्व. २०।११।२)। 'मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिः तुरगाः तुरङ्गैः' (पञ्च.) के अनुसार दैवी प्रजाका देवताओंके पास ही जाना स्वाभाविक है, मनुष्योंके पास नहीं। हां, बुलाये जानेपर वे देव वरदानकेलिए मनुष्यके पास जावें, यह अन्य बात है, पर सङ्गति उनकी मनुष्योंके साथ नहीं हो सकती।

निष्कर्ष यह है कि—शतपथके अनुसार देवता जन्मसे ही विद्वान् हुआ करते हैं; वे अविद्वान् नहीं हुआ करते। विद्वान्-अविद्वान् यह दो प्रकारके मनुष्य तो हुआ करते हैं; परन्तु देवता विद्वान् तथा अविद्वान् इस प्रकार दो तरहके नहीं होते, केवल विद्वान् ही होते हैं।

इस प्रकार उक्त शतपथकी श्रुतिमें 'देव' शब्द 'विशेष्य' है, 'विद्वान्' (उशिजः) यह उसका विशेषण है, उनकी अविद्वत्ताका व्यावर्तक है। जैसे भैंसा आदि पशु जन्मसे ही नदियोंमें तैरते हैं, पक्षी जन्मसे ही बिना सिखलाये आकाशमें तैरते (उडते) हैं, वैसे देवयोनिकी प्राप्तिमें ही देवताओंको अणिमा आदि सिद्धियाँ तथा विद्वत्ता, बिना ही अध्ययन वा अभ्यासके प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु मनुष्योंमें तो विद्वत्ता तथा अणिमा आदि योगसिद्धियां अध्ययन तथा अभ्यासके बाद ही प्राप्त होती हैं;

देवताओंकी भान्ति जन्मसे नहीं।

इसके अतिरिक्त उक्त शतपथकी कण्डिकामें 'देवाः' ही विशेष्य हैं, 'विद्वांस' यहाँपर विशेष्य नहीं है। 'विद्वांसः' पद तो वहां विशेष्यभूत देवताओंका विधेय-विशेषण है, पर्यायवाचक नहीं।

तब देवता तो स्वभावसे विद्वान् (ज्ञाता) सिद्ध हुए; विद्वान्-मनुष्य-तो देवता सिद्ध न हुए। क्योंकि उक्त कण्डिकामें 'विद्वांसः' विशेष्य नहीं है। जिस यजुर्वेद (६।७) के मन्त्रका शतपथसे प्रोक्त यह उक्त विवरण है, उस याजुष-मन्त्रमें विद्वान् मनुष्य शब्दका कहीं गन्धमात्र भी नहीं है, जिससे विद्वान्-मनुष्य ही विशेष्य मान लिया जावे। वहां तो 'देव' शब्द है। वही (देव) उक्त मन्त्र तथा उक्त-ब्राह्मणमें विशेष्य है, यह बात सूक्ष्मरूपसे समझ लेनी चाहिये। इधर उक्त शतपथकी कण्डिकामें देव तथा विद्वान्‌की परस्पर-पर्यायवाचकता भी इष्ट नहीं है। अन्यथा वहांके हेतु अर्थवाले 'हि' शब्दका व्याकोप होता है, जिसका 'तस्मात्' शब्द सहायक (आकाङ्क्षापूरक) है। इससे शतपथब्रा.के मतमें देवता तथा मनुष्यकी भिन्न-भिन्नता सिद्ध हो जाती है।

'देव'-विषयमें ध्यान देने योग्य तर्क।

(क) यदि शतपथको देव एवं विद्वान्‌की पर्यायवाचकता इष्ट होती; तब फिर 'विद्वा ँसो ये शतक्रतु-देवाः सत्रमतन्वत' (शत. ११।५।५।१२) यहाँपर 'विद्वान्' तथा 'देव' शब्दकी पुनरुक्ति न होती।

(ख) उक्त यजुर्वेदमाध्यं.सं.के मन्त्रमें भी 'देवान्' (विदुषः), उशिजः (विदुषः), प्रतिपक्षीके अनुसार इस प्रकार दोनोंकी पुनरुक्ति न होती। 'उशिजः' तो निघण्टुके अनुसार 'विद्वान्' का पर्याय है ही। 'देवाः' भी यदि वादीके अनुसार 'विद्वान्' का पर्याय हो जावे; तो स्वतः पुनरुक्ति दोष उपस्थित हो जावेगा।

(ग) 'यो देवस्य प्रियो विद्वान्' (बोधा.गृ.शे.सू. १।२२।१५) यहां पर 'देवस्य' तथा 'विद्वान्' इनके परस्पर-विभक्तिभेदसे भी देवता तथा विद्वान् मनुष्यकी भिन्नता स्पष्ट है। पर्यायवाचकोंमें भला विभक्ति-भेद कैसे हो सकता है?

(घ) 'देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ पूजनं तप उच्यते' (भगवद्गीता १७।१४) यहांपर तो स्पष्ट ही 'देव' शब्दसे 'विद्वान्'-वाचक 'प्राज्ञ' शब्द पृथक् रखा गया है, नहीं तो न रखा जाता। इसी कारण किसी भी वैदिक-निघण्टु वा लौकिक-कोषमें 'विद्वान्' के पर्यायवाचकोंमें 'देव' शब्द कहीं नहीं पढ़ा गया है। भाष्यकार श्रीयास्कने भी 'देव' का अर्थ 'विद्वान्' कहीं नहीं किया। अमरकोष आदि कोषोंमें भी विद्वान्के नामोंमें कहीं भी 'देव' शब्द नहीं पढ़ा गया हैं। किसी भी प्राचीन-भाष्यकर्ताने 'देव' का अर्थ 'विद्वान्' कभी एवं कहीं भी नहीं किया।

इस प्रकार हम शतश: प्रमाण दे सकते हैं, जिससे प्रतिपक्षियोंका मत सर्वथा निराकृत हो जाता है। इस विषयमें 'आलोक' के चतुर्थ पुष्पके पृ. ४३१-४३३ में भी हमने स्पष्टता की है। पर इस समय वह पुष्प समाप्त है। मालूम नहीं कि उसकी द्वितीयावृत्ति कब हो?

दिङ्मात्र यहां एक अन्य प्रमाण भी उपस्थित किया जाता है। फिर यह निबन्ध समाप्त हो जावेगा।

(ङ) 'विश्वे देवास उत सूरयः' (ऋसं. १०।६६।११) यहां 'विद्वद्' वाचक 'सूरि' पदसे 'देव' शब्द पृथक् है। यहां श्रीसायणने इस प्रकार भाष्य किया हैं—'उत अपि च सूरयः-प्राज्ञाः विश्वे देवासः-देवाः मम स्तोत्राणि शृण्वन्तु'। यहां 'देवाः' यह विशेष्य है, सूरयः—यह विशेषण है। 'सूरयः' यह विद्वानोंका पर्यायवाचक होता है। 'देवाः' भी यदि 'विद्वान्' का नाम वा पर्यायवाचक हो; तो उक्त मन्त्रमें व्यर्थकी पुनरुक्ति हो जावे।

स्वा.द.ने 'सूरिभिः' (यजुः ८।१५) का अर्थ 'मेधाविभिः विद्वद्भिः' यह लिखा है। और 'सूरिः' (यजुः १२।४३) में भी स्वा.द.ने 'सूरिः' का

'मेधावी' अर्थ किया है। 'सूरिः' (यजुः १७।२२) में भी स्वा.द.ने 'सूरिः' का अर्थ 'विद्वान्' किया है। तब विशेष्य 'देव' 'विद्वान्' का पर्याय न हुआ।

(ङ) 'अग्ने! वर्चस्विन्! वर्चस्वान् त्वं देवेषु असि। वर्चस्वान् अहं मनुष्येषु भूयासम्' (यजुः ७।३८) यहां अग्निको देव बताकर देवोंमें उसे तेजस्वी बताया है; और मनुष्योंमें अपनेको अग्निकी भांति तेजस्वी होना प्रार्थित किया गया है। यहां देवता और मनुष्यका अन्तर स्पष्ट बता दिया गया है। स्वा.द.ने यहां चालाकी करके 'अग्नि' का अर्थ 'सभापति-राजा' अर्थ करके 'देवेषु' का अर्थ 'विद्वानोंमें' करके और 'मनुष्येषु' का अर्थ 'विचारशील-पुरुषोंमें' यह करके स्वकपोलकल्पना कर दी है। कितनी यह नासमझी है! 'देव' का अर्थ 'विद्वान्' कर दिया, और 'मनुष्य' का 'विचारशील-पुरुष' यह अर्थ करके पुनरुक्ति कर दी। कभी तो वे 'मनुष्य' का 'साधारण-मनुष्य' अर्थ कर देते हैं; और कभी 'विचारशील-पुरुष' अर्थ कर देते हैं। यह कृत्रिमताका फल है।

निघण्टुमें 'सूरि' यह स्तोताका नाम है, तथापि इसपर भाष्यकार श्रीदुर्गाचार्यने लिखा है—

'एवं मेधाविनः, त एव स्तोतुं शक्नुवन्ति, इति मेधाविनामभ्य उत्तराणि स्तोतृनामानि' (मेधावी लोग ही वैदिक स्तुति कर सकते हैं; इसलिए मेधावियोंके नामोंके बाद ही स्तोताओंके नाम रखे गये हैं। सो उन नामोंमें आया हुआ 'सूरि' शब्द भी 'विद्वान्-स्तोता' का नाम हुआ। अतः टीकाकार वा भाष्यकार 'सूरि' का भी 'विद्वान्' ही अर्थ किया करते हैं।

फलतः 'देव' शब्दका स्वा.द.के द्वारा विद्वान्-मनुष्य अर्थ करना वैदिक एवं लौकिक शास्त्रोंसे विरुद्ध है, आशा है 'आलोक' पाठकोंने इस विषयपर जो स.ध.का आवश्यक विषय है—मीमांसा देख ली होगी।

उपसंहार (निष्कर्ष)

यदि 'देव' शब्द 'विद्वान्' का पर्यायवाचक होता, तो 'देवान्... उशिजः' (यजुःमाध्यं.सं. ६।७) इस मन्त्रमें 'उशिजः' शब्द कहनेकी आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि-वह भी 'विद्वान्'का वाचक है। तब वेदका न्यायद. (२।१।६७) के अनुसार अप्रामाण्यापादक 'पुनरुक्ति' दोष हो जाता। तब तो मेधावीके निघण्टु (३।१५) प्रतिपादित नामोंमें 'उशिजः' की भान्ति 'देवाः' शब्द भी होना चाहिये था, पर नहीं है। तब वादीका पक्ष निराधार ही है।

'देवाः' के विद्वत्पर्याय होनेपर उक्त शेष मन्त्रमें 'देवाः' भी विशेषण हो जानेसे, फिर मन्त्रमें 'विशेष्य' कोई भी नहीं रह जाता, अतः वादीका पक्ष बिल्कुल 'बेबुनियाद' हैं। इस विषयमें 'आलोक'-पाठक यदि पूरी स्पष्टता जानना चाहें; तो वे 'आलोक' के चतुर्थ पुष्पमें इस विषयमें देखें. जो अब समाप्त हो चुका है। इस हमारे मतको एक शास्त्रार्थमहारथीजीने भी अपने वेदविषयक पुस्तकमें अनूदित किया है।

(६५) एक आक्षेपपर विचार।

पूर्वपक्ष—मुझे खेद है कि-श्री शास्त्रीजी विद्वान् पण्डित होते हुए भी ऐसा लेख लिख रहे हैं जो कि-स्त्री-जातिको ही नहीं, समस्त-समाजको ही अवनतिके गर्तमें गिरानेवाले हैं। स्त्रियोंको वैदिक-विद्यासे वञ्चित करना उनको तथा समाजको अवनत करना है।

उत्तरपक्ष—हम तो कहते हैं कि-शास्त्रानुसार स्त्रीको वेदका वैध-अधिकार नहीं है। अतएव उसे तो वह पढ़ नहीं सकती। शेष रही वेद-की शिक्षा; सो वह पुराण-इतिहासके द्वारा वा परम्परासे आ रही हुई आचार-शिक्षा द्वारा सुन्दर वा सुगम प्रकारसे स्त्री-शूद्रादिको मिल सकती है।

'अक्के चेद् मधु बिन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' घरके कोनेमें ही यदि

शहद मिल जावे; तो पहाड़के ऊपर चढ़नेके परिश्रम की आवश्यकता भला क्या है?

स्त्रियोंकेलिए वेदकी आवश्यकता नहीं। वेदकेलिए तो 'नित्य-यज्ञोपवीतिता' (महा. अनुशा. १४१।३६) नित्य यज्ञोपवीत रखनेकी आवश्यकता होती है, परन्तु स्त्रियोंसे वह नहीं निभ सकता-यह हमारे पूर्वज जानते थे। वे उनका रजःकाल तथा प्रसवादि-कष्ट जानते थे, जिसमें अपवित्रतावश 'नित्य-यज्ञोपवीतिता' सम्भव नहीं हो सकती थी। हाँ, उनकेलिए वेदके अर्थकी आवश्यकता हम भी मानते हैं। 'सती भव' वेदका शब्द उनको वह नहीं सिखला सकता; जो उन्हें अर्थरूप सीता-सावित्रीका पौराणिक-इतिहास सिखला सकता है। यह पिता वा पति-का कर्तव्य है कि-कन्याको आचारादिकी शिक्षासे शिक्षित करें। शिक्षित होनेकेलिए वेदका अध्ययन अनधिकारीकेलिए नहीं है। वेदाध्येता-रावणादि क्या बुरे नहीं हो चुके? 'शास्त्राणि अधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः' ('शास्त्रोंको पढ़कर भी लोग मूर्ख वा दुराचारी' हो सकते हैं) 'आचार-हीनं न पुनन्ति वेदाः, यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः' (आचारहीनको अङ्गों सहित पढ़े हुए भी वेद पवित्र नहीं कर सकते)।

वादीके स्वामी भी कह गये हैं कि—'मूर्ख-स्त्री-पुरुषादि-द्वारा पाकादि-सेवा कराई जाय' (स.प्र. १० समु. पृ. १६६)। 'अन्न-पक्त्यां च' (९।११) में मनुजीने 'महानसस्य पात्राणि बहिः प्रक्षाल्य सर्वथा। मृद्भिश्च शोधयेत् चुल्लीं तत्राग्निं विन्यसेत् तथा। ततोऽन्नसाधनं कृत्वा पतये विनिवेद्य तत्' (२।२३-२८) में श्रीव्यासने तथा 'उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः' (५।१५४) मनुजीने स्त्रीको पाकादि सेवा, चुल्ला लीपना, सुलगाना, पतिको खिलाना आदि सेवाकी आज्ञा दी है।

तब वादीके स्वामीके अनुसार भी स्त्रियोंका अविद्यात्व सिद्ध हो गया। इसलिए वेदने भी 'यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्ति अश्मना'

(अ. ६।१३८।५) इत्यादि-द्वारा स्त्रियोंकेलिए अविद्यामूलक कार्य आदिष्ट किये हैं।

इसी भान्ति अथर्व. १४।२।५१ में 'स्त्रियोंकेलिए कपड़ेका बुनना' अ. ३।१२।८ में घड़ेका भरना, अ. ११।२।१३ में ओदन बनाने या पानी-को लानेकेलिए स्त्रीका भेजना, अ. ११।१।१४ में घड़ेका उठाना, अ. १४।२।१३ आदि मन्त्रोंके अनुसार स्त्रियोंको गृहक्षेत्र देना, सन्तान उत्पादन आदि कार्य देना, इससे वेदानुसार स्त्रियोंको सेवाका कार्य देना मुख्य उद्देश्य है, वेद आदिका अध्ययन मुख्य नहीं।

हम कहते हैं कि—स्त्रीको जो आप अक्षर-शिक्षा दिलाना चाहते हैं, वह आप उनपर भारी भार रखना चाहते हैं। पुरुषके शुक्रके थोड़े अंश तथा स्त्रीके अधिक रजसे लड़कीकी पैदायश होती है। इसके परिणाम-स्वरूप उस निर्बलाके गर्भाशय पर उसका दुष्प्रभाव पड़ता है। उसकी सन्तानोंके मस्तिष्कपर हानि पड़ती है। उसके निमित्त वह अपना स्वास्थ्य खो बैठती है। उसी कारण उसके शिशुओंके स्वास्थ्यपर भी बुरा प्रभाव पड़ता है, जिससे समाजकी हानि होती है।

इधर वादीकी मनचाही शिक्षासे शिक्षित हुई-हुई वे पति-समान बनी हुई फिर पति-सेवा नहीं करना चाहतीं, क्योंकि—सेव्य-सेवकता, असमान-योग्यता तथा स्वस्वामिभावमें होती है, साम्यवादमें नहीं। तब उन्हें चौका, चक्की, चूल्हा, कपड़े धोना, घड़े भरना, घरके क्षेत्रमें रहना, कपड़े सीना, बुनना, कसीदा काढना आदि कार्य बुरे मालूम होते हैं। वे बच्चोंके मलमूत्र-शोधनादिकार्य भी नहीं कर सकतीं, वे बच्चोंको भी नहीं पाल सकतीं। नहीं तो वे यज्ञमें लगी बैठी रहें; और बच्चा बैठा रोता रहे।

टिप्पणी—पृ. ७७२ में उपान्तिम पङ्क्ति देखो 'आलोक' (७) पृ. ४२६-४२८।

इस प्रकार वादीकी इष्ट स्त्रियां गृहकृत्यमें अयोग्य सिद्ध होती हैं। जितनी अधिक आयुमें उन लड़कियोंका ब्याह होता है, गर्भाशयमें कठोरता आ जानेसे उन्हें सन्तत्युत्पादनकी अनिच्छा हो जाती है। इसलिए वे विवाह ही नहीं करना चाहतीं। पर विलास-सम्बन्धी चिन्तन-शीलताके कारण नारीत्व तथा मातृत्व उनसे लुप्त होता जा रहा है। बच्चे उनके चिरजीवी नहीं होते; वा आचारहीन वा गुण्डे होते हैं। बच्चोंकी पढ़ाई माता पर अवलम्बित नहीं, किन्तु पिता तथा आचार्यपर ही अवलम्बित होती है।

इसी अक्षरशिक्षाके फलस्वरूप स्त्रियोंके भी आचारका पतन होता जा रहा है। इस विषयमें हम पृ. २५२-२५७ में लिख चुके हैं। फलतः आप लोग इन्हें हानि पहुंचा रहे हैं। इसी कारण उनके लड़के कमजोर होते हैं; समयपर उनके लड़के कम होते हैं, लड़कियाँ अधिक होती हैं।

आचारशिक्षा लड़कियोंको जो पिता वा पति दे सकता है; उसे अन्य पुरुष वा स्त्रियां कैसे दे सकती हैं? वे तो 'रक्षक' के स्थान 'भक्षक' हो सकते हैं, जिससे समाजको भी भयङ्कर हानि पहुंचनी स्वाभाविक है; जिसकेलिए वे तैयारियां कर रहे हैं।

शाब्दिक शिक्षासे स्त्रियोंको क्या लाभ?

'स्वल्पं तथाऽऽयुर्बहवश्च विघ्नाः' (आयु थोड़ी है, और विघ्न बहुत हैं)। हां, हम उनको पति वा पिता-द्वारा दी जानेवाली कर्तव्य-बोधक-शिक्षाका विरोध नहीं करते। वेदके अतिरिक्त साधारण शास्त्रोंके ज्ञानसे भी हम उन्हें नहीं रोकते; पर वह भी उन्हें 'पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत् परः' के अनुसार पिता आदि द्वारा होनी चाहिये, आचार्य-द्वारा, कन्या गुरुकुलों वा कन्याविद्यालय-महाविद्यालयों द्वारा नहीं।

(क) पूर्वपक्ष—महाभाष्यादिमें स्त्रियोंके उपाध्याया, आचार्या तथा व्याकरण-मीमांसादि शास्त्रोंके पण्डिता होनेका निर्देश है।

उत्तरपक्ष—हम अन्यत्र लिख चुके हैं कि—महाभाष्य स्त्रीका वेदा-

ध्ययन वैध नहीं मानता। वादीने उसका कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया। शेष रहे उसमें उपाध्याया, आचार्या आदि शब्द, सो वहां यह जानना चाहिये कि—व्याकरण शब्दशास्त्र है; धर्मशास्त्र नहीं। व्यवहार में शास्त्रविहित वा शास्त्रनिषिद्ध सब शब्दोंकी आवश्यकता कभी पड़ ही जाती है। उसी व्याकरणमें स्त्री-प्रत्ययमें 'चौरी' उदाहरण 'ताच्छीलिके णेऽपि' का है। तब क्या स्त्रियोंकी चोरीकी प्रकृति रखना शास्त्रीय हो जायगा? कट गई वादीकी यह बात। सो उन पुराकल्पवाली कई स्त्रियों (ऋषिकाओं) की इन शब्दोंसे सिद्धि हो जाती है।

जैसे 'हरिश्चन्द्र' शब्दकी सिद्धि राजर्षि-विशेषवाच्तता होनेपर होती है। इस 'हरिश्चन्द्र' शब्दका आजकल नाम आदिमें वेदाङ्गके अनुसार उपयोग नहीं हो सकता, इसकी चरितार्थता केवल पूर्व-शब्दके दिखलानेसे ही हो जाती है; इसी प्रकार यहाँ भी समझ लें। वर्तमानकालमें वैसी आज्ञा सिद्ध नहीं हो जाती।

पूर्वकल्पमें स्त्रियोंकी विवाह-विधि नहीं होती थी। देखिये इसपर महाभारत (आदिपर्व १२२।४)। पर ऐसा व्यवहार अब आचरणीय नहीं होता। इस प्रकार यहां भी समझ लें।

(ख) 'लौगाक्षिको भी 'षट्त्रिंशतं वा अष्टचत्वारिंशतं वा ब्रह्मचर्यम्' (२।५) में जातिपक्षसे कन्या-ब्रह्मचर्य भी यदि इष्ट होता; तो फिर वह कन्याओंका ब्रह्मचर्य पृथक् क्यों वताता? वह भी विवाह-कण्डिकामें। इससे स्पष्ट है कि—लौगाक्षिको वहाँ कन्याओंका ब्रह्मचर्य वादीके अनुसार वेदाध्ययन इष्ट नहीं; किन्तु १० वा १२ वर्षकी आयुसे पूर्वतक कन्याओंका ब्रह्मचर्य' (अविवाह) इष्ट है। अर्थात् १०-१२ वर्षतक संयमवती रहकर फिर उसका विवाह हो, वादीके श्रद्धेय श्रीदेवपालने वहाँ भाष्य किया है—'वर्ष-दशकाद् ऊर्ध्वं कुमारी न स्थापयितव्या पित्रा, अगत्या वा द्वादश वर्षाणि नातिक्रमणीयानि' यहाँपर स.ध.का पक्ष कितना स्पष्टरूपसे पुष्ट किया गया है। इससे तो उल्टा वादीकी मानी कन्या-

विवाहावस्था (१७-२४) ही कट गई। 'चौवेजी गये थे छव्वे बनने, दुब्वे बनकर आये'।

वादीने अपनी पुस्तक (पृ. १७७) में 'मैत्रेयी' को ब्रह्मवादिनी (वेद जाननेवाली) बताया है; वस्तुतः वहाँ यह अर्थ नहीं, किन्तु 'ब्रह्मवदनशीला' अर्थ है, जो वेदसे भिन्न ग्रन्थोंसे भी हो जाता है। इसमें शतपथकी ही एक साक्षी देखें।—

शतपथमें ब्रह्मवादिनी 'मैत्रेयी' की सपत्नी 'कात्यायनी' के लिए लिखा है—'स्त्रीप्रज्ञैव कात्यायनी' (१४।७।३।१) अर्थात् कात्यायनी स्त्रियों-जैसी बुद्धिवाली थी; उसमें ब्रह्मज्ञान नहीं था। सो यहाँ 'ब्रह्मवादिनीत्व' स्त्रीप्रज्ञात्वके अधिकारसे वहिर्भूत हुआ। अतः म.म. पं. शिवदत्तजीने 'आर्यविद्यासुधाकर' की टिप्पणीमें 'ब्रह्मवादिनी' के पतिको 'पति' न मानकर उसका 'रक्षक' अर्थ माना है। क्योंकि—'ब्रह्मवादिनी' होनेपर हारीतादि-धर्मशास्त्रोंके अनुसार उसको 'यावज्जीवन ब्रह्मचारिणी-उपस्थसंयमवती' होनेसे वह (याज्ञवल्क्य) उसका वैवाहिक-पति कैसे हो सकता था? सो जहां किसी स्त्रीकेलिए 'ब्रह्मवादिनी' शब्द आ जावे; उसे 'विवाहित-स्त्री' न मानकर 'यावज्जीवन ब्रह्मचारिणी' (उपस्थ संयमवती) होकर केवल ज्ञानसंचयकेलिए उस पुरुषके पास रहना पड़ता है, अतः वह 'पति' उसका 'वैवाहिक-पति' न होकर केवल रक्षक ही हुआ करता है। इसलिए स्त्रीकेलिए जहाँ ब्रह्मवाद आ जावे; वहां वेदसे अभिप्राय न होकर अन्य शास्त्रोंमें प्रोक्त ब्रह्मवाद ही समझना चाहिये।

अथवा वादीके अभिमत हारीतानुसार उस ब्रह्मवादिनीको यावज्जीवन अविवाहित या उपस्थसंयमवती रहकर निर्दिष्ट नियम पालने चाहियें। पर यह सर्वसाधारण स्त्रियोंका विषय न होनेसे अपवाद होता है; इसमें सर्वसाधारण स्त्रियोंका परिगणित न होनेसे वादीका पक्ष कट जाता है।

एक विद्यालंकारके आक्षेपका प्रत्युत्तर

(पृ. ६१-६२ का परिशिष्ट)

'यथेमां वाचं कल्याणीम्' शीर्षक मेरा लेख 'सिद्धान्त' (७।७-८) ज्येष्ठ कृष्ण २००३ काशीमें जब मैं मुलतानमें था, प्रकाशित हुआ था। उसमें मैंने स्वा.द.जीके उक्त मन्त्रके अर्थका निराकरण किया था। उसका प्रभाव पण्डित-समाजपर बहुत अच्छा पड़ा था। इसकेलिए मेरे पास बहुतसे पण्डितोंके पत्र आये, जिनमें उन्होंने 'यथेमां' के अर्थके विषयमें उन्हें जो स्त्री-शूद्रोंको वेदाधिकारविषयक भ्रम था; उसका दूर होना बताया था। एक डी. ए. वी. स्कूलके रिटायर्ड हैडमास्टरकेलिए हमें वह लेख विशेष-रूपसे लिखना पड़ा था। उनने भी अन्य लेख लिखे; पर हमारे उक्त निबन्ध पर कुछ नहीं लिखा, इसलिए उन्हें भी हमारा पक्ष सम्मत हुआ 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्'। 'सार्वदेशिक' के सम्पादक कट्टर-आर्यसमाजी स्नातकने भी हमारे लेखको 'सिद्धान्त' में देखा; अन्य विषयोंपर तो कुछ उन्होंने लिखा भी, पर मुझसे लिखे हुए उक्त मन्त्रार्थ पर उनकी लेखनी भी न चल सकी। तब उनने अपनी समाजके शास्त्रार्थ-महारथी एक विद्यालङ्कारको इस विषयपर लिखनेकेलिए प्रेरित किया।

तथाकथित उन शास्त्रार्थ-महारथीने भी 'सार्वदेशिक' (सितम्बर १९४७) में मेरे लेखपर 'वेदोंका उपदेश' (वेद पढ़नेका अधिकार सबको है।) इस शीर्षकसे समीक्षा लिखनेकी चेष्टा की। उसका निराकरण मैंने 'सिद्धान्त' पत्र (फाल्गुन शुक्ल ६ सं० २००४) में दिया था, जिसे संक्षेपसे मैंने 'आलोक' के तृतीय पुष्पके प्रथम तथा अब इस द्वितीय संस्करणमें इस पृष्ठसे संक्षेपसे दिया है। अब मैं यहां उक्त निबन्धको स्पष्ट करता हूं।

विद्यालङ्कारजीने अपनी पारम्परिक-प्रकृतिवश मुझसे लिखी बहुत-

सी बातोंका प्रत्युत्तर नहीं दिया; और मन्त्रार्थमें खूब तोड़-मोड़की चेष्टा की। यह लोग हमारे दिये हुए प्रमाणोंको 'प्रक्षिप्त' कहकर माननेसे इन्कार कर दिया करते हैं। पर वेदमन्त्रके अर्थ करनेके समय वे स्वयं कई शब्द उसमें 'प्रक्षिप्त' कर दिया करते हैं। यदि वे ऐसा न करें, तो फिर इनकी रेतीली दीवार उसी समय ढह जावे; और जनतापर रहा-सहा उनका झूठा रोब भी नष्ट हो जाय।

विद्यालंकारजी लिखते हैं—'शङ्कराचार्यजीके अतिरिक्त वेदव्यास, जैमिनि मुनि, पारस्कर आदि गृह्यसूत्रकार, मन्वादि-स्मृतिकार, रामायण-एवं महाभारतकार किसीने भी स्त्री-शूद्रको वेदका अनधिकारी नहीं माना। हां, शङ्कराचार्य महाराजने अवश्य लिखा है कि—'अस्य हि शूद्रस्य वेद मुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेदः'। 'शूद्र यदि वेदको सुन रहा हो, तो सीसा और लाखसे उसका कान राजा भरवा दे। यदि शूद्र वेद बोल रहा हो; तो उसकी जीभ काट दी जावे। यदि वेदको अपने अन्दर धारण कर रहा हो, तो उस शूद्रकी छाती फड़वा दे)'।

देखिये पाठकगण! विद्यालङ्कारजीने आरम्भमें ही 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' यह न्याय चरितार्थ किया है। हम दिखलाते हैं कि—इन सभीने स्त्री-शूद्रको वेदका अनधिकारी बताया है। विद्यालङ्कारजी देखें।

पहले मनुस्मृतिके प्रमाण इस पुष्पके ५-६ पृष्ठमें देखें। 'भगवद्गीता' में भी कहा है—'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्' (१८।४४) (शूद्रोंका स्वाभाविक कर्म सेवा करना है) 'अत्रिस्मृति' में भी लिखा है—'आत्मीये संस्थितो धर्मे शूद्रोपि स्वर्गमश्नुते। परधर्मो भवेत् त्याज्यः सुरूपपरदारवत्' (१८) (अपने सेवाधर्ममें स्थित शूद्र भी स्वर्गको प्राप्त करता है। उसे दूसरेका धर्म छोड़ देना चाहिये; जैसे सुन्दरी भी दूसरेकी

स्त्रीको छोड़ दिया जाता है)।

गीतामें भी कहा है—'स्व-कर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (१६।४६) (मानव अपने कर्म करनेसे भगवान्‌की पूजा कर रहा होता है।) अपने विगुण-कर्मपर भी गीता कहती है—'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वभाव-नियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्विषम्' (१८।४७) (अपना विगुण भी धर्म दूसरेके अच्छे धर्मसे भी अच्छा होता है, स्वभावसे नियत कर्मको करता हुआ पुरुष पापको नहीं पाता)। 'सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८।४८) (श्रीकृष्ण-भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—अपना स्वाभाविक कर्म दोषयुक्त हो; तब भी उसे न छोड़े। क्योंकि सभी कर्मोंमें कोई न कोई दोष रहा ही करता है, जैसे अग्निमें धूम रहता है)।

मनुजीकी वैदिकता देखिये—'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना सम्प्रकीर्तितः। स सर्वोभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' (२।७) (मनुजीने जो जिसका धर्म बताया है; वह सारा वेदमें ही कहा गया है। क्योंकि—मनुजीको वेदका सारा ज्ञान है)। जब ऐसा है; तो वादीका पक्ष कट गया कि—'श्री शङ्कराचार्यके अतिरिक्त किसीने भी शूद्रादिको वेदका अनधिकार नहीं बताया'।

जिस कड़े दण्डको वादी श्रीशङ्कराचार्यका मत बताता है, वैसा कड़ा दण्ड वादिप्रतिवादिमान्य मनुजीको भी अभिमत है। देखिये—'धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य [शूद्रस्य] कुर्वतः। तप्तम सेचयेत् तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः' (८।२७२) (यदि शूद्र अभिमानसे ब्राह्मणोंको धर्मोपदेश देने लग पड़े; तो राजा उस (शूद्र) के कानमें तथा मुखमें गर्म तेल डलवाये)। और भी देखिये—

'एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्। जिह्वायाः प्राप्नुयात्

छेदं जघन्यप्रभवो हि सः' (मनु. ८।२७०) (यदि शूद्र द्विजोंको गाली दे; तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए)। 'नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः। निक्षेप्योऽयोमयः शंकुर्ज्वलन् आस्ये दशाङ्गुलः' (८।२७१) (यदि शूद्र द्रोहसे नाम वा जातिका नाम लेकर द्विजोंकी निन्दा करे, तो उस शूद्रके मुखमें राजा जलता हुआ दस अंगुलिका कील डाले) यह क्या 'गौतमधर्मसूत्र' की भान्ति कड़ा दण्ड नहीं? तब वादीका आक्षेप कट गया।

कड़े दण्डके विषयमें स्वा.द.जी भी लिख गये हैं—'जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं; वे राजनीतिको नहीं जानते। क्योंकि एक पुरुषको इस प्रकार [कड़ा] दण्ड होनेसे सब लोग बुरे [शास्त्रविरुद्ध] कामको छोड़कर धर्म-मार्गमें स्थिर रहेंगे, (स.प्र. ६ठे समुल्लासकी समाप्ति पृ. १०६ में) मनुस्मृतिके अन्य भी बहुतसे पद्य हैं, जिनसे स्त्री एवं शूद्रका वेदाधिकार कटता है, पर विस्तारभयसे नहीं लिखे। दिङ्मात्र एक-दो पद्य और भी हम लिख देते हैं, जिन्हें वादी मान्य मानता है। वे यह हैं—

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः' (२।१६८) यहांपर वेदका अध्ययन न करनेवाले द्विजको 'साहित्यसङ्गीत-कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाणहीनः' की भान्ति अर्थवादसे शूद्र कहा गया है। जब वेद न पढ़े हुए द्विजको शूद्र कहा गया है, तब इससे भी शूद्रको वेदका अनधिकार सिद्ध हो रहा है। इसी प्रकार 'न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः' (मनु. २।१०३) यहां पर दो काल वैदिक सन्ध्या न करनेवाले द्विजको शूद्रकी भान्ति द्विजकर्मसे बहिष्कृत करना कहा है। मनुजीका अन्य वचन भी देखिये—'नाभि-व्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनाद् ऋते। शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते' (२।१७२) (तब तक द्विज वेदमन्त्रोंका उच्चारण न करे, जब तक

कि वेदारम्भ-संस्कारको प्राप्त नहीं करता। क्योंकि तब तक वह शूद्रके समान है) इससे भी शूद्रका वेदमें अनधिकार सिद्ध हो रहा है।

यह तीन पद्य मनुस्मृतिमें अप्रक्षिप्त एवं वादिप्रतिवादिमान्य हैं। इनसे वेद न पढ़नेवाले द्विजको शूद्र कहा है। तब इससे भी शूद्रको वेदका अनधिकार सिद्ध हो रहा है। आशा है-विद्यालङ्कारजीकेलिए यहां अधिक स्पष्टता करनी उनकी पदवीका गौरव घटाना होगा। स्त्रीकेलिए भी वेदाधिकार वर्जित है-यह पृ. ५ में देखें।

यह बात हुई मनुस्मृति की; उसके आगे हमने 'आदि' शब्द दिया था-'मन्वादि-स्मृतिकार'। विद्यालङ्कारजी कहते हैं कि-'उन स्मृतिकारोंने भी स्त्री-शूद्रका कहीं वेदानधिकार नहीं माना', पर उनकी यह बात भी गलत है। एक-आध उनका भी उद्धरण देख लीजिये। देखो व्यासस्मृति-'शूद्रो वर्णश्चतुर्थोपि वर्णत्वाद् धर्ममर्हति। वेदमन्त्र-स्वधा-स्वाहा-वषट्कारादिभिर्विना' (१।६) यहांपर शूद्रको वेदमन्त्रोंका प्रयोग निषिद्ध किया गया है।

अब 'वसिष्ठ-धर्मसूत्र' देखिये—'न केनचित् छन्दसा शूद्रम्-इति असंस्कार्यो विज्ञायते' (४।३) यहां पर बताया गया है कि-(शूद्र किसी छन्दसे उत्पन्न नहीं हुआ। अत: उसका उपनयन-संस्कार नहीं हो सकता।) जब ऐसा है; तो वह वेदमें अनधिकारी रहा। अब 'गौतमधर्मसूत्र' देखिये-'अथास्य वेदमुपशृण्वत: त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' (२।३।४) यह अर्थवाद-वाक्य शूद्रके वेदानधिकारमें पर्यवसित होता है। इनमें किसीने भी स्त्री एवं शूद्रका उपनयन तथा वेदारम्भ नहीं माना। कलियुगकेलिए नियत 'पराशरस्मृति' में लिखा है-'वेदाक्षर-विचारेण शूद्र: नरकं ध्रुवम् (शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्) (१।७४) 'विकर्म कुर्वत शूद्रा द्विजशुश्रूषयोज्झिता: ।...निरयं यान्त्यसंशयम्' (परा.२।१६) (शूद्र यदि वेदाक्षरोंका विचार करे, और द्विजोंकी सेवा छोड़ दे; तो वह नरकको जाता है।)

अब महाभारतकारको लीजिये-'मन्त्र: शूद्रे न विद्यते' (शान्तिपर्व ६०।३७) (मन्त्रात्मक वेद शूद्रमें नहीं होता)। 'न च तां (रुक्मिणीं) प्राप्तवान् मूढः (शिशुपाल:) शूद्रो वेदश्रुतीमिव' (सभापर्व ४५।१६) (शूद्र वेदमन्त्रोंको प्राप्त नहीं कर सकता)। 'नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य (शूद्रस्य यज्ञ:' ।...एवं स्मृत: शूद्रधर्म: पुराण:' (उद्योगपर्व २९।२६) यहाँ पर श्रीसातवलेकरजीने अर्थ लिखा है—'शूद्रको वेद पढने और यज्ञ करनेका अधिकार नहीं है; यह शूद्रका पारम्परिक (प्राचीन) धर्म है। और देखिये—

'सा वेदि: वेदसम्पन्नै: देव-द्विज-महर्षिभि:। आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रै: द्यौरिवायता' (महा. सभापर्व ३६।८) (वह यज्ञवेदी वेदज्ञ द्विज आदिसे युक्त थी) न तस्या: [यज्ञ-वेद्या:) सन्निधौ शूद्र: कश्चिदासीद् न चाऽव्रती। अन्तर्वेद्यां तथा राजन्! युधिष्ठिर-निवेशने' (३६।६) (युधिष्ठिरकी वेदीके पास कोई शूद्र वा व्रतहीन नहीं था।)

अब पारस्करादि गृह्यसूत्रोंका मत भी देख लीजिये-। उन्होंने तीन वर्णोंको ही यज्ञोपवीत दिया है। शूद्रको उन्होंने उपनयन एवं वेदाध्ययन नहीं दिया। देखिये-'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत गर्भाष्टमे वा; एकादशवर्षं राजन्यं, द्वादशवर्षं वैश्यम्' (पार. २।२।१-३), इसी प्रकार द्राह्यायण-गृह्यसूत्र ३।४।१-३-५), जै.गृ.सू. १।१२) में, आप.गृ. (४।१-३) में, गोभि.गृ. (२।१०।१-३) आग्निवे.गृ. १।१।१) में, काठ.गृ. ४१।१-३) में, वैखा.गृ. २।३) में; इस प्रकार प्राय: सभी गृह्यसूत्रोंमें है। इनमें शूद्रको यज्ञोपवीतका अधिकार नहीं दिया गया। इस प्रकार स्त्रीको भी वैसा अधिकार नहीं दिया गया। 'लाट्यायन श्रौतसूत्र' में भी लिखा है-'अर्थोऽन्तर्वेदि दक्षिणमुखस्तिष्ठेद्; बहिर्वेदि शूद्र उदङ्मुख:' (४।३।५) इस प्रकार श्रौतसूत्रोंमें भी शूद्रका यज्ञवेदिमें अधिकार नहीं माना गया। जब ऐसा है; तो विद्यालङ्कारजी किस मुंहसे कहते हैं कि-श्री-शङ्कराचार्यके अतिरिक्त किसीने भी स्त्री-शूद्रको वेदका अनधिकार नहीं दिया।

अब श्रीजैमिनि-मुनिका भी मत सुन लीजिये—'अपि वा वेदनिर्देशाद् अपशूद्राणां प्रतीयेत' (मीमांसा. ३।१।३३) यहाँपर श्रीजैमिनिमुनिको 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, वर्षासु वैश्यम्' यही वेदनिर्देश अभीष्ट है। यहाँ शूद्रका उपनयन इष्ट न होनेसे श्रीजैमिनिमुनिको भी शूद्रका वेदाधिकार इष्ट नहीं। इधर जबकि—श्रीजैमिनिमुनिने 'मीमांसादर्शन' के छठे अध्यायके प्रथमपादमें प्रथम-अधिकरण ही 'यागे शूद्रस्य अनधिकाराधिकरणम्' रखा है; तब उनके मतमें शूद्रका वेदानधिकार सिद्ध हो ही गया, क्योंकि–यज्ञ वेदका विषय है। जैसे कि 'आलोक' (६) में देखिये पृ. १४२-१४६।

'यज्ञो मन्त्र-ब्राह्मणस्य' (वेदस्य) (न्यायदर्शन ४।१।६२) 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' ('सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्याय ६) इत्यादि। इसलिए यज्ञविषयवाले वेदकेलिए अधिकारपट्ट भी 'यज्ञोपवीत' रखा जाता है; तब शूद्र तथा स्त्रीके स्वतन्त्र यज्ञ तथा यज्ञोपवीत न होनेसे श्रीजैमिनिके मतमें भी शूद्रका वेदमें अनधिकार सिद्ध हो गया।

अब रहा 'वेदान्तदर्शन'। जब वादी मानता है कि–इस दर्शनमें शूद्रको वेदका अधिकार नहीं लिखा। उसका अपशूद्राधिकरण (१।३। ३४-३८) बहुत ही प्रसिद्ध है। इससे सभी प्राचीन भाष्यकारोंने शूद्रको वेद तथा यज्ञका अनधिकारी माना है। इस विषयमें 'सन्मार्ग' दैनिक दिल्ली (६।५२४-५३३) में हमारी लेखमाला प्रकाशित हो चुकी है।

इस तृतीय पुष्पके पृ. ४६१ से ५७० पृष्ठ तक उस लेखमालाको उद्धृत किया जा चुका है। जब वेदके मर्मज्ञ उन प्राचीन आचार्योंने ऐसा माना है, और 'यथेमां वाच' मन्त्र भी इनकी दृष्टिसे दूर नहीं था, तब स्पष्ट है कि–स्वा,द.से किया हुआ उक्त मन्त्रका अर्थ ठीक नहीं।

यह जो वादीने 'अस्य हि वेदमुपशृण्वतः, त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इसे शङ्कराचार्यका मत लिखा है; तो उसका अनुसन्धान अवश्य स्तुत्य(?)

है। वादि-महाशय ! यह तो स्वा. शङ्कराचार्यने 'गौतमधर्मसूत्र' का प्रमाण देकर अपना पक्ष पुष्ट किया है। तब इसमें आपका पक्ष कट गया।

आगे जो वादीने श्रीशङ्कराचार्यजीकी यह बात (उक्त अधिकरणसे स्त्री-शूद्रका वेदमें अनधिकार) लिखनेसे स्वा.शं.जीका वेदान्तसूत्रका आशय न समझना, वेदविषयक परिश्रमका अभाव, जगत्को स्वप्न समझना–यह तीन कारण बतानेकी धृष्टता की है, इसमें वादीने अपना ही अज्ञान सिद्ध किया है। 'वेदान्तदर्शन' के उन सूत्रोंका सभी भाष्यकारों-ने समान ही (शूद्रादिके वेदानधिकारका) भाष्य किया है।

यह है भी ठीक। जब कोई वेद, कोई भी धर्मशास्त्र वा पुराणेति-हासका वचन स्त्री एवं शूद्रका उपनयन (ब्रह्मसूत्र) ही नहीं कहता; तब ब्रह्म-सूत्र न होनेसे उनका ब्रह्म (वेद) में अधिकार ही कैसे हो? जब ब्रह्म तथा ब्रह्मसूत्रमें ही शूद्रादिका अधिकार नहीं; तब ब्रह्मसूत्र-(वेदान्तदर्शन) ने अपने उपजीव्य वेदमें उन स्त्री-शूद्रोंका अनधिकार ठीक ही उद्घुष्ट कर दिया। इधर ब्रह्मका ठीक ज्ञान वेदसे होता है-यह वादी भी कहते हैं—'नाऽवेदविद् मनुते तं बृहन्तम्' (तद् ब्रह्म)' (तै.ब्रा. ३।२२।६) तब वेदमें स्त्री-शूद्रोंका अनधिकार सिद्ध होनेसे ही वैदिक-ब्रह्मविद्यामें उनका अधिकार न रहा।

'श्रवणाध्ययन-प्रतिषेधात्' का वादीका किया अर्थ ठीक नहीं। 'श्रवणाध्ययन-प्रतिषेधात्' सूत्रमें 'स्मृतेश्च' में स्मृतिका वही वाक्य अभीष्ट है, जिसे स्वामी शङ्कराचार्यने उद्धृत किया है। वह 'गौतम-धर्मसूत्र'-का सूत्र है। वादियोंमें यह बहुत बुरा मर्ज है कि–अशुद्ध अर्थ कर डालते हैं कि–'उस शूद्रको वेद सुनाते थे, वा पढ़ाते थे, तो वह सुनने-पढ़नेसे इनकार कर देता था'। ऐसा वादीने सूत्रके किन पदोंका अर्थ किया है? 'वेदके श्रवण तथा अध्ययनका शूद्रकेलिए शास्त्रानुसार निषेध है।

स्मृति भी यही कहती है'। यही उक्त सूत्रका इष्ट अर्थ है। क्या वादीको परलोकसे भी डर नहीं है कि उसकी परलोक जानेके समय कितनी दुर्दशा होगी, जो कि ग्रन्थकारसे अनिष्ट कृत्रिम अर्थ कर दिया करता है।

दूसरा जो वादीने श्रीशङ्कराचार्यकेलिए यह कहा है कि-'वे सदा उपनिषद् पढ़नेमें लगे रहे; वेदका उन्होंने स्वाध्याय ही नहीं किया, तो 'प्रथेमां वाचं' मन्त्र उनकी दृष्टिमें कहांसे आता ?'' यह कहकर वादीने जहाँ धृष्टता की है, वहाँ अपना वेदविषयक-अज्ञान भी प्रकट कर दिया। देखिये-वेद दो भागोंमें विभक्त है—मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग। मन्त्रभागमें ११३१ संहिताएं आ जाती हैं। उन संहिताओंके उतने ही ब्राह्मण होते हैं। ब्राह्मणभागमें उपनिषद् तथा आरण्यक भी आ जाते हैं। यह सब वेद है। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, यास्क आदि सभी इसमें सहमत हैं। हम उनके इस विषयमें कुछ उद्धरण देते हैं।—

पाणिनि जहाँ लौकिक प्रयोग बताते हैं; वहाँ 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (७।२।८८) लिखते हैं। यहाँ पर पाणिनिने 'युवां' प्रयोगको 'भाषा' (लौकिक) बताया है। अब 'युवम्' यह प्रयोग 'वैदिक' सिद्ध हो गया। जहाँ श्रीपाणिनि अष्टाध्यायीमें 'छन्दसि' (२।३।६२) अथवा 'निगमे' (७।२।६४) लिखते हैं, वहाँ उन्हें मन्त्र तथा ब्राह्मण इन दोनों भागोंका प्रयोग इष्ट होता है।

जहां केवल मन्त्रभाग (संहिताभाग) में श्रीपाणिनिको कार्य कर्तव्य होता है; वहाँ वे 'मन्त्रे' (३।२।७१) लिखते हैं। जहाँ श्रीपाणिनिको केवल ब्राह्मणभागमें वैदिक-कार्य इष्ट होता है, वहाँ श्रीपाणिनि 'ब्राह्मणे' (२।३।६०) पढ़ते हैं। जहाँ मन्त्रभागमें भी किसी एक वेदमें उन्हें वैदिक-कार्य इष्ट होता है, वहाँ श्रीपाणिनि 'ऋचि' (६।३।१३३) 'यजुषि' (६।१।११७) इत्यादि पढ़ते हैं। जहां यजुर्वेदादिकी किसी विशिष्ट-संहितामें श्रीपाणिनिको कोई वैदिक कार्य इष्ट होता है, वहाँ

श्रीपाणिनि 'काठके' (७।४।३८) इत्यादि पढ़ते हैं। किसी अन्य संहितामें श्रीपाणिनिको अपने कहे हुए कार्यसे भिन्नता अनुमित होती है, वहाँ वे 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) इत्यादि व्यत्यय मानते हैं।

वेदमें तीन काण्ड वादी भी मानता होगा—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। सो ज्ञानकाण्ड विशेषरूपसे आरण्यक एवं उपनिषदोंमें है। कर्म तथा उपासना विशेषरूपसे मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभागमें हैं। ब्राह्मणभागमें उपासना विशेष करके है। ब्रह्मचर्यसे गृहस्थतक कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड अपेक्षित होते हैं। तो उन्हें ब्राह्मणभाग तथा मन्त्रभाग अपेक्षित होता है। वानप्रस्थमें प्राय: आरण्यक अपेक्षित होता है। संन्यासमें प्राय: ज्ञानकाण्ड होनेसे उपनिषदें अपेक्षित होती हैं। पर यह तो नहीं कि उनको सारे वेदोंका ज्ञान ही न रहे।

उन्हीं श्रीशङ्कराचार्यके वेदान्तदर्शनादिके भाष्यमें देखिये। उन्होंने निम्नसूत्रोंके भाष्योंमें 'ऋग्वेदसंहिता' के प्रमाण दिये हैं—१।२।२३-२४, २६; १।३।२८; १।४।२७। इस प्रकार अन्य भी बहुत स्थलोंमें स्थान-स्थानपर उन्होंने यजुर्वेद-माध्यन्दिनी-संहिताके ब्राह्मण तथा आरण्यकको भी स्मृत किया है। कृष्ण-यजुर्वेदकी तैत्तिरीय-संहिताको बहुत स्थलोंमें उद्धृत किया है। शुक्ल-यजुर्वेदकी ईशोपनिषद्को भी स्मृत किया है।

'श्रीशङ्कराचार्य वेदको नहीं जानते थे' यह कहते हुए वादीको लज्जा आनी चाहिए। समय होता है—वादी लोग 'भारती' को वेदज्ञसिद्ध करनेकेलिए यही युक्ति दिया करते हैं कि-भला श्रीशङ्कराचार्यजैसेके साथ बिना वेद पढ़े भारतीका शास्त्रार्थ कैसे हो सकता था ?' तब फिर श्रीशङ्कराचार्यको वादी वेदसे अनभिज्ञ बतानेका साहस कैसे करता है ?

वादीके बाबा दयानन्दजी स्वा. श्रीशङ्कराचार्यकेलिए कहते हैं कि—

'शङ्कराचार्यजी उज्जैनमें आकर वेदका उपदेश करने लगे। उनमें शङ्कराचार्यका वेदमत था, अर्थात् उनका पक्ष वेदमतका स्थापन था।' (स.प्र. १० समु. पृ. १८१)।

वादीके गुरु बाबाजी तो श्रीशङ्कराचार्यकी वेदकी विद्वत्ता कहते हैं, और वादी कहता है कि उन्हों (श्रीशङ्कराचार्य) ने वेदका स्वाध्याय ही नहीं किया था। खेद !!! वादी जनताको कितना गुमराह कर रहा है ?

वादीके आर्यसमाजी-विद्वान् श्रीनरदेवजी शास्त्रीने 'आर्यसमाजका इतिहास' प्रथमभागमें लिखा है—'शङ्करभगवान् (शङ्कराचार्य) चारों वेद पढ़े थे। सब शास्त्र देख चुके थे। वर्णाश्रम-धर्ममर्यादाके पक्षपाती थे। संन्यासी थे। तत्त्ववेत्ता थे। वैदिकधर्मके प्रबल रक्षक थे' (पृ. १४४) अब वादी झूठा, या दूसरे विद्वान् झूठे ?

यह हम पहले कह चुके हैं कि—मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग उपनिषद्-आरण्यक-समेत यह सारा ही साहित्य वेद है। इसपर वादी अपने प्रमाण-भूत श्रीयास्क तथा श्रीपाणिनि आदिके उद्धरण देखे। वादीके स्वामी भी मान गये हैं कि—जहाँ श्रीयास्काचार्य 'इत्यपि निगमो भवति' लिखते हैं, वहाँ उन्हें 'वेदका प्रमाण' इष्ट होता है।

जैसे कि श्रीसायणने भी अपने 'ऋग्वेदभाष्योपोद्घात' में लिखा है—'निगमशब्दो वेदवाची। यास्केन तत्र-तत्र 'अपि निगमो भवति' इत्येवं वेदवाक्यानामवतारितत्वात्'। स्वा.द.जीने भी लिखा है—'इत्यपि निगमो भवति। इति ब्राह्मणम्' इससे स्पष्ट विदित होता है कि—वेद मन्त्रभाग और ब्राह्मण व्याख्या भाग है' (स.प्र. ७ पृ. १२७)।

अब 'निरुक्त' में देखिये—'यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्... तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इत्यपि निगमो भवति' (२।३।१) यह 'श्वेता-श्वतरोपनिषद्' की कण्डिका है। तब उपनिषद् भी निगम (वेद) हुई।

'व्यवहिताश्च' (१।४।८२) जैसे यह पाणिनिका वैदिकसूत्र 'आ मन्द्रैरिन्द्र ! हरिभिर्याहि' (ऋशासं. ३।४।१) इस मन्त्रभागकी कण्डिकामें लगा है, वैसे ही 'उप त्वा नेष्ये' (छान्दो. ४।४।५) इस उपनिषद्की कण्डिकामें भी लगा है। यहाँ 'उप' और 'नेष्ये' में 'त्वा' का व्यवधान है। उपसर्ग और धातुमें व्यवधान लोकमें नहीं हुआ करता; किन्तु वेदमें ही होता है। परन्तु उपनिषदोंमें भी वह व्यवधान दीखता है। तब उपनिषद् भी वेद हुए।

'सुपां सुलुक्' (पा. ७।१।३९) यह वैदिक सूत्र जैसे 'सविता प्रथमेऽहन्' (यजुः माध्यं. ३९।६) इस मन्त्रभागमें लगा है, वैसे 'यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः' (शत. १४।६।८।३) इस बृहदारण्यकोपनिषद्की कण्डिकामें भी लगा है। 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) यह वैदिकसूत्र 'सत्यमेव जयते नानृतम्' (मुण्डक ३।१।६) में इस उपनिषत्कण्डिकाके उपग्रह (पद) के व्यत्ययमें भी लगा है। 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (८।३।१) यह है; तब वैदिक-सूत्र 'भगवः' (छान्दो. ४।५।१) इस उपनिषद्-वाक्यमें भी लगा उपनिषद् भी वेद सिद्ध हुए।

'छन्दसि निष्टर्क्य' (३।१।१२३) यह पाणिनिका वैदिक-सूत्र है, इसका उदाहरण 'निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः' है। यही उदाहरण स्वा.द.जीने अपने 'आख्यातिक' में रखा है, पर वादीको यह अपने माने हुए चार वेदग्रन्थोंमें नहीं मिलेगा। इससे स्पष्ट है कि—वादीकी मानी हुई यह चार संहिताएं ही वेदकी परम अवधि नहीं हैं। वादीके चारों वेदोंमें 'निष्टर्क्य' शब्द ही नहीं है; तब इससे प्रकट है कि—वेदकी सीमा इन वर्तमान चार संहिताओंसे अधिक है। 'निष्टर्क्य' कृष्णयजुर्वेद 'ऐतरेयारण्यक' (५।१।३) में है। कृष्णयजुर्वेद-'तैत्तिरीयसं.' (६।१।७।२) में भी है। तब 'आरण्यक' तथा सब शाखाएं (संहिता) भी 'वेद' सिद्ध हुईं। 'शं नो देवीः' को वादीके स्वामीजीने (ऋभाभू.) में अथर्ववेदका 'प्रथममन्त्रप्रतीक' माना है, पर वह अथर्ववेद-'पैप्पलादसं.' में है।

'भावलक्षणे तोमुन्' (३।४।१६) इस पाणिनिके वैदिकसूत्रका उदाहरण वादीके स्वामीने भी 'काममा विजनितो: सम्भवाम' अपने 'आख्यातिक' में दिया है। पर यह वादीकी मानी हुई चारों वेद-संहिताओंमें नहीं, किन्तु कृष्णयजुर्वेद 'तैत्तिरीयसं.' (२।५।१।५) में है। तब कृष्णयजुर्वेद भी वेद हुआ। श्रीयास्कने मन्त्रभागके सार्थक्यमें 'एक एव रुद्रोवतस्थे न द्वितीय:, अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' यह जो उदाहरण दिये हैं; वे वादीकी मानी हुई चारं वेद-संहिताओंमें नहीं हैं, गोता लगाइये। तब वेदकी सीमा इनसे अधिक सिद्ध हुई। महाभाष्य-कारने भी वेदके उदाहरणमें ब्राह्मणभागके बहुतसे उद्धरण दिये हैं।

वादिमहाशय! अभी हमने दिङ्मात्र उद्धरण दिये हैं। यदि मैं वादीको श्रीपतञ्जलि आदिके सभी उद्धरण दूं; तो वादीको चक्कर आ जायगा। तब वादी अपने अज्ञानपर विक्षुब्ध न होकर श्रीशङ्कराचार्य-स्वामीपर दोष क्यों देता है कि-"उनने वेद ही नहीं देखे थे; तब उन्हें 'यथेमां वाचं' मन्त्र कहाँसे मिलता?" वस्तुत: ऐसा कहनेमें वादीका दुस्साहस ही है। शेष जगत्को मिथ्या वा स्वप्नवत् उन्होंने पारमार्थिकता में माना है। यह बात ठीक है। पर व्यावहारिकतामें उन्होंने वेदोंके सब नियम यथाधिकार विहित किये ही हैं; तब उनपर यह दोष नहीं आ सकता।

अब वादीके 'वेदमाता...पावमानी द्विजानाम्' मन्त्रके अर्थकत्र समालाचना दी जाती है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि-वेद द्विजोंको पवित्र करनेवाला है। वेदको द्विजोंका माताकी भाँति हितकारी होनेसे 'वेदमाता' कहा गया है, इस मन्त्रमें शूद्रका कहीं गन्ध भी नहीं। "सो जिस कर्मसे ब्राह्मण लोग शूद्रोंको वेद पढ़ाकर अथवा सुनाकर पवित्र करते हैं" यहाँपर वादीने 'द्विज' का अर्थ 'ब्राह्मण' दिया है, पर 'शूद्रों' को यह शब्द वादीने कहाँसे निकाला? इतना अन्धेर कि-वादी वेदमन्त्रमें भी प्रक्षेप कर रहा है?

"इसीके द्वारा वे शूद्रों तकको वेद पढ़ाकर अथवा सुनाकर पवित्र कर लेते हैं" यह वादीके शब्द हैं। पहले शूद्रोंको लिखा, फिर इस वाक्यमें 'शूद्रों तकको' लिखा। यह अर्थ वादीने किस पदका किया है? फिर यहाँ वादीने चाण्डालका नाम नहीं लिखा, वे अवर्ण होनेसे शूद्र-वर्णान्तर्गत नहीं। तब वे भी पवित्र न हो सके। तो फिर वेद पढ़नेका सबको अधिकार कैसे हुआ? लोग व्यापारोंमें ब्लैकमार्कीट करते हैं; पर वादी वेदके अर्थमें ब्लैकमार्कीट कर रहे हैं। हा खेद!!!

वस्तुत: वादीके पास इस मन्त्रका कोई प्रत्युत्तर है ही नहीं। वादी-लोग अब तक भोली-भाली जनताको ठगते रहे हैं, पर विद्वानोंके सामने आकर वादी-लोगोंको आटे-दालका भाव पता लगना है। पहले महाशयजीने 'शूद्र' शब्द लिखा, फिर 'शूद्रों तक' लिखा। अब लिखते हैं कि-'द्विजोंका परम कर्तव्य है कि-शूद्र, चाण्डाल, म्लेच्छादि सबको वेद पढ़ाकर शुद्ध पवित्र करें।"

बलिहारी है विद्यालंकारजीके वेदपाण्डित्यकी। यह अर्थ वादीने कहाँसे निकाला? कल आप इसमें मद्य, नालीका पानी, पुरीष आदि भी प्रक्षिप्त कर देंगे कि-द्विज उन्हें भी वेदसे शुद्ध कर लेंगे। महाशय! 'द्विजोंको पवित्र करनेवाला' कहनेसे एकज-शूद्र तथा अवर्ण अन्त्यजादिका वेदमें अधिकार हट गया। इसीका भाष्य सब धर्मशास्त्रोंके वचन हैं, जिनमें शूद्रादिकेलिए अध्ययन ही नहीं लिखा।

अब वादी आगे लिखता है—'यहां तक तो हुई शूद्रकी बात, अब स्त्रीका नाम शास्त्रीजीने चुपकेसे बीचमें कैसे शामिल कर लिया, यह वे ही बता सकेंगे"। इसपर प्रत्युत्तर यह है कि इससे यह तो सिद्ध हो गया कि-शूद्रको उक्त मन्त्रसे वेदका अनधिकार सिद्ध है; तब 'यथेमां वाचं' का अर्थ भी आप लोगोंका अशुद्ध सिद्ध हुआ। शेष रहा स्त्रीका नाम चुपकेसे बीचमें डालना, सो ऐसी दुष्प्रकृति हम लोगोंमें तो है नहीं कि-विना प्रमाणापपत्ति हम कोई शब्द बीचमें प्रक्षिप्त कर दें। यह तो

आप ही लोग गुरुपरम्परासे कर रहे हैं।

यदि वादीको मेरी बातपर विश्वास न हो; तो वे अपने स्वा.द.जीका (जिनकी मूर्तिका वादीने अपने पाँवकी ठोकरसे हैदराबाद-दक्षिणमें सम्मान (?) किया था, उनका) 'यथेमां वाचं कल्याणीं' का अर्थ ही देख लें। 'स्वाय' पदका अर्थ करते हुए स्वामीने चुपकेसे बीचमें 'स्त्री-सेवक' शब्द कैसे प्रक्षिप्त कर दिये? वादीने अपने उन स्वामीजीसे जो वादीका पाद-प्रहार-पाकर वादीपर बहुत प्रसन्न हो रहे थे-पूछा नहीं कि-'स्वाय के अर्थमें आपने 'स्त्री-सेवक' अर्थ कैसे चुपकेसे डाल दिया? पूछते हमसे हैं? यदि हमसे 'पावमानी द्विजानाम्' में स्त्रीकी व्यावृत्तिकेलिए पूछते हैं; तो लीजिये-हम वादीको उत्तर देते हैं—

'द्विज' का अर्थ क्या वादी जानता है? अवश्य जानता होगा। क्योंकि विद्यालङ्कार स्नातक-महाशयको यह ज्ञात न हो, इसकी हमें आशा नहीं करनी चाहिये। अस्तु। सुनिये-मुख्य-द्विजत्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पुरुषोंका यज्ञोपवीत धारण करनेपर होता है। पर शूद्र तथा स्त्रीका उपनयन किसी भी गृह्यसूत्र वा धर्मसूत्रके अनुसार नहीं होता। उपनयन-संस्कारमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुमारका वर्णन होता है। कुमारसे कुमारीका ग्रहण नहीं होता। तभी तो वेदमें 'मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे **दुहिता** विराट्' (ऋ.शा.सं. १०।१५९।३) '**त्वं स्त्री, पुमान्** असि, त्वं **कुमार** उत वा **कुमारी**' (अथर्व.शौ.सं. १०।८।२७) इत्यादि बहुत मन्त्रोंमें कुमारसे भिन्न कुमारीका नाम रखा गया है। इससे कुमारसे कुमारी तथा पुमान्से स्त्रीका नाम नहीं गृहीत होता; इससे जातिपक्ष खण्डित हो जाता है। इस विषयमें हम 'सिद्धान्त' (७।४३-४७) में तथा 'आलोक' के इस तृतीय पुष्प (३।२) के (१९४-१७३) पृष्ठोंमें स्पष्टता कर चुके हैं। इस कारण स्त्री मुख्य-द्विजत्वमें गृहीत भी नहीं होती। तब 'द्विजानां पावमानी' कहनेसे स्त्री मुख्य-द्विज न होनेसे वेदाधिकारसे पृथक् हो जाती है। वह एकज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य होती है, द्विज ब्राह्मणादि नहीं।

तब स्त्री एवं शूद्रका स्वयं वेदमें अनधिकार सिद्ध हो गया।

अब वादीको हमने प्रत्युत्तर दे ही दिया है। स्वा.द. द्वारा 'यथेमां वाचं' के 'स्वाय' में चुपकेसे बीचमें 'स्त्री-सेवक' शब्द डाल देनेका उत्तर वादीके जिम्मे रहा। वादी श्रीनरदेव शास्त्री, तथा डा० मङ्गलदेव आदि-आर्यसमाजी विद्वानोंका मानना तो दूर रहा, वादी किसीको भी नहीं मानता। वादी स्वा.द.जीको भी नहीं मानता। समयपर आप लोग यह स्पष्ट कह देते हैं। आप लोग वेदको भी तो नहीं मानते। तभी तो वेदके अर्थके अवसर पर उसमें प्रक्षेप कर रहे होते हैं।

आगे वादी मेरे लिए लिखता है—'यथेमां वाचं' का ईश्वर-परक-अर्थ माननेमें स्वामीजीके मतानुसार अनेक दोष आते हैं—ऐसा शास्त्रीजीने बड़े **गर्जन-तर्जनपूर्वक** फर्माया है, किन्तु उनके सम्पूर्ण दोषोंका समाधान इतनेसे हो जाता है कि—**परमात्मा भक्तोंसे** कहता है, मैं **तुम्हारे द्वारा अपनी वेदवाणीको सब तक पहुंचाऊं**, यह मेरी कामना है'।

देखिये—वादी यहाँ फिर वेदमें प्रक्षेप कर रहा है। 'यथेमां वाचं' में कहीं **भक्तका नाम है भी**? और फिर 'आवदानि जनेभ्यः' का अर्थ 'लोगोंको कहूँ' है,—'भक्तों द्वारा सब तक पहुंचाऊं' अर्थ नहीं है। स्पष्ट है कि—मन्त्रार्थ करनेमें वादी लोग नास्तिकोंके भी कान काटते हैं। 'सितम्बर' के 'सार्वदेशिक' के २९३ पृष्ठमें वादीने लिखा था—'**परमात्मा निराकार होनेकेकारण स्वयं नहीं बोल सकता, इसलिए भक्तों-द्वारा** बुलवाता है' और २९६ पृष्ठमें वादीने लिखा—'परमात्मा भक्तोंसे **कहता है**'। केवल दो-तीन पृष्ठोंमें ही वादीने परमात्मामें स्मृतिविकार सिद्ध कर दिया। जब परमात्मा **स्वयं बोल नहीं सकता**; तब फिर **भक्तोंसे कैसे कह सकता है**? वाह स्नातक साहब! आप तो सचमुच 'दिद्दद्वर' हैं। जब परमात्मा **बोल ही नहीं सकता**, तब वेद 'भगवद्वाणी'

न रहे। क्या 'आवदानि' का अर्थ 'बोलना' नहीं है ? वाह ! 'चौबे गये थे छब्बे बनने, दुबे बनकर आये'।

गये थे आप भगवद्वाणी-वेदका सबको अधिकार देने, उल्टा वेदको 'परमात्माकी वाणी' होना भी छिनवा बैठे। यह 'व्याघात' तो आपने 'यावज्जीवमहं मौनी' जैसा किया है। जब परमात्मा स्वयं बोल नहीं सकता, तब भक्तोंसे कैसे बोल लेता है ? 'अपनी वेदवाणी' शब्द ही कैसे कहता है ? जब परमात्मा बोल नहीं सकता; तब परमात्माकी वाणी क्या ? जब निराकार होनेसे भगवानकी वाणी नहीं, तब 'यथेमां वाचं' का अर्थ 'परमात्माकी वाणी' वा वेदवाणी भी न हुआ। तब वादीने अपना खण्डन स्वयं ही कर दिया। हम पृथक् खण्डन क्या करें ? महाशय ! यह सब बनावटी अर्थ करनेका फल है। आप लोग सनातनधर्मकी शरणमें आ जाएं, तो सब समाधान प्राप्त हो जाएं।

जहाँ वादीने अपना खण्डन आप किया—वहाँ अपने तथाकथित 'महर्षि' (?) का भी खण्डन कर दिया। 'सत्यार्थप्रकाश' में 'यथेमां वाचं' का अर्थ किया है—'जैसे मैं ईश्वर वेदरूप वाणीका उपदेश करता हूँ। यहांपर स्वा.द.जीने परमात्माके द्वारा अपनी वाणी वेदवाणीका उपदेश कराया है। पर वादिमहाशय तो परमात्माका निराकार होनेसे बोल सकना ही नहीं मानते। 'भक्तों-द्वारा' यह शब्द मन्त्रार्थमें प्रक्षिप्त करते हैं। बल्कि वादीके स्वामीजी यहां लिखते हैं कि—देखो, परमेश्वर स्वयं कहता है। यहां स्वा.द.जी परमेश्वरका 'स्वयं कहना' मानते हैं। 'स्वयं' शब्द मैंने नहीं डाला, स्वामीजीका है। पर वादी लिखता है कि—'परमात्मा निराकार होनेके कारण स्वयं नहीं बोल सकता'। वादीने भी 'स्वयं' शब्द रखा है, वादीके स्वामीने भी परमात्माका 'स्वयं कहना' नहीं माना, अब बोलिये—यहाँ हमने न पं. नरदेव शास्त्रीकी दुहाई दी, और न ही डाक्टर मङ्गलदेवकी। यह तो वादीके तथाकथित 'महर्षि' की बात कही। अब स्वामीजी यदि ठीक कहते हैं, तो वादी गलत कहता है।

यदि वादी ठीक कहता है; तो स्वामीजी गलत कहते हैं। तब दोनों परस्पर-विरुद्ध होनेसे खण्डित हो गये। पक्ष हमारा ही प्रबल रहा।

यदि वादी कहे कि—'जहाँ वेदमें 'मैं' शब्द आ जावे, वहां परमात्माका ग्रहण होता है'। यदि ऐसा है, तो इससे अग्रिम-मन्त्र 'बृहस्पते !... तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्' (२६।३) में क्या वादी यही अर्थ करेगा कि—परमात्मा कहता है—हे भक्त ! मुझे विचित्र धन दे' ?

एक बात पर और ध्यान दीजिये। आपके स्वामीजीने 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका'में अधिकाराधिकरणमें 'यथेमां वाचं' मन्त्रकेलिए संस्कृत तथा हिन्दीमें लिखा है—'अस्य [यथेमां] मन्त्रस्य अयमेव [ईश्वर सम्बन्धी] अर्थोऽस्ति। कुतः ? 'बृहस्पते' इति उत्तरस्मिन् मन्त्रे हि ईश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात्' (पृ. ३३१) यही बात वे हिन्दीमें लिखते हैं—

'यही इस 'यथेमां' मन्त्रका अर्थ ठीक है, क्योंकि इससे अगले मन्त्र-'बृहस्पते ! अति यदर्यः' में भी परमेश्वरका ही ग्रहण किया है' (पृ. ३३२)।

क्या वादी स्वामीजीकी यह बात मानते हैं कि—चूंकि 'बृहस्पते ! इस अग्रिम-मन्त्रमें ईश्वरका प्रतिपादन है तो फिर उससे पूर्वक 'यथेमां वाचं' में भी ईश्वरार्थका प्रतिपादन है ? यदि ऐसा है, तो सम्भलिये—वादीके स्वामीजीका तथा वादीका भी अभी पतन होता है। देखिये—'बृहस्पते !' इस साथके 'मन्त्रका जब ईश्वर देवता है, इसीलिए ही 'यथेमां' इस साथके मन्त्रका भी ईश्वर देवता है, तब वादी बतलावें कि—'बृहस्पते !' इस अग्रिम मन्त्रके अनुरोधसे ही स्वामीने 'यथेमां' में 'ईश्वर देवता' माना है; तब 'यथेमां' का 'बृहस्पते !' मन्त्रके अनुरोधसे ही अर्थ होगा। तो अब 'बृहस्पते !' मन्त्रमें यदि परमात्मा प्रतिपाद्य है, तो 'यथेमां वाचं' में भी परमात्मा प्रतिपाद्य ही होगा। यदि 'बृहस्पते !' मन्त्रमें परमात्मा प्रतिपादक है, तो 'यथेमां वाचं' में भी वह प्रतिपादक ही होगा।

अब इसपर यदि किसी अन्य दयानन्दीका अर्थ दिया जाय, तो वादी उसके माननेसे नकार कर दिया करता है। इसलिए हम वादीके तथाकथित 'महर्षि' का ही 'बृहस्पते अति' मन्त्रका अर्थ दिखलाते हैं। निकाले वह उनका यजुर्वेद-भाष्य—

'बृहस्पते ! अति यदर्यो...तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्, उपयामगृहीतोऽसि' (२६।३) इसका अर्थ स्वा.द.जी इस प्रकार करते हैं—'हे बृहस्पते ! बड़े-बड़े प्रकृति आदि पदार्थों और जीवोंके पालनेहारे ईश्वर ! जो आप (उपयामगृहीतः) प्राप्त हुए यमनियमादि-योग-साधनोंसे जाने गये (असि) हैं, उन आपको (बृहस्पतये) बड़ी वेदवाणीको पालनेकेलिए तथा जिन (ते) आपका (एषः) यह (योनिः) प्रमाण है, उन बड़े-बड़े आप्त विद्वानोंकी पालना करनेकेलिए आपको हम स्वीकार करते हैं।... (तत्) उस (चित्र) आश्चर्यरूप ज्ञान (द्रविणं) धन और यशको (अस्मासु) हम लोगोंमें (धेहि) धारण-स्थापन कीजिये'।

यहांपर जब 'ईश्वर देवता' होनेसे ईश्वरको स्वामीजीने प्रतिपाद्य माना है, तब इससे पूर्व-स्थित 'यथेमां' मन्त्रमें भी 'बृहस्पते' के अनुसार 'ईश्वर-देवता' होनेसे वहां पर भी ईश्वर प्रतिपाद्य ही होगा, प्रतिपादक नहीं। जब ऐसा है, तब हमसे लगाये हुए सभी दोष स्वा.द.के उक्त मन्त्रार्थ पर रह गये। वादीकी 'भक्त' अध्याहार करनेकी बहानेबाज़ी असफल होगई।

भक्त प्रतिपाद्य तब होता, यदि उक्त मन्त्रका 'भक्त-देवता' होता। परन्तु 'ईश्वर देवता' होनेसे ईश्वर 'प्रतिपाद्य' ही हुआ। भक्त वा ऋषि उसका 'प्रतिपादक' ही हुआ।

'बृहद्देवता' में लिखा है—'संवादेष्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन् भवेद्-ऋषिः। यत् तेनोच्येत वाक्येन देवता तत्र सा भवेत्' (२।९०) (सूक्तों वा मन्त्रके संवादोंमें जो वाक्यका वक्ता हो; वह तो वहाँ ऋषि होता है, पर जो उस वाक्यसे कहा जा रहा हो; वह वहाँ देवता होता है।)

इनके उदाहरण भी देखिये—ऋग्वेद (शा.सं.) में 'यमयमीसूक्त' (१०।१०) प्रसिद्ध है। वहां जिस मन्त्रका यम 'प्रतिपादक' होता है, वहाँ यम 'ऋषि' होता है। यम जहां 'प्रतिपाद्य' होता है, 'यम' वहां 'देवता' हुआ करता है। पर जब यमी किसी मन्त्रकी प्रतिपादक तथा यम प्रतिपाद्य होता है; वहाँपर यमी 'ऋषि' तथा यम 'देवता' होता है।

इस प्रकार ऋग्वेदसं. के १०।९५ सूक्त ('उर्वशी-पुरूरवाः' के सूक्त) में जिस मन्त्रका पुरूरवाः प्रतिपादक और उर्वशी प्रतिपाद्य होती है; वहां पुरूरवाः ऋषि, और उर्वशी देवता होती है। जहाँ पर उर्वशी प्रतिपादक तथा पुरूरवाः प्रतिपाद्य होता है; वहाँ उर्वशी ऋषि और पुरूरवाः देवता होता है। जब ऐसा है; तब 'यथेमां वाचं' तथा 'बृहस्पते अति' इन दोनों ही मन्त्रोंमें 'ईश्वर-देवता' होनेसे ईश्वर 'प्रतिपाद्य' ही होगा; और भक्त ऋषि 'प्रतिपादक' ही होगा। तब स्वा.द.जीका ईश्वर-देवतावाले 'यथेमां वाचं' मन्त्रमें ईश्वरके प्रतिपादक रखनेका अर्थ अशुद्ध सिद्ध हुआ; और वादी विद्यालङ्कार बु.दे.जीका पक्ष भी असिद्ध सिद्ध हुआ; और हमसे लगाये हुए दोष वादी पर सवार रहे।

आगे वादी लिखता है—'आपने इसी 'यथेमां' मन्त्रसे जन्मकी वर्ण-व्यवस्था सिद्ध करनेका उपहसनीय प्रयत्न किया है। मैं पण्डितजीसे पूछता हूं कि—जब आप भी वेदवाणीको अनादि-निधना मानते हैं; तब उभयवादिसम्मत बातमें शङ्का उठाना 'मतानुज्ञा' निग्रहस्थान ही होता है, इसपर प्रत्युत्तर यह है कि—जब आपका तथा स्वा.द.जीका उक्त मन्त्रका अर्थ ही अशुद्ध है, हमें अनुज्ञात नहीं, हमने उसे माना नहीं, तब उस गलत अर्थ पर शङ्का उठानेसे हमपर 'मतानुज्ञा'-निग्रहस्थान आ ही कैसे सकता है?

वस्तुतः वादीने 'न्यायदर्शन' के लक्षणके विरुद्ध हमपर उक्त निग्रह-स्थान लगाया है, जो हमपर समन्वित नहीं होता। अतः वह स्वयं

'निरनुयोज्यानुयोग' (न्या. ५।२।२२) नामक निग्रहस्थानमें आ गया। जहां जो निग्रहस्थान लगाया न जा सकता हो; उसे वहां लगाना 'निरनुयोज्यानुयोग' निग्रहस्थान हुआ करता है। वल्कि 'मतानुज्ञा' निग्रहस्थान तो आप पर लागू होता है। कारण यह है कि–आपने अपने पक्षमें उन दोषोंको स्वीकार करके (क्योंकि–आपने उनका प्रत्युत्तर नहीं दिया) मेरे पक्षमें दोष लगानेकी चेष्टा की है। दोष तो उल्टा स्वामीजीके अर्थ पर आते हैं। आपको उनका समाधान करना चाहिये था। पर आपने उल्टा उनका समाधान न करके 'अप्रतिभा' निग्रहस्थान भी अनायास ही प्राप्त कर लिया है। तभी तो आपने 'उसमें पहले ब्राह्मण अथवा शूद्रका जन्म होना कैसी हास्यास्पद बात है' बस यहीं कहकर बात टाल दी। जब उसमें ब्राह्मण-शूद्रादि रखे गये, और उनका पढ़ानेका इतिहास स्वा.द.जीने बताया, तब अवश्य उक्त प्रश्न बन सकते हैं। क्योंकि–स्वा.द.जी मानते हैं कि–'जिसका जहां इतिहास हो, वह उसके बाद बनाया जाता है' (स.प्र.)। वादीने स्वामीजीके उक्त मन्त्रार्थरूप-सिद्धान्तको मानकर भी उससे विरुद्ध जो बातें कही हैं कि–'परमात्मा स्वयं नहीं कह सकता' इत्यादि; इनसे वादी 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थानमें भी फंस गया है।

'ब्राह्मणको उत्कृष्ट ब्राह्मण बनानेकेलिए तथा शूद्रको ब्राह्मणोंसे उत्तम वर्णकी प्राप्तिकेलिए' यह वादीके शब्द हैं। इससे ब्राह्मण तथा शूद्र-यह तो जन्मसे सिद्ध हो ही गये; तब वर्णव्यवस्था भी जन्मसे सिद्ध हो गई। यदि शूद्र ब्राह्मण बन गया, तो तीन वर्ण रह गये। फिर मन्त्रमें 'शूद्र' का नाम कैसे सुनाई दे रहा है? और फिर इस मन्त्रमें लिखा कहां है कि–शूद्र ब्राह्मण बन गया है। देखिये–आप भोले-भाले पुरुषोंको ठगनेकेलिए ही क्या बद्धपरिकर नहीं हैं? 'आलोक'-पाठकोंने देख लिया है कि–हमारे प्रश्नोंका उत्तर तो वादी कुछ दे न सका। उल्टा वर्णव्यवस्था स्वयं जन्मकी सिद्ध करवा बैठा। नहीं तो ब्राह्मणको

'उत्कृष्टतर ब्राह्मण तथा शूद्रको ब्राह्मणत्वादिकी' बात 'अभित्तिचित्र' होगी।

अब वादी हमपर प्रश्न करता है। कल्पित पूर्वपक्ष भी उसने बना दिया, कल्पित उत्तरपक्ष भी। वादी लिखता है—'प्रथम ब्राह्मण तथा क्षत्रिय तो मुख तथा भुजासे उत्पन्न होनेसे श्रेष्ठ हुए, परन्तु उसके पश्चात् उनके सन्तान तो मुख तथा भुजासे उत्पन्न हुए नहीं। तब वे ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कैसे कहलाये?'

मालूम होता है कि–वादी यह एक बड़ी भारी बात मान बैठा है। कदाचित् शास्त्रार्थोंमें उसे यह एक अचूक युक्ति प्रतीत हुई होगी। हम भी इसका अचूक-उत्तर देते हैं। जब वादीने 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' में पञ्चमी अर्थ मान लिया, और परमात्माके मुख आदिसे ब्राह्मण आदिकी उत्पत्ति भी मान ली; तब आगे कोई कठिन बात नहीं रही। जब आगे वादी स्वयं मानता है कि–'ब्रह्म हि ब्राह्मण:, क्षत्रं राजन्य:' इस शतपथके अनुसार उक्त वेदमन्त्रमें ब्राह्मण और राजन्य शब्द स्वार्थवाचक हैं; तब 'परमात्माके मुखमें क्या ब्राह्मण-ब्राह्मणीका जोड़ा बैठा था?' यह वादीका उपहास स्वयं कट गया। इसीका नाम होता है 'उष्ट्रलगुड'-न्याय।

अब शेष प्रश्न रहा कि–उन ब्राह्मण, क्षत्रियोंके सन्तान परमात्माके मुख तथा भुजासे उत्पत्तिके विना ब्राह्मण, क्षत्रिय कैसे हुए? इस विषयमें वादी वेदाङ्ग-व्याकरणको जरा याद कर ले। यहां 'ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मण:, राज्ञोऽपत्यम्, राजन्यस्य वा अपत्यं राजन्य:' यह अपत्यप्रत्ययार्थक अर्थ होगा। पूर्व अर्थमें 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा. ६।४।१७१) राजश्वशुराद् यत्' ४।१।१३७) 'राज्ञोऽपत्यग्रहणं जातावेव कर्तव्यम्' (वा.) 'क्षत्राद् घ:' (४।१।१३८) जाति-अर्थमें ब्राह्मणादि-शब्दोंकी सिद्धि होती है। दूसरे पक्षमें 'तस्याऽपत्यम्' (४।१।९२) से सिद्धि होती है।

अथवा 'जातेरस्त्रीविषयाद् अयोपधात्' (४।१।६३) सूत्रमें 'सकृदा-

ख्यात-निर्ग्राह्या' यह ब्राह्मणादि-जातिलक्षण करनेवाला वार्तिक आया है। उसका अर्थ है कि-'सकृद् एकस्यां व्यक्तौ कथनाद् (मुखभुजाद्युत्पत्त्या ब्राह्मणोऽयम्, क्षत्रियोऽयम्' इति उपदिष्टे) व्यक्त्यन्तरे (तदपत्य-सहोदरादौ) तदुपदेशं विनापि सा जातिर्भवति' (एक बार एक व्यक्तिमें यह कहनेपर कि-यह मुखसे उत्पन्न है, यह भुजासे उत्पन्न हुआ है, अतः यह ब्राह्मण-क्षत्रियादि है; उसके दूसरे व्यक्ति उसकी सन्तान तथा भ्राता आदिमें-यह ब्राह्मणादि है-यह न कहनेपर भी वही जाति हुआ करती है') यह महाभाष्यका आशय है। तब जब परमात्माके मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए; तब उनकेलिए 'ब्राह्मण' यह कथन होनेसे उक्त जाति-लक्षणानुसार उसके सन्तान तथा भ्राता-आदिको भी उसी जातिका ही कहा जाता है। इसी प्रकार बाहुज-क्षत्रिय, ऊरुज-वैश्य तथा पादज-शूद्रकी सन्ततियोंमें भी उसी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इस जन्मसिद्ध जातिका व्यवहार 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' इस वेदाङ्गके वार्तिकके कथनसे होता है। हो गया वेदाङ्ग-द्वारा वादीके उसकी समझमें भारी (?) आक्षेपका समाधान।

आगे वादी लिखता है—'पण्डितजी! आप शास्त्र-प्रमाण तक ही रहिये, तर्कमें घुसना आपका काम नहीं'। वादीके इस वाक्यसे तर्कवादी वे (वादी) ही रहे, और शास्त्रवादी हम रहे। तब तर्कसे शास्त्रका खण्डन करनेवाले वादीकेलिए देखिये श्रीमनुजीने क्या आज्ञा दी है—'योऽवमन्येत ते मूले (श्रुतिस्मृती) हेतुशास्त्राश्रयात् (तर्काश्रयाद्) द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः' (२।११) (जो व्यक्ति धर्मके मूलभूत श्रुति एवं स्मृतिका तर्क-शास्त्र द्वारा अपमान (खण्डन) करता है, उस श्रुति-स्मृतिनिन्दक नास्तिकका सत्पुरुषोंको बहिष्कार कर देना चाहिये) इसी बातसे डरकर तर्कवादी-वादीके स्वा.द.ने 'हेतुशास्त्राश्रयात्'-शब्दका अर्थ छिपा दिया है, उसका अर्थ नहीं किया।

आगे वादी ब्राह्मणका 'मुखसे जन्म' अपने विलक्षण-तर्कसे बताता

है—'बात तो सच यह है कि—ब्राह्मणका जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव आज भी मुखसे होता है। हजार-मनुष्य सभामें चुपचाप बैठे हों, कौन ब्राह्मण है, कौन मूर्ख-यह पता नहीं चलता। परन्तु जब शास्त्रचर्चा चलती है, तब ब्राह्मणके वचनोंको सुनकर सब उसका लोहा मान लेते हैं। यही ब्राह्मणका मुखसे प्रादुर्भाव है'।

वादी साहब गजबके विद्वान् (?) हैं। तो जो क्षत्रिय-वैश्य सभामें बैठे हुए हैं, वे शास्त्रचर्चामें वादीके अनुसार कुछ भी बोल नहीं सकते हों; तब कदाचित् वादी क्षत्रिय तथा वैश्यका ब्राह्मण-इतनी विद्या पढ़ना न मानता होगा। वादी धन्य है, कहाँ वह शूद्रको वेद पढ़ाना चाहता था, कहाँ उसने क्षत्रिय, वैश्यको भी शास्त्र पढ़ाने बन्द कर दिये। जनक, अजातशत्रु आदि क्षत्रियोंका उपनिषदोंमें निरूपण किया गया है। उन्होंने वहाँ ब्राह्मणोंको भी ब्रह्मविद्या सिखलाई थी। पर यदि वादीका किया गया 'ब्राह्मणोस्य' मन्त्रका अर्थ ठीक है; तो उपनिषदोंमें उनको क्षत्रिय न कहकर ब्राह्मण कहा जाता। उनके शिष्यों-ब्राह्मणोंको ब्राह्मण-न कहकर 'शूद्र' कहा जाता। जब नहीं कहा गया, तब वादीका अर्थ स्वतः मनगढ़न्त अतएव अशुद्ध सिद्ध हो गया।

वादीके अनुसार कई पुरुष सभामें बैठे हों; कोई पुरुष ज़ोर-ज़ोरसे किसीको गाली बकता जाय, तब वादीके 'वैदिक' (?)-मतानुसार वह ब्राह्मण होगा। क्योंकि—उसकी उस समय मुखसे उत्पत्ति हो रही है। जो चुप बैठे हैं, वे मुखसे उत्पन्न न होनेसे शूद्र हो जायंगे। वादी धन्य है। इस अपने बनावटी-अर्थमें वादीने मन्त्रमें 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' के 'अस्य' को कहां छिपा दिया? और फिर जो वक्ता न हो; लेखसे ही वादीको चुप करा दे, तब तो वह वादी भी ब्राह्मण न रहेगा; क्योंकि वह मुखसे उत्पन्न नहीं हुआ, और वादी उस समय शूद्र हो जायगा।

इधर यदि वादी शास्त्रचर्चामें परास्त होकर चुप हो जाय, तब वादी ब्राह्मण रहेगा, वा अब्राह्मण ? इसका निर्णय भी वादी करे। इधर जो विद्वान् सभामें चुप किये बैठे हैं, वे वादीके अनुसार मुखसे उत्पन्न न हो रहे होनेसे क्या शूद्र हैं ? वादी धन्य है। क्या 'मूर्ख' भी कोई वर्ण है, जिसे वादीने 'ब्राह्मणवर्ण' की प्रतियोगितामें रखा है ?

रातको शयनके समय वादी अपनी स्त्रीके साथ शास्त्रचर्चा तो करता न होगा; तब वादी ब्राह्मण भी न रहता होगा। तब वादी अपनी ब्राह्मण-स्त्रीका परिवर्तन भी करेगा, या नहीं ? अथवा शास्त्रचर्चामें वादीकी पत्नी वादीसे पराजित होकर चुप हो जाय; तब वादी तो ब्राह्मण होगा, और उसकी स्त्री शूद्रा। तब वादीका उसके साथ संयोग क्या शास्त्रीय होगा ? क्या वह साङ्कर्योत्पादक नहीं होगा ? इधर वादीका बच्चा वादीकी भान्ति मुखसे उत्पन्न तो होगा नहीं, तब वह ब्राह्मण भी न होगा। तब क्या वादी उस बच्चेको अपने स्वाद के अनुसार किसी शूद्रको देनेकेलिए तैयार हो जायगा ? अथवा वादी रोनेसे ही मुखसे उस बच्चेकी उत्पत्ति माने; तब तो संसार भरके रोने-चिल्लानेवाले लड़के ब्राह्मण हो जाएंगे ?

आगे वादी लिखता है—'इसी प्रकार भीरु तथा क्षत्रिय इकट्ठे बैठे हों, तो कुछ पता नहीं लगता कि—कौन भीरु है तथा कौन क्षत्रिय ? परन्तु सङ्कट पड़नेपर भुजबलसे क्षत्रियका प्रादुर्भाव हो जाता है।"

वाह ! वादी पूरा बुद्ध है। वादीके हिसाबसे युद्धमें कर्ण तथा द्रोणाचार्य आदिके मुकाबलेमें भाग जानेवाले युधिष्ठिर तो अब क्षत्रिय न रहे, और द्रोणाचार्य आदि क्षत्रिय हो गये, क्योंकि उनकी भुजबलसे उत्पत्ति हुई। परन्तु महाभारतमें द्रोणाचार्यको ब्राह्मण तथा युधिष्ठिरको क्षत्रिय बतलाया गया है। यह क्यों ? क्या यह बात वादीके उक्त मन्त्रार्थकी अशुद्धताकी परिचायक नहीं ?

क्या भीरु भी कोई वर्ण होता है, जिसे वादीने क्षत्रियकी प्रतियोगिता में रखा है ? वादी भीरुको कौनसा वर्ण देगा—यह उसने नहीं लिखा। यह भी वादी बतावे कि—श्रीभीष्मको शास्त्रज्ञ होनेसे (देखिये उसका आदर्श शान्तिपर्व एवं अनुशासनपर्वमें), तथा भुजबलयुक्त होनेसे (देखिये उसका आदर्श 'भीष्मपर्व' में) क्या ब्राह्मण-क्षत्रियका सङ्कर मान लेगा ? फिर तो वादी कुश्ती खेलनेवालोंकी भुजबलसे उत्पत्ति होनेसे उन्हें क्षत्रिय कह देगा ! वादी जब गुरुकुलमें भुजबल दिखलाता था, भुजबलसे भारी-मुद्गरोंको घुमाता था; तब वादी क्षत्रिय, तथा विद्याध्ययन-व्यापृत होनेसे ब्राह्मण—इस प्रकार क्या वर्णसङ्कर था ?

तब जो क्षत्रिय भुजबल न होनेसे क्षत्रिय न रहेंगे, उनका कौनसा वर्ण होगा ? स्त्रियां स्वभावतः अबला होती हैं, क्योंकि वे शुक्रकी अल्पता और रजकी अधिकतासे उत्पन्न होती हैं। रज, शुक्र धातुकी अपेक्षा बहुत निर्बल होता है; तब स्त्रियाँ तो क्षत्रिया सर्वथा होंगी-नहीं। तब क्षत्रिय बेचारे क्वारे ही रहे। स्त्रियां मुखसे गालिप्रदानदक्ष होती हैं; तब वादीके अनुसार मुखसे उत्पत्ति होनेके कारण वादीके मतमें वे ब्राह्मणी हो जायंगी; तब क्या सभी स्त्रियां ब्राह्मणोंसे ब्याह करें ?

वैश्य-स्त्रियां क्या व्यापार करने जाएंगी ? पर उनके ऊरु शीघ्र न चल सकेंगे। तब उनका ऊरुसे जन्म न होनेसे वे वैश्य भी न हो सकेंगी। क्या सेवामें लगी हुई सभी स्त्रियोंको वादी शास्त्रानुसार शूद्र मानेगा ? तब तो स्त्रीमात्र शूद्र हो जाएंगी ! तब वादी उनको उपनयन न होनेसे वेदाधिकार ही कैसे दे सकेंगे ? तब क्या सभी सेविका-स्त्रियां शूद्रोंसे ब्याही जाया करेंगी ? तब तो 'जन्मना जायते शूद्रः' यह दयानन्दियोंका इष्ट वचन भी अशुद्ध हो जायगा; क्योंकि उत्पन्न होते हुए सभी सेवा नहीं कर रहे होते, किन्तु माता-पिता द्वारा सेवा करवा रहे होते हैं।

फिर तो माता-पिता ही सेवाकर्ता होनेसे शूद्र हो जाया करेंगे ! लंगड़े-पुरुषोंको तो वादी पैरसे उत्पत्ति न होनेसे अवर्ण ही मान लेगा !

वादी केवल ब्राह्मण और क्षत्रियकी ही मुख और बाहुसे उत्पत्ति बताकर चुप हो गया। न तो आगे उसने वैश्यको ऊरुसे उत्पादित किया, न शूद्रको पैरोंसे उत्पन्न कराया। कदाचित् इस विचारसे कि हैदराबाद-आदिमें ऊरु तथा पैरके बलसे शास्त्रार्थ करनेकेलिए जानेवाला वह स्वयं वैश्य तथा शूद्रका सङ्कर न बन जाए !

महाशय ! बनावटी अर्थ करनेसे ऐसे बहुतसे दोष स्वतः उपस्थित हो ही जाया करते हैं। वादी इन बनावटोंके ब्लेकमार्कीटिङ्गको आशा है, बन्द कर देगा। नहीं तो निगृहीत होकर वह बहुत हानि उठा बैठेगा। अभी जनता प्रायः अशिक्षित है, इधर अनुसन्धान नहीं कर सकती। इसलिए वादियोंका निर्वाह चल रहा है। जनताके संस्कृत-शिक्षित तथा अनुसन्धाता हो जानेपर वादियोंकी सिकताभित्तियां शीघ्र ढह जावेंगी। वे अभीसे सम्भल जावें।

आगे वादी ऋषिवादमें उवटको स्वतः-प्रमाण मानता हुआ उसका 'गुरुतः तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः। ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताः छान्दसं च यत्' यह पद्य उद्धृत करता है। वादियोंकी नीति बहुत विचित्र है। समय पड़नेपर किसी ऋषि-मुनिके वचनको भी वे लोग नहीं मानते। कभी कहीं एक साधारण-पुरुषको भी स्वतः प्रमाण मान लेनेको तैयार हो जाते हैं। जिन उवट-महीधरको वादी लोग "वाममार्गी" कहनेमें भी नहीं सकुचाते, समयपर उनका निजी वैयक्तिक-वचन भी प्रमाण मान लेते हैं।

उवटके 'तर्क' का अर्थ है 'विचार'। सो वही विचार छन्द बतानेमें भी हो सकता है। पर उसने यदि 'शतपथ' के कहे विनियोगका परिवर्तन कर दिया हो; तब तो वादीकी बात कुछ सङ्गत हो सकती है; पर यह वादीका प्रयास व्यर्थ है। गुरु आदि द्वारा सुनकर फिर उसपर विचार करना

ही पड़ता है; यह स्वाभाविक है, क्योंकि—'कहीं ऋषियोंके नामभेद आ जाते हैं। वहाँ सोचना पड़ता है कि—वह नामभेद कल्पभेदकृत है; या उसका उपनाम है ? तो इससे ऋषि तथा देवताके वेदोंके साथ अनादि-सम्बन्धमें कोई क्षति नहीं आती। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' यह ऋषिका तथा 'या तेन उच्यते सा देवता' यह देवताका लक्षण होनेसे, देवता उस मन्त्रका प्रतिपाद्य होनेसे इनका वेदोंके साथ सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है।

इससे वेदकी अपौरुषेयतामें कोई क्षति नहीं आती; क्योंकि-वह मन्त्र उस ऋषिसे बनाया हुआ नहीं होता; किन्तु उससे दृष्ट वा प्रोक्त होता है। यद्यपि वेदादिशास्त्रोंमें ही कहीं ऋषियों-द्वारा मन्त्रोंका 'करण' कहा गया है। जैसे कि—'सूर्यं ऋषिर्मन्त्रकृत्' (ऐतरेयब्रा. ६।१)' 'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत' (ऋ.सं. १०।७१।२) 'ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम्' (निरुक्त ३।२।५) 'ऋषे ! मन्त्रकृतां स्तोमैः' (ऋ. ९।११४।२) 'यामृषयो मन्त्रकृतः' (कृ.य.तै.ब्रा. २।८।८।४) इत्यादि; तथापि हमारे अनुसार 'कृ' धातु अनेकार्थक होनेसे वहाँ दर्शन वा प्रवचन अर्थवाला होता है।

शेष रहा उस-उस मन्त्रमें कहीं-कहीं उस-उस ऋषिका नाम आ जाना, सो यह परमात्माकी सर्वज्ञतासे होता है, इससे दोष नहीं पड़ता। प्रत्येक-कल्पमें जैसे मन्त्रोंका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही उसी मन्त्रके ऋषिका प्रादुर्भाव भी होता है। प्रवाहरूपसे ऋषि भी नित्य हैं, और उनकी संख्या नियत ही होती है। अतः आगेका वादीका उपहास व्यर्थ है।

प्रत्युत वादीके मतमें परमात्माके निराकार होनेसे वेद उसकी वाणी नहीं; क्योंकि वह बोल नहीं सकता। तब वेद, भक्त-जीवकी ही वाणी सिद्ध हुई। तब वेद वादीके ही मतमें पौरुषेय बन जायगा ! 'चौबे गये थे छब्बे बनने, दुब्बे बनकर आये'।

शेष रहा वादीका 'यथेमां वाचं' मन्त्रका अर्थ; सो वह तो सर्वथा ही अशुद्ध है। जब वादीके स्वा.द.ने ही उसमें भक्तके द्वारा बुलवाना नहीं लिखा; इधर जब ईश्वर 'देवता' होनेसे प्रतिपादक नहीं, किन्तु प्रतिपाद्य है, वादीके भी अनुसार निराकार होनेसे जब परमात्मा स्वयं बोल नहीं सकता, तब भक्तके द्वारा वह प्रतिपाद्य ही रहेगा, स्वय प्रतिपादक नहीं। तब वादीके अर्थके अशुद्ध सिद्ध होनेसे उस सिकताभित्ति पर आश्रित वादीका पक्षरूपी महल भी स्वयं धराशायी हो गया।

'स्व' का अर्थ वादी करता है कि-'ऐ भक्त ! क्या तेरे अपने, क्या पराये'। स्वा.द.ने इससे अपनी स्त्री, सेवक तथा अन्त्यज, लिये हैं; तब दोनों गुरु-चेलोंमें किसका अर्थ ठीक और किसका गलत है ?

आगे जो 'हे भक्त ! ऐसा उद्योग कर, जिससे देवोंमें मेरा प्रेम बढ़े, यज्ञ करनेवाले तथा दक्षिणा देनेवालोंमें मेरा प्रेम बढ़े' ? इस अर्थसे वादीने परमात्माको अशक्त सिद्ध कर दिया। मन्त्र कहता है—'प्रियो देवानां भूयासम्' 'दक्षिणाया दातुश्च प्रियो भूयासम्' (मैं देवताओंका प्यारा बनूं, दक्षिणा देनेवालोंका प्यारा बनूं) पर वादीने 'इनमें प्रेम बढ़े' यह अर्थ ही बदल दिया है। 'ऐसा उद्योग कर' यह शब्द भी वादीने स्वयं मन्त्रार्थमें प्रक्षिप्त कर दिये, जो शायद परमात्माकी गलतीसे छूट गये हों ! 'हे भक्त ! तेरे उद्योगसे 'अयं मे काम: समृध्यताम्' (मेरी यह कामना पूर्ण हो)।

देखिये पाठकगण ! वादीने 'हे भक्त ! तेरे उद्योगसे' इतने शब्द उक्त वेदमन्त्रके अर्थमें प्रक्षिप्त कर दिये हैं। हा खेद ! यह लोग परमेश्वरकी वाणीमें शायद त्रुटि देखते हैं, तब मनगढ़न्त प्रक्षेप उसमें कर देते हैं।

यही दशा इस 'यथेमां' से पूर्व मन्त्रकी भी वादीने की है। वस्तुत: यहाँ वादीके अनुसार भी ईश्वरके निराकार होनेसे प्रतिपादक न हो-

सकनेके कारण 'यह परमात्माने भक्तको कहा है' यह व्याघात हो जानेसे उसका पक्ष मूलसे ही कट गया। क्योंकि-कभी कहते हैं—'परमात्मा निराकार होनेके कारण स्वयं बोल नहीं सकता, इसलिए भक्तों-द्वारा बुलवाता है' (पृ. २९३) कभी कहते हैं कि-परमात्मा भक्तोंसे कहता है' (पृ. २९६), तब 'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मे पिता। माता तु मम वन्ध्यासीद् अपुत्रश्च पितामह:' की तरह वादीका लेख स्वयं ही व्याघात-ग्रस्त होनेके कारण खण्डित हो गया।

वादीने हमसे दिखलाये हुए दोषोंका न तो क्रमसे उद्धरण दिया है; न उनका कोई समाधान ही किया है। केवल कुछ लिख देनेसे काम नहीं चल सकता।

'हे भक्त ! ये अग्नि और पृथिवी मेरे सामने सिर झुकाते हैं, मेरी आज्ञा है-सदा झुकाते रहें'। यह अर्थ भी गलत है। एक तो भक्तका अध्याहार करना निर्मूल है। दूसरा जब अग्नि और पृथिवी उसके सामने सिर झुका रहे हैं; तब यह आज्ञा देना कि-सदा सिर झुकाते रहें-यह कथन व्यर्थ हो जाता है। और 'मेरी आज्ञा है' यह किस पदका अर्थ है ? वादी मन्त्रार्थमें प्रक्षेप कर रहा है। 'सिर झुकाने' का भाव 'अनुकूल होना' है। सो अनुकूल तो वे ऋषिके सामने भी हो सकते हैं। इसलिए आवश्यक नहीं कि यहाँ परमात्मा ही वक्ता हो। ऋषि भी हो सकता है।

इधर 'सन्नमतां' का अर्थ 'सन्नमयताम्' है। 'छन्दस्युभयथा' (पा. ३।४।११७) 'णेरनिटि' (पा. ६।४।५१) इन पाणिनिसूत्रोंसे सार्वधातुक-शप्‌की आर्धधातुक संज्ञा हो जानेसे णिका लोप होकर उक्त प्रयोगकी सिद्धि है कि-अमुकको मेरे वशवर्ती करें। यहाँ प्रार्थनामें लोट् है। सो इसका प्रार्थनाकर्ता ऋषि याज्ञवल्क्य ही वक्ता है। परमात्मा वा देवता भला वक्ता कैसे हो सकते हैं ? देवता तो इस मन्त्रके अजमेर वैदिक-यन्त्रालयकी यजुर्वेदसंहितामें 'अग्न्यादय:' इस प्रकार बहुतसे कहे गये हैं।

तब वे ही वाच्य हुए। वहाँ परमात्मा कैसे वाचक हो सकता है? जरा बताएं तो।

फलतः 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्' इतिहास-पुराण, मन्वादि स्मृतिकार. श्रीवेदव्यास, श्रीजैमिनि, श्रीवाल्मीकि आदि बहुतोंकी साक्षीसे स्त्री एवं शूद्रका वेदाधिकार खण्डित हो गया। वेदके नियतानुपूर्वी वाले शब्दोंमें क्रमिक तथा वैध द्विज-पुरुषोंका ही अधिकार है, जबकि स्वा.द.जीने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पुरुषोंका ही उपनयन-संस्कार तथा वेदारम्भ-संस्कार कराया है। स्त्री एवं शूद्रादिका स्वा.द.जीने अपनी 'संस्कार-विधि' में न तो उपनयन-संस्कार कराया है, और न वेदारम्भ-संस्कार। यहाँ तक कि यज्ञकेलिए अग्नि भी स्वामीने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके घरसे मँगानेकेलिए लिखा है, शूद्रादिके घरसे नहीं।

देखिये उनकी 'संस्कार-विधि'। तब स्त्री-शूद्रादिको यज्ञविषयक-वेदका अधिकार देना जहाँ शास्त्र-विरुद्ध है, वहाँ स्वा.द.की 'संस्कार-विधि' से भी विरुद्ध है। हम इस विषयमें 'सिद्धान्त'-वाराणसी-पत्रके महालेखमें प्रकाश डाल चुके हैं, जिसके प्रत्युत्तरार्थ पृथक् पुस्तक प्रकाशित करते हुए भी गुरुकुलके स्नातक एक सिद्धान्तालङ्कारकी लेखनी सफल न हो सकी—यह हम 'आलोक' के तृतीय पुष्पके इस द्वितीय-संस्करणमें प्रदर्शित कर ही चुके हैं।

अब इस विषयमें विस्तारकी आवश्यकता नहीं रही; और आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ-महारथी श्रीबुद्धदेवजी विद्यालङ्कारके इस पक्षकी निस्सारता भी हमने इस निबन्धमें दिखला ही दी है। यह 'आलोक' के विद्वान् पाठकोंने अनुभव कर ही लिया होगा। इसका अन्त तक भी विद्यालङ्कारजीने प्रत्युत्तर नहीं दिया। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि-उन्होंने एक निर्मूल-पक्षका आश्रयण कर रखा था। आशा है-अनुसन्धानप्रिय-पाठकोंको इस दिशामें प्रवृत्त होनेकेलिए पर्याप्त सामग्री मिली होगी। यह शास्त्रार्थ तथा पुष्प यहाँ समाप्त हो गया है। शम्।

अन्तिम सूचना

'स्त्रियोंका वेदाध्ययन और वैदिक-कर्मकाण्डमें अधिकार' नामक २३६ पृष्ठकी गुरुकुली-सिद्धान्तालङ्कार श्रीधर्मदेव विद्यामार्तण्डजी की पुस्तककी हमने ५९७ पृ. से ८७३ पृ. तक कुल २७६ पृष्ठोंमें प्रत्यालोचना कर दी है। उसके अक्षर-अक्षरका समाधान कर दिया गया है।

वादीने उस पुस्तककी भूमिकामें हमपर गोवध माननेका कलङ्क लगाया था। इसका कारण यह है कि जब यह लोग देखते हैं कि-हमसे इनका प्रत्युत्तर नहीं बन सकता; तब यह लोग अपने प्रतिवक्ताको जनदृष्टिसे गिरानेकेलिए कई प्रकारके कलङ्क लगानेकेलिए तत्पर हो जाते हैं।

उक्त कलङ्क वादीने गलत लिखा है। हमने वहाँ लिखा था कि देश-काल-पात्र भेदवश माँससे कोई प्राचीन पुस्तक छूटी नहीं है। पर जहां किसी प्राचीन ग्रन्थमें 'गो'-वध दिखाई पड़े; तो वेद-पुराणानुसार गायके 'अघ्न्या' होने वहाँ 'गो' शब्दसे 'गाय' न लेकर 'पशु-सामान्य' अर्थ समझना चाहिये; क्योंकि-'गो' का अर्थ कोषोंके अनुसार 'पशु' भी हुआ करता है। उल्टा गोवध तो प्र० सत्यार्थप्रकाशमें स्वा.द.जी लिख गये हैं।

गायकी अवध्यतामें तो हमने 'आलोक' के ६ठे सुमन (पृ. ३११ से ४७१ पृ. तक) तथा ११वें पुष्पके २य पृष्ठसे ११७ पृष्ठ तक विचार दिया है। जोकि पुराणादिमें गोवधका कलङ्क दयानन्दियों-द्वारा लगाया जाता है; उन सबका प्रत्युत्तर हमने इन पृष्ठोंमें दे दिया है। ७म पुष्पके कुछ पृष्ठोंमें भी हमने इस विषयमें विचार दिया था; जिनका निर्देश हम ११वें पुष्पमें कर चुके हैं। इन निबन्धोंसे दयानन्दियोंसे लगाया उक्त कलङ्क निर्मूल सिद्ध होता है। हमने इस विषयमें इतना विचार दिया है कि-अपनेको अहिंसावादी माननेवाले दयानन्दी भी उतना विचार नहीं कर सके। केवल 'यह प्रक्षिप्त है, यह वेदविरुद्ध है, यह पौराणिक-

गप्प है' इतनामात्र ही कहकर वे लोग अपनी जान छुड़ा लिया करते हैं। पूर्वापर-प्रकरणानुसार तथा उस ग्रन्थकी विवक्षानुसार वे व्यवस्था करनेमें समर्थ नहीं होते। इतना भी वे नहीं समझते कि-जो पुराण गोवधमें प्रायश्चित बताया करते हैं; वे भला 'गोवध' कैसे सिद्धान्तित कर सकते हैं? अत: वहाँ 'गो' शब्द 'गाय' का नाम न होकर 'पशु-सामान्य' वाचक है। केवल पुराणोंसे विद्वेष होनेसे ही वे पुराणपर झूठा कलङ्क लगानेमें अपनी निकम्मी एवं वेबुनियाद शूरता दिखलाया करते हैं।

अब छठा सुमन जिसमें गोविषयक समाधान किये गये थे—समाप्त होनेको है। समाप्त हो जानेपर इस विषयमें धर्मदृष्टिकोणवालोंको कुछ कष्ट होना सम्भव है; क्योंकि-फिर उन्हें ऐसे सुव्यवस्थित समाधान प्राप्त न हो सकेंगे। तथापि ११वें सुमनसे वे लोग भी इस विषयमें सब प्रकारका समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

इस पुष्पके मुद्रणमें 'व-ब' की गड़बड़ी रही हैं; क्योंकि प्रूफके 'व-ब' अक्षरोंमें कभी स्याही अधिक लग जानेसे पता नहीं लगता कि यह 'ब' है, या 'व'। और फिर इस टाईपमें अनुस्वार इतना सूक्ष्म है कि-वह छपनेके समयमें स्पष्ट नहीं उठता। इसी प्रकार पूर्वोक्त कारणवश अक्षरके ऊपरके 'ँ' के स्थान कभी अनुस्वार (विन्दु) छपा हुआ होता है। इस प्रकार मुद्रणमें टाइपके अक्षरोंके सूक्ष्म होनेसे कई अक्षरोंकी असावधानी (अपेक्षित अक्षरके स्थान अन्य अक्षर मुद्रित हो जाना) भी कहीं-कहीं हुई है। 'आलोक' पाठकगण इन असावधानियोंको स्वयं जान लेंगे—यह हम उनसे आशा करते हैं।

प्रेसमें चढ़ा हुआ अन्तिम प्रूफ हमें न मिलनेके कारण वह हमारे सामने न होनेसे ऐसी असावधानियाँ रह ही जाती हैं; पर इनसे अर्थभेद कुछ भी नहीं होता। इस कारण व्यर्थ समझकर हमने इन अक्षरोंका शुद्धिपत्र नहीं लगाया। जैसे 'प-ष' 'ब-व' 'थ-य' आदि। कभी कई मात्राओं वा अक्षरोंमें

स्याही न लग सकनेसे उनका भी मुद्रण नहीं हो सका। यह मुद्रणयन्त्रके अनुभव रखनेवाले पाठक जान सकते हैं। कहीं ' ' यह चिन्ह भी नहीं छप सके। कहीं-कहीं विषयोंकी क्रमसंख्या भी नहीं छप सकी।

अन्य बात यह है कि मुझे सिरमें भारी एक्सीडेन्ट हो जानेसे जिसका निर्देश हमने भूमिकामें दिया है—एक मास सफदरजङ्ग हस्पतालमें रहना पड़ा। सो मेरे परोक्षमें कई फर्में छपनेसे कई अन्य मुद्रक-प्रमाद भी रह गये। आशा है—'आलोक' पाठकगण ऐसी असावधानताओंमें ध्यान देकर उनका स्वयं शोधन कर लिया करेंगे। यद्यपि हस्पतालसे आनेके बाद दुर्बलतावश हमें इस प्रकारके परिश्रमकेलिए निषेध कर दिया गया था; तथापि यह सोचकर कि-जब परमात्माने मुझे नवजीवन दान दिया है, तब यह कार्य भी रोक देना ठीक नहीं। देर भले ही हो; पर कार्यमें रुकावट होनी ठीक नहीं। आगे हम सदाकी भाँति इस पुष्पका परिशिष्ट दे रहे हैं, जिसमें समाचार-पत्रोंकी घटनाएं हैं, जिनसे आशङ्कित पौराणिक-विषयोंका समाधान भी हो जाता है। आशा है—'आलोक'-पाठकगण उधर भी दृष्टिपात करेंगे।

☆

[वादी की पुस्तक समाप्त हो जानेसे हम भी इस विषयको समाप्त करते हैं। अब समाचार-पत्रोंकी सच्ची घटनाएं 'आलोक'-पाठकोंके समक्ष रखते हैं।]

(१) पतिकी मृत्यु के बाद मैं तीन साल तक उनकी आत्मा से बात करती रही।

('नवभारत-टाइम्स' नई दिल्ली ३ सितम्बर ७२ रविवाराङ्क पृ. ४ से उद्धृत अपेक्षित अंश)

(स्व० आचार्य चतुरसेन शास्त्रीकी पत्नी श्रीमती कमलकिशोरीकी लेखनीसे)

१० जून १९४५ को उन्हों (श्रीचतुरसेन शास्त्री) ने मेरा हाथ ग्रहण किया था, १४ वर्ष बाद दो फरवरी १९६० को जब मृत्युने उन्हें घेर लिया, तब उन्होंने अपनी मूर्छासे कुछ क्षणका अवकाश ले मुझे स्मरण किया। मैं उनके सामने खड़ी थी, उनके सिरहाने थी, अपने प्राण उनके बदले विसर्जन करनेको प्रस्तुत थी, परन्तु मृत्यु-धर्मकी सत्ता बहुत प्रबल है, उसने देखते-देखते उन्हें चिरनिद्रा में सुला दिया, मेरा रुदन-चीत्कार कुछ काम न आया; फिर तो आँखोंमें पानी जब-तब बहता रहा।

कांकरौली महाराज गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजीने आचार्यजीको प्लान्चट पर मृत आत्माएं बुलाकर बातें करना सिखाया था, आचार्यजी मुझे भी अपने साथ प्लान्चट पर बैठा लेते थे, इससे आत्माका आह्वानज्ञान मुझे भी हो चला था। उनके निधनके बाद मैं प्लान्चट लेकर बैठने लगी, दो-तीन सिटिंगके बाद आत्मा बात करने लगी, आरम्भमें मृत्यु होनेके पन्द्रह दिन तक तो आत्मा पांच-दस मिनट रुकती थी, फिर चली जाती थी, वे कहते थे—अभी बात करनेमें कष्ट होता है।

कुछ दिन बाद प्रातःकाल की सिटिंगमें उनकी आत्माने कहा—अब मुझे कष्ट नहीं होता। आओ चाय पियें।

'कैसे पियेंगे, मुझे क्या करना चाहिए ?'

'बढ़िया चाय बना कर कपमें लाओ।'

मैं कमरेसे बाहर आकर रसोईमें गई, और अपने हाथसे चाय बना कर ले गई।

प्लान्चटने कहा—'कप जरा पास सरकाओ।'

कप सरका कर मैं प्रतीक्षामें बैठी रही, उस समय मैं इस आशामें थी कि कदाचित् उनका हाथ दृष्टिगोचर हो, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। चार-पांच मिनट बाद प्लान्चटने कहा—मैं पी चुका, अब तुम पिओ।

'कहाँ पी, चाय तो उतनी ही भरी हुई है।'

'मैं सूक्ष्म-आत्माके रूपमें यहाँ हूं, हम अदृश्य-रूपसे स्पर्श करके तृप्त होते हैं।

एक दिन चाय पीनेके बाद बोले—'पान लाओ।'

परन्तु उनकी मृत्युके बाद पान-दान तो बन्द पड़ा था, उनके सिवा और कोई व्यक्ति घरमें पान खाता नहीं था, अतः मैंने कहा—'पान तो घरमें नहीं है।

'कल बाजारसे मंगा रखना, बनारसी बीड़ा मंगाना।'

अगले दिनसे चाय पीकर पान भी खाते थे, परन्तु वही अदृश्य-स्पर्शमात्रसे। बादमें वही चाय और पान मुझे खानेकी आज्ञा होती थी।

इस वार्तालापसे मेरा दिल बहलने लगा, दुःख कुछ कम हुआ, परन्तु प्लान्चटसे उठकर बाहर आते ही मेरी आंखें बहुत देर तक लाल रहती थीं। मैं गुम-सुम देर तक पलंगपर पड़ी रहती थी, मुझे सामान्य-स्थितिमें होनेमें तीन-चार घण्टे लग जाते थे।

एक दिन उन्होंने कहा—'तुम बहुत रोती हो, यह ठीक नहीं है, खुश रहो। मेरा जीवन समाप्त हुआ, इससे दुःख क्यों ?'

'क्या आप वहाँ सुखी हैं ?'

'हाँ, हम आत्माएं शरीर-मोहसे उन्मुक्त हैं।

एक दिन प्लान्चट पर बातें हो रही थीं कि बोले—'देखो, अमुक व्यक्ति आकर बाहर बैठे हैं, जाओ और उनका स्वागत करो, चाय-वाय पिलाओ।

मैं बाहर आई; तो सचमुच वह व्यक्ति आये हुए थे।

एक बार कहा—'तुम्हारी साड़ियाँ फट गई हैं, नई मंगा लो।

अगले दिन फिर यही कहा और अधिकारपूर्ण आदेश दिया—आज अवश्य मंगाओ।

'नया कपड़ा कैसे पहनूं, जी नहीं करता।

'न मंगाओगी, खुश न रहोगी; तो मुझे कष्ट होगा।

अगले दिन नई साड़ी पहन कर प्लान्चट पर बैठी; तो बोले—हाँ, अब ठीक है, पर बालोंमें तेल कबसे नहीं डाला है, सूखे हो गये हैं, कलसे ठीक रखना।

एक दिन बोले—भूल गई, आज १० जून है, ब्याहका दिन ! जाओ रेशमी साड़ी पहन कर आओ, कुछ फूल लाओ, चाय लाओ।

मैं चमत्कृत हो बाहर आई, साड़ी बदली, कुछ फूल तोड़कर माला गूंथी, चाय-पान लेकर फिर प्लान्चट पर बैठी।

'हाँ, अब ठीक हुआ, लो मैं चाय पी चुका, अब तुम भी पीओ, फूल-माला भी मैंने पहन ली, अब तुम पहनो, आज दिन भर खुश रहना।'

इसी प्रकार प्लान्चट तीन वर्ष तक चलता रहा। शायद यह अध्यात्म-प्रेमका परिणाम था, कभी-कभी किसी विषयपर सम्मति लेनेके-

लिए भी मैं प्लान्चट पर बैठती थी, और वे सही परामर्श देते थे, मुझे धैर्य बंधाते थे, परन्तु तीन वर्ष बाद उनकी आत्माने प्लान्चटपर आना बन्द कर दिया। एक दूसरी आत्माने प्लान्चट पर आकर बताया कि वे अब अन्य लोकको चले गये हैं, नहीं आ सकते। आत्मा एक ही लोकमें स्थायी नहीं रहती।"

['आलोक'-पाठकोंने श्रीकमलकिशोरी-चतुरसेनका लेख पढ़ लिया होगा। इसमें स.ध.की बहुत-सी सैद्धान्तिक बातें पुष्ट होती हुई प्रतीत हो रही हैं।

पहले कहा था कि—'अभी (१५ दिनोंके भीतर) बात करनेमें कष्ट होता है'। यह ठीक है। आरम्भिक १२ दिनोंमें मृतक प्रेत होता है; उसमें शक्तिकी न्यूनता होती है। सो उसकी पुष्टचर्थ और्ध्वदेहिक क्रियाएं करनी पड़ती हैं। दश-गात्रसे प्रेतके दश अङ्गोंकी पुष्टि करनी पड़ती है।

फिर कहा था—'हम अदृश्यरूपसे स्पर्शादि करके तृप्त हो जाते हैं'। पितर भी एक देवविशेष होते हैं (देखो—सांख्यकारिका)। सो देवताओंके-लिए लिखा है—'न वै देवा अश्नन्ति, न पिबन्ति। एतदेव अमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छान्दो. उप. ३।६।१) (देवता लोग न स्थूलरूपसे खाते हैं, और न स्थूलरूपसे पीते हैं; किन्तु उस पदार्थके अमृत (सूक्ष्म अंश) को देखकर ही तृप्त हो जाया करते हैं)।

मनुस्मृतिमें लिखा है—'निमन्त्रितान् हि पितर: उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्। वायुवच्चानुगच्छन्ति' (३।१८९) (पितर लोग निमन्त्रित-ब्राह्मणोंके पास वायुकी भांति सूक्ष्म होकर उपस्थित होते हैं) इससे स्पष्ट हो जाता है कि—वे सूक्ष्मरूप होनेके कारण परोसे हुए अन्नके सूक्ष्म अंशको मधुमक्षिकाकी भान्ति लेकर तृप्त हो जाते हैं।

फिर इसमें कहा गया था कि—३ सालके बाद वे फिर अन्य पृथिवी-आदि लोकोंमें चले जाते हैं।

श्रीचतुरसेन शास्त्री आर्यसमाजी थे; उनकी धर्मपत्नी भी वैसी रही होगी। सो यह लोग लोक-लोकान्तरोंको नहीं मानते रहे होंगे। पर यहाँ परलोकगत शास्त्रीजीने स.ध.की मान्यताओंको सिद्ध कर दिया है। आर्यसमाजी लोग मृतकका तुरन्त इस लोकमें आ जाना मानते हैं; अब उनकी इस पत्नीके सत्य-संस्मरणमें मृतक-आत्माका ३ सालतक परलोकमें रहकर फिर अन्य लोकमें जाना कहा है। इससे उनकी पत्नीके सत्य-अनुभवसे स.ध.की मृतकके विषयमें मान्यताएं सत्य होती हुई सिद्ध हो रही हैं। यह 'आलोक'-पाठकोंने समझ लिया होगा।

श्रीचतुरसेन-शास्त्रीका एक मन्तव्य

हम गत पृ. ३४०-३४१ में आलोचित कर चुके हैं। उन्हों (चतुरसेनजी) ने चार वेद-ऋषियोंको शूद्र माना था। हमने उनका खण्डन किया था। यदि हमें पहले पता होता; तो हम उनकी पत्नीसे उक्त प्रश्न उक्त परलोकगत आत्मासे पुछवाते; तब उसकी सत्यताका पता भी लग जाता; क्योंकि—परलोकगत-आत्मा असत्य नहीं बोला करते। पर अब तो 'पयोगते कः खलु सेतुबन्धः' न्यायसे कुछ नहीं हो सकता।

(२) पुनर्जन्मके विषयमें।

पुनर्जन्मके सिद्धान्तको कई आजकलके व्यक्ति सन्दिग्ध दृष्टिसे देखते हैं। इस विषयमें 'नवभारत टाइम्स' (२८-१०-७२ के शनिवारके अङ्क) में एक मार्केकी टिप्पणी प्रकाशित हुई है, हम उसको भी यहाँ उद्धृत करते हैं—

('पुनर्जन्म') दिल्ली प्रदेश अणुव्रत-समितिकी गोष्ठीमें वर्जीनिया विश्वविद्यालयमें मनोविज्ञानके प्रोफेसर डा० इयन स्टीवेंसनने बताया है कि—सन् १९६१ से अब तक कंप्यूटरकी सहायतासे मैंने पुनर्जन्मके जिन १२ सौ मामलोंकी जांच की; उनसे इस विचारकी पुष्टि होती है कि—मृत्युके बाद व्यक्तिका जन्म फिर होता है।

पुनर्जन्मके अधिकांश प्रमाण भारत, श्रीलङ्का, बर्मा, थाईदेश और तुर्की, सीरिया तथा लेबनान, जैसे मुस्लिम (पुनर्जन्मके अविश्वासी) देशोंमें मिले। कई मामलोंमें तो बच्चे उस रोगसे पीड़ित पाये गये, जिस रोगसे वे पूर्वजन्ममें पीड़ित थे। यहीं नहीं, बल्कि पूर्वजन्मके चिन्ह—जैसे मस्सा आदि इस जन्ममें भी ठीक उसी अंगमें देखे गये, जिस अङ्गमें पिछले जन्ममें थे। पूर्वजन्मके कुछ भाव और व्यवहार इस जन्ममें भी मौजूद थे।

डा० स्टेवेंसनने जो तथ्य प्रस्तुत किये, उससे भारतीय-दर्शनके इस विचारकी वैज्ञानिक पुष्टि होती है कि—मनुष्यका पुनर्जन्म होता है, और उसे कर्मोंका भला या बुरा परिणाम भी भोगना पड़ता है। यह भोग एक ही जीवन तक नहीं, बल्कि अगले जीवनमें भी चलता है। एक जन्मके उच्च विचार, भाव या साधना अगले जन्ममें भी चलते हैं, और व्यक्ति पिछले जन्ममें जितनी मंजिलें तय करता है; उससे आगे चलना आरम्भ कर देता है।

डाक्टर इयन स्टेवेंसनकी खोजों और विश्लेषणके आधारपर सूक्ष्म शरीरके विचारकी पुष्टि होती है। स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु मन-बुद्धि, चित्त और अहङ्कार आदिके साथ आत्मा नये स्थूल-शरीरमें जाता है, यह चक्र इसी प्रकार चलता रहता है।"

हमने 'पुनर्जन्म तथा परलोक' के विषयमें 'कल्याण' के विशेषाङ्क 'पुनर्जन्म और परलोक' अङ्कमें विशेष विचार किया है, 'आलोक' पाठकों-को हम उसे देखनेकी प्रेरणा करते हैं। ('आलोक'-प्रणेता)

अब भक्त रामशरणदास जी पिलखुआ-निवासीसे संगृहीत घटनाएं उद्धृत की जाती हैं:—

(३) क्या पुराणोंमें आई बातें झूठ वा कपोलकल्पित हैं ?

जब कभी पुराणोंमें बड़ी आश्चर्यजनक घटनायें आजके अंग्रेज़ोंके मानस-पुत्र, पाश्चात्य सभ्यताके रगमें रंगे बाबू लोग तथा कम्युनिस्ट आदि पढ़ते हैं, तो वे सहसा पुराणोंकी बातोंको सत्य नहीं मानते, और एक-दमसे सफेद झूंठ और कोरी गप्प बताकर हंसीमें उड़ाया करते हैं, और माननेकेलिए तैयार नहीं होते। पर 'भूत वही जो सर चढ़ बोले' की कहावतके अनुसार अपना अद्भुत चमत्कार दिखाकर अपने सामने नत-मस्तक होने और सनातनधर्मका लोहा माननेको बाध्य कर देते है। हम पुराणोंकी बातोंको अक्षर-अक्षर सत्य सिद्ध करनेकी दृष्टिसे सत्य घटनायें सबके सामने रखने जा रहे हैं, आशा है पाठक इन्हें ध्यानसे पढ़नेकी कृपा करेंगे।

(४) क्या पुराणोंमें आई सिद्धियों-सम्बन्धी बातें गप्प हैं ?

जब हमारे पुराणोंमें ऋषि-महर्षियोंकी सिद्धियोंके बलपर जो चाहे सो क्षणमात्रमें घर बैठे बुला लेनेकी बातें और जो चाहे मंगा लेनेकी बातें आती हैं; तो यह दयानन्दी कूपमण्डूक इन बातोंको गप्प बताते हैं। जब महर्षि-भरद्वाज द्वारा घोर जंगलमें अपने आश्रममें भरतजीकी तथा अन्य अयोध्यावासियोंके आतिथ्य करनेकी बातें और सिद्धियोंके बलपर देवताओंको भी महान् दुर्लभ वस्तुओं द्वारा स्वागत करने और छप्पन-प्रकारके सुस्वादु भोजन उपस्थित कर देनेकी बातें लिखी मिलती हैं, तो वह इन बातोंको माननेकेलिए तैयार नहीं होते। अब जरा सिद्धि-सम्बन्धी महान् आश्चर्यजनक घटना सुनिये।

(१) सिद्धि-द्वारा हाथोंसे चीनी और कुंकुम गिरानेवाली अद्भुत विलक्षण महिला

अभी उस दिन जो कमलानगरमें पूज्य शास्त्रार्थ-महारथी पं० श्री-

माधवाचार्य-शास्त्रीजी महाराजके पास मैं गया, तो शास्त्रीजीने लोहेकी आल्मारीमें से निकाल कर एक छोटी-सी शीशी रोलीकी निकाली; और मेरे हाथमें थमा दी। उसकी विशेषता पूछनेपर उनने बताया कि महाराष्ट्र-में एक उत्सवमें मैं गया हुआ था, और साथमें थे प्रेमाचार्य शास्त्री भी। श्रीस्वामी करपात्री जी भी उसमें पधारे हुए थे। मैं कहीं गया हुआ था, तो स्वामी श्रीकरपात्रीजीने एक महिला-द्वारा अद्भुत चमत्कार दिखाने-की बात सुनाई। वह महिला मसावद जिला धूलियासे आई थी। वह सिद्धिका चमत्कार दिखाकर लौट गई। मैंने उस महिलासे मिलनेका निश्चय किया। स्वामीजी भी साथ चलनेको प्रस्तुत हो गये, और प्रेमाचार्य भी। कारमें बैठकर मसावद ग्राम पहुंचे। घरमें से वह स्त्री बुलाई गई। उस समय वह रोटी बनानेका आटा माड़ रही थी। वह आई, तो उसके दोनों हाथ गीले आटेमें सने थे। शीघ्र ही अपने हाथ धोकर वह हमारे सामने आ बैठी। हिन्दु लुवाण जातिकी पुराने ढंगकी ग्रामीण वेशमें थी। उसने हमारे सामने अपनी दोनों हथेलियां रगड़नी प्रारम्भ कीं। इसी प्रकार यही अद्भुत चमत्कार वह पहले श्री करपात्री-जी महाराजको दिखा चुकी थी। उसके हथेलियां रगड़नेसे दानेदार सफेद चीनी और लाल कुंकुम-रोली हथेलियोंसे गिरने लगीं।

मैंने उस अद्भुत महिलासे कहा कि यह दानेदार चीनी और रोली एक पात्रमें गिरनेसे मिलकर किसी कामकी नहीं रह गई। आप इनको अलग-अलग गिरावें; तो इनका कुछ उपयोग भी होगा। उसने मेरी बात स्वीकार कर ली। अब उसने हथेलियां रगड़कर एक पात्रमें दानेदार चीनी और दूसरे पात्रमें लाल रोली गिराना प्रारम्भ किया। इस प्रकार उस अद्भुत महिलासे लगभग दो तोले रोली मैंने प्राप्त की, और सिद्धि-द्वारा प्राप्त इस रोलीका ही मैं तिलक लगाता हूं। इस सिद्धि-द्वारा रोली और चीनीका ढेर लगानेवाली अद्भुत विलक्षण महिलाको देखकर हम आश्चर्यचकित रह गये।

कहिये महाशय ! अब क्या कहते हो। क्या इन विश्व-विख्यात नेताओंके द्वारा देखी सिद्धि-द्वारा मंगाई रोली और चीनीके ढेर लगाने-की बातको भी क्या गप्प बताओगे ?

(२) पुराणमें आई स्वप्नमें भविष्य ज्ञान होने सम्बन्धी-बातें क्या गप्प हैं ?

जब हमारे पुराणोंमें स्वप्न-विचार और स्वप्नमें देखी गई बातोंसे भविष्यमें होनेवाली वातोंका ज्ञान हो जाना और स्वप्नकी बातोंको सत्य मानने-सम्बन्धी बातें आती हैं; तो इन्हें आर्यसमाजी आदि गप्प बताते हैं, और जब रामायण आदिमें यह पढ़ते हैं कि अशोकवाटिकामें विराजमान भगवती जगदम्बा श्रीसीताजी महारानीको त्रिजटा नामक राक्षसीने आकर बताया कि मुझे स्वप्न दिखाई दिया है; जिससे मालूम पड़ता है कि 'सीते ! शीघ्र ही इस राक्षसराज रावणकी लंकाका और राक्षसोंका विनाश होने वाला है; और शीघ्र ही तुम्हारा संकट दूर होने वाला है। तुम धैर्य धारण करो, चिन्ता न करो। बादमें वास्तवमें त्रिजटाकी स्वप्न-सम्बन्धी बातें बिल्कुल सत्य निकलीं, तो इन सब वातोंको पढ़कर यह महाशय कोरी-गप्प बताकर हंसीमें उड़ाया करते हैं। लो उन आर्यसमाजीके मुखसे ही स्वप्न-सम्बन्धी सत्य घटना सुनिये, जो इस प्रकार है।—

आर्यसमाजके सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री उदयवीर शास्त्रीजीने अभी मार्च सन् १९७१ में जो स्वप्न देखा है, उसे बिल्कुल सत्य पाया है। अपने जीवनमें घटी स्वप्न-सम्बन्धी घटना देहलीसे 'नवभारत टाइम्स' ता० ९-४-१९७१ में आपने इस प्रकार छपवाई है।

(३) स्वप्नमें भविष्यका ज्ञान

"गत ५ मार्च को एक लिफाफा अपने सम्बन्धी ले० कर्नल श्री-केशरीसिंहको इम्फाल (मणिपुर राज्य की राजधानी) के पते पर रजिष्ट्री

किया था; और आशा थी कि उसके उत्तरमें १७-१८ मार्च तक उसका कुशल-समाचार मिलेगा, परन्तु कोई उत्तर उधरसे २० मार्च तक भी नहीं मिला।

२० मार्च शनिवार की रातमें लगभग तीन-चार बजेके बीच स्वप्न देखा कि पोस्टमैनने वह लिफाफा लाकर मेरे हाथमें दिया; और कहा कि आपका रजिस्ट्री-पत्र वापस आ गया है, इस स्लिप पर दस्तखत कर दें। हस्ताक्षर कर स्लिप वापस कर दी। स्वप्नमें जो पारिवारिक-जन दिखाई दे रहे थे; उन्हें वह रजिस्ट्री पत्र दिखाया; और वापस आजाने का जिक्र किया। उसकी साधारण चिन्तामें करवट बदलते उठने का समय हो गया। आवश्यक कार्यों से निवट कर जब पारिवारिक-जन आहार के लिए बैठे; उस स्वप्न का मैंने सबके सामने जिक्र किया, सबने चिंता की भावना व्यक्त की, और बात आई-गई हो गई।

उस दिन (२१ मार्च, रविवार था, मैं आशान्वित रहा; संभवत: इस सप्ताह कोई सूचना उधरसे आवे। सप्ताह बीतने पर लिखने का संकल्प किया पर जब गुरुवार २५ मार्च को दोपहर पोस्टमेन ने आवाज दी; और वही रजिस्ट्री लिफाफा मेरे हाथमें देकर कहा—आपकी यह रजिस्ट्री वापस आ गयी है, इस स्लिप पर हस्ताक्षर कर दें। उस समय मेरे और पारिवारिक जनों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

संभवत: दिनांक २० मार्च शनिवार को पत्र इम्फाल के पोस्ट-आफिस से वापस किया गया, उसी रात मुझे वह स्वप्न हुआ। लिफाफा मेरे पास सुरक्षित है।

देखा पाठको ! यह है भारतके सुप्रसिद्ध आर्यसमाजके विद्वान् श्री-उदयवीर शास्त्री जी की स्वयं की अपने जीवन में घटी स्वप्न-सम्बन्धी सत्य-घटना शास्त्री जी ने भविष्य में होने वाली बात को स्वयं स्वप्नमें पहले ही देख लिया; और इसे बिल्कुल सत्य पाया। इससे बढ़कर शास्त्र-

पुराणोंमें आई स्वप्न-सम्बन्धी बातों की सत्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या होगा ?

(४) क्या शास्त्र-पुराणोंमें आईं यन्त्र एवं मन्त्रविद्याके अद्‌भुत चमत्कार की बातें गप्प हैं ?

हमारे पुराण अनन्त-विद्याओंके भण्डार हैं; और अनन्त विद्याओं के खजाने हैं। जब पुराणों में मन्त्र-विद्या के विलक्षण चमत्कारों की बातें आती हैं; तो महाशय लोग नाक-भौं सिकोड़ते हैं, और इन्हें सत्य नहीं मानते। मन्त्र-विद्याकी बड़ी अद्‌भुत विलक्षण महिमा है, और भयंकर घोर विपत्ति को और बड़े-से-बड़े कष्टों को और रोगों को क्षण मात्र में मंत्रों द्वारा दूर कर दिया जाता था। इस मंत्र के अद्‌भुत चमत्कार की एक घटना हम यहाँ पर दे रहे हैं।

(५) जिस महान् घोर भयंकर बवासीरको बड़े-बड़े डाक्टर अच्छा न कर सके; उसे क्षण भर में मन्त्रने दूर कैसे कर दिया ?

अभी सन् १९७० में पिलखुवा हमारे स्थान पर भारत के सुप्रसिद्ध धर्म-गोभक्त नेता श्रीस्वामी रामचन्द्र वीर पधारे थे। तभी आपने स्वयं अपनी आँखों-देखी मंत्र के अद्‌भुत चमत्कार-सम्बन्धी घटना यह सुनाई—

मंत्रों की बड़ी विलक्षण महिमा है, और बड़ी अद्‌भुत विलक्षण शक्ति है कि जो बस वर्णनातीत है। जिस रोग को बड़े से बड़ा डाक्टर ठीक नहीं कर सका, उसे क्षणमात्र में एक बुढ़िया ने मंत्र बांधते ही तुरन्त दूर कर दिया। हमारे पिता जी खूनी बवासीर के रोग से बहुत पीड़ित थे। और अत्यधिक खून के गिर जाने से वह बिल्कुल मरणासन्न अवस्था को पहुंच गए थे। बड़े-बड़े अंग्रेजी डाक्टरों से पिताजी का इलाज कराया गया; और खूब रुपया-पैसा भी खर्च किया गया, और जो भी किसी-द्वारा

औषधियां बताईं गईं, और लगाई गईं, पर खून जाना बन्द नहीं हुआ; और तनिक भी रोग शान्त नहीं हुआ। पिताजी की सारी धोती खून से, रक्तसे भर जाती थी; और वह ऐसे कमजोर हो गये थे, सारे दिन चारपाई पर पड़े रहा करते थे, और मरने के दिन गिन रहे थे। हम लोगों ने भी उनके जीवन की आशा बिल्कुल छोड़ दी थी; और इधर डाक्टर-वैद्योंने भी जवाब दे दिया था। तेल मिर्च खटाई आदि का परहेज करना ही बता रखा था। इससे उनका खाना-पीना भी बन्द हो गया था। अकस्मात् एकदिन हमारे गाँव की ही एक बुढ़िया-माता हमारे घर आई, जो जाति की जोगी थी; और उसने हमारे पूज्य पिता जीके वस्त्र खूनसे लथपथ देखे; और उन्हें चारपाई पर पड़ा हुआ मरणासन्न-अवस्थामें देखा; तो उसे यह दयनीय दशा देखकर बड़ी दया आई। वह वृद्धा-माता छल-बलसे रहित बिल्कुल सीधी और लोभ-लालचसे रहित बिल्कुल सीधी-साधी थी; और वह मन्त्र-यन्त्रविद्यामें बड़ी निपुण थी।

उसने हमारे पिता जी को बड़ा आश्वासन दिया और धैर्य बंधाया, और एक मंत्र वा यन्त्र लिख करके लाई और हमारे पिताजीकी दाहिनी भुजा में बाँध दिया, और बड़ी दृढ़तासे कहा कि अब यह तुम्हारे मंत्र बाँध दिया गया है और बस इसी समय से तुम्हारे इस बवासीर रोग की भी समाप्ति हो गई, और अबसे तुम्हें परहेज करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम तेल मिर्च खटाई गुड़ आदि जो मन चाहे, सो सब कुछ खाओ पीओ और न तुम्हें कोई औषधी खानेकी और लगानेकी आवश्यकता है। अब आपको अपने समस्त जीवन में कभी भी यह रोग नहीं होगा और निश्चिन्त होकर चैन की वंशी बजाओ।

बस वह बुढ़िया हाथमें मंत्ररूप यन्त्र बांधकर चली गई और इधर उसके जाते ही उसी क्षण पिता जी का सारा रोग-शोक तत्क्षण न जाने कहाँ चला गया; और वह बिकुल ठीकठाक पूर्ण स्वस्थ हो गये; और उसके पश्चात् जो अभी-अभी मरणासन्न थे, और खाने-पीनेको तरसा करते थे।

वह पन्द्रह वर्षों तक जीवित रहे और खूब गुड़, तेल, मिर्च, खटाई आदि सब कुछ खाते-पीते रहे, और फिर उन्हें कभी जीवन पर्यन्त खूनी ववासीर का रोग नहीं हुआ और उनका शेष जीवन बड़े सुख से बीता। उस मंत्र-विद्याका यह महान् आश्चर्यजनक अद्‌भुत चमत्कार हमने स्वयं अपने जीवन में देखा था, और सभी देखकर बड़े ही आश्चर्यचकित रह गये थे।

मुझे घोर पश्चात्ताप क्या हुआ।

वह वयोवृद्धा माता जोगन मर गई तो मुझे बाद में बड़ा घोर पश्चात्ताप हुआ कि उसके साथ ही यह मंत्र-विद्या भी चली गई; और यदि मैं उससे यह अद्‌भुत मंत्र सीख लेता; तो आज मैं लाखों मनुष्योंका रोग दूर करके महान् पुण्यका भागी बन जाता। उस माताको यह विद्या एक संत से प्राप्त हुई थी। आज भी ऐसे बहुतसे गुप्त संत महात्मा हैं कि जिनके पास मंत्रों-यंत्रोंकी शक्ति विद्यमान है, किन्तु आधुनिक शिक्षा के द्वारा विगड़े हुए तथाकथित सुधारवादी मूढ़ोंको प्रत्येक पुरातन बातोंमें बस पाखण्ड ही पाखण्ड दिखलाई पड़ता है; और अंग्रेजी बातों-में सब अच्छा ही अच्छा दिखाई देता है। यह देशका महान् घोर दुर्भाग्य नहीं तो क्या है ?

(वेद तो मन्त्रराज ही माने जाते हैं। उनके प्रयोगसे भी बड़े-बड़े लाभ प्राप्त होते हैं। आर्यसमाजी प्रायः मन्त्रशक्तिको नहीं मानते। इनके दादा-गुरु स्वा.द. भी 'मन्त्र-शक्ति' को नहीं मानते थे, और 'मन्त्र' नाम 'विचार'का कहकर 'मन्त्रशक्ति' को उड़ा देते थे (स.प्र. ११ समु.) पर हमें 'वैदिकधर्म' पारड़ी अक्टूबर १९६६ के पृ. २०५-२०८ में कट्टर दयानन्दी श्रीधर्मदेवजी विद्यामार्तण्डका निम्न लेख प्राप्त हुआ है, 'आलोक' पाठक उसे देखें—

''वेदोंका स्वाध्याय नवजीवनदायक है, मुख्यतया मन्त्रशक्तिसे मेरी (धर्मदेवकी) 'मृत्यु-मुखसे मुक्ति' यह वहां शीर्षक था; उसमें लेखकका नाम लिखा था—(श्रीधर्मदेव विद्यामार्तण्ड)।

वहां पृ. २०५-२०८ में यह लेख था—

'सितम्बर-अक्टूबर १९३३ में दुर्भाग्यवश टाईफाईड, निमोनिया, अतिसार व्याधि भगन्दर और अर्धाङ्ग (लकवा) के आक्रमणके कारण मैं [धर्मदेव] ऐसी अवस्थामें पहुंच गया था, जिसे वेदमें—'यदि मृत्यो-रन्तिकं नीतएव' [यदि मौतके पास लाया गया हो] इन शब्दोंमें कहा जा सकता है. मरणासन्न अवस्था उस अत्यन्त-शोचनीय-अवस्थासे जिसमें मेरे (धर्मदेवके) बचनेकी आशा ही प्रायः सब डाक्टरों और मित्रोंने छोड़ दी थी, कैसे मङ्गलमय, दयासागर भगवान्‌की अपार कृपा और वेदमन्त्रोंकी शक्तिसे मेरा उद्धार हुआ।...' [उद्‌धृतकर्ता-'आलोक' प्रणेता]।

इससे एक तो यह सिद्ध हो रहा है कि—वेद मुख्यतया शब्दरूप एवं मन्त्ररूप होते हैं। उनके शब्दोंमें बड़ी शक्ति होती है। उसे अधिकारी लोग प्रयुक्त करके अपना नव जीवन प्राप्त कर सकते हैं।)

(६) क्या पुराणोंमें आईं पशु-पक्षियोंकी भगवद्भक्ति करनेकी बातें गप्पबाजी हैं ?

जब हमारे शास्त्र-पुराणोंमें पशु-पक्षियोंके तथा अन्य बहुतसे मनुष्येतर प्राणियोंकी भगवद्भक्ति करनेकी बातें आती हैं; और जिस समय श्रीरामचरितमानसमें यह पढ़नेको मिलता है—

वट तट करि हरि कथा प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक विहंगा॥

तो इसे पढ़कर बहुतसे दयानन्दी-आदि इसे एकदमसे गप्प बताने लगते हैं। लो एक श्रीमद्‌भागवत सप्ताहके महान् प्रेमी भगवद्भक्त मेंडकके जीवनकी सत्य घटना हम आपके सामने रख रहे हैं कि जो इस प्रकार है—

'कल्याण' के सम्पादक श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार जी एक विश्वविख्यात सनातनधर्मी नेता थे। आपको कुछ दिनों पूर्व बवासीरकी बीमारी थी तो आप आपरेशनकी दृष्टिसे दिल्ली पधारे थे. और श्री ज.द. डालमियाजीकी कोठी पर ठहरे हुए थे। हम आपसे भेंट करने गये तो आपने सबके सामने एक भगवद्भक्त मेंडकके जीवनकी अपनी आँखों-देखी घटना सुनाई; जिसे सुनकर सभी बड़े आश्चर्य-चकित रह गये। घटना इस प्रकार है—

श्रीमद्भागवत-सप्ताह सुननेवाला अद्भुत विलक्षण भगवद्भक्त मेंडक

एक बारकी बात है कि हमारे एक मित्रने अपने स्थानपर श्रीमद्भागवतका सप्ताह कराया था कि जो बड़े ही समारोहके साथ सम्पन्न हुआ था। उस श्रीमद्भागवतके सप्ताहमें हमें भी बुलाया गया था। हम भी गये हुए थे। श्रीमद्भागवतका सप्ताह कहनेवाले ब्राह्मण भी बड़े ही अच्छे वक्ता और विद्वान थे; और बड़ी सुललित कथा कहते थे। उस श्रीमद्भागवतके सप्ताहमें जहाँ बड़े-बड़े सुप्रतिष्ठित सज्जन कथा करते थे उसमें एक बड़े ही अद्भुत विलक्षण श्रोता पधारा करते थे। नित्यप्रति एक भगवद्भक्त मेढ़क भी होता था; जो एक बड़ी रोचक घटना है। उसे सबने देखा था।

जिस दिनसे श्रीमद्भागवतका सप्ताह आरम्भ हुआ और व्यासासनपर वह पूज्य ब्राह्मण-वक्ता आ करके विराजमान हुए; और उन्होंने कथा कहना ज्यों ही प्रारम्भ किया; तो झटसे न जाने कहाँ से वहाँ पर एक मेंढ़क फुदकता-कूदता हुआ आया और वह एक ओर आकर के चुपचाप बैठ गया; और प्रारम्भसे लेकर अन्त तक वह बड़ी तन्मयताके साथ बड़े ही शान्तभावसे कथा सुनता रहा। ज्योंही कथा समाप्त हुई और श्रोतागण उठ-उठकर जाने लगे, तो वह मेढ़क भी वहाँसे कहीं चला गया ?

पहले दिन तो किसीने भी उस मेढ़ककी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, और सबने उस समय यही समझा कि यह कोई साधारण मेढ़क है, और इधर कहींसे निकल करके आ गया है। जब अगले दिन भी वह पुन: पहले दिन की ही भांति श्रीमद्भागवत की कथा प्रारम्भ होने पर कहींसे कुदता हुआ आया और यथास्थान वहां पर आ करके बैठ गया और बड़े ही शान्तभावसे कथा सुनता रहा और ज्योंही कथा समाप्त हुई कि वह झटसे फिर न जाने कहाँ चला गया। तो फिर उसे नित्यप्रति आते-जाते देखकर अब तो सबको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ; और बड़ी उत्सुकता पैदा हुई; और वह बड़ी श्रद्धाभक्तिकी दृष्टिसे देखा जाने लगा और बड़ी चर्चाका विषय बन गया। उस परम सौभाग्यशाली मेढ़कने बिना नागा किये आद्योपान्त पूरा श्रीमद्भागवत-सप्ताह श्रवण किया था। पश्चात् फिर उस मेढ़कको किसीने भी नहीं देखा। पता नहीं फिर वह कहाँ लुप्त हो गया ? वह तो श्रीमद्भागवतकी कथाका प्रेमी था और रसिक था और जब तक उसे श्रीमद्भागत सप्ताह सुननेको मिलता रहा, वह बराबर आता-जाता रहा और बड़े ही प्रेमसे सुनता रहा, और ज्योंही श्रीमद्भागवतका सप्ताह समाप्त हुआ तो; फिर उस भगवद्भक्त भागवात-प्रेमी मेंढ़कका आना जाना भी समाप्त हो गया। वह तो श्रीमद्भागवत कथामृतका रसिक था फिर भला उसका वहाँ पर क्या काम ? यह हमारी स्वयं की अपनी आँखों देखी बिल्कुल सत्य घटना है और इसे वहाँ पर सबने देखा था। और सबने उस परमसौभाग्तशाली श्रीमद्भागवत सप्ताहके प्रेमी उस अद्भुत विलक्षण-भक्त मेढ़कके दर्शन कर अपने को बड़ा ही कृतकृत्य और बड़ा ही धन्य-धन्य माना था; और उसके भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

मालूम होता है कि वह कोई पूर्वजन्मका महान् भगवद्भक्त और भागवतरसिक जीव था, और उससे कोई पूर्वजन्ममें भूलसे कोई ऐसा पाप बन गया होगा, कि जिस पापके फलस्वरूप उसे इस प्रकार अब मेंढ़क

की योनिमें जन्म लेना पड़ा। विशेषताकी बात यह रही कि मेढ़ककी एक महान निकृष्ट योनि में जन्म लेने पर भी पूर्वजनोंके महान् पुण्योंके कारण मेढ़ककी योनिमें वह अपने परमकल्याणके साधन श्रीमद्भागवत की अद्भुत विलक्षण महिमाको अभी तक भी भूला नहीं था। अब इसने श्रीमद्भागवतका सप्ताह सुनकर अपनी इस मेढ़क योनिको त्यागकर श्रीभगवद्धाम प्राप्त कर लिया होगा; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

इससे बढ़कर 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्' इन शब्दोंसे वेदरूप कल्पवृक्षसे गिरे फलस्वरूप श्रीमद्भागवतकी अद्भुत विलक्षणताका प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या होगा? जिस श्रीमद्भागवतकी साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण-का वाङ्मय स्वरूप माना गया है; उसे ही यह दयानन्दी लोग पापोंकी बनाई हुई बताकर बड़ी घृणा की दृष्टिसे देखा करते हैं, क्या वह मनुष्य होकर भी इस परमसौभाग्यशाली मेढ़कसे भी गये-बीते नारकीय जीव नहीं हैं? ऐसे पामरोंसे तो यह मेढ़क ही लाख दर्जे श्रेष्ठ है, कि जो मेढ़क की योनि जन्म लेकर भी श्रीमद्भागवतकी विलक्षण महिमाको जानकर और श्रीमद्भागतके सप्ताहको सुनकर अपना उद्धार कर गया; और इधर यह दयानन्दी महाशय मनुष्ययोनि प्राप्त करके भी दिन रात तर्क-वितर्क-कुतर्क में उलझे रहकर घोर नरक को प्रस्थान करनेकी तैयारीमें लगे हैं।

(७) एक साथ अनेक बच्चोंका जन्म

जब कभी 'महाभारत'में गांधारीके सौ पुत्र होनेकी बातें आती हैं, या एकसे अधिक सन्तान उत्पन्न होनेकी बातें पढ़नेको मिलती हैं, तो मनचले लोग इन सब बातोंको एक दमसे सफेद झूठ, कोरी गप्पबाजी बताकर हंसीमें उड़ाने लगते हैं। और कहा करते हैं कि ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। हम 'आलोक'-पाठकोंके सामने एकसे अधिक सन्तान उत्पन्न होनेकी कुछ आश्चर्यजनक सत्य घटनाएं रखते हैं।

एक साथ चार बच्चोंका जन्म

हिन्दुस्तान देहली (ता० २०-७-७२) में छपा हैं कि—कोटा। पता चला है कि पंचायत समिति अन्ताके ग्राम राजगढमें एक चमार जातिकी महिलाने एक साथ चार बच्चोंको जन्म दिया। उनमेंसे एक बच्चेकी तो पूरी तरह आकृति भी नहीं बन पाई थी। उन बच्चोंको ग्रामके सैंकड़ों स्त्री-पुरुषोंने देखा, परन्तु १२ घण्टोंके भीतर उन चारों बच्चोंकी मृत्यु हो गई। लोगोंको यह भी कहते सुना गया कि सरकार एक ओर परिवार-नियोजन चाहती है, तो दूसरी ओर ग्रामीण-जनतामें प्रकृतिकी ओरसे परिवार-आयोजन हो रहा है।

एक साथ ९ बच्चोंका जन्म

हिन्दुस्तान देहली दैनिक (ता० १४ जून सन् १९७२) सिडनी। १३ जूनमें एक १९ वर्षीय आस्ट्रेलियाई महिलाने आज यहाँ एक साथ ९ बच्चोंको जन्म दिया। अब तक विश्वमें जो एक-साथ बच्चे हुए हैं; उनमें यह संख्या सबसे बड़ी है। सात बच्चे ३ लड़के और ४ लड़कियां जीवित हैं। दो बच्चे दोनों लड़के अभी-अभी हुए हैं। जिस अस्पतालमें इन बच्चोंका जन्म हुआ है उसके अधिकारियोंने बताया कि सम्बद्ध महिलाका सन्तानके लिए इलाज चलता रहा है। ये बच्चे पूर्ण-विकसित नहीं हैं, किन्तु उनकी दशा ठीक है।

एक साथ १५ शिशुओंका जन्म

हिन्दुस्तान दैनिक देहली (ता० २८-७-१९७२) रोम २४ जुलाई। यहां डाक्टरोंने एक ३५ वर्षीय महिलाके गर्भाशयका आपरेशन कर १५ शिशुओंके पूर्ण परिपक्व और विकसित भ्रूण निकाले हैं। चिकित्सा-इतिहासमें एक बारमें गर्भस्थ शिशुओंकी यह सर्वाधिक संख्या है। सभी १५ शिशु १० कन्यायें और ५ लड़के सर्वाङ्ग-सम्पन्न थे। हर एक गर्भस्थ-शिशुका भार १५० ग्राम था। और गर्भमें श्वास और हिलने-जुलनेके

लिए पर्याप्त स्थान न होनेके कारण सभी मृत थे। उक्त महिलाने आठ वर्ष पूर्व एक कन्याको जन्म दिया था; तबसे वह अगले बच्चेकेलिए होमिन्स ले रही थी। उसका पति सैल्समैन है। गर्भधारणके चौथे मासमें यह बीमार हुई, तो उसे अस्पताल ले जाया गया, जहां आपरेशनसे १५ मृत-शिशु निकाले गये।

(८) क्या पुराणोंमें व्रत-उपवास रखनेकी अद्‌भुत-महिमा सम्बन्धी बातें गप्प हैं ?

जब पुराणोंमें दयानन्दी लोग एकादशीके व्रत रखनेकी, अमावस्या-पूर्णिमा, श्रीशिवरात्रि, श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी, श्रीरामनवमी आदिके व्रत-उपवास रखनेकी अद्‌भुत महिमासम्बन्धी बातें पढ़ते हैं; तो दयानन्दी अपने गुरु दयानन्द आदि की भाँति व्रत-उपवास रखनेकी आज्ञा देनेवाले ऋषि-मुनियोंको अन्ट-सन्ट गालियाँ बकने लगते हैं। स्वा. दयानन्दने निर्जला-एकादशीका व्रत रखना लिखनेवाले भगवान् वेदव्यासको कंसाई तक लिख मारा कि वह एकादशीका व्रत रखवा कर भूखा मारते हैं; और इन व्रत उपवासोंमें क्या रखा है ? व्रत उपवास रखनेसे कोई लाभ नहीं है। व्यर्थमें ही भूखों मरना पड़ता है, यह मूर्खताकी बातें हैं, आदि-आदि लिख मारा है। यह लोग इङ्गलैण्ड, अमेरिकाके अंग्रेजोंके और घोर नास्तिक रूसियों-कम्यूनिस्टोंके व्रत-उपवास रखनेकी बातोंको मूर्खतापूर्ण बातें बतानेपर उनका अंधानुकरण करके व्रत-उपवास रखनेकी बड़ी खिल्ली उड़ाया करते हैं। अब वही इनके परम गुरु रूसी नास्तिक स्वयं हमारे व्रत-उपवास रखनेकी अद्‌भुत विलक्षण महिमा बताने लगे हैं; अब जरा यह ध्यानसे सुनिये।

दिल्लीके नवभारत टाइम्स ता० १३-५-१९७१ में व्रत-उपवासकी विलक्षणताके सम्बन्धकी सम्पादकीय महत्त्वपूर्ण टिप्पणी हम यहांपर ज्योंकी त्यों दे रहे हैं। जो इस प्रकार है—

उपवाससे इलाज

"आयुर्वेद-चिकित्सापद्धतिका अध्ययन करने भारत आये रूसी डा० निकालायेवने कहा है कि आयुर्वेदमें विभिन्न-रोगोंका इलाज करनेकेलिए उपवास की जो व्यवस्था है; वह; बहुत उपयोगी एवं वैज्ञानिक है। सोवियट-रूसके स्वास्थ्य-मन्त्रालयने उपवास-द्वारा इलाजकी पद्धतिको सरकारी मान्यता दे रखी है; और डा० निकोलायेवने स्वयं पिछले लगभग २२ वर्षमें उपवास कराकर लगभग चार हजार रोगियोंको अच्छा किया है।

आयुर्वेदकी मान्यताके अनुसार जब शरीरमें तत्त्वोंका सन्तुलन बिगड़ जाता है; तब कई तरहके रोग पैदा होते हैं, रोगके लक्षणोंके अनुसार योग्य आयुर्वेदाचार्य उपवास-हचन आदि विधियोंको अपनाकर नाड़ियों और शरीरको आम तौर पर शुद्ध करने एवं असंतुलनको दूर करनेका प्रयत्न करते हैं।

डा० निकोलायेवने स्वीकार किया है कि ज्वर, दिमागकी कई-बीमारियों और कई उदर-रोगोंका उपवास सर्वश्रेष्ठ इलाज है। २०-२५ दिनके उपवासके बाद रोगीको क्या भोजन दिया जाय, यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। आयुर्वेदाचार्य इसके लिए मूंग आदिकी दालके पानीसे शुरूआत करना उपयुक्त समझते हैं।

उपवासकी उपयोगिता स्वीकार कर लिये जानेके बाद भारतीय-ऋषियों और मुनियोंके स्वस्थ और दीर्घजीवी होनेका रहस्य आसानीसे समझमें आ जाता है। जो कि व्रत-उपवासोंसे स्वर्गादिलोककी प्राप्ति कही जाती हैं, वह भी गलत नहीं है। क्योंकि-व्रत आदिसे मस्तिष्क तथा बुद्धि ठीक रहती है। उससे सत्कर्म किये जाते हैं; तब निष्काम सत्कर्मोंसे स्वर्ग, मुक्ति आदिकी प्राप्ति स्वाभाविक है। एतदर्थ 'आलोक' पञ्चम पुष्पमें 'एकादशी-विज्ञान' (पृ. ५४५-५६४) में पढ़िये।

देखा पाठको ! यह है व्रत-उपवास रखनेका अद्भुत चमत्कार कि जो रूसी-डाक्टरको भी नतमस्तक होकर स्वीकार करना पड़ा है। बोलो महाशयो ! अब क्या कहते हो ?

(६) क्या पुराणोंमें आई भूतप्रेतोंकी बातें और उनके निमित्त किये गये श्राद्ध-तर्पण-द्वारा मुक्तिकी बातें गप्प हैं ?

जब हमारे शास्त्र-पुराणोंमें भूतप्रेत आदिके होनेकी अद्भुत-घटनाओंका वर्णन आता है, (देखो इसकेलिए 'आलोक' का ११वाँ पुष्प)। और प्रेतोंके निमित्त किये गये श्राद्ध-तर्पण आदिके द्वारा उनकी मुक्तिका वर्णन आता है; तो इन्हें पढ़कर दयानन्दी आदि आगबबूला हो जाते हैं और कोरी गप्प बताने लगते हैं। भूत-प्रेतादिके होनेकी बातें और उनके निमित्त किये गये श्राद्ध-तर्पण द्वारा उनकी मुक्ति होनेकी बातें कितनी अक्षर-अक्षर बिल्कुल सत्य हैं; हम इस सम्बन्धमें कुछ सत्य घटनायें आपके सामने रखने जा रहे हैं।

पूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजीने पार्वण-श्राद्ध द्वारा एक प्रेतात्मा की मुक्ति कैसे कराई ?

यह सितम्बर १९७० की बात है कि पिलखुवा हमारे स्थान पर हापुड़ चडी संस्कृत महाविद्यालयके आचार्य पूज्य पं० श्रीबालकराम-शास्त्री पुराणेतिहासाचार्य जी पधारे थे। तभी आपने यह एक प्रेतात्मा-सम्बन्धी घटना बताई थी, और लिखाई थी। आपने बताया—

हापुड़के एक अग्रवाल वैश्य हैं, जिनकी लड़कीका नाम सत्यवती है। सत्यवती गाज़ियाबाद विवाही है। सत्यवतीके माता-पिता आदि तो कट्टर सनातनधर्मी हैं; पर उसके ससुराल वाले दयानन्दी हैं। कुछ दिनों पूर्व लड़की सत्यवती बीमार हो गई; और उसका बड़े-बड़े डाक्टरोंसे इलाज कराया गया; पर उसे लाभ कुछ नहीं हुआ। उसे कोई शारीरिक रोग नहीं था; जोकि औषधियां काम देती; उसे था प्रेतावेश। जिसे

उसके ससुराल वाले समझ नहीं सके। एक दिन सत्यवतीका भाई महेन्द्र-कुमार अपनी बहनको देखनेकेलिए गाजियाबाद गया; और उसने बहनको देखा; तो बहनको कोई बीमारी नहीं है; अपितु उसे प्रेतावेश है उसे प्रेत सताता है। भाईके सामने ही सत्यवतीको प्रेतावेश हुआ। और प्रेतने अपने उद्धार की मांग की; और अपना उद्धार होने पर सत्यवतीको छोड़ देनेका और आगेसे सत्यवतीको किसी भी प्रकारसे कष्ट न देनेका वचन दिया। भाई उस प्रेतसे उसके उद्धारका कोई उपाय करनेका वचन देकर वहाँसे चला आया।

एक दिन सत्यवतीका भाई महेन्द्रकुमार मेरे पास दौडा हुआ आया। मैं उस समय भगवान् श्रीराधावल्लभजी-महाराजके मन्दिरमें था; और उसने आकर मुझे अपनी बहनकी बड़ी दुःख-गाथा सुनाई; और कहा कि किसी प्रकार हमारी बहनको सतानेवाले प्रेतका उद्धार हो-ऐसा कोई उपाय करो; जिससे उस दुष्ट-प्रेतात्मासे मेरी बहन सत्यवती-का छुटकारा हो सके।

मुझे यह दुःखगाथा सुनकर बड़ी दया आई। पर उस प्रेतका उद्धार कैसे हो; और लड़कीको प्रेतसे छुटकारा कैसे मिले; अब यह समस्या सामने आई। दैवयोगसे हापुड़में उस दिन भारतके सुप्रसिद्ध-महान् धर्माचार्य, पूज्यपाद जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज पधारे हुए थे; और मन्दिरके ऊपरके कमरेमें विराजमान थे। मैं महेन्द्रकुमारको झटसे पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्यजी-महाराजके पास ले गया। उसने जगद्गुरुजीको अपनी बहनकी दुःखगाथा सुनाते हुए करबद्ध प्रार्थना की कि महाराज ! मेरी बहनको दुष्ट प्रेत सताता है; इस कारण हमारी बहन और हम सब घरवाले बड़े परेशान हैं। किसी प्रकार उस प्रेतसे छुटकारा मिले, ऐसा कोई उपाय बताइये।

पूज्यपाद जगद्गुरुजीने उससे पूछा कि तुम्हारी बहनके शरीरमें प्रेतका आवेश है; यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?

महेन्द्रकुमारने सब आद्योपान्त घटना सुनाते हुए कहा कि महाराज—मैं अपनी बहनको बीमार समझकर देखने गया हुआ था; तो उस समय सत्यवतीके शरीरमें प्रेतका आवेश था, और मेरी उस प्रेतसे इस प्रकार बातें हुईं—

मैं—तुम कौन हो ?

प्रेत—मैं एक प्रेत हूं।

मैं—तुम इसे क्यों सताते हो ?

प्रेत—मैं स्वयं बड़े कष्टमें हूं; मेरा उद्धार करो।

मैं—तुम अपने उद्धारका कोई हमें उपाय बताओ, जिसे हम करें; और उसके करनेसे तुम्हारा उद्धार हो जाय; और इधर हमारी बहनका भी कष्ट दूर हो जाय।

प्रेत—मैं बड़े कष्टमें हूं, मेरे लिए किसीने जलदान नहीं किया।

मैं—अब हम तुम्हारे लिए क्या करें ?

प्रेत—अब आप लोग कोई मेरे निमित्त ऐसा शुभ-कर्म कराओ कि जिससे मुझे कुछ शान्ति मिले, और मेरा उद्धार हो, तब मैं आपकी इस बहनको भी छोड़ दूंगा।

मैं—हमारी बहनके ससुरालवाले तो दयानन्दी हैं; इसलिए वह तो इन बातोंको मानते नहीं हैं; और न उनका इन बातोंमें कोई विश्वास है; वे तो कुछ करेंगे नहीं। अब यदि हम तुम्हारे उद्धारकेलिए कुछ करवा दें; तो तुम यह बताओ कि क्या हमारे करानेसे तुम्हारा उद्धार हो जायगा ?

प्रेत-तुम करवा दो; तुम्हारे करानेसे भी मेरा उद्धार हो जायगा।

मैं—अब यह बताओ कि तुम्हारे उद्धार के लिए हम क्या करें ?

प्रेत—यह मुझे कुछ पता नहीं है कि किस शुभ-कर्मके करनेसे मेरा उद्धार होगा ? यह तुम किसी पण्डित वा आचार्यसे मालूम करो कि किस शुभ-कर्मके करानेसे प्रेतका उद्धार होता है; सो वह शुभ-कर्म मेरे निमित्त करवा दो कि जिससे मेरा उद्धार हो जाय, और मुझे शान्ति प्राप्त हो जाय।

मैं—अच्छा; हम तुम्हारे उद्धारका कोई उपाय अवश्य करा देंगे।

प्रेत—यदि तुमने मेरा उद्धार करा दिया तो मैं भी तुम्हारी इस बहनको अवश्य ही छोड़ दूंगा।

मैं—अच्छा, तो तुम अब इसे छोड़ दो।

प्रेत—तुम हमें यह वचन दो कि तुम हमारे उद्धारका उपाय कितने दिनोंमें करा दोगे ?

मैं—आज मंगलवारका दिन है; हम आनेवाले रविवार तक तुम्हारे निमित्त कोई न कोई ऐसा शुभ-कर्म अवश्य ही करा देंगे कि जिससे तुम्हारा उद्धार हो जाय। इसलिए अब तुम इसे छोड़ दो।

प्रेत—बहुत अच्छा। अब मैं तुम्हारी इस बहनको छोड़ देता हूं, अब मैं इसे नहीं सताऊंगा। तुम आने वाले रविवार तक मेरे उद्धारका कोई न कोई उपाय अवश्य ही कराओ। यदि तुमने मेरे उद्धारका कोई उपाय नहीं कराया; तो पुनः मैं आकर इसे सताऊंगा।

मैं—नहीं; हम अवश्य ही उपाय करा देंगे।

प्रेतने स्वीकार कर लिया, और वह तुरन्त उसी समय हमारी बहन-को छोड़कर उसके शरीरसे चला गया। उसके जाते ही अब क्या था ? एकदमसे बेहोश पड़ी हमारी बहन सत्यवती बिल्कुल होशमें आ गई, और एकदमसे स्वस्थ—ठीक-ठाक होगई; और ऐसी दिखलाई पड़ने लगी कि मानो उसे कुछ हुआ ही न हो।

पूज्यपाद जगद्गुरु शङ्कराचार्यजीने उद्धारका उपाय क्या बताया ?

पूज्यपाद जगद्गुरुजी महाराजने महेन्द्रकुमारके मुखसे प्रेतकी बात सुनकर उससे पूछा—क्या तुमने उस प्रेतके उद्धारका कोई उपाय कराया है ?

महेन्द्रकुमार—महाराजजी, हम उस प्रेतके उद्धारका उपाय-साधन पूछनेकेलिए उसी दिनसे लगे हुए हैं, और बड़ी भाग-दौड़ कर रहे हैं कि हमें कोई ठीकसे उपाय बता दे, पर अभी तक हमें सफलता नहीं मिली-है। कारण कि हम उस प्रेतके उद्धारकी दृष्टिसे प्रेतको अपने दिये वचनके अनुसार मेरठके तथा दिल्लीके बड़े-बड़े पण्डितोंसे मिले हैं; और उनके सामने सब बातें रखी हैं। हमें उन पण्डितोंने प्रेतके उद्धारके उपाय तो अवश्य बताये हैं, पर वह उनके बताये उपाय या तो अधिक-द्रव्य-साध्य थे, जिसमें हमारी सामर्थ्यसे ज्यादा पैसा लगने, खर्च होनेकी बात थी, जो हमारी शक्तिके बाहरकी बात थी; और या फिर अधिक-कालमें होनेवाले उपाय बताये गये थे, सो हमारे पास अधिक समय भी नहीं था। इसीसे हम आज तक कुछ भी नहीं कर पाये हैं। आज शनिवारका दिन ही शेष है; और कल प्रेतको दिये वचनके अनुसार अन्तिम दिन रविवारका दिन है। हमारी बहन अभी तक तो बिल्कुल स्वस्थ है; पर हमें सन्देह है कि हमने यदि अपने वचनके अनुसार कल रविवार तक भी कुछ नहीं किया; तो हमारी बहन पर वह प्रेत पुनः आक्रमण कर देगा; और उसे सतायेगा, और हमारी बहन फिर पहले-जैसी अस्वस्थ हो जाएगी। इसलिए अब कृपा कर हमें कोई ऐसा सरल उपाय बतायें कि जो कल ही हो जाय; और जिसके करनेसे उस प्रेतकी सद्गति हो जाय; और इधर हमारी बहन सत्यवतीका कष्ट भी दूर हो जाय।

पूज्यपाद जगद्गुरुजी महाराजने सब बातें सुनकर कृपा कर अपना सत्-परामर्श यह दिया, और आज्ञा की कि तुम लोग सुप्रसिद्ध-तीर्थ श्री-गढ़मुक्तेश्वर जाओ; और परम-पवित्र, पतितपावनी, कलिमलदारिणी, श्रीगंगाजीके तटपर बैठकर पार्वण-श्राद्ध करो, और तीर्थ-श्राद्ध करो; और दो पण्डितोंको गायत्रीका जप कराने बैठा दो। पण्डित ऐसे होने चाहियें कि जो सदाचारी हों, और जो बीड़ी-सिगरेट, तम्वाकू-चाय आदि न पीते हों।

पार्वण-श्राद्ध कौन कराये, अब समस्या यह सामने आई। जगद्गुरु-जी महाराजने कहा कि शास्त्री जी, तुम्हीं श्रीगढ़मुक्तेश्वर जाकर इनका विधि-विधानसे सब कार्य सम्पन्न कराओ।

महाराजजीकी आज्ञानुसार इधर हापुड़से तो हम श्रीगढ़मुक्तेश्वर-व्रजघाटपर पहुंच गये, और उधरसे लड़कीका भाई गाजियाबादसे अपनी बहन सत्यवतीको और उसके पति वा सास आदि घरवालोंको ले करके आ गया।

पार्वणश्राद्धने अपना क्या अद्भुत चमत्कार दिखाया ?

श्रीगढ़मुक्तेश्वरमें पहुंचनेपर हम लोगोंको देखते ही लड़की की माँने कहा कि शास्त्रीजी महाराज, लड़की सत्यवती पर प्रेतका आवेश हो गया है, और वह लड़की बेहोशीकी अवस्थामें झोंपड़ीमें लेटी हुई है; आप लोग बड़ी देरसे आये ? भाईने लड़कीके शरीरमें आये उस प्रेतसे कहा कि पंडितजीके आनेमें कुछ देरी हुई है। अब पंडितजी आ गये हैं, अब तुम्हारे उद्धारका सब कार्य करेंगे, तुम जरा धैर्य रखो।

सबने सबसे पहले पतितपावनी भगवती भागीरथीका स्नान-पूजन आदि किया; और फिर पार्वण-श्राद्धका सब कार्य प्रारम्भ हो गया। दो पंडित गायत्री-जप कराने बैठा दिये गये। लड़कीके पतिने अपने आर्य-समाजी-विचारोंको छोड़कर सब कार्य बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ

सनातनधर्मानुकूल जो हमने बताये थे; सब कार्य किये। कर्म कराते समय आधा कर्म हो जानेपर पार्वण श्राद्धने और गायत्री मंत्र जपने और माता श्रीगंगाजीने अपना क्या अद्भुत चमत्कार दिखाना प्रारम्भ किया कि लड़कीके भाईने हमसे आ करके कहा कि शास्त्रीजी महाराज, हमारी बहन झोंपड़ीमें बैठी हुई है; और वह यह कहती है कि लाओ हमारा श्राद्ध। हमने उससे कहा कि पंडित करा रहे हैं।

उसके पश्चात् पार्वण-श्राद्ध समाप्त होते समय अकस्मात् क्या हुआ कि जो लड़की अब तक झोपड़ीमें वेहोश पड़ी हुई थी; वह लड़की सहसा एकदमसे सबके देखते-देखते उठी; और अपनी उस झोंपड़ीमें से निकलकर सबके सामने श्रीगंगाजीकी ओर चल दी और यह लड़की अपने मुखसे बार-बार यह कहती जाती थी कि अच्छा लो; अब मेरा उद्धार हो गया; और अब मैं यहांसे जा रहा हूं। ऐसा कहते-कहते वह लड़की एकदमसे श्रीगंगाजीमें अन्दर घुस गई; और आगे बढ़ती चली गई; जिससे सबको बड़ा भय प्रतीत हुआ कि कहीं ऐसा न हो कि यह लड़की डूब न जाय, श्री मर न जाय? मैंने घरवालोंसे कहा कि तुम घबड़ाओ नहीं; इसे अन्दर जाने दो, चिन्ता न करो।

उसने अन्दर जाकर कंठ तक जलमें खड़ी होकर श्रीगंगाजीमें ज्योंही गोता लगाया, तो एकदमसे उसके शरीरमें व्याप्त उस प्रेतका तत्काल उद्धार हो गया, और वह लड़की उस प्रेतसे छुटकारा पाकर एकदमसे बिल्कुल स्वस्थ और प्रसन्न होकर जलसे बाहर आ गई; और सदाकेलिए उसे उस प्रेतसे छुटकारा मिल गया। अब तो सबमें एकदमसे बड़ी प्रसन्नता की लहर दौड़ गई, और सभी गद्गद हो गये।

यद्यपि पार्वणश्राद्धके द्वारा प्रेतका उद्धार और उसकी लड़कीका संकट दूर हो चुका था; लेकिन फिर भी हमने बादमें तीर्थश्राद्ध भी कराया; और ब्राह्मणोंने शुभाशीर्वाद दिया, और श्रीगंगाजीका पूजन

आरती की। उसके पश्चात् फिर कभी भी आज तक उस लड़कीको कोई कष्ट नहीं हुआ; और वह लड़की पूर्ण स्वस्थ और ठीक-ठाक है और बड़ी प्रसन्न है।

देखा पाठको, जिस लड़कीको बड़े-बड़े डाक्टर भी अच्छा न कर सके, उसे शास्त्रीय-कर्मके द्वारा पूज्य भूदेव ब्राह्मणोंने एक दिनमें ही क्रिया करके उस लड़कीको प्रेतसे छुटकारा दिला दिया; और इधर उस प्रेतात्माकी भी सद्गति करा दी। इससे बढ़कर हमारे पुराणोंकी और सनातनधर्मकी बातोंकी सत्यताका प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या चाहिये?

(ख) अब और सुनिये—विश्वविख्यात 'कल्याण' सम्पादक श्रीहनुमान-प्रसाद पोद्दारजीने स्वयं पारसी-प्रेतसे कैसे भेंट की? यह घटना 'माँ और बाबूजी' नामक ग्रन्थमें श्रीराधेश्याम बंकाजीने पृष्ठ १६७ पर इस प्रकार दी है।

श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजीने पारसी-प्रेतको प्रत्यक्ष कैसे देखा; और उसका उद्धार कैसे कराया?

४ अप्रैल १९६७ को स्वयं अपने श्रीमुखसे भाई श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजीने यह घटना सुनाई थी—जो इस प्रकार है। यह स्मरण रहे—भाईजीको ही यहाँपर बाबूजी कहा गया है।

जब बाबू श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी बम्बईमें रहते थे; तो प्रति सायं को घूमनेकेलिए चौपाटीकी ओर समुद्र तट पर जाते। वहां बालुकेश्वर की तरफ अंधेरेमें एक बेंच थी, एकान्त देखकर उसी बेंच पर बाबूजी बैठ जाते; और नाम-जप करते। यह प्रतिदिनका क्रम था। एक बार रातके आठ या नौ बजे होंगे। अंधकार था ही, बेंच पर बैठे हुए बाबूजी जप कर रहे थे। बाबूजीने देखा कि श्वेत-वस्त्रधारी एक पारसी सज्जन सामने आकर खड़े हो गये हैं। वेशविन्यास से वे पारसियोंके पुरोहित लगते थे। पारसियोंके पुरोहित जैसे सफेद पाजामा, सफेद अचकन और

सफेद टोपी-सी धारण करते हैं, वैसे ही वे पहने हुए थे। बाबूजीके सामने आकर वे खडे हो गये। न बाबूजी उनसे बोले; और न वे बाबूजीसे बोले। वे बहुत देर तक खड़े रहे। फिर बाबूजीके मनमें आया; यह कौनसी सभ्यता है कि मैं बैठा हूं, और ये खड़े हैं। अत: उनसे बैठनेकेलिए कह दूं।

ऐसा विचार मनमें आते ही बाबूजीने उनसे कहा—आपको खड़े हुए बहुत देर हो गयी, सो आप विराज जाइये।

वे इस प्रतीक्षामें थे ही कि बाबूजी पहले बात करें। वे बाबूजीकी ओर देख ही रहे थे। बाबूजीके अनुरोध करते ही वे पारसी सज्जन बोले—मैं आपको धन्यवाद देता हूं कि आपने मुझसे बातचीत आरम्भ की। आप मुझसे डरियेगा नहीं। मैं प्रेत हूं।

यह प्रसंग सम्भवत: सन् १९२२ ई० का होना चाहिये। भले ही पारसी प्रेतने कहा था कि डरियेगा नहीं, पर प्रेतका नाम ही बुरा है। और उस समय बाबूजीकी उम्र ही कितनी थी? प्रेतका नाम सुनते ही बाबूजीको डर लगा। बेंचपर अकेले, रातका अंधेरा, स्थानकी एकान्तता और सामने एक प्रेत। डरके मारे बाबूजीको पसीना छूटने लगा। पारसी-प्रेतने फिर कहा—इसमें डरनेकी बात नहीं है। मैं आपका कोई अनिष्ट करने नहीं आया हूं, अपितु आपसे कुछ सहायता लेने आया हूं।

बाबूजीने हिम्मत करके कहा—कहिये क्या बात है?

उस प्रेतने कहा—"यदि आप पहले मुझसे नहीं बोलते, तो मैं आपसे बात नहीं कर सकता था। मैं प्रतीक्षा कर रहा था कि आप बोलें। हमारे प्रेतलोकमें अनेक स्तर हैं। प्रेतोंके अनेक प्रकारके अधिकार हैं, उनकी विभिन्न शक्तियां हैं। कई प्रेत सभी जगह आ-जा सकते हैं, कोई नहीं आ-जा सकते। कोई अनेक काम कर सकते हैं, कोई नहीं कर सकते। जैसे मानवलोकमें मनुष्योंके अलग-अलग अधिकार हैं,

शक्तियां हैं, बल हैं; वैसे ही वहांपर हैं। मैं प्रेत-योनिमें हूं। मैं सब जगह जा सकता हूं, हरएकको दिखाई दे सकता हूं, पर मुझसे पहले कोई बोले, नहीं तो मैं बोल नहीं सकता। इसीलिए मैं आपके सामने खड़ा रहा।"

धीरे-धीरे बाबूजीका भय कम होता गया; तथा उस प्रेतकी बातमें रुचि बढ़ने लगी। वह प्रेत अपनी बात कहता गया—मेरी मृत्यु छः माह पहले हुई। मैं बाँदरामें रहता था। मेरे परिवारके पारसी लोग अभी भी वहां हैं। उनका नाम पता इस प्रकार है। मेरी सद्गतिमें एक प्रतिबन्धक है, और वह प्रतिबन्धक कट सकता है **गयामें श्राद्ध करनेपर। आप गयामें मेरा श्राद्ध करवा दें।** गयामें श्राद्ध करवानेसे मेरा प्रेतत्व छूट जायगा।

अब बाबूजीका भय जाता रहा, पर साथ ही एक आश्चर्य था। पारसी लोग श्राद्ध आदि नहीं मानते, फिर ये श्राद्धकेलिए कैसे कहते हैं? बाबूजीने प्रकट रूपसे प्रेतसे पूछा—गयामें श्राद्ध हिन्दुओंके द्वारा किया जाता है; और आप पारसी हैं, अत: श्राद्धमें आपका क्या प्रयोजन? उस प्रेतने उत्तर दिया—सत्य यदि सत्य है तो वह जाति-सापेक्ष नहीं होता। भिन्नता जातिमें होती है। जाति तो यहांके लोगोंको लेकर होती है। जीवमें **जातिका भेद नहीं होता।** इसमें पारसी, हिन्दू, ईसाईका सवाल नहीं। जिस जीवको प्रेत बनना होता है; बनता ही है। यह उत्तर बाबूजीको कभी नहीं भूलता। अब प्रेतसे खुलकर बात होने लगी। बाबूजीने पारसी-प्रेतसे अनेक बातें पूछीं—जैसे प्रेतलोकके बारेमें, कर्मोंके फलके बारेमें। पारसी-प्रेतको जितनी जानकारी थी, उसने उतनी बातें बताईं। पारसी प्रेतने कहा—जो वैर या द्वेष लेकर मरता है; उसकी प्रेतलोकमें बड़ी दुर्गति होती है, बहुत यातना सहनी पड़ती है। अत: द्वेष लेकर नहीं मरना चाहिये। भले ही दूसरा पक्ष प्रेम

न करे, परन्तु अपनी ओरसे मनसे उससे प्रेम करना चाहिये। इसी प्रकार वासना लेकर अथवा दूसरेका धन अपहरण करके मरनेवालोंको भी बड़ा कष्ट होता है। वासनापूर्तिका साधन मानवलोकमें है; पर प्रेतलोकमें नहीं होता।

प्रेतके जानेके बाद रातको बाबूजी लौट आये। दूसरे दिन नाम-पतेके अनुसार बाबूजीने बांदरामें खोज करवायी। उस पारसी प्रेतने जो कुछ बताया था, वह सब सही निकला। वहीं उसका घर, वहीं उसका परिवार, और वहीं छः माह पूर्व मृत्यु। सही जानकारी मिलनेके बाद बाबूजीने श्रीहरिराम नामक ब्राह्मणको उसी दिन गया भेज दिया। आश्विन और चैत्र मासमें विशेष रूपसे-पिण्डदान होता ही हैं, परन्तु गयामें बारहों मास लगता है। श्रीहरिराम ब्राह्मणने गया जाकर पिण्ड-दान दिया। पिण्डदान करनेमें छः सात दिन लग गये। इतने दिनों तक वह पारसी प्रेत बाबूजीको दिखाई नहीं दिया। बाबूजी प्रतिदिन शामको घूमने जाते ही थे। सातवें या आठवें दिन वह प्रेत फिर दिखाई दिया।

आज वह अपने आप बोल सकता था। उसके चेहरे पर प्रसन्नता थी। उस पारसी-प्रेतने कहा—मैं धन्यवाद देने और कृतज्ञता प्रकट करने आया हूं। अब मैं जा रहा हूं। मेरा प्रेतत्व कल छूट जायगा। मुझे गयाजीमें पिण्ड प्राप्त हो गया। इस प्रेतयोनिसे मेरी मुक्ति हो गई; और अब मैं दूसरे लोकमें जा रहा हूं। बस आपको धन्यवाद देने आया हूं।

कहिये महाशयो, अब क्या कहते हो! जो पारसी श्राद्धतर्पण आदिको नहीं मानते; वही मरकर सनातनधर्मकी रीतिसे प्रेत बनकर गयाश्राद्धकी स्वयं माँग कर रहे हैं; और गया-श्राद्ध करनेपर पुनः वह प्रेत आकर इससे महान् लाभ होने और अपने उद्धार हो जानेकी बात

स्वीकार कर रहे हैं। क्या अब भी पुराणोंकी बातोंको गप्प माना जायेगा?

(ग) अभी कुछ दिनों पहले भारतकी राजधानी दिल्ली शक्तिनगरमें पूज्यपाद श्रीमज्जगद्गुरु-शंकराचार्य गोवर्धनपीठाधीश्वर अनन्तश्री स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थजी महाराजने अपना चातुर्मास्य किया था। एक दिन हम भी आपके दर्शनार्थ वहांपर गये हुए थे। वहांपर एक आर्यसमाजी-नवयुवककी पत्नी अंग्रेजी पढ़ी महिला पूज्य जगद्गुरु शङ्कराचार्यजी-महाराजके दर्शनार्थ आई, और उसने अपनी बड़ी दुःख-भरी करुण-गाथा सुनाई, जिसे सुनकर सभी बड़े आश्चर्यचकित रह गये। उस आर्यसमाजी-महिलाने बड़े दुःख-भरे शब्दोंमें जो बातें की, वे इस प्रकार हैं—

स्त्री—महाराज, मैं बड़ी ही दुःखी हूं।

पूज्य जगद्गुरुजी—क्या बात है बेटी?

स्त्री—मैं बड़ी रोगी हूं।

जगद्गुरुजी—क्या रोग है बेटी तुम्हें?

स्त्री—महाराज, कोई शारीरिक रोग तो नहीं है, पर मुझे प्रेतने सताया हुआ है।

जगद्गुरुजी—तुम क्या पढ़ी हुई हो बेटी?

स्त्री—मैं इङ्गलिश पढ़ी हुई हूं।

जगद्गुरुजी—किन विचारोंकी हो?

स्त्री—महाराज, मैं आर्यसमाजी-परिवार की हूं; और मैं स्वयं आर्यसमाजिन हूं, और मैं अन्धविश्वासी बिल्कुल नहीं हूं।

जगद्गुरुजी—क्या वह प्रेत तुम्हें दीखता है?

स्त्री—जी हां, महाराज, वह प्रेत मुझे प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है।

जगद्गुरुजी—क्या वह तुमसे बातें भी करता है?

स्त्री–जी हाँ, महाराज वह प्रेत मुझसे बातें भी करता है ।

जगद्‌गुरुजी–वह प्रेत कौन है; और किस जातिका है, यह तुम्हें कुछ मालूम है ?

स्त्री–महाराज जी, क्या बताऊं ?

जगद्‌गुरुजी–बेटी बताओ ।

स्त्री–महाराज जी बताते हुए बड़ी लज्जा आती है; और कहते हुए भी बड़ा दुःख होता है ।

जगद्‌गुरुजी–बेटी लज्जाकी क्या बात है, तुम जो भी बात हो निःसंकोच कहो ।

स्त्री–महाराज जी, वह प्रेत और कोई नहीं है, वह प्रेत है मेरे अपने हो घरके मेरे सगे ससुर ।

जगद्‌गुरुजी–क्या सुम्हारे ससुरकी मृत्यु हो चुकी है ?

स्त्री–जी हाँ, महाराज मेरे ससुरकी मृत्यु हो चुकी है; और वही मेरे पूज्य ससुर अब प्रेत बन गये हैं; और प्रेत बनने पर वह मुझे अब प्रत्यक्ष दिखलाई देते हैं, और वह अब प्रेत बनकर मुझे सताते हैं, यह बात मैं आपसे बिल्कुल सत्य कहती हूं ।

जगद्‌गुरुजी–वह तुम्हें क्या सताते है ?

स्त्री–जब उनका मेरे ऊपर आवेश हो जाता है; तो मैं कई-कई घंटे तक बड़ी बेहोश रहती हूं, और बीमार जैसी बनी पड़ी रहती हूं, और मेरे शरीरमें शक्ति नहीं रहती, मुर्दा जैसी बन जाती हूं । मेरी जिन्दगी बरबाद हो रही है ।

जगद्‌गुरुजी–क्या इलाज भी कराया था ?

स्त्री–जी हाँ, महाराज खूब इलाज भी कराया, और बड़े-बड़े

डाक्टरोंको भी दिखाया, पर इलाज तो तब हो, जबकि मुझे कोई शारीरिक रोग हो, यह तो प्रेतकी बाधा है, इसमें डाक्टर बेचारे भला क्या करेंगे ? डाक्टरने जवाब दे दिया । अब तो किसी प्रकार इस प्रेतसे छुटकारा मिलना चाहिए, तब जाकर हमें शान्ति मिलेगी ।

जगद्‌गुरुजी–बेटी, क्या तुम्हारे घरपर श्राद्ध होता है ।

स्त्री–महाराजजी, श्राद्ध तो हम लोग कभी नहीं करते ।

जगद्‌गुरुजी–हिन्दु होकर फिर भी श्राद्ध नहीं करते, यह तो तुम अच्छा नहीं करते । श्राद्ध तो अवश्य ही करना चाहिए ।

स्त्री–महाराजजी, श्राद्ध हमारे कभी नहीं होता ।

जगद्‌गुरुजी–बेटी, तुम अपने उन प्रेत-ससुरके निमित्त श्राद्ध अवश्य किया करो; और तर्पण कराया करो, और गया जाकर और अपने पूज्य पतिदेवको साथमें ले जाकर अपने पतिके द्वारा अपने ससुरके निमित्त श्राद्ध-पिण्डदानादि कर्म अवश्य करा डालो । गया-श्राद्धसे तुम्हारे उन प्रेत बने ससुरकी प्रेतयोनि छूट जायेगी; और ससुरकी बड़ी उत्तम गति हो जायगी; और फिर तुम्हारा इस प्रकारसे प्रेत-द्वारा सताया जाना भी और प्रेतबाधा भी सदा-सर्वदाकेलिए दूर हो जायगी ।

स्त्री–महाराज, हमारे पति कट्टर आर्यसमाजी विचारोंके हैं ।

जगद्‌गुरुजी–तुम्हारे ससुर किन विचारोंके थे ?

स्त्री–महाराज, हमारे ससुरजी कट्टर दयानन्दी विचारोंके थे; और वे भी श्राद्ध-तर्पण आदि बातोंको नहीं मानते थे; और नहीं करते थे ।

जगद्‌गुरुजी–जब तुम सभी लोग कट्टर दयानन्दी-विचारोंके हो; तो फिर आर्यसमाजी तो भू-प्रेतोंको नहीं मानते ? तुम आर्यसमाजी-लोगोंके घरमें यह भूत-प्रेतत कहाँसे घुस आया ?

स्त्री—महाराज, पहले तो मैं भी कट्टर दयानन्दी विचारोंकी थी; और मैं भी इन भूत-प्रेतोंको कभी नहीं मानती थी।

जगद्गुरुजी—अब मानती हो ?

स्त्री—अब तो जब प्रत्यक्ष मेरे घरमें मेरे ससुर ही प्रेत बन गये हैं; और मुझे प्रेत प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं; तो मुझे लाचारीसे प्रेत माननेके-लिए बाध्य होना पड़ा है। न मानूं; तो क्या करूं ?

जगद्गुरुजी—जब तुमने यह प्रत्यक्ष देख लिया है कि तुम्हारे ससुर कट्टर दयानन्दी थे; और वह भी भूत-प्रेतोंको नहीं मानते थे, तो फिर वह कट्टर दयानन्दी होकर भूत-प्रेतोंको माननेकी बात तो दूर रही; वह दयानन्दी महाशय स्वयं भूत-प्रेत बन गये ? अब उनका दयानन्दीपना और भूत-प्रेतोंको न मानना कहाँ चला गया ?

स्त्री—महाराज, इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं कि हम लोग कट्टर आर्यसमाजी हैं; और हम भूत-प्रेतोंको कभी भी नहीं मानते हैं, पर जब मेरे स्वयंके ससुर ही दयानन्दी होकर प्रेत बन गये हैं, और वह प्रेत बने मुझे स्वयं दिखाई देते हैं, और प्रेत बनकर मुझे बड़ा सताते हैं; तो अब हमें लाचार होकर प्रेतयोनि माननेकेलिए बाध्य होना पड़ रहा है।

जगद्गुरुजी—इतना होनेपर भी अब भी तुम्हारे पतिजीकी आंखें नहीं खुलती हैं, और वह अब भी दयानन्दी बने हुए हैं; और अब भी प्रेतयोनिको नहीं मानते हैं, और सनातनधर्मकी शरणमें आकर श्राद्ध-तर्पण कर अपने पूज्य-पिताको प्रेतयोनिसे छुटकारा दिलाकर अपने और तुम्हारे कल्याण करनेकी नहीं सोचते हैं, यह तो बड़े खेदकी बात है, और अन्धविश्वासकी बात है !

स्त्री—महाराजजी, उन्हें बड़ी लज्जा लगती है, अतः वह नहीं मानते हैं।

जगद्गुरुजी—इस प्रेतके अद्भुत चमत्कारके सामने अब आपके पति-के दयानन्दी विचार क्या करेंगे ? जब उनके स्वयंके अपने दयानन्दी घरमें और अपने स्वयंके दयानन्दी पिता प्रेत बनकर जब वह अपनी पुत्र-वधूको बड़ी बुरी तरहसे सता रहे हैं, तो इससे बढ़कर भूत-प्रेतोंके होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या होगा ? अपने पूज्य-पिताके निमित्त यदि तुम्हारे पति श्राद्ध-तर्पण कर दें; और गया चले जायें; तो इसमें उनका क्या बिगड़ता है ? यदि तुम्हारे पतिदेव और तुम दोनों मिलकर गया चले जाओ, और वहाँपर जा करके गयाके पण्डितोंसे पिताके निमित्त श्राद्ध-तर्पण पिण्डदानादि कर्म करा दोगे, तो इसमें तुम्हारा और तुम्हारे प्रेत बने ससुरका दोनोंका ही कल्याण होगा। गयामें जाकर श्राद्ध-तर्पण पिण्डदानादि कर्म करनेसे तुम्हारा तो रोग दूर हो ही जायगा; और फिर तुम्हें प्रेतका सताना भी बन्द जायगा; प्रेत-बाधासे छुटकारा मिल जायगा; और इनके पूज्य पिताजीका भी उद्धार हो जायगा; वह प्रेतयोनिसे मुक्त हो जायेंगे; और शान्ति प्राप्त कर तुम्हें अपना शुभाशीर्वाद देंगे।

स्त्री—महाराजजी, क्या वास्तवमें गयामें जाकर श्राद्ध-तर्पण करने, पिण्डदान आदि कर्म करनेसे प्रेतबाधा दूर हो जाएगी ?

जगद्गुरुजी—हां, बेटी ! अवश्य ही प्रेतत्वसे छुटकारा हो जायगा।

स्त्री—महाराजजी, क्या प्रमाण है कि गयामें जाकर श्राद्धतर्पण करने-से प्रेत-बाधा दूर हो जायगी ?

जगद्गुरुजी—हमारे शास्त्र-पुराण प्रमाण हैं, वे कह रहे हैं।

स्त्री—क्या शास्त्र-पुराणोंकी सभी बातें सत्य हैं ?

जगद्गुरुजी—जो हमारे शास्त्र-पुराण और जो हमारा सत्य-सनातनधर्म भूत-प्रेतोंका होना बता रहा है, और भूत-प्रेतोंका होना मानता है; और जिन भूत-प्रेतोंकेलिए तुम दयानन्दी लोग कल तक यह

कहते थे कि भूत-प्रेत नहीं होते; और शास्त्र-पुराणोंमें भूत-प्रेतोंकी बातें गप्प हैं। उन्हीं भूत-प्रेतोंको तुम कट्टर दयानन्दी लोगोंने स्वयं देख लिया है; और तुम स्वयं दयानन्दी ही हमारे सामने बैठे हुए भूत-प्रेतोंकी बातें बता रहे हो, और भूत-प्रेतोंका होना स्वयं स्वीकार कर रहे हो, और तुम दयानन्दी ही भूत-प्रेतोंका देखना भी स्वीकार कर रहे हो; स्वयं अपनी आंखोंसे भूत-प्रेतोंके देखनेके प्रत्यक्ष प्रमाण हो। इतना ही नहीं, तुम्हारे कट्टर आर्यसमाजी-ससुर ही जब स्वयं प्रेत बनकर तुम्हारे सामने खड़े हो गये हैं; तो इससे बढ़कर शास्त्र-पुराणोंकी बातों-की सत्यताका प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या होगा? 'भूत वही जो सिर चढ़ बोले' इसे ही तो कहते हैं। जब हमारे शास्त्र-पुराणोंकी यह भूत-प्रेतों-वाली बात भूतों-प्रेतोंको न माननेवाले तुम कट्टर-दयानन्दियोंके द्वारा बिल्कुल सत्य सिद्ध हो रही है; तो उन्हीं हमारे शास्त्र-पुराणोंका और हमारे सत्य-सनातनधर्मका यह कहना है कि गयामें जाकर श्राद्ध-तर्पण-पिण्डदानादि कर्म करनेसे प्रेत-बाधा दूर हो जाती है, तो हमारे शास्त्र-पुराणोंकी और सत्य-सनातनधर्मकी यह बात भी बिल्कुल सत्य ही सिद्ध हुई। भला झूठ कैसे हो सकती है? सनातनधर्मकी और हमारे शास्त्र-पुराणोंकी सभी बातें अक्षर-अक्षर बिल्कुल सत्य हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता। तभी तो सपिण्डी आदिमें मृतकका 'अमुक प्रेतस्य' कहना पड़ता है।

स्त्री—महाराजजी, कुछ मनुष्य कहते हैं कि तुम अपने ससुरके निमित्त गायत्री-मन्त्रका जप कराओ, यह गायत्री-मन्त्रका जप कराना कैसा है?

जगद्गुरुजी—हाँ, गायत्री-मन्त्रका जप कराना भी ठीक है।

स्त्री—गायत्रीका जप किससे कराना चाहिये?

जगद्गुरुजी—गायत्री-मन्त्रका जप किसी सनातनधर्मी कर्मकाण्डी-ब्राह्मणके द्वारा होना चाहिये, इससे भी बड़ा लाभ होगा। असली लाभ

तो गया जाकर गया-श्राद्ध पिण्डदानादि कर्म करनेसे ही विशेष होगा।

स्त्री—महाराजजी, गायत्री-मन्त्रका जप ब्राह्मणोंसे न कराकर यदि हम स्वयं गायत्री-जप कर लें, तो कैसा रहेगा?

जगद्गुरुजी—नहीं, तुम्हें गायत्री-जप नहीं करना चाहिये।

स्त्री—क्यों महाराज?

जगद्गुरुजी—तुम्हें गायत्री-मन्त्रका जप करनेसे बड़ा घोर पाप लगेगा।

स्त्री—क्यों पाप लगेगा?

जगद्गुरुजी—स्त्री और शूद्रोंको वेदमन्त्र बोलनेका और गायत्री-मन्त्र जप करनेका अधिकार नहीं है।

स्त्री—अधिकार क्यों नहीं है?

जगद्गुरुजी—जिस हमारे शास्त्र-पुराणोंने भूत-प्रेतादिके होनेकी बात बताई थी; और वह भूत-प्रेतकी बात जिसे आप लोग स्वप्नमें भी कभी स्वीकार नहीं करते थे; तुम्हें तुम्हारे घरमें ही तुम्हारे ससुरको प्रेत बनाकर शास्त्रोंने तुम्हारे मुखसे उनका होना स्वीकार करा लिया, वही शास्त्र-पुराण किसको किस बातका अधिकार है; यह बताते हैं। सो शास्त्रोंमें ही यह लिखा हुआ है कि गायत्री और वेदमन्त्रोंका अधिकार स्त्री और शूद्रको नहीं है। सो शास्त्रोंकी यह बात हम आपको बता रहे हैं; अपनी मनमानी बात नहीं बता रहे हैं, हमें कोई तुम लोगोंसे शत्रुता नहीं है। [इस विषयमें इसी तृतीय पुष्प (पृ. २ से ९०७ पृ. तक) को देखो]।

स्त्री—तो महाराज, हमें क्या करना चाहिये?

जगद्गुरुजी—गया जाकर श्राद्धतर्पण पिण्डदानादि कराओ, तभी ठीक रहेगा।

स्त्री–बहुत अच्छा महाराज, ऐसा ही करूंगी।

स्त्री ऐसा कहकर चली गई; और बादमें उसने पूज्य जगद्गुरुजीके बताये अनुसार सब कार्य कराया; तो उसको प्रेतसे छुटकारा मिल गया और इधर उसके ससुरको भी प्रेतयोनिसे छुटकारा मिल गया।

यह है सनातनधर्म और शास्त्र-पुराणोंका अद्भुत चमत्कार; जो कि स्वयं कट्टर दयानन्दी-परिवारको भूत-प्रेतोंको मानना पड़ा; और भूत-प्रेत बनकर सबको पुराणोंके माननेका प्रत्यक्ष प्रमाण देना पड़ा। इससे बढ़कर सनातनधर्मकी अद्भुत विलक्षण-महिमा और क्या होगी? कहिये महाशयो, अब तो तुम स्वयं प्रेत बन गये, अब क्या कहते हो? भूत-प्रेतोंके विषयमें वेदादिशास्त्रोंके प्रमाण 'आलोक' के ग्यारहवें पुष्पमें देखें।

(१०) क्या ऋषि-मुनियोंके शुभाशीर्वादके चमत्कारकी बातें मिथ्या हैं?

जब हमारे पुराणोंमें ऋषि-मुनियोंके, सन्त-महात्माओंके शाप और शुभाशीर्वादके अद्भुत चमत्कारोंकी बातें आती हैं; तो इसे सफेद झूठ बताया जाता है। सन्त-महात्माओंके शुभाशीर्वादका अद्भुत चमत्कार अपने परम-मान्य समाचार-पत्रोंमें देखिये; दिल्लीके आर्यसमाजी-पत्र 'वीर अर्जुन' ता० १२-९-७० में यह छपा है—

महात्माका चमत्कार

"करौली ११ सितम्बर। आप विश्वास करें; या न करें, यह एक सत्य घटना है कि सांपका काटा हुआ मरणासन्न बालक एक महात्माके चमत्कारिक-प्रयाससे जी उठा।

महौली कोटा ग्राममें एक बालकको सांपने काट लिया, और बालककी हालत मरणासन्न हो गई, और परिवारके सभी लोग बड़े चिन्तित हो उठे। दैवयोगसे एक महात्मा उसी समय आ गए, और उन्होंने बालककी स्थिति देखकर अपने हाथसे तीन थपकियां लगाईं। पता नहीं; क्या

असर हुआ कि बालकके शरीरमें व्याप्त सांपका जहर समाप्त हो गया, और वह चेतन-अवस्थामें आ गया।" देखा पाठको, यह है शुभाशीर्वाद देनेवाले महात्माका अद्भुत चमत्कार! कहिये महाशयो, अब क्या कहते हो?

(११) क्या पुराणोंमें आई नागोंके अद्भुत चमत्कारकी बातें झूठी हैं?

हमारे शास्त्र-पुराणोंमें नागदेवताकी, नागकन्याओंकी बड़ी-बड़ी अद्भुत घटनाओंका वर्णन आता है; जिसे आजके पामर लोग सफेद-झूठ बताते हैं। आज आपको नागके सम्बन्धकी महान् आश्चर्यजनक घटना सुनाते हैं, और यह भी सुनाते हैं आपके प्राणप्रिय दैनिक-पत्रोंकी घटना; जो इस प्रकार है।—

दैनिक 'हिन्दुस्तान' पत्र देहली ता० २-५-१९७० में यह घटना इस प्रकार छपी है—

सांपका स्त्रीसे प्रणय

"नई दिल्ली १८ मई (भारती) एक कोबरा सांपकी एक पाकिस्तानी महिलासे प्यार करनेकी सच्ची दास्तान यहां प्राप्त हुई है।

मेहर बीबी नामकी यह महिला तीन बच्चोंकी मां और अधेड़ आयुकी है; और कोबरा ७ फुट लम्बा है।

किस्सा छः साल पुराना है। मेहर बीबीने जो झांग जिलेमें हीर-रांझाके मशहूर गांवकी है, लाहौरके मेयो अस्पतालके डाक्टरोंको हालमें बताया कि कोबरासे उसकी पहली मुलाकात गाँवके तालाबपर हुई थी। सांपने मुझे घुटनेके पास काट खाया। मेरा अस्पतालमें उपचार किया गया; और मैं बच गयी।

मेहरबीबीने डाक्टरोंको बताया कि तबसे लेकर आज-दिन तक

काबरा नियमित रूपसे मेरे पास आता है, और उसी स्थानपर काट कर चला जाता है। इसका जहर मुझे इस कदर अनुकूल आया है कि मैं उसके दर्शनकेलिए पागल रहती हूं। इससे मुझे सम्भोगके समान आनन्द आता है। खबरके अनुसार मेयो अस्पतालके डाक्टर अब इस महिलाकी जांच-पड़ताल कर रहे हैं।

कहिये महाशयो! अब क्या कहते हो?

(ख) लो अब दूसरी घटना भी सुनिये। हिन्दुस्तान दैनिक ता० २३-६-१६७० में यह घटना इस प्रकार छपी है।

सर्प-पीड़ितकी समस्या

"हिन्दुस्तानके माध्यमसे मैं पाठकोंका ध्यान एक समस्याकी ओर दिलाना चाहता हूं। मेरे एक सम्बन्धीका जो कि जिला मुजफ्फरनगरके शामली कसवेके पास बघेव नामक ग्राममें रहते हैं, और जिनका नाम पं० जियालाल है; सर्पने बीसवीं बार काटा है। करीब १७ वर्षसे प्रत्येक वर्ष, और कभी-कभी वर्षमें दो बार भी काटा है। सर्पका वर्ण सदैव एक-सा नहीं रहता। परन्तु अक्सर काले वर्णका होता है। उन्होंने बचनेकेलिए हर सम्भव प्रयत्न किया हैं, परन्तु कोई सूरत नजर नहीं आती। आज रात १२ बजे जब मैं एक रोगीको देखकर आया; तो मेरा भतीजा जैसे ही दरवाजेके पास आया, एक सर्पने दरवाजेमें अटके हुए उसके पैर पर फन मारा। दरवाजेसे करीब एक गजकी दूरी पर वही सम्बन्धी जोकि कलसे हमारे यहां आये हुए हैं, लेटे हुए थे।

हर वर्ष जब कभी उन्हें सर्पने काटा है, उन्होंने ऐंटी वीनम सीरमका इन्जेक्शन शामली आकर लगवाया। करीब एक माह पूर्व वह दिल्लीके सफदरजंग अस्पतालमें अपनी शिकायतें सुना पाये; तो डाक्टरोंने उनके रक्तकी परीक्षा कर बताया कि यदि अगली बार सांप काटे, तो यह इन्जेक्शन न लगवाएं। मेरी रायमें उन्होंने वैज्ञानिक आधार पर ही

बतलाया होगा।

क्या कोई सर्पके जानकार इसका उपाय खोज निकालनेका प्रयत्न करेंगे? पूर्ण जानकारीकेलिए मेरे पते पर पत्र-व्यवहार किया जा सकता है।—

शिवनन्दन क्लिनिक वेलरा
वाया नगोपा, मुजफ्फरनगर
चंद्र.के. कौशिक

देखा पाठको! सर्पके १७ वर्षसे बराबर काटनेकी सत्य घटना; इसे आप क्या बतायेंगे?

(१२) क्या पुराणोंमें आई प्रार्थना 'मूकं करोति वाचालं' आदिकी अद्भुत चमत्कारकी बातें गप्प हैं?

हमारे पुराणोंमें जब देवमन्दिरोंमें जाकर प्रार्थना करनेकी बातें आती हैं; और प्रार्थना-द्वारा कठिनसे कठिन रोगोंके दूर होनेकी बातें पढ़नेको मिलती हैं, तो दयानन्दी इन्हें झूठ मानते हैं। लो, सुनो प्रार्थनाके अद्भुत चमत्कारकी सत्य घटना।

'हिन्दुस्तान' दैनिक ता० २८-१२-१६७० में यह घटना इस प्रकार छपी है।

मूक प्राणी बोले

"कोट्टायम, २६ दिसम्बर (यू. न्यू.) एक गूंगी लड़की आज यहां सावरि-मन्दिरमें अईअप्पा भगवान्की पूजा करनेके बाद बोलने लगी। सातवर्षीय सुभद्रा जो जन्मसे गूंगी थी, पूजा पूर्ण होनेके बाद बोलने लगी। सुभद्रा कोट्टायम के आरकुलम नामक स्थानके पुरुषोत्तम नामक व्यक्तिकी कन्या है।

त्रिचूर जिले काटुगलूर नामक स्थानका १२ वर्षीय गूंगा लड़का तानू भी यहाँ प्रार्थना करनेके बाद बोलने लगा था।

(१३) शास्त्र-पुराणोंमें आई रावणके दस सिर, ब्रह्माके चार मुख होनेकी बात क्या गप्प है ?

जब हमारे पुराणोंमें राक्षसराज-रावणके दस सिर और भगवान्-ब्रह्माके चार मुख, और भगवान् दत्तात्रेयजीके तीन मुख और भगवान् कार्तिकेयजीके छः मुख होने आदिकी बातें आती हैं; दयानन्दी इन्हें गपोड़ेबाजी बताते हैं। लो सुनो प्रत्यक्ष प्रमाण; जो आपके सामने रखे जा रहे हैं।—

गांडीव दैनिक वाराणसी ता० २०-६-१६७० में यह घटना छपी है—

- त्रिमूर्ति बालक

"काशी। शुक्रवारकी शाम कबीर चौरा अस्पतालमें एक ऐसा बालक लाया गया; जिसके तीन सिर हैं, जो एक-दूसरेसे जुड़े हुए हैं।

बालकका मस्तक एवं उसकी आंखें अपेक्षाकृत विशाल हैं, किन्तु अन्य अंग साधारण एवं कमजोर हैं। लगभग ५ वर्षीय उक्त बालक तुतला कर बातें करता है; तथा बैठने, चलने-फिरनेमें असमर्थ हैं। बालकके गलेमें सिक्का अटक जानेके कारण कबीर चौरा अस्पताल लाया गया। ठठेरी बाजार निवासी बालकके माता-पिता उसे भगवान्की लीला समझ रहे हैं।

कहो जी महाशयो ! क्या इसे भी गप्पबाजी बताओगे ?

---

(१४) प्रार्थना का महत्त्व

भगवान्की प्रार्थनामें बड़ा बल होता है। हमारी न्यायोचित मांग ईश्वर स्वयं पूर्ण करते हैं। उन्हें प्रत्येक की सहायताका सदैव ध्यान रहता है। ईश्वरकी सृष्टिमें हर प्रकारके जीव-जन्तु, पशु-पक्षी विद्यमान हैं। उनके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारके भोजन तथा रक्षणकी आवश्यकता होती है। इस असंख्य और अपरिमित जीव-जगत्का रक्षण, भरण-पोषण ईश्वरके द्वारा होता रहता है। इस महती-कृतिको जीवित रखनेकेलिए प्रत्येक अणुमें उनकी सत्ता व्याप्त है। परमात्माका नियम है कि उनके राज्यमें कोई भूखा न रहे, प्राणीमात्र आनन्द प्राप्त करें। प्रत्येक व्यक्ति अपनी विवेक-बुद्धिके द्वारा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ईश्वरके अस्तित्वको पहचाने, अपनी दिव्य-शक्तियोंका सदुपयोग करे। प्रार्थना वह साधन है, जो हमारे लिए ईश्वरीय-सहायताका द्वार खोल देती है।

यदि थोड़ा भी ध्यान दें; तो हम पद-पदपर प्रार्थनाका अद्भुत प्रभाव अनुभव कर सकते हैं। अनादिकालसे सभी देशोंके तथा सभी श्रेणियोंके व्यक्ति प्रार्थनाका महत्त्व अनुभव करते आये हैं। आजके बड़े-बड़े बुद्धिजीवी भी प्रार्थनाके महत्त्वको स्वीकार करते हैं। श्रीगान्धिजी प्रार्थना को 'परमात्माका भोजन' कहते थे; और जीवनभर प्रार्थना करते रहे। उनकी सायंकालकी प्रार्थनाका इतना दृढ़ नियम था कि समय हो जानेपर वे अन्य किसी भी महत्त्व-से महत्त्वपूर्ण कार्यकी भी परवा नहीं करते थे, और प्रार्थना अवश्य करते थे। उनका जीवन प्रार्थनाके विलक्षण चमत्कारोंसे भरा पड़ा है।

विदेशोंमें भी प्रार्थनाका महत्त्व सर्वत्र स्वीकृत है। आज विज्ञानकी इतनी उन्नति होनेपर भी वहाँ लोग व्यक्तिगत-रूपसे एवं सामूहिक-रूपसे प्रार्थना करते हैं। स्व० डा० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागरने अपने विदेश-प्रवासके अनुभव लिखते समय इङ्गलैण्डके जार्ज मूलरके जीवनकी कुछ

घटनाओंद्वारा प्रमाणित किया है कि आज भी वहाँ प्रार्थनापर लोगोंका दृढ़ विश्वास है; और उससे असम्भव कार्य भी सम्भव होते देखे जाते हैं। वे लिखते हैं—

"विलायतके प्रसिद्ध आर्तसेवी जार्ज मूलरने सैकड़ों अनाथालय स्थापित किये हैं, जिनका सारा खर्चा प्रार्थनापर ही चलता है। वे सहायताकेलिए कभी किसीके पास याचना करने नहीं जाते थे। कोठरी बन्द कर वे प्रभुसे ही प्रार्थना-द्वारा मांग किया करते थे। जब-जब उनके सामने कोई पेचीदगी उपस्थित होती, उसी समय वे चुपचाप ईश-प्रार्थनामें तन्मय हो ईश्वरीय-सान्निध्य प्राप्त करते। ईश्वर उनकी प्रार्थना स्वीकार भी करता। प्रार्थनाके बलपर प्रारम्भसे ही उन्हें अनाथालय चलानेकेलिए धन प्राप्त हुआ करता था। लाखों रुपये उनके पास घर बैठे ही आ जाते थे। दो करोड़से ऊपर रुपये बिना माँगे प्रार्थनाके बलसे ही मूलर-साहबको प्राप्त हुए थे। उन्हें प्रार्थनाकी शक्तिमें पूर्ण विश्वास था।

"एक बार संयोगसे उनके अनाथालयके दो हजार बालकोंकेलिए भोजन नहीं था। विषम स्थिति थी। बच्चोंकी भूखको कैसे शान्त किया जाय, यह समस्या उपस्थित हो गई थी।

मूलर-साहबको प्रार्थनामें पूरा भरोसा था। वे अनाथालयके प्रबन्धकसे बोले—"आप अपना काम कीजिये। बालकोंको भोजन परोसनेकेलिए टेबल, तश्तरी और पानीका प्रबन्ध कीजिये। ईश्वर कहीं-न-कहींसे शीघ्र ही भोजन भेजनेवाले हैं।"

प्रबन्धक सोचने लगा कि मूलर साहब पागल तो नहीं हो गये हैं! वह निष्क्रिय खड़ा रहा। भला, भोजन कहाँसे आयेगा?

थोड़ी देर बाद प्रवन्धकसे उन्होंने फिर भोजनका प्रवन्ध करनेका आदेश दिया! बच्चोंके भोजनको परोसनेका समय अब बिल्कुल निकट आ गया था। उधर कहींसे भोजनके आनेकी सम्भावना न दीखती थी।

"आप अपना काम जारी रखिये। बच्चोंको भोजन परोसनेका प्रबन्ध कीजिए।" मूलर साहबने फिर दोहराया। वे प्रभुकी दिव्य सहायताकी प्रार्थना कर रहे थे।'

इतनेपर भी प्रबन्धकको सन्तोष न हुआ। उसने पुनः मूलर साहबके पास आकर आग्रहपूर्वक कहा—"अब तो खानेका समय आ ही गया है। मेज और तश्तरी इत्यादि रखी जा चुकी हैं। क्या बच्चोंको भोजनालयमें बुलानेकी घंटी बजा दी जाय?"

"हाँ, भोजनालयमें बुलानेकी घंटी बजा दो। हमने प्रार्थना-द्वारा जो कुछ करना था, वह कर दिया है। अब शेष जिनका काम है, वे अपना कार्य करेंगे। देखना है, यह कार्य कैसे सिद्ध होता है?"

इतनेमें घंटी बजी। भोजन खानेकेलिए बालक जल्दी-जल्दी एकत्र होने लगे। भोजनालयमें आकर सब अपने-अपने स्थानपर बैठ गये।

इतनेमें एक आश्चर्यजनक घटना घटी।

तुरन्त ही रोटियां, सब्जी, मिठाई, पकवान तथा अन्य भोज्य-पदार्थोंसे भरी हुई एक गाड़ी अनाथालयमें आ पहुंची। सभी अचरजमें खड़े थे। यह सब कैसे हो गया? इतने बड़े परिमाणमें भोजन कहाँसे आ पहुंचा था? वह किसने भिजवाया था?

ईश्वरके अपना उद्देश्य पूर्ण करनेके अलग उपाय होते हैं। उन्हें पता रहता हैं कि कब किसकी सहायता कैसे करनी है।

बात यों हुई कि किसी बड़े अमीरने उसी दिन अपने मित्रोंको एक बड़ा भोज देनेका आयोजन किया था, और एक प्रसिद्ध होटलमें भोजन पकवाया था; किन्तु एकाएक किसी कारणवश उसे उस दिन वह दावत स्थगित करनी पड़ी थी। उस मनुष्यको दिव्य भगवत्प्रेरणा हुई कि यह सब पका हुआ भोजन सड़ जायगा। इसलिए उसने होटलके मैनेजरको

आदेश दिया—"आप इस सब भोजनको मूलर साहबके अनाथालयमें भेज दीजिये। अनाथालयके बालकोंके काम आ जायगा।"

फिर क्या था; सब बच्चोंने खुशीसे भरपेट भोजन पाया। प्रार्थनाका तत्काल उत्तर मिलनेकी इस घटनापर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। मूलर-साहबने प्रार्थनासे उठकर प्रबन्धकको बुलाया, और उसे चेतावनी दी—'तुम्हारे-जैसे व्यक्तिकी हमें आवश्यकता नहीं है, जिसे उस महादानी, परमपिता परमेश्वरपर घण्टेभरकेलिए भी विश्वास नहीं है।"

मूलर साहबके जीवनकी एक और घटना है। एक बार वे जलयान (जहाज) में बैठकर कहीं 'ईश्वर-प्रार्थनासे लाभ' विषयपर व्याख्यान देने जा रहे थे। संयोगसे मार्गमें बड़े जोरोंका तूफान और कुहरा पड़ा। सर्वत्र धुंध छाई हुई थी, और रास्ता बिल्कुल नहीं दीखता था।

'महाशय! मुझे शनिवारके दिन पहली तारीखको सायंकालसे पूर्व क्वेबेक नगर अवश्य पहुंचकर ईश-प्रार्थनापर भाषण देना है।' मूलर-साहबने पानीके जहाजके कप्तानसे कहा।

'आज मौसम बड़ा खतरनाक है। देखो, कैसा कुहरा पड़ रहा है। आजका तूफानमें जाना असम्भव दीखता है!' कप्तानने दुःख प्रकट करते हुए उत्तर दिया।

'हम एक उपाय कर सकते हैं। उससे मुसीबतें दूर हो जायंगी।" मूलर साहबने ढाढ़स बंधाया।

'वह क्या है?' कप्तानने जिज्ञासा प्रकट की।

'आओ, ईश्वर-प्रार्थना करें कि यह विपत्ति दूर हो जाय।' मूलर साहबने मार्ग सुझाया।

'आप किस पागलखानेसे आये हैं, जो इस प्रकारकी अनहोनी बातें करते हैं।'

'मैंने प्रार्थना की है, और मुझे ईश्वरीय गुप्त-सहायतामें विश्वास है। मैं अनन्त-सामर्थ्यों और असीम विभूतियोंके स्वामी ईश्वरको अपना सहायक मानता हूँ। इस संसारमें सर्वत्र उन्हींका वैभव ही तो फैला हुआ है। जो इतने शक्तिशाली पिताके पुत्र हैं, वह निस्सहाय होनेकी बात क्योंकर सोचें? ईश्वरको अपनेसे असम्बद्ध माननेसे ही निराशा आती है। मैं सत्तावन वर्षसे अपने प्रभुसे गुप्त दिव्य-सहायता पा रहा हूं, और अभी तक मेरी प्रार्थनाके अचूक उत्तर मिले हैं। मेरी दृष्टि उस परम प्रभुकी ओर है, जो जीवनकी प्रत्येक स्थितिपर शासन करता है। डेकपर जाओ; देखो, कुहरा उतर रहा है। ईश्वरकी सहायताके कारण मौसम अनुकूल होता जा रहा है।'

कप्तान केबिनसे बाहर गया। आश्चर्यसे उसने देखा कि सचमुच कुहरा दूर होने लगा था। लगता था, जल्दी ही वह मौसम अनुकूल हो जायगा। कप्तान इस सीधे-साधे भोले-भक्तकी प्रार्थनाके प्रभावको देखकर चकित हो गया।

वैसा ही हुआ! ईश्वरकी प्रार्थनाके बलसे कुहरा दूर हुआ; और मूलर क्वेबेक ठीक उसी समय पहुंचे, जब उनका वहां पहुंचना आवश्यक था।

जार्ज मूलर ९४ वर्ष जीवित रहे। जन्मसे ही वे दुर्बल-शरीर थे। फिर भी सत्तर वर्षकी उम्रके बाद भी सारे विश्वमें भ्रमण कर ईश्वर-वादका प्रचार करते रहे। जो-जो प्रेरणाएं प्रार्थनाके समय होती थीं, उन्हींके अनुसार वे अपना कार्यक्रम जारी रखते थे।

इस घटनामें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। अनेक व्यक्तियोंके जीवनमें ऐसी अजीब घटनाएं घटती रही हैं। लोगोंको अनेक प्रकारकी परेशानियों-से मुक्ति ईश्वरीय-प्रार्थनाके बलपर मिली है। विश्वकी इतनी बड़ी

रचनामें जो चेतन समाया है, वह कितना समर्थ है—यह बात ऐसी घटनाओंसे स्पष्ट हो जाती है।

पं० शिवदत्त शर्माने अपने एक परिचितका उल्लेख किया है। एक बार उनकी पुत्री अत्यन्त बीमार पड़ी; और क्रमशः मरणासन्न दशामें पहुंच गयी। जब उन्होंने समस्त युक्तियां निष्फल देखीं, तब वे सबको छोड़कर अपने घरकी तीसरी मंजिलपर भगवान्‌के मन्दिरमें उनकी मूर्तिके सामने जाकर रोने लगे। आकाशमें ईश्वरको हाथ जोड़कर पृथ्वीकी ओर मुंह कर साष्टाङ्ग झुक गये। फिर अत्यन्त दीन-भावसे प्रार्थना की—

'हे नाथ! मेरे तो समस्त सांसारिक प्रयत्न, सम्पूर्ण आशाएं अब निष्फल हो चुकी हैं। अब मैं सहायता और शक्तिकेलिए आपके शरण आया हूँ। आपकी कृपासे सब आधि-व्याधि दूर होती हैं। अब इस बालिकाकी प्राणरक्षा आपके ही हाथ है। प्रभो! अपने इस भक्तकी ओर निहारिये; और बच्चीको जीवन-दान दीजिये।'

पूरे विश्वासी और एकनिष्ठ हो वे सच्चिदानन्द-परमात्माकी पूर्ण अनुभूति करते रहे। अपने अश्रु-बिन्दुओंसे हृदय-स्थित प्रभुके मानस-मूर्तिके चरण पखारते रहे। उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब वहांसे नीचे उतरकर उन्होंने देखा कि लड़की क्रमशः चेतना-लाभ कर रही है। ईश्वरीय-शक्तिके प्रभावसे उसका रोग और पीड़ा बहुत कम हो गई है; और स्वस्थ हो रही है।

इस प्रकार अनेक आस्थावान्-व्यक्तियोंने शारीरिक, मानसिक और स्वास्थ्य-सम्बन्धी कठिनाइयोंको प्रार्थनाके बलसे दूर किया है। रोगीको विना देखे प्रार्थनाकी शक्तिसे इलाज किया जाता है। विपत्ति, चिन्ता, भय, बीमारी, दरिद्रता, हानि, बेकारी आदि सब संकटकालीन परिस्थितियोंमें प्रार्थनाद्वारा अदृष्ट-शक्ति मिलती रही है।

निश्चय जानिये, प्रार्थना वह पुष्ट आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जो उत्तेजित और विक्षुब्ध मनको ठण्डा करती है; और उसे सन्तुलित और सन्तुष्ट करती है। हमारी सन्ध्याके मन्त्र प्रार्थनारूप ही तो हैं!

प्रार्थना मनुष्यके दैवीगुणोंका विकास करती है, उन्नति और सफलताके अभिनव मार्ग खोलती है।

यह हाड़-मांसका मानव कहलानेवाला पुतला हमारे गुप्त मनसे संचालित होता है। प्रार्थना हमारे गुप्त मनको दैवी-शक्तिसे जोड़ देती हैं। हम कठिनाइयोंसे डटकर मुकाबला करनेकी शक्तिको विकसित करते हैं। यह हमारे सोये हुए आत्म-विश्वासको जाग्रत् कर देती है। हम अपने आपको कमजोर माननेके बजाय ईश्वरको अपने साथ रक्षकके रूपमें मानने लगते हैं। इस प्रकार प्रार्थना हमें नयी हिम्मत और आत्म-बल देती है। हमारी विषम-परिस्थितियाँ बदलकर उपयोगी बन जाती हैं। (श्रीरा.च. महेन्द्र एम.ए. 'कल्याण')।

(वेदमन्त्रोंकी महत्ता भी इसी प्रार्थनामें है। वेद मन्त्रराज है। उपासनाकाण्ड भी वेदमें सन्निविष्ट होनेसे उन मन्त्रोंमें प्रार्थनाएं अनुस्यूत होती हैं। बुद्धिकी प्रार्थनारूप सावित्री-मन्त्र वेदमें इसीलिए ही तो सुप्रसिद्ध है। उसमें बुद्धिकी प्रार्थना होनेसे 'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्' के अनुसार उससे लौकिक सभी सुव्यवहार सिद्ध होते हैं। पर उसमें प्रार्थक चाहिये–वेदका अधिकारी 'द्विज', तथा पूर्ण भक्त)। ['आलोक'-प्रणेता]

(पृ. ८५६ की पूर्ति)

'पत्युरनुव्रता' मन्त्रमें पतिका अनुव्रतत्व 'पतिव्रत' धर्म है, जिसका लक्षण 'आर्ताऽऽर्त्ते, मुदिता-हृष्टे प्रोषिते-मलिनाम्बरा। मृते पत्यौ विशेद् अग्निं, सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता' (कार्तिक-माहात्म्य ७।३७) (पतिके

पीड़ित होनेपर जो पीड़ित रहे, पतिके प्रसन्न होनेपर जो प्रसन्न रहे। पतिके परदेस होनेपर जो साधारण-कपड़ोंमें रहे, पतिके मर जानेपर जो अग्निमें वा पतिकी विरहाग्निमें जलती रहे; वह स्त्री पतिव्रता कही जाती है।)

यही पतिव्रत 'पत्युरनुव्रता भूत्वा' इस वेदमन्त्रमें भी विवक्षित है। सो पतिका अनुव्रतत्व यह नहीं है कि—पति यदि वेदका अध्येता है; तो स्त्री भी वेदाध्येत्री हो। पतिव्रत विवाहके समय लेना पड़ता है। सो विवाहके समयमें पतिका वेदारम्भ नहीं होता कि—विवाहारम्भमें पतिकी अनुव्रता स्त्री भी उस समय वेदारम्भ जारी करे। जब पुरुष आठ वर्षकी अवस्थामें वेदारम्भ करता है, तब भी लड़की उसका वह व्रत नहीं ले सकती; क्योंकि तब वह उसका पति नहीं होता। सो पतिका अनुव्रतत्व 'आर्तार्ते मुदिता' के अनुसार पतिव्रत-धर्म अपनानेमें है; वादीके अनुसार वेद पढ़नेमें नहीं। शेष ८५६-८५७ पृष्ठ पं. १० में देखिये।

इति श्रीगौरीदेवी-गर्भजेन, श्रीपं० शीतलरामशर्मसेतुपालतनुजनुषा, भूतपूर्व-मुलतानस्थ-सनातनधर्मसंस्कृत-कालेजाध्यक्षेण, इदानीं देहलीस्थ-रामदल संस्कृत महाविद्यालयत: कार्यनिवृत्तेन, विद्यावागीश-विद्याभूषण-विद्यानिधि-विद्यावाचस्पतिप्रभृति - पदभाजा श्रीदीनानाथशर्म-शास्त्रि-सारस्वतेन प्रणीते 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थे स्त्री-शूद्रयोर्वेदानधिकार-विषये तृतीयपुष्पस्य द्वितीय-संस्करणं सम्पूर्णम् ॥

'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका परिचय।

(इसे अवश्य पढ़िये)

विद्यावागीश-श्रीदीनानाथशास्त्री-सारस्वत (प्रिंसिपल श्रीसनातनधर्म-महाविद्यालय, फर्स्ट वी. १६, लाजपतनगर (नई दिल्ली-२४) द्वारा प्रणीत 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थ संस्कृतमें १० हजार पृष्ठोंमें लिखित है। यह हिन्दुधर्मके प्राचीन वेद, दर्शनादि साहित्यार्णवको मथकर लिखा गया है, अत: वह हिन्दुधर्मका विश्वकोष एवं स.ध.का महाभारत वा कल्पवृक्ष सिद्ध हो सकता है। इसकी ग्रन्थमाला हिन्दीमें छप रही है। इसे १०००) रु० देकर इसके संरक्षक बनें, आपका चित्र छपेगा, आपका नाम प्रत्येक-प्रकाशनमें छपेगा। अथवा ५००) देकर इसके 'सम्मान्य-सहायक' वा २५०) देकर 'मान्य-सहायक' बनिये, आपके पास ग्रन्थमाला पहुंचती रहेगी। अथवा न्यूनसे न्यून १००) देकर इसके साधारण-सहायक बनिये। इस प्रकार आपके सहयोगसे 'आलोक'-ग्रन्थमाला शीघ्र प्रकाशित होकर भ्रान्त-जनोंकी धार्मिक-शंकाओंको दूर करनेवाली सिद्ध हो सकेगी।

अब तक इसके १० पुष्प छप चुके हैं। ११वां पुष्प छप रहा है। ५२८ पृष्ठ उसके छप चुके हैं। विद्वानों एवं गुणज्ञोंने इस ग्रन्थमालाकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आप भी स्वयं इस ग्रन्थमालाको खरीदें, तथा दूसरोंको भी इसके मंगानेके लिए प्रेरित करें। सभी शंकाएं मिटेंगी। आप शीघ्रतासे इसकी सहायतार्थ उद्यत हों। इनसे हिन्दु-जातिको धार्मिक-नवजीवन प्राप्त होगा। आज ही ग्रन्थकारके नामसे आप सहायता-द्रव्य शीघ्र ही भेजना शुरू कर दें।

जो महोदय स्थायि-ग्राहकताका शुल्क १०) दस रुपये पूर्व जमा करायेंगे, उन्हें सब पुष्प पौने मूल्यमें दिये जाएंगे।

१-२ पुष्प—(परिवर्धित-द्वितीयावृत्ति) आजकल 'नमस्ते' शब्दका प्रचार संस्कृतानभिज्ञ-जनतामें बहुत हो गया है; और इसके प्रचारक इसका वैदिक होनेका दावा करते हैं। हमने इसमें 'नमस्ते' विषय-पर विस्तीर्ण विचार दिया है। 'नमस्ते'-विषयक ट्रैक्ट हमें जितने मिल सके उनपर हमने आलोचना भी कर दी है। आरम्भमें उक्त महाग्रन्थकी सम्पूर्ण-

विषयसूची तथा उसपर विद्वानोंके भाव कुछ भी दिये गये हैं। यह ३५० पृष्ठोंकी सजिल्द एवं सुन्दर पुस्तक है।   मूल्य ४)

३य पुष्प—इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकार पर विचार करते हुए 'यथेमां वाचं कल्याणीं' मन्त्रके स्वा.द. कृत अर्थकी आलोचना करके उसका वास्तविक अर्थ, हारीतकी ब्रह्मवादिनी, 'गोभिलसूत्र' का 'यज्ञोपवीतिनी' पदका अर्थ 'दुहिता मे पण्डिता जायेत', 'वेद पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्', 'ब्रह्मचर्येण कन्या, पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' आदि बहुतसे प्रतिपक्षियोंकी ओरसे दिये जाते हुए आर्ष-वचनोंके वास्तविक अर्थ बताकर, ऐतरेय-महिदास, कवष-ऐलूष, कक्षीवान्, सत्यकाम जाबाल, सूत, वाल्मीकि, शबरी आदि शूद्र थे, वा अशूद्र—इसपर विचार किया गया है। इसकी प्रथमावृत्ति समाप्त हो चुकी है। द्वितीयावृत्ति आपके हाथमें है। इसमें बहुत परिवर्धन किया गया है। एक सिद्धान्तालङ्कारकी २३६ पृष्ठकी पुस्तकपर भी अक्षर-अक्षर विचार किया गया है। प्रथमावृत्तिमें इसके ३३७ पृष्ठ थे; अब द्वितीयावृत्तिमें १००० के लगभग पृष्ठ हैं। इसे शीघ्र मंगाइये। जिनके पास इसकी प्रथमावृत्ति है, वे भी इसे अवश्य मंगावें। मूल्य १६) रु०।

४र्थ पुष्प—इसमें हिन्दु-शब्दकी वैदिकता, वेद-विषयमें भारी भूल, महाभाष्यकारके मतमें वेदका स्वरूप, वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मसे है, वा जन्मसे; डा० भगवानदासजीके मत पर विचार, मृतकश्राद्ध तथा मृतक-पितरोंका टाइमटेबल, उसमें ब्राह्मण-भोजन वैदिक है या अवैदिक, मूर्तिपूजा एवं अवतारवादका रहस्य, क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं, नवग्रहोंके प्रचलित मन्त्रोंका ग्रहोंसे सम्बन्ध कैसे है, ग्रहण और उसका सूतक-इत्यादि अनेकों विषयों पर बड़े सुन्दर विचार दिये गये हैं। ५०० पृष्ठसे अधिक पृष्ठकी सजिल्द सुन्दर पुस्तकका मूल्य १०) है। यह पुष्प समाप्त हो चुका है। यदि समर्थ श्रीमान् इसकेलिए सहायता दें; तो फिर छप सकता है।

५म पुष्प—इसमें हिन्दुधर्मके मुख्य-विषय चोटी-जनेऊ, गायत्री-मन्त्र, १६ संस्कार, सन्ध्याके सभी अङ्गोंपर विचार, मालाकी मणियोंकी १०८ संख्या क्यों? यज्ञका वैज्ञानिक-महत्त्व आदि अनेकों विषयों पर विचार करके, प्रात: से रात्रि-शयन तकके आचारोंकी वैज्ञानिकता बताई गई है। इसके बाद दीपमाला, होली आदि वर्षके प्रसिद्ध पर्वोंके वैज्ञानिक-रहस्य बताकर, श्रीगणेशका वैदिक-देवत्व तथा श्रीमहीधरके 'गणानां त्वा' मन्त्रके भाष्यपर—जिसपर प्रतिपक्षियोंकी ओरसे घोर-शोर मचाया जाता है—विचार इत्यादि १२५ विषयोंपर सुन्दर विचार दिये गये हैं। यह पुष्प भी समाप्त हो चुका है। पर यदि समर्थ श्रीमान् इसकेलिए सहायता दें; तो फिर छप सकता है। इसकी मांग बहुत है। मूल्य १६)

छठा पुष्प—यह सुन्दर पुष्प ९५० से अधिक पृष्ठोंमें विकसित हुआ है। इसमें स,ध. तथा वेदका स्वरूप दिखलाते हुए ब्राह्मणभागके अवेदत्व-पर किये जानेवाले तर्कोंपर युक्ति-प्रमाण द्वारा विचार करके, वेदाधिकारि-विचार, देवमन्दिरोंमें अन्त्यज-प्रवेश पर 'वैदिक दृष्टि' दिखलाकर 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी' मानसकी इस प्रसिद्ध-चौपाईके विविध अर्थ तथा उनकी आलोचना की गई है। फिर 'गोचर्चा'में 'क्या प्राचीन-भारतमें गोवध होता था' इस विषय पर दिये जाते हुए वेद-पुराणोंके वचनोंपर १७० पृष्ठोंमें सम्यक् विचार किया गया है। इसके बाद 'पौराणिक-चर्चा' में 'क्या पुराणोंमें वेद-विरुद्ध अंश है?' इस पर विचारते हुए वृन्दाका पतिव्रतभङ्ग, चन्द्रमाका गुरुपत्नीगमन, अगस्त्य-ऋषिका समुद्रपान, स्त्रीसे पुरुष, पुरुषसे स्त्री आदि बहुतसे विषयोंपर विचार कर, श्रीकृष्णके बालचरित्र एवं श्रीराधा-कृष्णके परस्पर-सम्बन्ध तथा कुब्जा आदिके विषय में २०० पृष्ठोंमें विचार दिया गया है। सैद्धान्तिक-चर्चामें वर्णव्यवस्था विषयमें 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' के अर्थ पर किये जाते हुए तर्कोंपर विचार करते हुए 'ब्राह्मणादि क्या वर्ण नहीं हैं'—इसपर तथा 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं

गुणकर्मविभागशः' प्रतिपक्षियोंसे दिये जाते हुए इस गीता-वचन पर भी विचार करके, अन्तमें पौराणिक-घटनाएं समाचारपत्रोंसे दी गई हैं। यह पुस्तक जिज्ञासुओंकेलिए अत्यन्त उपकारक है। इसे जल्दी खरीद लें; क्योंकि यह संस्करण शीघ्र समाप्त होनेवाला है। सजिल्द मूल्य १६)

७वां पुष्प—इसमें पौराणिकचरित्र-पर्यालोचन तथा 'पुराण-परिचय'-का परिचय विस्तीर्ण रूपसे बताकर, एक पूर्वपक्षीके पुराणविषयक अनेकों-प्रश्नोंके सर्वाङ्गीण उत्तर देकर, फिर अवतार-सम्बन्धी १९ कुतर्कोंको काटकर, विविध-आक्षेपोंके प्रत्युत्तर दिये गये हैं। इसके बाद 'क्या गणेश तथा रुद्र अग्नि हैं; इसपर विचार करके, सत्यनारायणव्रत-कथा पर किये जाते हुए आक्षेपोंपर प्रत्युत्तर देकर, श्रीसीता-रामकी वैवाहिक-आयु तथा द्रौपदीका एक पति था, या पांच; श्रीव्यासजीकी उत्पत्ति इन पर विस्तीर्ण विचार भी दिया गया है। वेदचर्चामें वेदस्वरूपनिरूपण बताते हुए 'वेद-संज्ञाविमर्श' की चुनौतीका उत्तर तथा नीरक्षीरविवेक आदिपर लिखा गया है। इस एक ही पुस्तकसे आपको पुराणोंके सम्बन्धमें पचासों प्रश्नोंका समाधान प्राप्त होगा। अन्तमें पुराणोंको सिद्ध करनेवाली प्रत्यक्ष घटनाएं भी दिखाई गई हैं। यह १००० पृष्ठोंमें छपी पुस्तक सभीकेलिए संग्राह्य है। इसे भी शीघ्र खरीद लें; क्योंकि—यह संस्करण शीघ्र समाप्त होनेवाला है। मूल्य १६)

८म पुष्प—इसमें 'वेदस्वरूपनिरूपण, स्त्री-शूद्रोंका वेदाधिकारविचार, क्या वेदमें केवल यौगिकता है, वेदार्थके साधन, क्या गीता वेदखण्डक है, वेदमन्त्रार्थ-हत्याका दिग्दर्शन' आदि विषयोंपर विस्तीर्ण विचार रखकर वर्णव्यवस्थाके सम्बन्धमें दिये जाने वाले सब प्रमाणोंपर आलोचना देकर, क्या गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था चल सकती है—यह दिखलाकर आर्यसमाजका श्राद्ध एवं यमराज, नियोगमें मैथुन होता है, या नहीं, क्या सायणाचार्य विधवा-विवाह मानते थे—यह स्पष्ट करके नियोग वा विधवा-विवाहपर दिये जाते हुए सभी प्रसिद्ध मन्त्रोंपर समाधान करके, यमयमी-

सूक्त, 'क्लीवे च पतितेपतौ' में 'पतौ' है या 'अपतौ' यह दिखलाकर, तलाकपर भी विचार दिखलाया गया है। परिशिष्टमें अष्टग्रहीयोगपर तथा 'नमस्ते' पर विचार करके प्रत्यक्ष घटनाएं भी दिखलाई गई हैं। ८०० से अधिक पृष्ठकी सजिल्द एवं सुन्दर, शास्त्रार्थियोंकेलिए उपयोगी उत्तम पुस्तकका मूल्य १२)५० पैसे है।

९म पुष्प—इसमें इतिहासचर्चामें 'हनुमानादि वानर थे, वा नर ?' श्रीसीतारामकी वैवाहिक-अवस्था, प्रकरणवश कन्या-विवाहावस्था, चतुर्थी-कर्म गर्भाधानका अङ्ग है, या विवाहका ? 'एक वैदिक-विवाहका रहस्य' आदि, कण्टकशोधनमें अनेक विषय, पुराणेतिहासचर्चामें पुराणोंपर किये जाते हुए आक्षेपोंका प्रत्युत्तर, वेदचर्चामें वेदोंकी अक्षरसंख्या, आलोचना-स्तम्भमें कई आक्षेपक ट्रैक्टोंपर विचार, सैद्धान्तिक-चर्चामें साम्यवादपर एक उत्तम हास्यापादक संवाद तथा पर्वतोंके पंख, और परिशिष्टमें पौराणिक घटनाएं वर्णित हैं। एक सहस्र पृष्ठके इस पुष्पमें बहुतसे सन्देह दूर कर दिये गये हैं। आज ही इसका आर्डर भेजिये। बहुत सुन्दर पुस्तक है। मूल्य १६)

१०म पुष्प—यह पुष्प कुछ समय हो चुका, प्रकाशित हुआ है। इसमें श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता पर प्रतिपक्षियोंकी ओरसे जो आक्षेप किये जाते हैं, इस विषयकी चार पुस्तकों पर विचार दिया गया है। वेद-विषयमें निरुक्तके आधारसे विचार करके आगे वेदका वास्तविकस्वरूप बताया गया है। इसमें 'दयानन्द-सिद्धान्त-प्रकाश'के तर्कों पर भी सम्यक् विचार दिया गया है। 'भारतीय-नारी' पर सुधारकों द्वारा किये जाते हुए आक्षेपोंपर विचार करके पुराण-इतिहास में जो असम्भव बातें बताई जाती हैं; उनपर भी विचार किया गया है। एक बौद्धने 'गो० तुलसीदासजीकी 'ब्राह्मणशाही' दिखलाकर उसे आक्षिप्त किया था, उसका भी मुंह-तोड़ उत्तर दिया गया है। फिर सामाजिक-चर्चामें स्त्रियोंकी पर्दा-प्रथा पर वेदशास्त्रोंका क्या अभिमत है—यह भी

बताया गया है। अन्तमें द्विज और शूद्रका भेद वैदिक, साम्यवादके प्रमाणों पर विचार तथा शिवलिङ्गके विषयमें भ्रमोच्छेद करके पुस्तक १०४० पृष्ठोंमें समाप्त कर दी गई है। इस पुस्तकमें लोगोंकी ज्ञानवर्धक-सामग्री प्रचुर-मात्रामें आई है। इसे खरीदकर जनताको अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त कर लेनी चाहिये। कागज़ बहुत सुन्दर और पृष्ठ-संख्या १०४० से अधिक रखी गई है। मूल्य १६)

११वां पुष्प—इसमें 'गोचर्चा' में 'क्या प्राचीन भारतमें गोवध वा गोमांस चालू था—इस विषयपर ११७ पृष्ठोंमें विचार करके, 'सैद्धान्तिक-चर्चा' में 'कर्मणा वर्णव्यवस्थामें हानि, क्या सत्यकाम-जाबाल वेश्यापुत्र था' ? इस विषयमें ५० पृष्ठोंमें पूर्व-पक्षियोंके कुतर्कोंका खण्डन करके उसे ब्राह्मण-पुत्र सिद्ध किया गया है। कवष ऐलूष, मतङ्ग, कक्षीवान्, जानश्रुति, विश्वामित्र, गणिका-पुत्र-वसिष्ठ, महिदास, सूत आदिकी अब्राह्मणताका निराकरण करके, क्या वेदादिमें देवोंका अर्थ परमात्मा है, इसपर विचार करके, श्राद्धमें मुख्य शङ्काओंका उत्तर देकर, 'इतिहास-चर्चा' में दमयन्ती, दिव्या आदिके पुनर्विवाहपर विचार किया गया है। फिर 'पुराणचर्चा' में बहुत-सी आशङ्काओंका प्रत्युत्तर देकर, देवताओंमें बहुरूपताकी शक्ति, ऋषि-मुनियोंका भविष्य-ज्ञान सिद्ध करके, फिर भूत-प्रेतादिकी सिद्धि, कण्टक-शोधन, वेदचर्चा आदिपर विचार किया गया है। यह शीघ्र छपनेवाला है। मूल्य १६) रु०

आज ही सहायता-द्रव्य ग्रन्थकार (प० दीनानाथ शास्त्री) के नाम एवं पतेसे शीघ्रतासे भेजना शुरू कर दें; जिससे ग्रन्थमाला चलती रहे; क्योंकि 'माला' के पास स्थायी कोष नहीं है। इन पुष्पोंको शीघ्र मंगाकर अपना सेट पूरा कर लें। आप जो भी चाहें, पुष्प वी. पी. द्वारा मंगा सकते हैं। डाक-व्यय पृथक् होगा। विदेशोंमें भारतीय-मूल्यसे ४) रु० अधिक मूल्य होगा। सभी पुष्प इकट्ठे लेने पर १००) में दिये जावेंगे। डाकव्यय ८) का आधा ४) रु० लिया जावेगा। पर जो पुस्तकें दुष्प्राप्य होंगी; उनको भेजना हमारे लिए सम्भव नहीं होगा। उनका मूल्य काट दिया जावेगा। 'आलोक' के पुष्पोंका मंहगाईके कारण यही मूल्य लिया जावेगा, पुराना मूल्य नहीं।

सहायताद्रव्य ग्रन्थकार (पं० दीनानाथ शास्त्री) के नामसे फर्स्ट बी. १९, लाजपतनगर (नई दिल्ली-२४) के पतेसे मनीआर्डर वा चैक-द्वारा भेजा जा सकता है। चेकमें जो रकम कटेगी; उसे भी वीचमें जमा कर दें।

[ध्यान दें]

[यह पुष्प पूरा छप चुका था; अचानक वार्तमानिक 'परिवार-नियोजन' की आलोचनाकेलिए मुझे बम्बईसे ज.गु. पुरीपीठाधीश्वर महाराज द्वारा बुलावा आया था। पर मैं दुर्बलतावश अब दूर जानेका नहीं रहा हूं, अतः उक्त निबन्ध इसी पुष्पके द्वितीय-परिशिष्टमें संलग्न कर दिया गया है। पाठकोंको इसपर विचारका अवसर प्राप्त हो जायगा। जो इसे पृथक् छपवाना चाहें; वे हमें यदि खर्च भेज दें; तो हम इस निबन्धको प्रचारित करनेके विचारसे पृथक् भी छपवा देंगे। -'आलोक'-प्रणेता]

पुस्तकोंके मँगाने वा पत्रव्यवहारका पता—
श्रीनारायणशर्मा शास्त्री एम.ए., बी-एड,
('आलोक' ग्रन्थमाला कार्यालय)
फ़र्स्ट बी० १९ लाजपतनगर,
(नई दिल्ली-२४)

"सनातनधर्म ही सच्चा परिवार-नियोजक"

(शुद्ध धार्मिक-दृष्टिकोण)

[यद्यपि 'आलोक' के तृतीय पुष्पका द्वितीय संस्करण पूरा छप चुका है; तथापि उसमें वर्तमान 'परिवार-नियोजन' निवन्ध भी द्वितीय-परिशिष्टके रूपमें संलग्न किया जा रहा है। 'आलोक'-पाठकगण इसे मनोयोगसे देखें। यद्यपि यह इस पुष्पका विषय तो नहीं है; तथापि इस विषयकी माँग हमारे पास आई थी; अतः इसे द्वितीय-परिशिष्ट-रूपमें यहाँ संलग्न किया जा रहा है।]

आजकल 'परिवार-नियोजन' की बड़ी चर्चा है, कहा जाता है—यदि परिवार-नियोजन नहीं होगा; तो जनता बढ़ती चली जावेगी। उसकेलिए भारतीय-गेहूं पूरा नहीं पड़ेगा; तब हमें विदेशमुखापेक्षी बनना पड़ेगा। इसमें सारी गड़बड़ीका मूलकारण वेद है; जो 'दशास्यां पुत्रान् आधेहि' का नाद गुंजाकर जनताको असंयमका तथा भूखों-मारनेका पाठ नियमतः पढ़ा रहा है। फिर यह 'गोरक्षा' बताकर हमें दुर्वल करनेवाले, पतले गोदुग्धका प्रचार करके, भैंसका दूध पीकर बलवान् बने हुए विदेशियोंसे हमें पिटवाना चाहता है, और फिर 'खाओ, पीवो, मौज उडावो' का पाठ भुलवाकर, हमें कष्टप्रद व्रत-उपवासादि रखनेका पाठ पढ़ाकर हमें कुत्सित-जीवन वितानेको वाध्य करता है।"

यह है आजकलके दृष्टिकोणका प्रतिविम्ब, जिसपर आज हमें यहाँ विचार करना है।

हमारा सनातनधर्म श्रौत-स्मार्त धर्म होनेसे 'वैदिकधर्म' भी है। वैदिकधर्म शाश्वत धर्म है। यह कालानुकूल व्यवस्थापित संकुचित-धर्म नहीं है, किन्तु सदाकेलिए नियत--चाहे परमार्थवाद हो, चाहे व्यवहारवाद,

उसमें खरा उतरनेवाला यही धर्म है। वेदमें लिखा है—'दशास्यां पुत्रान् आधेहि, पतिमेकादशं कृधि' (ऋसं. १०।८५।४५) इसमें १ पति तथा अधिक से अधिक दस पुत्र कहे गये हैं।

श्रुति तथा स्मृतिका निष्कर्ष यह है कि-आश्रम चार होते हैं—१. ब्रह्मचर्य, २. गृहस्थ, ३. वानप्रस्थ एवं ४. संन्यास।

सनातनधर्म श्रौत-स्मार्त धर्म माना जाता है। सो वह संयमका उपदेश देता है। अतः चार आश्रमोंमें वेद द्वारा केवल एक आश्रम-गृहस्थकेलिए एक पति तथा अधिक से अधिक १० पुत्रोंका विधान है। शेष तीन आश्रमों के लिए वेद संयम ही अनुशिष्ट करता है।

'शतायुर्वै पुरुषः' 'जीवेम शरदः शतम्' आदि वेदके उद्घोषोंके अनुसार १०० वर्षकी सामान्य आयु होनेसे और उसमें चार आश्रम होनेसे, प्रत्येक आश्रम प्रायः २५ वर्षका सिद्ध होता है। केवल गृहस्थाश्रममें २५ वर्षमें १० पुत्र कहनेसे ढाई-ढाई बर्षमें एक पुत्र सिद्ध होता है। यह कोई अधिक संख्या नहीं कही जा सकती, और न यह असंयम की छूट कही जा सकती है। वलि‍क यह वड़ा संयम है। इनमें लड़की भी गृहीत हो सकती है। जैसेकि मनुजीने कहा है—'यथैवात्मा तथा पुत्रः, पुत्रेण दुहिता समा' (९।१३०) (पुत्र पुरुषका आत्मा है। लड़की भी पिताकी आत्मा होनेसे पुत्रके समान है)।

यद्यपि 'दशपुत्रसमा कन्या' इस नादके अनुसार कन्याको दस पुत्रोंके समान माना गया है; तथापि इसीलिए उसे अपने घर न रखकर उसे दूसरे घरमें विवाहपूर्वक भेज दिया जाता है, और स्वयं अन्य लड़की दूसरेके घरसे ब्याह करके लाई जाती है। इसमें भी वैज्ञानिक-रहस्य है। इसीलिए वैदिक यमयमीसूक्त (ऋसं १०।१०।१०) में बहन-यमी-को भ्राता यमने अपनेसे सम्बन्ध निषिद्ध कर दिया था; और दूसरे योग्य-पुरुषसे सम्बन्धार्थ प्रेरणा दी थी।

शेष प्रश्न यह रहा कि—उन दस पुत्रोंको खाना कहाँसे मिलेगा ? इसपर उत्तर यह है कि—हिन्दुजातिको परमात्मापर तथा अपने शास्त्रों-पर पूरा विश्वास है। कर्ममीमांसा तथा पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्मको, दैव तथा पुरुषार्थ दोनोंको माननेवाली, इस पवित्र जातिको शास्त्र यह बताते हैं—

पैदा होते हुए बच्चेकेलिए 'मातुः प्रस्रवतः स्तनौ' (मांके स्तनोंमें दूध आ जाता है) ऐसा प्रकृतिका नियम है। फिर समर्थ होनेपर उसे पुरुषार्थकी आज्ञा दी जाती है; और कहा जाता है—'येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः। मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति' (जिसने हंसोंको सफेद बनाया, और तोतोंको हरा कर दिया। मोरोंको जिसने रंग-बिरङ्गा बनाया; वही भगवान् तेरी वृत्ति बनावेगा) इत्यादि विश्वस्त वचन भी सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अतिरिक्त भारतवर्षको अपनी रक्षाकेलिए प्रत्येक-गृहीके अधिकसे अधिक १० पुत्र होना आवश्यक सिद्ध होता है, क्योंकि उन्हीं लड़कोंने घरके काम-काज भी पूरे करने हैं, घर-भरकी व्यक्तियोंकी रक्षा भी करनी है; और तीन आश्रमोंके व्यक्तियोंकी रक्षा भी करनी है। इससे देशकी रक्षा भी करनी है। उतना ही अन्न भी पैदा करना है; और उसका उन-अपनोंमें विनियोग भी करना है। पर जो अपने धर्मसे भिन्न धर्मों तथा भिन्न देशोंके व्यक्ति रहते हैं, उनको यदि उपकारकी दृष्टिसे अपने देशमें रखना भी है; तो उन्हें भारतीय-धर्मसे तथा देशसे विरुद्ध न चलनेकी हिदायत भी करनी चाहिये। पर यदि वे वैसा नहीं करते; और इस देशकी भक्ति भी नहीं करते, बल्कि इस देश वा उसके व्यक्तियोंसे विद्रोह करते हैं; और अपने ही मूल-देशके वे बने रहना चाहते हैं; तो उन्हें उनके अपने ही देशमें भिजवानेका प्रयत्न करना

चाहिये। युगाण्डा आदि देशोंसे भारतीयोंको निकाला ही तो जा रहा है।

इस देशका नाम जबकि 'हिन्दुस्थान' वा 'इण्डिया' आदि चला आ रहा है, यह वे विदेशी लोग भी स्वयं मानते हैं; तथा उसे स्वयं ही प्रयुक्त भी करते हैं। यह है भी ठीक ही; क्योंकि—इस समूचे देशका नाम 'सिन्धु' देश है*; वेदका भी इस पक्षमें अनुग्रह है। तब वे विदेशी इस देशसे विद्रोह न करनेपर यहाँ अतिथि तो बने रह सकते हैं; पर भारतीय-धर्मसे विरुद्ध चलकर वा यहांके अधिपति बनकर नहीं रह सकते। क्योंकि—जब उनके होनेसे हमारा देश हमारे लिए संकुचित हो जाता है, हमारे धर्ममें हानि वा रुकावट पड़ती है; और फिर हमारे देशका अन्न हमारे लिए न्यून जा पड़ता है, तथा हमारी बहू-बेटियोंके अपहरणकाण्ड होकर हमारी भारी हानि हो रही होती है, तब उन विदेशियोंका इस देशमें रहनेका क्या अर्थ रह जाता है? **क्यों हमने अंग्रेजोंको अपने यहाँसे निकालकर** 'स्वराज्य' लिया ? इसी प्रकार अन्य विदेशी जातियोंका भी इस हिन्दुस्थानमें रहनेका कोई अधिकार नहीं रह जाता।

हमारे ही देशके कुछ भागको हमारे राजनीतिक-नेताओं द्वारा "पाकिस्तान" बनाकर उन विदेशियोंको दे देना, फिर भी सारे विदेशियोंको वहाँ न भिजवाना उसी अदूरदर्शिताका परिणाम है; जिसका प्रतिफल हम भारतीयोंको उनकी ओरसे कई युद्धोंके रूपमें भुगतना पड़ रहा है। यदि हम अब भी नहीं चेते; तब इस देशके अन्य भी खण्ड-खण्ड हो जानेकी आशङ्का है। हमारे ही वर्मा आदि प्रान्त भी हमसे अलग हो गये हैं। इस तरह कश्मीर आदिके कुछ भागोंकेलिए भी स्वयं जान

*इसकेलिए 'आलोक'-ग्रन्थमालाके चतुर्थ-पुष्पमें 'हिन्दु' शब्दका 'महाभाष्य' निबन्ध देखना चाहिये।

लीजिये। अब भी वही 'पाकिस्तान' हमारे देशको नष्ट-भ्रष्ट करनेके-लिए जहाँ-तहांसे अस्त्र-शस्त्र जमा कर रहा है। उसीको थपथपी देने-वाले अन्य भी विदेश उसके पक्षका पोषण करनेमें लगकर और हमारे देशको हमसे छीननेका कुचक्र करनेमें लगे हुए हैं। यह हमारी पहली भूल हुई। फिर उन सभी विदेशियोंको उस पाकिस्तानमें न भिजवाकर अपने इसी देशमें भी रख देना—यह हमारे उन स्वार्थी राजनीतिक नेताओंकी दूसरी भारी भूल हुई।

यदि 'दशास्यां पुत्रान् आधेहि' इस अपने देशके संरक्षणमूलक सुन्दर वैदिक-आदेशको पूरा न करके हमने अपनी नसबन्दियां करवा कर, अथवा अपने घरोंमें भ्रूणहत्याएं वा गर्भपात कराकर हमने अपनी संख्या घटाई; तब अल्पसंख्यक हम अपने देश तथा अपने घरों, अपने धर्म तथा अपने आश्रमोंकी रक्षा कैसे कर सकेंगे ?

विदेशी जातियोंको अपने देश तथा अपने धर्मसे विरुद्ध चलते हुए देखकर भी यदि आप उन्हें क्षमा करते हैं; तो यह आप अपने देशके, अपनी जातिके और अपने आश्रमोंके पैरोंमें स्वयं ही कुल्हारी मारकर उनकी स्पष्ट हानि कर रहे हैं। फिर आप अपनी स्त्रीकी, अपनी बहिनोंकी, लड़की तथा माता आदिकी रक्षा कैसे कर सकेंगे ? फिर तो आप अपने ही देशमें 'अल्पसंख्यक' बन जाएंगे। आपकी लड़कियोंका, आपकी बहनों व पत्नी आदिका अपहरण हो जाया करेगा। यह आजकल प्रत्यक्ष भी है। आपसे कुछ करते-धरते नहीं बन सकेगा। आप अपने देशमें सांपोंको पाल रहे हैं, यह पूरा ध्यान रखें। वे आपको ऐसा काटेंगे; फिर उसका कोई इलाज न हो सकेगा। हमें डर है कि—आप अपने अवशिष्ट देशको भी कहीं 'नया पाकिस्तान' न बनवा बैठें; क्योंकि—उन विदेशी जातियोंकी संख्या दिनों-दिन बढ़ रही है; उनपर कुछ भी अङ्कुश नहीं लगाया जा रहा है। यद्यपि आर्यसमाज उनकी शुद्धि करके उन्हें अपनेमें

मिलाकर उनकी संख्या घटानेका कुछ प्रयत्न कर रहा है; पर यह भी कोई प्रशस्त उपाय नहीं। बल्कि यह उपाय अपनी ही जातिका क्षय करनेवाला भी सिद्ध हो सकता है, क्योंकि—'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्' इन्हींके देशोंमें हिन्दुओंकी संख्या आटेमें नमक बराबर भी नहीं है। जो वहां हैं भी, वे दबे हुए हैं, और उन-जैसे बने हुए हैं, उनसे हमारे देशको कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं हो रहा।

वेदका आदेश तथा वेदके व्याख्यानभूत स्मृति-सूत्र आदि ग्रन्थोंका आदेश हम वैदिक-धर्मियोंको अवश्य माननीय है। अपनी स्त्री आदि तथा अपनी रक्षा भी तो हमने अवश्य करनी है। तभी तो 'दशास्यां पुत्रान् आधेहि' यह वेदका आदेश पूरा होगा। इससे जहां गृहस्थ-स्त्री-पुरुषोंकी संयमके साथ अंशतः वासनापूर्ति होगी; वहाँ घरकी तथा देशकी रक्षा भी होगी। 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी (बल्कि त्र्यर्थकरी) प्रसिद्धा' यह एक प्रसिद्ध सूक्ति चरितार्थ होगी।

सनातनधर्म असंयमका पक्षपाती नहीं है, किन्तु संयमका ही पक्षपाती है। अतः वह ऋतुगमनका ही उपदेश देता है; और इसे वह 'ब्रह्मचर्य' कहता है। वेदके व्याख्याता मनुजी कहते हैं—'निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्। ब्रह्मचार्येव भवति' (मनु. ३।५०) यहां ऋतु-गमनकर्ताको ब्रह्मचारी कहा गया है। मनुजीकी वेदविद्वत्ता निम्न-पद्यमें देखिये—'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनु. २।७) (जो कोई किसीका धर्म मनुजीने कहा है, वह सब वेदमें कहा गया है, क्योंकि—मनुजी वेदका सर्वविध ज्ञान रखते हैं)। यहाँ 'ब्रह्मचर्य' का भाव वेदानुकूल चलना इष्ट है।

ऋतुकालमें १६ रात्रियां होती हैं। उनमें पहली चार तथा ११वीं, १३वीं तथा पर्वकी दो—इन आठ रात्रियोंको छोड़कर पुत्रकी कामनामें समरात्रियों तथा कन्याकी कामनामें विषम-रात्रियोंमें स्त्रीगमन कहा है,

शेष रात्रियोंमें जो ऋतुकाल वा गर्भाधानकी नहीं है, उनमें शास्त्र स्त्री-गमन नहीं कहता। शेष ८ रात्रियोंमें गमन 'ब्रह्मचर्य' बताया गया है। यह बड़ा भारी संयम है। संयमसे ही हमारी आयु बढ़ती है, और जीवन सुखी रहता है। हम बुद्धिमान् तथा बलवान् बने रह सकते हैं; और अपना तथा अपने देशका संरक्षण कर सकते हैं।

रातमें ऋतुदान इसलिए कहा है, क्योंकि—दिनमें ऋतुदानका निषेध है। जैसेकि—'प्रश्नोपनिषद्' में कहा गया है—'प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति, ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते' (१।१३) यहाँ दिनमें रतिदानको प्राणोंकी हानि करनेवाला बताया गया है। यही बात 'बोधायनगृह्य-शेषसूत्र'में भी कही गई है—'परस्त्रीषु, दिवा च यावज्जीवम्' [ब्रह्मचर्यम्] (१।११।१) और फिर रातमें भी अन्तिम पहरमें रतिका निषेध है, क्योंकि—वह दिनका भाग होता है। इसलिए रात्रिका नाम शास्त्रों वा कोषोंमें 'त्रियामा' (तीन-पहरवाली) कहा जाता है। सो यही वास्तविक 'परिवार-नियोजन' है।

वर्तमान 'परिवार-नियोजन' में तो हमारे लड़कोंकी संख्या कम करनेका उद्देश्य रखा जाता है, जिससे हम, बहुत ब्याह करके बहुत सन्तानोंको उत्पन्न करनेवाले भिन्न जातिवालोंसे तथा विदेशियोंसे सदा पिटते रहें, पर उस वर्तमान 'परिवार-नियोजन' में संयमका पाठ नहीं पढ़ाया जाता। उसमें परिवारकी संख्या घटानेकी तो शिक्षा है, पर संयमकी शिक्षा उसमें सर्वथा नहीं है, हाँ, उसमें केवलमात्र व्यभिचारके लिए प्रोत्साहन तो अवश्य है, जिससे हम अल्पायु तथा निर्बल बने रहें।

उससे विधवाको भी शास्त्र-विरुद्ध व्यभिचारकी दीक्षा अवश्य प्राप्त होती है। जिससे वे सङ्कर सन्ततियाँ पैदा कराती रहें। युवति-कुमारियोंको भी जिसका दयानन्दी-समाजने शास्त्रविरुद्ध प्रचार किया है—उनको भी इस 'वूमन-फ्रैंड' वा 'परिवार-नियोजन' के तरीके द्वारा

व्यभिचारका प्रोत्साहन अवश्य मिलता है, जिसके उदाहरणस्वरूप नवजात-लड़कियां कपड़ोंमें लिपटी हुई आज भी सड़कोंपर छोड़ी हुई दीख रही होती हैं। अन्य युवतियोंको, विशेषकर निःसन्तान युवतियोंको भी व्यभिचारका प्रोत्साहन प्राप्त होता है। हमारा सनातनधर्म असंयमके पक्षमें नहीं है, व्यभिचारके, सङ्कर तथा अवैध सन्तानोंके पक्षमें नहीं है। इसलिए वह नियोग तथा विधवाविवाहादिका निषेध तथा ऋतुकालसे कुछ पूर्व कुमारियोंका विवाह अनुशिष्ट करता है। वह कुमारियोंका विवाहके बाद ऋतुकालमें उन द्वारा अधिकसे अधिक १० सन्तानोंकी सीमा रखता है, जिससे घरके काम-काजमें भी सहायता मिलती रहे। घरकी रक्षा भी हो सके। नौकर रखनेकी आवश्यकता भी न पड़े, जो कि घरकी चोरी करके भाग जाते हुए देखे जाते हैं। देशका, अपनी जातिका, अपने धर्मका संरक्षण भी होता रहे। इससे घरेलू अन्नादि तथा साग-सब्जी आदिकी कृषि भी होती रहे। यज्ञ-यागादि भी होते रहें, जिससे देवताओंकी प्रसन्नता की जाती रहे। इससे समय पर वर्षण होता रहेगा, सूखा कभी नहीं पड़ेगा। देवताओंको यज्ञ-द्वारा उनका अन्न घृतादि न मिलनेसे उनकी रूक्षता रह जानेसे अवर्षण तथा अतिवर्षण आदि ईतियाँ हो जानेसे भयङ्कर सूखा वा बाढ़ें होती हैं। यह है यज्ञका वैज्ञानिक-विश्लेषण।

स्वा.द.जीने हिन्दुओंकी संख्यावृद्धिकेलिए विधवाओंकेलिए 'नियोग' का आदेश दिया था, पर वह कलिवर्जित है; क्योंकि उसमें शास्त्रानुसार मैथुनका विधान नहीं है; अतः वह कलियुगमें नहीं हो सकता। एतदर्थ 'नियोग और मैथुन' निबन्ध 'आलोक' के अष्टम सुमनमें देखें; और वह नियोग स्वयं आर्यसमाजमें भी चालू नहीं हो सका। अतः आर्यसमाजियोंने स्वा.द.जीसे भी विरुद्ध 'विधवा-विवाह' जारी किया; पर यह भी शास्त्र-विरुद्ध है, एतदर्थ 'आलोक' (८) देखो।

सनातनधर्म दो वार भोजनका आदेश देता है—'अथैनं मनुष्या... उपासीदन्। तान् अब्रवीत्-साय प्रातर्वोऽशनम्' (२।४।२।३) ब्राह्मण-भागात्मक वेद-शतपथब्राह्मणके इस वचनमें 'सायं और प्रात: इस प्रकार दो वार भोजन करना कहा है। और फिर इस धर्ममें सात्त्विक-भोजन अनुशिष्ट किया गया है, जिसमें प्यांज, लहसुन तथा गृञ्जन आदि काम-वर्धक, भारी तथा उष्ण सब्जियोंका निषेध है। इससे संयम भी बना रहता है, और सन्तानें सीमित होनेसे दूसरोंकेलिए अन्न भी वच जाता है। पर आजका युग वार्तमानिक परिवार-नियोजनके कारण असंयमी बना रहता है; इससे उसे बहुत भूख लगनेसे वह पांच-वार और फिर राजसिक एवं तामसिक भोजन करता है; जिससे असंयम और बढ़ता है। इससे कोई आयु नहीं बढ़ती, बल्कि घटती तो अवश्य ही है। इससे भीतरी निर्बलता बढ़ती ही है। दूसरोंकेलिए अन्न भी नहीं वच पाता। संयमसे ही आयु तथा सबलता बढ़ती है।

हमारा सनातनधर्म गोरक्षाकेलिए भी बल देता है, और उसकेलिए सत्य-आग्रह करता है। इसलिए इसमें 'गोपाष्टमी' तो है, 'भैंसाष्टमी' नहीं। 'गोकुल' तो है, 'भैंस-कुल' नहीं। 'गोवर्धन' तो है, 'भैंसवर्धन' नहीं। 'गोमय' तो है, 'भैंसमय' नहीं। 'गोत्र' तो है, 'भैंसत्र' नहीं। गायका दूध, सात्त्विक होता है, उसे यदि पौष्टिक-आहार (विनौला, खली-आदि) दिया जावे, इससे जहां भैंसके मुकाबलेका दूध होता है, उससे जहां आयु बढ़ती है, वहां संयम भी बढ़ता है। खर्च भी कम होता है। गायका वैसा दूध, तथा गायका माखन, छाछ, गायका घृत—यह सब नीरोग करते हैं, पुरुषको पुष्ट करते हैं, मस्तिष्कको उज्ज्वल करते हैं, सन्तानको सीमित करते हैं। सहनशीलता एवं फुरती बढ़ाते हैं। इससे पुत्रादिकी संख्या अधिक नहीं बढ़ पाती। प्राचीन साहित्यमें रुचि बढ़ती है। सत्-साहित्यकी सृष्टि होती है। इसके गोवरका खाद सात्त्विक

अन्न पैदा करता है। इससे ट्रैक्टरों तथा उसके ड्राइवर, पेट्रोल आदिके विना ही व्ययके खेती बढ़ाता है। ट्रैक्टरों द्वारा भूमि फाड़नेसे पृथिवीकी उर्वरा-शक्ति मारी जाती है। व्यर्थका खर्च बढ़ता है। गोरक्षासे यह सब मसले हल हो जाते हैं। कीमिया खाद तो उष्ण होनेसे कामज-सन्तति पैदा करता है, और भारतकी मुद्राको विदेशोंमें भिजवाता है। अन्य कई कृषिमें कृमि लग जाना आदि हानियोंको भी पहुंचाता है।

गायको छोड़कर भैंसका दूध तो असंयमकी भूख बढ़ाता है। अश्लील-साहित्यकी सृष्टि कराता है। मस्तिष्कमें गर्मी बढ़ाता है। असहनशीलता उत्पन्न होती है। विद्वेष भड़काता है। रोगोंको पैदा कराता है। निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, विकार तथा कामवासना बढ़ाता है। प्रमाद बढ़ाता है। विवाद, युद्ध तथा महायुद्धोंकी सृष्टि करता है। सन्तानें बढ़ जाती हैं, जिनको कम करवेकेलिए आजकलके 'परिवार-नियोजन' का उदय हुआ है। असंयम बढ़ता है। गायका दूध रोगोंको हटाता है। भैंसका दूध पैदा हुए रोगोंको क्षीण न करके उन रोगोंका बढ़ाता है। दुग्धादिमें सब विटामिन होनेसे जीवनको स्वस्थ रखते हैं। मस्तिष्कमें शीतलता रखते हैं।

इधर सनातनधर्म व्रत-उपवास आदिका आदेश भी देता है। इससे संयम बढ़ता है। सन्तानें स्वयं अधिक नहीं होतीं। जो होती हैं, वे सात्त्विक होती हैं। बलवान् होती हैं। फुर्तीली होती हैं।

पहले कहा जा चुका है कि-सनातनधर्म गृहस्थके सिवाय शेष आश्रमोंको संयम करना सिखाता है, स्त्रीसे सम्बन्ध नहीं रखने देता। तब 'न रही बांस न बजी बांसुरी'। तब उन तीन आश्रमोंमें सन्तान ही कैसे पैदा हो? स्वयं विना दवाइयोंके तथा विना नसबन्दियोंके

'परिवार-नियोजन' हो जाता है। यह आज भी प्रत्यक्ष है। प्रत्येक आश्रम प्रायः २५-२५ वर्षोंके होते हैं। सो ७५ वर्ष तो संयमके हुए। केवल बीचके दूसरी संख्यावाले २५ वर्ष विलासके हुए। सो 'परिवार-नियोजन' यही तो होता है। आजकल का 'परिवार-नियोजन' तो व्यभिचार सिखाता है। केवल सन्तानें घटवाता है। पर व्यभिचारकी वृद्धि होनेसे पारस्परिक-कलह विवादादि बढ़वाकर हत्याओंका अवसर देता है। इससे हमारे देशकी रक्षामें रोड़े अटकता है। 'संयम' ही वास्तविक 'परिवार-नियोजन' है। दवाइयोंसे 'परिवार-नियोजन' तो 'व्यभिचारमात्रका-प्रवर्धन' है।

इधर हमारा सनातनधर्म गोरक्षापर बल देता है-वह कहा जा चुका है। तब गोदुग्धादिसे फुर्ती, हलकापन, उज्ज्वल मस्तिष्कका ज्ञानादि प्राप्त होता है। भैंसकी अपेक्षा गायमें खर्च भी कम होता है, परिश्रम भी कम होता है। गाय-बैलादिसे तथा उनके गोबरकी खादसे हमारेलिए सात्त्विक अन्न पैदा होता है। ट्रैक्टर आदिका और पैट्रोल आदि तथा ड्राइवर आदिका व्यय बच जाता है, गोबर द्वारा घरके लीपनेसे उसमें सात्त्विक-वायुमण्डल रहता है। भैंसके गोवर (?) से छिपकलियाँ पैदा होती हैं। गोबरकी भस्मसे हमारे उच्छिष्ट पात्रोंकी शुद्धि तथा स्वच्छता होती ऐ। पत्थरी कोयलेकी आवश्यकता नहीं रहती; जो प्रातः और सायंमें जबकि शुद्ध वायुकी आवश्यकता रहती है, विषैला धुआँ पैदा करके हमारे सन्ध्यावन्दनादिकेलिए अपेक्षित शुद्ध वायु-मण्डल-को हटवाकर वायुमण्डलको विषाक्त करता है, जिससे हृदयरोग आदि रोग पैदा होनेसे मृत्यु-संख्या वढ़नेमें सहायता होती है। यही दुष्परिणाम पैट्रोलके धुएंका भी होता है।

उसके मुकावलेमें यज्ञ-यागादि प्रचुर-संख्यामें न होनेसे, इधर देवताओंकी प्रसन्नता नहीं होती; उधर वायुमण्डल शुद्ध नहीं रहता। एक प्रसिद्ध मन्त्र है—'देवा गातुविदो गातुं ...मनसस्पत इमं देव यज्ञं स्वाहा वातेधाः' (यजुःमाध्यं. ८।२१) (इससे देवताओंद्वारा यज्ञका वायुमें धारण करना कहनेसे वायुकी शुद्धि भी अवान्तररूपसे हो जाती है। वायु शुद्ध न होनेपर, मस्तिष्क शुद्ध न रहनेसे वहुत-सी बीमारियाँ और वहुतसे रोग पैदा हो जाते हैं, जिससे डाक्टरोंकी वहुतायत होती है। उसमें भी फिर उनकी दवाइयों वा गोलियोंका परिणाम विषैला होनेसे 'जलेपर नमक' न्यायसे हम लोग वहुत-सी हानियोंके शिकार हो जाते हैं।

हमारे शरीर तथा मस्तिष्कमें उष्णता बढ़ जाती है, जिससे हमारे शारीरिक तथा मानसिक सन्तुलनके ठीक न रहनेसे अस्वास्थ्य उत्पन्न हो जाता है, जिससे बहुत-सी अव्यवस्थाएं वा गडवड़ियां पैदा हो जाती हैं।

फिर इन्हीं पैट्रोलों आदिसे मोटरोंकी संख्या वढ़ जानेसे बड़े नगरों-में प्रतिदिन सड़क-दुर्घटनाएं होती रहती हैं, यह समाचार-पत्रोंके पाठकोंसे छिपा हुआ नहीं है।

पहले कहा जा चुका है कि—गाय-वैलकी रक्षासे जहां हमारेलिए शुद्ध कृषि होती है, हमारे निकम्मे खर्च नहीं बढ़ पाते, उससे दो बार भोजनकी तथा संयमकी उपलब्धि होती हैं। इसीसे सच्चा 'परिवार-नियोजन' हो जाता है। निर्बलता उत्पन्न करनेवाला तथा विवादादि-

बढ़ानेवाला, सन्तानोंकी बाढ़ बढ़ानेवाला, रोग तथा अल्पायु एवं बहुत-सी अव्यवस्थाएं उत्पन्न करनेवाला व्यभिचार दूर हो जाता है। सङ्कर-सन्ततिके मूल विधवा-विवाह आदिके शास्त्र-निषिद्ध होनेसे तथा व्रतादि एवं कन्दमूलादि-फलोंके सेवनके आदेशसे स्त्री-जाति संयत एवं सुरक्षित हो जाती है; और 'परिवार-नियोजन' भी हो जाता है। जनसंख्याका बाहुल्य भी नहीं रहता। 'न रहा बाँस न बजी बांसुरी' इस न्यायसे उत्पादन-वृद्धि पर अङ्कुश लग जाता है। यही तो सनातनधर्मका सच्चा 'परिवार-नियोजन' हो जाता है।

सनातनधर्ममें ब्राह्मणका सम्मान केवल इसलिए होता है कि-वह स्वयं भी संयमी रहता है, और दूसरोंको भी संयम सिखलाता है। साथ ही सत्साहित्यकी सृष्टि करता है। स्मृतिमें कहा है-'ब्राह्मणोंके अदर्शनसे लोग वृषल हो जाते हैं—'शनकैस्तु क्रियालोपाद् इमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्' (मनु. १०।४३) प्राचीन-साहित्यकी रक्षा करता एवं कराता है। इसी धर्मके कारण स्त्री-जातिमें पर्दा-प्रथा तथा गृहक्षेत्रमें रहनेकी शिक्षा मिलती है, जिससे उसका परपुरुषोंसे मिलनेका अवसर ही नहीं होता। उत्तेजना नहीं मिलती। 'न रहा बांस न बजी बांसुरी' यह बात चरितार्थ हो जाती है।

आजकलकी स्कूली शिक्षासे वा बड़ी आयुमें विवाहके दयानन्दी नियमसे बड़ी आयुकी कुमारियोंको बाहर पुरुषोंके क्षेत्रमें जानेका अवसर प्राप्त होता है। तब स्त्री-पुरुषोंका संयमभङ्ग होनेसे शील-भङ्ग होते हैं; बलात्कारकाण्ड वा अपहरणकाण्ड आदि भी हुआ करते हैं। इस प्रकार अवैध उत्पत्तियां बढ़ती हैं कि इसके प्रयोगसे हम-

कुमारियोंकी कोई सन्तति तो होगी नहीं, फिर स्वैराचार करनेमें हमें क्या आतङ्क है, सो आजकलका 'परिवार-नियोजन' ऐसे व्यभिचारोंको प्रोत्साहन देता है, केवल सन्तानोंको कम कराता है, पर भ्रूण-हत्याओंको बढ़ावा देता है। पर इससे पुरुषों तथा विशेष-स्त्रियोंकी कई हानियां भी हो जाती हैं। यह प्रत्यक्ष है—

सनातनधर्म स्त्री-शिक्षा तो चाहता है, पर उस शिक्षाका भाव सदाचार-शिक्षा सिखलाना है। वह आजकलकी स्त्रियोंके पढ़ने-पढ़ानेवाली परीक्षा-सिस्टमकी शिक्षा नहीं चाहता, जिसके दुष्परिणाम आये-दिन स्त्री-जातिको भोगने पड़ रहे हैं। उसीके परिणाममें पुरुषोंकी भी बेकारी बढ़ रही है; क्योंकि—वृत्तिके स्थान उन पढ़ी-लिखी स्त्रियोंको दे दिये जाते हैं। पुरुष बेचारा देखता ही रह जाता है। वृत्तिसे हीन होनेपर पुरुषोंकी बेकारी बढ़ जाती है। इसलिए आजकलकी डकैतियोंमें उच्च-शिक्षा-प्राप्त पुरुषोंका सम्बन्ध भी देखा-सुना जाता है। कहां तो वेद 'ममेयमस्तु पोष्या' (अथर्वसं. १४।१।५२) स्त्रीको पुरुषसे 'पोषणीय' बताता है। कहां आज वे 'पोष्या' न होकर 'पोषक' एवं स्वतन्त्र हो रही हैं। इन कारणोंसे विवाहोच्छेद और अन्य हानियां हो रही हैं। तब अवैध-सन्ततियां भी बढ़ रही होती हैं।

सनातनधर्म व्रत-उपवास आदिकी शिक्षा भी देता है—यह पहले कहा ही जा चुका है। उसमें गेहूं आदि पौष्टिक-अन्नका निषेध होनेसे काफी गेहूं दूसरोंकेलिए बच जाता है। गेहूंमें पौष्टिकता होनेसे उसके निषेधसे अपना संयम भी बना रहता है; और व्रतादिमें कामवासनाका निषेध भी है; इससे व्रतादि न करनेवालोंकेलिए अन्न भी बच जाता है,

और सन्तानकी अधिकतापर प्रतिबन्ध भी लग जाता है।

अन्न बचनेमें एक अर्थवाद भी है, वह भी सुनने योग्य है। किसीने किसीसे पूछा कि-तुम्हें कितनी मासिक पैनशन मिलती है? उत्तर मिला-मासिक पांच रुपये। पूछा गया कि-इससे तुम्हारी गुज़र कैसे होती है? उत्तर मिला-मैं रविवारको सूर्यका व्रत करता हूं। चन्द्रवारको एक समय चावल खाता हूं। मंगलवारको गेहूं न खाकर एक बार मीठा खाता हूं। बुधवारको चने खाता हूं। उससे पेटमें इतना दर्द हो जाता है कि बृहस्पति और शुक्रवारको कुछ नहीं खा सकता। शनिवार गेहूं का प्रयोग करता हूं। इस प्रकार मेरा गुज़र थोड़ेमें ही हो जाता है।

इस अर्थवादमें यथार्थता न देखकर तात्पर्यमात्र लेना चाहिये। वह यह है कि—सनातनधर्ममें व्रत-उपवास बहुत हैं। ३६० दिनोंमें ३०० के लगभग ऐसे पर्व निकल आते हैं, जिनमें हमारे-द्वारा दूसरोंकेलिए गेहूं आदि अन्न बच जाता है; तथा संयम भी बना रहता है। गृहस्थके अतिरिक्त शेष तीन आश्रमवालोंको तो व्रत आदि पर्याप्त करने ही पड़ते हैं। गृहस्थ-आश्रमियोंको भी कुछ व्रत करने ही पड़ते हैं। इससे संयम-वृद्धिसे अन्न भी हमारा पर्याप्त मात्रामें बच जाता है, हमारेलिए उस अन्नका थोड़े हो जानेका प्रश्न ही नहीं रहता। सन्तान भी स्वतः सीमित मात्रामें होती है। इससे, बिना हानिप्रद-औषधियोंके प्रयोगके और बिना भारतीय-मुद्राके खर्चके सुन्दर-शैलीसे 'परिवार-नियोजन' हो जाता है।

संयमका पाठ एक ऐसा पाठ है कि स्त्री-पुरुष दान्त एवं शान्त और

कान्त रहते हैं। यह प्रसिद्ध है कि—'आहारो मैथुनं निद्रा सेवनात्तु विवर्धते' (खाना, मैथुन तथा नीन्द आदिका जितना अधिक सेवन किया जावे; यह वस्तुएं उतनी ही बढ़ती हैं। सो सनातनधर्मके अवलम्बनसे देशकी समस्याएं काफी हल हो जाती हैं।

पहले केवल यदुवंशी ही ५६ करोड़ थे। भगवान् श्रीकृष्ण की पटरानियाँ ही आठ थीं, अन्य रानियोंकी संख्या सोलह हज़ार एक सौ थी। लड़के भी प्रत्येक स्त्रीके दस-दस और लड़की एक-एक थी। उस समय भी तो अन्न-समस्या रही होगी। मकान-समस्या तथा वृत्ति-समस्या तथा सन्तति-समस्या एवं सन्तति-निग्रहसमस्या भी रही होगी। पर उस समय प्राचीन हमारे सनातनधर्मके अवलम्बनसे यह सब समस्याएं हल हो जाया करती थीं। उस समय कई करोड़ कालयवनादि आक्रामक वैदेशिक-यवन भी थे; जिनका दमन और शमन गोपाल-श्रीकृष्ण और श्रीबलराम आदि कहीं शूर-वीरतासे, कहीं-कहीं अस्त्र-शस्त्रादिसे और कहीं नीति-रीतिसे कर डालते थे। कौरव-पाण्डवोंकी अठारह अक्षौहिणी सेनाएं भी फिर प्रकृतिके नियमसे कट गई थीं। यादव भी प्रायः समाप्त हो गये थे। सो सब कामोंमें प्रकृति भी देशकी सहायक बन जाती है, पालनमें भी, और संहरणमें भी। उस समय यह 'परिवार-नियोजन' आदि वर्तमान नियम नहीं थे। फिर भी देश सुरक्षित रहता था। कृषि की कमी भी इस देशवासियोंकेलिए नहीं रहती थी। सो परमात्मा और प्रकृति स्वयं देशका संरक्षण कर दिया करते हैं। यदि सर्जक ब्रह्मा हैं, और पालक विष्णु हैं; तो संहारक रुद्र भी हैं। केवल उस परमेशान पर विश्वास तथा सनातनधर्मके नियमोंका सरगर्मीसे

पालन उचित हुआ करता है, और करना भी चाहिये। यज्ञ-यागादि भी हुआ करते थे। उस समय उनसे अवर्षण, अतिवर्षण, सूखा, बाढ़ें आदि सब ठीक हो जाते थे।

इधर सनातनधर्म मुक्तिका पथिक है। इस मुक्तिमें फिर इस लोकमें वापिस नहीं आना पड़ता, जैसाकि--दयानन्दी लोग भ्रान्तिसे बताते हैं। मुक्ति, कर्मके अभावसे होती है, और अभाव नित्य हुआ करता है; सो मुक्ति भी नित्य होती है। कर्मका अभाव निष्कामतासे हुआ करता है। सुकर्मोंसे तो स्वर्ग मिलता है, मुक्ति नहीं। सो मुक्तिके नित्य होनेसे फिर उस जनताकेलिए भी अन्न-समस्या नहीं रह जाती।

इधर सनातनधर्म सन्ध्या, पाठ, पूजा, हवन-यज्ञादिका भी शिक्षक है, यह पहले कहा जा चुका है। इससे देवपूजा एवं देवताओंकी प्रसन्नता होती है। इससे देवताओंके रूक्ष न रह जानेसे अवर्षण तथा अतिवर्षण न होनेके कारण खेतीमें कमी नहीं रहती। देवताओंका अन्न होता है—यज्ञका घृत। अग्निद्वारा वह सूक्ष्मीकृत घृत आकाशमें पहुंचकर देवताओंमें पहुंच जानेसे उनकी रूक्षता हट जाती है। इससे देवताओंकी प्रसन्नताके साथ देशकी वायुकी भी शुद्धि हो जाती थी। क्योंकि--'इमं देवयज्ञं स्वाहा वातेधा:' (यजु: माध्यं, ८।२१) इस मन्त्रसे यज्ञका वायुमें धारण कहा है। पर आजकल तो दोनों समय (रोटी पकानेकेलिए) पत्थरी कोयलेका ही हवन हुआ करता है। इससे जो विषाक्त गैस पैदा होती है, वह जनताकी बड़ी हानि कर रही होती है। शुद्ध वायु न मिलनेसे हृदयकी शुद्धि करनेवाले प्राणायामके ठीक न हो सकनेसे अथवा प्रात:-सायं शुद्ध याज्ञिक-वायु न मिल सकनेसे उल्टा हृदयगतिके

अवरोधकी बीमारियाँ बढ़ जाती हैं। पर लगातार यज्ञादि होते रहनेसे अवर्षण तथा अतिवर्षणादिमूलक-दोष हट जानेसे कृषि अच्छी हो जानेसे सूखा आदि न रहनेके कारण हमें तदर्थ विदेशोंका मुखापेक्षी भी नहीं रहना पड़ता था।

इधर वेदानुसार 'वैश्वदेवी' (जिसमें ३३ करोड़ देवता रहते हैं) एवं 'अघ्न्या' गायकी पूजा होते रहनेसे गोवध हट जानेके कारण भी देवताओंकी अप्रसन्नता नहीं रह पाती। तब अवर्षण तथा अतिवर्षणादि न होनेसे सूखा नहीं पड़ता, वा खेती नहीं मारी जाती। तब भारतीयों-केलिए वह खेती पर्याप्त हो जाती है। गायसे १०५ रोग हट जाते हैं।

शेष है वार्तमानिक परिवार-नियोजन न करनेसे जनताकी संख्या-वृद्धि हो जानेसे कृषि पूरी नहीं हो पाती; इसपर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं कि—सनातनधर्मसे नियमित व्रत-उपवासादि-व्यवहार तथा दो समय भोजनादि करनेसे यह सभी समस्याएं हल हो जा सकती हैं। फिर जब अतिशयित वृद्धि हो जाती है; तब प्रकृति स्वयं बाढ़ोंसे, भूकम्पोंसे, नौका-दुर्घटना, सड़क-दुर्घटना आदि तथा युद्धों-महायुद्धोंसे, हृदयगति-निरोध आदि बीमारियोंके फैलानेसे, तथा भूस्खलनादिसे जनसंख्याका बैलेन्स पूरा कर देती है। बल्कि परिवार-नियोजनादि प्रकृति-विरुद्ध व्यवहार वर्तनेसे आजकल भी एक गर्भमें तीन-तीन चार-चार बच्चे पैदा हो जाते देखे जानेसे जनसंख्या और बढ़ जाया करती है। इस प्रकार सनातनधर्मविरुद्ध चलनेसे प्रकृति हमें दुष्फल देकर दण्डित करती रहती है।

सनातनधर्म जहां अज्ञी परमपिता-परमेशानकी सन्ध्या और यज्ञ-

हवनादि द्वारा अङ्गभूत-देवताओंके माध्यमसे उपासना करके उसे प्रसन्न रखता है, वहां माता प्रकृतिदेवीको भी मूर्तिपूजा आदि करके उसे प्रसन्न रखता हे। इससे जनताको माता-पिता दोनोंका आशीर्वाद प्राप्त हो जाता है। बहुत सन्तानोंमें कारण डाल्डा आदि उष्ण एवं राजस-पदार्थ भी होते हैं, उनके सेवनसे भी बहुत उत्पत्तियां हुआ करती हैं।

यदि परमात्मा तथा उनके अङ्ग देवताओंको उनके अनिष्ट गोवधको सर्वथा बन्द कर दिया जावे; और गायोंके चारे, बिनौला, खली-भूषा आदिका प्रबन्ध कर दिया जावे, जोकि–सम्भवी हो सकता है, तो भारतमें गो-दुग्धकी नदियां बहें; और गोघृत आदि भी प्रचुरमात्रामें उपलब्ध हा सकें। तब इनके प्रयोगसे उत्पत्ति-संख्या भी सीमामें रहे; और 'परिवार-नियोजनादि' भी जो अवैध एवं खर्चीले तथा हिन्दुस्थानकेलिए हानिप्रद व्यवहार चालू रखे जा रहे हैं; इन्हें स्वयं ही बन्द किया जा सके।

सो गोवध बन्द करना जिसे सनातनधर्म बहुत समयसे चाहता आ रहा है; जिसकेलिए आज भी प्रबल प्रयत्न किये जा रहे हैं, जिसकेलिए हमारे सनातनधर्मी बड़े नेता अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य, पुरी-पीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिरञ्जनदेव तीर्थजी महाराजने गोरक्षार्थ प्राण-पणकी बाज़ी भी लगा दी थी, जोकि आज भी वेदादिमें गोवध आदि माननेवालोंसे, तथा वार्तमानिक परिवार-नियोजनादिके पक्षपातियोंसे शास्त्रार्थकेलिए भी सतत सन्नद्ध रहते हैं। पूर्व कहे हुए गोरक्षणादिके-लिए ही श्रद्धेय श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज तथा जगद्गुरु-शङ्कराचार्य श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज एवं शास्त्रार्थ-महारथी श्रीमाधवाचार्य शास्त्रीजी महाराज भी तथा अन्य नेता भी बहुत समयसे

सत्याग्रहमें जुटे हुए हैं। आर्यसमाज तथा जैनसमाज भी इसकेलिए सहयोग दे रहे हैं। राजकीय पुरुषोंको इधर अवश्य ध्यान देना चाहिये। इससे उनकी भी देशहितैषिता सुप्रसिद्ध होगी। और उन्हें वार्तमानिक 'परिवार-नियोजन' भी बन्द करने पड़ेंगे।

गोवधमें कारण कुछ हिन्दु-जनता भी है; जो दूसरोंकी देखादेखी भैंसके दूधके लोभसे गायका दूध नहीं लेती, तब वे गौएं कसाइयोंके हाथमें जा पड़ती हैं; और उनका वध हो जाता है।

केवल हिन्दुओंमें उक्त परिवार-नियोजन लागू करनेसे भारतमें भारतकी प्राण और भारतीयधर्ममें श्रद्धालु-हिन्दु-जनता अल्पसंख्यक हो जावेगी। दूसरी अहिन्दु-जातियां, जो हिन्दुस्थानमें रहकर भी हिन्दुस्थानसे शत्रुता कर रही हैं; अपने देशोंके यहाँ बननेके स्वप्न देख रही हैं–बढ़ जावेंगी; और बढ़ती रहेंगी। यह प्राचीन हिन्दुजातिको मारनेका एक गुप्त प्रबल-षड्यन्त्र है। फिर हम अपनी सुरक्षा कभी नहीं कर सकेंगे। जब अन्य विदेशी जातियोंके अरब-तुर्की, मिस्र आदि देश बने हुए हैं, इस प्रकार हिन्दुओंका भी अपना देश 'हिन्दुस्थान' बना हुआ है। तब उसमें उसकी विरोधी जातियां क्यों रहें—यह विचारनेकी बात है।

सो इस वार्तमानिक 'परिवार-नियोजन' का 'सर्वतोभावेन विरोध' करना चाहिये। शेष रह जाता है कि–हमारी संख्या बढ़ जानेसे और खेतीकी कमीसे फिर हमारा क्या बनेगा; यह प्रश्न; सो इस विषयमें हम पहले सम्यक् प्रकाश डाल चुके हैं कि–हमें दो बार भोजनका नियम बनाना चाहिये। व्रत-उपवासादि एकादशी आदिमें नियमित करने चाहियें। हमारे भारतमें रहनेवाले भारत-विद्रोही सम्प्रदायोंको उन-उनके

अपने देशोंमें पहुंचानेका प्रयत्न करना चाहिये; जैसेकि--युगांडा और फिजी-द्वीप तथा लङ्का, वर्मा आदि इसमें प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। यह भारतीयों-को अपने-अपने देशोंसे हटा रहे हैं; फिर हमें भी वलवान् वनकर एवं अपने सिद्धान्तमें पक्का रहकर 'यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः, तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः। मायाचारो मायया वाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः' (महाभारत शान्तिपर्व १०९।३०)। (जो मनुष्य जिसमें जैसा व्यवहार करता है; उसमें वैसा व्यवहार करना धर्म है। अच्छे व्यवहारवालेके साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिये। मायावी विद्रोहीके साथ मायामय व्यवहार करना चाहिये। 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' (नैषधीय-चरित ५।१०३) (कुटिलोंके साथ सरल व्यवहार करना नीति नहीं होती)। 'निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः। नहि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या, पापमुच्यते' (महाः वन. ५२।२२) (छलियोंको छलसे मारना चाहिये। छलीका छलसे मारनेका हमें पाप नहीं होता)। 'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः। प्रविश्य हि घ्नन्ति शठाः तथाविधान् असंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः' (किरातार्जुनीय १।३०) (वे मूर्ख हार जाते हैं, जो मायावियों के साथ मायामय व्यवहार नहीं करते)। 'यः छद्मचारी भवति तेन छद्म समाचरेत्। अन्यथा शीलनाशाय महतामपि जायते' (शुक्रनीति, ४।१३००)। 'मायावी मायया वध्यः सत्यमेतद् युधिष्ठिर!' (महाभारत शल्यपर्व ३१।६) 'मायाभिरिन्द्र! मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः' (ऋ. सं. १।११।७) (ऐ इन्द्र! तुमने मायावी शुष्ण-दैत्यको मायासे ही मार किया, अर्थात् उसे समाप्त किया। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'

आदिकी वैदिक-नीति क्यों नहीं अपनानी चाहिये?

भारत केवल भारतीयोंका है, और भारतीय-धर्म माननेवालोंका है। इसमें आस्था न रखनेवाली, बल्कि इसकी विद्रोही विदेशी-जातियोंको उनके अपने-अपने देशोंका रास्ता दिखलाना चाहिये। जो हमारे देशमें रहेंगी, और पलेंगी, फिर यदि वे ही हमारे इस हिन्दुस्थानके विध्वंसमें तत्पर रहें; और इस देश वा देशके धर्मसे विद्रोह करें; और हम केवल अपने वोटोंकी खातिर उन्हें पालें-पोसें, और उन्हें यहां रखें और बसावें; तो यह बड़ी भारी आत्म-विघातक आत्म-विडम्बना होगी। फिर यही विधर्मी जातियां आप लोगोंको वोट न देकर अपने ही जात-भाइयोंको वोट दिया करेंगी, यह हमारी वात राजकीय-पुरुषोंको कभी नहीं भुलाती चाहिये; आजकल कभी-कभी समाचार-पत्रोंमें भी ऐसी खबरें दीखती रहती हैं। तव भी हानि हमारे देशकी ही होगी।

'हिन्दुस्थान हिन्दुओंका है' यह नारा हमें कभी नहीं भुलाना चाहिये। उन जातियोंको हम अपने भारतका कुछ अङ्ग काटकर और स्वयं वहांसे निकल कर उन्हें एक 'स्तान' दे चुके; तव उनका यहां रखना और उनकी संख्यावृद्धिमें योगदान देना युक्तियुक्त नहीं लगता। उन्हींके कारण हिन्दुओंकी वृत्तिमें भी हानि पड़ रही है। अतएव अभारतीय जातियोंको उसी हमसे पृथक् दिये हुए 'स्तान' में वा अपने मूल देशमें भेज दिया जाना ही न्याय्य तथा श्रेयस्कर होगा।

यह विश्वविश्रुत है कि–यह सारा जम्बूद्वीप (एशिया) कभी सारा भारतवर्ष ही था। सारा हिन्दुस्थान ही था। धीरे-धीरे सनातनधर्म लोप होते जानेसे वे लोग हमसे पृथक् होते चले गये; और हम चुप्पी

धारण करते चले गये; वे लोग फिर अपनी संख्या बढ़ाकर अपने पृथक् देश खड़े करते गये; और हम उसका उपाय न करके स्वयं पीछे हटते चले गये; और स्वयं सीमित होते गये। पर यदि हम न संभले; तो हम इस बचे-खुचे देशसे भी हाथ धो बैठेंगे; और अपनी बची-खुची अपनी संख्यासे भी हाथ धो बैठेंगे।

आशा है—भारतीय जनता अपनी दूरदर्शितासे अपनी विचार-दृष्टि बढ़ायेगी, पहले 'हिन्दुकोड' हिन्दुओंकेलिए कोढ़ था ही; अब इस 'परिवार-नियोजन' ने भी हिन्दु-जनतापर प्रच्छन्न आक्रमण कर रखा है। आशा है—हिन्दु-जनता अब इस 'परिवार-नियोजन'को विध्वस्त करेगी, जिससे हम इस देशमें स्वयम् 'अल्प-संख्यक होकर कहीं इस देशके विध्वंसमें स्वयं ही सहयोगी न बनें। एवमस्तु।

ध्यान देने योग्य बातें

गोदुग्धसे राजयक्ष्मा आदि १०५ रोग शान्त हो जाते हैं। आजकल की पंचवर्षीय योजनाओंसे यान्त्रिकता बढ़ी है। परिणाममें गोवध बढ़ा, और कल्पनातीत मूल्यवृद्धि एवं महगाई, बेकारी आदि आपत्तियां जनताके सिरपर सवार हो गईं। लोहा, फौलाद, सीमेंट आदिको बढ़ाकर देशके आर्थिक ढांचेके स्थान देशको जर्जर-स्थितिमें पहुंचाया गया है। गोबरकी खादसे, पहले १०० मन प्रति एकड़ फसल काटी जाती थी। अबकी दशा सबके सामने है। हड्डी-चमड़ा आदि प्राप्त करनेकेलिए गोवध तो अनावश्यक ही है। वह तो स्वाभाविक-मृत्युसे मरनेवाले पशुओंसे भी प्राप्त हो सकते हैं। गोवधसे तो उल्टा उन गायोंका गोबर मिलना बन्द हो जानेसे कृषिकी कमी जनताको हानिप्रद सिद्ध हो जाती है। यदि गोवध न हो; तो वार्तमानिक 'परिवार-नियोजन' की आवश्यकता भी नहीं रह जाती। जितनी कृषि बढ़ेगी; गायका चारा भी उतनी मात्रामें बढ़ेगा। क्या जनताकी वृद्धि पहले नहीं होती थी, क्या वह केवल आजकल ही हो रही है? अतः व्यर्थकी बातें छोड़कर पहलेका युग लाना होगा।

'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते'

(जिन शास्त्रोंकी आदिमें भी मङ्गल हो, मध्यमें भी मङ्गल हो, अन्तमें भी मङ्गल हो; वे शास्त्र विस्तीर्ण अथवा सुप्रसिद्ध हो जाते हैं) महाभाष्यकारके इस वचनके अनुसार हम अन्तमें भी मङ्गलाचरण करते हैं। सनातनधर्ममें पाँच देव सुप्रसिद्ध हैं—१. श्रीगणेश, २. श्रीमहादेव, ३. श्रीकृष्ण, ४. श्रीदेवी, ५. श्रीसूर्य। इनमें अन्य सभी देवोंका भी समावेश हो जाता है। उनके स्तुतिपद्य पाठकोंके लाभार्थ हम अर्थ समेत उद्धृत करते हैं—

पञ्चदेव-स्तवनम्

(१) श्रीगणेशः

आनन्दमात्रमकरन्दमनन्तगन्धं
योगीन्द्रसुस्थिर मिलिन्दमपास्तबन्धम्।
वेदान्तसूर्यकिरणैक-विकासशीलं
हेरम्बपाद - शरदम्बुजमानतोऽस्मि॥

(आनन्दमात्र रसवाले, अनन्त गन्धसे युक्त, योगीन्द्ररूप सुस्थिर-भ्रमरोंसे युक्त, बन्धनसे रहित, वेदान्तरूप सूर्यकी किरणोंसे विकासशील, गजानन श्रीगणेशजीके चरणकमलोंको नमस्कार करता हूं)।

(२) श्रीमहादेवः

यस्याहुरागमविदः परिपूर्णशक्ते-
रंशे कियत्यपि निविष्टममुं प्रपञ्चम्।
तस्मै तमालरुचि-भासुरकन्धराय
श्रीपार्वतीसहचराय नमः शिवाय॥

(वेदादिशास्त्रके ज्ञाता, परिपूर्ण शक्तिवाले जिस भगवान्‌के

थोड़ेसे अंशमें इस समस्त प्रपञ्चको संनिविष्ट मानते हैं, उस तमाल-(आबनूस) की तरह नीले गले वाले, श्रीपार्वतीके सहचर श्रीशङ्करको नमस्कार हो)।

(३) श्रीकृष्णः

उद्घाट्य योगकलया हृदयाब्जकोशं
धन्यैश्चिरादपि यथारुचि गृह्यमाणः।
यः प्रस्फुरत्यविरतं परिपूर्णरूपः
श्रेयः स मे दिशतु शाश्वतिकं मुकुन्दः॥

(योगकी कलासे हृदय-कमलके कोशका विकाश करके धन्य लोग जिसका चिरकाल तक यथारुचि चिन्तन करते हैं, जो परिपूर्णरूपसे निरन्तर प्रस्फुरित होते हैं, वे मुकुन्द-श्रीकृष्ण मुझे नित्य सुख (मुक्ति)-प्रदान करें)।

(४) श्रीदेवी

श्रुत्वा षडाननजनुर्मुदितान्तरेण
पञ्चाननेन सहसा चतुराननाय।
शार्दूलचर्म-भुजगाभरणं सभस्म
दत्तं निशम्य गिरिजाहसितं पुनातु॥

(छः मुखवाले—श्रीकार्तिकेयका जन्म-समाचार सुन प्रसन्न-चित्तवाले पञ्चानन-महादेवजीने, चतुर्मुख-ब्रह्माजीको सिंहचर्मरूप वस्त्र, सर्परूप भूषण, भस्मरूप-पाउडरका दान कर दिया (अर्थात् अपना सर्वस्व दे दिया), यह सुनकर हुआ-हुआ श्रीदुर्गाका हास्य आप लोगोंकी रक्षा करे)।

(५) श्रीसूर्यः

ब्रह्माण्डसम्पुटकलेवरमध्यवर्ति
चैतन्यपिण्डमिव मण्डलमस्ति यस्य।
आलोकितोपि दुरितानि निहन्ति यस्तं
मार्तण्डमादिपुरुषं प्रणमामि नित्यम्॥

(ब्रह्माण्डके मध्यमें रहनेवाला, चेतनपिण्डरूप जिसका मण्डल है। जो दर्शनमात्रसे ही हमारे पापोंको दूर करता है, ऐसे आदिदेव, हमारी सन्ध्यामें उपास्य भगवान्-सूर्यनारायणको मैं नमस्कार करता हूं)।

अथ नेत्रोपनिषद्।

ॐ चक्षुश्चक्षुस्तेजः स्थिरीभव २। मां पाहि २। चक्षूरोगान्मे शमय २। मम जातरूपं तेजो दर्शय २। यथाहमन्धो न स्यां तथा कृपय २। कल्याणं कुरु २। यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुष्प्रति-रोधकानि दुष्कृतानि, तानि सर्वाणि निर्मूलय २। नमश्चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्करायादित्याय। नमः करुणाकराय दिव्यायामृताय। ॐ नमो भगवते सूर्यायाक्षितेजसे नमः। खेचराय नमः। महते नमः, रजसे नमः, तमसे नमः। असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माममृतं गमय। उष्णो भगवान् शुचिरूपः, हंसो भगवान्हंसरूपः। य इमां चक्षुष्मतीं विद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते, न तस्याक्षिरोगो भवति, न च तस्य कुलेऽन्धो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भविष्यति। ओं नमो विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं हिरण्मयं ज्योतीरूपं तपन्तं। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणाः पुरः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः स्वाहा। ॐ नमो भगवते आदित्यायाहोवाहनाय स्वाहा। इति।

(इसके नैत्यिक-पाठसे दृष्टि ठीक रहती है।)

★

आवश्यक सूचना

'आलोक' पाठकोंको ज्ञात होना चाहिये कि-आजकलके 'लार्ड-मकाले' के मानसिक-दास वेदमन्त्रोंका अर्थ तोड़-मोड़कर नये ज़मानेका किया करते हैं। परन्तु कोई भी भाषा हो; उसके शब्दोंका अर्थ उसीमें सन्निविष्ट रहता है। उन शब्दोंमें गलत अध्याहार करके, और उन-शब्दोंका अर्दन-विमर्दन करके उन्हें अर्वाचीन अपने-सम्प्रदायके तथा वर्तमान-युगके अनुकूल बनाना कथमपि युक्त नहीं हो सकता। हमने 'आलोक' के अष्टम-पुष्पमें इन अर्वाचीनोंसे की जाती हुई 'वेदमन्त्रार्थ-हत्या' का दिग्दर्शन कराया है। जनताके संस्कृत-शिक्षित न होनेका यह लोग अनुचित लाभ उठा रहे होते हैं। इससे अर्थका अनर्थ हो जाता है, जिसमें वे शूर होते हैं। 'शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' (शब्दके अर्थमें संशय उपस्थित होनेपर 'संयोगो विप्रयोगश्च' यह संयोगादि जिनका वर्णन हमने 'आलोक' के अष्टम सुमनमें किया है—अर्थके निर्णायक हुआ करते हैं। यदि इनका प्रयोग न किया जावे; तो 'संस्कृत मोमकी नाक है' यह लोक-प्रवाद उपस्थित हो जाया करता है। हमने भरसक यत्न किया है कि-प्रतिपक्षियोंकी यह दुष्प्रकृति वा दुश्चेष्टा सफल न हो। यह लोग उन शब्दोंको जिनसे इनके पक्षकी हानि हो रही होती है, छिपा लिया करते हैं, वा उनका अर्थ ही नहीं करते। इन अर्वाचीन लोगोंका यथासम्भव पर्दाफाश करनेकेलिए ही हमने 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमाला जारी कर रखी है। आशा है—जनता इधर अवहित होगी; और इन लोगोंके गलत हथकण्डोंमें न फंसकर हमसे दिखाई हुई वास्तविक दिशामें चलनेकी सही प्रवृत्ति करेगी। उसकेलिए यह आवश्यक है कि-हमारी 'आलोक' ग्रन्थमाला ले; और उसका एक-एक अक्षर ध्यानसे पढ़े। और उसकी सहायता करनेमें सहयोग दे। अब उसका ११वाँ पुष्प छप रहा है।

निवेदक—

'श्रीसनातनधर्मालोक' प्रणेता 'सारस्वत'